

आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ



श्री महावीर जैन विद्यालय प्रकाशन

ACARYA VIJAYAVALLABHASURI COMMEMORATION VOLUME

Published by
SHRI MAHAVIRA JAINA VIDYALAYA
Gowalia Tank Road
Bombay 26

1956

Price
Rupees seventeen and annas eight

Printed by V. [illegible] Bhagwat at Mouj Printing Bureau, Khatau Wadi, Bombay and Published by Shri Chandulal Savchand Modi and Shri Chandulal Vardhaman Shah, Honorary Secretaries, Shri Mahavira Jaina Vidyalaya, Gowalia Tank Road, Bombay 26.



आमुख

जैन श्रीसंघनी विभूतिसमा ज्ञान-तपोमूर्ति जैनशासनप्रभावक सूरिप्रवर आचार्यभगवान श्रीविजय वल्लभसूरि महाराजश्रीना स्मारक ग्रंथनुं आमुख लखवुं ए महासद्भाग्यनी वात छे

विजयवल्लभसूरि एटले—जेमणे अनेकानेक महागुणभंडार अनुपमेय परमगुरुदेव श्रीविजयानंदसूरि गुरुना परमपावन चरणोनी अनन्यभावे सेवा करी हती, जेमणे ए गुरुवरना अतल ज्ञानसागरने अवगाहवा प्रयत्न कर्यो हतो, जेमणे ए गुरुदेवनी गंभीर जीवनगंगामांथी उदात्त भावनाओ अने विचारोना निर्मळ नीर खोबले खोबले पीधां अने पचाव्यां हतां, जेमणे हंस बनीने ए आराध्य गुरुना मानससरोवरमांथी अवसरे अवसरे ऊछळीने किनारे आवेलां अतुल धैर्य, समता, कार्यदक्षता, दीर्घदर्शिता, व्रत अने आरोपुरुषिता रूप मोतीओने चारो चर्यो हतो—एवी एक विभूतिस्वरूप जैनसंघनी विरल व्यक्ति अथवा परमाराध्य गुरुदेव श्रीविजयानंदसूरि महाराजनी छायामूर्ति

आवी विरल व्यक्ति जैनशासन अने जैन श्रीसंघने सांपडे, ए जैनशासन अने जैन श्रीसंघना महान अभ्युदय अने सौभाग्यनी ज वात गणाय आजे ए तेजोमूर्ति महाविभूति आपणी नजर सामेथी दूर होवा छतां एनी झळहळती जीवनज्योतिना पुंज स्वरूपे आपणाथी दूर नथी, पण आपणी सामे ज दिव्य हास वेरती बेठी के ऊभी होय एम ज आपणने भासे छे

पूज्यचरण आचार्यभगवान् श्रीविजयवल्लभसूरि महाराजश्रीना जीवननुं शांत अने गंभीरपणे चिंतन के स्वरूप अवलोकन करीए तो जणाशे के एमां जीवनसाधना, धर्मसाधना, शासनसेवासाधनाने लगता अनेक पुरुषार्थपूर्ण योग्यताना बीजो पडेलां हतां, पछी ए बीजो भले जीवननी परिस्थिति अने प्रवाहने अनुसारे विकस्यां, अर्धविकस्यां के अणविकस्यां रह्यां होय, आम छतां ए वातमां नो लेश पण शंकाने स्थान नथी के ए जीवन एक महातेजोराशि हतुं ए तेजोराशिए जैनप्रजाने घणा घणा अज्ञात मार्गोनुं ज्ञान अने भान कराव्यां छे

पूज्यपाद ज्ञानतपोमूर्ति आचार्यभगवान श्रीविजयवल्लभसूरि महाराजश्रीनुं जीवन जेवुं व्यापक अने समृद्ध हतुं तेवो ज तेमनी जीवनस्मृति-यादगीरीने ताजी करतो आ स्मारक ग्रंथ पण व्यापक अने समृद्ध बन्यो छे आ आखा ग्रंथमां मात्र शरूआतनां अमुक पानां ज पूज्य आचार्य महाराजश्रीना सहजिक-अनलंकारिक जीवनचरित्रे रोक्यां छे, ते सिवायनो आखो ग्रंथ विद्वद्भोग्य अने प्रजाना चैतन्यने पोषता विविध लेखो अने विपुल चित्रादि सामग्रीथी समृद्ध छे

प्रस्तुत स्मारक ग्रंथ गुजराती, हिंदी अने अंग्रेजी एम त्रण विभागमां वहेंचाएलो छे ए त्रणे विभागना विद्वान संपादको खरेखर प्रेरणा पामेल समर्थ लेखको अने संशोधको छे ए दरेक विद्वानोना

व्यक्तित्वथी हु समस्त रीते सपूर्णपणे परिचित होउं एमटीपी नहीं शकु हु के ए बनाव उपरथी सुयोग्य एम कहो के आवी व्यक्तिओनी पंक्तिथी सेवा मेळववा माटे स्मारक ग्रंथना योजको उपरेक्त ए सम्बन्धमां के एम कहेवामा हु कोने अतिशयोक्ति नथी करतो.

स्मारक ग्रंथ माटे माननीय लेखकोए सामग्री पण ठीक ठीक पूरी पाडी छे अने विभागमांनी लेखसामग्री ए विभागना शीर्षकोथी छे पहेला विभागमां पूज्यवर आचार्यश्रीविजयवल्लभसूरीना जीवनप्रसंगोने स्पर्शता लेखो अने कविताओनो समावेश छे बीजा विभागमां विद्वानोनी विपुल साहित्यसामग्री छे आ विभागमां धार्मिक, अनेकान्तवाद, कर्मवाद अने योग जेवा दार्शनिक लेखो आवेल छे शिक्षण अने भाषासाहित्य विषयक लेखो पण छे शिल्प, स्थापत्य, मूर्तिविधान प्राचीन मंदिरो, चित्रकला वगेरेनो परिचय आपती लेखमाळा पण आ विभागमां छे. प्राचीन आचार्यो, गुजरातना मंत्रीश्वर, राजाओ विद्वानो महावीरजीवन वगेरेने स्पर्शती ऐतिहासिक सामग्री पण आपी छे. देव देवीओ यक्ष-यक्षिणीओ तीर्थंकरो, जैनाचार्यो अने आचार्योनी मूर्तिओ विषयक लेखो पण आमां समाय छे आ रीते भक्तिपूर्ण विविध साहित्यसामग्रीनो आमां समावेश थयो छे. आ प्रकारनी विविध सामग्रीवाळा आ स्मारक ग्रंथनी महत्तामां आपेल विविध विभागोथी अने सर्वोपयोगी बनो महत्त्वनो उमेरो थयो छे

उपर जणाव्यु ते प्रमाणे आ यादगार स्मारक ग्रंथने जे महत्ता मळी छे तेमां विद्वान लेखकोनो लेखको अने विविध सामग्री पूरी पाडनार महानुभावोए अने उक्त ग्रंथने स्मारक ग्रंथना योजक महानुभाव सज्जनोना अथाग परिश्रम परिणामे योग्ये मय मळ्यो छे. एटले स्मारक ग्रंथना योजको कारेएस गर्व लई शके तेवो आ स्मारक ग्रंथ बन्यो छे

अन्तमा सर्वसमर्थ गुरुदेव श्रीमदाचार्यभगवाननी पवित्र सेवामा स्मारक ग्रंथना योजको अने सहकारीओने वधावु छु तथा ए पवित्र गुरुदेवनी सेवामा मारी आन्तरिक वैराग्यपूर्ण आदरपूर्वक वंदन करु छु

मुनि पुण्यविजय



निवेदन

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग. ।

पूज्य उमास्वाति महाराजे मोक्षमार्गनी आराधना माटे मुख्य त्रण वस्तुओ उपर भार मूक्यो छे सम्यग्दर्शन, ज्ञान अने चारित्र्य मानवदेह पामी आपणे जो काई प्राप्त करवानु होय तो ते आ ज छे जीवनने ऊर्ध्वगामी बनावी मोक्षप्राप्तिनो ए ज एक राजमार्ग छे

पण आना आ राजमार्ग पर कोई कोई वखत भयकर अधारा छवाई जाय छे त्यारे पोतानी ज्ञानरुपी ज्योतथी तेने अजवाळवा कोई महाप्रतापी धर्मपुरुषनी जरुर ऊभी थाय छे आवो एक धर्मपुरुष पोतानी जीवन-सुवास प्रसरावी आपणी वच्चेथी हमणा ज विदाय थयो तेनु नाम हतु आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी ए साचा अर्थमा धर्मपुरुष हता समाजमा प्रसरेला अज्ञानरुपी अधकारने दूर करवा माटे तेमणे जे काई कर्यु ते अद्भुत हतु, बीजा कोईथी भाग्ये ज बनी शके एवु हतु समाज परनु तेमनु आ ऋण कदी न विसरी शकाय तेवु छे सामूहिक अने व्यक्तिगत रीते एमणे करेला उपकारो कदी न भूली शकाय एवा छे

आपणी संस्कृतिना सरक्षको छे अरिहतो, सिद्धो, आचार्यो, उपाध्यायो अने साधुओ एमणे आपणी उज्ज्वळ प्रणालिकाने वधु उज्ज्वळ बनावी छे—आपणा सांस्कृतिक विकास अने चिंतनमा महत्त्वनो फाळो आप्यो छे आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी आवा सिद्धो-सतोमाना एक हता अर्वाचीन समाजना सास्कृतिक विकास माटे तेमणे अथाक प्रयत्नो कर्या अने तेओ सिद्धिने वर्या तेमना आ कार्यनु मूल्यांकन कोई रीते थई शके तेम नथी, छता एमना ए महान कार्यने एक नानीशी अजलि अर्पवाना नम्र प्रयासरुपे आ ग्रथ प्रगट करवानु अमे साहस कर्यु छे समाजना उत्कर्ष माटे आचार्यश्रीए शा शा प्रयत्नो कर्या, तेमनो आ उपकार केटलो मोटो हतो, एनो यत्किंचित ख्याल आ ग्रन्थ आपशे एवु अमारु मानवु छे आ ग्रन्थने आचार्यश्रीना नाम अने कामने गौरव अर्पे एवो बनाववाना सजाग प्रयत्नो संपादको अने प्रकाशकोए कर्या छे आ प्रयास केटले अशे सफळ थयो छे ए तो समाज अने वाचकवर्ग ज कहेवु रह्यु

कोई पण महापुरुषना जीवननी समीक्षा करवानु काम सहेलु नथी आचार्यश्री माटे पण आम ज बन्यु छे एमा वळी ए महान आत्माना अनेक उपकारो आपणा समाज पर छे एटले ए समीक्षानु काम वधु मुश्केल बने छे आपणने—एमणे आपणा पर करेला अनेक उपकारो-अनुग्रहोने लीधे—एमना गुणोनु ज दर्शन थाय ए स्वाभाविक छे परिणामे आ ग्रथमा एमना गुणगान ज आपनी नजरे पडे तो ते क्षम्य ज गणाशे

आचार्यश्रीने जे प्रवृत्तिओ अतिप्रिय हती एमा श्री महावीर जैन विद्यालय मुख्य छे श्री महावीर जैन विद्यालयना प्रेरणादाता, प्रोत्साहक अने प्रणेता आचार्यश्री हता आ संस्थानी अनेक स्मृतिओ आचार्यश्री साथे संकळायेली छे, परिणामे आ ग्रथ प्रगट करवानु ठर्यु अने आजे अनेकोना आशीर्वाद साथे ए बहार पडे छे आचार्यश्रीए जीवनना छेल्ला केटलाक महिना आ सस्थामा पसार कर्या हता अने आ सस्थाने तथा तेना कार्यवाहकोने एमनी सेवानो लाभ मळ्यो हतो तेमाथी सापडेली प्रेरणानु एक स्वरुप आ ग्रथमां छे

आचार्यश्रीनु समग्र पण टूकु जीवनदर्शन करावावानो नम्र प्रयास आ ग्रन्थमा थयो छे, अने ते साथे जैनसंस्कृति अने सशोधनने लगतु सारु एवु साहित्य पण रजू करवामा आव्यु छे. आ ग्रन्थ ए रीते आचार्यश्रीना

व्यक्तित्वथी हुं अंगत रीते बहुधाने परिचित हतो. बालपणथी मारी साथे [illegible] हुं जे ए बधाना सहवासे गुरुदेव [illegible] छे. आवी व्यक्तिओनी कलमथी लेख मेळववा माटे स्मारक ग्रंथना योजको आतुर न रहे तो ज नवाई छे. एम कहेवामां हुं क्यारे अतिशयोक्ति नथी करतो.

स्मारक ग्रंथ मात्र [illegible] सामग्री पण ठीक ठीक पूरी पाडी छे अने विभागोनी [illegible] छे. पहेला विभागमां पू. आचार्यश्रीविजयवल्लभसूरीश्वरजीना जीवनप्रसंगोने स्पर्शता लेखो अने व्यक्तित्वनो समावेश छे. बीजा विभागमां विश्वप्रेम विशुद्ध साहित्यसामग्री छे. आ विभागमां धर्म, [illegible] अने [illegible] लेखो पण छे. शिल्प, स्थापत्य, मूर्तिविधान, प्राचीन मंदिरो, चित्रकला विगेरेने लगता मननीय लेखो पण आ विभागमां छे. प्राचीन आचार्यो, गुजरात, राजस्थान, राजवीओ, शिलालेखो, महत्त्वपूर्ण [illegible] ऐतिहासिक सामग्री पण आमां छे. केटलाक देवदेवीओ, [illegible], तीर्थो, जैनाचार्यो अने आचार्योनी मूर्तिओ विगेरे लेखो पण आमां छपाया छे. आ रीते अतिउपयोगी विविध सामग्रीओने आमां स्थान अपायुं छे. आ प्रकारनी विविध सामग्रीयुक्त आ स्मारक ग्रंथ महत्त्वना अनेक विविध विषयोथी अने सर्वांगीण रीते ग्रंथनी महत्ताने स्पष्ट करे छे.

[illegible] स्मारक ग्रंथने [illegible] करी छे. तेम विद्वान लेखको, सहायको अने [illegible] पूरो पाडनार महानुभावोए अने [illegible] स्मारक ग्रंथना योजक [illegible] अनेकनो आभार [illegible] छे. [illegible] स्मारक ग्रंथना योजको [illegible] आ [illegible] छे.

अंतमां सर्वधर्मी गुरुदेव श्रीमद्विजयवल्लभसूरिजीना पवित्र चरणमां स्मारक ग्रंथना योजको अने सहायकोनी साथे हुं पण ए पवित्र गुरुदेवनां चरणमां मारी भावांजलि भक्तिपूर्वक अर्पण करुं छुं.

मुनि पुण्यविजय

ऐतिहासिक प्रतोनां चित्रो, अने श्रीनेमिनाथजी अने श्रीऋषभदेवना जन्म अने जीवनघटनानी बे सुवर्णाक्षरी प्रतोना ब्लॉक श्री साराभाई नवाबे आपी ग्रन्थनी उपयोगिता वधारी ते माटे तेमनो सर्वेनो अमे आभार मानीए छीए टरेक लेखने अंते मथुराना जैन शिल्पनी ऐतिहासिक विविध सूचक चित्रसामग्री मूकेल छे आ सामग्री माटे आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डियाना अमे खास ऋणी छीए

मुद्रणकाम ए ग्रन्थनु महत्त्वनु अंग छे, अने आ कार्य श्री मौज प्रिन्टिंग ब्यूरोना श्री विष्णु पी भागवते खास चीवटथी पार पाडेल छे आ माटे श्री भागवत अने तेमना सहकार्यकर्ताओनो आभार मानवानी अमे महर्ष तक लईए छीए प्राचीन ऐतिहासिक प्रतोना रंगीन चित्रोनु मुद्रणकार्य सुंदर रीते करवा माटे अमदावादना दीपक प्रिन्टरीना श्री नटुभाई रावतनो पण हार्दिक आभार मानीए छीए ते उपरांत श्री एन् ए गोरे, श्री जीवनलाल ज्ञानी, श्री शकरराव दामले, श्री नरेन्द्र गवळ, श्री नवीनचन्द्र अ शाह, श्री के पारसमल अने श्री प्रवीणचन्द्र के शाहना ग्रन्थना संपादन तथा मुद्रणकार्यमां सहकारी थवा माटे आभारी छीए

आवो विपुल ग्रन्थ अनेक बधुओना हार्दिक सहकारना परिणामे ज तैयार करी शकाय आ ग्रंथ माटेनी सामग्री एकठी करवाथी माडी प्रकाशन माटे दिनरात चिन्ता सेवनार अने तनतोड महेनत करनार अनेक व्यक्तिओ छे आ सौनो व्यक्तिगत उल्लेख करवानु न बनी शक्यु होय तो ए माटे अमे तेमनी क्षमा मागीए छीए टूकमां, जेणे जेणे आ कार्यने सफळ बनाववामां मदद करी छे ते सौनो अमे अंत करणपूर्वक आभार मानीए छीए

गुरु प्रत्येनी भक्तिथी जन्मेला आ प्रयासमा जो काई क्षति रहेवा पामी होय तथा जाण्येअजाण्ये कोईने पण अन्याय थयो होय, उत्सूत्रप्ररूपणा थई होय तेम ज मुद्रणदोष रही गयो होय तो ते माटे अमे सौ कोईनी क्षमा याचीए छीए

अतमा आचार्यश्रीना जीवननी प्रेरणा झीलीने जन्मेली आ कृति सौ कोईनो आदर पामशे अने अन्य जीवोनो आत्मोत्कर्ष साधवामा मददरूप नीवडशे एवी अभिलाषा अने श्रद्धा साथे अमे विरमीए छीए.

शिवमस्तु सर्वजगत परहितनिरता भवन्तु भूतगणा ।
दोषा प्रयान्तु नाश सर्वत्र सुखी भवतु लोक ॥

गोवालीआ टॅक रोड · मुंबई, २६
फागण सुदि १५, सं २०१२

चंदुलाल साराभाई मोदी
चंदुलाल वर्धमान शाह
मंत्रीओ, श्री महावीर जैन विद्यालय



जीवननी मोटी मुराद गणीने चाले छे अने ए तर्फ एवा थाड पण सौगने छे के आ कार्य पण मननी जेम रीते पुरुषार्थ करे तो मात्र सिद्धि प्राप्त थई शके

आ ग्रन्थनुं कार्य उत्तम रीते हाथ धरवा नीचे जणावेल सभ्योनी एक समिति श्री महावीर जैन विद्यालयनी व्यवस्थापक समितिए नीमी हती :

१ श्री परमानंद कुंवरजी कापडीआ	६ श्री चिमनलाल जयंत शाह
२ श्री मनसुखलाल गुलाबचंद मसाली	७ श्री सेवन्तीलाल चिमनलाल शाह
३ श्री फूलचंद शामजी	८ श्री कान्तिलाल डाह्याभाई शाह
४ श्री रतिलाल चिमनलाल कोठारी	९ श्री चंदुलाल वर्धमान शाह
श्री कान्तिलाल उमरचंद कोरडिया	१ श्री चंदुलाल साराभाई मोदी

समितिना आ सभ्योए ग्रन्थने तैयार करवामां समय अने शक्तिनो जे भोग आप्यो छे ते बदल तेमना हार्दिक आभारी छीए.

गुजराती विभागनुं संपादनकार्य डॉ. भोगीलाल जे. सांडेसरा एम. ए., पीएच्. डी., डॉ. रमणलाल चे. शाह, एम. ए., पीएच्. डी. अने श्री मनसुखलाल मा. मसाली, बी. ए., एल्एल्. बी. ए, हिन्दी विभागनुं संपादन प्रा. पृथ्वीराज जैन, एम. ए. ए अने अंग्रेजी विभागनुं संपादन डॉ. ज्योतीन्द्र पीएच्. डी. (लन्डन) डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए., पीएच्. डी. अने श्री चिमनलाल जे. शाह एम. ए. ए करेल छे. प्रस्तुत ग्रन्थने समृद्ध बनाववा माटे लेखोए जैन इतिहास, साहित्य, कला अने तत्त्वज्ञानना विषयो पर लेखो मेळववा माटेना तेम ज परदेशना विद्वानोनो संपर्क साधवा सुधी अने बीजो एवो सहकार पण मेळव्यो आ बदल बधा विद्वान लेखको अने त्रणेय विभागना संपादकोनो अमे अंतःकरणपूर्वक आभार मानीए छीए.

आचार्यश्रीना जीवनचरित्र विभाग आ स्मारक ग्रन्थनुं एक महत्त्वनुं अंग छे अने ते तैयार करी आपवा माटे श्री पी. जे. शाह, एम. ए. ना अमे ऋणी बन्या छीए. आवा प्रकारनी सामग्री एकत्र करीने ग्रन्थनुं पर कार्य करवा माटे आ बनी शक्युं छे अने तेनी वैज्ञानिक ढबे इतिहासो लखनारोए लीधे तसवीरोमां जोवी रहेशे पडी छे. आ माटे लेखको अने सहकारीओनो अमे आभार मानीए छीए, अने लेखोना आपनार सहकार बदल आभारी छीए

अमारी उपकारोनिष्ठा प्रकाशनमां आचार्यश्री विजयसमुद्रसूरि, मुनिश्री पुण्यविजयजी तथा मुनिश्री जनक विजयजी तरफथी मार्गदर्शन मळ्युं अने सहकार मळेल छे. मुनिश्री पुण्यविजयजीए ग्रन्थनी प्रारंभिक तैयारीथी मांडीने छेवट सुधी प्रेरणा अने अपूर्व सहकार आपी ग्रन्थनी उपयोगिता वधारी छे. तेओश्रीए अनेक प्राचीन ग्रन्थना चित्रोना पण आप्यां छे. त्यारबाद अने चित्रकळाना सामग्री श्री आर. मराठा, श्री रमण मोदी श्री बाबुभाई मावजीभाई, श्री चतुरभाई मिस्त्री, डॉ. उमाकान्त शाह अने बीजा अनेक महानुभावो तरफथी मळी छे ते माटे तथा लेखोना चित्रो मळ्यां छे. ग्रन्थनुं आवरण पट तैयार करी आपवामां चित्रकार श्री ... मदद करी छे ते बदल हार्दिक आभार मानीए छीए. मनमोहनभाई गुजरातना विद्यालय काळनार श्री रविशंकर रावळ तरफथी पण सहकार मळेल छे. त्यारबाद बाजार मां तैयार थता ग्रन्थना मुद्रणमां प्रकाशन तेमणे जे परिश्रम लीधो छे ते बदल अमे तेमना ऋणी छीए. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया तेम ज भारत, वडोदरा अने मुंबई म्युझियमना क्युरेटर तरफथी चित्रसामग्री अंगे अने सहकार मळ्यो ते बदल तेमनो अमारा आभार मानीए छीए

श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर (पाटण) श्री विजयनेमिसूरि ज्ञानभंडार (खंभात) श्री आत्मानंद ज्ञानभंडार (अमदाबाद) अने श्री शान्तिनाथ प्राचीन ताडपत्रीय जैन ज्ञानभंडार (खंभात)ना कार्यवाहकोए

ऐतिहासिक प्रतोना चित्रो, अने श्रीनेमिनाथजी अने श्रीऋषभदेवना जन्म अने जीवनघटनानी बे सुवर्णाक्षरी प्रतोना ब्लॉक श्री साराभाई नवाबे आपी ग्रन्थनी उपयोगिता वधारी ते माटे तेमनो सर्वनो अमे आभार मानीए छीए. दरेक लेखने अंते मथुराना जैन शिल्पनी ऐतिहासिक विविध सूचक चित्रसामग्री मूकेल छे आ सामग्री माटे आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑफ ... ना अमे खास ऋणी छीए

मुद्रणकाम ए ग्रन्थनु महत्त्वनु अंग ... अने आ काम श्री मौज प्रिन्टिंग ब्युरोना श्री विष्णु पी भागवते खास चीवटथी पार पाडेल छे आ माटे श्री भागवत अने तेमना सहकार्यकर्ताओनो आभार मानवानी अमे सहर्ष तक लईए छीए प्राचीन ऐतिहासिक प्रतोना रंगीन चित्रोनु मुद्रणकार्य सुन्दर रीते करवा माटे अमदावादना दीपक प्रिन्टरीना श्री नटुभाई रावतनो पण हार्दिक आभार मानीए छीए ते उपरांत श्री एन ए गोरे, श्री जीवनलाल जानी, श्री शंकरराव दामले, श्री नरेन्द्र रावळ, श्री नवीनचंद्र अ शाह, श्री के पारसमल अने श्री प्रवीणचन्द्र के शाहना ग्रन्थना संपादन तथा मुद्रणकार्यमा सहकारी थवा माटे आभारी छीए

आवो विपुल ग्रन्थ अनेक बंधुओना हार्दिक सहकारना परिणामे ज तैयार करी शकाय आ ग्रन्थ माटेनी सामग्री एकठी करवाथी मांडी प्रकाशन माटे दिनरात चिन्ता सेवनार अने तनतोड महेनत करनार अनेक व्यक्तिओ छे आ सौनो व्यक्तिगत उल्लेख करवानु न बनी शक्यु होय तो ए माटे अमे तेमनी क्षमा मागीए छीए टूकमां, जेणे जेणे आ कार्यने सफळ बनाववामा मदद करी छे ते सौनो अमे अंत करणपूर्वक आभार मानीए छीए

गुरु प्रत्येनी भक्तिथी जन्मेला आ प्रयासमा जो कांई क्षति रहेवा पामी होय तथा जाण्येअजाण्ये कोईने पण अन्याय थयो होय, उत्सूत्रप्ररूपणा थई होय तेम ज मुद्रणदोष रही गयो होय तो ते माटे अमे सौ कोईनी क्षमा याचीए छीए

अंतमा आचार्यश्रीना जीवननी प्रेरणा झीलीने जन्मेली आ कृति सौ कोईनो आदर पामशे अने अन्य जीवोनो आत्मोत्कर्ष साधवामा मददरूप नीवडशे एवी अभिलाषा अने श्रद्धा साथे अमे विरमीए छीए.

शिवमस्तु सर्वजगत परहितनिरता भवन्तु भूतगणा ।
दोषा प्रयान्तु नाश सर्वत्र सुखी भवतु लोक ॥

गोवाळीआ टॅंक रोड मुंबई, २६
फागण सुदि १५, सं २०१२

चदुलाल साराभाई मोदी
चंदुलाल वर्धमान शाह
मत्रीओ, श्री महावीर जैन विद्यालय





संपादक मंडळ

गुजराती विभाग

डॉ. भोगीलाल ज. सांडेसरा एम.ए. पीएच्.डी.
डॉ. उमाकान्त प्रे. शाह, एम्.ए. पीएच्.डी.
श्री नानकुमार ना. मसाली बी.ए., एल्एल्.बी.



हिन्दी विभाग

प्रा. पृथ्वीराज जैन एम.ए., शास्त्री



अंग्रेजी विभाग

डॉ. मोतीचंद्र एम.ए., पीएच्.डी. (लंडन)
डॉ. जगदीशचंद्र जैन, एम.ए., पीएच्.डी.
श्री सी. के. शाह एम.ए.



प्रकाशक

चंदुलाल साराभाई मोदी
चंदुलाल वर्धमान शाह
मंत्रीओ
श्री महावीर जैन विद्यालय



अनुक्र…

अनुक्रमणिका

हिन्दी विभाग

श्रद्धांजलि अ...

लेख-संग्रह

अंग्रेजी विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन

हिन्दी विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन

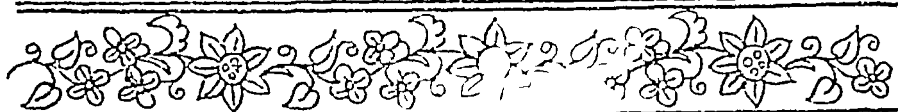
लेख-संग्रह

अंग्रेजी विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन

लेख-संग्रह





वृहत्तपागच्छान्तर्गत
श्रीविजयानन्दसूरिपट्टप्र

न्यायाम्भोनिधि श्री १००८
श्रीविजयवल्लभसूरि महाराज

गुजराती विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन (१४)

लेख-संग्रह (५७)

हिन्दी विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन (२)

लेखसंग्रह (१२)

अंग्रेजी विभाग

श्रद्धांजलि अने जीवन (१)

लेख विभाग (१)





आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

: श्रद्धांजलि अने जीवन :



गुजराती विभाग



॥ जयन्तु वीतरागाः ॥

श्रीवल्लभगुरुसङ्क्षिप्तचरित्रस्तुतिः

बाल्यभावात्तदीक्षाय आबाल्यब्रह्मचारिणे ।
ब्रह्मतेजोऽलङ्कृताय नमो वल्लभसूरये ॥ १ ॥

विजयानन्दसूरीन्द्रपादसेवाप्रभावत ।
प्राप्तज्ञानादिकौशल्य जयतात् सूरिवल्लभ ॥ २ ॥

शान्तो धीर स्थितप्रज्ञो दीर्घदर्शी जितेन्द्रिय ।
प्रतिभावानुदारश्च जयताद् गुरुवल्लभ ॥ ३ ॥

ज्ञात श्रीवीरधर्मस्य रहस्य येन वास्तवम् ।
धारित पालित चापि जयतात् सूरिवल्लभ ॥ ४ ॥

श्रीवीरोक्तद्रव्यक्षेत्रकालभावज्ञशेखर ।
क्षतज्ज्ञतन्मार्गदर्शी जयताद् गुरुवल्लभ ॥ ५ ॥

जागरूक सदा जैनशासनस्योन्नतिकृते ।
सर्वात्मना प्रयतिता जयतात् सूरिवल्लभ ॥ ६ ॥

जैनविद्यार्थिसज्ज्ञानवृद्धयै विद्यालयादिका ।
सस्था सस्थापिता येन जयताद् गुरुवल्लभ ॥ ७ ॥

पाञ्चालजैनजनताधारस्तद्धितसचिन्तक ।
सद्रक्षाकारी प्राणान्ते जयतात् सूरिवल्लभ ॥ ८ ॥

साधर्मिकोद्धारकृते पञ्चलक्षीमसूत्रयत् ।
रूप्याणा मुम्बईसङ्घाद् जयताद् गुरुवल्लभ ॥ ९ ॥

विजयानन्दसूरीशहृद्गता विश्वकामना ।
प्रोन्नाविता यथाशक्ति जयतात् सूरिवल्लभ ॥ १० ॥

जीवन जीवित चारु चारित्र चारु पालितम् ।
कार्य चारु कृत येन जयताद् गुरुवल्लभ ॥ ११ ॥

मुनि पुण्यविजय ।



આચાર્યશ્રીને અંજલિ

[પહેલી]

બાળ જિનશાસનને,
નવવિધાયક બની,
જન્મિયો વીર વલ્લભસૂરિ તું

લગભગ વસ્તી ગયે
નૂતન પંથો બાંધે,
નિત નવા જ્યોત પ્રગટાવી તું

ક્રાંતિનો દૂત તું,
શાંતિ દૂત પણ તું,
યુગ વિધાતા ના ખૂબ્યા તું

દર્શન જીવનનું,
ધર્મ વિજયી ખરે,
' શાનુદી ! ' વિરલ પદ પામિયો તું

સકલ આ વિશ્વની,
તમામ ભૂમિ ભમી,
દિવ્ય પ્રેમગાથા આપી તું

તિમિર ગહ્વર સમા,
વિશ્વના ગગનમાં,
અમર કો દિવ્ય જ્યોતિ મઢે તું

ધર્મ તેં ભાખ્યો,
ધર્મ તેં આચર્યો,
ધર્મ જીવનની મૂર્તિરૂપ તું

વીર વલ્લભ ! તને,
સકલ શાસન નમે,
તારી આ પુણ્યતિથિએ નમું હું

રમણ કોઠારી

રાજહંસને

[ભક્તિ સ્મરણાંજલિ]

ધીરધર્મે માનસસરના ઓ રાજહંસ! રસાળા!
નિર્ગુણ સગુણ પય સોરાવી, આત્મમોતી ચરનારા!
નાચે ગાજે અમૃતધારા!

શમ મૌક્તિક સ્વાપરભક્ષના, નિત્યનો ચરનારા!
શુભ અમર ચારિત્ર પાંખથી, પ્રભુપથમાં ઉડનારા!
નવ વિક્ષેપ સ્વરૂપ ઠરનારા!

ઓ ન મધુર મારવિકેશી, સુંદર તટ વહેનારા!
અદ્ભુત આત્મારામ મધ્યનો, તીરે ઠરનારા!
સુરપદ પામ્ય પરિમલ ધારા!

યુગ યુગનો આત્મા આનન્દ, અન્તર્ગત થનારા!
આત્મજ્યોતિથી જગત વશ, જન્મ મરણ જન્મ કરનારા!
જગ સારા રસ રેલવનારા!

આત્મીય તપસ્તામ વિવિધ, આત્મવિનોદન ધારા!
અતિ શમ સાધન રસી કરતા, જ્ઞાનેશ્વર થનારા!
પદ પદ અપ્રમત્ત અવતારા!

બહુધા રસરસ દૃષ્ટિ અનન્તો, ભક્ત નિજના ધારા!
આત્મબલ તેજ જ્યોતિ, અન્તર કરણ ઝળહળતા!
પ્રેમે પ્રેમ પાન પાનારા!

ઉડી ઉડી ઝૂરી પાન કર, નીર ક્ષીર ન્હેનારા!
માનસસરના મોંઘા હંસ, ઓ મર્મ ઉજ્જવલનારા!
માનસ ઉષાને માણનારા!

અમ વિહાર વિરામ થશે, મુનિપુર પા ધરનારા!
કવિ-ભક્તિ અમર રાખો, પરી—અપવી ઉતનારા!
હંસા ઓ હંસ, ઉડી જાના!

જ્ઞાનાર્ણવના સ્વર્ગશિરોમણિ, અક્ષયપદ આનારા!
મુક્તિ—રાજહંસી ભાવના, ઉદ્ભાવના થનારા!
કોઈ ન મળે રોકનારા!

કરુણી નિજ પાંખ, ઉડી, સુન્દર સેવી જનારા!
સત શ્રેય સુરિ ઘર-ઘર જોઈ ભક્તજનમાં ભળનારા!
ન તમ અન્ત આવનારા!

પગપગ સ્મરણ જુગી દુઃખ ઉપકાર અનુપ કરનારા!
સ્મરણાંજલિ ભક્તિભાવ અરપણ દુઃખ હરી શાન્તિ ધરનારા!
પાવન સાચા સજ્જન પ્યારા!

પાદરાકર

હે આર્યદ્રષ્ટા !

જીવન-જ્યોત જગ　　　આત્મ-જ્યોત ઝળહળતી
અજ્ઞાન તમ　　　પળમાં કે સર્વે હરતી,
પ્રકાશનો તું　　　લખ લખ તેજે ચમકે,
જન-મન　　　-આકાશે દિવ્ય સ્વરૂપે દમકે

આર્યદૃષ્ટિએ પરખી લીધા નવયુગના એંધાણો!
તેથી તો તેં જ્ઞાનગંગાનો ખુલ્લો મૂક્યો ખજાનો
"કેવળ ધારા ક્રમના ઉપર ધર્મ-ધજા નહિ ફરકે
'જય જય'ના ખાલી નાદથી આત્મ-તેજ નહિ પ્રગટે!

ભુખ થકી પીડાતા જનને, કહો જ્ઞાન ના ખપનું!
દુઃખથી પિડાતા માનવને મુક્તિનું શું સપનું?!
સમાજનો પ્રત્યેક માનવી જમે રોટલો ખાશે,
સાચે એનું હૈયું સાચા ધર્મ માર્ગે જાગે!

પ્રેમ-ધર્મનું નામ લઈ વાડામાં બાંધીને રાચ્યો?
કૂપમંડૂક શા ગચ્છમતના વર્તુળમાં તેં નાચ્યો?
ખૂણામાં પેસીને સાદને મહાવીર નામ પુકારે?
'મહાવીર તો કેવળ જૈનોના' — એવું બીદ ગવાવો?!

મહાવીરના સંતાનો સૌએ આવો હાથ મિલાવી,
એક અવાજે મહાવીરના સંદેશો દ્યો ગજાવી,
પછી જુઓ કે ઘરી ઘર શાસનના રસિયા થાશે
સત્ય-પ્રેમ-અહિંસાના ગીતો સારી દુનિયા ગાશે"

આમ વદાવી 'વલ્લભ' તેં તો કરુણાવતી વાણી
દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર ને કાળ-ભાવને સત્વર લીધાં પિછાણી
સમાજના રોગોની તેં તો ખરી ચિકિત્સા કીધી,
આત્મ-શુદ્ધિ કરવાને કાજે મહાઔષધિ દીધી

✿

વિજયવંત તુજ નામ અમોને અખૂટ પ્રેરણા આપો,
તારી પ્રેમ-સુવાસ સદા યે ઘટઘટ માંહે વ્યાપો!

શાંતિલાલ બી૦ શાહ

વલ્લભ–હરિયાળી

[illegible] વર્ષ ૨૯ [illegible]
[illegible] અભ્યાસીઓને, [illegible] રે
[illegible] નીરખી, [illegible] રે
[illegible] પુત્રી [illegible] રે.
[illegible] તો [illegible] રે.
[illegible] રે
[illegible] નામે [illegible] રે
[illegible] એનો [illegible] ના [illegible] રે.
[illegible] રે,
[illegible] રે.
[illegible] રે.
[illegible] રે
[illegible] રે
[illegible] રે
[illegible] રે.
[illegible] રે
[illegible] રે.
[illegible] રે
[illegible] રે
[illegible] રે

હીરાલાલ ર૦ કાપડિયા



શ્રીમદ્ વિજયવલ્લભસૂરિજીને અંજલિ

અજ્ઞાનમૂલક
નિસ્તાર િ
ચિન્તન
સ્થાપી હતી

જડવાદકેરા વમ...
સદ્ધર્મની વિદ્યા મ...
વિદ્યાતણા મહામંદિર ...
એ કાજ વિદ્યાલય સ્થ...

શાસનપતિ મહાવીરનું ... અ...
તીર્થેશના એ નામ માટે મુનિને મહૂ મા...
એ વાત જૈન સમાજને ધ્યાન પર લાવતા
નિર્ણય કરી એ નામનો ઉપયોગ આદરતા હતા

નવયુગમાં વિદ્યા વગર કો ઉન્નતિ પામે નહિ,
એ વાત યુગવીર સૂરિના મનમાં સજાગ વસી રહી
ગુરુમંત્ર વિજયાનંદ આપે દીર્ઘદૃષ્ટિ વાપરી,
"વિદ્યાતણાં ધામો બધે ઉઘડાવજે વલ્લભ કરી"

આજે તમારા યત્નથી વિદ્યાલયો શોભી રહ્યાં,
વટપ્રદ, અમદાવાદ ને પૂનામહીં સ્થિર તો થયાં,
વિદ્યાર્થીઓને ધર્મના સંસ્કાર પણ મળતા રહે
ગુરુદેવની સેવા કરી જીવન સફળતાને વરે

એ ચાર વિદ્યાલય છતાં ચાળીશ એમાંથી બનો,
ગુરુરાજ અમ પર આજ છે ઉપકાર અતિશે આપનો,
જનતા કહે સ્વર્ગે ગયા પણ કામથી જીવી રહ્યા,
છો ધન્ય વલ્લભસૂરિજી! જીવન સફળતાને વર્યા

માવજી દામજી શાહ



સૂરીશ્વરને સ્મરણાંજલિ

વંદન માનવજીવનમાં, વંદન અમર સાર,
વંદન ચારિત્ર્ય શોભતા, વંદન સત્ય સદાચાર
વંદન મહા ધર્મની, વંદન સ્યાદ્વાદનો સાર,
વંદન સમકિત ધ્યાનમાં, વંદન શુદ્ધ વિચાર.

•

વંદન ગુજરાતે જન્મિયા, વંદન પંચમે આવ્યા,
વંદન કેસરી કર્મના, વંદન જીવન મહાન
વંદન ભક્તિ સ્થાપના, વંદન જૈન વિકાસ,
વંદન વિજય-આચાર્યની, વંદન વાણી રસાળ

•

વંદન સરસ્વતી સાધના, વંદન જ્ઞાન પ્રચાર,
વંદન વિદ્યાલય મહાવીરના, વંદન સૌનો સાથ,
વંદન યુગ શિરોમણિ, વંદન શાસન સુકાની,
વંદન કીર્તિ ગાથા છે વંદન આગમ સાર

•

વંદન જ્યોતિર્ધર યુગના, વંદન દૃષ્ટિ વિશાળ,
વંદન વિશ્વબંધુતાના, વંદન હૈયે ઉજાસ,
વંદન મહાવીર પથના, વંદન મહાવીર ધ્યાન,
વંદન શાસન ઉન્નતિના, વંદન જીવન સુમન

•

વંદન જીવન સાધના, વંદન પદ નિરીહ,
વંદન સિદ્ધિ પામતા, વંદન વચન ઉદાર,
વંદન સ્મૃતિ સંતની, વંદન ભક્તિ સુવાસ,
વંદન સ્મરણભાવના, વંદન મુક્તિ સુવાસ

ફતેચંદ કે૦ ઝવેરી

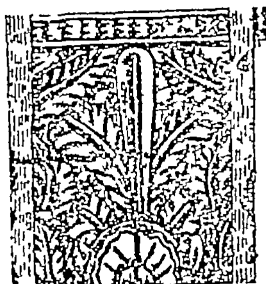


નમી રહું —

નમુ હે વિભૂતિ! વિમલ તવ પાદે પ્રણયથી,
પ્રતિભા દિવ્યા એ સહુજનતણુ કેન્દ્ર બનતી,
હમેશા સોહાતુ મધુર મુખડુ સૌરભભર્યું,
તથા ચક્ષુઓમા નવીન દૃષ્ટિનુ કૈં અમી હતું!
તમારી ગિરામા શબ્દ શબ્દે ફૂલ ઝરતા,
વહાવી અગાગે પ્રણયઝરણા – વલ્લભ બન્યા,
તથાપિ ના ભીંજ્યા જગઉદધિના વારિ ગહને,
રૂપાળા કાસારે જ્યમ કુસુમ નિર્લેપ જ રહે!

તમે નિત્યે સીંચ્યા જીવનતરુએ તો ય મધુરા,
તમે માડી મીઠી પરમ રમણી પથ મજલે,
પ્રસાર્યા જ્યોતિ વા ઘનતિમિર પથે થઈ પુપા,
અને એવી રીતે મૃત જીવનમા ચેતન ભર્યાં
તમારી દૃષ્ટિઓ અમ જીવનના ધ્યેય બનજો!
તમારી સૃષ્ટિઓ અમ જીવનના સ્વર્ગ બનજો!

નવીનચંદ્ર અંબાલાલ શાહ



અમર વલ્લભ

અમર તું મરશે રે ધર્મ-ધુરંધર ધોરી
ધર્મને કાજે રે તેં વાત ન રાખી અધૂરી.

ગુજરાતવાસા સુકુળ કરીને, સુકુળ જનમાં આવ્યો
મહાવીર સિદ્ધાંત વિચારીને, સંયમ કર્યો મનનો — અમર

માયા – આવિષ્ક જ્યોતિમાં સ્વપ જ્યોતિ ઝળકતી
સાધુ – સાધ્વીના ય જીવનમાં, ધર્મ ધ્યાન કરાવતી — અમર

ગુજરાતી તુજ ગુણના રાગી ધ્યાની ભક્તગામી
દર્શનનો તુજ દર્શન કરતા, અમૃત પીએ આત્માથી — અમર

દયા શાંતિ અનુરાગ તારી, કાયુકલ્યાણ ભારી
ધીંગું ધર્મ તેં ધાર / પાળ્યું, એવો તું ઉપકારી — અમર

સર્વ ધર્મની તુલના કરીને, સાચો રાહ તેં જાણ્યો
એક જીવન તજી ન ભાળી, એવો તું ભેખધારી — અમર

કોઈ કહે પંજાબ કેસરી, કોઈ યુગપ્રધાની,
કોઈ વળી એ યુગપ્રધાની, કોઈ શિષ્ય રત્ન — અમર

શું કહું તુજને મહા તપસ્વી! અબુ ન પામી શકે,
આ કહું કે એ કહું, કે કહું સ્તુત કરવી — અમર

વચને વચને કૃપા ઝરતી, ધર્મને મેળવ ઉકેલે,
તુજ જીવનની અમીરસ પીતાં, મિત્રો નવજીવન પામે — અમર

ધન તુજને નિષ્પતિષ્ઠિત, ધન મહાત્યાગધારી,
ધર્મને કાજે તેં તો સુખ ત્યાગ્યાં દીધાં જાણ — અમર

આત્મરામ ગુરુકૃપાથી, કીર્તિ જગમાં જામી
અમર થયો તું આ જીવનમાં, કહે મણીભૂ... શ્રીહનામી — અમર

મણીભુજંગ જેઠાલાલ મહેતા



સૂરિજીનો જીવનસૂર

ભારત!
અનોખો ને અદ્ભુત
કેવો ભાગ્યવાન દેશ! કે
તુજ કુંખે અવતર્યા યુગેયુગે
માર્ગદર્શક મહાત્માઓ,
રામ ને શ્રીકૃષ્ણ
ગૌતમ, વર્ધમાન ને મોહને
નિજ જીવનની પારદર્શકતાએ
દાખવ્યા સૌને અનુસરવા
સત્ય, માનવપ્રેમ ને અહિંસા
માનવજીવન સુપથે વાળી
વિશ્વે સુખશાંતિ પાથર્યાં

ગુજરાત!
ગર્વિની ગુજરાત!
તેં પણ ભેટ ધર્યાં ભારતને
પ્રાતઃસ્મરણીય માનવરત્નો,
દુર્લભ પામવા ફરી ફરી
મહારત્નો એ જોડ વલ્લભ રત્નો,
એક પ્રકાશ્યો રાજક્ષેત્રે
અન્યે અજવાળ્યું ધર્મક્ષેત્ર
રાજક્ષેત્રે હાક વગાડી
ત્રાહ્ય પોકારાવી રાજશાહીને,
જનતાના રક્તે વિલાસતા,
બ્રિટિશ રાજ રમકડાંઓને
સુણાવ્યું કે—
"માતૃભૂમિની એકતા ખાતર
તાજ અને દંડ માતૃચરણે ધરો,
સમાજ એવો રચો કે
ઊંચનીચના ભેદ ન રહો"
ને
સેંકડોમાં વહેંચાયેલો ભારત
ફરી એક ને અખંડ થયો,
વલ્લભ! એ તુજ પ્રતાપે

હો ધર્મક્ષેત્રે,
ધર્મ પિછાનતો,
જન જાગૃતિ ઝંખતો,
અહોનિશ ઉત્થાન રટતો,
જૈનશાસનના દુઃખે દ્રવતો,
કલ્યાણનાં કાર્યો કથતો,
જીવનભર એકતા ઉદ્બોધતો,
નીડર અને અહિંસક
વીરનો સત્ય અનુરાગી,
શાસનનો સાચો ઉદ્ધારક
દૂરદેશી અને સર્વદર્શી
પંજાબકેસરી, વલ્લભસૂરિ

વીર સંતાનો!
આપણાં સદ્ભાગ્ય કે,
ભૂલેલાને સુપથે વાળવા,
સમયધર્મ સમજાવવા,
અંધશ્રદ્ધાએ વિપથગામીને
સત્ય દાખવી પ્રકાશ પાથરવા,
ચીલાની ચાલે ન ચડતા
સત્ય દર્શન દાખવવા,
વલ્લભવીર શ્રમણ
આપણ વચ્ચે સાધુરૂપે પ્રકાશ્યા

ગુરુદેવ! આચાર્ય વલ્લભ!
અમારાં અનંત અહોભાગ્ય
અમ ભાઈઓનાં અહોભાગ્ય
અહોભાગ્ય જૈન સમાજના, કે
સત્ય સચોટ સમજાવટે
જ્ઞાન-પિપાસા સંતોષવા
માર્ગ મોકળા થયા, ને
પામ્યા અર્વાચીન જ્ઞાન, જે
અલભ્ય ને અનિવાર્ય હતું
નૂતન વિદ્યાની પરબો માંડી

જ્ઞાન કે શિક્ષા
જિનાગમની ગાગર છોધે.
ને
યથા જેવા સત્ય સમ
દેવ નવીન ને નેર આપ્યા
ય નવોમગી
જેણી કરેલ્યા યશ
સમાજ દનુ કામદ,
એક સમાજનુ દુઃખ જેણે
હું ને ભા. ગ્યો
સમાજની આજ્ઞામે
યમની આય મનિ પિ પ્યા
ધમ ને સમાજે ધમની
ટકાક કિયા મળી
જેણી
જે ગમ જ્યારા
ટકાગમ આપશે જ્યારા.
યોગીશ્વર!
ટકાના આરે ભો
કદી જય ન હાંશે,
સામ, જૂ નગર ને ગામે
ગામ જેણી ધમ્યો, ને
આજ આદેશ આપ્યો
નમ, જૈન ગમ,
સમ સમન્વિતતાશ સમજ
સમન્વિતો સહુયોગ કર ને
નિરક્ષરોને શિક્ષણ આપ,
નિરક્ષરતા નિવારવા
ગામેગામે જ્ઞાનયજ્ઞ માંડ,

નિજ ધર્મની દુઃખ નિવાર ને
ઓ—વિરાગ અને ધ
વિધાનમની વિનાશ દર ન
સા નુ આગીન મુદ્રા
ના /
સ્વાનિ આ વ રૂપા સમે ને
ગરમ વિર મમનને મુજાકી.
મારૂ અને મવિધ
મધુરિય મયના ને યાપ.
પાણની કુંપળી ખરી
નરપી સમનની નિ ન.
નિત્ય નિર્મળી મન
પાપ ન પૈ સ્વપ્નેય દેકે
ગી કરે ધમની મલા!
કેમ કરી ધમ મેરા!
જૈન શાસન ગ્યાસુ કેમ મરે!
મારે
શાસનની શુક્રા!
અનોખ ને વ્યક્તાયા ધરમી,
સમન્વિતો સહુયોગ મડી
ને
જ્ઞાના વાણ સાના વહેવ
અપમરા ન આપનિતિમે
ન આમનની ભરાઓની કે સેરાઓ
વિભાગો નિ / વિભની પ્રેરણે, ને
મન રાગ છોપી અને મરી
ધીમા ધીર પુગો।
નીર ધની આયન વધે
મે / અનિમ કરમ ને આજ્ઞા

અર્જુન મિમ પારજી, એમ.બી., બી એમ.



આપણા શ્રીવલ્લભ ગુરુદેવ

આચાર્ય વિજયસમુદ્રસૂરિ

આ પૃથ્વી પર અનેક મનુષ્યો જન્મ્યા, ઠીક લાગે તેમ જીવ્યા અને અંતે મૃત્યુને શરણ થયા જગત કેટલાના તો નામ પણ જાણતું નથી, તેઓ ક્યારે જન્મ્યા અને ક્યારે ઢળી પડ્યા તેની કોઈએ નોંધ પણ નથી લીધી, જ્યારે બીજી બાજુ એવી કેટલીક વ્યક્તિઓ થઈ ગઈ જેનુ નામ લેતા એક પ્રકારનો અલૌકિક આનદ થાય છે, હૃદય પ્રફુલ્લિત બને છે કારણ કે એ વ્યક્તિઓ પોતાની પાછળ એવી સૌરભ મૂકતી ગઈ હોય છે કે જેની ફોરમ સદાય ફોર્યા કરે આવી વ્યક્તિઓ જીવન જીવવાની નવીન દૃષ્ટિ અર્પે છે સુખ પ્રાપ્ત કરવાની અદ્ભુત જડીબુટ્ટી દર્શાવે છે

પૂ૦ વિજયવલ્લભસૂરિ એવી વ્યક્તિઓમાના એક હતા તેમની પાસે તેમની પોતાની આગવી પ્રતિભા અને દિવ્ય શક્તિ હતા દુ ખ અને આપત્તિઓમા સપડાયેલ સમાજને જાગ્રત કરવાની તમન્ના હતી પવિત્ર જીવન જીવી દુનિયાને અમૂલ્ય પેગામ પહોંચાડવાની તીવ્ર અભિલાષા હતી

બાળપણથી જ તેમના લક્ષણો ભિન્ન તરી આવતા કઇક નૂતન પ્રગતિ કરવાની અને કોઈ અજાણ તત્ત્વની ખોજ કરવાની તેમને પ્રથમથી જ તમન્ના જાગેલી, અને આ તમન્નાએ જ અનેક વિઘ્નો છતા તેમને બાળપણમા જ દીક્ષિત બનાવી દીધા ભરયુવાનીમા તેઓ ત્યાગી, વૈરાગી બન્યા દુનિયા તરફ નિહાળવાની એક પવિત્ર સ્વતંત્ર દૃષ્ટિ કેળવી 'वसुधैव कुटुम्बकम्' એ તેમનુ જીવનસૂત્ર બન્યુ, ને એ જીવનસૂત્રને સદાય દૃષ્ટિ સમક્ષ રાખી જૈન જૈનેતરના ભેદભાવ વિના ગરીબ હોય કે અમીર, રાજા હોય કે રંક, અધિકારી હોય કે અનધિકારી, વણિક હોય કે બ્રાહ્મણ, હિન્દુ હોય કે મુસલમાન—સૌને વીતરાગ દેવનો શુભ સંદેશ સભળાવ્યો હજારોને માસ–મદિરા અને દુરાચારનો ત્યાગ કરાવ્યો પજાબ, રાજસ્થાન, ગુજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, મધ્યપ્રાંત, મહારાષ્ટ્ર આદિ પ્રદેશોમા વિચરી પોતાના જ્ઞાન શક્તિ તેમ જ ચારિત્ર્યબળ દ્વારા પજાબના પ્રાણ, રાજસ્થાનના નૂર, ગુજરાતનું ગૌરવ, સૌરાષ્ટ્રના આદર્શ અને મહારાષ્ટ્રના માનનીય બન્યા પજાબને સુધાર્યા, રાજસ્થાનને જગાડ્યો, ગુજરાતમા ગર્જના કરી, સૌરાષ્ટ્રને ઉજાળ્યો અને મહારાષ્ટ્રને ઉગાર્યો ધાર્મિક તેમ જ સામાજિક પ્રગતિ અર્થે ખૂબ શ્રમ લીધો દેશદેશાન્તરોમા ઘૂમી પ્રવચનો કર્યાં અને જ્ઞાનની પરબો ઊભી કરી મુબઈમા શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની સ્થાપના કરી અને ત્યારપછી અમદાવાદ, પૂના તેમ જ વડોદરા ખાતે તેનો વધુ વિકાસ થયો વરકાણામા પાર્શ્વનાથ જૈન વિદ્યાલયની સ્થાપના કરી આમ આવી જ્ઞાનપરબો ઊભી કરી તેમણે સૌને અમૃત જેવા મીઠાં નીર પાયા આખી જૈન વિદ્યાર્થી આલમ તેમના આ ઉપકારને કદી વીસરી શકશે નહિ

પૂ૦ ગુરુજીએ માત્ર કેળવણી માટે જ પ્રયત્ન કર્યો એમ નથી, જૈનશાસનની ઉન્નતિ અર્થ બીજા અનેક કાર્યો પણ તેમણે કર્યાં ઉપધાન, ઉજમણા, અજનશલાકા, પ્રતિષ્ઠા, જીર્ણોદ્ધાર, નવા મદિરો, ઉપાશ્રયો, ધર્મશાળાઓ આદિના ઉત્તેજન માટે સહાયતા મેળવી ભિન્ન ભિન્ન સ્થળોએ પ્રવચનો કરી તેમણે પોતાના સદેશને પહોંચાડ્યો તેમના પ્રવચનોમા સચ્ચાઈનો રણકો હતો, તેમની વાણીમા અમૃતની મીઠાશ હતી, એમની પ્રતિભામા અદ્ભુત તેજ હતું એ અલૌકિક બળે અને અદ્ભુત પ્રતિભાએ અનેક ચમત્કારો ઉપજાવ્યા એ ચમત્કારોને આપણે જાદુ નહિ કહીએ, પણ ચારિત્ર્યનો પ્રભાવ ગણીશુ પૂ૦ ગુરુજી

જાતે પણ તેને બરાબર વરીને ન ઓળખાવે, પણ આપણી સામાન્ય દૃષ્ટિ જેમાં આશ્ચર્ય જુએ એ સ્વાભાવિક છે. એવા પણ પ્રસંગો હતા કે જેને હાલ આપણે ઊંડા વિચારમાં પડી જઈએ છીએ!

પૂ. ગુરુજીનો આશીર્વાદ કદી નિષ્ફળ જતો નહિ. એકવાર ગોધારી પર તેઓશ્રી પ્રવચન કરી રહ્યા હતા. એવામાં એક ભાઈએ પાસે આવી ગુરુજીને પ્રણામ કર્યાં અને પૂછ્યું, "આપ મને ઓળખો છો?" ગુરુજીએ કહ્યું, "ના ભાઈ." ત્યારે પેલાએ કહ્યું, "હે કૃપાળુ નાથ, તમે તો મારા પ્રાણદાતા છો. હું મેરઠ જિલ્લાનો રહીશ છું. વકીલનો ધંધો કરું છું. એકવાર કોઈ ખૂન કેસમાં મને ફાંસીની સજા થઈ આવી. કરુણ પરિસ્થિતિ મારી પત્નીથી સહન ન થઈ શકી અને આશીર્વાદ માટે તે આપની પાસે દોડી આવી. આપ પણ ગુજરાંવાલા થઈ ગયા અને આશિષ દીધી કે દેવગુરુધર્મપ્રસાદે સત્યનો જરૂર જય હો જોજો. અને આપનો આશીર્વાદરૂપી વાસક્ષેપ લઈ તે મારી પાસે આવી. અને હું બચી ગયો અને મને જીવનદાન મળ્યું." આ વાત સાંભળી ગુરુજીને આનંદ થયો અને પેલા ભાઈ પણ એના આશીર્વાદથી પોતે બચી શક્યો એ ગુરુના દર્શન થવાથી પરમ આનંદ અનુભવી રહ્યા.

બીજો પ્રસંગ : એકવાર પૂ. વિજયવલ્લભસૂરિ પાલીતાણામાં હતા તે દરમિયાન એક દિવસ સુપ્રસિદ્ધ સંગીતકાર બાબા ધનરાજભાઈને સર્પે દંશ દીધો. ઊભી બંનેની પટીઓ હતી, કારણ કે ઝેર પ્રસરતું જતું હતું. એવામાં ધનરાજભાઈના મિત્ર રતનચંદજી પૂ. ગુરુજી પાસે આવ્યા અને બધી હકીકત નિવેદન કરી જણાવી. ગુરુદેવે તો હંમેશની જેમ આશીર્વાદ આપ્યા અને કહ્યું : "સત્ય જરૂર જય હો જાશે." શ્રી રતનચંદજી વાસક્ષેપ લઈ પાછા આવ્યા અને તેનો જેવો ઉપચાર કર્યો એવું ઝેર ઊતરવા લાગ્યું અને બાબા ધનરાજભાઈએ જાણે નવું જીવન પ્રાપ્ત કર્યું! ત્યારપછી તો ધનરાજભાઈ ગુરુજીના પરમ ભક્ત બનીને રહ્યા.

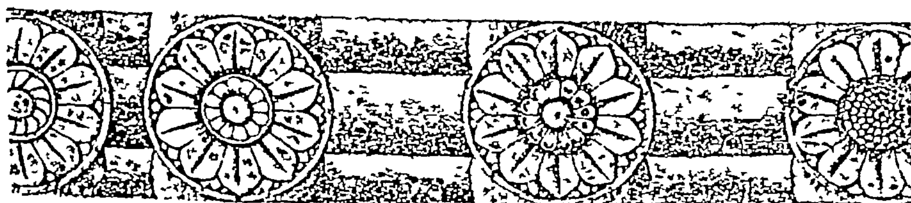
ત્રીજો પ્રસંગ : સં. ૧૯૯૨માં સામાના નગરમાં અંજનશલાકાની પ્રતિષ્ઠા કરાવી પાછા ફરતાં તેઓ એકવાર પંજાબમાં આવેલા પથ્થર ગામમાં રોકાયા. આ ગામ હાલ પાકિસ્તાનમાં છે. આ ગામમાં પાણીની તંગી હતી. તેમને પાણીનું એક ટીપું પણ મળ્યું નહિ, તેમનો આહાર પણ ન થયો. આથી ગામ છોડી તેમને તુરત જ આગળ વિહાર કરવો પડ્યો. કોણ જાણે કેમ પણ તે વખતે ત્યાંના કૂવાઓનું પાણી ખારું બની ગયું. ત્યારપછી સં. ૧૯૯૮માં તેઓ જ્યારે ફરી પાછા એ જ ગામમાં આવ્યા ત્યારે તેમનું આગમનનું સ્વાગત થયું. લોકોએ ભક્તિભાવથી સ્તુતિ કરી. કારણ અને તે લોક પણ નવાઈભરી રીતે કૂવાઓનું પાણી સાકર જેવું મીઠું બની ગયું અને ઊંડા ઊતરી ગયેલા કૂવાઓમાં પુષ્કળ પાણી આવ્યું. સૂકી ગયેલી નદીમાં પાણીનો ભરપૂર પ્રવાહ વહેવા લાગ્યો! આવી ઘટનાઓથી લોકોમાં ખૂબ આશ્ચર્ય પેદા થયું.

ચોથો પ્રસંગ : બીકાનેર નગરમાં સં. ૧૯૯૬માં એક જૈન મંદિરની પ્રતિષ્ઠા કરાવવાની હતી. આ મંદિરની ફાળવણી ફરી પાછી હતી, પરંતુ પ્રતિષ્ઠાનો ઉત્સાહ લોકોનો ઉત્સાહ માતો ન હતો. સ્વાગતની પૂરી તૈયારીઓ થઈ ગઈ હતી. આજુબાજુના ગામોમાંથી અનેક લોકો આવેલા. દિગમ્બર જૈન ધર્મશાળાના મેદાનમાં આચાર્ય વિજયવલ્લભસૂરિની રચના રચાઈ હતી. અનેક વેપારીઓએ પોતાના સ્ટૉલો ઊભા કર્યા હતા. ઝવેરાત, સોનાચાંદીના કીમતી દાગીના, અનેક જાતનાં વાસણો, જરીથી મઢેલાં રેશમી, સુતરાઉ વગેરે જાતજાતના કાપડની દુકાનો ઊભી થઈ ગઈ હતી. રમતગમતો માટે પણ યોગ્ય વ્યવસ્થા થઈ હતી. બધું વાતાવરણ આનંદ અને ઉમંગથી સભર હતું. પણ કમનસીબે એકાએક સર્વત્ર વાદળો ઘેરાઈ ગયાં. આખું ઘોર થઈ ગયું. વીજળીના ચમકારા થવા માંડ્યા અને જાણે હમણાં પ્રલય થશે એવું વાતાવરણ બની ગયું. એવી ભીતિ પેદા થઈ. બધી કીમતી ચીજોનો નાશ થઈ જશે અને પ્રતિષ્ઠાનો

ઉત્સવ નહિ ઊજવી શકાય એવી ચિંતાઓ થવા માડી સૌ પ્રભુને પ્રાર્થના કરવા માડ્યા મુસલમાનોએ પણ બદગી શરૂ કરી આ વખતે જૈનોએ પૂ૦ ગુરુજી તરફ મીટ માડી સૌ તેમની પાસે ગયા અને હતાશ હૈયે પૂછવા લાગ્યા 'શુ આપણો ઉત્સવ ભાગી પડશે?' પણ ગુરુદેવે તો સ્મિત કરી જવાબ આપ્યો 'સબ કુછ અચ્છા હો જાયેગા' અને ખરેખર બધુ જ સારુ થઈ ગયુ મેઘ ગાજ્યા પણ વરસ્યા નહિ આકાશ ધીમે ધીમે સ્વચ્છ થઈ ગયુ મુસલમાનોના હૃદયમા પલટો થયો અને જે પહેલા મસ્જિદ પાસેથી રથયાત્રા પસાર થવા દેવાની આનાકાની કરતા હતા તે પણ હવે વિના સકોચે રજા આપવા તૈયાર થયા એ બધો ગુરુજીનો પ્રભાવ હતો ભયનુ વાતાવરણ શમી ગયુ અને સર્વત્ર આનદની લહરીઓ પ્રસરી મગળ ગીતો ગાવા શરૂ થયા શરણાઈઓના સૂર વહેવા લાગ્યા

પાચમો પ્રસગ ભારત પાકિસ્તાન એવા ભાગલા પડ્યા તે સમયે ગુરુદેવ ગુજરાનવાલામા બિરાજમાન હતા હવે તેમણે ગુજરાનવાલા છોડી આગળ વિહાર કરવાનુ નક્કી કર્યુ આ વાતની મુસલમાનોને ખબર પડી એટલે તેમણે આ ભાવડા (પજાબમા જૈનોને મુસલમાનો ભાવડા કહી સબોધતા) લોકોને લૂટવાનુ નક્કી કર્યુ ગુજરાનવાલાથી ત્રણ માઈલ દૂર આવેલ મોતી નહેરના પુલ નીચે ઝાડીમા હથિયારો સહિત બધા મુસલમાનો સતાઈ ગયા આ વાતની ગુરુદેવને ખબર પડતા તેમણે તે દિવસે વિહાર કરવાનો વિચાર પડતો મૂકીને આત્માનદ જૈન ગુરુકુળના વિશાળ મેદાનમા રોકાઈ જવાનો નિર્ણય કર્યો આ સમયે એક શીખ સરદાર મિલિટરી ટુકડી સાથે ત્યાથી પસાર થઈ રહ્યો હતો, અને તેને ખબર પડતા તે ગુરુદેવ પાસે આવ્યો ગુરુદેવને તેણે નમસ્કાર કર્યા મુસલમાનોની હેરાનગતિની વાત સાભળતા તેમણે આગળ જવાનુ પડતુ મૂકી પ્રથમ ગુરુદેવ તેમ જ તેમના સાધુસમુદાયને જવાના સ્થળે સુખરૂપ પહોંચાડ્યા આવી અણધારી મદદ મળી રહે એ કાઈ ઓછી નવાઈની વાત નથી

આવા અનેક કડુમીઠા પ્રસગો ગુરુદેવના જીવનમા બન્યા હતા, પરતુ કોઈપણ પ્રસગે તેમણે હૃદયનું ધૈર્ય ગુમાવ્યુ નથી તેમનામા વેરઝેર ન હતા સર્વ પ્રતિ દયાભાવના હતી દરેક પ્રતિ સમાન દૃષ્ટિથી જોવાની વૃત્તિ કેળવી હતી જ્યા વેરઝેર ને રાગદ્વેષ ભાળ્યા ત્યા તેમણે તે દૂર કરી સગઠન સ્થાપવાનો પ્રયત્ન કર્યા જૈન જૈનેતર એવો ભેદ તેમણે કદી રાખ્યો નથી તેઓશ્રીના વિશાળ હૃદયમા માનવતા રોમે રોમે પ્રસરેલ હતી તેઓ તો સત્યના ચાહક હતા એટલે જે સત્યનો ચાહક એ એમનો ચાહક જીવનમા જે સત્ય તેમને લાધ્યુ તે તેમણે બીજાને દર્શાવવાનો પ્રયત્ન કર્યા બધા જ સુખી થાય એવી ઉચ્ચ ભાવનાથી પ્રેરાઈ ને તેમણે કેટલાક ચિરસ્મરણીય કાર્યો કર્યાં પ્રભુ, આવા પવિત્ર આત્માઓની પ્રતિષ્ઠા દિવસે દિવસે બઢતી જ રહો



તીર્થંકરોના ચરણે ઉચ્ચારેલ માતાનું વચન સાર્થક

મુનિશ્રી હિતવિજયજીવર્ય

આવા મહાપુરુષનું જીવન આલેખવાથી જ મહાન હોય છે. તેની મહાનતામાં કિરણો ભાગ્યશાળી જ એ ના ભીન સાથે રેખા ? છે. એ ની એક મહા વિભૂતિ અને ગુજરાતનું ગૌરવ એવા પંજાબકેસરી પૂ. શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીના જીવનમાં પણ એમ જ બન્યું હતું. પોતાની નાની વયમાં જ માતાથી તેમને વિખૂટા પડવાનું આવ્યું—માતાએ સર્વ પ્રતિ પ્રણામ કર્યું, ત્યારે સમયે તેમણે ઉચ્ચારેલા ઉદ્ગારો ખરેખર ભાવિની આગાહીરૂપ હતા. પોતાના બાળકના જીવનનું જીવન તેણે તીર્થંકરના ચરણોમાં અર્પી દીધું.

માતાના એ પવિત્ર ઉદ્ગારો તે સાચે સાર્થક કર્યા. બાલ્યાવસ્થાથી જ આચાર વિચાર પ્રતિ એક પ્રકારની પૂજ્ય ભાવના જીવનનું સમગ્ર દૃષ્ટિબિંદુ જ હતું. આચાર અને વર્તનમાં પ્રતિબિંબ પાડ્યું. પોતાના વડીલ વર્ગના તેમ જ અન્ય સમાન ધીના વિરોધ, આનાકાની અને અપમાન સહ્યાં તેણે પોતાના ધ્યેયમાંથી પાછી પાની ન કરી, અને તે ધ્યેયને પહોંચવામાં જ પોતાના જીવનની સાર્થકતા માનીને પૂ. આત્મારામજી મ.ના પવિત્ર ચરણોમાં તેણે પોતાનું શિર ઝુકાવી દીધું અને આમ તે જીવન પરી વલ્લભ બન્યા.

જે માનવીના હૃદયમાં કંઈ નિશ્ચિત અભિલાષા હોય છે તેને તે અભિલાષા પ્રતિ પહોંચવા કોઈ યોગ માર્ગ મળી જ રહે છે. જેના હૃદયમાં આત્મકલ્યાણનું બીજ પડ્યું હોય છે તે કોઈક દિવસ પલ્લવિત થઈને વિશાળ વૃક્ષનું સ્વરૂપ અવશ્ય ધારણ કરે છે. પૂ. શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિના હૃદયમાં આધ્યાત્મિક પ્રગતિની તમન્ના જાગી હતી અને તે તમન્ના—અભિલાષા—આકાંક્ષાને પહોંચવા તેમને યોગ પણ મળી ગયો. તેમની અભિલાષાને પૂ. આત્મારામજી જેવા ગુરુમહારાજ અને આશ્રયસ્થાન પ્રાપ્ત થયાં અને તેમની છાયા નીચે પૂ. શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિએ પોતાનું જીવનઘડતર કરી બતાવ્યું. તેમની નાવડીને યોગ્ય સુકાની મળી ગયો.

જૈનશાસનની પ્રગતિ અર્થે જેમણે પોતાનું સમગ્ર જીવન ખર્ચી નાખ્યું એ આત્મારામજીની દોરવણી નીચે તેમણે જૈન ધર્મના મહાન ગ્રંથોનું અધ્યયન આદર્યું. જેમ જેમ ગુરુના તે સમા શિષ્ય બન્યા ગુરુની સેવા અને પ્રીતિ તેમણે પ્રાપ્ત કરી. જૈન ધર્મનાં મૂળ તત્ત્વો અને ગૂઢ રહસ્યોને સમજવા તેમણે અથાગ મહેનત કરી. પૂ. આત્મારામજીને આગમોનું ઊંડું જ્ઞાન હતું. પૂર્વજોનો ઊંડો અભ્યાસ કર્યો. આ બધાં તત્ત્વો ન્યાય, વિદ્યા અને સાહિત્ય વિષયે યોગ લાભ લીધો અને તે જ્ઞાનથી પીપાસુની પાસ સર્વત્ર વહેવડાવવા જ ગરજતા જેમ તીર્થો, ગામેગામ ને શહેરેશહેર ફરી ગુરુના જીવનની સ્મરણ જાગૃતી કીધી અને સર્વત્ર પ્રેમ અને ભક્તિની સરિતા વહેવડાવી.

જૈનશાસનના પાયામાં રહેલા સિદ્ધાંતો અને સત્યોને જો સાચી રીતે સમજવામાં આવે તો આપણને લાગે કે જૈનધર્મ ખરેખર એક ઉચ્ચ ધર્મ છે. એ ધર્મને પ્રચારક દૃષ્ટિએ નહિ પણ સર્વોદયની દૃષ્ટિએ ફેલાવવાની પૂ. સૂરિજીના હૃદયમાં અનેક ઊર્મિઓ ઊછળી રહી હતી. એ ઊર્મિઓને આચારમાં મૂકવા તેમણે માત્ર આધ્યાત્મિક કે ધાર્મિક ક્ષેત્ર જ નહિ પણ તેની સાથે સાથે સામાજિક દૃષ્ટિ પણ ધ્યાનમાં રાખી. જૈન સમાજની ઉન્નતિમાં તેમણે જૈનધર્મની ઉન્નતિ પણ નિહાળી. અત્યારે સામાજિક રીતે જૈનસમાજને આગળ લાવવાનું તેમને યોગ્ય લાગ્યું. ખરેખર આ એક દીર્ઘદૃષ્ટિ હતી. એ દિવ્યદૃષ્ટિના

ફળ આજે આપણને મળ્યા છે એ ઊર્મિએ આપણને અંબાલામા જૈન કૉલેજ, ફાલનામા કૉલેજ તથા વરકાણા હાઈસ્કૂલ આપી, મુંબઈમા શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય જેવી ભવ્ય સંસ્થા અને અમદાવાદ, પૂના તેમ જ વડોદરામા તેની જ સંલગ્ન શાખાઓ અર્પી આ ઉપરાંત પ્રગતિના શિખર સર કરતી બીજી અનેક સંસ્થાઓ અસ્તિત્વમા આવી અને પરિણામે જૈન બાળકોમા જ્ઞાનની અતિ ઉજ્જ્વળ શિખા પ્રગટી ઊઠી

આ બધાને વટાવી જાય એવી એક રમ્ય ઊર્મિ તેમના હૃદયમા ઊછળી રહી હતી અને તે હતી એક વિશાળ જૈન યુનિવર્સિટી સ્થાપવાની આપણે ઇચ્છીએ કે તેમની એ ઊર્મિ પરિપૂર્ણ કરવા આપણે અથાગ પ્રયત્ન આદરી કટિબદ્ધ થઈએ

મહાન વ્યક્તિઓ તેમના ગુણોથી જ મહેકી ઊઠતી હોય છે તેમના એ ગુણોમા અજબ પ્રકારની આકર્ષક શક્તિ હોય છે એ ગુણોની સૌરભ તેમની પ્રતિભામા સારી રીતે પ્રતિબિંબિત થયેલી હોય છે સામાન્ય રીતે એવી માન્યતા છે કે તીર્થંકરો જ્યા વિહાર કરે ત્યા કંટકો પણ પોતાના મુખ નમ્રતાથી નીચા વાળી દે અને તેમનો માર્ગ આપોઆપ સાફ થઈ જાય તેમનામા રહેલા ગુણો જ જાણે તેમના દૂતનુ કાર્ય કરતા હોય અને તે દૂતો તેમના આગમનનો સંદેશો સર્વત્ર પહોંચાડી દે તેવી જ એક ઉક્તિ સાર છે કે :

गुणा कुर्वन्ति दूतत्व दूरेऽपि वसता सता ।
केतकीगधमाघ्रातु स्वयमायान्ति षट्पदा ॥

કેતકીમા કુદરતી રીતે જ મીઠી સુગંધ રહેલી હોય છે, પણ એ સુગંધનો પ્રચાર કરવા કેતકી ક્યાય મુસાફરી કરવા જતી નથી—તેની સુગંધથી આકર્ષાઈને ભ્રમરો પોતે જ ત્યા આવતા હોય છે તેવી જ રીતે મહાન પુરુષો પોતે પોતાની આત્મપ્રશંસા કરવા ક્યાય જતા નથી, તેમના ગુણો જ તેમના દૂતો તરીકેનુ કાર્ય કરે છે, અને એ ગુણોથી જ અન્ય જનો તેમના પ્રતિ ખેંચાય છે આ રીતે ગુણોનો અતિ કીમતી પ્રભાવ છે જેટલા ગુણો વધુ તેટલા તે વધુ મહાન પૂ૦ સૂરિજી જ્યા જતા ત્યા તેમના ગુણોની સૌરભથી સમગ્ર વાતાવરણ મહેકી ઊઠતુ સર્વત્ર આનંદ, ઉમંગ અને ઉત્સાહ પ્રવર્તી રહેતો તેમના ગુણોમા રહેલી અજબ ચમકથી માત્ર જૈનો નહિ પરંતુ જૈનેતરો પણ એટલા જ આકર્ષાતા

સદ્ગુણી પુરુષોની વાણીમા અપૂર્વ માધુર્ય હોય છે તેમના મુખમા કટુ વાણી કદી પ્રવેશ કરી શકતી નથી કડવી વાત પણ એટલી મીઠાશથી તેઓ કહે છે કે એમા કડવાશનો અંશ પણ રહેતો નથી આગમમા પણ કહ્યુ છે કે

महुर निउण थोव, कज्जावडिय अगव्वियमतुच्छ ।
पुव्वि मइसकलिय, भणति ज धम्मसंजुत्त ॥

મહાન વ્યક્તિઓ પોતાના વચન અતીવ મધુર રીતે, તેના અર્થની સંકલના જાળવી, ખૂબ વિવેકપૂર્વક અને બુદ્ધિપૂર્વક બોલતા હોય છે—તેમા અભિમાનનો ઓછાયો પણ હોતો નથી

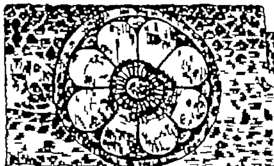
પૂજ્ય ગુરુદેવનુ હૃદય પણ ખૂબ સુકોમળ હતુ તેમની વાણીમા અપૂર્વ માધુર્ય અને અલૌકિક આકર્ષણ હતું તે વાણી અંતરની વાણી હતી અને તેથી જ તેમા સનાતન સત્યોનુ સિંચન થતુ

જેમના જીવનમા ખરેખર પોતાનુ કંઈક સ્વતંત્ર સત્ત્વ હોય છે તેનુ તેજ પથરાયા વિના રહેતુ નથી અને તે તેજમા આવતી બીજી ચીજો પણ પ્રકાશિત થાય છે મહાન પુરુષો લોકોલોકોને કહેતા હોય છે કે આપણે પણ એમના જેવુ જીવન જીવી શકીએ, તેમણે મેળવેલી સિદ્ધિઓ આપણે પણ પ્રાપ્ત કરી શકીએ આમ મહાન વ્યક્તિઓના જીવનમાથી નિત્યે પ્રેરણાના ઝરણા વહેતા હોય છે એ ઝરણામા

જેઓ સ્નાન કરે છે તેઓ પવિત્ર થઈ બહાર નીકળે છે. પૂ. વિજયવલ્લભસૂરિનું સમસ્ત જીવન પ્રેરણાદાયી હતું. તેમના જીવનમાં એવા પ્રકાશપૂર્ણ તત્વો પણ હતાં કે જો તેમાંનું એકાદ હાથ લાગે તો આપણું જીવન પણ સાર્થક બને. આપત્તિથી તેઓ કદી ડગ્યા નથી. શારીરિક વ્યાધિઓ પણ તેમણે હસતે મુખે સહન કરી, અને એ તો કોઈ જનમના કર્મનું ફળ છે એમ કહી તે ફળ હિંમતથી ભોગવવાની અજબ શક્તિ કેળવી. તેમની આ બધી સિદ્ધિઓ અને શક્તિઓમાંથી જૈન સમાજને અને ખાસ કરીને તેમના શિષ્યગણને ઘણી પ્રેરણા મળતી છે.

વિરાટનું કદી વર્ણન થઈ શકતું નથી. ગમે એટલા શબ્દો હોય, ગમે એવી ભાષા હોય પણ વિરાટની સરખામણીમાં એ બધું અલ્પ જ છે. જેમની જીવનસરિતા એટલી વિશાળ હોય છે કે આપણી દૃષ્ટિ બધી બાજુ પહોંચી શકતી નથી. તટ પર ઊભા રહી જેટલું પામીએ તેટલું સાચું. એમનાં ઊંડાણ અમાપ અને અતાગ હોય છે. આપણે તો તેમના ચરણમાં રહી એટલું જ માગીએ કે

महत्त्व एव धन्योऽपि महता पुण्यकर्मणाम् ।



યુગવીરનાં સંસ્મરણો

મુનિશ્રી જનકવિજયગણિવર્ય

ज्ञानामृतेन लोकाना कष्टोच्छेदविधायिने ।
ऐन्दुर्गीनवीराय नमो वल्लभसूरये ॥

જગતમા મહાપુરુષોનુ જીવન સ્વપરકલ્યાણ કરવાવાળુ હોય છે અને તેથી જ તે એક આદર્શ જીવન હોય છે જો માનવીની દૃષ્ટિ સમક્ષ કોઈપણ જાતનો આદર્શ ન હોય તો તેનો પૂર્ણ વિકાસ થતો નથી એટલુ જ નહિ, પણ તેનુ જીવન અધકારમય બને છે મહાપુરુષના આદર્શ જીવનને દૃષ્ટિ સમક્ષ રાખતા આપણને આત્મસ્વરૂપનું દર્શન થાય છે, આપણી નબળાઈઓ અને ક્ષતિઓનુ સ્પષ્ટ જ્ઞાન થાય છે, પરિણામે આપણે એ ક્ષતિઓને દૂર કરી જીવનનુ યોગ્ય ઘડતર કરવા પ્રયત્ન કરીએ છીએ વસ્તુત મહાપુરુષોનુ જીવન આપણામા સસ્કારનુ સિંચન કરે છે, દૃષ્ટિને વિસ્તૃત બનાવે છે અને એવી રીતે એક દીવાદાડીરૂપ બને છે

જેમનુ જીવન એક આદર્શ જીવન હતુ એવા અનેક મહાપ્રતાપી, મહાતેજસ્વી અને મહાપ્રભાવક ધર્મધુરંધર સૂરિપુગવો જૈન સમાજમા પણ થઈ ગયા અન્યનુ જીવન ઘડવામા અને સન્માર્ગે વાળવામા તેઓએ પોતાનો અમૂલ્ય ફાળો આપ્યો છે અધકારમય જીવનમાં જ્યોતિ પ્રસારી નૂતન વાતાવરણ પેદા કરવામા પોતાની અખૂટ શક્તિ ખર્ચી છે

પૂજ્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજી એ મહાપુરુષોમાના એક હતા તેમનુ જીવન પણ અનેક વ્યક્તિઓ માટે માર્ગદર્શક દીવાદાડીરૂપ બન્યુ હતું ગુજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, મેવાડ, મારવાડ અને વિશેષરૂપે પજાબમા પગપાળા સફર કરી તેમણે શિક્ષણની સસ્થાઓ ઊભી કરી, સગઠન સાધવા ઉપદેશ આપ્યો અને ધાર્મિક આદેશ આપી જ્ઞાનની જ્વલત જ્યોત પ્રગટાવી

તેમનુ જીવન અનેકવિધ હતું અનેક અનુભવોથી સભર હતુ એ સમગ્ર જીવનચરિત્રને સમજવુ અને આલેખવુ અતિ કઠિન છે સામાન્ય જનની કલમ તો અમુક પાસા જ તપાસી શકે આથી હુ આપણને જેમાથી કઈક માર્ગદર્શન અને બોધ મળે એવી થોડીક ઘટનાઓ કહીને જ વિરમીશ એ ઘટનાઓના સસ્મરણો મારા જીવનમાથી કદી વિસ્મૃત નહિ બને

પોતાની વાત બીજાને સારી રીતે સમજાવવાની પૂ૦ સૂરિજીમા કેવી દિવ્ય શક્તિ હતી તે માટે એક ઘટના બસ થશે એકવાર વિહાર કરતા કરતા તેઓ પજાબના એક ગામમા આવ્યા એક અતિ વિદ્વાન અને તેજસ્વી આકરા સાધુ તરીકેની તેમની પ્રતિષ્ઠા જૈન સમાજમા હતી જ, તેથી ધર્મના સિદ્ધાતોની કઈક ચર્ચા કરવા કેટલાક બ્રાહ્મણો ગુરુદેવ પાસે આવ્યા સામાન્ય રીતે બ્રાહ્મણો સ્નાનાદિ ક્રિયાઓમાં તેમ જ શરીરશુદ્ધિની બાબતમા સહજ રીતે વિશેષ ધ્યાન આપતા હોય છે, જ્યારે જૈન સાધુઓ સ્નાન કરતા નથી—તે ન કરવા પાછળ અહિંસાની દૃષ્ટિ રહેલી છે બ્રાહ્મણોને આ વાતની ખબર હતી અને તેથી તે વિષય અગે તેમણે ગુરુદેવ પાસે ચર્ચા કરી ગુરુદેવે અતિ શાતિપૂર્વક પોતાની વાત સમજાવવા પ્રયત્ન કર્યો તેમણે કહ્યુ કે માત્ર બાહ્ય શરીરશુદ્ધિ પૂરતી નથી ગમે એટલી બાહ્ય શારીરિક શુદ્ધિ હોય પણ જો

આન્તરિક શુદ્ધિ ન હોય તો તે શરીરશુદ્ધિનું કંઈ મહત્ત્વ નથી. પોતાના વક્તવ્યને પુષ્ટ કરવા તેમણે પુરાણમાંથી એક સુંદર દૃષ્ટાંત આપ્યું.

એકવાર પાંડવો અડસઠ તીર્થની યાત્રા કરવા નીકળ્યા. તે સમયે કૃષ્ણ ભગવાને તેમને એક તુંબડી આપી અને તેને પોતાની સાથે યાત્રા કરાવવા માટે સૂચન કર્યું. બાર વર્ષ સુધી પરિભ્રમણ કરી પાંડવો પાછા આવ્યા. તે વખતે કૃષ્ણ ભગવાને પેલી તુંબડીનો ભૂકો કરી સૌ સ્વજનોને વહેંચ્યો. તે ભૂકો ચાખતાં સ્વજનોનું મુખ કડવું થયું અને તેઓએ તે થૂંકી નાખ્યો. કૃષ્ણ ભગવાને આશ્ચર્ય સાથે પાંડવોને પૂછ્યું, 'શું તમે આ તુંબડીને તીર્થસ્નાન નથી કરાવ્યું?' પાંડવોએ તુરત જવાબ આપ્યો, 'એક નહિ પણ અનેકવાર તીર્થસ્નાન કરાવ્યું છે!' પાંડવોના આવો જવાબ સાંભળી કૃષ્ણ ભગવાને તેમને નીચેનો ઉપદેશ આપ્યો.

आत्मानदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥

હે પાંડુપુત્ર, જેમાં સંયમરૂપી પાણી છે, સત્યરૂપી પ્રવાહ છે, શીલ તટ અને દયારૂપી ઊર્મિ છે એવી આત્મારૂપી નદીમાં સ્નાન કરો, બાકી બાહ્ય જલથી અંતરાત્માની શુદ્ધિ થતી નથી.

ગુરુદેવનું ઉપર્યુક્ત દૃષ્ટાંત અને ઉપદેશ સાંભળી બ્રાહ્મણો ખુશ થઈ ગયા. ગુરુદેવે આત્મશુદ્ધિ પર ભાર મૂક્યો. તેમણે કહ્યું: જૈન સાધુની પાસે સત્ય, અહિંસા, બ્રહ્મચર્ય, અપરિગ્રહ, તપ, ત્યાગ વગેરે હોવાથી તે હંમેશ માટે પવિત્ર જ હોય છે!

બીજી એક ઘટના છે. એકવાર ગુરુદેવ ફરતા ફરતા અમૃતસરમાં આવ્યા. તેમની પ્રતિભા કેવી આકર્ષક હતી તેનો પરિચય તે વખતે થયો. એક વેદાંતી તેમની પાસે આવ્યો અને તેણે 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या।' એ સિદ્ધાંતનું પ્રતિપાદન કરવા બે કલાક સુધી તેમની સાથે ચર્ચા કરી. ગુરુદેવ હંમેશા નમ્રતાથી વાત કરતા. પ્રતિવાદી ભલે ગમે તેવા તર્ક કરે તો પણ તેઓ પોતાનો કાબૂ કદી ન ગુમાવતા. આથી પ્રતિવાદી પર તેમણે સચોટ વિજય પ્રાપ્ત કર્યો. તેનો ચર્ચા દરમ્યાન ગુરુદેવનું મુખ્ય વક્તવ્ય એ હતું કે જો બ્રહ્મ જ સત્ય હોય અને માયાદિથી રહિત જગત મિથ્યા હોય તો આકાશકુસુમની માફક કલ્પિત કાર્ય થઈ શકે નહિ. જ્યારે પ્રત્યક્ષ એ છે કે માયાજનિત જગતમાં કાર્ય પ્રત્યક્ષ દેખાય છે તો તે જગત મિથ્યા કેવી રીતે?

ગુરુદેવની આ સમજણથી પેલા વેદાંતી આચાર્ય પર ખૂબ અસર થઈ. ગુરુદેવના વ્યક્તિત્વથી તે આકર્ષાઈ ગયો. તેને એમ લાગ્યું કે આવા વ્યક્તિત્વવાળી વિભૂતિ આ પહેલાં તેણે કદી જોઈ જ ન હતી. તેથી તેણે પૂ. ગુરુદેવની ભાવપૂર્ણ સ્તુતિ કરી અને પોતાનું શિર તેમના ચરણોમાં નમાવી દીધું. તેના અંતરમાંથી ભાવનાનો સ્રોત વહેવા લાગ્યો.

व्याख्यानामृतवर्षिणा प्रतिदिनं नित्यं सुधा सीक्ता
व्याख्यापर्वविचारणानुमितये स्वर्गादि मार्गप्रदम् ।
व्याख्याविस्तरमपूर्वमतया [illegible] [illegible]
वन्दे श्रीगुरुवल्लभ[illegible] नित्यं नमस्कुर्महे ॥

"જેમના વાક્યરૂપ અમૃતનું પાન કરનારને સુધા નીરસ લાગે છે, જેમના વાક્યના અર્થનો વિચાર કરવાથી સ્વર્ગ પણ જેલખાનું લાગે છે, જેમની નિર્મળ વાણીથી ભાવિત મનવાળાને જગત રૂની માફક તુચ્છ લાગે છે એવા શ્રી ગુરુ વલ્લભ નામવાળા મુનિને હમેશાં નમસ્કાર કરું છું."

એક બીજી ઘટના : આખા હિંદુસ્તાનના ભારત અને પાકિસ્તાન એમ ભાગલા પડ્યા તે સમય એક કટોકટી અને ભયંકરતાનો સમય હતો. સર્વત્ર લૂંટફાટ, મારામારી અને આગની બૂમરાણ સંભળાતી હતી. માણસમાંથી જાણે માણસાઈ દૂર થઈ ગઈ હતી! 'ખૂન સામે ખૂન' અને 'વેર સામે વેર'ના સૂત્રો પોકારાઈ રહ્યા હતા. આવા કટોકટીના સમયે પૂજ્ય ગુરુદેવ ગુજરાનવાલા શહેરમાં હતા. એ શહેર પાકિસ્તાનમાં ગયું હોવાથી ત્યાંથી અનેક હિંદુઓ હિજરત કરી ગયા હતા, અને તેને સ્થાને ત્યાં મુસ્લિમોના જૂથના જૂથ ધસી રહ્યા હતાં. સમગ્ર વાતાવરણ અગ્નિકાંડ, અત્યાચાર અને લૂંટફાટથી કલુષિત બન્યું હતું. આવે સમયે પૂ૦ ગુરુદેવે સમગ્ર સંઘને શાંતિ અને ધીરજ જાળવવા ઉપદેશ આપ્યો અને જાહેર કર્યું કે "જ્યાં સુધી સંઘનો એક પણ બાળક અહીં હશે ત્યાં સુધી માત્ર જીવ બચાવવા ખાતર હું અહીંથી એક ડગલું પણ નહિ ભરું!" ગુરુદેવનું આ વચન સાંભળી સંઘની શ્રદ્ધા વધી ગઈ. સૌને ખાતરી થઈ કે પૂ૦ સૂરિજીમાં અજબ પ્રકારની ધીરજ, શાંતિ અને સહનશીલતા હતી. તેમનામાં પરોપકાર અને બલિદાનની તીવ્ર ભાવના હતી. પરને માટે સમર્પણ કરવાની ઊંડી લગન અને તમન્ના હતી.

પૂ૦ ગુરુદેવ અને તેમના શિષ્યોનો ઉપાશ્રયમાં વસવાટ જોઈ એક દિવસ કેટલાક યુવાન મુસલમાનો ક્રોધે ભરાયા. તેમને થયું કે 'ગુજરાનવાલામાંથી બધા હિંદુઓ અને શીખો ચાલ્યા ગયા તો હજુ સુધી આ ભાવડાઓ (પંજાબમાં જૈનોને ભાવડા કહે છે) કેમ ગયા નથી? જાણે પોતાની માલિકી હોય તેમ નિરાંતે શાંતિથી બેઠા છે!' તે સમયે એક વૃદ્ધ શાણા મુસલમાને પોતાના યુવાનોને સલાહ આપી: "ભાઈઓ, એ વૃદ્ધ ફકીરને સતાવવામાં સાર નથી. તે હમેશાં ખુદાના નામની માળા જપે છે. એના પ્રતાપથી જ આ શહેર શાંતિથી બેઠું છે. એને છેડવાથી એના કરતાં તમને વધારે નુકસાન થશે, માટે એનું નામ લેશો નહિ!" પણ એ બુઢ્ઢા વડીલની સલાહ કોણ સાંભળે? મુસલમાનોએ એક કાવતરું રચ્યું. એક દિવસ વહેલી સવારે ઉપાશ્રયની પાછળ આવેલ ઘરોમાંથી એક યુવાન મુસલમાન આવ્યો અને તેણે ત્રણ બોમ્બ નાખ્યા. ઉપાશ્રય, મંદિર તથા પાછળ આવેલા મુસલમાનોના ઘરો સળગી ઊઠ્યા. અગ્નિની પ્રચંડ જ્વાળાઓ આકાશ સુધી પ્રસરી રહી. પણ આશ્ચર્યની વાત એ હતી કે પૂ૦ ગુરુદેવ કે તેમના શિષ્યસમુદાયને કશી જ હાનિ થઈ નહિ. ઊલટું, બોમ્બ ફેંકનાર યુવાન ગોળી વાગવાથી તત્કાળ મૃત્યુ પામ્યો. આવા ચમત્કારો આપણને અતિશયોક્તિ લાગે પણ મહાપુરુષોના જીવનમાં એવા પ્રસંગો બનતા હોય છે. તેઓ ભલે નિમિત્તરૂપ હોય છે પણ સમાજ પર તેની જબરી અસર પડતી હોય છે.

આ બધી ઘટનાઓ પરથી સ્પષ્ટ રીતે ફલિત થાય છે કે પૂ૦ ગુરુદેવ [illegible] [illegible] જ્ઞાન, શ્રદ્ધા અને બુદ્ધિનું તેમનામાં અલૌકિક તેજ હતું. તેમના વિચારો, આદર્શો અને સિદ્ધાંતોમાં પ્રગતિનું અદ્ભુત બળ હતું. તેથી જ તેમને માટે [illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥

સ્વર્ગસ્થ આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજી

દી૦ બ૦ કૃષ્ણલાલ મોહનલાલ ઝવેરી

શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયનો વિકાસ, એ મહત્ત્વપૂર્ણ વિદ્યાલય સ્થપાયું ત્યારથી અત્યાર સુધી, હું તેનો સાક્ષી છું. ઘણીએ વખત ત્યાં હાજર રહી મેં વ્યાખ્યાનો આપ્યાં છે અને એને જૈન કોમના ઉદયની એક સબળ કડી લેખતો આવ્યો છું. આપણા સમાજનું એક મોટું અંગ જૈન કોમ છે અને તેનો ઉદ્ધાર તે આખા સમાજના ઉદ્ધારનો એક અગત્યનો ભાગ છે. એટલે તે દીર્ઘદૃષ્ટિથી પૂજ્યપાદ સૂરીશ્વરજીએ એનો પાયો નાખ્યો, ને દરેક ક્ષેત્રમાં તેને આગળ વધાર્યું. તેમનો જેટલો પાડ માનીએ તેટલો થોડો. મુંબઈમાં સ૦ શ્રીયુત સર રમણભાઈ મહીપતરામ નીલકંઠના પ્રમુખપણા નીચે ગુજરાતી સાહિત્ય પરિષદ્‌નું અધિવેશન થયું હતું તે આ વિદ્યાલયમાં થયું હતું. અને એ રીતે એ વિદ્યાલયે ગુજરાતી સાહિત્યની જે સેવા કરી છે તે માટે તે સાહિત્ય પણ એનું ઋણી છે. તો પછી એના પ્રેરકનું કેમ ન હોય?

ભારતની સંસ્કૃતિની ઓર વિશિષ્ટતા જૈનોએ પોતાનો ફાળો ન આપ્યો હોય એમ નથી, કારણ એઓ પણ ભારતપુત્રો છે. પછી ભલે તેઓ વૈદિક ધર્મના અનુયાયીઓ ન હોય. સાહિત્ય, કળા, સ્થાપત્ય, વસ્તુકળા—આ ક્ષેત્રમાં જૈનો પાછળ પડ્યા છે? જૈનોનું પોતાનું રામાયણ છે; આબૂનાં જૈન દેરાં ને મંદિરો ત્યાં ઊભાં છે. એમની કળાના વિકાસની ઉચ્ચ ભાવનાની પ્રતીતિ આપે છે. વર્તમાનમાં પણ તેમ જ છે.

જૈનોની સંસ્કૃતિની પશ્ચાદ્ભૂમિકા આ જમાનાના આચાર્ય વરી આગળથી જે કાંઈ કરી ગયા છે તેથી એ ક્ષેત્રમાં એમનું નામ ને એમનું કાર્ય અમરત્વ પામ્યાં છે એમાં શંકાને કંઈ સ્થાન નથી.



યુગવીરનો અંતિમ દૃષ્ટિનિર્દેશ!

શ્રી. પાદરાકર

રોમરોમ, … રંગાયા
માન અને … ચરણે અર્પાયા
નૂતન દૃષ્ટિયા … જેને હૈયે પરખાયા
'અંતિમ દૃષ્ટિના સન્દેશ મણિમય દેવાયા.

" કર્તવ્ય પ્રતિપાલનની બાણશય્યામા આગમ પુષ્પો પથરાયા હોતા નથી "

જૂની સાધુ પેઢીના જોગન્દરોની જમાતમાથી એકલી અટૂલી પડી ગયેલી એક મહાન વિભૂતિ, માનવતાને ઢૂંઢતી, સસ્કૃતિને શોધતી, માનવને દેવ બનાવવા મથતી, ભગવાનનુ શાસન જ નહીં— માનવમાત્રને રોટલે ઓટલે અને વસ્ત્રે તૃપ્ત થઈ સ્વકર્તવ્ય કરતા જોવા તલસતી, વિરાટ વિશ્વની જોખમી હૈયારખી (દીવાલનો કઠોરો) પર પગ દેતી વિચરી રહી છે

સ્વર્ગલોકથી બીજા સ્વર્ગસમી તત્સમયના આદર્શ રાજવી ગાયકવાડ સયાજીરાવના વડોદરના આગણે એ ઉતરી ઘડિયાળી પોળને ઘડિક ગૌરવાન્વિત બનાવી પણ પૃથ્વીને પાટલે દેવોની સ્થિરતા કેટલી? અલ્પાતિઅલ્પ જ ને? એ તો હતી મહાન કેસરીકુળની વિભૂતિ। એને અજકુળમા રહેવા ન જ શોભે। અને 'આત્માએ આત્મનને પરખ્યો' તેમ જ વિશ્વના વિરાટ–જુગજૂના–જોગન્દર એવા શ્રીવિજયાનન્દ–આત્મારામ, આ વિભૂતિને આત્મ જ્ઞાનબોધ દ્વારા દર્શન દે છે—આત્માનુ નિજ સ્વરૂપ બતાવી દે છે—એ કેશરી આ બાલ કેશરીને—સ્વકુળ–કેશરીકુળના દર્શન કરાવી અજના ટોળામાથી સ્વ–કેશરી–ગુરુકુલવાસમા લઈ જાય છે

વડોદરાના વીરક્ષેત્રમા ઉદ્યાનમાની પિતા માતા કુળ માધવી લતાપર ૧૯૨૭ના કાર્તિક શુકલ દ્વિતીયાના એક સુભગ દિવસે એક બટમોગર કલિકા પ્રકટી, અને સસાર તેમ જ ત્યાગના રસરસાયણે પુષ્ટ બનતી એ કલિકા મોટી થતી ચાલી, અને સૌને યે વલ્લભ બનતી ગઈ અગસૌષ્ઠવ અને મનના માર્દવ, જ્ઞાનના તેજલ જ્યોતિ અને ગુણની ગરિમાના વર્તુલ એ સસારવાટિકામા જ પ્રકટવા લાગ્યા અને શિક્ષકો, સદ્‌ગુરુઓ, ઉપાધ્યાયો અને આચાર્યો સસારવ્યવહારના સસ્કારોને, તપત્યાગ તિતિક્ષાના અમૃતછાટણે ભૂસવા લાગ્યા સૌ પોતપોતાના મહાત્યાગના હૈયાહીર એને પાવા લાગ્યા અને એ બાલકલિમા પરાગના પ્રાણ અને આત્મગુણનાં સૌરભ સિંચી રહ્યા, અને સોળ વસત વીતતા તો એની સોળ સોળ પાખડીઓ ખીલી ઊઠી—ત્યાગ-સયમ વિરાગના ધ્વનિ ઊઠવા લાગ્યા આ તો ભવભવના મહાપુણ્યધનને લઈ આવેલ જોગી હતો, જગતમા સસારી ખેલ ખેલવા નહોતો આવ્યો એ। મહાભિનિષ્ક્રમણના અનસરે તો દેવોને યે ડોલવુ પડે અને—અને એક મહાન્ જોગન્દર—મહાન વિરાટ મહામાનવ–વડોદરના ચોકમા એને લેવા આવી ઊભો—આહલેક જગવ્યા અને એ આહલેકના આવાહન અદ્‌ભુત હોય છે— અવ્યર્થ હોય છે એણે પ્રથમ તો સસારની સર્પિણી માયા ભોગવિલાસ અને રાગના ભગાર—જન્મ–જરા–મરણના ઝઝાવાતો અને એના જ્ઞાનગુણના વિકાસમા અનત અવ્યાબાધ મુક્તિસુખની પ્રાપ્તિ અર્થ પુરુષાર્થના દર્શન કરાવ્યા સ્વર્ગ–નર્ક, બધ અને મુક્તિ, અનત દુખના સાગર તેમ જ અનત આત્મ સુખના સભાગનું ભાન કરાવ્યુ અને જગદુદ્ધરણના કર્તવ્યની હાકલના હાર્દના ઘેન

સ્વર્ગસ્થ આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજી

દી૦ બ૦ કૃષ્ણલાલ મોહનલાલ ઝવેરી

શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયનો વિકાસ, એ પ્રશસ્યયુક્ત વિદ્યાલય સ્થપાયું ત્યારથી આજ સુધી, હું એનો સાક્ષી છું. કેટલીએ વખત ત્યાં હાજર રહી મેં ભાષણો આપ્યાં છે અને એને જૈન કોમના ઉદ્ધારની એક સંસ્થા તરીકે જોનારો હું. આપણા સમાજનું એક મોટું અંગ જૈન કોમ છે અને તેનો ઉદ્ધાર તે આખા સમાજના ઉદ્ધારનો એક ભાગ છે. એટલે તે દૃષ્ટિથી પૂજ્યપાદ સૂરીશ્વરજીએ એનો પાયો નાખ્યો, ને દરેક ક્ષેત્રમાં તેને આગળ વધાર્યું. તેમનો જેટલો પાડ માનીએ તેટલો થોડો. ગુજરાતીના સ્વ. શ્રીયુત સર રમણભાઈ મહિપતરામ નીલકંઠના પ્રમુખપણા નીચે ગુજરાતી સાહિત્ય પરિષદ્ સંમેલન થયું હતું તે આ વિદ્યાલયમાં થયું હતું. અને એ રીતે એ વિદ્યાલયે શું કરી સેવાની ? એવા ભાવની છે તે માટે તે સાહિત્ય પણ એનું ઋણી છે. તો પછી એના પ્રેરકનું કેમ જ ન હોય?

આજની સંસ્કૃતિની એક વિશેષતા જૈનોએ પોતાનો ફાળો ન આપ્યો હોય એમ નથી, કારણ એઓ પણ આસ્તિકો છે. વળી સાથે તેઓ વૈદિક સમાજના અનુયાયીઓ ન હોય. સાહિત્ય, કલા, સ્થાપત્ય, તત્ત્વજ્ઞાન—કયા ક્ષેત્રમાં જૈનો પાછળ પડ્યા છે? જૈનોનું પોતાનું સ્થાપત્ય છે: દેરાસરો છે: જૈનોનાં દેરાં ને મંદિરો જઈ જુઓ. ત્યાં એમની કલાના શિલ્પની ઉત્તમ કલ્પનાની સાક્ષી આપે છે. તત્ત્વજ્ઞાનમાં પણ તેમ જ છે.

જૈનોની સંસ્કૃતિની પશ્ચાદ્ભૂમિકા આ જમાનાના પ્રવર્તક તરીકે આચાર્યશ્રી જે કાર્ય કરી ગયા છે તેથી એ ક્ષેત્રમાં એમનું નામ ને એમનું કાર્ય અમર થયાં છે. એમાં શંકાને કશું સ્થાન નથી.



જ્ઞાનના પરમપ્રકાશ પાથરનાર, કોઈ જ્ઞાનપ્રચાર તો કોઈ ક્રિયાચાર ઉદ્ધાર કરવા આવ્યા હતા—આવે છે મહાન્ આચાર્યો, જીવનકાર્યના જ્યોતિ પ્રકટાવવાના ભગીરથ કાર્યનો આરંભ, ત્યાગજીવનની ઉષા આરંભે જ આરંભી દે છે અને પ્રાય તે પૂર્ણ કરવા છેલ્લા શ્વાસપર્યંત પ્રય[illegible]—તે પછી જ વિરમે છે ત્યારે શાંતિ, આત્માનંદ ને સંતોષની જે આભા અંતિમ [illegible] મે છે એ દેવોને યે દર્શનીય હોય છે વડોદરાના નીલવર્ણી સર[illegible] [illegible]મા રંગ પરિમળ પાથરતુ આ દિવ્ય શતદલપદ્મ એટલે જ શ્રી [illegible]

એ જ દિવ્ય જ્યોતિના પ્રાકટ્ય પ[illegible] બનાવે છે અવિરત આત્મભોગ અને ગુરુકૃપા એને [illegible] જ્યોતિમા પ્રકાશના પરિવર્તનશીલ, ક્રાન્તિકર, શાન[illegible] [illegible]નાર દીપ-દર્શન તે આપણા જગવલ્લભ! લઘુ આત્મારામજી! [illegible] [illegible]ન્ય આચાર્યદેવની આસપાસ કેટલાયે મહાજ્યોતિના વર્તુલો રમતા કરી [illegible] [illegible]રાજ, પૂ૦ વિજયાનંદ-સૂરીશ્વરજી, પૂ૦ વિજયધર્મસૂરીશ્વરજી, પૂ૦ મુનિ [illegible] પૂ૦ વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી, પૂ૦ સાગરાનંદસૂરીશ્વરજી, પૂ૦ વિજયનીતિસૂરીશ્વરજી, પૂ૦ વિજયસિદ્ધિસૂરીશ્વરજી આદિ અનેક મહાજ્યોતિ-ધરોના મહાજ્યોતિ આ જ્યોતિને મહાજ્યોતિવંત—સજીવન—બનાવે છે! એમના સ્વાનુભવના રશ્મિ, એમને પ્રતિભાવંત, ઉદ્યોતકર, ચેતનવંત બનાવે છે! મહાન્ જોગંદરોના વારસ વારસે મળેલ અનંતઆત્મરિદ્ધિ સાથે જગત્કલ્યાણની મહામૂલી પાદયાત્રાએ નીકળી પડે છે એ જાય છે—ચાલ્યા જાય છે સાથેના પરિવારને એને આંબી લેવા દોડવુ પડે છે જગત્ જોયા કરે છે—કોઈ ઓલિયો ચાલ્યો જાય! અને એણે નિર્ણય કર્યો. "પ્રાણાર્પણે પણ મારુ શાસન ચેતનવતુ બનાવી દઉં! અજ્ઞાનના પડલ ઉતારવા પાઠશાળાઓ—હાઈસ્કૂલો—કોલેજો—ગુરુકુળો ખોલી દઉં! જૈન જનતાને માટે બેન્કો ઊભી કરી પડે, આધિ-વ્યાધિ ઉપાધિથી થાક્યાના વિરામ માટે ધર્મશાળાઓ પ્રકટાવી દેવાય! જૈ। કોલેજ તો ઠીક, જૈન યુનિવર્સિટીની જ્યોતિ ઝમકાવી દઉં! ફીરકાફીરકાના ભેદની દીવાલો જમીનદોસ્ત કરુ! ભગવાન મહાવીરના દીકરાઓના હૃદયમા જડ ઘાલી બેઠેલ દૃષ્ટિવિષયથળ ખેંચી કાઢુ! ઉપાશ્રયની ચાર દીવાલોની બહાર વીરનો સંદેશ લલકારુ! વિશ્વધર્મસમાન જૈનધર્મને વિશ્વમા—વિદેશોમા ફેલાવી દઉં! મારા વીરની જયતી જગતના ચોકમા ઉજવાતી કરુ! નવકાર ગણનાર જૈન બચ્ચો—અયાચક જૈન નાગો ભૂખ્યો હોય, ભીંઝાતો હોય ત્યા સુધી આ પાત્રમા આણેલી ગોચરી કેમ વપરાય? રેશમી ગરમ શાલો કેમ ઓઢાય? ઉદ્યોગ-ધંધા વિના અટવાતી જૈનાલમને ઉદ્યોગ ધંધે લગાડી સુખી કેમ બનાવાય? લક્ષ્મીનંદનો મહોલાતે મહાલે પણ સામાન્યજનનુ શુ? માનવતા મરતી જાય છે એમા સ્વાર્પણ વડે સજીવન મંત્ર ફૂંકી માનવના પાછી કેમ લાવી શકુ?

જૈન શ્વે૦ કોન્ફરન્સ જેવી જૈન સમાજની પાર્લામેન્ટ, જૈન મહાપરિષદ, પૂર્ણ તદુરસ્ત, ધર્મ અને ધર્મસ્થાનોની રક્ષક, કેળવણી અને જ્ઞાનપ્રચારક, અને જૈન સમાજના સર્વાંગી વિકાસ માટે સૌ કાઈ કરી શકનાર કેમ બનાવી દઉં? ગોડીજીનો ઉપાશ્રય—જ્ઞાનભંડાર—જ્ઞાનપ્રકાશન—આત્માનંદસભા એ સૌ પરમ સુંદર અને ઉપયોગી કેમ બને? કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવન્ હેમચંદ્રાચાર્યકૃત ત્રિશષ્ટિશલાકાપુરુષચરિત્ર—જૈન તત્ત્વાદર્શ—શત્રુંજયમાહાત્મ્ય જેવા અનેક ગ્રંથોને હિન્દીમા અને અંગ્રેજીમા તૈયાર કરાવી જૈનદર્શનની જ્યોત વિદેશોમા કેમ ફેલાવુ? મારુ રાષ્ટ્ર—સ્વતંત્રભૂમિ ભારત—એની સેવા કરવા સૌને કેમ જગાડુ? શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય માટે અને કોન્ફરન્સ માટે વ્યાખ્યાનો આપી આપી લાખોના ફંડ થયા છે તેની યોગ્ય વ્યવસ્થા કેમ કરાવી શકુ? કેટલાય બગભક્તો, સ્વાર્થી ખુશામતીઆ અને તકસાધુઓને ખુલ્લા પાડ્યા સિવાય એમને કેમ સુધારી કર્તવ્યપથે દોરુ? આવા આવા અનેક મનોરથો સેવતા એ મહામાનવની

એની કમાણી કાલક અંતરઆત્માધીન પોષણ પરસીને સીંચે હતા. એ ગુરુ વિચારમંથનમાં દુઃખો ભૂલથી જ તો એમીઓની માનતી જ એ મહાન યોગી તે ! સંસારીઓ—અજ્ઞાનમાં એને તેમ શાં ! મહાન્ આત્માઓ પોતાની આત્મજ્યોતિ જ્યારે કોઈ સુખથી અજ્ઞાનમાં રહે છે ત્યારે તે મહાન્ ? બની રહે છે. એ મહાન્ રાધનપુર—પ્રાંત સ્વર્ગસ્થ શ્રી આત્મારામજી મહારાજના ચરણે આત્મસમર્પણપૂર્વક અર્પાઈ ગયો. નાનકડો છગન જગવલ્લભ બની ગયો, અને પછી તો કોહિનૂર પામનાર ઓળખે જ કયાના કહો લોભાય ? પરમ ધર્મ, આત્મતત્ત્વ, પરમપ્રકાશ અને સમ્યગ્દર્શનનું મહત્ત્વ આપી એનારને સંસારમાંથી માત્ર ત્યાગી કર્મનિષ્ઠ જ લેતી આવી હતી તે સાર્થ ૐ અર્હમ્ ઉચ્ચારતાં આપી નીકળ્યા સંસારસિદ્ધિઓને પેલે પાર ! બન્યો યોગીઓની ભાવ એષી અને દેવોને પણ દુર્લભ એવા પરમપ્રકાશનોથી એ વિભૂષિત બન્યા. શાસનસેવીઓ વાણીનો બન્યો. શિરતાજોનો શિરોમણિ બન્યો. ગુરુનો ઉજમાળમનો અને વિજ્ઞનો વલ્લભ બની રહ્યો.

આત્મજ્ઞાનીના આધાર એવાને મીઠું રસમધુ ગાવી કરી શકે છે. આપણા શ્રી વલ્લભને ગુરુકુળ વાસમાં ગુરુદેવની પાસે જે જ્ઞાનઅમૃત પીવા મળ્યું તે એવું ધરાઈ ધરાઈ પીધાં અને જ્યારે વાણી મારફતે જનસમાજને ઉપદેશ દેવા લાગ્યા ત્યારે એ વાણીમાં ઝરતી વાણી બની ગઈ. એમાં ધર્મનો ઉદ્ધાર, સમાજના સારના સંસ્કાર, પ્રભુભક્તિ વલ્લભનો રસધાર, ત્યાગ વૈરાગ્યના અગાર સાથે આત્મશક્તિના સાર ભરાઈ રહેતા હતા. ગુરુદેવ તો આરાધીયા મેઘગર્જન રસરાજના નીરનાં ઉપદેશો દેતા વિચરી રહ્યા હતા. ગુજરાત–સૌરાષ્ટ્ર–પંજાબના પ્રવિહારોમાં વીતરાગ જિન ગુરુકુળવાસી જ હતા.

જૈનશાસનનો વિચાર રાખ, વિદ્યા–તત્ત્વજ્ઞાન, સર્વેશ્વર–શાસ્ત્ર, ત્યાગ–તપ–નિતિક્ષા, શાસનનું પારગામીપણું, એવી સોનાની શાસન શણગાર એવા શ્રીમદ્ આત્મારામજીસૂરીશ્વરજીની છત્રછાયા પૂરી નવ વર્ષ અને ઓગીસ દિવસ એકધારી એમના શિર પર છવાઈ રહે છે. ગુરુ ગુરુભક્ત તે સમર્પિત નિજ શક્તિથી, ગુરુદેવની પવિત્રતાની વિરાસતો, વાણીના વહન, અર્થ અને વાદવિવાદ, શાસ્ત્ર અભ્યાસ અને નયનિક્ષેપના નિરૂપણ, આચારવિચાર, લેખન અને સંશોધન, જ્ઞાન અને આત્મધ્યાન, ધર્મોપદેશનું ધ્યાન અને તત્ત્વદર્શિતાનાં દાન, એ સૌ પોતાના ક્ષયોપશમ, ગુરુભક્તિ, બુદ્ધિની નિપુણતાના કારણે પીતા જાય છે. વિનયના દ્વાર શક્તિઓના વહેણ અને બુદ્ધિના ભરા ખોલે છે—ખૂલે છે—આગળ વધે છે. ધર્મ–ભ્રમરી ન્યાયે આવે મોર ચમ પોતે આત્મારામજી બનતા જાય છે અને ગુરુ રીઝી પોતાની અખૂટ આત્મસંપત્તિ નિજશક્તિઓ સાથે શિષ્યને આપી ઉજળા ભૂષણ બની જાય છે અને એ સૌ અજાયબ રહી જગતવાળી ન્યાયમાર્ગીનું જ્ઞાન કરાવે છે. પરિણામે જ્યારે આ તેજસ્ક અમરપદ પ્રસંગની વાટે આગી નીકળવા તૈયાર થાય છે ત્યારે તેમના અંતિમ શબ્દો શું હતા ? અંતિમ આદેશ શિષ્ય શો હતો ? 'મેરી પીછે વલ્લભ પંજાબકો સંભાલેગા.' કેવા નમ્ર આત્મવિશ્વાસથી નીકળ્યા હશે એ શબ્દો ! અને શું કામ આપી ગયા શિષ્યે એ વિજય ગીતો—વિજય ધર્મસામ્રાજ્યનો એ વીર, એ ગુરુદીપ આત્મતેને ભાવતર કર્મ, શાંત ભ્રાંતિ, ક્રૂર આક્રમણ અમર પરિભ્રમણ અને પરમ શાંતિ સહિત એ નિ તને સ્થગ બનાવી, શિષ્યે શિરસાવંદ કરેલ ગુરુઆજ્ઞાનું પાલન કર્યું છે એ શિષ્યે જોયું, જાણ્યું, અનુભવ્યું પણ એ હતો અંતિમ આદેશ શિષ્ય ? આત્મસ્વરૂપ બનેલ વિજયવલ્લભસૂરિજીએ તો આપેલા અંતિમ પ્રવેશ નથી આપ્યો. માત્ર પરિનિર્વાણ જ અંતિમ પદે શિષ્યને આપ્યો છે એ શિષ્ય ! હજારો લાખો લોકોના તેજસ્વી હૃદય ધૂપતા અને અપાતાં એવા છે તેને જ એનું જ્ઞાન ને ભાન છે ઝીલનાર એને કૃતિત કરવા કેવા સર્જન એવા હતા એ પરિનિર્વાણનાં આખરી વરિષ્ઠવચનામાં હતા.

આપણા મહાન્ પૂર્વાચાર્યો અને ગૌતમગણાધીન આત્માઓ પ્રત્યેક કોઈ ને કોઈ ક્ષણનાર્ત લઈને જ આવતા હોય છે. કોઈ તીર્થોદ્ધાર, કોઈ આગમ ઉદ્ધાર, કોઈ ધર્માચાર પ્રચાર, કોઈ યોગ અભ્યાસ-

જ્ઞાનના પરમપ્રકાશ પાથરનાર, કોઈ જ્ઞાનપ્રચાર તો કોઈ ક્રિયાચાર ઉદ્ધાર કરવા આવ્યા હતા—આવે છે મહાન્ આચાર્યો, જીવનકાર્યના જ્યોતિ પ્રકટાવવાના ભગીરથ કાર્યનો આરંભ ત્યાગજીવનની ઉષા આરંભે જ આરંભી દે છે અને પ્રાય તે પૂર્ણ કરવા છેલ્લા શ્વાસપર્યંત પ્રય ... છે—તે પછી જ વિરમે છે ત્યારે શાંતિ, આત્માનંદ ને સંતોષની જે આભા અંતિમ ... પર રમે છે એ દેવોને યે દર્શનીય હોય છે વડોદરાના નીલવર્ણી સરોવરે પ્ર ... પંજાબમા પૂર્ણ પરિમળ પાથરતુ આ દિવ્ય શતદલપદ્મ એટલે જ શ્રી ...

એ જ દિવ્ય જ્યોતિના પ્રાકટ્ય પ ... વધુ જ્યોતિર્મય બનાવે છે અવિરત આત્મભોગ અને ગુરુકૃપા એને ... કરે છે એ દિવ્ય જ્યોતિમા પ્રકાશના પરિવર્તનશીલ, ક્રાન્તિકર, શાન્ ... ના દિવ્ય દર્શન કરાવનાર દીપ-દર્શન તે આપણા જગવલ્લભ । લઘુ આત્મારામજી । ... મહાનિધિ । એ જ્યોતિ પૂજ્ય આચાર્યદેવની આસપાસ કેટલાયે મહાજ્યોતિના વર્તુલો રમતા ... પૂ૰ બુટેરાયજી મહારાજ, પૂ૰ વિજયાનંદ-સૂરીશ્વરજી, પૂ૰ વિજયધર્મસૂરીશ્વરજી, પૂ૰ બુદ્ધિસાગરસૂરીશ્વરજી, પૂ૰ વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી, પૂ૰ સાગરાનંદસૂરીશ્વરજી, પૂ૰ વિજયનીતિસૂરીશ્વરજી, પૂ૰ વિજયસિદ્ધિસૂરીશ્વરજી આદિ અનેક મહાજ્યોતિ-ર્ધરોના મહાજ્યોતિ આ જ્યોતિને મહાજ્યોતિનત–સજીવ–બનાવે છે । એમના સ્વાનુભવના રશ્મિ, એમને પ્રતિભાનત, ઉદ્યોતકર, ચેતનવંત બનાવે છે । મહાન્ જ્યોતિર્ધરોના વારસ વારસે મળેલ અનંતઆત્મરિદ્ધિ સાથે જગત્કલ્યાણની મહામૂલી પાદયાત્રાએ નીકળી પડે છે એ જાય છે—ચાલ્યા જાય છે સાથેના પરિવારને એને આંબી લેવા દોડવુ પડે છે જગત્ જોયા કરે છે—કોઈ ઓલિયો ચાલ્યો જાય । અને એણે નિર્ણય કર્યો "પ્રાણાર્પણે પણ મારુ શાસન ચેતનવતુ બનાવી દઉં । અજ્ઞાનના પડલ ઉતારવા પાઠશાળાઓ–હાઈસ્કૂલો–કોલેજો–ગુરુકુળો ખોલી દઉં । જૈન જનતાને માટે બેન્કો ઊઘડી પડે, આધિ-વ્યાધિ-ઉપાધિથી થાક્યાના વિરામ માટે ધર્મશાળાઓ પ્રકટાવી દેવાય । જૈન કૉલેજ તો ઠીક, જૈન યુનિવર્સિટીની જ્યોતિ ઝબકાવી દઉં । ફીરકાફીરકાના ભેદની દીવાલો જમીનદોસ્ત કરુ । ભગવાન મહાવીરના દીકરાઓના હૃદયમા જડ વાળી બેઠેલ દૃષ્ટિવિષશલ્ય ખેંચી કાઢુ । ઉપાશ્રયની ચાર દીવાલોની બહાર વીરનો સંદેશ લલકારુ । વિશ્વધર્મસમાન જૈનધર્મને વિશ્વમા–વિદેશોમા ફેલાવી દઉં । મારા વીરની જયતી જગતના ચોકમા ઉજવાતી કરુ । નવકાર ગણનાર જૈન બચ્ચો—અયાચક જૈન નાગો ભૂખ્યો હોય, સીઝાતો હોય ત્યા સુધી આ પાત્રમા આણેલી ગોચરી કેમ વપરાય ? રેશમી ગરમ શાલો કેમ ઓઢાય ? ઉદ્યોગ-ધંધા વિના અટવાતી જૈનાલમને ઉદ્યોગ ધંધે લગાડી સુખી કેમ બનાવાય ? લક્ષ્મીનંદનો મહોલાતે મહાલે પણ સામાન્ય જનનુ શુ ? માનવતા મરતી જાય છે એમા સ્વાર્પણ વડે સંજીવન મંત્ર ફૂંકી માનવતા પાછી કેમ લાવી શકુ ?

જૈન શ્વે૰ કોન્ફરન્સ જેવી જૈન સમાજની પાર્લામેન્ટ, જૈન મહાપરિષદ્, પૂર્ણ તંદુરસ્ત, ધર્મ અને ધર્મસ્થાનોની રક્ષક, કેળવણી અને જ્ઞાનપ્રચારક, અને જૈન સમાજના સર્વાંગી વિકાસ માટે સૌ કાંઈ કરી છૂટનાર કેમ બનાવી દઉં ? ગોડીજીનો ઉપાશ્રય–જ્ઞાનભંડાર–જ્ઞાનપ્રકાશન–આત્માનંદસભા એ સૌ પરમ સુંદર અને ઉપયોગી કેમ બને ? કલિકાલસર્વજ્ઞ ભગવન્ હેમચંદ્રાચાર્યકૃત ત્રિશષ્ટિશલાકાપુરુષચરિત્ર—જૈન તત્ત્વાદર્શ—શત્રુંજયમાહાત્મ્ય જેવા અનેક ગ્રંથોને હિન્દીમા અને અંગ્રેજીમા તૈયાર કરાવી જૈનદર્શનની જ્યોત વિદેશોમા કેમ ફેલાવુ ? મારુ રાષ્ટ્ર—અવતારભૂમિ ભારત—એની સેવા કરવા સૌને કેમ જગાડુ ? શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય માટે અને કોન્ફરન્સ માટે વ્યાખ્યાનો આપી આપી લાખોના ફંડ થયા છે તેની યોગ્ય વ્યવસ્થા કેમ કરાવી શકુ ? કેટલાય બગભક્તો, સ્વાર્થી ખુશામતીઆ અને તકસાધુઓને ખુલ્લા પાડ્યા સિવાય એમને કેમ સુધારી કર્તવ્યપથે દોરુ ? આના આવા અનેક મનોરથો સેવતા એ મહામાનવની

નગર સામે ગુરુદેવ બાની ઊભે છે—જ્યારે એમનો દીક્ષામહોત્સવ ઉજવાય છે—વિરાટ મેદની એમ નિરખે છે ત્યારે એ આનંદ શું બોલે છે!

દીક્ષામહોત્સવ ઉજવવા તત્પર થયેલા સાધર્મિકો! મારી આ વાણી ધ્યાનમાં રાખો:

“ આત્મકલ્યાણાર્થે સાધુધર્મ સ્વીકારનાર મારા જેવા આત્માને ઉજવવા મહત્ત્વ શું? સમ્યગ્દૃષ્ટિ હોય એ નિમિત્તે ઓચ્છવ સ્મારક ગ્રંથ પ્રકટ થાય કે કશું કર્યું હતો એવા આશીર્વાદ એની ભિન્ન બાબતે મન ગમતી નથી અવશ્ય વિચાર્યું અને હૃદયમાં દૃઢ કર્યું અને યથાશક્તિ થયું એ માટે આભાર એના ખ્યાલ તો રાખી જ કરી હો × × × ×”

આ પુરુષ! ભગવાન! આચાર્યશિરોમણિ! એ ગુરુદેવ જ્યારે ગુજરાતમાં હતા ત્યારે એમનું પણ વિપુલ, સઘન અને વિશ્વોપયોગી હોઈ શકે તે સમજાય છે! જીવનની પ્રેરણા, શરીરનું રોમે રોમ વિચારના પરમાણુએ પરમાણુ અને વાણીનું ઉચ્ચારણ જાણે સાધન માનવ પ્રભુ અને ગુરુસેવાર્થે સમર્પિત સિદ્ધ, જીવનભરનું આવા ભવ્ય એવા નરોત્તમ-નરસિંહને પામીને જૈન સમાજ શું ધન્ય નથી બન્યો!

અને વળી પ્રભુના વેશમાં વ્યક્તિની પુનઃ પ્રતિષ્ઠાએ એ જૈન સમાજને ઉજ્જવલતાની નવી દીપ્તિ આપી છે છે અને ઉપકારવશ થયા જ લાગે ત્યાં હોય તેમ એ મહીનપુરુષ (શ્રી ઉપાશ્રયનિવાસમાં વસ્યા છે અંતિમ પ્રભુની તૈયારી કરતા હોય તેમ પળેપળનાં જીવનમેળાં પ્રેમ અને પ્રભુના ચરણમાં વાપરે છે ભારતના મહાત્માઓને પ્રતિબોધ આપે છે આત્માની જૈન સમાજ સ્થાપવા સ્વ વિચાર મનન કરે છે પળનો પ્રમાદ એને પોસાતો નથી. ભગવાન મહાવીર ... કેટલા લોકોને ઉપકાર અને એ ગયે વિશ્વમાં બદલે એ એવા એ તારે છે એ પળનો ... ગુજરાતનો ભાનુ, સૌરાષ્ટ્રનો સિંહ અને સૌનો વાલેશરી એ મહાત્મા! વીર વલ્લભ! ... જૈન સાગરકિનારે, સાગરનાં ... ગુજતા મોજા સાંભળતો, તેમાંથી જેને ભગવાન મહાવીર ... ભગવાનની દેશનાનો ... ત્યાં છે એવો એકતાર બનેલા—સાધના લીન, આત્માનંદમાં મગ્ન, અનાગતનો ઉદ્યોગ અનુભવતો, જૈનશાસનને ઉન્નતિના પથ પર અવિરત નીરખતો, એ ... આત્મદેવ! સરિસૂરીશ! અનેકોનો તારક અને નિજપ્રભુનો વિચારક, મધરાતે જ્યારે અંતિમ વિદાયની ... આવે છે ત્યારે—અનેક અપૂર્ણ અભિલાષોની વાત—અનેક આશાઓની મીમાંસા ... તો વિરમ્યા હતી—પ્રભુસ્મરણ અને ચારે શરણ જ્યારે એમના મન વાણી કાયાનો કબજો લેતા હતા, દેહનો ... ... હતાં, ચિત્ત સમુદ્ર સ્થિર ન હતું, આત્મસ્વરૂપ નિશ્ચિત હતું, વિશ્રામ લેતું હતું—ત્યારે આત્મપ્રભુના મહાશબ્દે યશ ઉચ્ચાર્યો એ વિરાટ—મહાસ્વ... શાખોનો ગુરુ ભક્તિ કરવા માગતો હતો! પણ એમને ભોગમાં લેવા ચાહ્યું હતું! અને એ પ્રભુને સ્મરતા હતા! અને જીવનું કામ નેમને સોંપ્યું હતું! એ—એ—અંતિમ દૃષ્ટિનિર્દેશ—નેત્રોનો—આત્માનો સંદેશ—અભિલાષાઓના ઉદ્યમ! ચાલો હતો! એ ઝીલી લીધા હતો! પણ ગુરુ વિજયવલ્લભસૂરિ એ નિર્દેશ આત્માના વારસ ઝીલ્યા તેમ આ સાધુ વર્ગે સ્વીકાર્યો હતો ઉદ્દિષ્ટ શ્રીસમુદ્રસૂરિજીએ તો ઝીલ્યો અને તે સફળ કરશે જ રહો—એ જ એમની ગુરુપરંપરા—પ્રભુપ્રતિમા-જ્ઞાનમાર્ગ-જ્ઞાનસાધના સર્વે પ્રો છે સાક્ષાત્, એ મહત્ આત્માના અંતિમ નિર્દેશ પૂર્ણ કરવા શ્રી સમુદ્રસૂરિ ... ગચ્છને બળ આત્મબળ આપો અને ત્યાં જ્યાં દેરે દેરે વિશ્વ સ્તવન ગુરુવીર વલ્લભ અમર રહો! ... આવાર ગાય છે ધન વલ્લભ! ધ્યેય પૂર્યે છે ત્યાં વીર વલ્લભ! અને વિજય વલ્લભ છે છે ધન જ્યાવલ્લભ! અને આજે એવા પુરુષ સ્મરણાર્થે આ સ્મારક ગ્રંથનું પ્રકાશન પણ એમની ન ટીકાર એ જ્ઞાન ઉપયોગે તો એ જ્ઞાનનું સ્થાપન અને જ્ઞાનનાં ઉત્થાન માટે છે આપો! ભારતના શાસન બનો! ગુરુદેવને એ નાતનું જ વચન હતું એને એ જ સમજે. ને તમે ધ્યાનમાંથી દેવ બનો! ૐ શાન્તિ

પ્રાચીન જ્ઞાનભંડારના ઉદ્ધારક

શ્રી મોહનલાલ દીપચંદ ચોકસી

"પૂર્વાચાર્યોએ જે જ્ઞાનને વિસ્મૃત થતું [illegible] આ રીતે તાડપત્રોના પાના ઉપર સ્થિર કર્યું તેની આ વિષમ [illegible] હતા કે આ ખંભાત નગરે એક કાળે સ્તંભતીર્થ તરી[illegible] ન સંખ્યા હતી, અને આજે પણ ત્યાં ધર્મીજનોની [illegible] આની પતિત પરિસ્થિતિ નિહાળ્યા પછી સખેદ કહ[illegible] જોઈએ અથવા તો પૂર્વજોના વારસામાં ઊતરી આવેલ [illegible] ગયા હોય જોઈએ તે વિના સ્વપરપ્રકાશક એવા આ વિપુલ સા[illegible]

"ચરણવિજય, ઉતાવળો ન થા પાટણ અને અમદાવાદ [illegible] જોયા કે [illegible] મોટા પ્રમાણમાં હોવા છતાં કેટલાય જ્ઞાનભંડારોના તાળાં આજે પણ અણ[illegible] કેટલુંયે ઉત્તમ સાહિત્ય કીડાઉધાઈના આહાર રૂપે પરિણમેલ છે એ સર્વના [illegible] વાત દીવા જેવી સ્પષ્ટ જણાય છે કે આપણા સંઘમાં વનાઓ [illegible] પ્રમાણમાં દરેક [illegible] નાતરો છે તદુપરાંત જ્ઞાન પ્રતિ સાચી શ્રદ્ધા કે નિષ્ઠા અને તેને પામવાની તીવ્ર ઝંખના ખાસ [illegible] મળતી નથી આ ખંભાત પણ તેમાં અપવાદરૂપ નથી જ"

"પૂજ્ય ગુરુમહારાજ, પાટણ, અમદાવાદ, વડોદરા, લીંબડી અને જેસલમેર સિવાય બીજે ક્યાંય તાડપત્ર પર લિખિત સાહિત્ય હોય એમ મેં આજસુધી સાંભળ્યું નથી પરંતુ ખંભાત જેવા નગરમાં અને તેય વળી એકાદ શેરીના અંધારિયા ઓરડામાં આવું ભવ્ય સાહિત્ય છુપાયું છે એ જાણી અત્યંત આશ્ચર્ય થાય છે પણ વધારે આશ્ચર્ય તો એ સાહિત્ય પ્રત્યે સેવાયેલી બેદરકારીનું છે આટલી બધી પ્રતોને સમાવવા માત્ર એક જ પુરાણો ખખડધજ થઈ ગયેલો ગજો છે! એમાંના બાંધેલા પોટલા એકવાર બહાર કાઢી અંદર મૂકીએ ત્યાંસુધીમાં તો કેટલા ય ગ્રંથોના પાનાની કિનારીઓ તૂટી જાય! અને આ રીતે આ સાહિત્ય વિનષ્ટ થતું જ જાય"

"વત્સ ચરણ, તારું આ કથન અક્ષરશઃ સાચું છે આ પ્રાચીન નગરીમાં મારી સાથે તું પ્રથમ વાર પગલાં માંડે છે, અને તેથી કેટલીક બાબતો વિષે તને આશ્ચર્ય ઉપજે એ અસ્થાને નથી મેં સ્વર્ગસ્થ ગુરુદેવ ન્યાયાંભોનિધિ શ્રીમદ્ વિજયાનન્દસૂરીશ્વરજી સાથે જુદા જુદા નગરોમાં અનેક વાર વિહાર કર્યો છે, અને તે દરમ્યાન આપણા જિનાલયોની તેમ જ જ્ઞાનભંડારોની અઘટિત દશા નિહાળી છે એ જોઈને મને તેમ જ ગુરુદેવને અત્યંત દુઃખ થયેલું આ દુઃખ સ્વરચિત પુસ્તકમાં ગુરુદેવે વ્યક્ત કરેલ છે તીર્થંકર દેવોનો ધર્મ આજે વણિકોના હાથમાં આવી પડેલ છે એટલે એમાં નથી તો ક્ષાત્રતેજ જણાતું કે નથી વીરતાનો પડઘો પડતો કેવળ વણિક-વૃત્તિસૂચક ઉપરછલ્લો આડંબર દૃષ્ટિગોચર થાય છે વર્તમાનયુગના શ્રાવકોમાં નથી જ્ઞાન પ્રત્યે સાચું બહુમાન કે નથી જ્ઞાનપ્રચારની પવિત્ર દૃષ્ટિ! કેવળ છે જિહ્વાનો સ્વાદ અને મોટાઈ માટેની મમતા! જ્ઞાનની પ્રગતિ કરવાને બદલે ભૌતિક ચીજોના સ્થૂલ રસાસ્વાદ અર્થે તેમના ધનનો વ્યય થઈ રહ્યો છે!

સનાતન સ્વર્ગીય સુખ પ્રાપ્ત કરવાની દૃષ્ટિ ઉવેખી દુન્યવી ક્ષણિક સુખ ગ્રહણ કરી લેવા તે વધુ તત્પર બન્યા છે।

ગુરુદેવ, આપે તો એ પવિત્ર ભક્તિના સમાગમમાં અનેક વર્ષો વ્યતીત કર્યાં છે અને અત્યારે પણ તેમણે આપને આદેશ આપેલ કે 'મેરી પીછે પંજાબકી સંભાલ જરૂર કરેંગે' અને એ મુજબ આપ યથાશક્તિ અદ્યાપિ ઉપાડી રહ્યા છો. પંજાબ, મારવાડ અને મુંબઈ જેવાં ધામોમાં આપે જે શિક્ષણસંસ્થાઓ ઊભી કરી છે એ એના ઉદાહરણરૂપ લેખાય. કેળવણીને અગ્રસ્થાન દીધા વિના જેમ જન સમાજની ઉન્નતિ શક્ય નથી, તેમ પૂર્વાચાર્યોએ અતિ પરિશ્રમે તૈયાર કરેલ અને આ રીતે સચવાઈ રહેલ સાહિત્યનો યોગ્ય રીતે પ્રચાર કર્યા સિવાય તેમ જ તેનું પુનરુત્થાન કર્યા સિવાય જૈન ધર્મની સાચી પ્રભા વિસ્તરે તેમ નથી. આ બધું આપ તો સારી રીતે જાણો છો. વળી આપશ્રીની વાણીમાં લોકો તરફ ખેંચવાની અદ્ભુત શક્તિ છે. આપની પ્રતિભાથી આપે ઘણા ભક્ત મેળવ્યા છે અને પ્રજામાં એક પ્રકારની શાંતિ, આસ્થા અને એકતા જાગવા પામી છે. તેથી જ અર્વાચીન આગેવાનોને એકત્રિત કરી, તેમને સમજાવી, આપના હાથે આ ભંડારનો પુનરુદ્ધાર થાય એવી મારી અભિલાષા છે. વિહારની ઉતાવળ કરવા વિષે હવામાં આવી પડેલ આ સાહિત્યને રખડતું મૂકી આગળ જવું મને ઉચિત નથી લાગતું.



ઉપર્યુક્ત વાર્તાલાપ સ્વર્ગસ્થ આચાર્યશ્રી વિજયકમલસૂરીશ્વરજી અને તેમના સ્વર્ગસ્થ શિષ્ય મુનિશ્રી ચારિત્રવિજયજી વચ્ચે ખંભાત મુકામે થયેલો. એમાં જે તાડપત્રો પર લખેલ ગ્રંથોના ઉદ્ધારની વાત છે તે ત્યાંના ભોંયરાપાડા નામના લત્તામાં આવેલ પ્રાચીન એવા શ્રી શાંતિનાથના જ્ઞાનભંડારની છે. ભંડારના મકાનની પાછળના ભાગમાં શ્રી શાંતિનાથ ભગવાનનું દેરાસર છે અને એથી આ ભંડાર એ નામે ઓળખાય છે. તાડપત્ર લખવામાં પૂરો એક ઉપાશ્રય હતો ? આજે અતિ જાણવામાં છે. સ્વ. શ્રી મોહનલાલ દલીચંદ દેસાઈએ 'જૈન સાહિત્યનો સંક્ષિપ્ત ઇતિહાસ' નામનો જે દળદાર ગ્રંથ લખ્યો છે તેમાં આ પુસ્તક ઉપાશ્રય તેમ જ જ્ઞાનભંડાર સંબંધી સારો એવો ઉલ્લેખ કર્યો છે. પૂર્વે આ ઉપાશ્રયમાં સ્થિરતા કરી નામાંકિત મુનિવરોએ અગત્યના ગ્રંથોની નોંધો ઉપલબ્ધ થાય છે. કિંવદંતી મુજબ અહીં ગોખાયુ રહેલ એક પ્રભાવિક આચાર્યે ચમત્કાર દર્શાવ્યાની વાત પણ સંભળાય છે. એ ગમે એમ હોય પણ એટલું તો ચોક્કસ છે કે ખંભાતનો આ જૂનામાં જૂનો ભંડાર છે અને એ પિટર્સન આદિ વિદ્વાનોના કથન મુજબ તાડપત્રો પર લખાયેલી એમાં સંખ્યાબંધ પ્રતો હતી. કેટલીક ચોરાઈ ગઈ અને કેટલીક ઉધઈનો ભોગ બની. તેમ છતાં આજે નાનામોટા મળી ઘણી લગભગ બસો પ્રતો મોજૂદ છે. તેને સાચવવા માટે હાલમાં સુંદર વ્યવસ્થા કરવામાં આવી છે. જો કે એનું અવલોકન સહજ રીતે કરાવી શકાય તેવી રીતે મૂકવામાં આવ્યા છે અને એથી કોઈ અભ્યાસી સ્વાધ્યાયના લાભ લેવા ધારે તો પણ અડચણ એમ નથી. આ જીર્ણોદ્ધારના મૂળમાં આચાર્યશ્રીની દીર્ઘદૃષ્ટિ અને પ્રતિભા કામ કરી રહી છે. તે જીર્ણોદ્ધાર કેવી રીતે થયો તેનું જો સંક્ષિપ્ત સિંહાવલોકન કરી જઈએ તો અસ્થાને નહિ લેખાય.

વિહાર કરતાં કરતાં આચાર્યશ્રી ખંભાત આવી પહોંચ્યા. અહીં વધારે રોકાવાની તેમની ઇચ્છા નહોતી. શિષ્ય ચારિત્રવિજયજીને ખંભાતનાં જિનાલયોનાં દર્શન કરવાની તીવ્ર અભિલાષા હતી અને એ અભિલાષા પૂર્ણ કરવા તેઓ અહીં આવેલા. એવામાં આ પ્રાચીન ભંડાર જોવાનો તેમને યોગ સાંપડ્યો. આ ભંડારની પરિસ્થિતિ જોઈ ગુરુ શિષ્ય વચ્ચે થયેલો સંવાદ આપણે ઉપર જોઈ ગયા. શિષ્યની વાતમાં

સૂરિજીને તથ્ય જણાયું અને તેમણે આ પુરાણા ભંડારનો પુનરુદ્ધાર કરવાનો નિર્ણય કર્યો તપાસમાં ઊંડા ઊતરતાં માલૂમ પડ્યું કે કામ ધાર્યા જેટલું સહેલું નહોતું આમાં માત્ર પૈસાનો જ સવાલ નહોતો તે સ્થળના હક્ક માટે કોર્ટ સુધી વાત પહોંચેલી, પણ તેનો વહીવટ જેના હાથમાં હતો તેના જ હાથમાં રહ્યો એટલે સંઘના મોટા ભાગે તેના પ્રતિ દુર્લક્ષ સેવ્યું, અને તેથી જ ખંભાત જેવી જૈનપુરીમાં ધર્મમાર્ગે હજારો રૂપિયા ખર્ચાતા હોવા છતાં આ સ્થાનની દશા કરુણાજનક જેવી રહી!

ગુરુદેવે વહીવટદાર તેમ જ તેમના વંશજનો માલિકીહક્ક કાયમ રહે અને જ્ઞાનભંડારની સ્થિતિમાં સુધારણા થાય એવી એક યોજના તૈયાર કરી, અને સૌથી પ્રથમ તે વહીવટદાર સમક્ષ મૂકી સૂરિજીની પ્રતિભાની અને એ યોજના પાછળની પવિત્ર દૃષ્ટિની પેલા ગૃહસ્થ પર ઊંડી છાપ પડી સૂરિજીની વાત તેને ગળે ઊતરી અને તેણે એ યોજનાનો સ્વીકાર કર્યો વહીવટદાર તરફથી બે અને સંઘના બીજા નવ એમ કુલ અગિયાર સભ્યોની સમિતિ નીમી, જ્ઞાનભંડારનો સમગ્ર વહીવટ આ સમિતિને સોંપવામાં આવ્યો અને સમિતિએ તે કામ સારી રીતે પાર પાડ્યું આ રીતે મુનિશ્રી ચરણવિજયજીની ઇચ્છા કાર્યરૂપે પરિણમી, પણ આ પ્રયાસનું ફળ જોવા તે જીવ્યા નહિ જીર્ણોદ્ધારનું કાર્ય પૂર્ણ થાય એ પહેલાં તેઓ સખત માંદગીમાં પટકાઈ પડ્યા અનેક ઉપચારો છતાં કંઈ ફેરફાર ન થયો અને તેથી આચાર્યશ્રીએ સારી દવાઓ માટે તેમ જ હવાફેર અર્થે વડોદરા તરફ વિહાર કર્યો, પણ ત્યાં તેઓ વધુ દિવસ ટક્યા નહિ જીર્ણોદ્ધારની સુધારણા થઈ પણ તેમના આરોગ્યની સુધારણા ન થઈ, અને એક દિવસ સૂરિજીને નવીન પ્રેરણા અર્પનાર એ આત્મા સ્વર્ગગમન કરી ગયો

પરંતુ શ્રી ચરણવિજયે પ્રગટાવેલી જ્યોત બુઝાઈ ન ગઈ બીજાં કામોને પડતાં મૂકી સૂરિમહારાજ પુનઃ ખંભાત આવ્યા ત્યાં તેમણે મંદિરની પ્રતિષ્ઠા કરી અને ચોમાસું પણ ત્યાં જ ગાળ્યું આ રીતે એક જૂનું સ્થાન નવા રંગરાગ સજી ઝળહળતો પ્રકાશ આપી રહ્યું! વ્યાખ્યાન સમયે દરરોજ તેઓ આ શાંતિનાથ-જ્ઞાનભંડારની વાત મૂકતા તેમની દિવ્ય વાણીમાં એવું અપૂર્વ જોમ હતું કે તે આમ જનસમૂહને અતીવ સ્પર્શી ગઈ મકાનને સુધારવા પૂરતી રકમ મળી છ કબાટ તૈયાર કરી આપનાર ગૃહસ્થો મળ્યા અને દરેક પ્રતના માપના લાકડાના દાબડા તૈયાર કરી આપવા અનેક નરનારીઓ ઉત્સુક બન્યાં આ રીતે આચાર્યશ્રીએ જૈનસમાજમાં એક નવીન જાગૃતિ આણી, નૂતન જ્યોતિનો આવિર્ભાવ કર્યો, અને પુરાણા જ્ઞાનકોશના ઉદ્ધારના મંગલાચરણ કર્યાં

પૂરતા પૈસા વગેરે મળતાં વહીવટકર્તાઓમાં જોર આવ્યું અને તેમણે વધારે ઉત્સાહથી કાર્ય પાર પાડવા તૈયારી કરી સૌથી પ્રથમ ખંડેર મકાનને નવું સ્વરૂપ મળ્યું ત્યારપછી લાકડાના દાબડાઓમાં દરેક પ્રતને સુરક્ષિત રીતે ગોઠવવામાં આવી અને આમ સર્વના સહકારથી કાર્ય પાર પડ્યું

જૈનો તેમ જ જૈનેતરો, પૂર્વાચાર્યોનો આવો પ્રાચીન વારસો નજરે જોઈ શકે એ દૃષ્ટિએ, જ્ઞાનપંચમીના પર્વદિને ત્યાં પૂજા ભણાવવાની સૂરિજીએ શરૂઆત કરાવી એ સમયે તાડપત્રોની પ્રતો દર્શનાર્થે બહાર મુકાવી આ પ્રથા આજે પણ ચાલુ છે અને તેથી અનેક જણને પૂજનનો તેમ જ દર્શનનો લાભ મળે છે મંદિરનો અને પ્રાચીન સાહિત્યનો આ રીતે આચાર્યશ્રીના હાથે ઉદ્ધાર થયો તેમનું આ પગલું ખંભાતના ઇતિહાસમાં ચિરસ્મરણીય બની રહેશે

ચોમાસું પૂરું થયું આચાર્યશ્રીએ અન્ય સ્થળે વિહાર કરવાની તૈયારી કરી તે સમયે મળવા આવેલા સમિતિના સભ્યોને તેમણે સંદેશ પાઠવ્યો "મહાનુભાવો! પ્રતો સુરક્ષિત સ્થાને મુકાઈ ગઈ એટલે તમારું કાર્ય પૂર્ણ થયું એમ ન માનતા એ સર્વનું વ્યવસ્થિત સૂચિપત્ર તૈયાર કરાવવું જોઈએ

ભિખા ? અપ્રકાશિત હોય તે વહેલી તકે પ્રગટ કરાવવા યત્ન કરવો જોઈએ. એ માટે આજના સજ્જનોનો ઉપયોગ ધ્યાનમાં રાખવો ઘટે. યાદ રાખવું કે તીર્થંકર પ્રભુની વાણી કે જેનો સંગ્રહ આપણા પૂર્વાચાર્યોએ આ રીતે તૈયાર કર્યો છે એ કેવળ તાડપત્રીઓમાં પૂરી રાખવા માટે નથી, પણ દેશકાળનાં બંધારણ પ્રમાણે એનો પ્રચાર વિસ્તારવા કરવા માટે છે. એ આપણે ભૂલવું ન જોઈએ. જે ભિક્ષામાં વહેંચે તે તે ગ્રંથો એ આજના જમાનામાં, સૌથી શાન્તિ સમાન નીવડશે. વીતરાગની ઉપદેશવાણી જેવા વિશાળ ક્ષેત્રને સ્પર્શનારી એ વાણીનું એકધારે કરાવવું કરનાર જ બનશે. આ કાર્ય અભ્યાસી મુનિવરોની સહાયથી જ સાથે આગમ મેળવી એ માટે મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીની સલાહ લેવી. આગની પદ્ધતિએ સચિત્ર તૈયાર કરવાના પ્રયત્ન એ નિષ્ફળ છે. તાડપત્ર પર લખાયેલ ગ્રંથ વાંચવામાં અને એ ઉપરથી એની સાચવણી નકલ કરવામાં એ હેતુ છે. જ્ઞાનભંડારની મૂળ બાજુ જ રાખવી.

પરિણામે જે સ્થિર આપ્યો એનો વિભિન્નિએ સારી ગતિ આપવા કર્યો, અને એ રીતે આ પ્રાચીન જ્ઞાનભંડારમાં રહેલ અમૂલ્ય જ ગ્રંથ સામગ્રી જે માહિતી બહાર આવી તે આગમપ્રભાકર મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીના જ રોગ જ રજૂ કરી એ વખતે ઉચિત લેખાશે. પૂર્વે જણાવ્યું તેમ જે ઘણાં અસ્તવ્યસ્ત હતાં અને જે કાગળોમાં કેટલીક તૂટક પ્રતો હતી એ સર્વને મહારાજશ્રી જાતે પાસે મોકલવામાં આવી. એમાંથી તેમણે જ શોધ કરી તે આ પ્રમાણે છે :

પ્રસ્તુત જ્ઞાનભંડારના વિવેકી કાર્યવાહકોએ મારા ઉપર વિશ્વાસ રાખી તમને સર્વ પોતાના અસ્તવ્યસ્ત ગ્રંથો અને વેરવિખેર થઈ ગયેલા તાડપત્રીય પાનાઓની થપ્પી મારી પાસે મોકલાવી આ થપ્પીમાંથી પ્રયત્ને ગ્રંથો મેળવી શકાયા છે જેની નોંધ નીચે આપી છે. એમાં બની શકે એટલી ... (૧) વિક્રમ સંવત ૧૨૯૨માં આલેખન જિનેશ્વરરચિત ઉપદેશમાલાવૃત્તિ સટીક (૨) કમલ-પ્રભાચાર્યકૃત 'પાર્શ્વનાથચરિત' (૩) 'સ્યાદ્વાદરત્નાકર' (અપૂર્ણ તથા વિજયસિંહસૂરિરચિત ભિન્ન) (૪) 'અજિતચરિત' (પ્રતિ ન હોઈ આધારે રચેલ) (૫) 'ધનપાલ' આદિ. આ રીતે અનન્ય સુંદર ગ્રંથો નથી મળ્યા છે. આમાંના કેટલાક અપૂર્ણ હોવા છતાં અપૂર્વતાની દૃષ્ટિએ અતિ મહત્ત્વના હોઈ સાચવી રાખવા જ જોઈએ.

આ જ્ઞાનભંડારમાં આચાર્ય હેમચન્દ્રસૂરિકૃત ધર્મોપદેશ મહાકાવ્ય, અપભ્રંશ સમાધિ વસ્તુપાલચરિત, આચાર્ય દેવભદ્રકૃત કથારત્નકોશ, રામચંદ્રકૃત યશસ્તિલકદીપક, આચાર્ય જિનભદ્રકૃત ઉપદેશમાલાવૃત્તિ, અભયકુમાર ચરિત (જે આગમમાં હજુ પ્રગટ થયેલ છે), સુદર્શના ચરિત (મુદ્રિતથી ભિન્ન) દેવસૂરિકૃત યુગાદિજિનરત્નકોશ, જયમંગલાચાર્યકૃત કવિશિક્ષા, રવિપ્રભકૃત ધર્મોપદેશ નામક આ આદિ ગ્રંથો પણ જ મહત્ત્વના છે એની નોંધ નામો આ જ્ઞાનભંડાર સિવાય બીજે કયાંય જોવામાં નથી આવી.

આ ઉપરાંત વસ્તુતઃ પ્રાચીન ગ્રંથો શુકસપ્તતિ કથા, દામોદરકૃત ઉક્તિવ્યક્તિપ્રકરણ, જ્ઞાતાધર્મ કથાંગ આદિ આગમ ગ્રંથ સટીક (સં. ૧૧૮૪માં લખાયેલ) શાન્તિનાથ ચરિત (અપભ્રંશ), શાન્તિનાથ ચરિત, વિવિધ કર્મ નમસ્કાર આદિ ભેદ ગ્રંથો અને એની સુન્દર ટીકા આદિ છે.

તાડપત્રીની પૂર્તિ કે એની નામો બીજે મળે છે અને જે છપાઈ પણ ચૂક્યો છે તે બધા આ જ્ઞાનભંડારમાંની એની પ્રતિની વિશેષતા એ છે કે એના અંતમાં પુષ્પિકાઓ શ્રી ... આ ઉલ્લેખવાળો પાનાનો ટુકડો છે. આ ટુકડો અસ્તવ્યસ્ત પાનાના ઢગલામાંથી શોધી મૂળ પ્રત સાથે જોડી દીધો છે.

" આ સિવાય સત્રાચાર ભાષ્યવૃત્તિની પ્રતિ જે ભંડારમાં છે તેમાં ગ્રંથકારની પ્રશસ્તિ છે જે બીજી પ્રતોમાં મળતી નથી, આ પ્રમાણે સાહિત્યની દૃષ્ટિએ આ ગ્રંથનું ખૂબ જ મહત્ત્વ છે પ્રાચીન ચિત્રકળાની દૃષ્ટિએ પણ તેનું ઘણું મહત્ત્વ છે એકંદરે આ જ્ઞાનભંડાર દરેક રીતે મહત્તાથી ભરપૂર છે છેવટે આ જ્ઞાનભંડારમાં એક અતિ મહત્ત્વની વસ્તુ છે તે તરફ સૌનું ધ્યાન દોરું છું આ જ્ઞાનભંડારમાં ગુર્જરેશ્વર મહામાત્ય શ્રી વસ્તુપાલે પોતે સ્વહસ્તે લખેલી ધર્માભ્યુદય કાવ્યની એક પ્રતિ છે મહામાત્ય વસ્તુપાલ જેવી સર્વમાન્ય ઐતિહાસિક વ્યક્તિના હસ્તાક્ષરોનું દર્શન આજપર્યન્ત બીજે ક્યાંય થયું નથી, પરંતુ ખંભાતના જ્ઞાનભંડારે આપણને એ મહત્ત્વની અને [illegible]પૂર્વ વસ્તુ પૂરી પાડી છે "

ઉપર જોયું તેમ આ પ્રાચીન જ્ઞાન[illegible]નું મહત્ત્વનું કાર્ય પૂજ્યપાદ ન્યાયાભોનિધિ જૈનાચાર્ય શ્રી ૧૦૦૮ વિજયાનંદસૂરિના પટ્ટ[illegible] મહારાજ સ્વર્ગસ્થ શ્રી ૧૦૦૮ વિજયવલ્લભસૂરિએ કર્યું છે આ જ્ઞાનભંડારને ચિરાયુષ્ય બના[illegible] માટે નવેસરથી ડબ્બાઓ, કબાટો વગેરે દરેક વસ્તુઓ તૈયાર કરાવી એને પુનર્જીવન અર્પણ કર્યું છે, એટલું જ નહિ પણ જ્ઞાનભંડારના પુસ્તકોનો સદુપયોગ થાય અને વિદ્વાન સંશોધકોને જ્ઞાનભંડારની પ્રતો મળી શકે તેવી સુવ્યવસ્થા કરવા માટેનો અતિ આદરપાત્ર સુંદર પ્રબંધ કરવાનું યશ પ્રદ કાર્ય કર્યું છે આવા શાસન પ્રભાવક સૂરિપુંગવને ભૂરિભૂરિ વંદન હો

ભંડારનું પ્રથમ સૂચિપત્ર ઉ ક્ષમાવિજયજી મહારાજે તૈયાર કરી આપેલ જે સં૦ ૧૯૯૫માં પ્રગટ થયેલ એ ઘણું સંક્ષિપ્ત હતું ત્યારપછી કાંઈક વિશદ સ્વરૂપમાં આચાર્ય મહારાજ શ્રી ૧૦૦૮ વિજય-કુમુદસૂરિએ તૈયાર કરી આપેલ જે આજે વપરાશમાં લેવાય છે સ્વર્ગસ્થ આચાર્યશ્રીની સૂચના મુજબ આગમપ્રભાકર મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીને વિનતી કરી સં૦ ૨૦૦૯માં ખંભાત બોલાવવામાં આવેલ તેઓશ્રીએ ભંડારની સર્વ પ્રતોને આદિથી અંત સુધી જોઈ વિસ્તૃત સૂચિપત્ર તૈયાર કરેલ છે જે થોડા સમયમાં પ્રગટ થનાર છે આ ભંડાર માટે સ્વર્ગસ્થ આચાર્યશ્રીએ સમિતિ નીમી કાર્ય શરૂ કરાવ્યું ત્યારપછી સંખ્યાબંધ પ્રતો જુદાજુદા મુનિ મહારાજોને આપવાનો પ્રબંધ થયો કેટલાકે એ ઉપરથી હસ્તલિખિત પ્રતો તૈયાર કરાવી, જ્યારે કેટલાકે છપાવી. આ સર્વના મૂળમાં સદ્‌ગત સૂરિજીની દીર્ઘદૃષ્ટિ અને શાસન-પ્રભાવનાની ઊંડી ધગશ ઝળહળી રહેલી દૃષ્ટિગોચર થાય છે



યુગદ્રષ્ટા આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજી

શ્રી પી. કે. શાહ એમ. એ.

શ્રમણ ભગવાન શ્રી મહાવીરના [illegible] ને માટે જગતે ભારતની [illegible] છે. તેમણે પ્રબોધેલ ધર્મ [illegible] જૈન ધર્મનો [illegible] આવ્યા છે. તે દ્વારા [illegible] આત્માની [illegible] અને [illegible] સિદ્ધાંત [illegible] જૈનધર્મ અનેકાન્તવાદી છે. અનેકાન્ત [illegible] છે. એ તે [illegible] દર્શન અને [illegible] સમજવા જોઈએ. અનેકાન્ત દર્શનને [illegible] યુગપુરુષોએ સમાજની [illegible] આત્મારામજી મહારાજ સુધી જૈનશાસનની [illegible] છે. એમના [illegible] સામાજિક, [illegible] અને ધાર્મિક [illegible] દર્શનની [illegible] કરી છે અને [illegible] શ્રી [illegible] દર્શન [illegible] છે.

જૈન સંસ્કૃતિની દૃષ્ટિએ [illegible] યોનિમાં [illegible] છે [illegible] શ્રી [illegible] છે. તે [illegible] છે અને [illegible] સિદ્ધાંત [illegible] અને [illegible] તરીકે [illegible] તેને અતિ સામાન્ય [illegible] છે.

[illegible] અનેક [illegible] અને [illegible] રીતે [illegible] છે. [illegible] સંસ્કૃતિ અને ધર્મની [illegible] છે. જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિની [illegible] પરંપરામાં અનેક [illegible] તેમને [illegible] શ્રમણ ભગવાન મહાવીરની [illegible] પરંપરામાં શ્રી સુધર્માસ્વામી [illegible] શ્રી જંબૂસ્વામી [illegible] અને [illegible] તેઓ [illegible] શ્રી પ્રભવસ્વામી [illegible] શ્રી શય્યંભવસૂરિ [illegible] અને તેમણે દશવૈકાલિક સૂત્રની રચના કરી. તેમના પછી શ્રી યશોભદ્ર અને તેમના બે શિષ્યો શ્રી [illegible] અને શ્રી સંભૂતિવિજય થયા. શ્રી [illegible] તેમની પાટે [illegible] શ્રી સ્થૂલિભદ્ર અને તેમના બે શિષ્યો શ્રી આર્યમહાગિરિ અને શ્રી આર્યસુહસ્તિ. શ્રી આર્યસુહસ્તિ અને શ્રી [illegible] જૈન [illegible] છે. [illegible] શ્રી [illegible] થયા. [illegible] શ્રી [illegible] થયા, અને એ રીતે [illegible] ચાલુ રહી.

શ્રી [illegible] જૈન [illegible] શ્રી [illegible] જૈન

ધર્મનો પ્રચાર કરેલ બાર વર્ષના દુકાળને કારણે ઉત્તરનો જૈન ધર્મ પૂર્વ, પશ્ચિમ અને દક્ષિણ ભારતમા વિસ્તરતો હતો એ ઇતિહાસસિદ્ધ હકીકત છે

ગૂર્જર ભૂમિમા જૈન સસ્કૃતિનો વિકાસ

આજે આપણે જેને ગુજરાતની સસ્કૃતિ તરી [illegible] ના પોષક બે વહેનો વલ્લભી અને ભિન્નમાલ ભિન્નમાલની સસ્કૃ [illegible] સમાર કર્નીગહામના મતે ભિન્નમાલ વલ્લભીથી ત્રણસો ગા [illegible] નાર ચરિત્રમા છે આપણા શ્રીમાળી, પોરવાડ વગેરે કા [illegible] સસ્કૃતનો મહાકવિ માઘ આ નગરમા થઈ ગય [illegible] પ્રપચકથા' અહીં જ લખી હતી શ્રી ઉદ્યોતનગા [illegible] ત પ્રતિભા વિ૦ સ૦ ૧૨૦૦ સુધી રહી વલ્લભી [illegible] વ્રીપુરના વિનાશકાળે વનરાજ ચાવડાના નામની [illegible] સર પચાસરના જયશિખરી પર ભુવડનુ આક્રમ [illegible] સ્થાપેલ આશ્રય આ ઈ૦ સ૦ ૭૨૬ એટલે કે વિ૦ સ૦ ૮૦૨ [illegible] પચાસરમા પાર્શ્વનાથનુ ચૈત્ય તૈયાર કરાવ્યુ ભિન્નમાળનુ પતન અને [illegible] હકીકતો છે વનરાજનો મત્રી જામ અને જૈન મત્રી વસ્તુપાલ આ [illegible] ચાવડા વશ ઈ૦ સ૦ ૬૯૬થી ઈ૦ સ૦ ૯૫૨ સોલકીઓનો વશ ઈ૦ સ૦ ૯ [illegible] ૧૦૪૨ સોલકી રાજા મૂળરાજનુ શાસન વિ૦ સ૦ ૯૯૮થી ૧૦૫૩ સુધી મૂળરાજના આ શાસન સમયમા દક્ષિણમા ચાલુક્ય રાજા તૈલપ હતો અને માળવામા મુજ હતો મૂળરાજની ગાદીએ ચામુડ આવ્યો એના પર આચાર્ય શ્રી વીરસૂરિજીની ઘણી અસર હતી ચામુડનો પુત્ર વલ્લભરાજ યુવાન વયે પચત્વ પામ્યો અને દુર્લભરાજ ગાદી ઉપર આવ્યો આ સમય શ્રી જિનેશ્વરસૂરિજી જેવા ધુરધર વિદ્વાનોનો હતો આ પછી આવ્યો ભીમદેવ પહેલાનો સમય કવીન્દ્ર અને વાદિચક્રી તરીકે શ્રી શાતિસૂરિ આ સમયે પ્રસિદ્ધ થયા આ સમય માલવ કવિ ધનપાલનો શ્રી ધનપાલની 'તિલકમજરી' કથાસાહિત્યમા મહત્ત્વનુ સ્થાન ધરાવે છે ભીમદેવના મામા દ્રોણાચાર્ય હતા દ્રોણાચાર્યના ભાઈ સગ્રામસિંહના પુત્ર શ્રી સૂરાચાર્ય આ જ એ શ્રી સૂરાચાર્ય જેમણે માલવાના ભોજને પોતાની વિદ્વત્તાનો પરિચય કરાવ્યો હતો

ભીમદેવના સમયમા ગુજરાતની સસ્કારની વિસ્તરી વિમલવસહિકોની આબુ પર્વત પરની રચના વિ૦ સ૦ ૧૦૮૮મા થઈ ભીમદેવ પછી રાજા કર્ણદેવ ગાદી ઉપર આવ્યા કર્ણે આશાવલની 'અશાવલ' જીતી લીધુ અને કર્ણાવતી નામનુ નગર વસાવ્યુ કર્ણદેવના રાજ્યમા શ્રી વાદિદેવસૂરિ અને નવાગી ટીકાકાર શ્રી અભયદેવસૂરિ જીવત હતા સવત ૧૧૫૦મા કર્ણદેવ મૃત્યુ પામ્યા અને જૈન ઇતિહાસના નભમડળમાં એક મહાન તારો ઉદય પામ્યો જેણે સમગ્ર જૈન ઇતિહાસમા પ્રકાશની ઊજળી દૂધમલ કૌમુદીધારાની રમણીય વહેતી મૂકી અને એ તારો તે વિ૦ સ૦ ૧૧૪૦ના કાર્તિક શુદિ પૂનમે કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રી હેમચદ્રાચાર્યનો જન્મ

પૂ૦ આચાર્યશ્રી હેમચદ્રનો સમય વિ૦ સ૦ ૧૧૫૦થી વિ૦ સ૦ ૧૨૨૯ શાસનની દૃષ્ટિએ સિદ્ધરાજ જયસિંહ અને પરમાર્હત કુમારપાળનો આ સમય ઈ૦ સ૦ ૧૨૪૪મા સોલકી યુગનો સૂર્ય અસ્ત પામ્યો વાઘેલાઓનો સમય ઈ૦ સ૦ ૧૨૪૨થી ઈ૦ સ૦ ૧૩૦૪ વીરધવળે સવત ૧૨૭૬મા વસ્તુપાલ–તેજપાલને

મંત્રીઓ બનાવ્યા. સંવત ૧૨૭૭માં તેમણે તીર્થયાત્રા કરી. તેમણે પાટણ, ખંભાત, ધોળકા, શત્રુંજય, ગિરનાર, આબુ, ઝીંઝુવાડા વગેરે સ્થળોએ મંદિરો બંધાવ્યાં. શ્રી રાજશેખરસૂરિ, શ્રી જિનહર્ષ અને શ્રી જૈન પ્રબંધો આનો ખ્યાલ આપી જાય છે. સંવત ૧૨૮૭માં લૂણવસહિ નામનું જૈન મંદિર કરાવ્યું. તેજપાલના આ દેરાસરો ઉત્તમ બાંધણી અને કારીગરીનાં નમૂના તરીકે વિદ્યમાન છે. ઈ. સ. ૧૨૪૧માં વસ્તુપાલનું અવસાન થયું.

વસ્તુપાલના સમયના વિદ્વાનો ગુજરાતની તવારીખમાં અતિ જાણીતા છે. 'કવિ કલ્પલતા'ના બનાવનાર શ્રી અમરચંદ્રસૂરિ, 'વસંતવિલાસ' કાવ્ય તથા 'કરુણાવજ્રાયુધ' નામક નાટક બનાવનાર શ્રી બાલચંદ્રસૂરિ, 'હમ્મીરમદમર્દન' નાટક બનાવનાર શ્રી જયસિંહસૂરિ, 'ધર્માભ્યુદય' તથા 'સુકૃતકીર્તિ-કલ્લોલિની'ના કર્તા શ્રી ઉદયપ્રભ, 'કાવ્યપ્રકાશ'ના ટીકાકાર શ્રી માણિક્યચંદ્રસૂરિ, 'અલંકાર મહોદધિ'ના ટીકાકાર શ્રી નરચંદ્રસૂરિ, કવિ સુભટ, 'ઉલ્લાઘરાઘવ'ના રચયિતા નાગર કવિ શ્રી સોમેશ્વર—આ બધાઓએ આ સમયના ગુજરાતને પ્રકાશ આપ્યો છે. સંવત ૧૩૦૨માં વિસલદેવ પાટણની ગાદીએ બેઠો. એના સમયમાં ઘણા દુકાળ થયા. વિસલદેવના સમયમાં સંવત ૧૩૧૫થી ૧૩૧૮ સુધીનો ભયંકર દુકાળ પડ્યો. આ વખતે જગડુશાહે લોકોને મદદ કરી. આ જગડુશાહનું ચરિત્ર ધનપ્રભસૂરિના શિષ્ય શ્રી સર્વાનંદસૂરિએ રચ્યું છે.

ગુજરાતી સાહિત્યનું પ્રથમ ગણાતું કાવ્ય સંવત ૧૫૧૨માં રચાયું. પણ એ પહેલાં શ્રી જિનપ્રભસૂરિએ તીર્થકલ્પ રચ્યું. હિજરી સ. ૬૯૮ (ઈ. સ. ૧૨૯૮) અને વિ. સ. ૧૩૫૬માં પાટણનું પતન થયું. ઈ. સ. ૧૨૯૭થી ૧૩૧૬ એ અલાઉદ્દીનનો સમય. ત્યાર પછી ઈ. સ. ૧૪૧૨ સુધી ગુજરાતના મુસ્લિમ શાસકોનો સમય. હિજરી સ. ૮૧૫ એટલે ઈ. સ. ૧૪૧૨માં અહમદ તખ્તનું મરણ અને ગુજરાત સ્વતંત્ર થયું.

મિરાતે સિકંદરી તેમ મિરાતે અહમદી પ્રમાણે અમદાવાદ ૧૪૧૧ની સાલમાં વસ્યું. અને સં. ૧૪૬૮ હિ. રી. સ. ૮૧૩ની સાલમાં અમદાવાદ વસ્યું હોવાની માન્યતા છે. સં. ૧૪૬૧માં અમદાવાદનો કોટ બંધાયો. હિજરી સ. ૯૮૦માં અકબર બાદશાહે અમદાવાદમાં પ્રવેશ કર્યો. અકબરનો સમય એટલે હીરસૂરીશ્વરજી મહારાજનો સમય. એ પછી ઈ. સ. ૧૬૧૮માં જહાંગીરે શાહજહાંને સૂબો નીમ્યો. સં. ૧૬૭૮માં ઝવેરી શાંતિદાસે સરસપુરમાં મોટું ચિંતામણિ પાર્શ્વનાથનું જિનાલય બંધાવ્યું. ૧૭૦૭માં ઔરંગઝેબનું મરણ થયું. ઈ. સ. ૧૮૪૮માં હઠીસિંગનું મંદિર બંધાવવાની શરૂઆત થઈ.

સમ્રાટ અકબરને પ્રતિબોધનાર જગદ્ગુરુ શ્રી શ્રી હીરસૂરીશ્વરજી મહારાજની અસર ગુજરાતમાં ઘણી થઈ છે. શ્રી હીરસૂરીશ્વરજીના શિષ્ય મહોપાધ્યાય શ્રી કલ્યાણવિજય ગણિના શિષ્ય, પં. શ્રી લાભવિજયગણિના શિષ્ય, પંડિત જીતવિજયના ભ્રાતા પં. શ્રી નયવિજયના શિષ્ય શ્રી યશોવિજયજી મહારાજ ગુજરાતે નિપજાવેલા અજોડ પ્રતિભાશાળી વિદ્વાન છે. વિ. સં. ૧૬૮૮માં બાળ વયે એમણે દીક્ષા લીધી. વિ. સં. ૧૭૪૩માં સ્વર્ગે ગયા. જૈન દર્શનમાં નવી દિશાના ગ્રંથોનું નિર્માણ કરનાર અને દાર્શનિક રીતે રજૂ કરનાર શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકર, શ્રી હરિભદ્રસૂરિ, શ્રી યશોવિજયજી મહારાજ—એ આપણા સાધુઓની પરંપરા

આ પરંપરાને જૈન કવિઓએ જાળવી રાખી કવિ ઉત્તમવિજયજી મહારાજનો જન્મ શામળાની પોળમા સં૦ ૧૭૬૦, સં૦ ૧૭૯૬મા દીક્ષા અને સં૦ ૧૮૨૭મા અમદાવાદના પરા હરિપુરામા કાળધર્મ એમની અનેક કૃતિઓ 'સયમશ્રેણી ગર્ભિત', 'મહાવીર સ્તવન', 'અષ્ટપ્રકારી પૂજા', 'જિનવિજય-નિર્વાણ રાસ'

બીજા કવિ શ્રી પદ્મવિજયજી મહારાજ સ૰ ની પોળમા જન્મ અને ૧૮૬૨મા કાળધર્મ અષ્ટપ્રકારી પૂજામા આપેલ સ્થિ ઉત્તમવિજયજીના શિષ્ય થાય

ગુજરાતી સાહિત્યને સમર્થ કન મહારાજનો જન્મ શાતિનાથના પાડામા થયો ૧૮૪૮મા એમણે દીક્ષાધર્મ લીધો એ નતાણામા મોતીશાની ટૂક બધાઈ અને પાચ હજાર પ્રતિમાઓની એમણે સ્થાપના કરી સં૦ ૧૯૦૩મા હઠીભાઈના દહેરાની પ્રતિષ્ઠા અને ૧૯૦૮મા તેમનો સ્વર્ગવાસ થયો

આ તવારિખ ઉપરથી સ્પષ્ટ ખ્યાલ આવે છે કે જૈન મુનિ વિદ્વાનોએ સસ્કૃતિ અને સાહિત્યની પ્રણાલિકા ચાલુ રાખી છે અને ભાષાસાહિત્યના વિકાસમા જીવનનો મોટામા મોટો ફાળો આપ્યો છે પ્રાચીન અને અર્વાચીન સમાજના ઘડતરમા જૈન શ્રમણોનો ફાળો નાનોસૂનો નથી, સમાજથી વિરક્ત છતાયે આ મુનિઓએ સમાજને સાચો માર્ગ ચીંધ્યો છે અને સમાજના આતર જીવનમા કોઈ નૂતન જીવનરસનુ સિંચન કર્યું છે

કપરા સમયમા જૈન શ્રમણોએ સસ્કૃતિ અને સાહિત્ય જાળવવામા મદદ કરી છે રાસાઓ અને કથાઓ દ્વારા જૈન સાધુઓ અને કવિઓએ સાહિત્યનો વિકાસ કર્યો છે અને મધ્યયુગમા સાધુઓએ જ સાહિત્યનો પ્રવાહ વહેતો રાખ્યો હતો

આ તવારિખો બતાવે છે કે જૈનોએ આ સમગ્ર પરપરા વહેતી રાખી છે અને એની સાથે એમણે વિશિષ્ટ જૈન દર્શનનો જગતને પરિચય કરાવ્યો છે જૈન દર્શન અનેકાતિક છે વસ્તુને વસ્તુની રીતે જોવાનો તેનો આગ્રહ છે આપણુ દર્શન કેવળ પર્યાયોમા પૂર્ણ થતુ નથી, પણ વસ્તુને વ્યાપક રીતે જુએ છે અગ્રેજીમા જેને Dynamic Realism કહે છે તેનુ આપણે પ્રતિપાદન કરીએ છીએ જર્મન ફિલસૂફ હેગલ બીજી રીતે આપણા દર્શનની છેક નજીક આવી જાય છે જ્ઞાનથી અજ્ઞાનનુ નિવર્તન થાય છે અને એથી જ જ્ઞાન પર આપણે ભાર મૂકીએ છીએ

આપણો મુખ્ય સિદ્ધાત સ્યાદ્વાદ વસ્તુને જુદા જુદા દૃષ્ટિબિંદુથી અવલોકવી યા કહેવી એ સ્યાદ્વાદનો સીધો અર્થ આપણે એક જ વસ્તુમા નિત્ય ભાવનુ અને સાથે સાથે અનિત્ય ભાવનુ દર્શન કરીએ છીએ જૈન દર્શન માને છે કે કોઈ મૂળ વસ્તુ નવી ઉત્પન્ન થતી નથી અને કોઈ મૂળ વસ્તુનો સર્વથા નાશ થતો નથી મૂળ તત્ત્વો એના એ હોય છે એમા અનેક પરિવર્તન થાય છે એટલે કે એક પરિણામનો નાશ અને બીજા પરિણામનો પ્રાદુર્ભાવ થાય છે આમ બધા પદાર્થોનો સ્વભાવ ઉત્પાદ, વિનાશ અને સ્થિતિનો છે આપણે આ વસ્તુને પર્યાયના નામે ઓળખીએ છીએ, અને મૂળ વસ્તુ છે દ્રવ્ય દ્રવ્યથી દરેક પદાર્થ નિત્ય અને પર્યાયથી દરેક પદાર્થ અનિત્ય આથી પ્રત્યેક વસ્તુને માત્ર નિત્ય નહિ, માત્ર અનિત્ય નહિ, પણ નિત્ય અને અનિત્ય સ્વરૂપે અવલોકવી એ સ્યાદ્વાદ દરેક પદાર્થને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર,

દ્રવ્ય અને ક્ષેત્રથી અનવધારણાત્ત હોય છે દરેક પદાર્થ આ રીતે જ સત્ હોય છે સ્યાદ્વાદ એક / વસ્તુને જુદી જુદી અપેક્ષાએ અનેક રીતે અવલોકવાનું કહે છે Truth in its manifold and seemingly contradictory aspects

પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ

આજના યુગના અનેક પ્રશ્નો ઉપર વ્યાપક નજર રાખનાર પંજાબના શ્રીમદ્ વિજયાનંદસૂરીશ્વરજી (આત્મારામજી) મહારાજનો જન્મ સં. ૧૮૯૨માં થયો હતો. તે સમયના સામાજિક પરિબળોએ સમાજમાં અનેક જાતની અજ્ઞાનતા સર્જી હતી. આત્મારામજી મહારાજે સં. ૧૯૩૨માં સંવેગી દીક્ષા ગ્રહણ કરી અને સં. ૧૯૪૩માં પાલીતાણા તીર્થમાં પાંત્રીસ હજાર શ્રાવકોની હાજરીમાં એમને આચાર્યની પદવી અર્પણ થઈ તેઓશ્રી સમાજના પરિબળો જોઈ શક્યા શ્રી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ શ્રી મુક્તિવિજયજી મહારાજ અને શ્રી આત્મારામજી મહારાજના આજના જૈનસમાજ પર અનેક ઉપકારો છે સં. ૧૯૫૨માં શ્રી આત્મારામજી મહારાજનો કાળધર્મ થયો. આ વખતે મુનિશ્રી વલ્લભવિજયજીની વય પચ્ચીસ વર્ષની હતી

પૂ. આત્મારામજી મહારાજ વિચારક અને સમર્થ હતા. જીવનના અનેકવિધ અનુભવોમાં તપાયેલા હોવાથી પૂ. આત્મારામજી મહારાજ જૈન સંસ્કૃતિના પ્રખર અભ્યાસી આગમોના ઊંડા અભ્યાસી જીવનને અભિનવ દર્શન આ યુગ અને પ્રજાની ગતિ કઈ તરફ છે તે એ સમજી શકતા. રાજકીય આઝાદીના યુગ પછી ૧૮૫૭ની પ્રથમ સ્વાતંત્ર્યક્રાંતિ પછી ભારતમાં નવો રાજકીય યુગ શરૂ થયો હતો. એક બાજુ આર્ય સમાજના પ્રણેતા દયાનંદ સરસ્વતી તથા ઉપદેશથી હિંદુ ધર્મના નવાં મૂલ્યાંકનો, વેદની નવી સ્થાપના કરતા અને એ સમયના કુ પ્રચારોને પડકારતા હતા. બીજી બાજુ પ્રજાના આ પ્રશ્નને ઓળખી પૂ. આત્મારામજી મહારાજે સર્વ આગમો પશ્ચિમના વિદ્વાનો જૈન ધર્મને સાહિત્યિક દૃષ્ટિએ વિચારતા પૂ. આત્મારામજી મહારાજ તેમના ગુરુ પાસ જૈન ધર્મનો વિષયને ધ્યાન આપે એ આશાએ પૂ. આત્મારામજી મહારાજે સ્વ. વીરચંદ રાઘવજી ગાંધીને શિકાગો સર્વધર્મપરિષદમાં મોકલ્યા અનેક મુમુક્ષુઓને સંવેગી દીક્ષા આપનાર પૂ. આત્મારામજી મહારાજ જ્ઞાન સાહિત્યના પ્રખર અભ્યાસી હતા સાહિત્યની રચના અને સાહિત્યનો પ્રચાર કરવાની એમની ધગશ અનોખી હતી. પૂ. આત્મારામજી મહારાજે જીવનની આજના યુગની વિષમતાનો અંતને ધ્યાન આપ્યો અને આજના યુગને તૈયાર કર્યો અનેક સાથે સર્વ સાથી જીવનની નવી દૃષ્ટિ વિકસાવી જ્ઞાન, પ્રેમ, દયા અને ભાવની દૃષ્ટિએ સમાજને તૈયાર કરવામાં પૂ. આત્મારામજી મહારાજે મોટો ફાળો નોંધાવ્યો. એમની અજ્ઞાનતિમિરભાસ્કર શ્રી જૈન તત્ત્વાદર્શ તેમ જ અન્ય કૃતિઓ આજે પણ પ્રેરણા આપે એવી છે સં. ૧૯૫૧ના ભાદરવા સુદિ ૧૩ના રોજ પૂ. આત્મારામજી મહારાજ તરફથી મુનિ શ્રી વલ્લભવિજયને લખેલ પત્ર આ સાથે રજૂ કરેલ છે આ પત્ર દ્વારા આપણે મહાન વિભૂતિના હસ્તાક્ષર અને વિચારોનું દિગ્દર્શન થાય છે પૂ. આત્મારામજી મહારાજ કેટલા વિનમ્ર અને સરળ હતા તેની ખાત્રી પણ એ ભોળાભાવના આ પત્રથી આવી જાય છે આચાર્ય હોવા છતાં યે શ્રી સંઘને તેઓ વિનમ્રતા અને ભક્તિભાવથી વિચાર કરવાનું કહે છે સંઘ મહારાજને પ્રત્યે પણ તેમને કેવું આદરમાન છે અને પૂજ્યભાવ છે તે પણ આ પત્રથી સમજી શકાય છે આ આખોય પત્ર ઐતિહાસિક મહત્ત્વ ધરાવતો હોવાથી રજૂ કરેલ છે આ પત્ર આચાર્યશ્રી વિજયવલ્લભસૂરિના સંગ્રહમાં છે પત્રની દરેક પંક્તિમાં સરળ અને વિચારાત્મક ગુણો છે



न्यायाम्भोनिधि श्रीविजयानन्दसूरीश्वरजी (श्री आत्मारामजी)

શ્રી

શહેર અંબાલા - પૂજ્યપાદ શ્રીશ્રીશ્રી ૧૦૦૮
શ્રીમદ્વિજયાનંદ સૂરીશ્વરજી (
મહારાજજી ના તરફથી ધર્મલ

મુંબાઈ બંદર — શ્રાવક પુણ્યપ્રભાવક દેવગુરુભક્તિકારક શેઠ - ફકીરચંદ પ્રેમચંદ રાયચંદજી વિગેરે સકળ શ્રી સંઘ યોગ્ય - અત્રે શ્રી દેવગુરુના પસાયથી સુખસાતા છે શ્રી વીર નિર્વાણ સં - ૨૪૨૨ માઘ વર્ષમાં ભાદરવા સુદિ ૪ શનિવારને રોજ છમછરી પડિક્કમણું - શ્રી સંઘ સમક્ષ નિર્વિઘ્ન પણે કરી સકળ શ્રી સંઘને ખમાવ્યો છે તે ખામણા તમો શ્રી સંઘ અંગીકાર કરશો - સમય મુજબ તથા સામગ્રી મુજબ પૂજા પ્રભાવના તપસ્યા ઠીક થઈ છે - અમદાવાદ વાળા રાયબહાદુર ધનપતિસિંહજી પણ પોતાના પરિવાર સાથે પર્યુષણા ના દિવસોમાં અત્રે હતા તેઓએ પણ પૂજા પ્રભાવના સ્વામીવાત્સલ્ય કરી નગરમાં શ્રી જૈન શાસનની ઉન્નતિ વધારી છે જૈન શાસન ચલતું છે એહમાં એહવા એહવા શૂરવીર પુરુષો છે કે જે કામ તે એ કરી શકે તે અન્ય કોઈ પણ કરી શકે નહીં પરન્તુ ઘણી દિલગિરિની વાત છે કે હજુ સુધી તે નર રત્નો બહાર પ્રસિદ્ધિમાં આવી પોતાના શાસનની જોઈએ તેવી ઉન્નતિ તથા વૃદ્ધિ નથી કરી શકતા -
પ્રથમ હમોને અમરચંદ પિ પરમારના કાગળથી સમાચાર મળ્યા હતા કે "અત્રે શ્રી સંઘની એક જૈન કૉલેજ ખોલવાની મરજી થઈ છે અને તેના ફંડને માટે ગોઠવણ પણ થવા લાગી છે એવું માલમ પડ્યું છે" આ વાત વાંચી હમારા દિ
ઉત્સાહ વધાયો હતો કે
જાણ છે - પરંતુ હવે
હમારા ઉત્સાહને
મનો ઝાંખો કરાવશો
શ્રી સંઘમાં વિદ્યમાન છે
ફ તેમ છે માટે આપ આમ પુરું
વૃદ્ધિ કરી જૈન ધર્મના અસલ તત્ત્વો
પ્રકાશ કરશો એમ વારંવાર હમારું કહેવું થા
લખ્યું છે —

વિશેષ — કાગળ એક શ્રી સંઘના તરફથી આવ્યો તેનો ઉત્તર નીચે લખ્યો છે —

श्रीपरमात्माजयति

સ્વસ્તિ શ્રી મુંબાઈ બંદરે સકલ શ્રી સંઘ જયવંત વર્તો — અંબાલાથી લિ॰ — મુનિ આત્મારામજી કે તર્ફસે ધર્મલાભ વાંચના યહાં સુખસાતા હૈ ધર્મધ્યાન કરને મે ઉદ્યમ રખના — આગે શ્રી સકળ સંઘ કે તરફસે શ્રાવક પુણ્યપ્રભાવક દેવગુરુભક્તિકારક શા- મોતીચંદ હર્ષચંદજી તથા શા- ફકીરચંદ પ્રેમચંદજી કા લિખા આપકા પત્ર ૧ ભાદવા સુદિ ૧૧ કે રોજ મુજકો મિલા હૈ સો વાંચકર સમાચાર સર્વ માલુમ કિયા હૈ - શ્રી સંઘ કે તરફસે શ્રાવક વીરચંદ રાઘવજી કો અમેરિકા

દેશામે જૈનધર્મ કે ઉપદેશકરને વાસ્તે
ગાય થા સો લ લગા સોવર્તતે આમે
કિ જૈનધર્મકા ઉપદેશ કરે સો સેકડો સંધી
ઉદયકો શ્રી જૈનધર્મકા બોધ કરે પાખ
ઉદોસ્ત નમે આવે હૈ તિસવાસ્તે રાયપ
છેદ્દેઈ પૂર્વોક્ત કામ કરનેસેં ઔર
અનાર્યોંમે બૈઠે અનાર્ય દેશામે જાનેસે
ક્યા પ્રાયશ્ચિત્ત (દંડ) લેનાચાહિયે?
— મૈં બહોત નમ્રતા પૂર્વક શ્રીસંઘકો લિખ
તાહું કિ શ્રી જૈનમતકે શાસ્ત્રોંમે જેકોઈ
જ્ઞાન દર્શન ચારિત્રમે તથા અપને કિયેહુએ
વ્રતનિયમોમે દૂષણ લગાવે તો તિસકી
પ્રાયશ્ચિત્તાદિ લિખાહૈ સો તો હુવાહૈ
શ્રીસંઘને કિસીભી દૂષણકા નામ નહી
લિખાહૈ તો મૈં કિસદૂષણકા કિતનો પ્રાય
શ્ચિત્ત દેવું?

તથાપિ મૈં શ્રીવીરચંદજીકો હમને પૂછા કિ
તુમને અનેક પ્રકારસે અપને કિ
સીભી વ્રત નિયમમે દૂષણ લગાયા હોવે
તો તુમ તિસકી આલોચના કરો પ્રાય
શ્ચિત્ત લેલેવો — તબ શ્રીવીરચંદજી
ને કહા કિ મૈંને અપને કિસીભી વ્રતનિય
મમેં અનેક પ્રકારસે દૂષણ નહી
લગાયાહૈ — અબ શ્રીસંઘકો વિચારના
ચાહિયે કિ મૈં શ્રીસંઘકો કિસદૂષણકા
પ્રાયશ્ચિત્ત લિખદેવું?

— ઓર શ્રીસંઘકા ઐસા વિચાર હોવે
કિ શ્રીવીરચંદજીને કોઈભી દૂષણ નહીં સે
વનકિયાહૈ તોભી ઐસી કોઈ પ્રા

યશ્ચિત્ત દેનાચાહિયે —

ઈસકાઉત્તર — શ્રી નિશીથસૂત્રમેં લિખાહૈ
કિ જો વિનાદૂષણકે પ્રાયશ્ચિત્તદેવે
તો પ્રાયશ્ચિત્ત દેનેવાલેકો પ્રાયશ્ચિ
ત્ત લેનાપડતાહૈ ઔર સો પ્રાયશ્ચિત્ત
કા દેનેવાલા જિનરાજકી આજ્ઞાકા
ભંગકરનેવાલા હોતાહૈ — તથા જબ
તક દૂષણ સેવનેવાલા અપના દૂષણ
કબૂલ ન કરે તબતક કેવલજ્ઞાનીભી
તિસ દૂષણવાલેકો પ્રાયશ્ચિત્ત નહી
દેતેહૈ — યહ અધિકાર બહુત જગે શાસ્ત્રો
કે વિષયમે શ્રીવ્યવહારાદિ સૂત્રમેહૈ —
જબ દૂષણ કબૂલ કરે વિના પ્રત્યક્ષ
દૂષણકો જાનનેવાલે કેવલજ્ઞાનીભી
પ્રાયશ્ચિત્ત નહી દેતેહૈ તો મૈં ઐસે
અલ્પમતિ કિસ રીતિસે પ્રાયશ્ચિત્ત દેવું?
— ઓર શ્રીસંઘકા ઐસા વિચાર હોવે કિ
અનાર્યોંમે બૈઠે અનાર્ય દેશામે જા
નેસે અવશ્ય પ્રાયશ્ચિત્ત લેનાચાહિ
યે —

ઈસકાઉત્તર — ઐસા કથન તો હમને કિસી
ભી જૈનશાસ્ત્રમે નહી દેખાહૈ તો ફેર
શ્રીજિનાજ્ઞાકે ઉત્થાપનકરકે મૈં કિસ
તરેં પ્રાયશ્ચિત્ત દેવું?

— ઓર શ્રીસંઘકી ઐસી ઈચ્છા હોવે
કિ શ્રીવીરચંદજીને દૂષણ સેવ્યા હોવે
અથવા ન સેવ્યા હોવે તોભી તિસકો

કુછ પ્રાયશ્ચિત્ત લેના ચાહિયે —

ઈસકા ઉત્તર — જો જીનરાજ કી આજ્ઞા
સંયુક્ત હૈ સો હી સંઘ હૈ ઔર શેષ
શ્રી જીનાજ્ઞા બાહિર [illegible]
સો હાડકા [illegible]
જીકા [illegible]
ચમે હૈ —

— જો કર શ્રી સંઘ [illegible] હમ પ્રા
યશ્ચિત્ત તો નહી દેતે [illegible] પરંતુ શ્રી સંઘકી
આજ્ઞાસે વીરચંદ રાઘવજી શ્રી શત્રુંજય
તીર્થકી યાત્રા કરે તો શ્રી સંઘ બહુત આ
નંદિત હોવે — ઐસી આજ્ઞા શ્રી સંઘકી
માનનેસે શ્રી વીરચંદ રાઘવજીકી કુછ
હાનિ નહી હૈ —

વિશેષ તહાં (મુંબાઈમે) મુનિરાજ મહારાજ
શ્રી મોહનલાલજી મહારાજજી બિરાજમાન હૈ
વેભી ભવભીરૂ ઔર શ્રી જીનાજ્ઞા કે ભ
ગસે ડરને વાલે હૈ ઈસવાસ્તે તિનકી
ભી સમ્મતિ લેની ચાહિયે —
તથા અન્ય કોઈ મહાવ્રતધારી ગીતાર્થસે
પૂછ લેના —

અબ મૈં બહુત નમ્રતાસે શ્રી સંઘસે વિનુ
તી કરતા હું કિ જો કુછ જીનાજ્ઞા વિરૂદ્ધ અયો
ગ્ય લિખાણ કરા હોવે સો સર્વ શ્રી સંઘ
મુઝકો માફ કરે — ઈતિ — કલ્યાણ હોવે શ્રી
સકલ સંઘકો — સંવત ૧૯૫૧ ભાદરવા સુદિ ૩
સોમવાર

દા. વલ્લભવિજયના —

સહિ — आत्मारामकी स्वहस्ताक्षर

આચાર્ય શ્રી વિજયવલ્લભસૂરિજી

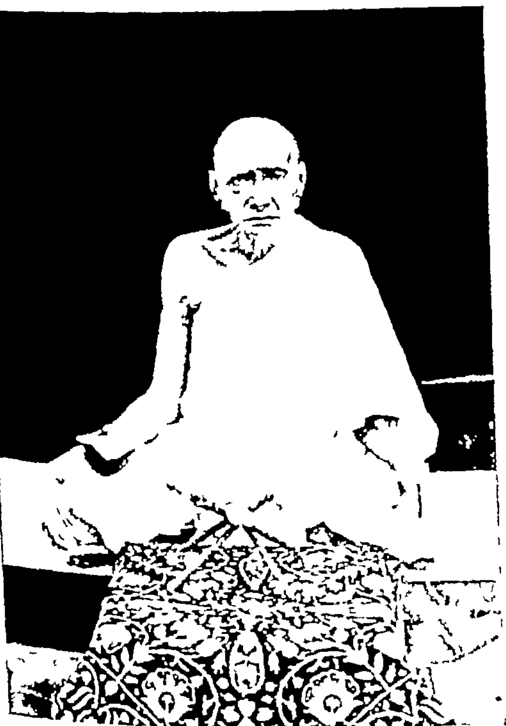
पूर्वे मम विरोधेऽपि यती धर्मस्य विशेषतः ।
त्यागी विचारसत्पूर्णो निर्भयो निःस्पृहो मुनिः ॥ १ ॥
विद्याविवेकसंयो मध्यस्थ समदर्शिनः ।
[illegible] सर्वज्ञमुनिमान् ॥ २ ॥
[illegible] महसारि ।
[illegible] निःसंशय ॥ ३ ॥
[illegible] मैत्री निःकपटीप्रतिभान् ।
[illegible] भूमि सर्वसंमतिः ॥ ४ ॥
[illegible]
मुनिर्मिहोऽय [illegible] ॥ ॥

અર્વાચીન યુગના એક મહાન અને જૈન સમાજના એક પ્રખર નેતા હતા. આચાર્ય વિજયવલ્લભ સૂરીશ્વરજીના જીવનના આચાર પ્રત્યો [illegible] ઉપાધ્યાય શ્રીમદ્ યશોવિજયજી ઉપાધ્યાય [illegible] જિન શાસનમાં મહામુનિના જે નવીન ગુણોનો નિર્દેશ કરેલા છે તેની વાત આવે છે. આ નામીને ગુરુ તથા જીવનમાં અનેકની સિદ્ધિ મેળવેલા મહામુનિમાં કોઈ છે અને જૈન સમાજ એ રીતે ભાગ્યશાળી રહેલ છે. આજના યુગને લક્ષીને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષાએ હતા. આચાર્ય શ્રી વિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીએ જીવનનું [illegible] કરતી આજના સમાજને ચણતર માર્ગદર્શન આપેલ છે.

સં. ૧૯૨૭ના કાર્તિક સુદિ બીજના દિવસે વડોદરા મુકામે આચાર્યશ્રીએ [illegible] જન્મ લીધો. એમના પિતાશ્રીનું નામ દીપચંદભાઈ. માતાશ્રીનું નામ ઇચ્છાબાઈ. [illegible] અને [illegible] એમનું સંસારી નામ છગનલાલ. બાલ્યવયમાં જ તેમના પિતાશ્રીનું અવસાન થયું. [illegible] અને [illegible] તેમની માતાશ્રી પણ પામ્યા. આ સમયે પૂ. આત્મારામજી મહારાજ સાહેબ વડોદરા પધાર્યા અને એમના દર્શને છગનલાલની વૈરાગ્યનો આવિર્ભાવ થયો. વૈરાગ્યનું એક જ [illegible] અને [illegible] કુટુંબની આસક્તિ છૂટી, [illegible] ધીમે ધીમે કુટુંબમાં વિરક્તિ આવી અને [illegible] સં. ૧૯૪૩ના વૈશાખ સુદિ ૧૩ના દિને સત્તર વર્ષની યુવાન વયે રાધનપુરમાં દીક્ષા લીધી અને મુનિશ્રી હર્ષવિજયજીના શિષ્ય થયા. રાધનપુરમાં પ્રથમ ચાતુર્માસ કર્યું.

પૂ. આત્મારામજી મહારાજની સાથે [illegible] અને સં. ૧૯૪૪માં [illegible] ચાતુર્માસ થયું. સં. ૧૯૪૪ના વૈશાખ સુદિ [illegible] દિવસે પૂ. આત્મારામજી મહારાજે વડી દીક્ષા આપી અને [illegible] તેમ જ [illegible] અધ્યયન કર્યું.

સં. ૧૯૪૬માં [illegible] શ્રી હર્ષવિજયજી મહારાજ કાળધર્મ પામ્યા. મુનિએ [illegible] ચાતુર્માસ [illegible] આ સમયે ન્યાય, વ્યાકરણ, [illegible] શ્રી હરિભદ્રસૂરિ મહારાજ વિરચિત [illegible] સં. ૧૯૪૭માં [illegible] ચાતુર્માસ કર્યું અને [illegible] વ્યાકરણનું અધ્યયન [illegible] જ્યોતિષનો અભ્યાસ કર્યો તેમ જ [illegible] અધ્યયન કર્યું. સં. ૧૯૪૮ના કાર્તિક વદિ [illegible] દિને મુનિશ્રી [illegible]



प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी



मुनि श्रीचतुरविजयजी

આચાર્ય શ્રી વિજયવલ્લભસૂરિજી

पूर्वे यस्य पितरौ धन्यौ धन्यो विशेषितः ।
तस्मै विजयवल्लभो निर्ग्रन्थ नि स्पृह मुनि ॥ १ ॥
विद्यानिधिर्यशस्वी सत्कर्मठो यतीश्वरः ।
समाजस्योपकारी सर्वधर्मसमभावी ॥ २ ॥
पञ्जाबे धर्मप्रचारनायको भवभीरु ।
लोकप्रियो निर्मलः चारित्र्ये नि श्चितः ॥ ३ ॥
ज्ञानगुणसम्पन्नः योगी निष्प्रपञ्चविधिमान् ।
मध्यस्थोऽसाम्प्रदायिको मुनि वर्धमानः ॥ ४ ॥
तस्य विजयवल्लभस्य गुरोः स्मरणम् ।
मुनिर्भावेन स्मारकं समर्पयामि ॥ ५ ॥

અર્વાચીન યુગના એક પ્રતિભાશાળી અને જૈન સમાજના એક પ્રખર નેતા સ્વ. આચાર્ય વિજયવલ્લભ સૂરીશ્વરજીના જીવનના બાબતમાં કંઈક લખવાનું આવે ત્યારે ન્યાયવિશારદ ન્યાયાચાર્ય શ્રીમદ્ યશોવિજયજી ઉપાધ્યાય વિરચિત જ્ઞાનસારમાં મહામુનિના જે બત્રીસ ગુણોનો નિર્દેશ કરેલો છે તેની યાદ આવે છે. આ બત્રીસ ગુણો તો કાળક્રમે અનેકોમાં સિદ્ધિ મેળવેલા મહામુનિમાં હોય છે અને જૈન સમાજ એ રીતે નસીબદાર કહેવાય કે આપણા યુગને લક્ષીને દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષાએ જ આચાર્ય શ્રી વિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીએ જીવનનું અણમોલ દાન કરી આપણા સમાજને સમૃદ્ધ માર્ગદર્શન આપેલ છે.

સં. ૧૯૨૭ના કાર્તિક સુદિ બીજના દિવસે વડોદરા મુકામે આચાર્યશ્રીએ ઇચ્છાબાઈની પવિત્ર કુક્ષિએ જન્મ લીધો. એમના પિતાશ્રીનું નામ દીપચંદભાઈ અને માતાનું નામ ઇચ્છાબાઈ. મહાસતી, જન્મના અને સંસ્કારી એ બધુ મહેનો એમનું સંસારી નામ છગનલાલ. બાળપણમાં જ તેમના પિતાશ્રીનું અવસાન થયું. માતાના ધાર્મિક સંસ્કારોના બીજ પૂરેપૂરા હતા અને ગળથૂથીમાં મળેલ તે પહેલા જ તેમના માતુશ્રી પણ પામ્યા. આ જ સમયે પૂ. આત્મારામજી મહારાજ વડોદરા પધાર્યા અને એમના દિલને આશ્વાસન આપ્યું ની વૈરાગ્યનો આવિર્ભાવ થયો. વૈરાગ્ય એક જ આધ્યાત્મિક અને આત્મારામજીનું જીવન મન ભરતું સાધુની આત્મિક ભૂખ પૂરી અને આત્મારામજીની મુનિના માર્ગની ઈચ્છા ધીમે ધીમે ગુરુના વિરક્તિ વધતી અને કુટુંબીઓના અનેક અંતરાયો અને અંતે કુટુંબની સંમતિ મેળવીને સં. ૧૯૪૪ના વૈશાખ સુદિ ૧૩ના દિને સત્તર વર્ષની યુવાન વયે રાધનપુરમાં દીક્ષા લીધી અને મુનિશ્રી હર્ષવિજયજીના શિષ્ય થયા. રાધનપુરમાં પ્રથમ ચાતુર્માસ કર્યો.

પૂ. આત્મારામજી મહારાજની સાથે રહેવાથી ગોરવાડી નજીક જૈન ધર્મના ઘણા ગ્રંથો મેળવ્યા અને સં. ૧૯૪૫માં અમદાવાદમાં બીજું ચાતુર્માસ કર્યું. પાલીતાણા સં. ૧૯૪૬ના વૈશાખ સુદિ દશમના દિવસે પૂ. આત્મારામજી મહારાજે વડી દીક્ષા આપી અને આત્મારામ જેમ તેમ જ ગુરુજીની સુયોગ્ય શીખનું અધ્યયન થયું.

સં. ૧૯૪૬માં દિલ્હીમાં શ્રી હર્ષવિજયજી મહારાજ કાળધર્મ પામ્યા. મુનિશ્રીએ ત્રીજું ચાતુર્માસ માલેરકોટલામાં કર્યું. આ સમયે ન્યાય, વ્યાકરણ, અલંકાર, વ્યાકરણ, ષડ્દર્શનસમુચ્ચય, શ્રી હરિભદ્રસૂરિ મહારાજ વિરચિત ષડ્દર્શન તથા અન્ય ગ્રંથોનો અભ્યાસ કર્યો. સં. ૧૯૪૭માં પટ્ટીમાં ચોથું ચાતુર્માસ થયું અને સારસ્વત વ્યાકરણનું અધ્યયન શરૂ થયું. જ્યોતિષનો અભ્યાસ કર્યો. તેમ જ શ્રીઆચારાંગસૂત્રનું પણ અધ્યયન કર્યું. સં. ૧૯૪૮ના કાર્તિક વદિ પાંચમના દિવસે મુનિશ્રી લક્ષ્મીવિજયજીને

ધર્મમાં ધર્માન્ધતા આવી જાય છે. મહાપુરુષો ભલે છે પણ એ સમાજમાંથી આવે છે, સમાજ પર અસર કરે છે અને સમાજ પણ એની ઉપર અસર કર્યા વિના રહેતો નથી. જૈન સિદ્ધાંતો સનાતન છે. પણ રૂઢિ અને ક્રિયાઓની ... બાહ્ય આચારોને આચરી લઈ સંતુષ્ટિ કરે છે. આથી એ બન્નેના નિરીક્ષણ સાથે જ દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષાએ સમાજનું માર્ગદર્શન કરવું જરૂરી બને છે. પૂ. આત્મારામજી મહારાજે પ્રેરણા આપેલી. સમાજનો નવો પ્રવાહ આવતો હતો તેનો પણ ખ્યાલ એ સમય જ મુનિએ આપ્યો હતો. દીર્ઘ જીવનની એકાગ્રતાથી આ મુનિશ્રી સમજી શક્યા હતા કે સમાજને પ્રગતિશીલ અને જીવંત બનાવવો હશે તો ધર્મ એ માત્ર રૂઢ વ્યવહારમાં નહિ પણ સમગ્ર જીવનદૃષ્ટિ આપતો બનવો જોઈએ. ધર્મ એટલે માત્ર ક્રિયાકાંડ-ઉપાસના નહિ, પરંતુ જીવનનું આખું દર્શન અને જીવનની સર્વ પ્રવૃત્તિ નિવૃત્તિમાંથી અભિવ્યક્ત થતા સંસ્કારો. જે ધર્મ સર્વ જીવોનું કલ્યાણ વાંછનારો છે એ ધર્મ શું સમાજના ઉત્કર્ષમાં પાયારૂપ નિમિત્તરૂપ ન બને, ધર્મ ભુલાઈ જાય, રૂઢિઓમાં, ક્રિયાકાંડમાં, ઉપાશ્રયોમાં વહેંચાઈ જાય ને માત્ર વ્યવહારમાં જ ધર્મ મનાય એ વસ્તુ કેવી રીતે ઉચિત ? જે ધર્મ સહુ માટે સમતા—સમભાવ કેળવવાનું કહે તે ધર્મના અનુયાયીઓ આચરે, જીવનમાં આચાર અને ઉચિત વ્યવહાર કરે, એ સંસ્કારોમાં પ્રગતિ બને એ વસ્તુ આવશ્યક હતી.

રાષ્ટ્રીય પ્રવાહો પણ નવી રીતે વહેતા હતા. જેમ આ તે વેર ગયાં તો કવિ દલપતરામનો ... ને મ્યો હતો અને ... સુધારાનો ... કહેનાર કવિ નર્મદનો જમાનો આવતો હતો. બ્રિટિશ અમલ સામે તેવી રોષ પણ તે પરદેશી હતી. એની સામે આક્રોશ અને ક્રાંતિ કરી સર્વ કરવાનો જમાનો પૂ. ગાંધીજી આવતો હતો. કૉંગ્રેસનું મહત્ત્વ સૌ જનોએ સ્વીકાર્યું હતું. રાષ્ટ્રીય આંદોલન તરફ ... મુનિશ્રીના જીવન સાથે રાષ્ટ્રીય ચળવળની આખી તવારીખ, બે વિશ્વયુદ્ધો અને એ યુદ્ધોએ જન્માવેલા આર્થિક અને સામાજિક પરિવર્તનો, આઝાદી, આઝાદી પછીની ... વર્ષો વગેરેથી સમાજમાં જે મધ્યમ વર્ગ શુદ્ધ પ્રવેશ્યો આવ્યો હતો, નવાં પરિબળો આવ્યાં એ ... નવું લેખું પણ અને એની સામાજિક સ્થિતિ એવી ને એવી રહી. પાલનપુરમાં સમાધાન કરાવનાર મુનિશ્રી અને મુંબઈમાં મધ્યમ વર્ગ માટે ટહેલ નાખનાર આચાર્યશ્રી—એક જ વ્યક્તિ. સામાજિક-રાજકીય—આર્થિક—નૈતિક પરિબળોએ પરોવી આ કયા એક રીતે આજની આવશ્યકતા અને મધ્યમ વર્ગની ... છે. ગુજરાતમાં ઉછેર થઈ એકાકીપણે પંજાબ ભૂમિમાં પગ મૂકનાર મુનિશ્રી એ જ હતા. ... એવી સૂક્ષ્મ દૃષ્ટિએ વ્યાપક દૃષ્ટિ વિકસાવી હતી અને દૂર રહ્યા છતાં એ સમાજનું આખું દર્શન કરી શક્યા હતા. મધ્યમના રોગનું નિદાન એમની પાસે હતું. જૈન સંસ્કૃતિની પ્રવૃત્તિઓના ઉત્કર્ષ માટે અને પ્રયોગ કરવાની દૃષ્ટિ એમની પાસે હતી.

• • •

પાલનપુરમાં મુનિશ્રીએ જૈન સમાજનો અનેક એકમો એ સમાજનો સારા પ્રયાસ કર્યો ... ૧૯૬૪માં જે સુદિ આઠમના દિવસે મુનિશ્રીએ આખા ... સમાજ આગળ ... અને સુધારો આપ્યો. સમાજમાં સહેજ ... ભારતીય ગયો અને મુનિશ્રીએ પાલનપુરમાં ચોમાસું કર્યું. આ સમયે મુનિશ્રી વિજયકમલસૂરિ સાથે પાલ ... ધર્મના ઉદ્યોતન કરાવવાને માટે અનેકાનેક ... પંજાબ શ્રી વિજયકમલસૂરિ પાસે મોકલ્યા. આચાર્ય મહારાજ શ્રી વિજયકમલસૂરિજીની દીક્ષા થઈ. ... એમના સમયમાં આત્માને ... આત્માનંદ જૈન સભાની સ્થાપના થઈ. આ રીતે વિજયવલ્લભસૂરિનું ... પણ ... સમર્પિત ... નિમિત્તે ... પ્રચાર કરવાનો અને તેને પ્રતિષ્ઠિત બનાવ્યો

સં ૧૯૬૬ના કાર્તિક વદિ બીજના દિને મુનિશ્રી મિત્રવિજયની દીક્ષા થઈ પાલણપુરથી વિહાર કરી મુનિશ્રી રાધનપુર આવ્યા અને બાવીસ વર્ષે દીક્ષાની ભૂમિને પાવન કરી સં ૧૯૬૬ના માગસર શુદિ બીજને દિવસે પાલીતાણા સંઘની સાથે જવા વિહાર કર્યો પાલીતાણા યાત્રા કરી વળતા ભાવનગર, ઘોઘા, વરતેજ, સિહોર થઈ વળા ગયા અને ત્યા બે પક્ષોનુ સમાધાન કર્યું ઘોઘામા એમનુ અપૂર્વ સ્વાગત થયુ ત્યાથી તેઓ ખભાત થઈ વડોદરા ગયા ત્યા સં ૧૯૬૬ના વૈશાખ [illegible] આમના દિવસે ભવ્ય સ્વાગત થયુ ત્યાથી ભરૂચ ગયા અને પન્યાસ શ્રીસિદ્ધિવિજય [illegible] એમની સેવામા રહ્યા ભરૂચથી જગડિયા તીર્થની યાત્રા કરી સૂરત પ [illegible] મા સવત ૧૯૬૭ના મહા વદિ છઠ્ઠના રોજ શ્રી સુખરાજજીને [illegible] શિષ્ય તરીકે મુનિશ્રી સમુદ્રવિજયજી નામ આપ્યુ સં ૧૯૬૭નુ [illegible] કર્યું, ત્યા બે તડો વચ્ચે સમાધાન કરાવતો ચુકાદો આપ્યો ને શાતિ [illegible] કરાવી સુરવાડા થઈ વણછરા ગામ આવ્યા અને દશા શ્રીમાળીઓના પચ સમ[illegible] કન્યાવિક્રયનો કુરિવાજ બધ કરાવ્યો પાછિયાપુરમા અટ્ઠાઈ મહોત્સવ કરાવી, સિનોર અને [illegible] થઈ વડોદરા આવ્યા

આજના યુગની પરિસ્થિતિની તેમ જ વિષમ કાળની વિચારણા માટે ‘મુનિસમ્મેલન’નો મુનિશ્રી વલ્લભવિજયજીને વિચાર આવ્યો પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના સઘાડાના સાધુઓના સમેલનની યોજના કરી વૃદ્ધ આચાર્ય શ્રી વિજયકમળસૂરિજી મહારાજ, ઉપાધ્યાય શ્રી વીરવિજયજી મહારાજ, શાતમૂર્તિ શ્રી હસવિજયજી મહારાજ વગેરેની સમતિ મેળવી વડોદરામા ત્રણ દિવસ મુનિ સમેલન ભરાયુ, જેમા પચાસ જેટલા સાધુ–મુનિરાજોએ હાજરી આપી હતી ચોવીશ જેટલા ઠરાવો પસાર કર્યા હતા સં ૧૯૬૮નુ છવ્વીસમુ ચોમાસુ ડભોઈમા થયુ ત્યાથી નાદોદ ગયા ત્યા આઠ દિવસ સુધી સતત વ્યાખ્યાનો આપ્યા ત્યારપછી વડોદરામા ‘ધર્મતત્ત્વ’ અને ‘સાર્વજનિક ધર્મ’ ઉપર જાહેર વ્યાખ્યાનો આપ્યા ત્યારબાદ મુબઈના અતિ આગ્રહથી એ ભણી ઝડપથી વિહાર કર્યા તે વખતે શ્રી જૈન શ્વેતાબર કૉન્ફરન્સનો સૂર્ય મધ્યાહ્ન વીતાવી ગયો હતો એણે સમસ્ત જૈન કોમમા અનેક નવીન આશાઓ ઉત્પન્ન કરી હતી, વિચારવાતાવરણમા મહાન પરિવર્તન કરી નાખ્યુ હતું અને સામાજિક ઉન્નતિની ભવ્ય તમન્ના જગાવી હતી નવપ્રકાશ ઝીલવા જનતા તૈયાર થઈ ગઈ હતી એવે સમયે નૂતન પ્રકાશ અર્પવા વર્તમાન યુગની નાડ પારખનાર અને સમય-ધર્મના અવિચલિત સિદ્ધાતને હસ્તગત કરી વ્યવહાર નિશ્ચયનો સમન્વય કરનાર પૂજ્ય સૂરિજીનુ મુબઈમાં આગમન થયુ અહીં તેમનુ અભૂતપૂર્વ સ્વાગત થયુ સામૈયા માટે મોટો માનવસમુદાય ઊમટયો હતો સર્વત્ર આનદ અને ઉમગની લહરીઓ પ્રસરી રહી હતી આ ઉત્સાહના વાતાવરણે સૂરિજીની વાણી ખૂબ સારી રીતે ઝીલી અટ્ઠાઇમહોત્સવ, શાતિસ્નાત્ર, પૂજા-પ્રભાવના અને ઉપધાન જેવા ઘણા અનુષ્ઠાનો થયા હૃદયના અસ્ખલિત પાવિત્ર્યપ્રવાહથી સભર એવા એમના વ્યાખ્યાનો ખૂબ જ અસરકારક નીવડ્યાં ‘ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष’ એ જ એમના પ્રવચનોનુ મધ્યબિન્દુ હતું પ્રથમ જ્ઞાન અને પછી ક્રિયા માનવી માનવીને ભિન્ન બનાવતા સસ્કારો સિંચવાનુ કાર્ય જ્ઞાનનુ છે જ્ઞાન વિના પ્રગતિ સાધવી અતિ કઠિન છે નથી વ્યવહારમા સાયુજ્યતા સાપડતી કે ધર્મ એના શુદ્ધ અને અરૂપી સ્વભાવમા આચરણ પામતો ચારે બાજુ જામેલા અજ્ઞાનના અધકારમા એક પિપાસા છે—અને તે જ્ઞાનની દીવડીની જમાનાના વિકાસમા ભાગ ભજવે છે વિજ્ઞાન, અને તેથી ધર્મને પણ વિજ્ઞાનના કસોટી પથ્થર ઉપર ચકાસ્યા વિના જરા યે ચાલે એમ નથી ધર્મ અને વિજ્ઞાનના સમન્વયમા જ બન્નેનું શ્રેય છે ધર્મને એક જગાએ સ્થગિત ન કરતા સર્વ દિશામા વ્યાહત કરવો આવશ્યક છે

આમ ધર્મની કેળવણી સંસ્થાઓ માટે થયું અને જગ્યા તેની જરૂરી બની છે કે જ્યાં જમાનામાં જે આપણા પરિવર્તનશીલ સમાજના આગમ ધડતરમાં છે એ વસ્તુનો સ્વીકાર કરીને, એને આપણી રીતે ધડવાને ઉત્તરના ઉત્તમ ચિત્ત હવે ચાલે નહિ. ધર્મનો અનેકાંતશીલ વિકાસ થતો ધરે. પ્રથમ જ્ઞાન અને પછી ક્રિયા એ સૂત્રના આધારે સમાજની પ્રત્યેક વ્યક્તિને પણ તેની રીતે આપણે જોવાની જરૂર છે. વ્યાવહારિક કેળવણીની આગળી તાલીમમાં આપેલ ધર્મના સંસ્કારો તાજગીવાળા બને. ધર્મ માનવહૃદયોને પ્રેરતો રહેલો જોઈએ. આમા ધર્મના ઉત્થાન અર્થે આધુનિક કેળવણી સાથે ધાર્મિક શિક્ષણ આવશ્યક બની રહે છે. પણ એ કેળવણીનું અવલંબન [illegible] છે. ધાર્મિક સંસ્થાઓના વિકાસમાં કેળવણીના વિકાસ છે. આવી કેળવણી એ છે કે જે ધર્મને પોતાનાથી અવિભિન્ન તેમ જ અવિચ્છિન્ન ગણે. આને માટે એવી સંસ્થાઓ ઊભી કરવી જોઈએ કે જે ધર્મના અને વ્યવહાર—જીવનના જ્ઞાનને પોષક બને. આમ પરિસ્થિતિએ યુગે યુગે વિકાસ પામતા વિજ્ઞાનનું જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવા અને સાથે સાથે ધાર્મિક સિદ્ધાંતોને સરળ સ્વરૂપમાં રજૂ કરવા યોજના કરી. એ અનેક સુંદર સંસ્થાઓ સમાજમાં સ્થાપિત કરવા ઉદ્બોધન કર્યું. તેઓશ્રીના આ સુધારક વિચારો સમાજને અતિ પ્રશંસનીય અને માનનીય લાગ્યા.

શ્રીસંઘના વિચારક અને ધનવાન આગેવાનોને તેઓશ્રીની વાત અતિ ઉચિત અને આવશ્યક લાગી, તે જ વિચારવિનિમય કર્યો, અનેક યોજનાઓ પર વિચારણા થઈ અને એવી કોઈ વિશિષ્ટ યોજના [illegible] મુંબઈમાં કરવા વિચાર કર્યો તેનો સ્વીકાર થયો. મુંબઈ શહેરના આદિ સ્થળોએ વિદ્યાભ્યાસ માટે બહારગામથી આવનારાની અગવડો અને [illegible] તકલીફોની પર વિચારણાને પરિણામે મુંબઈમાં એક વિદ્યાલય સ્થાપવાની યોજનાનો સર્વાનુમતે સ્વીકાર થયો. મહારાજશ્રીએ આ યોજના પર વિચાર કર્યો, શ્રીમંતોએ યોજના તૈયાર કરાવી, ધનવાનોએ એને વેગ આપ્યો, કાર્યકરોએ પણ એમાં કામ કરવા સાથ આપવાનો ઉમંગ બતાવ્યો અને ધીમે ધીમે જનતાએ એના વિકાસ માટે નાણાં આપ્યાં અને તનમનધનનો ભોગ આપવા અભિલાષા દર્શાવી. આ સર્વ પ્રવૃત્તિના પરિણામે જ સંવત ૧૯૭૦ના ફાગણ સુદિ પાંચમને દિવસે મહારાજશ્રીની હાજરીમાં શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની સ્થાપના કરવાનો મુંબઈમાં શ્રીસંઘે એકમતે નિર્ણય કર્યો અને નવીન પદ્ધતિથી ઊભી કેળવણી થઈ ધર્મના [illegible] સાથે સમાજનું હિત [illegible] કામ કરનારા યુવકોનો [illegible] ઉત્પન્ન કરવાનો આદર્શ સ્વીકારી, તેનું કામ હાથ ધરવા અને તે માટે યોગ્ય પ્રયાસો કરવા તથા [illegible] કાર્યમાં આવી. આ નાના પાયા પર ઊભી થયેલ સંસ્થાએ દિવસે દિવસે આગળ વિકાસ સાધ્યો. આજ મુંબઈમાં જ નહિ પણ સમગ્ર ભારતમાં કેળવણી અને સંસ્કૃતિ પ્રસારક ધામ નહિ બન્યું? તેનું આપણે પ્રતીત સિદ્ધ કરી છે.

મુંબઈથી અમદાવાદ, પાટણ, વડોદરા, ભાવનગર આદિ શહેરમાં પ્રવેશ કર્યો [illegible] શિક્ષણ માટે પ્રેરણા આપી. ફરી પાછા ભાવનગર, પાલિતાણા આદિ [illegible] દૂર કર્યો. ત્યાંથી [illegible] અને પછી [illegible] સં. ૧૯૭૧નું ચાતુર્માસ [illegible] આ સમયની શિક્ષણપ્રચાર [illegible] તેનો પુરાવો [illegible] પરથી નીચેનો પત્ર આપે છે :

“ આપણા લોકો ૮૮ [illegible] માં છે તેનું [illegible] છે. [illegible] હિત કરનારો [illegible] હોય તો પણ આપણું [illegible] રીતે [illegible] પણ [illegible] છે કે [illegible] પણ [illegible] નથી કે એનો પ્રચાર [illegible]

પર પડી શકે આમ છતા લોકોની નિદ્રા તો હજુ ઊડતી નથી આ દશા કેટલી શોચનીય છે! હજારો–લાખો રૂપિયાની આહુતિ દર વર્ષે વાજા, ગાજા, રગ, રાગ અને મેવા મિષ્ટાન્નમા ઉડાડવામા આવે છે પણ શિક્ષણના નામે તો બસ ભગવાનનુ નામ જ નામ છે હવે તો આપ જેવા પ્રતાપી પુરુષોનુ ધ્યાન આ તરફ જાય અને નિરતર ચારે તરફથી એ ઉપદેશ થવા લાગે કે અમુક કાર્ય તમારે કરવુ જ પડશે તો સભવ છે કે આપણે માટે કોઈક દિવસ શિર ઉચાવીને જોવાનો સમય આવી પહોંચે ”

સુરતથી વિહાર શરૂ કર્યો ખભાત થઈ, ધોલેરા થઈ, સ૦ ૧૯૭૨મા પાલીતાણાની યાત્રા કરી જૂનાગઢ આવ્યા ત્યા ત્રણ સાર્વજનિક વ્યા[illegible] થયા વણથલીમા પ્રતિષ્ઠા કરી અને સ૦ ૧૯૭૨નુ ત્રીસમુ ચાતુર્માસ જૂનાગઢમા કર્યું જૂનાગ[illegible] આત્માનદ જૈન લાયબ્રેરી તથા શ્રી જૈન સ્ત્રી શિક્ષણશાળાની ઉદ્‌ઘાટનક્રિયા થઈ પજાબના ને[illegible]ના જૂનાગઢમા વિનતિ કરવા આવ્યા ચોમાસુ પૂરુ થતા વેરાવળ ગયા અને ત્યા ‘શ્રી આત્માનદ જૈન સ્ત્રી શિક્ષણશાળા’ અને ‘શ્રી આત્માનદ જૈન ઔષધાલય’ નામની બે સસ્થાઓ સ૦ ૧૯૭૩ના મહા શુદિ દશમના દિવસે સ્થાપિત થઈ વેરાવળથી માગરોળ ગયા ત્યા શાતિ સ્નાત્ર અને વ્યાખ્યાનો થયા ત્યાથી વેરાવળ, ઊના, દીવ, મહુવા, દાઠા, તળાજા થઈ પાલીતાણા થઈ સુરિજી ભાવનગર આવ્યા ત્યા ‘વર્તમાન પરિસ્થિતિ અને આપણી આવશ્યકતાઓ’ ઉપર જાહેર પ્રવચન કર્યું ભાવનગરમા એક પજાબી બહેનને ભાગવતી દીક્ષા આપી ત્યાંથી ખભાત થઈ વડોદરા પ્રવર્તક શ્રી કાતિવિજયજીને મળ્યા વડોદરાથી વિહાર કરી બન્ને મહાત્માઓ જગડિયા તીર્થની યાત્રા કરી મુબઈ પધાર્યા જ્યા એમનુ ભવ્ય સામૈયુ થયુ મુબઈમા એમના કાર્યોના પ્રત્યાઘાતો અને વમળો ઊભા થતા હતા આ ચાતુર્માસમા ખડતરગચ્છ અચલગચ્છના પર્યુષણ પર્વ માટે ચર્ચા ચાલી આનાથી પર રહી તેઓશ્રીએ એકતાની હિમાયત કરી એમના મતવ્યો સ્પષ્ટ હતા “આજે લોકો એકતા ચાહે છે પોતાના હકો માટે પ્રયત્ન કરે છે અગ્રેજ, પારસી, હિંદુ અને મુસલમાન બધા એક જ ધ્યેય માટે સગઠિત થઈ રહ્યા છે આ રીતે દુનિયા આગળ વધી રહી છે બીજી બાજુએ આપણા ભાઈઓ દશ કદમ પાછા હઠવાનો પ્રયત્ન કરે છે આજે તો બધાયે એક થઈ સમાજ, ધર્મ અને રાષ્ટ્રના કલ્યાણનું કાર્ય કરવુ જોઇએ ”

મુબઈના આ ચાતુર્માસ દરમિયાન શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયના મકાન માટે લગભગ એક લાખ રૂપિયાનુ ફડ થયુ નાના ગામોના મદિરોના જીર્ણોદ્ધાર માટે પણ સારુ ફડ કરવા ઉપરાત શ્રી પાટણ જૈન મડળ બોર્ડિંગ માટે લગભગ રૂપિયા લાખનુ ફડ થયુ મુબઈથી વિહાર કરીને પ્રતાપનગરમા તેઓ પૂજ્યશ્રી હસવિજયજી મહારાજને મળ્યા તેમની સાથે તેઓ અમદાવાદ આવ્યા અને શ્રી ઊજમબાઈની ધર્મશાળામા ચાતુર્માસ ગાળ્યુ સ૦ ૧૯૭૪ના બત્રીસમા ચોમાસા દરમિયાન વ્યવહારુ દૃષ્ટિ, સાધારણ કુટુબોની પરિસ્થિતિનો ખ્યાલ, ટીપો ઉઘરાવવાની ખોટી આદતો, શ્રીમતોની મોટાઈ, સામાન્ય જનતાનો ધર્મપ્રેમ વગેરે વિષયોને આવરી લેતા પ્રવચનો કર્યાં અહીં શ્રી મહાવીર સ્વામીની પચકલ્યાણ પૂજાની રચના કરી પછી શ્રી હસવિજયની વિદાય લીધી અમદાવાદથી મહેસાણામા મહારાજશ્રી સિદ્ધિવિજયના દર્શનનો લાભ લઈ, ત્યાથી વિસનગર થઈ પાટણ ગયા ત્યા દયા ધર્મ પર જાહેર વ્યાખ્યાન કર્યું ત્યાથી ચારૂપ, મેત્રાણા થઈ પાલણપુર ગયા ત્યા ત્રણ પ્રસિદ્ધ આચાર્યપ્રવરોની મૂર્તિઓની પ્રતિષ્ઠા કરાવી અને શ્રી પાલણપુર જૈન વિદ્યાલય માટે ફડ કરાવ્યુ ત્યાથી તારગાજી, કુભારીઆજી, આબુ, અચલગઢ, બામણવાડા થઈ, પીંડવાડા ગયા ને ત્યાના શ્રાવકોનો આતરકલહ દૂર કર્યો અહીંથી નાણાબેડાને રસ્તે લૂટાયા અને ત્યાથી બીજાપુરમા બે પક્ષો વચ્ચે સપ કરાવી એક પાઠશાળા સ્થાપી ત્યાથી વિહાર કરી સાદડીમા ચાતુર્માસ કર્યું સ૦ ૧૯૭૫નુ

તેથીયશુ ચોમાસુ શાસન-કાર્યની દૃષ્ટિએ ઘણું મહત્ત્વનું થયું. ચોમાસા બાદ મુનિશ્રી લલિતવિજયજી મુનિશ્રી ઉમંગવિજયજી મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજી વગેરેને ગણિપદ તથા પંન્યાસપદ આપ્યા

ગુજરાત કરતાં રાજપૂતાનાની પરિસ્થિતિ અને સામાજિક દશા વિષમ હતી. જ્ઞાનરુચિનું તાન ઓછું, પ્રમાદ, નિરક્ષરતા, ભૂલા રીત રિવાજો, કન્યાવિક્રય, વૃદ્ધલગ્નો પણ પાળવાનાં જમણો, વિવાહપ્રસંગ, બાળવિધવાઓનો પ્રશ્ન, વિપુલ સંપત્તિની વચ્ચે જ ગરીબાઈ અને આવતીકાલની ચિંતા,—સમાજની આવી વિષમ દશા રાજપૂતાનાની હતી. પૂજ્યશ્રી અને પક્ષપાતો માનવી જીવનને કલુષિત કરતા હતા. આ વખતે રતલામના મરુભૂમિના સમસ્ત આગેવાનોએ મહારાજશ્રીને આગ્રહ કર્યો. તેઓમાંથી કોઈ સાધુ કે ને આ પ્રશ્નનો ઉદ્ધાર નહિ થાય, સામાજિક દૂષણો દૂર નહિ થાય તો આવતી કાલ ઘણી કપરી બને રૂઢિ, વહેમ અને અજ્ઞાનના નાશ માટે ગોડવાડમાં વિદ્યાલયની સ્થાપના માટે પ્રવૃત્તિ ચાલી. ઉનાળામાં સં. ૧૯૭૫ના જેઠ સુદિ એકમના દિને ખીવાંદી ગામમાં ફંડ માટે પ્રયાસ કર્યો. સૌના કુસંપને દૂર કરાવતો ફેંસલો આપ્યો. આ રીતે ત્રીસ વર્ષનો ઝઘડો ક્ષણમાં દૂર થયો. ખીવાંદીથી વિહાર કરી ચોમાસા માટે શિવગંજ થઈ ત્યાંથી પાંચ મુનિરાજોએ બાલીમાં અને મહારાજશ્રીએ સાદડીમાં ચાતુર્માસ કર્યું ચાતુર્માસ પછી પોષ માસમાં બાબુ દોલતરામના પ્રમુખપદ નીચે શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કોન્ફરન્સનું અધિવેશન થયું તેમાં કોન્ફરન્સની જરૂરિયાતો, શાંતિની યોજના, અહિંસા, કર્તવ્ય પરાયણતા, ઐક્યની જરૂરિયાત, કેળવણીના ફાળા વગેરે વિષયો પર મહારાજશ્રીએ પ્રવચનો કર્યાં

સાદડીથી વિહાર કર્યો, ત્યાંથી વરકાણા, બેરવા, ભાંડી, કુશલના, થઈ રાણકપુર પધાર્યા. યાત્રા કરી સાદડી, ઘાણેરાવ, મુછાળા મહાવીરની યાત્રા કરી સંઘ કેસરિયાજી પહોંચ્યો. દર્શન બાબતમાં કલેશ હતો, અજ્ઞાનતામાં કેમ આવતો હતો. મહારાજશ્રીએ ઉપરોક્ત દિલાસો કરવા માટે પક્ષોને સમજાવ્યા, પણ તેઓ માન્યા નહિ. ઘણુંક વિચાર કરીને મહારાજશ્રીએ સાધુઓને ઝઘડો ન કરવાનો આદેશ દીધો. વાતાવરણમાં નરમાશ આવી. આખરે સમાધાન થયું. કેસરિયાજી જઈ શ્રી શાંતિનાથ ભગવાનના દર્શન કરી ઉદયપુર પધાર્યા. ઉદયપુરમાં આચાર્ય શ્રીનેમિસૂરીશ્વરજી સાથે મુલાકાત થઈ. અને મહામુનિઓએ દિલ ખોલીને વાત કરી અને એકમેકની નજીક આવ્યા. આગામી મુનિ સંમેલનના બીજ રોપાયા અને અનેક સમુદાયો એકમેકની નજીક આવ્યા

ગોડવાડના ગામોમાં જ્ઞાનના પ્રચારની નેમથી મહારાજશ્રીએ ફાલનામાં ચોમાસું કર્યું. બીજા મુનિઓએ સિરોહી, સાદડી વગેરેમાં ચોમાસા કર્યા. સાદડીમાં શ્રી આત્માનંદ જૈન પાઠશાળાની સ્થાપના શ્રી લલિતવિજયજીના હસ્તે થઈ. ખુડાલામાં પણ પાઠશાળા અને લાયબ્રેરી થઈ. ખુડાલાથી સંઘમાં વરકાણા અને ત્યાંથી રાણી, બાલી વગેરે સ્થળે થઈ મહારાજશ્રી ત્યાં પધાર્યા ત્યાં પાઠશાળાની સ્થાપના થઈ ત્યાંથી સુમેર પધારી પાઠશાળા સ્થાપિત કરી. ત્યાંથી ફાલના, ત્યાંથી થઈ લાટાણા ગયા અને ત્યાંનો કુસંપ દૂર કરાવી મંદિર તથા ધર્મશાળાના જીર્ણોદ્ધાર માટે ફંડ કરાવ્યું. ત્યાંથી લોટાણા ગયા અને ત્યાં શ્રી શાંતિ વર્ધમાન પેઢીની સ્થાપના કરી જીર્ણોદ્ધારનું કામ શરૂ કરાવ્યું. ત્યાંથી કાપરડાજીની યાત્રા કરી ત્યાંના બે પાર્ટીઓના અનેક વર્ષના ઝઘડાનું નિરાકરણ કરી સં. ૧૯૭૭ના જેઠ સુદિ બીજના દિને મહારાજશ્રીએ સિરોહીમાં પ્રવેશ કર્યો. અહીં સંઘની સ્થાપના કરી. અહીંના ચોમાસા દરમિયાન ઘણી ધર્મારાધના કરાવી. ત્યાંથી વિહાર કરી આદિ ગામોમાં થઈ પધાર્યા. ત્યાંથી વગેરે ગામોમાં પ્રચાર કરી અને માં પ્રવેશ કર્યો.

ગયા વર્ષના ગાળામાં ગોડવાડના ઉદ્ધાર માટેનો મહારાજશ્રીનો અનંત ભારે પરિશ્રમ ધાર્યું કામ ન થઈ શક્યું. સ્થળે સ્થળે પાઠશાળાની સ્થાપના થઈ. આ બધીને દૃષ્ટિએ

લલકારથી નવજાગૃતિ આવી ધર્મ એ માનવીને બધા ક્ષેત્રોમા આદરવાની, આચરવાની વસ્તુ છે અને સમાજના બધિયાર પાણી ધર્મને ખપતા નથી ધર્મ સૌ કોઈ માટે છે અને સામાન્ય માનવી પણ ધર્મ આચરી શકે છે એની પ્રતીતિ મહારાજશ્રીએ કરાવી ગોડવાડમા નવજાગૃતિના પ્રચંડ દુદુભિ વાગી ચૂક્યા હતા

* * *

પજાબમા ચૌદ પદર વર્ષના ગાળા બાદ પ્રવેશતા મુનિશ્રીવલ્લભવિજયનુ હોશિયારપુરની જનતાએ અભૂતપૂર્વ સ્વાગત કર્યું લાલા દૌલતરામે એકસો મોનામહોરનો આથિયો કરી મહારાજશ્રીની વદના કરી પજાબના શ્રીસઘે અભિનદનપત્ર આપ્યુ આના જવાબમા તા૦ ૨–૩–૧૯૨૨, સવત ૧૯૭૮ના ફાગણ શુદિ પાચમે મહારાજશ્રીએ 'આત્માનદ જૈન કોલેજ'નુ સ્વપ્ન રજૂ કર્યું એ જ દિવસે પજાબ મહાવિદ્યાલય માટે પજાબના સઘે ફડ કર્યું અને બે લાખ રૂપિયા જોતજોતામા લખાઈ ગયા ભારતભૂષણ પડિત મદનમોહન માલવિયા સાથે અધા કલાક સુધી વિચાર-વિનિમય કર્યા

રાષ્ટ્રીય આદોલનનો દેશમા યુગ હતો તિલકયુગ પૂરો થયો હતો અને મહાત્મા ગાધીજીના હાથમા રાજકીય પ્રવૃત્તિનુ નેતૃત્વ આવતું હતુ પહેલા વિશ્વયુદ્ધના અત બાદ જનતાની આશાઓ ઠગારી નીવડી અને રાષ્ટ્રમા ભારે અશાતિ થઈ ગઈ સ્વદેશીની હિલચાલ દેશમા શરૂ થઈ મહાત્મા ગાધીજીએ સમગ્ર ભારતમાં નવજાગૃતિનુ પૂર આણ્યુ હતુ રેશમી વસ્ત્રોનો ત્યાગ કરી લોકો ખાદી અપનાવતા થયા હતા મહારાજશ્રીએ સિદ્ધાતની ખાદી અપનાવવાની શરૂ કરી હોશિયારપુરના વ્યાખ્યાનોને પરિણામે અપવિત્ર કેસરનો ઉપયોગ ન કરવા વિશે, સ્વદેશી વસ્ત્રો અગે તેમ જ બીજા અનેક ઠરાવો થયા

હોશિયારપુરથી ફગવાડા થઈ ફિલોર વાટે મહારાજશ્રી લુધિયાણા પધાર્યા ત્યા પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયતી ઊજવી, વિહાર કરી સ૦ ૧૯૭૮ના જેઠ વદિ છઠના દિને અબાલા પધાર્યા ત્યા તેમણે છત્રીસમુ ચોમાસુ કર્યું આ ચોમાસા દરમિયાન શ્રી આત્માનદ જૈન હાઈસ્કૂલની ભૂમિકા રચાઈ ગઈ અને પુસ્તકાલયની શરૂઆત થઈ ગઈ ત્યાથી મહારાજશ્રી પતિયાલા થઈ સમાના ગયા અને સ૦ ૧૯૭૯ના મહા સુદિ ૧૧ના રોજ પ્રતિષ્ઠા કરાવી સમાનાથી નાણુ થઈ માલેરકોટલામા મહાવીર-જયતી ઊજવી મહારાજશ્રી હોશિયારપુર ગયા સ૦ ૧૯૭૯નું આડત્રીસમુ ચાતુર્માસ ત્યા કર્યું

હોશિયારપુરથી વિહાર કરી મહારાજશ્રી કાગડાની યાત્રા કરી પાછા વિહાર કરી મિયાની, ઉરમદ થઈ જડિયાલાગુરુ ગયા ત્યાથી અમૃતસર પધાર્યા અને ત્યાર બાદ લાહોર ગયા સ૦ ૧૯૮૦નુ ઓગણચાલીસમુ ચાતુર્માસ લાહોરમા કર્યું શ્રી આત્માનદ જૈન મહાસભાનુ કાર્ય વેગવાન બન્યુ હતું લાહોરમા પ્રતિષ્ઠા થઈ અને એ જ દિવસે મુનિ શ્રીવલ્લભવિજયજીને આચાર્યની પદવી અપાઈ આચાર્ય-પદની પદવી માટે પ્રવર્તક શ્રી કાતિવિજયજી, તથા શ્રી હસવિજયજી, શ્રી સપતવિજયજી તથા શ્રી સુમતિવિજયજીની સમતિ સઘે મેળવી લીધી હતી આ વખતે પચોતેર શહેરના આગેવાન લોકો તેમ જ હજારોની માનવમેદની જામી હતી બને ઉત્સવો લાહોરના શ્રીસઘે અપૂર્વ ભક્તિપૂર્વક કર્યા

લાહોરમા સ૦ ૧૯૮૧ના માગસર સુદિ પાચમના દિવસે પજાબના શ્રીસઘે અભિનદનપત્ર આપ્યુ મહારાજશ્રીની આચાર્યની પદવીની સાથોસાથ પન્યાસ સોહનવિજયજીને ઉપાધ્યાય પદ અપાયુ આ પ્રસગે જામનગરથી પ્રવર્તક શ્રી કાન્તિવિજયજીએ મગળ આશીર્વાદ પાઠવતો લાબો પત્ર મોકલ્યો હતો, જેમા તેઓશ્રીએ જણાવ્યુ કે, "આપ ગુરુમહારાજની સેવાભક્તિમા નિરતર રહ્યા છો, પજાબમા મહારાજસાહેબરૂપી સૂર્યનો અસ્ત થયા પછી તે ક્ષેત્રોમા તમારા હાથે અનેક પ્રભાવજનક શુભકાર્યો થયાં છે, તથા નિરતર ભ્રમણ કરીને ઘણી ઉન્નતિ કરી છે આ સઘાથી આકર્ષિત થઈને શ્રીસઘે આપને

ગુરુમહારાજના ૫૬ વર્ષ અભિનિવેશ છે તે ખુશીની વાત છે. હવે ભવિષ્યમાં તમારા હાથ અવિચ્છિન્ન પ્રમાણો થાય, સમાજની સેવામાં ઉત્તરોત્તર વૃદ્ધિ થાય તથા અન્ય મુનિઓ પણ તેનું અનુકરણ કરે તો તેની શોભા એ પણ આપની જ શોભા છે." શ્રી ૧૦૦૮ શ્રી સ્વર્ગવાસી શ્રીમદ્ વિજયાનંદસૂરીશ્વરજી તથા શ્રી ૧૦૦૮ શ્રી હર્ષવિજયજી મહારાજની વિદ્યમાનતામાં પણ પરસ્પર પ્રેમ થાય એવો પ્રસંગ ઉપસ્થિત જ નહોતો થયો. કદાપિ દૈવયોગે સાધારણ કે નિષ્કારણ આશાતનાની વાતોમાં કોઈને કષાય આવી જતો તો તે વખતે ક્ષમા માંગી ત્યાં અથવા કરતી વેળામાં આવતો. સાંવત્સરિક પ્રતિક્રમણમાં ક્ષમાપના કરતા અને બીજા પાસે [illegible] કરાવતા. ક્ષમા આપવાનો હર્ષ કોઈ તે પર ધ્યાન ન આવ્યું તો તેને સમજાવતાઃ "જે ક્ષમાપના કરે છે તે આરાધક થાય છે અને જે નથી કરતો તે આરાધક નથી થતો તેથી ક્ષમાપના કરીને આરાધક થવું એ શ્રેય છે." ગુરુમહારાજના આત્માઓ સાથે કોઈ પણ [illegible] થઈ ત્યાં અને ક્ષમાપના કરી લેતો. તમે ગુરુમહારાજના વારસોમાં રહી પૂરા અનુરાગ ધ્યાન રાખો છો તો તેમનું અનુકરણ કરવું યોગ્ય છે. શ્રી ગુરુમહારાજ આપને સફળતા આપે અને આપ એવાં કાર્યો કરવાને યોગ્ય બનો જેનાથી શ્રી ગુરુમહારાજનું શુભ નામ જગતમાં અધિકથી અધિક રોશન થાય.

• • •

બાલોરનો ઉત્સવ પતાવી આચાર્યશ્રી ગુજરાનવાલા પધાર્યા. ગુજરાનવાલે અંતની ધુરંધરોએ તેમને વધાવ્યા. મુંબઈ ખાતે પંન્યાસ શ્રી લલિતવિજયજીના પ્રયાસથી અને શેઠશ્રી વિઠ્ઠલદાસની ઉદારતાથી મહારાજશ્રીની પ્રતિજ્ઞા પૂર્ણ થઈ. શ્રી આત્માનંદ જૈન ગુરુકુળની સ્થાપના થઈ. સં. ૧૯૮૧નું ચાતુર્માસ અહીં પૂર્ણ થયું. ગુરુકુળની સમિતિ રચાઈ. ઉત્તરોત્તર એનો વિકાસ સધાયો. આ ચાતુર્માસમાં જનતાની ઉન્નતિ માટે વ્યવસ્થા કાર્ય કરનાર, કર્મવીર અને સમાજ સમાજ-સુધારક શાસન સેવક અને કર્મયોગી શિષ્ય શ્રી સોહનવિજયજીની ખોટ પડી. સં. ૧૯૮૨ના કાર્તિક વદિ નોમના દિવસે ઉપાધ્યાયજી સ્વર્ગવાસી થયા. શ્રી સોહનવિજયજી મહારાજે શ્રી આત્માનંદ જૈન મહાસભાની સ્થાપના કરાવી હતી. પંજાબની અનેક પ્રવૃત્તિઓ તેમના હાથે રચાયેલ હતી.

ગુજરાનવાલામાં ગુરુકુળની સ્થાપના કરી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી [illegible] સહયોગ થઈ હસ્તિનાપુર તીર્થની યાત્રા કરી બિનોલી પધાર્યા. દેશભરમાં આચાર્યશ્રીએ જૈનધર્મની [illegible] પર પ્રવચન કર્યું. [illegible] બિનોલીમાં પ્રતિષ્ઠાનો મહાન ઉત્સવ થયો. જે શુદિ બીજના દિવસે લાલા [illegible] ભગતને શ્રી [illegible] દીક્ષા આપવામાં આવી અને તેમનાં નામ અનુક્રમે મુનિશ્રી વિશુદ્ધવિજયજી તથા મુનિશ્રી વિચારવિજયજી ([illegible]) રાખવામાં આવ્યાં. બિનોલીના મિત્રો માટે પાઠશાળાની વ્યવસ્થા કરાવી આપી. બિનોલીથી વિહાર કરી બડૌત પધાર્યા અને સં. ૧૯૮૨નું ચાતુર્માસ [illegible] કર્યું. [illegible] ઉજવણી થઈ. [illegible] જિનમંદિરનું ખાતમુહૂર્ત સં. ૧૯૮૨માં થયું અને સં. ૧૯૮૪માં મહા સુદિ [illegible] જિન પ્રતિષ્ઠા કરી બડૌતથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી દિલ્હી પધાર્યા. દિલ્હીમાં [illegible] જ મુલતાનથી [illegible] શેઠ વિઠ્ઠલદાસ ઠાકોરદાસ દર્શનાર્થે આવ્યા. [illegible] મહિનો [illegible] થયો. ત્યાંથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી આગ્રા પધાર્યા [illegible] પ્રતિષ્ઠા કરી જયપુર, અજમેર, નયાશહેર વગેરે સ્થાનોએ વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રી બીકાનેર પધાર્યા. સં. ૧૯૮૩નું ચોમાસું ત્યાં કર્યું. બીકાનેરમાં શ્રી આત્માનંદ જૈન લાયબ્રેરી તથા જૈન યુવક મંડળ સ્થાપ્યાં. અહીંથી [illegible] વિહાર કરી પાલણપુર આવ્યા. પાલણપુરથી મરુભૂમિના ઉદ્ધાર માટે પંન્યાસ શ્રી લલિતવિજયજીને આજ્ઞા આપી. પરિણામે વરકાણામાં એક મહાન ઉત્સવ ઉજવાયો. વરકાણા વિદ્યાલયે ઘણી પ્રગતિ કરી અને એ સંસ્થા ખૂબ જ વિકસી.



मुनि श्रीहसविजयजी



आचार्य श्रीविजयललितसूरि



[illegible] श्री[illegible] [illegible] श्री[illegible]जी अने मुनिसमुदाय ([illegible] ई. १९ [illegible])

સં૦ ૧૯૮૪ના ફાગણ શુદિ ત્રીજના દિવસે પાટણે આચાર્યશ્રીનુ ભાવભીના હૃદયે સ્વાગત કર્યું પાટણમા પ્રવર્તકજી મહારાજ, મુનિશ્રી ચતુરવિજયજી, મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી વગેરે સાથે વિચાર–વિનિમય કર્યો એક વિદ્યાર્થી સમેલન યોજાયુ પજાબ તથા મારવાડના વિદ્યાર્થીઓએ આચાર્યશ્રીની પ્રવૃત્તિનુ દર્શન કરાવ્યુ આ પછી ચારૂપ, કલાણા, મેત્રાણા, ગઢ, ભીલડિયાજી, ડીસા અને પાલણપુરનો વિહાર કરી પાટણમા સં૦ ૧૯૮૪નુ ચોમાસુ કર્યું પાટણના જ્ઞાનભડારો માટે થતા કાર્યનો આચાર્યશ્રીને ખ્યાલ આવ્યો

પાટણના ચોમાસા બાદ શખુ તીર્થની યાત્રા કરી ધીણોજથી મહેસાણા થઈ ભોરુ ગયા અને પાનસર તીર્થમા ચારપાચ દિવસની સ્થિરતા કરી ત્યાથી વિહાર કરી કલોલ શેરીસા થઈ અડાલજ ગયા અને ત્યાથી વલાદ, નરોડા દ્વારા અમદાવાદ આવ્યા અમદાવાદે આચાર્યશ્રીને હેતના સ્વસ્તિકથી સાહાર્દપૂર્વક વધાવ્યા અમદાવાદમા શ્રી ઉજમબાઈની ધર્મશાળામા સ્થિરતા કરી અને વિશાશ્રીમાળીની વાડીમા જાહેર પ્રવચનો કર્યા સં૦ ૧૯૮૫ના માગશર વદિ છઠ્ઠના દિને સ્વર્ગવાસી પં૦ શ્રી મૂળચદજી મહારાજની જયતી ઉજવી અહીંથી વિહાર કરી બારેજા, માતર, વડોદરા, મીઆગામ, વામજ, જગડીઆ, વગેરે સ્થળોએ થઈ આચાર્યશ્રી કરચલીઆ પધાર્યા

અમદાવાદના પ્રવચનોમા આચાર્યશ્રીએ ' સમયધર્મ ' ઉપર ઘણો ભાર મૂક્યો તેઓ કહેતા હતા "યુવકોને નાસ્તિક અને વૃદ્ધોને અધશ્રદ્ધાળુ કહેવાથી કશો અર્થ સરવાનો નથી બનેના હાથ મેળવી સમયને, દેશકાળને ઓળખીને તેમને અને જગતને બતાવી આપવાનુ છે કે જૈન ધર્મ શ્રેષ્ઠ છે મોક્ષ એ કાઈ કોઈનો ઇજારો નથી બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય, વૈશ્ય અને શૂદ્ર એ દરેક જો વીતરાગ બને તો મોક્ષ મેળવીશ કે છે ગૌતમાદિ ગણધર બ્રાહ્મણ હતા, તીર્થંકર દેવો ક્ષત્રિય હતા ને જબૂસ્વામી આદિ વૈશ્ય હતા જૈન ધર્મમા સર્વને સ્થાન છે **જૈન ધર્મ છે, જાતિ નથી.** જૈનનો અનુયાયી ગમે તે જાતિનો હોઈ શકે છે રાગ-દ્વેષને છોડે તે કૈવલ્યપ્રાપ્તિ કરી મોક્ષાભિગમન કરી શકે છે પુરુષ, સ્ત્રી કે નપુસકને પણ મોક્ષને લાયક ગણ્યો છે, આમા લિંગભેદ ક્યાયે નથી

"પૂર્વાચાર્યો સમયાનુસાર વર્તીને જૈન ધર્મ દીપાવી ગયા છે પૂર્વના જૈનો પણ તે પ્રમાણે વર્તીને પોતાના નામો રોશન કરી ગયા છે આજે આપણે ક્યા છીએ ? વિચાર કરો, આપણે ક્યા છીએ ? આપણુ કર્તવ્ય શુ છે ?

"કેળવણી વિના આપણો આરો નથી કેળવણી પણ ધાર્મિક શ્રદ્ધા અને સસ્કારથી સુવાસિત હોવી જોઈએ જ્યાસુધી આ પ્રકારની ધાર્મિક કેળવણી નહિ હોય ત્યાસુધી આપણો ઉદ્ધાર જ નથી ફક્ત કેળવાયેલા જ જૈન શાસનની રક્ષા કરશે સ્વામી–ભાઈની કમાવાની તાકાતમા વધારો કરો એક દિવસની રોટી આપ્યા કરતા તેને નિરતર રોટી મળે એવી વ્યવસ્થા કરો જ્ઞાનીઓએ સાત ક્ષેત્ર કહ્યા છે (૧) જિનચૈત્ય (૨) જિન–પ્રતિમા (૩ અને ૪) સાધુ અને સાધ્વી (૫) સદ્જ્ઞાન (૬ અને ૭) શ્રાવક અને શ્રાવિકા તીર્થનો વિચ્છેદ થતા પ્રથમ શ્રાવક શ્રાવિકા, પછી સાધુ અને સાધ્વીનો વિચ્છેદ થશે તીર્થમા શ્રાવક શ્રાવિકા પણ છે માટે સઘના એ અગને પણ મજબૂત બનાવવુ પડશે શ્રી મૂળચદજી મહારાજના સમયમા કુસપ નહોતો, અને જ્યા કુસપ હોય ત્યા જપ થતો તે સમયે ઝીણા કપડા નહોતા વપરાતા, હમણાં તો તમે અમને ઝીણા કપડા વહોરાવો છો, તે સમયે અમે ચા દૂધ માટે વહોરવા નહોતા નીકળતા, આજે અમે તેમ કરતા થઈ ગયા છીએ અમારે ને તમારે આ સમજવાનું છે કે આપણી આ સહેલાણીપણાની ટેવ ત્યાગી–ફકીરને લાયક છે ખરી ? સ્વધર્મીઓ માટે ઉદ્યમ કરો તેમને વ્યાવહારિક કેળવણી સાથે ધાર્મિક શિક્ષણ મળે તેવો પ્રબધ કરો એકલી પૌદ્ગલિક કેળવણીથી કોઇનો ઉદ્ધાર નથી થવાનો ધાર્મિક કેળવણી હશે તો ધાર્મિક સસ્કાર મળશે તો જ

વિવેકાદિ ધર્મ. તો ? શાસન ચિંતન ખરા કામો કરો. અતિ ભક્તના કુપાકો નાસ્તિક બનતા જાય છે તેનું કારણ શું? તેઓ ગુરુઓ પાસે આવે છે તે શું નાસ્તિક બનવા આવતા? અને આમ તેમને તમે નાસ્તિક કહ્યા કરશો તો તેઓ—અતિ પ્રજા તમારી પાસે આવશે ખરી? રસ્તો એક જ છે. ધાર્મિક જ્ઞાનપ્રચાર માટે તેની વ્યવસ્થા કરો, શમ કરો. સાધુઓના સમ્બન્ધમાં અભ્યાસે તેમ બધે તેવા આધાર્મિકોને ન પોષો.



સં. ૧૯૮૫ના પોષ સુદિની શરૂઆતમાં આચાર્યશ્રી ખંભાતથી નજીકના ભરૂચ પધાર્યા. ત્યાંથી મહા સુદિ ૫-૬ના દિને કાવીતીર્થમાં ભવ્ય પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ કરાવ્યો. અહીં સમાજ ઉત્થાન અને જૈનધર્મ પ્રચારનો કાર્ય પાઠશાળા વગેરે શરૂ કર્યાં. મહા વદિ સાતમના દિવસે સુરતીના સંઘે આચાર્યશ્રીનું સ્વાગત કર્યું. આ પ્રસંગે વિશેષ વિનંતિ કરી મુંબઈના ગોડીજી સંઘના પ્રતિનિધિ મંડળે અહીં આવી મુંબઈમાં ચોમાસું કરવા વિનંતિ કરી. આચાર્યશ્રીએ તેનો સ્વીકાર કર્યો. કાવીતીર્થમાંથી વિહાર કરી ડભોઈ થઈ મીઆગામ અને ત્યાંથી નવસારી પધાર્યા. ત્યાં પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ કરી શહેરનો પ્રવેશ સાર્થ કર્યો. અહીંથી આચાર્યશ્રી સુરત પધાર્યા અને ગોપીપુરાના મોહનલાલજી મહારાજના ઉપાશ્રયમાં ઊતર્યા. ત્યાંથી વાપી થઈ ચોમાસા પધાર્યા. પન્યાસ શ્રી જિનવિજયજી વગેરેની સાથે અહીં આવ્યા. સં. ૧૯૮૫ના જેઠ સુદિ સાતમે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં આચાર્યશ્રી પધાર્યા. આગમના દિને પૂ. આગમોદ્ધારક મહારાજની હાજરી હતી. આચાર્યશ્રીએ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં અપૂર્વ આનંદ, પ્રેમ અને ધર્મભાવના જોઈ ખૂબ આનંદ થયો અને પોતાની એક અપૂર્વ મહત્ત્વાકાંક્ષા પૂર્ણ સ્વરૂપે ફળેલી જોઈ એમના હૈયામાં આનંદ આનંદ થઈ ગયો. જેઠ સુદિ દશમના દિને મુંબઈએ આચાર્યશ્રીનું શાહી સ્વાગત કર્યું. સં. ૧૯૮૫નું મુંબઈ ખાતેનું ચાતુર્માસ ગોડીજીના ઉપાશ્રયમાં. જૈનસમાજની વર્તમાન પરિસ્થિતિ, જ્ઞાનપ્રચારની આવશ્યકતા, સમાજવ્યવસ્થાની દરેક વાત, સાધુ સાધર્મી વાત્સલ્ય, શિક્ષણપ્રચારની વગેરે વિષયો ઉપર પ્રભાવશાળી પ્રવચનો થયાં. ચાતુર્માસ પછી આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી એક કમિટી બનાવીને શ્રી જૈન એજ્યુકેશન બોર્ડને કાયમી ધોરણે સહાયતા કરી. અહીં અમુક વર્ગનો વિરોધ છતાં આચાર્યશ્રીનો જવાબ સ્પષ્ટ હતો: સમાજ જ એક છે. વિરોધથી કંઈ બગડવાનું નથી. જેનું મન ? હોય તે કરે. બધા આક્ષેપો કરવાની કશી જ જરૂર નથી. શાંતિ રાખવી એ જ આપણો ધર્મ. વિરોધી પક્ષના હાથને છતાયા કરવાનું જેનું અભિમાન હોય બીજું એમ નથી. ક્લેશ ન રાખીએ તો આપણો કોઈ વિરોધી નથી. શક્તિ અને સમાજ આપણે છીએ.

મુંબઈથી વિહાર કરી પાલઘર, વાપી વગેરે સ્થળોએ થઈ આચાર્યશ્રી ભરૂચ અને સુરત સંઘની વિનંતિનું પાલન કર્યું—ત્યાર પછી જ સુરતમાં પ્રવેશ કર્યો, અહીં સં. ૧૯૮૬નો ચાતુર્માસ દરમ્યાન આધુનિક શિક્ષણ સંસ્થાઓની આવશ્યકતા સમજાવી. શ્રીસંઘની વિનંતિથી ઉપધાન અનુષ્ઠાન ખૂબ જ ધામધૂમથી અને શુભ ક્રિયા કરાવ્યા. શ્રી આત્માનંદ જૈન લાયબ્રેરીની સ્થાપના થઈ. ત્યાંથી વિહાર કરી તલેગામ, દમણ, અમદાવાદ થઈ મેરા પધાર્યા અને ત્યાં પ્રતિષ્ઠા કરાવી. ઇતિહાસની આકર ગુફાઓ જોઈ ઐતિહાસિક આબોહવા વિહાર કરી આચાર્યશ્રીએ અન્તરિક્ષજી પાર્શ્વનાથની યાત્રા કરી ત્યાં ધર્મશાળા નિર્માણની પ્રેરણા કરી. ધર્મશાળા માટે પ્રેરણા આપી બાલાપુર પધાર્યા અને ત્યાં સંવત ૧૯૮૭નું ચાતુર્માસ કર્યું. આચાર્ય શ્રી વિદ્યાવિજયજી મહારાજ તેમજ મુનિઓને આચાર્યશ્રીએ આજ્ઞા આપી. ત્યાંથી સંવત ૧૯૮૮ના પોષ માસમાં વિહાર કરી ખાનદેશ આદિ થઈ પાલનપુર પધાર્યા.

બુરાનપુરના સઘનો કુસપ દૂર કરાવ્યો માતાપુત્ર વચ્ચેનો ઝઘડો દરમિયાનગિરી કરી દૂર કરાવ્યો ત્યાથી વિહાર કરી માડવગઢ થઈ, શાતિનાથ પ્રભુની યાત્રા કરી, આચાર્યશ્રી ધારમા પધાર્યા ત્યાથી આશપુર તરફ વિહાર કરી ભોવાપર તીર્થમા બાર ફૂટની શ્રી શાતિનાથ પ્રભુની કાયોત્સર્ગમા ઊભી ભવ્ય મૂર્તિના દર્શન કરી પટલાવદ થઈ રતલામના આગ્રહથી ત્યા ગયા ત્યાથી સૈલાના, વાસનડા આદિ થઈ આશપુર પધાર્યા પાટણથી વિદ્વાન મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી મુનિશ્રી પ્રભાવિજયજી, મુનિશ્રી રામવિજયજી આદિ આણુ કેશરિયાજીની યાત્રા કરી આશપુર આ... ત્યાથી ભકોડા ગામમા થઈ કેશરિયાજી પધાર્યા શ્રી મહાવીરજયતી તેમ... ...પુર પધાર્યા અહીંયા મહારાણાને જૈનધર્મનુ રહસ્ય સમજા... ...ચાર્યશ્રી વરકાણાજી પધાર્યા ત્યાથી ચાદરાઈ ફવરાડા થ... ...મદિરના પ્રતિષ્ઠા કરી પાઠ વરકાણા થઈ ચાતુર્માસ ... ...કર્યું

આતરિક અશાતિ દૂર ક... ...ના વદિ ૯, રવિવાર તા૦ ૨૩-૧૦-૧૯૨૨ના રોજ આત્મા... ...ા સ્વભાવનો સરસ ખ્યાલ આપી જાય છે આ નિવેદનમા તેમણે ... ...ક પર્વ નિમિત્તે આત્મવિચારણા કરતા સઘ અને શાસન પરત્વે કેટલાક વિચા... ...ા ભાગ—જે ભાગ પોતાના આત્મા અને સઘ સાથે સબધ ધરાવે છે તેટલો ભાગ—સઘ સમ... ...જે તેમા કોઈને સમભાવ અને સત્ય દેખાય તો તેના પર વિચાર કરે

"આજકાલ આપણા જૈન સઘમા કલેશ અને કકાસનુ વાતાવરણ ચોમેર ફેલાઈ રહ્યુ છે અને તે દિનસે દિનસે ઉગ્ર બનતુ જાય છે દરેક પક્ષકાર સામા પક્ષ ઉપર બધો દોષ નાખવા પ્રયત્ન કરે છે સામો પક્ષ પણ એ જ કાદવ ઉડાડતો હોય છે પરિણામે કોઈ પોતાના દોષ તરફ અને બીજાના ગુણ પરત્વે લક્ષ આપતુ નથી સઘના કેટલાક આગેવાનો મને પણ કહે છે કે સઘમા શાતિ સ્થાપવી જોઈએ, અને આપ આ કલેશો દૂર કરવા કઈ કરો

"ધર્માત્મા અને સરળ ચિત્તવાળા આવા ભાઈઓની વાત ઉપર હું વિચાર કરુ છુ ત્યારે છેવટે મને એમ લાગે છે કે આ બાબતમા હું મારા આત્મનિવેદન સિવાય કઈ કરી શકુ તેમ નથી કોઈનો સૌના ઉપર અધિકાર ચાલતો નથી, તેમ સૌ એક સ્વભાવના હોઈ શકે નહિ તેથી મને મારા પોતાના વિશે કાઈ કરી શકવાનો કે કહેવાનો હક રહે છે જૈન સઘમા વર્તતા કે વધતા કોઈ પણ જાતના કલેશમા હું નિમિત્ત થતો હોઉં એ મારી જાણમા આવતું નથી પ્રયત્ન તો એ વિશે હોય જ ક્યાથી? તેમ છતા એવો પણ સભવ છે કે જે વસ્તુ મારા લક્ષમા ન હોય કે ન આવતી હોય તે બીજાઓના લક્ષમા આવે કે આવતી હોય છે તેથી આ બાબતમા મને એક જ માર્ગ સૂઝે છે, અને તે કોઈ પણ રીતે નુકસાનકારક નથી કદાચ તે બીજાઓને પણ અનુકરણ કરવા જેવો બને તે માર્ગ આ છે

'ન્યાયાભોનિધિ જગદ્‌વિખ્યાત પરમ ગુરુદેવ ૧૦૦૮ શ્રી વિજયાનદસૂરીશ્વરજીના હસ્તે દીક્ષિત અને અમારા સઘાડામા અતિ માન્ય વયોવૃદ્ધ એવા બે મુનિવરો છે, જેમને હું પૂજ્ય ગણુ છુ અને જેમના માટે જૈન સઘના મોટામા મોટા ભાગને આદરમાન છે તે બે પ્રવર્તક શ્રી કાતિવિજયજી અને શાતમૂર્તિ શ્રી હસવિજયજી મહારાજ છે આ બે સિવાય વિદ્વાન, પ્રતિભાસપન્ન અને પ્રભાવશાળી આચાર્યશ્રી વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી મહારાજ અને શ્રી વિજયનીતિસૂરીશ્વરજી મહારાજ છે કે જેઓ તદ્દન નિષ્પક્ષ અને કોઈનાય પ્રભાવથી અજાય તેવા નથી આ ચાર સ્થવિરોને હું મારા તરફથી વિનવુ છુ કે તેઓ એકત્ર મળીને અગર પત્રવ્યવહાર કરીને જો હું કઈ ભૂલ કરતો હોઉં તો તે વિશે વિચાર ચલાવે તેમના

એ વિચારના પરિણામે આ સર્વ કમિટીની નામાવલીમાં એ કોઈ ભારી ભૂલ દેખાય તો તેઓ મને સુધારે.

મીટિંગને હું ખાતરી આપું છું કે હું આ સ્થવિરોની એકમતિથી કે બહુમતિથી પણ જે મને ભારી કોઈ પણ આજ્ઞા જણાવવામાં આવશે તો હું તેના પર શ્રદ્ધા અને ઉદારતાપૂર્વક વિચાર કરીશ, અને એ એ ખાતરી થશે તો તેનો ખુશીખુશીથી સ્વીકાર હું કરીશ. એટલું જ નહિ પણ મારા તરફથી એને દૂર કરવા હું બનતું કરીશ. હું સમજુ છું કે, પરિમિત શક્તિવાળો કોઈ વ્યક્તિ—પછી તે ભલે આચાર્ય હોય—સમાજ સાથે પૂરતો આપી વધારે શું કરી શકે? આથી હું તો મારા પોતાથી બનતી શાસનસેવા અને સદા હિત સાથે શાસન સેવા સાધું છું અને સાધતો રહીશ એમાં કોઈને કોઈ કહેવાપણું નહિ રહે.

જેસલમેર સંઘના આગ્રહની નેમથી ચાતુર્માસ પૂરું થતાં આચાર્યશ્રી રાધનપુરની યાત્રાએ ગયા અને ત્યાંથી પાછા વળતાં, ખીવાઈ થઈ, લોદ્રવપુર પાર્શ્વ ભીડભંજન તીર્થ થઈ, ઓસિયા થઈ આચાર્યશ્રી ફલોધિ પધાર્યા અને સંઘપતિ શેઠશ્રી પન્નાલાલજી સાથે જેસલમેરની યાત્રાએ ગયા. જેસલમેરના પ્રાચીન મંદિરો અને અદ્વિતીય જ્ઞાનભંડારોનો આચાર્યશ્રીએ લાભ મેળવ્યો. જેસલમેરથી બાડમેર તરફ વિહાર કરી, નાકોડા તીર્થની યાત્રા કરી, બાલોતરા થઈ, વાલોર પધાર્યા. ત્યાં દર્શન કરી, જાલોર, ગુડા, બાલોતરા આદિ થઈ આચાર્યશ્રી ઉમેદપુરમાં પધાર્યા. ત્યાંથી વિહાર કરી સાંડેરાવમાં આચાર્યશ્રી ગયા. અહીં એક વર્ષથી બે તડાઓ પડ્યા હતા અને એની ધાર્મિક કાર્યો પર અસર પડતી હતી અને પક્ષોને સમજાવી આચાર્યશ્રીએ ઐક્ય આપ્યો. ત્યાંથી શિવગંજ પ્રતિ ગમન કર્યું. ત્યાંથી વિહાર કરી બામણવાડજી તીર્થે આવ્યા. અહીં પોરવાડ સંમેલન ભર્યું. અહીંથી ચાર કલાકની માનવ મેદની સમક્ષ શ્રેષ્ઠ પ્રવચન કરી સામાજિક સ્થિતિનો અનુરોધ કર્યો. પોરવાડ સંમેલનમાં આચાર્યશ્રીએ કહ્યું કે, જન સમાજની નીચે સુખશાંતિનું નીર વહેતું હોય તો તે ક્ષેત્ર જરૂર નવપલ્લવિત બને. સમાજની અસમાનતાઓ તપાસો. ? ભારતની સંસ્થાઓમાં શિક્ષણનો પ્રચાર ન હોવાથી તેમની શું સ્થિતિ છે તે તપાસો. આ પ્રસંગે શાન્તમૂર્તિ શ્રી હંસવિજયજી મહારાજે રત્નપ્રભસૂરિ આદિ પૂર્વાચાર્યોનો ઇતિહાસ આપી શ્રેષ્ઠ પ્રવચન કર્યું. પોરવાડ સંમેલને શિક્ષણ અંગે, પણ પાઘડીના જનાનખાનાઓ બંધ કરવા અંગે, કન્યાવિક્રય બંધ કરવા અંગે, તેમજ વૃદ્ધલગ્ન અને બાળલગ્ન બંધ કરવા અંગે ઠરાવો કર્યાં. ઓસવાલોની પણ જાહેર સભા થઈ. મારવાડમાં આથી સારી જાગૃતિ આવી. સંમેલને આચાર્યશ્રીને, યોગીરાજ શ્રી વિજયશાન્તિસૂરીશ્વરજીને અને પન્યાસ લલિતવિજયજીને વિનંતિ પત્ર અર્પણ કર્યાં. આબુની તીર્થયાત્રાઓ કરી આચાર્યશ્રી પાલનપુર પધાર્યા. ત્યાંથી પાટણ ગયા છે. આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઉજવી. આનંદના જૈન સમાજની એકતા માટે ભૂમિકા રચી. આચાર્યશ્રી ફરીથી પાલનપુર આવ્યા. ત્યાં ઉપધાન કરાવ્યાં. સં. ૧૯૮૯નું ચોમાસું અહીં કર્યું. પાલનપુરથી આગળ વિહાર કરી સં. ૧૯૯૦ના ફાગણ વદિ એકમના દિવસે પાલીતાણા પધાર્યા. ત્યાં શ્રી મૂલચંદજી મહારાજની જયંતી ઉજવી, યાત્રા કરી અમદાવાદના સંઘના આગ્રહથી આ મુનિસંમેલન એવા વિષય પર ભાવિક ગમન કર્યું. ત્યાંથી વડોદરા આવ્યા. આચાર્યશ્રીને મુનિ સંમેલન માટે વિનંતિ કરવા અમદાવાદના નગરશેઠ શ્રી કસ્તુરભાઈ આવ્યા. આ પછી આચાર્યશ્રીએ ત્યાંથી વિહાર કર્યો. બોરસદ, ખંભાત શહેર અને ખંભાત કે જ્યાં આચાર્યશ્રી પધાર્યા ત્યાંથી વિરમગામ, ભોયણી થઈ પાલનપુર પધાર્યા. ત્યાં ઉજમણામાં જનતાને નવી પ્રેરણા આપી. પાલનપુરમાં જૈન સ્નાત્રમંડળ શરૂ થયું.

• • •

પાલનપુરથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી પાટણ પધાર્યા. ત્યાં શાન્તમૂર્તિ મુનિવર શ્રી હંસવિજયજી મહારાજની અસ્વસ્થ તબિયત જોઈ ચિંતા થઈ પણ શ્રી હંસવિજયજીએ મુનિ સંમેલનમાં જવાનો

આચાર્યશ્રીને અનુરોધ કર્યા આથી આચાર્યશ્રીએ વિહાર કર્યા પેથાપુર પાસે રાંધેજા ગામમાં મુનિશ્રી હંસવિજયજીના કાળધર્મના સમાચાર મળ્યા સાધુ-સંઘ સમેલનમાં ઉત્સાહ ઘણો હતો વાતાવરણમાં નવી ચમક હતી સાગયે હિંદની સમેલન પર નજર હતી પણ કાર્યપ્રણાલીનો ખ્યાલ ન આવતા મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજીએ દહેગામમાં આચાર્યો મુનિવરોનું એક નાનું સમેલન બોલાવવાનો પ્રયાસ કર્યો સં૦ ૧૯૯૦ના ફાગણ શુદિ અગિયારસના રોજ દહેગામમાં આ સમેલન થયું એ... તમાં આચાર્યશ્રી વિજયનીતિસૂરીશ્વરજી તથા મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજીએ ઉલટભેર ભાગ લીધા ... ...શ્રી આચાર્યશ્રીએ ફાગણ વદિ ત્રીજે અમદાવાદમાં પ્રવેશ કર્યા અને ઉ...

સં૦ ૧૯૯૦ના ફાગણ વદિ ત્રી... ...ાયકો, આચાર્યો, ઉપાધ્યાયો, સાધુઓ એક સાથે મ... ...અધ્યક્ષ હતું નહિ અને સર્વ સમતિથી કામ થયું

શરૂઆતમાં પરસ્પર આક્ષેપો, ...ને પ્રયત્ન થયો પહેલા બોતેર મુનિ મહારાજોની સ... ...ાઈ, પછી ચારની સમિતિ રચાઈ અને છેવટે આચાર્યશ્રી ... ...સિદ્ધિસૂરિજી, આચાર્યશ્રી સાગરાનંદસૂરિજી, આચાર્યશ્રી વિજયવલ્લભસ... ...નીતિસૂરિજી, આચાર્યશ્રી વિજયદાનસૂરિજી, આચાર્યશ્રી જયસૂરિજી, આચાર્યશ્રી ... અને મુનિરાજ શ્રીસાગરચંદજી એમ નવની સમિતિ નિર્ણય કરવા માટે નીમવામાં આવી આ સમેલનમાં અનેક પ્રકારના નિર્ણયો થયા, પરંતુ તેનો પૂર્ણ અમલ થયા નહિ જો આ નિર્ણયો અમલમાં મુકાયા હોત તો આજે જૈન સંઘની જુદી દશા હોત !

સમેલન પ્રસંગે આચાર્યશ્રી વિજયદાનસૂરીશ્વરજીના સૂચનથી વર્ષો બાદ પં૦ આત્મારામજી મહારાજના સઘાડાના સાધુઓ મહત્ત્વની મંત્રણા માટે વિદ્યાશાળામાં મળ્યા વર્ષો બાદ શ્રી વિજયદાન સૂરિજીને આચાર્યશ્રી વિજયવલ્લભસૂરિજી મળ્યા, પણ મતભેદોની ગાંઠ ન ઉકલી શકી અને એ અવસર ગયો તે ગયો જૈન સંઘનું એકતાનું સ્વપ્ન ભગ્ન અવસ્થામાં રહ્યું ભાવિ ભાવે થવાનું હતું તે થયું !

આચાર્ય શ્રીવિજયનેમિસૂરીશ્વરજીના આગ્રહથી સેરીસાની યાત્રા માટે અમદાવાદથી ચૈત્ર વદિ આઠમના રોજ આચાર્યશ્રીએ વિહાર કર્યો સેરીસા તીર્થમાં બંને મહામુનિઓએ સંઘના અનેક પ્રશ્નો ઉપર વિચારોની આપ લે કરી એક જ મકાનમાં સ્થિરતા કરી આ પછી જૈન આગેવાનોના આગ્રહથી આચાર્યશ્રી, આચાર્યશ્રી નેમિસૂરીશ્વરજી સાથે, પાનસર ગયા અને બંને મહામુનિઓ ત્યાંથી છૂટા પડ્યા અને ત્યાંથી આચાર્યશ્રી અમદાવાદ આવ્યા વડોદરા, ડભોઈ થઈ લોઢણ પાર્શ્વનાથ ભગવાનની પ્રતિષ્ઠા કરી અમદાવાદ પધાર્યા અહીં પં૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઉજવી સં૦ ૧૯૯૦નું ચોમાસું અમદાવાદમાં કર્યું

ચોમાસું પુરુ થતા બારેજા થઈ આચાર્યશ્રી મહેમદાવાદ થઈ, કપડવંજ પધાર્યા ત્યાં ત્રણ બહેનોને દીક્ષા આપી, વડોદરા શહેર પાવન કર્યું અહીં પૂ૦ મૂળચંદજી મહારાજની જયંતી ઉજવી, વિહાર કરી મીઆગામ, પાલેજ આદિ થઈ ભરૂચ, અંકલેશ્વર, સૂરત થઈ ત્યાંથી નવસારી, બીલીમોરા, વલસાડ થઈ આચાર્યશ્રી મુંબઈ પધાર્યા સૂરતમાં સં૦ ૧૯૯૧ના પોષ વદિમાં ત્રણ જાહેર વ્યાખ્યાનો થયા હતા, ભરૂચમાં વેજલપુરના ભાઈઓનો ઝગડો દૂર થયો હતો મુંબઈએ સં૦ ૧૯૯૧ના મહા શુદિ પાંચમના દિવસે આચાર્યશ્રીનું સુંદર સામૈયુ કર્યું, અને મહા શુદિ દશમે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં પ્રતિષ્ઠા-મહોત્સવ

પ્રસંગે પ્રતિષ્ઠા-મહોત્સવ અને કેળવણી પર સુંદર પ્રવચન કરતાં આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું હતું કે સમગ્ર વિશ્વમાં વિવિધ નામથી આ વિધિ આજના જમાનામાં પ્રચલિત છે. પ્રતિષ્ઠા જૈન અને જૈનેતર બંનેની હાલ છે. આપણે જોઈએ અને નજીકમાં જોઈએ તો દુનિયામાં બધા વ્યક્તિઓ માનવીય બનેલી છે. તે કોઈ ને કોઈ કામ કે અવસરને લીધે જ હોય છે. આપણે એ પણ જોઈએ છીએ કે નવા મકાન અને પ્રસંગના મહત્ત્વો વગેરેની પ્રતિષ્ઠા કરે છે. નવા મકાનની પ્રતિષ્ઠા, દુકાનની પ્રતિષ્ઠા, રેલવે એન્જિનની પ્રતિષ્ઠા પણ થાય છે. આ બધું ઇનોગરેશન, 'ઇનોગરેશન' ઓપનિંગ સેરીમની વગેરે વિવિધ નામોથી ઓળખાય છે. આપણે જે મૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા કરીએ છીએ એની પાછળની ભાવના આપણી ઉન્નતિ અને ઉત્કર્ષનાં કારણરૂપ બને છે. ભગવાનને કોઈ પણ જાતનો સ્વાર્થ આપ્યા વિના દેવ [illegible] આપણે ૧૬ [illegible] શકતા નથી. ભલે તો એમ જ માનવું છે કે દરેક વ્યક્તિ એક વા બીજા રૂપમાં મૂર્તિપૂજક છે.

કેળવણીનો ઉલ્લેખ કરીને આચાર્યશ્રીએ કહ્યું કે, સમાજના સત્કાર્યોમાં અનેક વાતો ચાલે છે પણ એનો ઉદ્દેશ સ્પષ્ટ છે. વ્યાવહારિક અને આધ્યાત્મિક અને કેળવણી માણસના વિકાસ માટે હોવી જોઈએ. આધ્યાત્મિક કેળવણીનું સ્થાન પણ અને સાથે ઘણું મહત્ત્વ છે. તેના વિના વ્યાવહારિક કેળવણી અધૂરી ગણાય છે. જે કેળવણી નીતિમત્તા ન બતાવે, ઉન્નત આત્મકલ્યાણની પ્રેરણા ન આપે, વર્ણભેદ, દેશભેદ આદિ પ્રશ્નો પર વિચાર કરતા ન કરી શકે, તે સાચી કેળવણીથી દૂર છે."

આ ચાતુર્માસમાં મુંબઈમાં કોટ, ભાયખલા વગેરેના ઉપાશ્રયે આચાર્યશ્રીએ અનેક પ્રવચનો કર્યાં. શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયને સારી મદદ મળી અને શ્રી આત્મારામજી જૈન સભાની ૬૦ પણ સારા પ્રમાણમાં થઈ ગઈ. ચાતુર્માસ પછી ગુરુ આત્મારામજી મહારાજની ચાલીસમી પુણ્યતિથિ તા. ૬-૬-૧૯૩૫, સં. ૧૯૯૧ના જેઠ સુદિ આઠમના રોજ વિશેષ ધામધૂમથી ઉજવાઈ હતી. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ વ્યાવહારિક સાથે ધાર્મિક કેળવણીની યોજનાનો વિચાર કરવાનું અને [illegible] અનેનું પોતાનું સ્થાન સ્થિર કરી જૈનોની એકતા ઉપર ભાર મૂક્યો હતો. જૈન વિદ્યાલયનો ઉત્સવ પણ [illegible] ઉજવાયો હતો. તેમ જ ભાદરવા સુદિ ૧૧ના દિવસે શ્રીવિજયાનંદસૂરીશ્વરજીની જયંતી ઉજવાઈ હતી. આ પ્રસંગે પં. લાલન, શ્રીયુત મોતીચંદ કાપડીઆ, વગેરેએ પ્રવચનો કર્યાં હતાં. સં. ૧૯૯૨ના કારતક સુદિ ૧૧ ને બુધવારે ગોડીજીના ઉપાશ્રયમાં સભાની અને આપણી ફરજ ઉપર આચાર્યશ્રીએ પ્રવચન કર્યું હતું. મુંબઈમાં આવા બીજા પણ પ્રવચનો થયાં હતાં.

મુંબઈથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી સં. ૧૯૯૨ના પોષ સુદિ ૧૦મે સુરત પધાર્યા. આ સભાની પર પ્રવચન કરી વિહાર કર્યો. [illegible] અને [illegible] આવે પૂ. આચાર્ય [illegible] મહારાજના શિષ્ય શ્રી [illegible] મુલાકાત લીધી, અનેક ગામોમાં વિહાર કરી, વડોદરા પધાર્યા. વડોદરામાં તા. ૭-૨-૧૯૩૬ના સોમવારે આચાર્યશ્રીએ શ્રીમન્ત સયાજીરાવ ગાયકવાડ સાથે ધર્મ વિષયક [illegible] ઉપર વાર્તાલાપ કર્યો. ત્યાંથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી અમદાવાદ આવ્યા. ફાગણ સુદિ બારસના દિવસે આચાર્યશ્રી વડોદરા પાછા આવ્યા. પૂ. આત્મારામજી મહારાજનો શતાબ્દી મહોત્સવ અનેરા ઉત્સાહથી વડોદરામાં થયો. પંજાબથી અનેક ભાવિકો આ પ્રસંગે આવ્યા હતા. આ પ્રસંગોની ઉજવણી અને [illegible] દૂર કરવા માટે નિવેદન શ્રી [illegible] મહારાજે અમદાવાદથી કર્યું હતું. આચાર્યશ્રીએ પણ [illegible] પત્રો લખ્યા. શતાબ્દીમાં પંજાબ શ્રી[illegible] મુનિશ્રી [illegible] શ્રી [illegible] શાસ્ત્રી, પં. [illegible] પં. [illegible] વગેરેએ પણ વિચારપૂર્ણ

મંગલ ઉદ્‌બોધનો કર્યાં ત્રણ દિવસ ઉત્સાહથી શતાબ્દી-જયંતી ઊજવાઈ પાટણમાં પણ પ્રવર્તક શ્રી કાન્તિવિજયજીના અધ્યક્ષપણા નીચે શતાબ્દી-મહોત્સવ ઊજવાયો એમાં મુનિશ્રી જિનવિજયજી, મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી, પં૦ સુખલાલજી વગેરેએ પ્રવચનો કર્યાં સાદડીમાં આચાર્યશ્રી વિજયલબ્ધિસૂરીશ્વરજીની દોરવણી નીચે શતાબ્દી ઊજવાઈ મુનિશ્રી વિદ્યાવિજયજી, મુનિશ્રી ભુવનવિજયજી, મુનિશ્રી દર્શનવિજયજી, મુનિશ્રી હિમાંશુવિજયજી વગેરેના પ્રેરક પ્રવચનો થયાં સારાયે પંજાબમાં તેમ જ મુંબઈ, સૂરત અને અમદાવાદ તેમ જ ઠેરઠેર શતાબ્દી ઊજવાઈ

વડોદરાથી આચાર્યશ્રી મિયાગામ પધાર્યા અને [illegible] ...ાખ શુદિ છઠ્ઠના રોજ પં૦ શ્રી લલિતવિજયજી, અને પં૦ શ્રી [illegible] ...શિષ્ય) ને આચાર્યની પદવી આપી, અને મુનિશ્રી વિવેકવિ[illegible] ...માં અને મુનિરાજ શ્રી સુમતિવિજયજી મહારાજ [illegible] ...ની પદવી આપવા આજ્ઞા મોકલી મીઆગામ પ[illegible] આચાર્યની પદવી અને એમના શિષ્ય પં૦ મુનિશ્રી પ્રેમવિ[illegible] ...૧૯૯૨ના ચોમાસા દરમિયાન વડોદરાના ઉપાશ્રયના ઉદ્ધાર [illegible] ...વિજયજીની જયંતી પણ સારી રીતે ઊજવાઈ પંડિત લાલનને [illegible] ...વ્યાખ્યાનિ... [illegible] આપી આ પ્રસંગે વડોદરામાં ઉપધાન થયાં કાર્તિક વ[illegible] બીજે દિવસે માળ-પ્રદાન વિધિ થઈ

વડોદરાથી વિહાર કરી લગભગ વીસ વર્ષના ગાળા બાદ આચાર્યશ્રી ખંભા[illegible] ...માં સારો ઉત્સાહ હતો ખંભાતના ભંડારોની વ્યવસ્થા તથા માંડવીની પોળના [illegible] માટે આચાર્યશ્રીએ પ્રેરણા આપી, અને દીવાનશ્રી કે૦ કે૦ ઠાકોરના અધ્યક્ષપણા નીચે [illegible] જયંતી ઊજવી સં૦ ૧૯૯૩નું ચોમાસું આચાર્યશ્રીએ ખંભાત ખાતે કર્યું સં૦ ૧૯૯૩ના ભ[illegible] સુદિ ૧ના દિવસે વડોદરા ખાતે વિદ્વાન મુનિરાજ શ્રી ચરણવિજયજી કાળધર્મ પામ્યા આચાર્યશ્રીને આથી ભારે ખોટ પડી ખંભાતના ચાતુર્માસમાં શ્રીઋષભદેવની માંડવીની પોળમાં પ્રતિષ્ઠા કરી

ચોમાસા બાદ ખંભાતથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી સોજિત્રા, માતર વગેરે સ્થળે થઈ અમદાવાદ પધાર્યા અને ત્યાં પ્રવચન કરી શેરીસા, ભોયણી, શંખેશ્વરજી વગેરે તીર્થોની યાત્રા કરીને રાધનપુર પધાર્યા રાધનપુરના સંઘે આચાર્યશ્રીનું સુંદર સ્વાગત કર્યું આ પ્રસંગે શેઠ ઈશ્વરલાલ અમુલખરાય જૈન બોર્ડિંગનું ઉદ્‌ઘાટન થયું રાધનપુરનો ઉત્સાહ આ વખતે અપૂર્વ હતો અને ગામોગામના જૈન આગેવાનો હાજર હતા આચાર્યશ્રીના નેતૃત્વ નીચે અટ્ટાઈ મહોત્સવ, રથયાત્રા, શાંતિસ્નાત્ર, સાધર્મિક-વાત્સલ્ય વગેરે થયાં

રાધનપુરનો ઉત્સવ પતાવી આચાર્યશ્રી પાટણ પધાર્યા પાટણે એમનું ભવ્ય સ્વાગત કર્યું પાટણમાં પોળે પોળે પ્રવચનો કરી પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી, મુનિશ્રી ચતુરવિજયજી તથા મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીના કાર્યની અનુમોદના કરતાં જ્ઞાનમંદિર માટે ફંડની શરૂઆત કરાવી પાટણની જનતાએ પૂર્ણ ઉલ્લાસથી સાથ આપ્યો શ્રી હેમચંદભાઈ મોહનલાલે જ્ઞાનમંદિરનું ભવ્ય મકાન બંધાવી આપ્યું અને હેમ-સારસ્વતસત્ર ઊજવાયું

પાટણથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી ચારૂપ મેત્રાણા થઈ પાલણપુર પધાર્યા અને ત્યાં ત્રણેક દિવસ રોકાયા પાલણપુરના નવાબે આચાર્યશ્રીની મુલાકાત લીધી ત્યાંથી કુંભારીઆજી તીર્થની યાત્રા કરી અહીંથી માલણ, કુંભારીઆજી, ભારજા, રોહીડા, ધનારી, પીંડવાડા, નાણા, ચામુંડેરી, ભાકુંદ થઈ વિજાપુર, સેવાડી,

ખુડાલા, બાલી, રાણકપુર, સાદડી, નાણા, ... વગેરે વરકાણાના વિદ્યાર્થીઓને આશીર્વાદ આપી ભીનેસા વગેરે આગળથી ફાલના થઈ. ... ફાગણ સુદિ ૧૦ને રોજ મંગળ ... કરી, વિહાર કરી તખતગઢ-ગઢ થઈ લાખી આહોર આવે ... ત્યાંથી જાલોર, જોધપુર, બ્યાવર વગેરે આચાર્યશ્રીએ દિલ્હીમાં આગમન કર્યું. દિલ્હીમાં શ્રી આત્માનંદ જયંતીનો ઉત્સવ થયો અને વિદ્વાન ત્રિપુટી મુનિશ્રી દર્શનવિજયજી મુનિશ્રી જ્ઞાનવિજયજી અને મુનિશ્રી ન્યાયવિજયજી સાથે મેળાપ થયો. અહીંથી અંબાલા તરફ વિહાર શરૂ કર્યો. આચાર્યશ્રીએ ૧૯૯૪ના જેઠ વદિ સાતમ તા. ૨-૬-૧૯૩૮ના રોજ અંબાલા શહેરમાં પ્રવેશ કર્યો.

• • •

અંબાલામાં તથા મુનિમંડળનું સ્વાગત એક ભવ્ય જૈન સંઘના સરઘસમાં થયું. આ સમયે ગુરુભક્ત પ્રસ્તુતકાર્ય લાલા ... અંબાલાના ... શ્રી આત્માનંદ જૈન કૉલેજની ઉદ્ઘાટનવિધિ કરી. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું હતું કે પંજાબની પુણ્ય ભૂમિમાં ગુરુદેવના આ સ્મારકની ... જરૂર હતી ... જૈન ગુરુકુળ ... જૈન સાહિત્ય, જૈન તત્ત્વજ્ઞાન, જૈન ઇતિહાસ અને જૈન સાહિત્યના અભ્યાસીઓ તૈયાર કરવાની ભાવના સિદ્ધ થયેલી જોઈ ખરી ... છે ... શ્રદ્ધાંજલિ તો અનુપમ છે. લાલા ... શેઠ શ્રી પ્રસ્તુતકાર્ય ... પંજાબના ... સમારંભ ... થયું. ... વાલકેરીનું ઉદ્ઘાટન થયું.

આચાર્યશ્રીની દીક્ષાને પચાસ વર્ષ પૂર્ણ થયેલાં હોવાથી દીક્ષાપર્યાયની મહોત્સવ પંજાબ ... તરીકે ઉજવાયો હતો. ... ઉજવણીની ધર્મભાવનાઓ ... મુજબ તા. ૨૬-૬-૧૯૩૮ના દિને, તેમ જ ... શ્રી વિજયલલિતસૂરિજીના પ્રમુખપદે, મુનિશ્રી ... શ્રી ... પ્રમુખપદે ઉજવાયો હતો. ... શેઠ શ્રી ... મોતીલાલ તેમ જ બીજા અનેક આગેવાનોએ આચાર્યશ્રીના અનેક કાર્યોની પ્રશંસા કરી. આચાર્યશ્રીનું સં. ૧૯૯૪નું ચોમાસું અંબાલામાં પૂર્ણ થયું. એ સમય દરમ્યાન અનેક ... મહોત્સવો ઉજવાયા.

સં. ૧૯૯૫ના કારતક વદિ બીજના દિવસે અહીંથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી અંબાલા ... ત્યાંથી ... વદિ ... દિને ... નગરમાં પ્રવેશ કર્યો. ... સુદિ ... ના દિવસોમાં શ્રી આત્માનંદ જૈન મહાસભાનું ... વાર્ષિક અધિવેશન ... લાલા ... જેમના ... પ્રમુખપણા નીચે થયું. એમાં પંજાબમાં રચનાત્મક કાર્યો કરવા, સમાજ સંગઠન, ... શિક્ષણ માટે તેમ જ જૈન કાર્યોની ઉન્નતિ માટે આચાર્યશ્રીએ પ્રેરણા અને ઉપદેશ આપ્યો.

આ પછી આચાર્યશ્રીએ ... પ્રતિષ્ઠા કરી ... ત્યાર પછી આચાર્યશ્રી ... હોવાથી ... આ ઉત્સવ પ્રસંગે ... જૈન ધર્મનો ... પ્રચાર થયો. ... મુનિ મહારાજ શ્રી ... વગેરે ... હતા. ... કરી. આ પ્રસંગે મુનિશ્રી ન્યાયવિજયજીએ ... "... મુક્તિ" એ વિષય ઉપર તેમ જ બીજાઓએ પણ પ્રેરક પ્રવચનો કર્યાં.

... પ્રતિષ્ઠા બાદ આચાર્યશ્રી ... હરિદ્વાર, મેરઠ વગેરે ... વગેરે હસ્તિનાપુરની યાત્રા કરી, મુઝફ્ફરનગર, ... સહારનપુર, ... આદિ થઈ ... અંબાલા

પધાર્યા ત્યા શ્રી બુટેરાયજી મહારાજની સ્વર્ગવાસતિથિ તથા પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જન્મતિથિ ઊજવી રાજપુરા, પતિયાલા, સમાના થઈ સુનામ પધાર્યા ત્યાથી ચૌદ વર્ષ માલેરકોટલા પધારી કુસપ દૂર કરાવ્યો અને શ્રી આત્માનદ હાઈસ્કૂલ ફરી શરૂ કરાવી

માલેરકોટલાથી રાયકોટ આવી ત્યા આચાર્યશ્રીએ ધર્મપ્રેરણા આપી સ૦ ૧૯૯૫નુ ચાતુર્માસ રાયકોટમા કર્યું અહીં ૭ માસની સ્થિરતા દરમિયાન જિનમદિરની પ્રેરણા આપી અને અનેક જયતીઓ ઊજવી વિદાયસદેશો આપતા આચાર્યશ્રીએ કહ્યુ કે, "ભગવાનનો [illegible] પહોચાડવાનો અમારો ધર્મ અમે અદા કર્યો છે તમને પ્રિય અને હિતકર લાગે તો શ્રદ્ધા [illegible] તેના અમલ કરશો તો તમારુ જીવન સાર્થક થશે " રાયકોટની જનતાએ આચાર્યશ્રી [illegible]

રાયકોટથી વિહાર કરી ગ્રામાનુગ્રામ વિચરતા આચાર્યશ્રી [illegible] પ્રવર્તક શ્રી કાતિવિજયજીના શિષ્ય મુનિશ્રી ચતુરવિજયજી કાળધર્મ પામ્યાનો તાર [illegible] વ્યક્ત કરતો વળતો તાર કર્યો સ૦ ૧૯૯૫ના કારતક વદિ પાચમના [illegible]માં પ્રવેશ કર્યો અહીં સ્વામી શ્રી કૃષ્ણાનદજીને દીક્ષા આપી મુનિશ્રી વિશ્વવિજય [illegible] દીક્ષા આપી મુનિશ્રી વૃદ્ધિવિજયજી નામાભિધાન કર્યું ખાનગા ડોગરાનો કુ[illegible]વ્યો લુધિયાણાથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી વિવિધ ગામોમા વિચરતા હોશિયારપુ[illegible] નવદીક્ષિત સાધુઓની વડી દીક્ષા તથા શાતિસ્નાત્રના ઉત્સવો થયા અહીંથી લાલા ન[illegible]ની કાગડા તીર્થનો સઘ નીકળ્યો તીર્થના ઉદ્ધાર માટે ત્યા સમિતિ સ્થાઈ હોશિયારપુર પાછા [illegible] મહાવીરજયતી ઊજવી જલધરથી કર્તારપુર વિહાર કરી, ત્યાથી જડિયાલાગુરુ અને [illegible] અમૃતસર પધાર્યા ત્યાથી આચાર્યશ્રી લાહોર આવ્યા સોળ વર્ષે પધારતા સમસ્ત સઘે આચાર્યશ્રીનુ અદ્ભુત સ્વાગત કર્યું આ પછી આચાર્યશ્રી ગુજરાનવાલામા પધારતા જનતાએ તેમને ઉમળકાભેર આવકાર આપ્યો ગુરુદેવના સમાધિ-મદિરના દર્શન કર્યા જેઠ સુદિ આઠમના દિવસે ગુરુદેવ સ્વ૦ આચાર્યશ્રીજીની જયતી ઊજવવામા આવી સ૦ ૧૯૯૬નું ચાતુર્માસ આચાર્યશ્રીએ ગુજરાનવાલામા કર્યું અને સઘમા સારી તપશ્ચર્યા થઈ ગુજરાનવાલામા પ્રતાપજયતી, જગદ્ગુરુશ્રી હીરવિજયસૂરિજીની જયતી તેમ જ બીજી ઊજવણીઓ થઈ આચાર્યશ્રીનો ૭૧મો જન્મમહોત્સવ સ૦ ૧૯૯૭ના કારતક શુદિ બીજના દિને અનેક ઠેકાણે ઊજવાયો ગુજરાનવાલામા ત્રણ દિવસનો કાર્યક્રમ થયો વરકાણા, કરજાળુ, વગેરે ઠેકાણે પણ જયતી ઊજવાઈ શ્રી આત્માનદ જૈન મહાસભાનુ અધિવેશન પણ આ સમયે થયુ

* * *

ગુજરાનવાલાથી વિહાર કરી એક અઠવાડિયુ જેલમ રોકાઈ સિંગોઈ, ખુર્દપુર, દારાપુર, જલાલપુર, પીંડનવાલ થઈ આચાર્યશ્રી હીરણપુર ગયા ત્યાથી ભેરા થઈ ખાનગા ડોગરા ગયા અને મહા વદિ છઠ્ઠના દિને શાતિનાથ ભગવાનની પ્રતિષ્ઠા કરી ત્યાથી વિહાર કરી શિયાલકોટ પધાર્યા, જ્યા આચાર્યશ્રીનુ અપૂર્વ સ્વાગત થયું અહીં મહાવીરજયતી ઊજવી અને જૈનમદિર માટે વીસ હજાર રૂપિયા જોતજોતામા ભેગા થઈ ગયા

શિયાલકોટથી વિહાર કરી સચેતગઢ, નયા શહેર, મીરાસાહેબ થઈ આચાર્યશ્રી જમ્મુમા પધાર્યા ત્યાના વ્યાખ્યાનમા લોકોએ સારા પ્રમાણમા હાજરી આપી હતી ફરીદકોટના બે ભાઈઓનો કલેશ તેમણે શાત કર્યો જમ્મુએ અભિનદન-પત્ર આપ્યુ ત્યાથી આચાર્યશ્રી વિસના, હરિયાલ, નખનાલ, જફરવાળા, ધર્મચલ આદિ ગામોમા થઈ ધર્મોપદેશ કરતા કરતા સખતરા પધાર્યા સખતરામા લાલા અમીચદના બે પુત્રો લાલા દેવરાજ અને લાલા જ્ઞાનચદ વચ્ચેનો કુસપ ચમત્કારિક રીતે દૂર કરાવ્યો સખતરાથી વિહાર

કરી આચાર્યશ્રી જલાલપુર, નારંગ થઈ નારોવાલ પધાર્યા. અહીં આચાર્યશ્રીનું ભવ્ય સ્વાગત થયું. પૂ. આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી. ત્યાંથી વિહાર કરી, વિવિધ સંઘોને પ્રેરણા આપતા આચાર્યશ્રી ચતુર્માસ માટે સિયાલકોટ પધાર્યા અને જ્ઞાનાલયનો પ્રારંભ કરાવ્યો. સં. ૧૯૯૭ના ચતુર્માસમાં પર્યુષણની પછી સનાતન ધર્મ મંદિરમાં આચાર્યશ્રીએ પ્રવચન કર્યું. આસો સુદિ અગીઆરસના રોજ શ્રી હીરવિજયસૂરીશ્વરજીની જયંતી ઊજવાઈ.

આસો સુદિ બીજના આચાર્યશ્રીએ ૪૯ ઉપવાસનું તપ કર્યું. ત્યાંથી પછી એની સ્થાપના કરી. કારતક સુદિ બીજના દિવસે આચાર્યશ્રીનો ૭૨મો જન્મદિન ઊજવાયો. સં. ૧૯૯૮ના કાર્તિક સુદિ પૂર્ણિમાના દિવસે શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યની જયંતી ઊજવવામાં આવી. આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી ઘણા વગેરે સ્થળોએ ઊજવાઈ. સં. ૧૯૯૮ના માગશર સુદિ પાંચમના દિને શ્રી આત્માનંદ જૈન ગુરુ મંદિરનું ખાતમુહૂર્ત કરવામાં આવ્યું. એની વિધિ રાયસાહેબ લાલા કર્મચંદના હસ્તે થઈ. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ કહ્યું: "તમારા બધાના હૃદયમાં પરમાત્મા પ્રત્યેનો પ્રેમ ખૂબ છે તો જોઈએ. આત્મા વસ્તુ એક જ હોય પણ દૃષ્ટિભેદથી તે જુદી જુદી લાગે છે. જગતના તમામ મનુષ્યો કોઈ ને કોઈ રીતે મૂર્તિપૂજામાં માને છે. પછી આકારો ભલે જુદા જુદા હોય. તો પછી મોક્ષની પ્રાપ્તિ માટે મૂર્તિપૂજાના પ્રથમ પગથિયાની ઉપેક્ષા કેમ થઈ શકે? ઉચ્ચ તત્ત્વની ભાવના વિના જીવનનું પૂર્ણ ફળ લાભ નથી."

• • •

સિયાલકોટથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી ગુજરાનવાલા પધાર્યા. અહીં આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી ઘણાં હિંદુ મુસલમાનોએ માંસાહારનો ત્યાગ કર્યો. પીઢની ભક્તિથી આચાર્યશ્રીના ગુરુ ભક્ત થયા. સં. ૧૯૯૮ના મહા સુદિ પાંચમે ગુરુકુળનો વાર્ષિક ઉત્સવ ઊજવાયો. સુદિ આઠમના દિવસે પ્રતિષ્ઠા કરાવી. વિદ્યાર્થીઓના કોન્ફરન્સમાં આચાર્યશ્રીએ વિદ્યાર્થીઓના જીવન પ્રસંગો કહી સાત વ્યસનોના ત્યાગ વિશે આધ્યાત્મિક પ્રવચન કર્યું. ત્યાંથી વિહાર કરીને આચાર્યશ્રી લાહોર પધાર્યા. ત્યાંથી કસૂર, પટ્ટી થઈ ફિરોઝપુર છાવણી પધાર્યા. ત્યાંથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી ઝીરા પધાર્યા. ઝીરાનિવાસીઓએ અભિનંદનપત્ર આપ્યું. ગુરુદેવની જયંતી ઊજવી. ઝીરાની સંસ્થાઓને આત્માનંદ જૈન સ્કૂલ અને આત્માનંદ જૈન સ્ટોર જેવા નામ આપ્યાં. ઝીરા પાસે લહેરામાં પૂ. આત્મારામજી મહારાજની યાદમાં કીર્તિસ્થંભ બનાવવાનો નિર્ણય કર્યો. ઝીરાથી ધર્મકોટ થઈ. ત્યાં ભાર ભાઈઓ વચ્ચે સમાધાન કરાવી આચાર્યશ્રી મોગા થઈ રાયકોટ પધાર્યા. શ્રી મહાવીરસ્વામીની જયંતી ઊજવી. રાયકોટથી વિહાર કરી જગરાવાં પધાર્યા. આ પ્રસંગે ભાવિકોએ ભક્તિનો લાભ લીધો. અનુક્રમે વિહાર કરી, આચાર્યશ્રી વિજયવિદ્યાસૂરિજી અને મુનિશ્રી વિચારવિજયજીને મળ્યા. જગરાંવાના સ્વાગત સમયે જૈન સાધુઓએ પણ એમાં ભાગ લીધો હતો. જગરાંવાથી મોહીગઢ, મુલ્લાંપુર, સુનેત થઈ આચાર્યશ્રી લુધિયાણા પધાર્યા. ત્યાં પ્રવચન કરી લાડુવાલ, ફિલોર, કરતારપુર અને જાલંધર થઈ, હોશિયારપુર ગુરુદેવની જયંતી ઊજવી. ત્યાં વીસ દિવસની સ્થિરતા કરી આચાર્યશ્રીએ જેઠ સુદિ અગિયારસે જંડિયાલામાં પ્રવેશ કર્યો, ત્યાં આચાર્યશ્રીનું ભાવભીનું સ્વાગત કરીને અભિનંદન પત્ર એનાયત કર્યું.

• • •

સં. ૧૯૯૮ના અષાઢ સુદિ પાંચમના દિને જાહેર સભા થાય ત્યારે પૂજ્ય પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી મહારાજ પાટણ ખાતે કાળધર્મ પામ્યા. પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી મહારાજ આચાર્યશ્રીના ગુરુ ભ્રાતા અને મિત્ર હતા અને બંનેની વચ્ચે ઘણો નિકટનો સંબંધ હતો. આચાર્યશ્રીની પ્રગતિનું તેઓ પ્રેરક સાધન હતા. આચાર્યશ્રીએ પ્રવર્તકને અંજલિ આપતાં કહ્યું: "મારા માટે તો એ વડીલ, સલાહકાર અને સહાય

માર્ગદર્શક હતા ગુરુદેવ પછી તેઓનો મારા પર એવો અપૂર્વ પ્રેમ હતો કે તેનુ શબ્દોમા વર્ણન કરી શકાય તેમ નથી મારા જીવનમા સુખદુ ખના, મુશ્કેલીના અને ઉપાધિના અનેક નાનામોટા પ્રસગો બની ગયા પણ એ દરેક પ્રસગે—પછી હુ ગમે ત્યા હોઉ—ગુજરાતમા, મારવાડમા, પજાબમા કે દક્ષિણમા—પણ તેઓશ્રીની સલાહ હમેશા મળ્યા જ કરે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની સ્થાપનામા પણ પ્રવર્તકશ્રીનો અનન્ય હિસ્સો હતો પાટણના જ્ઞાનભડારો અને શાસ્ત્રગ્રથોના ઉદ્ધાર માટે કાર્ય કરીને અને એની પ્રેરણા આપીને પ્રવર્તકશ્રીએ ભારતીય પ્રાચીન સાહિત્ય અને જૈન સમાજની અનન્ય સેવા કરી છે" પટ્ટીમા પર્યુષણપર્વ નિર્વિઘ્ને ઉજવાયુ ત્યારબાદ શ્રી હીરવિજયસૂરિજીની જયતી ઉજવાઈ આ પ્રસગે શ્રી હરિશ્ચદ્રજીએ આચાર્યશ્રીને અજલિ આપતા કહ્યુ કે, "આચાર્યશ્રીની અમૃતવાણી સાભળતા અતરના ઊંડાણમા અજવાળુ લાધે છે અને આત્મા જાગ્રત બની જાય છે ગુરુદેવના વ્યાખ્યાનો બધા માટે કલ્યાણકારી છે તેમા સર્વ ધર્મનો સમન્વય થાય છે તેમા આત્માની ઉચ્ચતા અને મનુષ્યધર્મનુ સાર્થક્ય રહેલું છે નિષ્પક્ષપાતપણે હૃદયગમ થાય તે રીતે તેઓ આપણી સમક્ષ વસ્તુની રજૂ કરે છે"

આચાર્યશ્રીની ૭૩મી જયતી પટ્ટીમા ધામધૂમપૂર્વક ઉજવાઈ યુવાનવર્ગ 'આત્મવલ્લભ જૈન સેવક મડળ' નામની સસ્થા સ્થાપી આ સસ્થાએ આચાર્યશ્રીને અભિનદનપત્ર આપ્યુ બાબુ ગૌરીશકરજીએ પોતાના પરિવર્તનની કથા કહી આચાર્યશ્રીને અજલિ આપી પટ્ટીથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી કસુર પધાર્યા ત્યા પોષ શુદિ પૂનમના દિને શ્રીઆદીશ્વર પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા કરાવી નવીન ભરાવેલા જિનબિંબોની અજનશલાકા કરાવી આચાર્યશ્રી કસુરથી લુધિયાણા થઈ જીરા પધાર્યા જીરાના સઘનો મતભેદ દૂર કરાવ્યો સ્થળે સ્થળે વિહાર કરતા આચાર્યશ્રી રાયકોટ પધાર્યા ચૈત્ર શુદિ તેરસ તા૦ ૧૮-૪-૧૯૪૩ના રોજ મહાવીરજયતી ઉજવી વૈશાખ શુદિ ત્રીજના દિને અજન-શલાકાની વિધિ થઈ શુદિ છઠ્ઠના દિવસે પ્રતિષ્ઠા થઈ

આચાર્યશ્રીએ રાયકોટથી જેઠ શુદિ પૂનમે વિહાર કરી પીપલાવાલી, આદમપુર, નસરાલા, જાલધર, કરતારપુર વગેરે સ્થળે વિહાર કરી જડિયાલાગુરુ પધાર્યા આ નગરે તેમનુ સુંદર અને અદ્ભુત સામૈયુ કર્યું સ૦ ૧૯૫૦મા સ્વર્ગીય પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ સાથેના અહીંના ચાતુર્માસ બાદ ઓગણપચાસ વર્ષે આચાર્યશ્રીનું આ ચાતુર્માસ અહીં થયુ સ૦ ૧૯૯૯નુ આચાર્યશ્રીનુ ચાતુર્માસ ધાર્મિક કાર્યોથી ભરપૂર હતું શ્રી વિજયાનદ જૈન ગુરુમંદિરનો પાયો નાખવામા આવ્યો

આ પર્યુષણ પર્વ દરમિયાન બહાર ગામથી દોઢ હજાર માણસો જડિયાલાગુરુ પધાર્યા હતા બગાળ અને મેવાડની આપત્તિ અગે આચાર્યની પ્રેરણાથી રાહતફડ શરૂ થયુ અમૃતસરથી સઘ આચાર્યશ્રીને ક્ષમાપના કરવા આવ્યો જડિયાલાગુરુમા આચાર્યશ્રીને વદન કરવા તથા મારવાડ પધારવા માટે વિનતિ કરવા વરકાણા વિદ્યાલયના પ્રમુખ શ્રી મૂળચદજી, મત્રી શ્રી ન્યાલચદભાઈ વગેરે ચાલીસ ગૃહસ્થોનુ પ્રતિનિધિમડળ આવ્યુ અને ત્રણ દિવસ રોકાયુ આચાર્યશ્રીનો ૭૪મો જન્મદિન ત્રણ દિવસ સુધી ઊજવાયો સ૦ ૨૦૦૦ના કાર્તિક શુદિ એકમનો વરઘોડો નીકળ્યો બીજને દિવસે શિયાલકોટવાળા લાલા ગોપાળશાહજી હકીમના પ્રમુખપદે જાહેર સભા થઈ ત્રીજના દિવસે શ્રી આત્માનદ જૈન લાયબ્રેરીની સ્થાપના થઈ રાતના કવિ સમેલન થયુ આ પ્રસગે બહારગામથી ત્રણ હજાર ભાઈ-બહેનો આવ્યા હતા અનેક જગાએથી તાર અને પત્રો આવ્યા હતા મુબઈ તથા અન્ય ગામોમા પણ જાહેર સમારભો થયા

જડિયાલાગુરુથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી અમૃતસર પધાર્યા ત્યા એક મહિનો ચાર દિવસ સુધી સ્થિરતા કરી શ્રી આત્માનદ જૈન લાયબ્રેરી ફરી શરૂ કરાવી અમૃતસરના ગુજરાતીઓએ આચાર્યશ્રીને

અભિનંદન પત્ર આપ્યું. વિહારમાં સુરતના ભાઈ જોડાયા, ત્યાં આચાર્યશ્રીએ તેમના પ્રથમ શિષ્ય શ્રીવિવેકવિજયજીના ભાઈના સ્વર્ગવાસ પછી, વાલોડ ખાતે કાળધર્મ પામ્યાના સમાચાર સાંભળ્યા અને આચાર્યશ્રીએ દેવવંદન કર્યું.

પાલનપુરથી આગળ વિહાર કરી આચાર્યશ્રી ચાલીસ વર્ષ બાદ બિકાનેરમાં પધાર્યા. વરકાણાથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી વિ લલિતસૂરિજી પણ આચાર્યશ્રીની સેવામાં હાજર થયા. બિકાનેરમાં આચાર્યશ્રીનું સુંદર સ્વાગત થયું. એક માઈલ લાંબો વરઘોડો, હાથી, બેન્ડ નિશાન અને ઘોડેસવારો, તેમ જ હજારો માણસોની મેદનીથી વાતાવરણ ઉત્સાહપૂર્ણ બન્યું. સં. ૨ ના ચૈત્ર વદિ બીજના દિવસે બિકાનેરની જનતાએ અપૂર્વ ઉત્સાહથી આચાર્યશ્રીનું સ્વાગત કર્યું. ખાસ મંડપમાં આચાર્યશ્રીને અભિનંદન-પત્રો અપાયા અને આચાર્યશ્રીએ જ્ઞાનભક્તિ વિશે દેશના સંભળાવી.

આચાર્યશ્રીએ બિકાનેરમાં આ દિવસો દરમિયાન શાસ્ત્રભક્તિના પ્રસંગો ચૈત્ર સુદિ તેરસના રોજ મહાવીરજયંતી, ચૈત્ર વદિ ત્રીજના રોજ શાંતિ મહોત્સવ અને ચૈત્ર વદિ આઠમના રોજ બે દીક્ષાઓ, વૈશાખ સુદિ ત્રીજના રોજ વરસીતપના પારણાં, વૈશાખ સુદિ પૂનમના દિને કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રીહેમચંદ્રાચાર્ય, શ્રીજિનદત્તસૂરિજી તથા પૂ. આત્મારામજી મહારાજની બિંબોની પ્રતિમાઓની તથા ... પ્રતિષ્ઠા વગેરે કાર્યો કરવામાં આવ્યા. બિકાનેરમાં પૂ. આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી, આચાર્યશ્રીના પ્રવચનો કરાવી. ચાતુર્માસમાં શ્રી ભગવતીસૂત્રની વાચના કરી. સં. ૨ ના પર્યુષણની આરાધના પણ ભક્તિભાવ અને તપશ્ચર્યા સાથે સારી રીતે કરી. ભાદરવા વદિ તેરસના રોજ વડોદરાનો મારવાડી ભાઈઓની સંઘ શેઠ કેસરીમલજીના નેતૃત્વ નીચે આચાર્યશ્રીના દર્શને આવ્યો. આસો સુદિ ત્રીજના દિને વરકાણાથી ચોવીસ મોટાભાઈ એકસો ભાઈઓનું પ્રતિનિધિમંડળ આચાર્યશ્રીના દર્શનાર્થે આવ્યું.

• • •

સં. ૨ ના કારતક સુદિ બીજના દિને આચાર્યશ્રીની ૭૫મી જન્મજયંતીની ઉજવણીના વ્યાખ્યાન ઘણા ઉત્સાહથી થઈ. આસો વદિ બીજ તેરસથી કાર્તિક સુદિ ત્રીજ સુધીનો ઉત્સવ કાર્યક્રમ હતો. આ પ્રસંગે શ્રી રામપુરિયા જૈન હાઈસ્કૂલના વિશાળ ચોકમાં એક ભવ્ય મંડપ રચવામાં આવ્યો હતો. બહારગામથી સંખ્યાબંધ જૈન નરનારીઓ અને વિદ્વાનોથી મુલાકાત આ પ્રસંગે હાજર થયાં હતાં. આસો વદિ તેરસના દિને શ્રી પંચપરમેષ્ઠિ પૂજા અને રાત્રે જાહેર વ્યાખ્યાનો થયાં. આસો વદિ ચૌદસના શાંતિ મહોત્સવના દિને આચાર્યશ્રીએ શાંતિ નવકાર સ્તોત્ર સંભળાવ્યાં અને દીપાવલિ પર્વની આરાધના માટે સચોટ ઉપદેશ આપ્યો.

આસો વદિ અમાસના દિને એક કરુણ ઘટના બની. વિદ્વાન શાસ્ત્રકાર મુનિશ્રી ચતુરવિજયજી મહારાજ ... પામ્યા. તે દિવસે બધો કાર્યક્રમ બંધ રાખવામાં આવ્યો. કારતક સુદ ... સં. ૨ ના કાર્તિક સુદિ એકમને દિને આચાર્યશ્રીએ વિશ્વશાંતિ પર્વ ઉપર મનનીય પ્રવચન કર્યું. રાત્રે શ્રી જવાહરલાલજી નાહટાના પ્રમુખપણે દેરાસર જીર્ણોદ્ધારજી જૈન, પંડિત રામકૃષ્ણજી શ્રી ... વગેરેએ પ્રવચનો કર્યાં.

સં. ૨ ના કાર્તિક સુદિ બીજના રોજ શેઠ મગનભાઈના પ્રમુખપણે જાહેર સમારંભ થયો. શેઠ પ્રકુલભાઈ ... જીવનચરિત્ર વાંચ્યું. મુનિશ્રી જનકવિજયજીનો આચાર્યશ્રીનો જીવનપરિચય, ... ભક્તિ અને ... બધાના ... વગેરે થયું. આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિજીએ મહારાજશ્રીના જન્મ દિને ... કાર્ય કરવાનો સૌને ઉપદેશ દીધો. આચાર્યશ્રીએ જવાબમાં આભાર પ્રદર્શિત કરીને એકતાનો અનુરોધ કર્યો અને જણાવ્યું કે, આપના તરફથી આદર, ઉત્સાહ, પ્રેમ,

શ્રદ્ધા, ભાવના અને આશીર્વાદ સારે ફળે કે જ્યારે જૈનોમા એકતા થાય વર્ષોથી જે સાધુતાનો વેશ મેં પહેર્યો છે, સદ્‌ગુરુનો જે સદેશ મેં ઝીલ્યો છે, સમાજનુ જે અન્ન મેં ખાધુ છે, જે ગુરુ-ભગવતોનો હું સેવક છુ, પજાબની રક્ષાનુ જે બીડુ મેં ઝીલ્યુ છે, જે શિક્ષણ સસ્થાઓની મેં પ્રેરણા આપી છે, જે સમાજના કલ્યાણની ભાવના મેં વર્ષોથી સેવેલી છે, જે ધર્મના ઉત્થાન માટે હું જીવી રહ્યો છુ તે સર્વની સાર્થકતા ક્યારે થશે? રચનાત્મક ધન-સ્વરૂપમા તે ક્યારે દેખા દેશે?

"સમય પલટાઈ રહ્યો છે, દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અસર વ્યાપક થઈ રહી છે, લડાઈની ભીષણતા, મોંઘવારી, બેકારી વગેરેથી સમાજના નૈતિક જીવન [illegible] અસર થઈ રહી છે, આવા સમયમા જૈન સમાજના સસ્થાઓ, મદિરો, ઉપાશ્રયો, સાધુ [illegible] ત ઉપયોગી અગોની સભાળ કોણ લેશે? કરોડો કમાવાથી કે લાખો જમા કરવાથી [illegible] જીવનમા પારકા માટે, સમાજ, દેશ અને ધર્મ માટે શુ કર્યું એ જ મહત્ત્વનુ છે [illegible] મારી ભાવના છે જગતના સર્વ જીવો સુખી થાવ સર્વનુ કલ્યાણ થાવ [illegible] ત થાવ"

આ પછી કેટલાક દિવસો બાદ શ્રી ગગા થિયેટરમા [illegible] નેરનુ ચાતુર્માસ અનેકને અનેક રીતે પ્રેરણાદાયી નીવડયુ સ૦ ૨૦ [illegible] ચાર્યશ્રીએ પજાબ તરફ વિહાર કર્યો બિકાનેરથી પચકોશી થઈ આચાર્ય [illegible] સાર બાદ ફાઝલકામા પ્રતિષ્ઠા કરાવી આચાર્યશ્રીએ જીરામા મહાત [illegible] અનેક [illegible] વિચરતા વિચરતા આચાર્યશ્રી વૈશાખ વદિ ત્રીજના દિવસે લુધિયાણા પધાર્યા ત્યા [illegible] આચાર્યશ્રીનું વધરાવળનું ઓપરેશન કર્યું સક્રાતિદિને આચાર્યશ્રીએ કહ્યુ [illegible] **કરી, આ વેશ પહેરી, ભગવાન મહાવીરની જેમ અમારે અમારા જીવનની પ [illegible] પળનો હિસાબ આપવાનો છે. આત્મશાતિ અને આત્મશુદ્ધિ તો મળતા મળ [illegible] સમાજ, ધર્મ અને દેશના ઉદ્યોતમાં આ જીવનમા જે કાંઈ ફાળો આપી શકાય ત આપવાનું કેમ ભૂલી શકાય? આ શરીર તે માટે જ છે, તો છેવટની ઘડી સુધી તેનો ઉપયોગ કરી લેવો જોઈએ ને! શરીર ક્ષણભગુર હોવાથી એક દિવસ તે જવાનું જ. એટલે ત્યા સુધી જેટલા શાસન-કાર્યો થઈ જાય તેટલા કરી લેવા જોઈએ. જ્યા સુધી આ નાડીમા લોહી ફરે છે, હૃદયના ધબકારા ચાલે છે, ત્યા સુધી એક સ્થળે બેસવાનો નથી. ગુરુદેવની અર્ધશતાબ્દી ઊજવી, શિયાલકોટના દહેરાસરની પ્રતિષ્ઠા કરાવી, શ્રી સિદ્ધાચલની યાત્રા કરવાની ભાવના રાખું છુ. અને યાત્રા કરીને ગૂજરાતમાં નહિ, પણ મારા પ્રિય પંજાબની રક્ષા માટે પાછો પંજાબમા આવી, શ્વાસોચ્છ્‌વાસ ચાલતા સુધી ગુરુદેવનો સદેશ ગામેગામ, શહેરેશહેરે, મદિરે મંદિરે, ઉપાશ્રયે ઉપાશ્રયે અને સંસ્થાએ સંસ્થાએ પહોંચાડવાની ભાવના છે."**

ઓપરેશન કરાવીને આરામ લીધા વિના વિહાર શરૂ કરી આચાર્યશ્રી લુધિયાણા આવ્યા અહીં પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની સ્વર્ગ-સમારોહ જયતી ઊજવી આમા આચાર્યશ્રી, આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિ, પ૦ શ્રી સમુદ્રવિજયજી, પડિત શ્રી હસરાજ વગેરેએ પ્રવચનો કર્યા લુધિયાણામા સ૦ ૨૦૦૧નુ ચાતુર્માસ કર્યું આ પ્રસગે શેઠ શ્રી પુરુષોત્તમ સુરચંદે શ્રી આત્માનદ જૈન ગુરુકુળના મદિર માટે રૂપિયા દશ હજાર આપ્યા આ સમયે તળાજામા મૂર્તિ-ખડનના સમાચાર મળ્યા આચાર્યશ્રીએ ૨૯-૮-૧૯૪૫ના રોજ તાર કર્યા તા ૩૦-૬-૧૯૪૧ના રોજ ભાવનગર નરેશ ઉપર પત્ર લખ્યો

અભિનંદન પત્ર આપ્યું. વિહારમાં સુરતથી આગળ પધાર્યા, ત્યાં આચાર્યશ્રીએ તેમના પ્રથમ શિષ્ય શ્રીવિવેકવિજયજીના બાપના વતનના દર્શન કર્યા પછી, વાલોદ આવે ... આગમ ... સમાચાર સાંભળ્યા અને આચાર્યશ્રીએ દેવવંદન કર્યું

પેટલાદથી ઝાપી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી ચાલીસ વર્ષ બાદ મિયાગામ પધાર્યા. વડોદરાથી અહીં વિહાર કરી આચાર્યશ્રી વિજયલલિતસૂરિજી પણ આચાર્યશ્રીની સેવામાં હાજર થયા. મિયાગામમાં આચાર્યશ્રીનું સુંદર સ્વાગત થયું. એક માઈલ લાંબો વરઘોડો, ધજા, બેન્ડ, નિશાન અને ભજન-મંડળી, તેમ જ સમાજ મંડળીના ભજનો વગેરેથી વાતાવરણ ઉત્સાહમય બન્યું. સં. ૨ ના ચૈત્ર વદિ બીજના શુભ દિવસે મિયાગામની જનતાએ અપૂર્વ ઉત્સાહથી આચાર્યશ્રીનું સ્વાગત કર્યું. ખાસ મંડપમાં આચાર્યશ્રીને બે અભિનંદન પત્રો અર્પણ કર્યાં અને આચાર્યશ્રીએ જ્ઞાનમહિમા વિષે દેશના સંભળાવી.

આચાર્યશ્રીએ મિયાગામમાં આ દિવસો દરમિયાન શાસનમહિમા સમજાવ્યો. ચૈત્ર સુદિ તેરસના રોજ મહાવીરજયંતી, ચૈત્ર વદિ ત્રીજના રોજ શાંતિ મહોત્સવ અને ચૈત્ર વદિ આઠમના રોજ બે દીક્ષાઓ, વૈશાખ સુદિ ત્રીજના રોજ વર્ષીતપના પારણાં, વૈશાખ સુદિ પાંચમના દિને કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રીહેમચંદ્રાચાર્ય, શ્રીહીરવિજયસૂરિ તથા પૂ. આત્મારામજી મહારાજની વિશાળ પ્રતિમાઓની તપગચ્છ ઉપાશ્રયમાં પ્રતિષ્ઠા વગેરે કાર્યો કરવામાં આવ્યાં. મિયાગામમાં પૂ. આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઉજવી, આયંબિલ તપની આરાધના કરાવી. ચાતુર્માસ શ્રી ... ની આજ્ઞા થઈ. સં. ૨ ના પર્યુષણની આરાધના પણ શ્રીસંઘમાં અનેક તપસ્યા સાથે સારી રીતે થઈ. ભાદરવા વદિ તેરસના રોજ વડોદરાનો ભાઈઓ ... શેઠ ... ના નેતૃત્વ નીચે આચાર્યશ્રીના દર્શને આવ્યા. આસો સુદિ ત્રીજના દિને વડોદરાથી શ્રીસંઘ મોકલાયું એ વિશે ... પ્રતિનિધિમંડળ આચાર્યશ્રીના દર્શનાર્થે આવ્યું.

• • •

સં. ૨ ના કારતક સુદિ બીજના દિને આચાર્યશ્રીની ૭૫મી જન્મજયંતીની ઉજવણી શાનદાર રીતે ઉત્સાહથી થઈ. આસો વદિ બીજ તેરસથી કારતક સુદિ બીજ સુધીનો અન્ય કાર્યક્રમ હતો. આ પ્રસંગે શ્રી રામપુરિયા જૈન ભવનના વિશાળ ચોકમાં એક અન્ય મંડપ રચવામાં આવ્યો હતો. પગનગરોથી આવેલા દેશના નરનારીઓ અને ઠેકઠેકાણેથી ભક્તજનો આ પ્રસંગે હાજર થયા હતા. આસો વદિ તેરસના રોજ શ્રી પંચપરમેષ્ઠિ પૂજા અને રાત્રે ભાવના રાખવામાં આવી. આસો વદિ અમાસના શાંતિ મહોત્સવના દિને આચાર્યશ્રીએ શ્રીવિજયલક્ષ્મીસૂરિના સ્તોત્રો સંભળાવ્યાં અને દીપાવલિ પર્વની આરાધના માટે સુંદર ઉપદેશ આપ્યો.

આસો વદિ અમાસના દિને એક કરુણ ઘટના બની. વિદ્વાન સાહિત્યકાર મુનિશ્રી ચતુરવિજયજી સ્વર્ગવાસ પામ્યા. તે દિવસે બધો કાર્યક્રમ બંધ રખાયો. સંવતના છેલ્લા વર્ષ સં. ૨ ના કારતક સુદિ બીજના રોજ આચાર્યશ્રીએ વિશ્વમાંથી ધર્મ ઉપર મનનીય પ્રવચન કર્યું. રાત્રે શ્રી ... ના પ્રમુખપદે ... જૈન, પંડિત ... શ્રી ... વગેરેએ પ્રવચનો કર્યાં

સં. ૨ ના કારતક સુદિ ... ના રોજ શેઠ ... ના પ્રમુખપદે જાહેર સમારંભ થયો. ... શ્રીન. પંડિત ... શ્રી ... આચાર્યશ્રીનો જ્ઞાનપરિચય, ... પ્રેરણા અને સેવાઓનું વર્ણન વગેરે થયું. આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિજીએ મહારાજશ્રીના શુભ દિને એક સ્થાપી કાર્ય કરવાનો સૌને ઉપદેશ દીધો. આચાર્યશ્રીએ અંતમાં આભાર પ્રદર્શિત કરી એકતાનો અનુરોધ કર્યો અને જણાવ્યું કે, આપણા તમામ ખાતે, ઉપાશ્રય, ગુરુકુળ,

એ છે કે અમારા નામરાશિ સરદારશ્રી વલ્લભભાઈ પટેલના શુભ હસ્તે આ શાખાનુ ઉદ્ઘાટન થવાનુ છે આશા છે કે જેમ સરદાર પ્રજાવલ્લભ થઈ ગયા છે, તેવી જ રીતે આ સસ્થા પણ પ્રજાવલ્લભ થશે જ થશે, અને દિન પ્રતિદિન ઉન્નતિના પથ પર ચાલશે એ જ મગળ આશીર્વાદ ”

ગુજરાનવાલા પધારી જેઠ શુદિ આઠમના દિને પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના નિર્વાણના દિનની ઊજવણી કરી આ પ્રસગે આચાર્યશ્રીએ રચનાત્મક કાર્યનો અનુરોધ કર્યો ભારતના અનેક સ્થળોએ પૂ૦ આત્મારામજીની નિર્વાણ અર્ધશતાબ્દી ઊજવાઈ અહીં આચાર્યશ્રીએ ગુરુકુળનુ નિરીક્ષણ કર્યું અને પ્રગતિનો ખ્યાલ મેળવ્યો આષાઢી સક્રાંતિ ઉત્સાહપૂર્વક ઊજવાઈ અને ગુજરાનવાલા શ્રીસઘની ચાતુર્માસ કરવાની વિનતિ સ્વીકારી આચાર્યશ્રીએ પ્રતાપજયતીની ઊજવણીમા હાજરી આપી મહારાણા પ્રતાપ અને ભામાશાની વાત કરી તેમણે અજલિ અર્પી આ ચોમાસામા ધર્મારાધના સારી થઈ પર્યુષણપર્વ બાદ શ્રી હીરવિજયસૂરિજીની જયતી ઊજવાઈ કાર્તિક શુદિ બીજે આચાર્યશ્રીની ૭૭મી વર્ષગાઠ હિંદભરમા ઊજવાઈ આ દિવસે આચાર્યશ્રીએ સદેશો આપતા જણાવ્યુ કે, “ શિક્ષણસસ્થાઓનુ સગઠન અત્યત આવશ્યક છે આજે જે આઝાદીની નોબતો વાગે છે તે માટે આપણે—જૈન સમાજે સાવધાન રહેવાનુ ન ભૂલવુ જોઈએ કાલે હિંદુસ્તાન પાકિસ્તાન ગમે તે થાય, પણ જૈનસઘનુ, જૈન સમાજનુ અનુપમ સગઠન થવુ જોઈએ ” કાર્તિક શુદિ પૂનમે કલિકાલસર્વજ્ઞ આચાર્ય શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્યની જન્મજયતી ઊજવાઈ, અને આચાર્યશ્રીએ વિહાર કર્યો

આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી શિયાલકોટમા બે માળનુ ભવ્ય એવુ ચૌમુખજીનુ મદિર તૈયાર કરવામા આવ્યુ આ મદિર જમીનથી ૧૦૨ ફૂટ ઊંચુ છે આચાર્યશ્રી અહીં પધાર્યા અને વિ૦ સ૦ ૨૦૦૩ના માગશર શુદિ પાચમે તા૦ ૨૯–૧૧–૧૯૪૬ ના રોજ પ્રતિષ્ઠા કરાવી બપોરે શહેરમા રથયાત્રા નીકળી સાતમના દિવસે લાલા મોતીલાલજીની પુત્રી પ્રકાશવતીને દીક્ષા આપી શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયના મત્રીશ્રી મોતીચદ ગિરધરલાલ કાપડીઆ ઉપર આચાર્યશ્રીએ સ૦ ૨૦૦૩ ના પોષ શુદિ ચોથના રોજ પપનાખાથી વિદ્યાલયની પ્રગતિ વિશે એક પત્ર લખ્યો આ પત્રમા આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યુ હતુ કે, “ અમદાવાદના પ્રયત્નો સફળ થવા સાથે જ અમારી-તમારી પૂનાની ભાવના સફળ થઈ તે વિશેષ આનદની વાત છે અમારી તો પ્રથમથી જ જ્વલત ભાવના રહી છે કે જ્યા સુધી ‘ જૈન વિદ્યાપીઠ ’ની યોજના મૂર્તસ્વરૂપ નહિ લે ત્યા સુધી આપણુ ધ્યેય પૂરુ સધાશે નહિ

“ કાઠિયાવાડ તથા મેવાડ મારવાડમા એક એક શાખા ખોલવાની જરૂર છે પ્રયત્ન કરો તો બનારસમા પણ એક શાખા થઈ શકે અને પછી તો મુબઈના પગમા એક કોલેજ થઈ જાય તો જૈન સશોધનને માટે ઘણુ ઘણુ થઈ શકે તેમ છે આપણી કોમના સ્વરાજના ઘડતરમા જૈન સમાજને વિદ્વાનો, લેખકો, વિવેચકો, વક્તાઓ, સેવકો અને સશોધકો જોઈશે, જે આવી વિદ્યાપીઠ સિવાય શક્ય નથી જૈન સમાજ જેવી સમૃદ્ધ કોમ માટે પૈસાનો પ્રશ્ન તો ગૌણ છે સાચા એકનિષ્ઠ ધગશવાળા કાર્યકર્તાઓ જોઈશે આજે પણ ઘણા દાનવીરો છે તેઓને જૈન સમાજના ઉત્થાન માટે અને જૈન શિક્ષણના વિકાસ માટે અનન્ય પ્રેમ છે તમે નિર્ણય કરો તો ગુરુદેવની કૃપાથી સજોગો મળી રહેશે તમારી અનન્ય સેવાભક્તિ માટે ધન્યવાદ તમારા જેવા દસ–વીસ નવલોહિયા સમાજ—દેશના ઘડવૈયાઓ તૈયાર કરવાની જવાબદારી ક્યારે સ્વીકારશે ? તે દિશામા પણ પ્રયત્ન કરવાની જરૂર છે ”

આચાર્યશ્રીની પ્રવૃત્તિ વધતી જતી હતી પણ રાજકારણ અને રાજકીય પ્રવાહો ખેદજનક હતા જૈન સશોધન અગે વિદ્વાનો મદદ માગતા હતા લાહોરના મ્યુઝિયમના ક્યુરેટર મિ૦ કાશીએ

સં. ૧૯૮૧ના ભાદરવા સુદિ પાંચમના દિને ભાઈ જ્ઞાનચંદજીના પ્રમુખપદે શ્રી આત્માનંદ જૈન મહાસભાનું સોળમું અધિવેશન થયું. એમાં તમામ તીર્થ અંગે, મુંબઈ રાજ્યના દીક્ષા પ્રતિબંધક કાયદા અંગે, પૂ. આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવવા અંગે તેમ જ પંજાબના કલ્યાણ અંગે ઠરાવો થયા. આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી વિદ્યાર્થી ભંડાર ફંડ શરૂ કરવામાં આવ્યું. ભાદરવા સુદિ અગિયારસના દિને શ્રી હીરવિજયસૂરિજીની જયંતી ઊજવવામાં આવી. આચાર્યશ્રીએ બાલી(મારવાડ)માં ભરાતા શ્રી જૈન યુવક સંમેલનને પ્રેરક સંદેશો મોકલી આપ્યો.

સં. ૧૯૮૨ના કાર્તિક સુદિ બીજે આચાર્યશ્રીની ૫૫મી જન્મજયંતી ઠેર ઠેર ઊજવાઈ. આ પ્રસંગે ખાસ ખાસ નગર તથા ગામોના જૈન અને રાજ્યના કવિ સંમેલન થયાં. આચાર્યશ્રીએ આચાર્યશ્રી નેમિસૂરિજીની તબિયતની પૃચ્છા કરતો પત્ર લખાવ્યો.

સં. ૧૯૮૨ના માગશર વદિ બીજના રોજ હુશિયારપુરથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી રાયકોટ પધાર્યા અને ખાસ ૪ દિવસની સ્થિરતા કરી. ત્યાંથી માલેરકોટલા આવી આચાર્યશ્રીએ અનેક અભિનંદન પત્રો મેળવ્યાં. આચાર્યશ્રીએ આ પ્રસંગે જણાવ્યું કે, "આ શહેરના આવા ભાવભર્યા સ્વાગત માટે કોને આનંદ ન થાય! તમારી આવી એકતા, સંગઠન, ઉદારતા માટે હું તમને અભિનંદન આપું છું. આ રીતે તમે તમારા શહેરની શોભા વધારી છે. હું તો ફકીર છું. પહેલાં [illegible] સમાજ અને દેશના કલ્યાણનું કામ થતું નથી. વિચારો પણ હવે બાંધ્યા રહેતા નથી. પણ સૌના કલ્યાણને માટે મારી ભાવના છે. મારા જેવા જૈન સાધુને અભિનંદન આપો તેનો શો અર્થ? હું તો સાધુ છું. મારો ધર્મ ફરજ અને કર્તવ્ય, મારી સંસ્થા સમાજનું ભલું, દેશકલ્યાણ અને ધર્મપ્રચાર. પ્રાણીમાત્રના કલ્યાણની ભાવના ભાગો ધર્મ થવે છે. જે [illegible] મેં લીધું છે તે આજીવન પાળવાનો મારો ધર્મ હું કેમ ચૂકું!

બીજી વાત એ છે કે આપણા દેશની આઝાદીમાં આપણા સૌનું કલ્યાણ છે. આઝાદીને માટે હિંદુ મુસ્લિમ શીખની એકતા જરૂરી છે. આ એકતા આવશે અને તે ચોક્કસ પણ આવવી જ જોઈએ. આપણા દેશમાં એકતા આવશે તો વિશ્વશાંતિમાં આપણા દેશનું સ્થાન અનેક ગણું વધશે. તેની ખાતરી રાખજો. હિંદુ નથી એકલી [illegible] જ મતા, મુસલમાન નથી [illegible] જ આવ્યા, શીખ નથી [illegible] જન્મના જન્મ લીધા પછી જેવા જેવા સંસ્કાર અને જેવા જેવા આચાર તેવો તેને રંગ ચઢે છે. આત્મા તો બધામાં એક જ છે. સૌ કોઈ મોક્ષના અધિકારી છે. ધર્મ સરખા છે. આપણે બધા એક જ છીએ. આ દેશમાં હળીમળીને રહેવું જોઈએ. એકના દુઃખે દુઃખી અને એકના સુખે સુખી એમ જ રહી શકાય. ગુરુના ભક્ત થઈ હોય તો તમામ પ્રાણીઓને આપણા જેવા માનવા જોઈએ. **વિશ્વવલ્લભ સર્વોદય**

અહીંથી તાજપુર પધારી [illegible] બિનૌલીના ઠાઠ આગમનો આચાર્યશ્રીએ દૂર કરી [illegible] આત્મારામજીના પટ્ટધર સાથે ચર્ચા કરી આચાર્યશ્રી જૈન સૂરિ ઘેરાના શિખરે આતમસરમાં પધાર્યા અને શાંતિ તથા મહાવીરજીની ઉજવણી. ત્યાંથી વિહાર કરતાં કરતાં આચાર્યશ્રી [illegible] પધાર્યા. અહીંથી આચાર્યશ્રીએ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની અમદાવાદ શાખાના ઉદ્ઘાટન પ્રસંગે નીચેનો સંદેશો મોકલી આપ્યો : "શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની શાખાનું ઉદ્ઘાટન અમદાવાદ જેવી નગરીમાં થઈ રહ્યું છે તે ઘણા આનંદની વાત છે. આજ સુધી વિદ્યાલયે જૈન સમાજમાં શિક્ષણ પ્રચાર સંબંધી જે સેવા કરી છે અને કામ કરી રહેલ છે તે કોઈથી અજાણ્યું નથી. હિંદુસ્તાનના શહેરે શહેરમાં અને ગામમાં પણ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયની શાખાઓ સ્થાપિત થાય અને વ્યાવહારિક શિક્ષણની સાથોસાથ ઉચ્ચ ધાર્મિક શિક્ષણનો પ્રચાર થાય એ જ શુભ ભાવના છે. વિશેષ આનંદની વાત તો

... ભારતે સ્વતંત્રતા મેળવી પરંતુ પંજાબમાં કત્લેઆમ ... આઝાદી પચાવી શકે એમ ન હતું પંજાબમાં ઠેર ઠેર હુલ્લડો ... વ્યાપાર કર્યું અહિંસા દ્વારા મેળવેલી આઝાદીને કલંક લગાડવા ... હતું રાષ્ટ્રપિતાના દિલમાં ભારેભાર વ્યથા હતી નેતાઓને કાંઈ ... રીએ માનવીની માનવતાનો ભોગ લીધો હતો

... પંજાબની ભૂમિ રહેંસાઈ રહી હતી કરેલા નિર્માણોનો આંખ સામે વિનાશ થતો ... માનવી અસહાય હતો, માનવતા વિસરાઈ ગઈ હતી ધરતી પુકાર કરતી હતી અને ... ની નવી તવારીખ રચાતી હતી પપનાખાના પચીસ જેટલા શ્રાવકો મૂર્તિઓ ભોંયરામાં ... ની આચાર્યશ્રી પાસે આવી ગયા

દેશદેશાંતરના ભક્તજનોની વિનંતિ ધ્યાનમાં લઈને આચાર્યશ્રીએ સ્થાનાંતર કરવાનું નક્કી કર્યું ઉપાશ્રયથી બહાર નીકળીને આચાર્યશ્રી ગુરુદેવના સમાધિ મંદિરે દર્શન કરવા ગયા ત્યાં બધા ફોટાઓ તોડીફોડી નાખ્યા હતા મંદિરમાં શ્રી વાસુપૂજ્યસ્વામીની મૂર્તિનું મસ્તક ખંડન કરી નાખ્યું હતું આંખોમાં આંસુ, હૃદયમાં ગ્લાનિ અને અનેક યાતના સાથે આચાર્યશ્રી ગુરુકુળ પહોંચ્યા આગળ હજારો ગુંડાઓ લૂટવા માટે ખડા છે એ સમાચાર જાણી લોકો ગભરાઈ ગયા અચાનક જ ગુરુદ્વારાપુરથી મિલિટરીની લોરીઓ આવી પહોંચી મિલિટરી સાથે લાહોર સુધી જવાનો નિર્ણય લેવાયો ચારપાંચ માઈલ દૂર ઝાડીઓમાં સંતાયેલા સશસ્ત્ર ગુંડાઓ મિલિટરી જોઈ ભાગી ગયા આઠ સાધુ, ચૌદ સાધ્વીઓ તથા સો-સવાસો જેટલા માણસો તા૦ ૨૮-૯-૧૯૪૭ના દિને અમૃતસર સુખરૂપ પહોંચી શક્યા

આચાર્યશ્રી અમૃતસર સુખરૂપ પહોંચ્યાથી આનંદમંગળ પ્રવર્ત્યા સં૦ ૨૦૦૪ના કાર્તિક શુદિ બીજના રોજ આચાર્યશ્રીની ૭૮મી વર્ષગાંઠ હર્ષોલ્લાસપૂર્વક ઊજવાઈ મહા શુદિ પાંચમના રોજ આચાર્યશ્રીએ રાષ્ટ્રવંદનીય રાષ્ટ્રપિતા ગાંધીજીના ગોળીથી ઠાર થયાના સમાચાર સાંભળી દુઃખની લાગણી વ્યક્ત કરી અહીંથી વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રીએ અનેક ગામોને પવિત્ર કર્યાં અને તા૦ ૧૪-૪-૧૯૪૮ના રોજ બિકાનેર પધાર્યા

બિકાનેરમાં અનેક ધર્મારાધના થઈ સંવત્સરીની ચર્ચામાં આચાર્યશ્રીએ સ્પષ્ટ માર્ગદર્શન આપ્યું તા૦ ૧૪-૬-૧૯૪૮ના રોજ પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયંતી શાનદાર રીતે ઊજવી બિકાનેરના મંદિરોની વ્યવસ્થા માટે સંઘની પેઢી સ્થાપવાની પ્રેરણા આચાર્યશ્રીએ આપી પર્યુષણ પર્વની સુંદર રીતે ઊજવણી થઈ આચાર્યશ્રીના ઉપદેશથી પંજાબ સંઘે પાલીતાણાના શ્રી આત્માનંદ જૈન ભવન માટે એક લાખ રૂપિયાનો પ્રબંધ કર્યો મુનિશ્રી મેઘવિજયજીના કાળધર્મના સમાચાર સાંભળી આચાર્યશ્રીએ અંજલિ આપી સં૦ ૨૦૦૫ના કાર્તિક શુદિ બીજના દિને આચાર્યશ્રીની ૭૯મી વર્ષગાંઠ ઊજવાઈ કાર્તિક શુદિ ચૌદશના રોજ મહિલા ઉદ્યોગશાળાની સ્થાપના કરવાનો બિકાનેરમાં નિર્ણય લેવાયો

શ્રી મોતીચંદ ગિરધરલાલ કાપડીઆ સન્માન સમિતિને સંદેશો પાઠવતા આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું "શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયના મંત્રી તરીકેની અખંડ સેવા અંગે સન્માન કરવાનો જે નિર્ણય કર્યો છે તે યોગ્ય છે શ્રી મોતીચંદે અનેક વિપત્તિઓ સહન કરીને વિદ્યાલય તેમ જ સમાજની જે સેવા કરી છે તે સમાજ માટે નહિ પણ પોતાના આત્માના ઉદ્ધાર માટે કરી છે એમ છતાં એમના જેવા યોગ્ય માનવીનું સન્માન કરવું એ આપણી શોભા છે અને અન્ય સેવાભાવી વ્યક્તિઓને સેવા માટેનું આમંત્રણ છે સાચી વાત એ છે કે માન-સન્માન આપવું એ એક વ્યવહારુ રૂઢિ છે અને આવી રૂઢિ હોવી પણ

તા. ૧૮-૧-૧૯૪૭ના રોજ ઠક્કરબાપુજીની પ્રત અને આચાર્યશ્રીને પત્ર લખ્યો અને તેમણે તેનો અનુકૂળ જવાબ આપ્યો.

ઈ. સ. ૧૯૪૭ના દિવસો આવતા હતા. પંજાબમાં અનેક તરહની ભીંસ હતી અને વાતાવરણમાં ભયાનકતા હતી. તા. ૧૧-૩-૧૯૪૭ના દિવસે મોટીલ સ્થાનના હુલ્લડનો આરંભ થયો. ઉપાશ્રયના રક્ષણ માટે સો પચીસ માણસોની દરરોજની વ્યવસ્થા કરી. અમૃતસર, લાહોર વગેરે શહેરોમાં તોફાનો શરૂ થયાં હતાં. લૂંટફાટ અને ગોળીબાર દરરોજની વાત બની ગઈ. ૧૪૪મી કલમનો અમલ અને કરફ્યુ, રાજકીય અશાંતિ ચાલુ થઈ ગયાં હતાં. તા. ૨૦-૩-૧૯૪૭ના રોજ મહાવીર જયંતીના વ્યાખ્યાનમાં આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું હતું કે "હજુ ગુજરાનવાલામાં કંઈ તોફાન નથી. ૧૪૪મી કલમનો અમલ ચાલુ છે. પંજાબની અશાંત પરિસ્થિતિને લીધે પૂ. ગુરુમહારાજનો સ્વર્ગવાસ અર્ધશતાબ્દી મહોત્સવ મુલતવી રાખ્યો છે." ચૈત્ર સુદિ તેરસના દિને આચાર્યશ્રીએ મહાવીર-જયંતીની શાનદાર ઉજવણી કરી.

માણસો તથા વાહનો જતાં હતાં. આવાગમનની સગવડતા નહોતી. હુલ્લડનો ભય વધતો જતો હતો. તાર ઉપર તાર અને પત્રો ઉપર પત્રો આચાર્યશ્રીને મળતા હતા. બિકાનેરથી જૈનોની વ્યવસ્થા માટેનો પત્ર આવ્યો. કરાંચીથી આચાર્યશ્રી વિજયલલિતસૂરિજીનો તાર આવ્યો. તા. ૧-૫-૧૯૪૭ના દિવસે રાતના દસ વાગે શ્રી આત્માનંદ જૈન ગુરુકુળના સ્થળને આગ લગાડવાનો ઉપદ્રવીઓનો નિષ્ફળ પ્રયાસ થયો.

તા. ૨૭-૫-૧૯૪૭ના રોજ લાલા જ્ઞાનચંદજી દુગ્ગડના આગ્રહથી શ્રી આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઉજવાઈ. ઉપાશ્રયમાં વિવિધ પ્રવચનો થયાં. ભારતીય જૈન સ્વયંસેવક પરિષદના બીજા અધિવેશન પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ સંદેશો પાઠવ્યો.

તોફાનો વધતાં જતાં હતાં. ૪૮-૭૨ કલાકના કર્ફ્યુનો આરંભ થયો. ગુરુદેવના સમાધિમંદિરને આગ લગાડવામાં આવી. પણ દરવાજા અને બે બારીઓ બળી ગઈ, જ્યારે પ્રતિમા અને ગુરુદેવની પાદુકા બચી ગયાં. નાનકપુરામાં મોટું તોફાન થયું. પણ આચાર્યશ્રી મક્કમ હતા. કોઈ જાતની ફિકરનો ડર એમણે રાખ્યો નહિ. તા. ૬-૭-૧૯૪૭ના રોજ ઉપાશ્રય પર બૉમ્બ નાખવામાં આવ્યો. એક બૉમ્બ તો પં. શ્રી સમુદ્રવિજયજીની નજીક જ પડ્યો, પણ શાસનદેવની કૃપાથી કોઈને નુકસાન પહોંચ્યું નહિ. બધા જ બચી ગયા. આત્માનંદ જૈન ગુરુકુળની પ્રતિમાઓ બિકાનેર મોકલાવી. તા. ૨૪-૭-૧૯૪૭ના રોજ પરિસ્થિતિ વધુ વણસી. હિંદુઓ ખાલી કરીને ગુજરાનવાલામાંથી જતા હતા. પાલનપુરથી આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિજીના તેમ જ અન્ય શિષ્યોથી આચાર્યશ્રીની ફિકર કરતા પત્રો તેમ જ તારો આવતા હતા. આચાર્યશ્રીએ તા. ૭-૮-૧૯૪૭ના રોજ પત્ર લખ્યો. તેમાં તેઓશ્રીએ જણાવ્યું : "... તેમ જ તમારા પત્રથી ભક્તિ અને ધર્મ બન્નેની લાગણીનો ખ્યાલ આવે છે. પણ એક વાત વિચારવા જેવી છે. કોઈ પણ સાધુ પોતાની જૂની દુકાન, મિલકત અને આશ્રમનો ખ્યાલ વિચારે તો એ પોતાના ધ્યાન પર લક્ષ નહિ કરે. એ આશરે બધું તેના કરતાં ખોટ પક્ષ કરે. કોઈની ચિંતાની ખાતર આપણી ચિંતાની કબૂલ એવી દેખરેખ—એ વાત આપણી નથી. જ્ઞાનીએ જે દીઠું હશે તે થશે. એવા જ્ઞાની મહારાજના વચન ઉપર શ્રદ્ધા રાખીએ છીએ. શ્રીશાસનદેવ તથા ગુરુદેવની કૃપાથી આજ સુધી અમારે આત્માની આગ જેવા વાતાવરણ આવ્યો રહ્યો છે. આથી કોઈ પ્રકારની ફિકર કર્યા વિના ભગવાન પર શ્રદ્ધા રાખી રમવા ? ભોગવવાનું હશે તે ભોગવીશું. જ્ઞાની મહારાજના નિયમ અને વ્યવહારના સિદ્ધાંત ઉપર ધ્યાન રાખીશું. જ્ઞાનીએ જે દીઠું હશે તે થશે.

જોઈએ. પરંતુ આ રીતે વિચારીએ તો જે સન્માન કરે છે તે એક રીતે પોતાનો ઉદ્ધાર કરે છે આથી ધાર્મિક કાર્યોમાં જેટલી મદદ કરવામાં આવે તેટલી ઓછી છે

કારતક સુદિ પાંચમના દિવસે આચાર્યશ્રીએ જ્ઞાનનો મહિમા ઉજવ્યો. આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિજી ભાયખળાથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રીને મળ્યા. ત્યાંથી શેઠ કેશવલાલે આચાર્યશ્રીને રૂપિયા એક હજાર ગરીબોની સેવા માટે આપ્યા જે સુદિ આઠમના રોજ પૂ. આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઉજવી. શતાબ્દીમાં આચાર્યશ્રીએ શતાબ્દીફંડની યોજના શરૂ કરી. સાથે સાથે નગર-શેઠની મિલ પણ તેઓશ્રીએ ખોલ્યું સં. ૨ પણ આગ્રહથી આચાર્યશ્રીએ શતાબ્દીમાં ૨૫ કન્યાઓને ૮ વાર્ષિક ખર્ચ કરવા અને આચાર્યશ્રીએ જમીન ખર્ચ કર્યું. મુંબઈના શ્રીમાન શેઠે તપાસ કર્યું. ધર્મમાં દરરોજ અને સાધુનું ધ્યાન ખેંચવા માટે જ્યારે શ્રાવક જેવું અને ઉપર વરઘોડાનો ખર્ચ ઉપર આવ્યા.

શેઠ શ્રી કસ્તુરભાઈ લાલભાઈને મુંબઈમાં સન્માન આપવાનો જે સમારંભ તા. ૨૮મીએ થવાનો હતો તે અંગે નીચેનો પત્ર તા. ૨૪-૯-૧૯૪૯ના રોજ વાંચ્યો આવા સમારંભમાં આપણે કોઈ સમાજ સુધારાનું નક્કર કામ થયું જોઈએ. આપણી નજરમાં છે કે શ્રી જૈન સંઘની કેટલી અવગણના થઈ રહી છે. સંપત્તિનો દુરુપયોગ થઈ રહ્યો છે. જેની કોઈ ચીજ રહેવા પામી નથી. આજ સમાજે જે કે કોઈ પણ સત્તા અધિકારી વિના ચાલતી નથી અને ચોક્કસ પણ નથી. આજ અનુયાયીઓને વધારે સમજાવવાની જરૂર રહેતી નથી. આ સમયે અમને મરહૂમ શેઠ મનસુખભાઈ ભગુભાઈ અને શેઠ લાલભાઈ દલપતભાઈ યાદ આવે છે. એઓ કેવી કુનેહથી વાતથી બધે કોઈનું મન રાજી કરી શકતા હતા. આપણામાં શેઠ આણંદજી કલ્યાણજીની સત્તાના સમયમાં ઘણી મદદ મળી હતી. પણ અને આગેવાનોએ કેવી બુદ્ધિથી એ મદદને ઘાત કરી દીધી તે આપણામાંથી ઘણા સજ્જનો જાણતા હશે! શેઠશ્રી કસ્તુરભાઈએ પોતાનું નામ સુવર્ણાક્ષરે કોતરાવી સમેતશિખરની પોતાની ભક્તિની વાતચીતથી સાબિત કર્યું છે અને ગામોગામ જોઈએ કે પ્રસંગ અને આગેવાનોએ કરેલા સૌએ ધ્યાનમાં લઈને તેઓનું નિર્ધારિત કામ પૂરું કરી શુભ પ્રસંગ આવી અને એવી આભારી આત્મકલ્યાણની આશા છે

સં. ૨ ની શરૂઆતમાં આચાર્યશ્રી વિ. નેમિસૂરીશ્વરજી મહારાજ મહુવા મુકામે કાળધર્મ પામ્યા. આચાર્યશ્રી અને તેઓશ્રીના વિચારો ઘેર ઘેર ફરેલા. અને બન્ને વચ્ચે સમાજની લાગણી જન્મી હતી. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ સંવેદના પ્રગટ કરી.

આચાર્યશ્રીની ૮૦ મી જન્મજયંતી શતાબ્દીમાં સુંદર રીતે થઈ. આ પ્રસંગે આચાર્યશ્રીએ પંજાબના ઉદ્ધારનો અનુરોધ કર્યો. શતાબ્દીમાં વિહાર કરી અને સાયન, વિલેપાર્લે પધારી ત્યાં અંજન શલાકા કરાવી. શતાબ્દીના વર્ષે આચાર્યશ્રીને શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કોન્ફરન્સના અધિવેશનમાં હાજરી આપવા વિનંતિ અનુરોધ કર્યો. મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીએ જેસલમેરના જ્ઞાનભંડારનો આચાર્યશ્રીને ખ્યાલ આપ્યો. વરકાણાથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રી શ્રાવના પધાર્યા. અહીંના સમાજ આચાર્યશ્રીએ સંઘ કરાવ્યો. આચાર્યશ્રીની અનિચ્છિત આચાર્ય શ્રીલલિતસૂરિજી સં. ૨ ના મહા સુદિ નોમના રોજ કાળધર્મ પામ્યા. શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય, શ્રી વરકાણા જૈન વિદ્યાલય તેમ મારવાડની અનેક સંસ્થાઓના ઉત્કર્ષ અને ધાર્મિક સુધારણાઓના રસ આચાર્યશ્રી લલિતસૂરિજીનો અનન્ય સાથ આચાર્યશ્રીને મળ્યો હતો. આચાર્યશ્રીએ શાસ્ત્ર સમજાવે આ વિશેષ ધ્યાન કર્યો અને જણાવ્યું. કાળની ગતિ વિચિત્ર

છે એ સૌને પોતાના ગ્રાસ બનાવી લે છે એક દિવસ આપણે પણ એ જ રસ્તે જવાનું છે માટે બધા વિખવાદો મિટાવી સમ્યક્ જ્ઞાન, દર્શન અને ચારિત્ર આદિ આત્માના કલ્યાણના સાધનોમા તત્પર રહેવુ એ જ શ્રેયસ્કારી છે મરવાથી ડરવુ નહિ મરવા ઇચ્છવુ નહિ પણ એના માટે તૈયાર રહેવુ ”

ફાલનામા ભરાયેલા શ્રી જૈન શ્વેતામ્બર કોન્ફરન્સના અધિવેશનમા આચાર્યશ્રીએ પ્રેરણાત્મક સદેશો આપ્યો ઐક્ય અગેનો ઠરાવ પસાર થયો અને રાજસ્થાન જૈન સમિતિની સ્થાપના થઈ ફાલનાથી નાનાવિધ ગામોમાં વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રી ચૈત્ર શુદિ પૂનમના દિવસે પાલણપુર પધાર્યા પાલણપુરે સુંદર સામૈયુ કર્યુ આચાર્યશ્રીએ મહાવીરજયતી ઊજવી અને કેટલીક વડી દીક્ષાઓ આપી આ વખતનું ચાતુર્માસ આચાર્યશ્રીએ અહીં કર્યુ આસો વદિ નોમના દિને ડૉ૦ હીરાલાલ પટેલે આચાર્યશ્રીની આખનુ ઑપરેશન કર્યુ કાર્તિક શુદિ બીજના દિને આચાર્યશ્રીની ૮૧મી જન્મજયતી ધામધૂમ ઊજવાઈ આ સમય દરમિયાન આચાર્યશ્રીની તબિયત અસ્વસ્થ રહી હતી આનું કારણ આખની વ્યાધિ હતું આખની આ વ્યાધિ અનેક ઉપાયો કર્યા છતા કાયમ રહી

પાલણપુરથી આચાર્યશ્રીએ વિહાર કરી પાટણમા પ્રવેશ કર્યો ખૂબ સુદર સામૈયુ થયુ અહીં આચાર્યશ્રીએ ‘ આપણું કર્તવ્ય ’ એ વિષય ઉપર ચિંતનીય જાહેર પ્રવચન કરી જૈન જૈનેતર ભાઈઓને લાભ આપ્યો અહીંથી વિચરતા વિચરતા આચાર્યશ્રી શખેશ્વર પધાર્યા આચાર્યશ્રીને અહીં પૂ૦ આચાર્યશ્રી વિજયદર્શનસૂરિજી, પૂ૦ આચાર્યશ્રી વિજયોદયસૂરિજી, પૂ૦ આચાર્યશ્રી નદનસૂરિજી વગેરે મળ્યા આચાર્યશ્રી તથા અન્ય મુનિપુગવોએ અરસપરસ વિચારવિનિમય કર્યા આચાર્યશ્રીએ જાહેર પ્રવચનમા કહ્યુ “ શ્રી બુટેરાયજી મહારાજશ્રીના સુપ્રસિદ્ધ શિષ્ય શ્રીમદ્ મુક્તિવિજયજી (મૂળચદજી), ગણિવર શાતમૂર્તિ શ્રી વૃદ્ધિવિજયજી અને શ્રીમદ્ વિજયાનદસૂરિજી ત્રણે પ્રતાપશાળી અને પજાબી હતા શ્રી બુટેરાયજી મહારાજ પણ પજાબના હતા આ ત્રણેય મહાપુરુષોનો પરિવાર વર્તમાનમા છે ” પૂ૦ આચાર્યશ્રી વિજયાનદસૂરિજીએ આચાર્યશ્રીના પજાબના કાર્યની પ્રશસા કરી

અહીંથી વિહાર કરીને સૌરાષ્ટ્રમા ધ્રાગધ્રા, બોટાદ વગેરે સ્થળોએ થઈ સોનગઢ પહોંચ્યા ત્યાંથી ચૈત્ર શુદિ દશમના રોજ પાલિતાણા પધારી ગુરુકુળમાં બે દિવસની સ્થિરતા કરી તા૦ ૨૨–૮–૧૯૫૧ના રોજ આચાર્યશ્રીએ તીર્થ ઉપર પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની ધાતુની પ્રતિમાની પ્રતિષ્ઠા કરી મુનિશ્રી નદનવિજયજીને આચાર્યશ્રીએ વડી દીક્ષા આપી

વૈશાખ વદિ સાતમ આઠમના રોજ જૂનાગઢ મુકામે ભરાયેલા શ્રી જૈન શ્વેતામ્બર કૉન્ફરન્સના અઢારમા અધિવેશનમા આચાર્યશ્રીએ મોકલેલા સદેશામા જણાવ્યુ હતું કે “ જૈન સમાજ અને ધર્મના રચનાત્મક કાર્યોમા કાર્યકરો મગ્ન રહે અને નાની નાની વાતો ભૂલી જાય શાસનોન્નતિના કાર્યો કરે, શિક્ષણ અને સાહિત્યનો પ્રચાર કરે જે જે ક્ષેત્ર નબળુ પડતુ લાગે તે તે ક્ષેત્રનું પોષણ કરે અને પોતાની ફરજ બજાવે સ્વામીવાત્સલ્ય કેવળ જમવામા સમાઈ જતું નથી સ્વધર્મી ભાઈઓને પગભર કરવા એ પણ સાચુ સ્વામીવાત્સલ્ય છે આ વાત પર બધાએ ધ્યાન આપવુ જોઈએ ”

પાલીતાણાથી વિહાર કરી આચાર્યશ્રીએ તળાજામાં પ્રવેશ કર્યો અને ત્યાં ‘ અનેકાતવાદ ’ પર પ્રવચન કર્યુ પાલીતાણા પાછા ફરી આચાર્યશ્રીએ ત્રણ દિવસ સુધી પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની જયતી ઊજવી આ દિવસોમા સૌરાષ્ટ્રના વડા પ્રધાન શ્રી ઉછરગરાય ઢેબરે આચાર્યશ્રીની મુલાકાત લીધી આચાર્યશ્રીએ “ શિવમસ્તુ સર્વજગત ”નો શ્લોક સમજાવ્યો શેઠ શ્રી કસ્તુરભાઈએ સરકારી કાયદાઓ વિશે બે દિવસ આચાર્યશ્રી સાથે વાતચીત કરી સ૦ ૨૦૦૭મા પાલીતાણામા મુનિ–પુગવોનુ સમેલન મળ્યુ આ

સમ્મેલનને ધર્મમાં અવરોધ કરતી રાજસત્તાનો અને મુંબઈ ધાર્મિક ટ્રસ્ટ બોર્ડનો વિરોધ કરતા ઠરાવો પસાર કર્યા. વહીવટો વ્યવસ્થિત કરવા માટે સામાન્ય યોજનાની રૂપરેખા તૈયાર કરી. આ સમ્મેલનમાં એકતાની સામાન્ય ભૂમિકા રચાઈ પણ દુર્ભાગ્યે કશું નક્કર કામ ન થઈ શક્યું.

સં. ૨૦૦૮ના કાર્તિક સુદિ બીજે આચાર્યશ્રીની ૮૨મી જન્મજયંતી ઊજવાઈ. સ્વ. મુનિશ્રી ચારિત્રવિજયજી મહારાજની જન્મજયંતી આચાર્યશ્રીની અધ્યક્ષતા નીચે ઊજવાઈ. ત્યાંથી આચાર્યશ્રીએ ભાવનગર આવી શ્રી આત્મકાન્તિ જ્ઞાનમંદિરની ઉદ્ઘાટન વિધિ કરી. આચાર્યશ્રીએ "જ્ઞાનક્રિયાભ્યાં મોક્ષઃ"ની વ્યાખ્યા કરી જ્ઞાનનો મહિમા સમજાવ્યો. દક્ષિણામૂર્તિમાં આચાર્યશ્રીએ 'સેવાનો માર્ગ' એ વિષય ઉપર જાહેર પ્રવચન કર્યું.

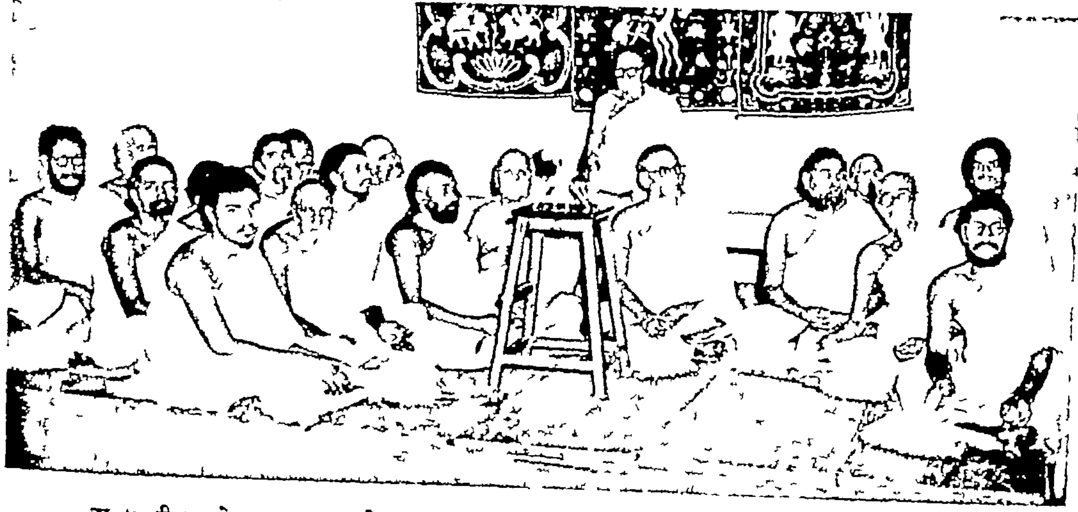
ભાવનગરથી વિવિધ સ્થળોએ વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રી આસો વદ ધોલેરા પધાર્યા. અહીં આચાર્યશ્રીએ 'મનુષ્ય ભવની દુર્લભતા' પર પ્રવચન કર્યું. ચોત્રીશ વર્ષના ગાળા બાદ આચાર્યશ્રીએ પોતાની જન્મભૂમિમાં પ્રવેશ કર્યો અને પ્રતિષ્ઠા તથા અંજનશલાકા મહોત્સવમાં ભાગ લીધો. ફાગણ સુદિ ત્રીજના રોજ આચાર્યશ્રીએ પં. શ્રી સમુદ્રવિજયજી અને પં. શ્રી પૂર્ણાનંદવિજયજીને ઉપાધ્યાયની પદવીથી વિભૂષિત કર્યા અને આચાર્ય શ્રીવિજયઉમંગસૂરિજીને પંજાબ તરફ જવાનો આદેશ દીધો. વડોદરાના શ્રીસંઘે આચાર્યશ્રીને 'શાસન પ્રભાવક'ની પદવી આપવાની ઇચ્છા વ્યક્ત કરી, પરંતુ આચાર્યશ્રીએ એ પદવીનો અસ્વીકાર કર્યો. શ્રીઆદિનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠાવિધિ કરાવી ફાગણ વદિ ચોથના રોજ વિહાર કર્યો.

વિચરતા વિચરતા આચાર્યશ્રી અંધેરીમાં થોડા દિવસ સ્થિરતા કરી ભાયખલા પધાર્યા. ત્યાં પૂ. આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી તથા શ્રી આત્માનંદ જૈન ગુરુકુળ સ્થાપવાનો નિર્ણય કર્યો. અહીંથી વિહાર કરતા કરતા આચાર્યશ્રી ચૈત્ર સુદિ ... ના રોજ સુરત પધાર્યા. ચૈત્ર સુદિ તેરસના દિને મહાવીરસ્વામીની ઊજવણી થઈ. ત્યારબાદ મુંબઈ પધાર્યા અને સુદિ ચૌદસના દિને આચાર્યશ્રીએ ભાયખલામાં આચાર્યશ્રી વિજયપ્રેમસૂરિજી સાથે વિચારવિનિમય કર્યો.

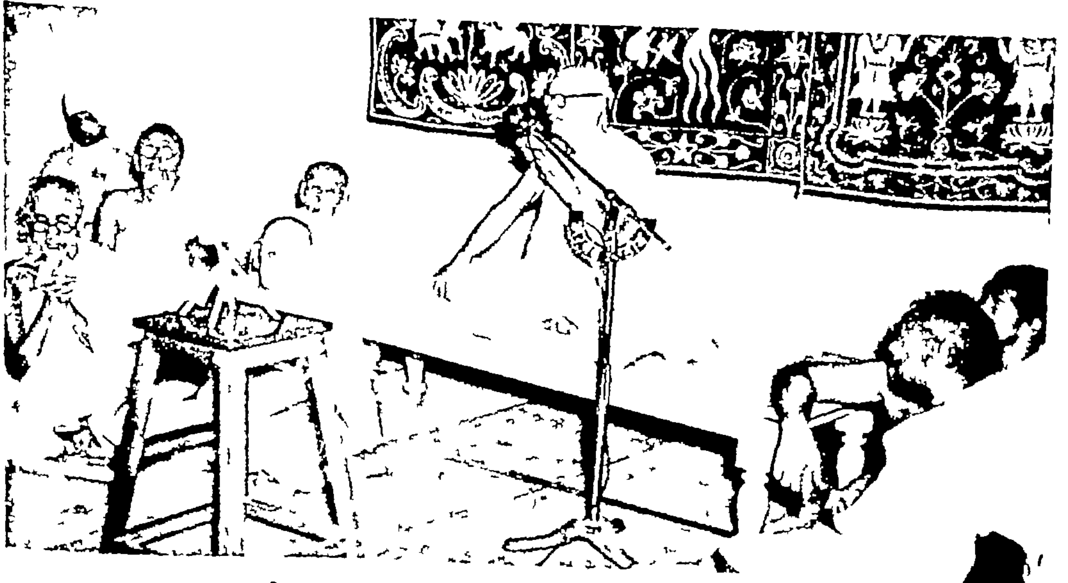
મુંબઈમાં જેઠ સુદિ પાંચમના દિને પૂ. આત્મારામજી મહારાજની જયંતી ઊજવી. જેઠ વદિ પાંચમે આચાર્યશ્રી ઘાટકોપર પધાર્યા અને ત્યાં શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કોન્ફરન્સના અધિવેશનમાં ભાગ લીધો. ત્યાંથી આત્મ-આરાધનાના ઉત્કર્ષ માટે પ્રેરક પ્રવચન કર્યું. આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી ઉત્કર્ષ ફંડમાં રૂ. ૧ ... ૧૬, ... નો ફાળો થયો. અધ્યાત્મપ્રેમી આચાર્યશ્રી બુદ્ધિસાગરસૂરિજીની જયંતી ઊજવી. આચાર્યશ્રીના પ્રેરક પ્રવચનોને પરિણામે સાધર્મી સેવા સંઘની સ્થાપના થઈ.

આચાર્યશ્રીની મુંબઈમાં અનેકવિધ પ્રવૃત્તિઓ હતી. સં. ૨૦૦૮ના શ્રાવણ વદિ બારસે મુંબઈ ધાર્મિક ટ્રસ્ટ બોર્ડના વિરોધની સભામાં હાજરી આપી. પર્યુષણપર્વની સારી ઊજવણી કરાવી. ભાદરવા સુદિ અગિયારસના દિને આચાર્યશ્રી હીરવિજયસૂરિજીની, અને ચૌદસના દિને શ્રી જૈન સ્વયંસેવક મંડળના ઉપક્રમે શ્રી વિજયધર્મસૂરિજીની સ્વર્ગારોહણ જયંતી ઊજવી. ભાદરવા વદિ બીજના દિને શ્રી જિનદત્તસૂરિની જયંતી ઊજવી. ભાદરવા વદિ અગિયારસના દિને ગોવાળિયા ટૅન્કની જાહેર સભામાં 'અહિંસા પરમો ધર્મ' પર આચાર્યશ્રીએ આકર્ષક પ્રવચન આપ્યું.

આસો સુદિ બીજના દિવસે ડૉ. ... એ આચાર્યશ્રીની આંખે સફળ ઑપરેશન કર્યું. સં. ૨૦૧૦ના કાર્તિક સુદિ બીજના દિને ગોડીજીના ઉપાશ્રયેથી આચાર્યશ્રીના ૮૩મા વર્ષ પ્રવેશે ... ત્રીજના દિવસે ભાયખલાની સભામાં આચાર્યશ્રીએ અનાદિ આકર્ષક પ્રવચનમાં મુખ્યતયા એકતા



ता ७ थी ९ नवेम्बर १९५२ना रोज श्री महावीर जैन विद्यालयमां योजायेल सम्मेलन प्रसंगे विराजमान आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि अने मुनिमहाराजो



सम्मेलनना छेल्ला दिवसे प्रवचन करता आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि

संलेखना लेवा दिवसे श्री महावीर जैन विद्यालय तरफथी प्रमुख श्री मनसुखलाल मास्तरने आगेवान बारसी श्री चौकसी गुरुपूर्णिमा आचार्यश्रीनी चरणमां वंदनाओ अंजलि अर्पी रह्या छे. श्री फुलचंद शामजी, श्री सोमाभाई दलाल श्री कांतिलाल शाह श्री पन्नालाल देसाई श्री मनसुखलाल मास्तर अने मुनिश्री शिवविजयजी वगेरे नजरे पडे छे.
डाबी बाजु आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि तथा शिष्यसमुदाय बेठा छे.

आचार्यश्री श्रीमहावीर जैन विद्यालयमां बिराजमान हता ता. १५-१०-१९५१ना रोज जैन श्री संघना आगेवानो संघमां आव्या ते प्रसंग

શ્રી ગણપતિશંકર દેસાઈએ કહ્યું "એક વલ્લભ રાજક્ષેત્રે જન્મ્યો, આ વલ્લભ ધર્મક્ષેત્રે જન્મ્યો" ઉત્સવ ચાલુ હતો એ દરમિયાન ભાયખલાના મંડપમા આગ લાગી પણ કોઈને નુકસાન થયુ નહિ શુદિ ત્રીજના દિવસે ભાયખલાના મંડપમા પરમાર ક્ષત્રિયોને વાસક્ષેપ નાખી શ્રાવક બનાવ્યા ગુરુભક્ત શ્રી ઘનશ્યામજીના ભજનોએ પણ મુબઈને ઘેલુ લગાડ્યુ કાર્તિક શુદિ ચૌદશના દિને થાણા ખાતે ઉપધાન કરાવવાની આચાર્યશ્રીને વિનતિ કરવામા આવી આ દિને ઉપદેશ આપતા આચાર્યશ્રીએ પ્રતિજ્ઞા કરી "મારા વિહાર સુધી કૉન્ફરન્સે શરૂ કરેલા ઉત્કર્ષ ફડમા પાચ લાખ રૂપિયા નહિ થાય તો દૂધનો ત્યાગ કરીશ" આ પ્રતિજ્ઞાથી વાતાવરણમા નવી ચમક આવી કાર્તિક શુદિ પૂનમે કલિકાલ સર્વજ્ઞ આચાર્યશ્રી હેમચન્દ્રાચાર્યની જયંતી વિશે પ્રેરક પ્રવચન કર્યું

કાર્તિક વદિ છઠ્ઠ, સાતમ, તથા બીજી સાતમે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમા ઐતિહાસિક સમેલન મળ્યુ આ પ્રસગ માટે આચાર્યશ્રી અને મુનિમડળ તા૦ ૬–૧૧–૧૯૫૨ના રોજ વિદ્યાલયના મકાનમા પધાર્યા સસ્થાના કાર્યવાહકો અને વિદ્યાર્થીઓએ તેઓશ્રીનુ ભાવભીનુ સ્વાગત કર્યું

તા૦ ૭મી શુક્રવારે સવારે સમેલનનો આરભ આચાર્યશ્રીના પ્રેરક મગળ પ્રવચનથી શરૂ થયો તેઓશ્રીએ જણાવ્યુ "કોઈ પુણ્યના ઉદયના લીધે હું આજે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમા વર્તમાન અને પૂર્વ વિદ્યાર્થીઓને, કાર્યકર્તાઓને અને શ્રોતાગણને મળી શક્યો છુ" વિદ્યાર્થીઓને સબોધીને તેઓશ્રીએ કહ્યું "અભ્યાસનો ઉદ્દેશ શુ છે? વિચાર-વિનિમય, ચર્ચા આદિથી જ્ઞાનને કસવુ અને પુષ્ટ કરવુ માત્ર પુસ્તકો ગોખી જવાથી કાંઈ વળતું નથી, પરતુ યોગ્ય અભ્યાસ અને તેનો જીવનમા ઉપયોગ થાય તે જ ઇષ્ટ છે અભ્યાસનો ખરો ઉદ્દેશ આપણને પશુ અવસ્થામાથી માનવ અવસ્થામા લાવવાનો અને છેવટે ખરો માનવ બનાવવાનો છે

"આજની કેળવણી માણસના દિલને બગાડે છે તેને દૂર કરવા ધાર્મિક અભ્યાસ આવશ્યક છે તે માટે આવા વિદ્યાલય અને પાઠશાળા સ્થાપવામા આવે છે"

બપોરે ભરાયેલા વિદ્યાર્થી સમેલનમા વિદ્યાલયની સ્થાપનાનો આદર્શ રજૂ કરતા તેમણે કહ્યું "કેળવણી પ્રાપ્ત કરવાની સાથે જ તમારે વિનયી થવુ જોઈએ વિદ્યાર્થી અવસ્થા એક પ્રકારની દીક્ષા છે, તેથી તમારે વિદ્યાપ્રાપ્તિના કાર્યમા તલ્લીન બની જવુ જોઈએ"

"વિદ્યાલય એ જૈન સમાજની શાન છે, પ્રગતિની પારાશીશી છે, શ્રમની સિદ્ધિ છે અને આદર્શની ઇમારત છે પ્રભુ પ્રત્યે પ્રાર્થના છે કે આ સમારભ સફળ હો, અને સસ્થા સદાસર્વદા પ્રગતિમાન અને વિકાસશીલ હો તથા દેશ અને સમાજની સેવામા સહાયભૂત હો!" આવા બીજા અનેક સદેશાઓ સપ્યો, કેળવણીકારો અને શુભેચ્છકો તરફથી મળ્યા હતા

બીજે દિવસે આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીકૃત ચારિત્રપૂજા રાગરાગણી સાથે ભણાવવામા આવી હતી રાત્રે સગીતનો રસપ્રદ કાર્યક્રમ જાણીતા સગીતકાર શ્રી શાતિલાલ બી૦ શાહે રજૂ થયો હતો

ત્રીજે દિવસે આચાર્યશ્રીએ પોતાના મગલ પ્રવચનથી સમેલનની શરૂઆત કરી અનેક ઐતિહાસિક દાખલાઓ ટાકી તેઓશ્રીએ ધર્મના સિદ્ધાતોને સમજણપૂર્વક અનુસરવા જણાવ્યુ ધાર્મિક ક્રિયાઓ તેની અદર રહેલી મૂળભૂત ભાવનાઓ સમજીને કરવા ખાસ અનુરોધ કર્યો દરેક જીવો ઉપર પ્રેમ દયા રાખી દુર્ગતિમા લઈ જનાર કષાયો ઉપર જીત મેળવવાની એઓશ્રીએ ઘોષણા કરી.

નપોરના નગીને સમારંભમાં ઘણાં મનનીય પ્રવચનો થયાં. આચાર્યશ્રીએ પ્રવચનની શરૂઆત કરતાં જણાવ્યું કે મુંબઈ શહેરમાં ઘણાં પૈસાદારો છે, ઘણાં ઉચ્ચશિક્ષિત સજ્જનો છે, ઘણાં સાક્ષરો છે, પણ મારી ભાવના મુજબ આ વિદ્યાલયની જેટલી ઉન્નતિ થવી જોઈએ તેટલી થઈ દેખાતી નથી. આજ ઉન્નતિથી મને સંતોષ નથી. હું તો માનું છું કે હજુ આ વિદ્યાલય ભારતના જૈન સમાજ માટે શિક્ષણના અનેક પ્રશ્નો છે. સમયાનુસાર માટે ઉત્સાહી બાળકોને તમારી શક્તિ પ્રમાણે ધન આપી શિક્ષણના પ્રશ્નને હલ કરો. જૈન શાસનનો ઉદ્ધાર કરવો હોય, જૈન શાસનનો જગતમાં પ્રચાર કરવો હોય તો ઉપાય પણ શિક્ષણપ્રચારના કાર્યમાં સમાયો છે. આ મારી ભાવના છે—મારા અંતરની ભાવના છે. ૮૪ વર્ષે મારી એ ભાવના પાર પડી શકી નથી એનું મને દુઃખ છે.

મુંબઈ સરકારના મજૂર પ્રધાન શ્રી. શાંતિલાલ શાહે જણાવ્યું કે ભારતવર્ષના જૈનો પાસે પુષ્કળ ધન છે, જૈનો પાસે વિદ્વાનોની કમી નથી, જૈનો પાસે વિદ્યા તથા સાધનો વગેરેથી પૂજનીય આચાર્ય છે. તો જૈનો જૈન ધર્મ તથા તત્ત્વજ્ઞાનની એકાદ કોલેજ ઊભી કરે તો તે આવકારદાયક ગણાશે.

મુંબઈના તે વખતના નગરપતિ શ્રી ગણપતિશંકર દેસાઈએ જણાવ્યું કે, ધન તમે રળો છો એનો સદુપયોગ કરો. ઉદ્યોગને આપના આચાર્યો જનમત નથી. કેળવણીને ઉત્તેજન આપો. ઉત્તેજન કરનાર જો કોઈ વસ્તુ હોય તો તે વિદ્યા છે. સમાજ વિદ્યાથી ઉન્નત બનશે. આચાર્યશ્રીએ સમાજમાં વિદ્યાપીઠ સ્થાપવા પ્રયત્નો કર્યા છે એનો પ્રકાશ સદાકાળ તેજપુંજ જેવો રહે એમ હું ઇચ્છું છું.

પુરાતત્ત્વ વિશારદ મુનિશ્રી જિનવિજયજીએ જણાવ્યું કે આ પ્રસંગે આચાર્ય વિજયવલ્લભસૂરિજીના દર્શનનો લાભ મળશે એમ સમજી હું અહીં આવ્યો છું. એમના સંસ્કારોમાં ચોવીસ કલાક રહેવાનો મને લાભ મળ્યો હતો. આચાર્યમહારાજે તમને આ સંસ્થાને આગળ વધારવાની જે વાત કહી છે તે તમે સમજો. તમને તેમના પ્રત્યે અભિમાન હોય તો દરેક વર્ષે એ તેમની પાસે જઈ કહેવું જોઈએ કે પૂ. આચાર્યશ્રી, આપની ઇચ્છા મુજબ અમે કાર્ય કરવા તૈયાર છીએ. આ પ્રમાણે તેમની ઇચ્છા મુજબ વિદ્યાનો પ્રચાર કરવાના કાર્યમાં લાગી જાઓ."

પ્રમુખસ્થાનેથી બોલતાં શ્રી મગનલાલભાઈ માસ્તરે સંસ્થાની પ્રગતિ જોતાં નજર પ્રગતિ માટે સંચાલકોને અભિનંદન આપ્યા હતા. તેમણે આચાર્યશ્રીના પ્રવચનનો ઉલ્લેખ કરતાં જણાવ્યું હતું કે, જૈન કોમ સુશિક્ષિત અને ગાભાર છે એટલું જ નહિ, તેની પાસે ધન પણ છે. આચાર્યશ્રીએ જે પૂર્તિ નથી કરવાની, જે પ્રકાશ રચવાની યોજના કરી હતી એ યોજના સિદ્ધ થઈ નથી. સમાજનેતાઓએ તેમની આ ભાવનાને આ વિદ્યાલયમાં પાર કરવાનો પ્રયાસ કરવો જોઈએ.

તેમણે વધુમાં કહ્યું હતું કે ધનવાન પુરુષો બોલે ત્યારે જ છે એમ કહેવાય છે. ધીમે ધીમે કર વધતો જાય છે અને ધીમે ધીમે સામ્યવાદનો મોટો ભય સરકાર તેના હાથમાં લઈ લેશે એ વાત સાચી છે. આથી જેમની પાસે ધન છે તેમણે પોતાની લક્ષ્મીનો સદુપયોગ કરી એવી રાખવું જોઈએ. નવી વિદ્યાલય જેવું બીજું ઉત્તમ ક્ષેત્ર નથી. એટલે આ વિદ્યાલયમાં જૈન સમાજ દાનનો પ્રવાહ વહેતો કરશે એવી આશા છે."

આવી રીતે આચાર્યશ્રીની નિશ્રામાં થયેલું વિજયનું ભવ્ય આ સ્નેહસંમેલન ખરે જ ઐતિહાસિક સંમેલન તરીકે ઓળખાય તેવું બન્યું.

આ પછી આચાર્યશ્રીની પ્રકૃતિ દિન પ્રતિદિન બગડતી રહી. ડૉ. ભણશાળી વગેરે સ્નેહીઓએ પ્રેમ પ્રયત્નો આપી આચાર્યશ્રી ભાયખલામાં રહ્યા. મહાવીર સ્વામીના મહિના સુધી આચાર્યશ્રીએ

થાણામા સ્થિરતા કરી ઉપધાન કરાવ્યા ઉપધાનમા આચાર્યશ્રીએ સૂતરની માળાનો સુધારો કર્યો ઉપધાન તપસમિતિએ માળાના ઘી બોલનારની ઇચ્છા મુજબ ઘીની બોલીની ઉપજ સાધારણમા લઈ જવાનો ઠરાવ કર્યો મહા શુદિ ચોથના દિને માળારોપણની વિધિ થઈ અને ઉપાધ્યાય શ્રી સમુદ્રવિજયજીને આચાર્ય પદવી આપવામા આવી આ બધા પ્રસગોએ જનતાનો ઉત્સાહ સારો હતો

થાણાથી આચાર્યશ્રી ગોડીજીના ઉપાશ્રયે પધાર્યા ફાગણ મહિનાની શરૂઆતમા આચાર્યશ્રીએ જૈન સિદ્ધાતોના પ્રચાર માટે 'પુસ્તક પ્રકાશન ફડ' શરૂ કરાવ્યુ ફાગણ શુદિ નોમના દિને જૈન ધર્મ અગે પાશ્ચાત્ય વિદ્વાનોએ પ્રવચન કર્યાં અને જૈન સિદ્ધાતોના પ્રચાર માટે વિદ્વાનોની સમિતિ નીમવાનુ સૂચન કર્યું

ફાગણ વદિ બીજના દિવસે આચાર્યશ્રી સાથે ચાલીસ ચાલીસ વર્ષ રહેલા આચાર્ય સમુદ્રસૂરિજીએ પજાબ જવા માટે વિહાર કર્યો ઉત્કર્ષ ફડ માટેનો પ્રચાર જોરશોરથી શરૂ થયો ધનજી સ્ટ્રીટની સભામા બહેનોએ બગડીઓ આપી પાટણ જૈન મડળ બિલ્ડિંગમા એસી ભાઈઓએ બે હજાર રૂપિયા ભેગા કરવાની પ્રતિજ્ઞા લીધી આચાર્યશ્રીએ ગલીએ ગલીએ પ્રવચનો કર્યાં

આઝાદ મેદાનમા ચારે ફિરકાના આશ્રયે મજૂર-સચિવ શ્રી શાતિલાલ શાહના અધ્યક્ષપદે મહાવીર જયતીની ઊજવણી થઈ આ પ્રસગે આચાર્યશ્રીએ જિનેશ્વર દેવે બતાવેલ અહિંસાધર્મને આચરણમા મૂકવાનો ઉપદેશ આપ્યો જૈનોના ઉત્કર્ષની મોટી યોજના માટે શ્રી કપુરચદ મહેતા તથા શ્રી સોહનલાલ દુગડજીએ મોટી રકમ આપવાની તૈયારી બતાવી

ચૈત્ર વદિ ચૌદશના રોજ આચાર્યશ્રીએ લુહારચાલની વિરાટસભામા દારૂત્યાગ પર પ્રેરક પ્રવચન કર્યું આ પ્રસગે શ્રી મગળદાસ પકવાસા, તેમ જ બીજા જાણીતા ગૃહસ્થોએ હાજરી આપી હતી આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યુ "ધર્મ-શાસ્ત્રો પુકારી પુકારીને કહે છે કે ખોટા સાધનો અને પીણા મનુષ્યને દુર્ગતિને પથે ધકેલે છે એવો દોષિત મનુષ્ય પોતાનુ નુકસાન કરે છે અને પોતાના કુટુબનો, સમાજનો અને રાષ્ટ્રનો ઉચ્છેદ કરે છે માટે બૂરી આદતોને છોડી દો મનુષ્યમા મનુષ્યત્વ હોય તો દુર્ગતિને પથે લઈ જતી વસ્તુઓ છોડી દેવી ઘટે આત્મતત્ત્વના વિકાસની આડે આવતી બધી વસ્તુઓને છોડી દો પરદેશીઓ વિદાય થયા એની સાથે દારૂ પણ જવો જોઈએ કોઈ પણ જાતનો નશો નાશકારક છે"

આચાર્યશ્રીએ વધુમા કહ્યુ કે, "હુ પજાબમા અબાલા શહેરમા હતો ત્યા મને પડિત મોતીલાલ નહેરુનો ભેટો થઈ ગયો વાર્તાલાપ દરમિયાન મેં તેમને પૂછ્યુ કે 'તમે દેશને આઝાદ કરવા બહાર પડ્યા છો તો પછી પરદેશી સિગારેટ કેમ પીઓ છો ?' તરત જ મોતીલાલજીએ સિગારેટ ફેંકી દીધી અને સિગારેટ ન પીવાની પ્રતિજ્ઞા લીધી પછી પડિત મોતીલાલ નહેરુએ એક જાહેર સભામા કહ્યુ હતુ કે 'અત્યાર સુધી હુ અક્કલ ગુમાવી બેઠો હતો પણ એક જૈન મુનિએ અક્કલ આપી' શ્રી કે૦ કે૦ શાહ અને શ્રી પોપટલાલ શાહ વગેરેએ પણ આ પ્રસગે પ્રેરક પ્રવચનો કર્યાં હતા

આચાર્યશ્રીએ વાલકેશ્વરમા સ્થિરતા કરી વૈશાખ વદિ ત્રીજે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમા 'મનુષ્યજન્મની દુર્લભતા' અને બીજે દિવસે 'જૈનોની એકતા' ઉપર આચાર્યશ્રીએ પ્રેરક અને ઉદ્બોધક પ્રવચન કર્યું ઉદ્યોગગૃહો ખોલવાનો આચાર્યશ્રીએ અનુરોધ કર્યો વૈશાખ શુદિ પાચમથી દશમ સુધી શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમા આચાર્યશ્રીએ બોધપ્રદ પ્રવચનો કર્યાં ૩૪૦ મૂર્તિઓની અજનશલાકા વિધિ કરી પાયધુનીથી આચાર્યશ્રી ભાયખલા પધાર્યા ચારિત્રમહોત્સવનો ભવ્ય કાર્યક્રમ થયો સમારભમા પ્રમુખપદે શ્રી શ્રેયાસપ્રસાદ જૈને આચાર્યશ્રીને 'હીરક મહોત્સવ ગ્રથ' અર્પણ કર્યો ચારે ફિરકાઓમાં એકતા

પધારતા તેમ જ સ્થાનિક ભાઈઓના હૈયા હળવે એક સમિતિ રચાઈ. ભાયખલા મંદિરમાં ... યોજનાની જાહેરાત કરી. આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયને સારી આર્થિક મદદ મળી. શ્રી કપૂરચંદ નેમચંદ મહેતા, શ્રી ઝવેરચંદ નેમચંદ મહેતા અને શ્રી કેશવચંદ નેમચંદ મહેતા તથા તેમના કુટુંબીજનોને તથા અન્ય દાતાઓને અભિનંદન આપવાનો સમારંભ તા. ૧૪-૧-૧૯૫૩ના રોજ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયે યોજ્યો અને ત્યારે આચાર્યશ્રી સભામાં બિરાજમાન હોઈ શ્રી કસ્તુરભાઈ લાલભાઈ પ્રમુખ બન્યા.

સં. ૨૦૧૦ પ્રતિષ્ઠા પૂર્ણ થયે આચાર્યશ્રીની તબિયત જ ભાયખલા મુકામે શ્રી ઉમરાજ મહેતા, શ્રી નાગરદાસ પરીખ વગેરેએ ... ઉપદેશ ... પ્રસંગે શ્રી ... આચાર્યશ્રીની પ્રશસ્તિ થઈ. આચાર્યશ્રીએ કહ્યું: હું જૈન નથી, બૌદ્ધ નથી, વૈષ્ણવ નથી, શૈવ નથી, હિંદુ નથી, મુસ્લિમ નથી, હું તો પરમાત્માએ બતાવેલા માર્ગ પર ચાલનાર એક માનવી છું. આજે સર્વ શાંતિ ઈચ્છે છે. સાચી શાંતિ માટે સૌ પ્રથમ આપણું જ મન શાંત હોવું જોઈએ.

ત્યારબાદ વળી આચાર્યશ્રીની તબિયતમાં વ્યાધિ ઊભો થયો. સારવાર અને ઉપચાર માટે તા. ૨૧મી ડિસેમ્બર ૧૯૫૩ના રોજ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં પધાર્યા. સંસ્થામાં અને બીજા અનેક સ્થળોએ આચાર્યશ્રીની શાંતિ માટે આરાધના, જાપ અને સ્નાત્ર પૂજાઓ થઈ. ... ડૉક્ટરોએ ઘણી મહેનત કરી. નિષ્ણાતો દ્વારા ઉપચાર થઈ શક્યો. ... ડૉ. ... મહેતા, એમ. ડી. એમ. આર. સી. પી. (લંડન), ડૉ. શાંતિલાલ જૈન ... એમ. ડી. અને ડૉ. મોહનલાલ ... એમ. બી. બી. એસ., ડી. ટી. એમ. (લંડન) તેમ જ આચાર્યશ્રીની પ્રકૃતિ અને શારીરિક સ્થિતિથી વર્ષોથી પરિચિત વૈદરાજ શ્રી ... વૈદ્ય ... નિષ્ણાત ... ના ... તેમની સલાહ અનુસાર ઉપચાર થવા લાગ્યા. તા. ૧૦-૧-૧૯૫૪ ના રોજ આચાર્યશ્રીની તબિયત તથા ઉપચાર અંગે વિચારણા કરવા જૈન સમાજના આગેવાન કાર્યકર્તાઓની સભા મળી. એ વખતે એક સમિતિ નીમવામાં આવી. ઉપચાર સમિતિ ઉપર શ્રી ... ઝવેરી, શ્રી ... મોતીલાલ ... શ્રી ... શ્રી ... શ્રી ... શ્રી ... શ્રી ... શ્રી ... અને ... શ્રી ... મોદી અને શ્રી ... ની નિમણૂક કરવામાં આવી. ... ડૉ. ... મહેતા એમ. ડી. એમ. આર. સી. પી. (લંડન) ડૉ. ... પરીખ, એમ. આર. સી. એસ. (ઇંગ્લેંડ) ડૉ. ... એમ. ડી. એમ. આર. સી. પી. (લંડન), ડૉ. ... એમ. આર. સી. એસ. (ઇંગ્લેંડ) ડૉ. શાંતિલાલ જૈન ... એમ. ડી. ડૉ. મોહનલાલ ... એમ. બી. બી. એસ. ડી. ટી. એમ. (લંડન) અને વૈદરાજ શ્રી ... ની નિમણૂક કરી.

ઉપરી નિષ્ણાતોની સલાહ ... સારવારમાં પ્રસંગોપાત ફેરફાર કરવામાં આવતા હતા. ... આચાર્યશ્રીની શારીરિક તપાસ અને ઉપચાર કરવાનું ચાલુ રાખ્યું.

આ ... ની નીચેના ઉપચાર સમિતિ તા. ૧૩-૧-૧૯૫૪ના રોજ મળી અને ... માટે ... કરવાનું નક્કી થયું. ... અને ... નિષ્ણાત

ડૉ૦ એલ૦ ડી૦ ધરાજે, એમ ડી ની સારવાર શરૂ થઈ દિનપ્રતિદિન સુધારો જણાતો ગયો શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમા પધાર્યા ત્યારથી આચાર્યશ્રીની સર્વશ્રેષ્ઠ સારવાર થાય અને તેમનુ આરોગ્ય એકદમ સુધરે તે અંગેનો સંસ્થાની વ્યવસ્થાપક સમિતિનો આદેશ ધ્યાનમા લઈ સર્વ કાર્યવાહી કરવામા આવી હતી તેઓશ્રીના સ્વાસ્થ્ય અંગે દેશપરદેશથી આવતા તાર તથા પત્રોના યોગ્ય પ્રત્યુત્તર તુરત આપવામા આવતા હતા આચાર્યશ્રીની લોકપ્રિયતાને કારણે દરરોજ હજારો ભક્તો સંસ્થામા તેઓશ્રીના દર્શનાર્થ આવતા હતા આ સમય દરમિયાન સંસ્થા તીર્થધામ બની ગઈ હતી દાક્તરી ઉપચાર માટે જરૂરી સર્વ સૂચનોનો બરોબર અમલ કરવામા આવતો હતો દિનપ્રતિદિન તબિયતમા પણ સુધારો ચાલુ રહ્યો

આચાર્યશ્રી વિજયસમુદ્રસૂરિજી બોરસદથી ઉગ્ર વિહાર કરી શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમા આચાર્યશ્રીની શુશ્રૂષામા હાજર થયા ઘાટકોપરમા ઉપધાનના તપસ્વીઓ અને સંઘને આચાર્યશ્રીએ સાવધાન રહેવાનો અનુરોધ કરી કહ્યુ, "મુંબઈના શ્રાવકે ખ્યાલ રાખવો જોઈએ કે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય એક બોર્ડિંગ છે પણ એ મહાવીર જૈન વિદ્યાલય જો યુનિવર્સિટીના સ્વરૂપમા હોય તો ધાર્મિક અને વ્યાવહારિક બે પ્રકારની શિક્ષાનો પ્રચાર સરળ થઈ શકે એ વિના જૈન સમાજની દશા સંપૂર્ણ રીતે સુધરવી મુશ્કેલ છે શ્રાવકસમુદાય ભૂખ્યો ન રહે અને કેળવણી વિના કોઈ ન રહે એ વસ્તુ પર ધ્યાન આપવુ જોઈએ " સ૦ ૨૦૧૦ના ચૈત્ર શુદિ એકમના રોજ પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજની ૧૧૭મી જયંતી શાનદાર રીતે ઊજવાઈ ચૈત્ર શુદિ તેરશના દિને મુંબઈ સરકારના કેળવણી ખાતાના પ્રધાન શ્રી દિનકરરાવ દેસાઈના પ્રમુખપદે મહાવીર જયંતી પ્રસંગે 'અહિંસા દિન' ની ઉજવણી થઈ જેઠ વદિ બારશના દિને આચાર્યશ્રી સમુદ્રસૂરિજીએ 'શિક્ષણ દ્વારા સમાજનો અભ્યુદય' એ વિષય ઉપર મનનીય પ્રવચન કર્યું આષાઢ શુદિ બીજના રોજ આચાર્ય તુલસી આચાર્યશ્રીને મળવા વિદ્યાલયમા પધાર્યા આસો વદિ ત્રીજે વિદ્યાલયમા વિદ્યાર્થીઓ સમક્ષ આચાર્યશ્રીએ કહ્યુ, "વિદ્યાપ્રાપ્તિનુ મુખ્ય ધ્યેય સત્ય સમજવાનું અને સત્યનુ આચરણ કરવાનુ છે વિદ્યા પ્રાપ્ત કરી તેનો ઉપયોગ સમાજના કલ્યાણમા અને ધર્મોદ્ધારમા કરવો એ જ મહાન સદ્‌ગુણો છે "

આચાર્યશ્રીને શક્તિ અનુસાર હરવાફરવાની છૂટ મળી અને દરરોજ સવારમા વાલકેશ્વર દર્શનાર્થે જવાનો કાર્યક્રમ લગભગ દોઢ માસ ચાલુ રહ્યો વર્ષાઋતુ શરૂ થતા આ કાર્યક્રમ બંધ થયો આ સમય દરમિયાન તબીબી સલાહકાર મંડળના દાક્તરો નિયમિત રીતે આચાર્યશ્રીનુ સ્વાસ્થ્ય તપાસવા આવતા હતા અને સુધારા પ્રત્યે સંતોષ વ્યક્ત કરતા હતા આચાર્યશ્રીની સંસ્થામા સ્થિરતા હોવાથી દાક્તરી લાઈનના જૂના વિદ્યાર્થીઓ હમેશા મદદ આપવા તત્પર હતા આ રીતે જુલાઈના અંત સુધી ચાલ્યુ આચાર્યશ્રીની શારીરિક સ્થિતિમા વિશેષ સુધારો કે રોગ તદ્દન નાબૂદ ન થયેલ હોવાથી ઉપચારસમિતિ બોલાવવામા આવી હતી, જે વખતે ઉપાયોમાં ફેરફાર કરવા અંગે જુદા જુદા સૂચનો થયા આ સમિતિએ પર્યુષણ પર્વ પછી ફરી મળી પુન વિચારણા કરવાનુ નક્કી કર્યું થોડા દિવસો સુધી સારવાર અને ઉપચાર ચાલુ રાખ્યા દાક્તરોએ નિયમિત આવી શારીરિક તપાસ ચાલુ રાખી

આચાર્યશ્રીની શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમા સ્થિરતા દરમિયાન તબીબી મંડળના દાક્તરોએ કોઈ પણ જાતના સંકોચ વિના સમગ્ર શક્તિ અને નાણાના ભોગે સેવા અર્પી છે તબીબી મંડળના દાક્તરોએ રાત્રે કે દિવસે ગમે તે સમયે, સમયની અનુકૂળતા હોય કે ન હોય, છતાયે આચાર્યશ્રીના સ્વાસ્થ્ય માટે તરત જ કમર કસી પૂરતી કાળજી રાખી હતી ડૉ૦ જયંતિલાલ ચંદૂલાલ શ્રોફે મહિનાઓ સુધી સંસ્થામા અને પછી ઈશ્વરનિવાસમા દરરોજ એક વખત નિયમિત જઈને સેવા અર્પી હતી પેથોલોજિસ્ટ ડૉ૦ શાંતિલાલ એન૦ શાહે સંસ્થામા આચાર્યશ્રીની સ્થિરતા દરમિયાન અને પછી પણ મહત્ત્વની સેવા અર્પી હતી

તમીળી મંડળના સભ્યો જેમ કે ડૉ. બી. ટી. સેલમ, ડૉ. એ. બી. ભાટીયા, ડૉ. નાથુભાઈ પટેલ, ડૉ. બન્ન પટેલ, પં. ત્રિલોકચંદ, ડૉ. ટી. ડી. મોદી, ડૉ. રવીન્દ્ર મોહનલાલ શ્રોફ, ડૉ. જયાબાઈ શાહ, ડૉ. રતન, ડૉ. રસિકલાલ શાહ તથા બીજા ઘણાંઓએ સારી ક્રિયાઓએ સેવા આપી હતી. વૈદ્યરાજ શ્રી વાડીભાઈએ વડોદરાથી આવી આચાર્યશ્રીની જ[illegible] સારવાર પણ તે માટે ઉપચાર શ્રી જો પણ સેવા આપી હતી.

તા. ૧૭–૧–૧૯૫૪ના દિવસે શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં વિદ્યાના ઉત્થાન અંગેના શ્રીમાન ત્રીકમલાલજીએ શ્રી મહેન્દ્ર જૈન પંચાંગ અંગે નીચે પ્રમાણે અભિપ્રાય મોકલી આપ્યો હતો

જૈન સમાજની ધર્મ ક્રિયાનું આરાધન કરવા અમો એવા અભિપ્રાય ઉપર આવ્યા છીએ કે જે ધાર્મિક પ્રસંગે મુહૂર્તોનો સમય બતાવ્યા પ્રમાણે હોય, તિથિ અંગેનું અંતર દૂર કર્યું હોય અને અંગ્રેજી તારીખોની વિગતની બાબતો સાથે બતાવી હોય તો સંઘ શક્ય એ પંચાંગને માન્ય ગણવું જોઈએ. એમ થાય તો આપણે વ્યવહાર અને ધર્મ બન્ની ક્રિયામાં એક મોટું પગલું ભરેલું ગણાશે.

તા. ૧૨મી ઓગસ્ટના રોજ આચાર્યશ્રીએ સ્વ. આચાર્ય પ્રેમ સૂરીજી અને શ્રી પ્રતિભાવ ઉપાધ્યાયના નિર્વાણને યાદ. ઉપાશ્રયમાં [illegible] કરવાની આચાર્યશ્રીની ઇચ્છાને માન આપી ન બની વૈદ્યરાજને આપવામાં આવ્યા

આચાર્યશ્રીને ઉપચાર માટે આખુંયે ઇતિહાસ શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયમાં સ્થિરતા કરવાની એનો પ્રસંગો ઉપસ્થિત થયા. ઇતિહાસને સાચવી અને મુગ્ધ કરનાર આચાર્યશ્રીની આ છેલ્લી સ્થિરતા જૈન સમાજ અને આ સંસ્થાના ઇતિહાસમાં ચીરસ્થાયી બની રહે છે

આચાર્યશ્રીએ સ્વતંત્રતા પ્રસંગે નીચેનો સંદેશો આપ્યો "સ્વતંત્રતાના આ મહાન દિવસે દયા, દાન, દાન, સમાન અને સ્વધર્મ ભક્તિ વગેરે ગુણોને તમે વધારે જીવનમાં ઉતારશો. આજના આ મહાન દિવસે અહિંસા મંદિર પાસ કું એવી આશા રાખું છું, કે આપ વચ્ચેથી ઘરેથી તો જૈન મુનિવર્યશ્રી એવી કરશો. આજના દિને આ ભારત ભૂમિ પ્રત્યે તું સત્ય દાનમાં ઉત્તરી સૌ કોઈને આપવી અને દાન આપીને નિષ્ફળ અપવાદમાંથી બચાવે.

વૈદ્યરાજ શ્રી વ્રજ લાલભાઈએ કહ્યું ... [illegible] દેશોમાંના [illegible] ઉત્તમ પ્રતિનિધિ બની આવે છે. ... આચાર્યશ્રી પાસે આવ્યા ... નીકળ્યા આચાર્યશ્રી ... જેમ કે ... દરેક ... અનુભવ ... [illegible] આપવા છે ... એ ... જો કે ... આ ... એ ... અને ... [illegible] તા. ૧૭–૯–૧૯૫૪ના રોજ આચાર્યશ્રીએ જૈન વસ્તુ તત્ત્વનો ... અનુસાર ... તે માટે ... વિચાર પણ પ્રગટ કર્યો.

તા. ૨૧ ના સવારના ... ને ... દિન હતા. ... વૈદ્યરાજ આવ્યા. આચાર્યશ્રીની નાડી તપાસી આચાર્યશ્રીએ ... તબિયત ... આચાર્યશ્રીની ... શ્રી ... પ્રતિભાવ ... આચાર્યશ્રીએ ... લાવ્યા ... લીધી ... આપી ... આચાર્યશ્રી ... ન ... રહી આચાર્યશ્રીએ ... નામોનું સ્મરણ કર્યું તથા ...

બોલવા લાગ્યા પાસે સૂતેલા મુનિશ્રી જિનભદ્રવિજયજી જાગી ઊઠ્યા અને આચાર્યશ્રીને કહ્યું, "સાહેબ, પ્રતિક્રમણને વાર છે બે વાગ્યા છે" આચાર્યશ્રી વિશેષ અસ્વસ્થ જણાયા બધા મુનિમહારાજો ગુરુદેવના ચરણમા આવ્યા નવકારમંત્રો ઉપરાઉપરી સભળાવવા માડ્યા અને રાત્રે ૨–૩૨ મિનિટે જૈન ધર્મ અને સમાજને પ્રગતિશીલ બનાવવા માટેની જ્યોત પ્રગટાવનાર પૂ૦ શ્રીવિજયાનંદસૂરીશ્વરજી મહારાજના શિષ્ય પૂ૦ આચાર્યશ્રી વિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીનો જીવનદીપક બુઝાઈ ગયો

આચાર્યશ્રીના કાળધર્મના સમાચાર ભારતના ખૂણે ખૂણે પ્રસરી ગયા લાખોનો લાડીલો પંજાબકેસરી લાખોના હૈયામા કલ્પાત મચાવી સ્વર્ગે સચર્યો આખો આસુ વહાવી રહી હૈયેહૈયુ આક્રંદ કરી ઊઠ્યુ મુબઈની ધરતી ઉપર તો જાણે ગમગીનીના વાદળ એકાએક ઊતરી આવ્યા

* * *

જૂના, નવા તથા જાણીતા સર્વે સામયિકોએ તંત્રીલેખો દ્વારા તેમ જ બીજી રીતે આચાર્યશ્રીને અનુપમ અજલિ આપી તાર અને ટપાલના થોકડેથોકડા શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય, શ્રી જૈન શ્વેતાબર કૉન્ફરન્સ વગેરે સસ્થાઓ ઉપર આવવા લાગ્યા

કોઈએ એઓશ્રીને પજાબના રચયિતા તરીકે ઓળખાવ્યા વ્યક્તિએ અને સમષ્ટિએ અજલિ આપી અરે, પ્રકૃતિ પણ ભૂલી નહીં ગગનના પ્રભાકરે એઓશ્રીના ભવ્ય આત્માને આવકારવા દેવ-વિમાન જેવુ તેજનુ કુડાળુ રચી પોતાના પ્રાગણને વિભૂષિત કર્યું કોઈએ આચાર્યશ્રીને આર્યસસ્કૃતિના ઉત્કર્ષમા પોતાનો ફાળો આપનાર તરીકે પણ ગણાવ્યા કોઈએ લખ્યુ, "આવા આર્યદષ્ટાઓ દરેક ધર્મમા યુગે યુગે પાકો, જેથી આત્મમુક્તિ અને સાચી માનવતા માટેના ખુદાઈ માર્ગમા પ્રકાશ પાથરતી જ્યોત વધુ વિકસિત બને" સાથે આચાર્યશ્રીના અધૂરા રહેલા કાર્યોને યાદ કરી તે પૂરા કરવાની ફરજ આપણી છે એવુ કહ્યું "વલ્લભવિદ્યાલય રચો"ની માગણી થઈ કોઈએ એમને મહાન કેળવણીકાર ગણાવી જૈન યુનિવર્સિટીની તેમની અતૃપ્ત ઇચ્છા પૂરી કરવાની હિમાયત કરી

સર પરસોતમદાસ ઠાકોરદાસને અધ્યક્ષસ્થાને લગભગ ૧૬૦ સસ્થાઓના ઉપક્રમે મુબઈમા આઝાદ મેદાનમા આચાર્યશ્રીને ભવ્ય અજલિ અપાઈ વિખ્યાત વક્તાઓએ એમના જીવનકાર્ય ઉપર પ્રશસ્તિના પુષ્પો ચઢાવ્યા સર્વાનુમતે ઠરાવ પસાર થયો "જૈન સમાજના જ્યોતિર્ધર, સચ્ચારિત્રચૂડામણી, પજાબકેસરી આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીના બુધવાર તા૦ ૨૨–૯–૧૯૫૪ના રોજ થયેલા સ્વર્ગારોહણથી ભારતને એક મહાન વિભૂતિની ખોટ પડી છે તેઓશ્રીનો ઉપદેશ સમગ્ર સમાજ તથા રાષ્ટ્રને માર્ગદર્શક બની રહે છે કેળવણીના ક્ષેત્રમા તેઓશ્રીએ અનેક સસ્થાઓ દ્વારા અદ્વિતીય કાર્ય કરી પ્રેરણા આપી છે આપણે તેઓશ્રીના ઉપદેશના અનુગામી બનીએ એવી શાસનદેવ પ્રત્યે આ સભા પ્રાર્થના કરે છે"

આચાર્યશ્રીના જીવનની મનની છેલ્લી પ્રક્રિયા શુ હશે એ તો જ્ઞાની જ કહી શકે માનવબુદ્ધિનો એ વિષય નથી વડોદરાનો છગન નામનો નાનો બાળક પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજના પ્રભાવ નીચે આવી દીક્ષા લે છે ઠેરઠેર વિહાર કરી પજાબ પહોંચી પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજનુ સ્વપ્ન સિદ્ધ કરવા પ્રયત્નો કરે છે જીવનની પ્રત્યેક પળ જૈન શાસનના અભ્યુદય માટે વાપરવા ઇચ્છે છે, લાહોરમા આચાર્ય પદવી સ્વીકારે છે, અનેક માનવોને પ્રેરણા આપે છે, એકતા માટે અનેક પ્રચાર કરે છે, મારવાડમાં નવજાગૃતિનું પૂર આણે છે, સાધુસમુદાયમા પણ એકતા માટે પ્રયાસ કરે છે, ફરી પાછા પજાબ જાય છે અને ત્યા પણ ધર્મનો અને ધર્મસાહિત્યનો પ્રચાર કરે છે, કોમી રમખાણો જુએ છે, અનેક સ્થળોએ વિહાર કરતા કરતા શત્રુજયની યાત્રા કરી મુબઈ પધારે છે આવી અનેક પ્રવૃત્તિઓ કરી પ્રેરણા આપે છે દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવનો ખ્યાલ રાખી સમાજમા નવચેતન આણનાર, કેળવણીનો પ્રચાર કરનાર, સમયજ્ઞ આચાર્યશ્રીનો દેહ કાળના ધર્મને વશ થાય છે કાળ કાળનુ કામ કરે છે માનવી

માનવીનું મંથન કરે છે. સ્મારકની આ પરંપરામાં અનેકો આવ્યા છે, આવે છે અને આવશે. આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીના નામે ઓળખાતો દેહ નાશ પામે છે પણ આચાર્યશ્રીનું કાર્ય ને તેઓશ્રીનો જીવનસંદેશ આપણી પાસે છે. ચિરસ્થાયી સર્વોદયની ભાવનાનો અમલ કરીને એમનું કાર્ય એ વધુ સિદ્ધ કરે છે કે આચાર્યશ્રીએ પોતાનું કર્તવ્ય પૂરેપૂરું અદા કર્યું છે. આવા યુગપુરુષ માટે શું કહેવું નથી હોતું. એવા પરમ આત્માની શાંતિ સૌ કોઈએ વાંછી રહી.

આચાર્યશ્રીના સ્મારક માટે અનેક યોજનાઓ થઈ છે. આ યોજનાઓ કાર્યાન્વિત પણ પામી છે, પરંતુ તેઓશ્રીનું સાચું સ્મારક તો તેઓશ્રીના જીવનના સંદેશને, આદર્શને અનુરૂપ આપણું જીવન ઘડવાનું છે. દિનપ્રતિદિન વીતે છે. કાળનો પ્રવાહ વિવિધ રીતે વહેતો વહે. તેમ છે આ સંજોગોમાં માનવી પોતાનું કર્તવ્ય અદા કરે અને એક પળનો પણ નિરર્થક નાશ ન કરે તે અગત્યનું છે. મહાન માનવી જેઓ છે, જીવે છે, પ્રેરણા આપે છે. આ પ્રેરણા જો આપણા જીવનને ઉન્નત બનાવવામાં નિષ્ફળ નીવડે તો દોષ આપણો છે. આચાર્યશ્રીની બોરસદથી વર્ષોની વચ્ચેની જીવનયાત્રા સાથે આપણા સામાજિક, આર્થિક, રાજકીય અને ધાર્મિક જીવનના પ્રશ્નો સંકળાયેલા છે. આચાર્યશ્રીનું ચરિત્ર અને એની શિક્ષાઓ આપણને એ રીતે પ્રેરણા આપે છે. આ પ્રેરણા આપણા જીવનને ધન્ય બનાવી શકે એટલી એનામાં તાકાત છે. આ તાકાતને આપણે પિછાણી રહી અને તેમણે ઉપદેશેલા ધર્મ પ્રમાણે વર્તવું રહ્યું—તો જ તેમનું સાચું સ્મારક કહેવાશે. તો જ કવિ વચનો દ્વારા તેમણે કરેલી સમાજની સેવાનો બોજ ન આવે આપણો ભાગ!

બોરસદથી વર્ષો એટલે વાસુ આપણા આચાર્યશ્રી આપણી વચ્ચે જીવ્યા. જે કે ભગવાનનામાં બોરસદી વર્ષોનો કાંઈ હિસાબ નથી, પરંતુ આ વર્ષો દરમિયાન આચાર્યશ્રી જે કાર્ય કરી ગયા, જે કાર્યો સૌ આપણા માટે મૂકી ગયા તે અમર છે. આપણું કર્તવ્ય એ વારસાને બોજ બનવાનું છે. આપણામાંથી એ બનશે?

અને આચાર્યશ્રી અમારી જેવો માટે જ સર્વ કાર્ય કરી ગયા એવું નથી. જેઓએ સંસાર છોડ્યો છે જેઓ જગતના સર્વ સુખોપભોગોનો ત્યાગ કરી આત્મકલ્યાણના પંથે પળ્યા છે, તેવા સાધુ મહાત્માઓને પણ તેમણે એક નવીન માર્ગનિર્દેશ કરીને કહ્યું છે કે સાધુઓનું કામ માત્ર પોતાના આત્માનો જ ઉદ્ધાર કરવામાં સમાપ્ત થતું નથી. પોતાની આસપાસ અજ્ઞાન રૂપી જે ઘોર અંધકાર પ્રવર્તે છે તેના નાશ માટે, સંસારી લોકોના દુઃખને સમજી તેને હળવાં કરવા માટે પણ તેમણે સતત પ્રયત્નશીલ રહેવું જોઈએ.

વળી આચાર્યશ્રી દૃઢપણે માનતા હતા કે પ્રેમ, ઉદારતા, દયા, કરુણા, પરસ્પર ભ્રાતૃભાવ, નમ્રતા, નિખાલસતા, આત્મબળ પવિત્રતા વગેરે ગુણોથી જ સમાજનો ઉદ્ધાર થાય, સમાજ ને ટકી રહેવા માટે આ ગુણો અનિવાર્ય છે. નહિતર તેનો નાશ જ થાય અને એથી જ પોતાના સમગ્ર જીવન દરમિયાન સમાજના આ ગુણો વિકસાવવા માટે એમણે કામ કર્યું. આમ કરતા એમને અનેક મુશ્કેલીઓમાંથી પસાર થવું પડ્યું હશે, પોતે જે કાર્ય માને છે, આદરે છે તે લોકોના હૃદયમાં ઉતારવા માટે આવા શ્રમ પણ કરવો પડ્યો હશે. છતાં પોતે પોતાના નિર્ધારિત કાર્યમાંથી તસુભાર પણ પાછા હઠ્યા નહિ. આપણે જાણીએ છીએ કે એમના એ કાર્યના મીઠાં ફળ આજે પ્રત્યક્ષ જણાઈ રહ્યાં છે.

ભારતમાં કદી મહાપુરુષ વિહોણું રહ્યું નથી. મહાવીર, બુદ્ધ, ગાંધી જેવા પરમ પુરુષોનું સાનિધ્ય એમને સાંપડ્યું છે. તેમના આવા સાનિધ્યે દેશને ઉન્નતિ કેડી પર આણી મૂક્યો છે. આપણા આચાર્ય શ્રી વિજયવલ્લભસૂરિ પણ મહાપુરુષોની આ પરંપરા પૈકીના એક હતા. એમણે પોતાના સદ્ગુણોથી સમાજનું અને દેશનું નામ ઉજ્જવળ કર્યું છે. સમાજનું અને દેશનું એ સૌભાગ્ય છે કે એમને આંગણે આવા પરમ પુરુષો—યુગપુરુષો જન્મે છે અને સમાજના ઉદ્ધારનું પોતાનું આગવું કાર્ય પૂર્ણ કરીને પરમપદને પામે છે. આપણા તેમને લાખ લાખ વંદન હો!

જીવન ઘડનારાં પરિબળો

કોઈપણ માનવીના સપૂર્ણ વ્યક્તિત્વને પારખવુ એ ધારીએ એટલે સહેલી વાત નથી, અને એમાયે મહાન પુરુષને આપણે બહુ અલ્પ અંશે સમજી શકીએ છીએ મહાન પુરુષો જ મહાન પુરુષોને સારી રીતે સમજી શકે છે એમ કહીશુ તો કદાચ વધારે સાચુ લેખાશે

માનવી પોતે મહાન છે કે સજોગોએ તેને મહાન બનાવ્યો એ પણ નક્કી કરવુ અતિ કઠિન છે, પણ સહેજ ઊંડો વિચાર કરતા લાગે છે કે માનવી અને સજોગો બન્નેનો ભિન્ન રીતે નહિ પણ સાથે જ વિચાર કરવો જોઈએ કેટલીકવાર માનવી સજોગોને ઘડે છે અને કેટલીકવાર સજોગો માનવીને ઘડે છે મહાન પુરુષ મોટે ભાગે પોતે જ સજોગોમા પલટા લાવતો હોય છે, સમકાલીન સજોગોનો તટસ્થ દૃષ્ટિએ વિચાર કરતો હોય છે અને છેવટે ક્ષતિઓ દૂર કરી તેને નૂતન સ્વરૂપ અર્પતો હોય છે

આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિના જીવનમા તેમના વ્યક્તિત્વની અને સમકાલીન સજોગોની પરસ્પર સમિશ્રિત અસર નિહાળવા મળે છે સજોગો જે રીતે આવ્યા તે રીતે આચાર્યશ્રીના જીવનનુ ઘડતર થયુ અને સજોગોએ જે પરિસ્થિતિ જન્માવી એ પરિસ્થિતિમા આચાર્યશ્રીએ અનેક આઘાત પ્રત્યાઘાતો જન્માવ્યા પરિણામે પોતાના જીવનકાળ દરમિયાન જે સુધારાઓ માટે આચાર્યશ્રી ઝઝૂમ્યા એ સુધારાઓ આજે સિદ્ધાત અને વ્યવહારના સ્વરૂપમા સ્વીકારાઈ ચૂક્યા છે સમાજમા વ્યાવહારિક કેળવણીની સાથોસાથ ધાર્મિક કેળવણીની જરૂર છે, સકુચિત જ્ઞાતિવાદ, વરવિક્રય અને કન્યાવિક્રયની પ્રથા, બારમુ તેમ જ બીજા જમણવારો વગેરે અનુચિત છે તેઓશ્રીએ રજૂ કરેલી આ હકીકતો સમાજમા આજે સ્વીકારાઈ ગઈ છે

આઝાદી માટે અનેક યુગો સુધી હિંદની જનતાએ લડત આપી આ લડતના સ્વરૂપો અનેક હતા અરજીયુગ, વિનીતયુગ, દાદાભાઈ નવરોજીયુગ, તિલકયુગ વગેરે યુગોએ પોતપોતાની રીતે ફાળો આપ્યો કોગ્રેસમા ગાધીજીનો યુગ, અસહકારયુગ, મીઠાનો સત્યાગ્રહ, સવિનય કાનૂનભગ, વ્યક્તિગત સત્યાગ્રહ, બેતાળીસની લોકક્રાતિ, સુભાષબાબુની કામગીરી, હિંદ આઝાદફોજ અને ૧૯૪૭ની સ્વાતત્ર્ય-પ્રાપ્તિ—આપણી રાષ્ટ્રીય તવારીખના આ તબક્કાઓ આજની પેઢીને હમણા બની ગયેલી ઘટનાઓ લાગે, પણ નવી પેઢીને તો એની કલ્પના જ કરવાની રહી વર્તમાનકાળ ઝડપથી ભૂતકાળ બની જાય છે, અને એને ભૂતકાળની તવારીખ બનતા વાર નથી લાગતી આપણે સામાન્ય માનવી જીવનની અવધથી બધી વસ્તુઓને માપીએ છીએ ભૂતકાળના વારસાને ઝીલી, વર્તમાનમા જીવી ભવિષ્યકાળ તરફ કૂચ કરીએ છીએ સમાજનુ સ્વરૂપ બદલાતું જાય છે દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની એના ઉપર અચૂક અસર પડે છે આચાર્યશ્રીનો ચોરાશી વર્ષનો જીવનકાળ, આ કાળ દરમિયાનના સામાજિક, આર્થિક અને રાજકીય જીવનના પરિબળોની આચાર્યશ્રી અને સમાજ પર થયેલી અસર, આ બધુ સમજીએ તો જ એમના જીવનનુ મૂલ્યાકન આપણે કરી શકીએ અને એમની વિકાસકથાના ઊંડાણોનો સપૂર્ણ તાગ પામી શકીએ

સ૦ ૧૯૨૭થી સ૦ ૨૦૧૦-૧૧નો સમય લઈએ આ કાળે નવો જમાનો શરૂ થયો હતો એક અગ્રેજે જ્યારે રાષ્ટ્રીય કોન્ગ્રેસની સ્થાપના કરી ત્યારે એણે ભાગ્યે જ કલ્પના કરી હશે કે આ કોન્ગ્રેસ અગ્રેજો "હિંદ છોડી જાય"નો નાદ ગજવશે શ્રી દયાનદ સરસ્વતીએ આર્યસસ્કૃતિ ઉપર ભાર મૂકી હિંદુ સસ્કૃતિને નવી રીતે ચકાસી શ્રી બુટેરાયજી અને પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજે વહાવેલા સાસ્કૃતિક

પ્રજાઓની ભાષા અસર દેખાય મુનિ શ્રીઆત્મારામજીએ ... ની ફેરવણી કીધી અને ... ને જ પોતાનું આસન ફૂલ રચી એ મારે ... સુધી ટૂંકમાં.

મહારાષ્ટ્રમાં મોરોપંત ... અને પછી ... તથા ... અને ... ગુજરાતમાં પણ આ યુગની અસર થઈ. પુનઃ પણ આ અસરથી મુક્ત ન થયું. હિન્દી ... ગુજરાત વર્નાક્યુલર સોસાયટી (અત્યારની ગુજરાત વિદ્યાસભા) અને એવી ઘણી ... ના પ્રચાર થયો. કવિ દલપતરામ, સુધારક કવિ નર્મદ, વિવેચક નવલરામ અને ... મહેતાજીનો સમય, અને એમણી જ જ ... તે ... કવિતા અને ... નો યુગ, એમણી આગળ અને સાહિત્યકારો ... આ પછી બીજી પેઢીમાં ... કવિ અને વિવેચક નરસિંહરાવ, ... કવિ ... નો યુગ. આ યુગની સમાપ્તિ થઈ અને આપણા સાહિત્યમાં ગાંધીજીની અસર આવી. આ યુગ પૂરો થયો અને એ રીતે સાહિત્યમાં આપણા સમય ... આવીએ છીએ.

ખાદીનો સ્વીકાર અને પરદેશી માલનો ત્યાગ

રાજકીય જીવનની સમીક્ષા કરવા જેવી છે કે આચાર્યશ્રીના જીવનકાળ દરમિયાન આપણું ... અનેક તબક્કાઓ પૂરા થયા. ગાંધીજીએ એમના જીવનકાર્યની દિશામાં શરૂઆત કરી એ પહેલાંની અવસ્થામાં આચાર્યશ્રી વડીલ હતા અને આ સમયની અસર એમના જીવન પર થયેલી. ... આચાર્યશ્રીએ ગાંધીજીના પુરોગામીઓ પાસેથી મેળવેલો. રાજકીય ... આચાર્યશ્રીએ ખાદી સ્વીકારી અને પરદેશી ... પાસે સ્વીકારી. પરદેશી ... આચાર્યશ્રીએ આ સમયમાંથી લીધો. આઝાદીની રાજકીય જીવનની ... તેની અસરથી અલિપ્ત ન રહી શક્યા. ... પૂર્વેની ... નિહાળી ત્યાર પછી પણ ... સત્યાગ્રહ, સર્વોદય, ... અને ... વગેરે પણ તેમાંથીએ જોયું ... પણ અને જ પ્રયત્ન કર્યો અને તે માટે આકરી પ્રતિજ્ઞાઓ લીધી. આ બધું બતાવે છે કે ધાર્મિક જીવનને વરેલા આચાર્યશ્રી ઉપર ... અસર હતી. એમનાથી આ બાબત ... ન ... પડાઈ શકાય.

સામાજિક જીવન પર રાજકીય જીવનની અસર ઘણી પ્રબળ છે. આચાર્યશ્રીએ જે ... માટે પ્રયત્ન કર્યો એ ... તરીકે આપણા જીવનમાં ... છે. ... આપણા જીવન પર હતી. ... અને ધાર્મિક ... અને ... ઉપર આચાર્યશ્રીની ... એ ... વિવિધ ... પણ એ સમયમાં આ સ્થિતિ ... ન હતી. ... પરિણામે ... આ ... ને ... વગેરે ... ને પોતાનું ... છે એ ... છે.

આચાર્યશ્રીના જીવનકાળ દરમિયાન બે મહાન વિશ્વયુદ્ધો થયાં અને એની ઘેરી અસર સમસ્ત ... ઉપર થઈ. પહેલા વિશ્વયુદ્ધ દરમિયાન રશિયામાં ક્રાંતિ થઈ ... થઈ અને ... સ્વરૂપ ... બીજા વિશ્વયુદ્ધે ... આ વિશ્વયુદ્ધોએ મધ્યમ વર્ગ ઉપર ઘેરી અસર કરી. ... કરી નાખી છે. ... આપ્યો, ... આપ્યો અને ... મધ્યમ વર્ગ ઉપર ... અસર હજી સુધી થઈ નથી.

પ્રથમ અને દ્વિતીય વિશ્વયુદ્ધના પરિણામે મધ્યમ વર્ગ તૂટી રહ્યો છે મધ્યમ વર્ગની સામાન્ય આકાક્ષા મૂડીવાદી વર્ગનુ અનુકરણ કરવાની હોય છે આ અનુકરણ બાહ્ય છે પણ ખરુ જોતા અદરથી મધ્યમ વર્ગ તૂટી રહ્યો છે આ ક્રિયા પ્રક્રિયા ચાલુ રહેશે તો સમાજના મધ્યમ વર્ગને મજૂરવર્ગમા ફેરવાઈ જતા વાર નહિ લાગે આચાર્યશ્રીએ મધ્યમ વર્ગને જિવાડવાની, તેમના ઉત્કર્ષની જે વાત કરી છે એનુ કારણ એ છે કે એ સગઠિત નથી અને એકત્રિત અવાજ ઉઠાવી શકે તેમ નથી સમયજ્ઞ આચાર્યશ્રીએ કાળની નાડ પારખી સમાજને કાળની સાથે કૂચકદમ ભરતો કરવાના શુભાશયથી અનેક પ્રયત્નો કર્યા આચાર્યશ્રીની આ સેવા અનુપમ છે અને એનુ મૂલ્યાકન એ રીતે થવુ ઘટે

જૈન સાધુને અને સમાજસેવાને શી લેવા દેવા ? મધ્યમ વર્ગના ઉત્કર્ષની ભાવના, કેળવણી અને સુધારા માટેની હિમાયત—આ બધી પચાત જૈન સાધુઓ શા માટે કરે ? આવા પ્રશ્નો સ્વાભાવિક રીતે પુછાય છે કારણ કે જૈનશ્રમણ પોતાના આત્માના ઉત્કર્ષ માટે જ પ્રવૃત્તિ કરે છે એમની પ્રવૃત્તિ સાસારિક પ્રવૃત્તિ નથી સમાજની સામાન્ય સમજણ આવી હોવા છતા જેઓ વસ્તુસ્થિતિને સાચી રીતે સમજી શકે છે તેઓ તો બરાબર સમજે છે કે સમાજને પ્રગતિશીલ અને સશક્ત બનાવે એવા કાર્યો માટે સમાજને પ્રેરણા આપવી એ એમની ફરજ છે સમાજ અને સસ્થા અન્યોન્ય પૂરક છે જૈન સઘના આપણા આદર્શમા પણ સાધુ-સાધ્વી, શ્રાવક-શ્રાવિકાને સમાનભાવે પ્રરૂપ્યા છે એ ચારેના સમુત્કર્ષમા જ સઘનો યોગક્ષેમ છે આચાર્યશ્રીના જીવનમા સમાજસેવાનો આ આદર્શ ભારોભાર જોવા મળે છે

યુગમૂર્તિ તરીકેનો વિકાસ

જૈન સમાજ અને જૈન સસ્કૃતિની વિકાસકથા બતાવે છે કે દેશની અનેકવિધ અસરોથી એ મુક્ત નથી જૈનશ્રમણોએ સાહિત્યની અનેકવિધ સેવાઓ કરી છે વિવિધ અસરો ઝીલતા સમાજને યોગ્ય માર્ગદર્શન કરાવ્યુ છે કલિકાલસર્વજ્ઞ શ્રીહેમચદ્રાચાર્ય, જગદ્ગુરુ શ્રીહીરવિજયસૂરિજી અને સમર્થ વિદ્વાનો મહોપાધ્યાય શ્રીયશોવિજયજી, શ્રી આનદઘનજી મહારાજ અને એ પછીના અનેક મહાપુરુષોએ એ સેવાને ચાલુ રાખી છે આ પરપરા સમાજથી પર છે એમ કહી શકાય નહિ તે તે યુગની અસરો તે તે સમાજ પર અચૂક પડે છે આ વાત જૈન ધર્મની પરિભાષામા કહેવી હોય તો એમ કહી શકાય કે દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અસર એક યા બીજા રૂપે વ્યક્તિ અને સમાજ ઉપર થયા વિના રહેતી નથી આ રીતે વિચાર કરતા લાગે છે કે આચાર્યશ્રી કાળના પ્રવાહના અને નિત્યનૂતન સજોગોના જ્ઞાતા હતા આચાર્યશ્રી જોઈ શક્યા કે શ્રમણ સસ્થા સમાજથી જુદી નથી એ સસ્થાએ જો વિકાસ સાધવો હશે તો એણે પણ કાળના પ્રવાહો સાથે વહેવુ પડશે તો જ એ પ્રગતિશીલ બની શકશે આથી જ આચાર્યશ્રીએ રૂઢ સમાજના ચોકઠામાથી બહાર જઈને ધાર્મિક કેળવણીની સાથોસાથ વ્યાવહારિક કેળવણીના મહત્ત્વ ઉપર ભાર મૂકયો શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયથી માડીને અનેકવિધ વિદ્યાલયો, કૉલેજો અને સ્કૂલોની સ્થાપના કરાવી જ્ઞાનની પ્રવૃત્તિ કરી સ્ત્રી વર્ગના ઉદ્ધારની વાતો કરી રાજકીય તેમ જ સામાજિક પરિબળોની સાથે રહી તેઓશ્રી 'યુગમૂર્તિ' બની શક્યા

આચાર્યશ્રી જૈનશ્રમણ સસ્કૃતિના પ્રખર જાણકાર એવા હોવા છતા તેઓશ્રી અન્ય સસ્કૃતિઓનુ પણ સમગ્રતયા દર્શન કરી શક્યા રાજ્ય તથા સમાજની પ્રવર્તમાન અસરોને ઝીલી તેનો પડઘો પાડી શક્યા સાપ્રદાયિક આતરકલહોની બાબતો પડતી મૂકી આચાર્યશ્રી સર્વગ્રાહી સિદ્ધાતના સમન્વય કાજે પ્રયત્ન કરી તેના પુરસ્કર્તા બન્યા

રાજકીય પરિબળોની સમાજ ઉપર થતી પ્રબળ અસર પ્રીછી શકેલા આચાર્યશ્રી જનતાને રાજકીય જીવનમા રસ લેવા કહે એ એમના યુગમૂર્તિ તરીકેના વિકાસક્રમની એક કડી છે એની પાછળનો

સુધારક સ્પષ્ટ છે. આચાર્યશ્રી સમષ્ટિ ધર્મના હતા કે રાજકીય બાબતમાં ભિન્ન સમાજ તરફથી જ્યાં છે એવું કોઈ પણ સમાજ ... એ ભિન્ન રહેવું પડે તો રાજકીય પ્રવાહોમાં એ સમાજે પોતાની તાકાત બનાવવી પડશે. ગુરુદેવની આ વાતોએ એ સ્પષ્ટ સાબિત કરી નાખ્યું કે વાણિયા વેપારી લોકો એ હવે પ્રવીણ નથી. વર્ગોથી સ્પષ્ટ રીતે સમષ્ટિ હતા કે ભિન્નસાંપ્રદાયિક બોલાવીઓ માનતી જેમ સાંપ્રદાયિક હેતુઓ અને વાડાઓ બાંધી બની રહે એ નહિ ચાલે. સામાન્ય તત્ત્વોની ભૂમિકા પર આવી સમાજમાં નવું જ ચેતન્ય જ લાવે તો જ એ ટકી શકશે. આચાર્યશ્રીના જીવનની વિશેષતા એ રીતે વિચારવાની છે.

સામાજિક એકરૂપતા અને જીવનનું ધ્યેય

આચાર્યશ્રીનો જીવનવિકાસ ઉત્તરોત્તર વધતો રહ્યો છે એની પ્રતીતિ એમનું જીવનકાર્ય આપી જાય છે. આનું કારણ એ છે કે માનવી જ્યારે જીવનનું એક મહાન ધ્યેય સ્વીકારે છે અને એના પ્રવાહને અનુકૂળ બની જીવનનું ઘડતર કરે છે ત્યારે જીવનના બીજા પ્રવાહો એને માટે અનુકૂળ બનીને રહે છે. આચાર્યશ્રી સામાન્ય જ સાધુની માફક માત્ર ધારણા ... રાખતા હોત, માત્ર શાસ્ત્રજ્ઞાનના ... આ વર્તુળમાં હોત અને ફક્ત મૂર્તિપૂજામાં જ વસ્યા હોત તો કદાચ એમના જીવનનું ઘડતર જુદી રીતે થયું હોત! [illegible] આચાર્યશ્રી એમના જીવનકાળના સમય દરમિયાન પંજાબમાં ... પંજાબમાં વર્ણાશ્રમવાદે એઓશ્રીને સમાજ સાથે એકરૂપ થવું પડ્યું. આ સમજણ એક ઉપકાર બની બનેલા આચાર્યશ્રીને સમાજના ઉત્થાન માટે કેળવણીનું મહત્ત્વ સમજાયું. એમાંથી અનેક પ્રવૃત્તિઓ જન્મી. સમાજના અસ્તિત્વ માટે ધર્મ ધર્મ આચાર્યશ્રી નૂતન દૃષ્ટિ અને અસાધારણ પ્રયત્ન કરી શક્યા. એક બાજુ આચાર્યશ્રી ધર્મ ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષાએ વિચારતા થતા અને બીજી બાજુ રાજકીય અને સામાજિક અસરો તેઓશ્રીના જીવન ઉપર પડતી ગઈ. આ રીતે એમનું વિશિષ્ટ વ્યક્તિત્વ ઉત્તરોત્તર વિકાસ પામતું ગયું. જીવનમાં એ સમાજ સાથે ગયું અને એ સમાજની ઉપાસના એ જ એમનો જીવનધર્મ બની ગયો. કેળવણીનો પ્રચાર એ આચાર્યશ્રીનું ધ્યેયબિંદુ બની ગયું. આ કારણે એઓશ્રીની પ્રેરણાથી સમાજને લાભ થયો એવી અનેક કેળવણી સંસ્થાઓનો જન્મ થયો. કેળવણી માટેના આચાર્યશ્રીના આગ્રહે સમાજમાં અનેક પ્રસંગોએ ... ... પરંતુ સમગ્ર આચાર્યશ્રીએ જરા પણ સંકોચ ન રાખતા ... ધર્મ સ્વીકારી વ્યક્તિઓનો વિકાસ સાધ્યો. કેળવણીની અનેક સંસ્થાની સ્થાપનાથી આદીન ... ન યુનિવર્સિટી સ્થાપવા સુધીની તેમની ભાવના અને વિભાવના એ આચાર્યશ્રીના જીવનકાર્ય અને દૃષ્ટિની એક વિશેષતા છે.

પ્રગતિશીલ ભાવો અને કેળવણીના પુરસ્કર્તા

આચાર્યશ્રીના જીવનકાળમાં પ્રત્યેક જણ સમાજના ક્ષેત્ર માટેની પ્રવૃત્તિ અને આત્માના વિકાસમાં અગ્રેસર આચાર્યશ્રી સમાજમાં પ્રવર્તતા અનિષ્ટો, અન્યાયો અને અસમાનતાઓના અસ્વીકાર હતા. ધર્મના સંસ્કારો અને રૂઢિગત પરંપરા વચ્ચે ભેદ છે. ધાર્મિક સિદ્ધાંતો કે રૂઢિઓ અને એ રૂઢિઓને આવેલી પરંપરા અને સાચા ધાર્મિક સિદ્ધાંતો વચ્ચે મહત્ત્વનો ભેદ પડી ગયો છે અને ધાર્મિક કે ધર્મમય જીવન એટલે માત્ર પરંપરા જ નહિ એ વસ્તુ એમના જીવનમાં જોવા મળે છે ... વિશ્વધર્મ ... આ જૈન ધર્મના પ્રતિનિધિ તરીકે અમેરિકા ગયેલા આત્મા ... સમાજમાં ? ઘણા અને અનેક પ્રકારના વિરોધો તેનો આચાર્યશ્રીને પરોક્ષ કે અપરોક્ષ રીતે અનુભવ હતો. એમની અનેકવિધ પ્રવૃત્તિઓએ જ આવેલા આચાર પ્રત્યક્ષપણાથી આચાર્યશ્રી વાકેફ હતા અને એની તો આશા સ્થાને પ્રત્યક્ષ ... હતો. આ અનુભવોથી આચાર્યશ્રીનું વ્યક્તિત્વ ઘડાયું હતું. આચાર્યશ્રી બહુ જ સારી રીતે સમષ્ટિ

શકતા હતા કે સામાન્ય રૂઢિગત જીવન જીવનારની સમક્ષ અસામાન્ય દૃષ્ટિબિંદુ રજૂ કરવામા આવે ત્યારે તે એનો વિરોધી પડઘો પાડે છે આ મનોદશા અતીતમાથી ચાલી આવે છે સામાન્ય માનવી આના ચીલામા જ પોતાનુ જીવન વીતાવે છે આ ચીલામાથી તેમને બહાર લાવવા માટે ઘણી મહેનત કરવી પડે છે એના માટે ધાર્મિક રૂઢિ અને બાહ્ય ક્રિયાઓ એ જ છત્ર બની જાય છે એનો ભંગ કરનાર પ્રત્યે એ વિરોધી સૂર કાઢે છે અથવા તો અણગમો બતાવે છે સમાજના મોટા વર્ગની આ મનોદશા હોય છે

આ મનોદશામા કેળવણીનો પ્રચાર કરનાર ધર્મગુરુના કાર્ય પ્રત્યે શંકાઆશંકાઓ સેવાય એમા નવાઈ નથી કશુક ન ગમે એવુ આ મહારાજ કરી રહ્યા છે એવી મનોદશા એમનામા પેદા થાય છે અને આ સ્થિતિ કઈ આજના યુગની જ નથી દરેક યુગમા આમ બનતુ આવ્યુ છે અર્ધમાગધીના સૂત્રોને સંસ્કૃતમા રજૂ કરવા માટે 'કલ્યાણસ્તોત્ર'ના રચયિતા શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકરને ગચ્છ બહાર મૂકવામા ક્યા નહોતા આવ્યા? પરતુ એમના મતવ્યોનો જૈન-શ્રમણોએ પાછળથી સ્વીકાર કર્યો

પોતાની દૃષ્ટિના વિકાસને પરિણામે આચાર્યશ્રી સમજતા થયા કે જૈન ધર્મનો આદર્શ ગમે તેવો હોય, પરતુ ઇતર સમાજ તો આ ધર્મ પાળતા સમાજની રહેણીકરણી અને વિચારોથી આ ધર્મ વિશે ખ્યાલ બાંધશે આથી જૈન ધર્મના નાયક તરીકે આચાર્યશ્રી પોતાની ફરજ માનતા થયા કે સમાજને પ્રગતિશીલ બનાવે એવા બળોના જો પોતે પુરસ્કર્તા નહિ બને તો સમાજ પાછળ રહી જશે આ પીછેહઠની અસર સમાજના બીજા અગો ઉપર પડશે સ્વામી દયાનદ સરસ્વતીના અનુયાયીઓ કેળવણીનો કેવી રીતે પ્રચાર કરતા હતા એનો દાખલો આચાર્યશ્રી પાસે હતો રૂઢિ રિવાજોએ જન્માવેલી પ્રણાલિકાઓમા જો જમાનાની માગ પ્રમાણે ફેરફાર નહિ થાય તો એ બધિયાર પાણી બની જાય આચાર્યશ્રી પાસે પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજનો અનુપમ દાખલો હતો સમાજમા નવજાગૃતિ આણવા મથનાર આચાર્યશ્રીને ખ્યાલ હતો કે સત્ય અને યોગ્ય માર્ગદર્શન આપવાથી સમાજના અજાગ્રત વર્ગનો વિરોધ વણનોતર્યો ઊભો થશે પણ પ્રત્યાઘાતીઓની પરવા કર્યા વિના આચાર્યશ્રી મૂળને પકડતા અને તે આચરવા અનુરોધ કરતા આચાર્યશ્રીના જીવનકાર્યનુ આ પ્રેરક બિંદુ આપણે સમજીએ તો એમના જીવનકાર્યને અને કાર્યે જન્માવેલ પરિબળોને સમજવુ અતિ સહેલ બની જાય

મનની સમતુલા જાળવી વિરોધી સૂરોના આદોલનો વચ્ચે પણ આચાર્યશ્રીએ સમાજને પ્રામાણિક માર્ગદર્શન આપ્યુ માત્ર ધર્મનો જ પ્રચાર કરવાના સકુચિત ચોકઠામાથી બહાર નીકળી આચાર્યશ્રીએ ધર્મની સાથે સાથે સમાજના ઉત્કર્ષની પણ વાત કરી જેમ જેમ દૃષ્ટિબિંદુ વિકસતુ ગયુ તેમ તેમ સમાજના નવા મૂલ્યો અને પ્રગતિશીલ બળોના પોતે પુરસ્કર્તા બની શક્યા આચાર્યશ્રીની આ મહાન સાધના પાછળ ક્ષુલ્લક મનોવૃત્તિ અને સ્વાર્થ ન હોવાને કારણે સમાજ પર એની સારી અને સ્થાયી અસર થઈ આજે જૈન સમાજમા જે અનેક શિક્ષણ સસ્થાઓ, ગુરુકુળો અને વિદ્યાલયો છે તેનુ માન આચાર્યશ્રીને ફાળે જાય છે આને કારણે આજે કેળવણીનુ પ્રમાણ વધ્યુ છે આચાયશ્રીના દૃષ્ટિબિંદુને સમજીએ તો ભૂલવુ ન જોઈએ કે પ્રણાલિકા સાથે પ્રયોગની તાકાત ગુમાવવી ન જોઈએ જે માનવી, સસ્થા કે સમાજ આ તાકાત ગુમાવે છે તે મૃત પ્રાય બને છે

આ રીતે જોતા આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજી શબ્દના સાચા અર્થમા ચેતનમય અને આવતી કાલ જોઈ શકનારા દ્રષ્ટાપુરુષ હતા જૈન શ્રમણો માત્ર આત્માની આરાધનામા જ મસ્ત રહે, માત્ર રૂઢ સસ્કારોનો પ્રવાહ ચાલુ રાખે એ સજોગોમા ઉછરેલા આચાર્યશ્રી આવતી કાલ જોઈને એક કદમ આગળ ઉઠાવે છે આ કદમ ઉઠાવતી વખતે આચાર્યશ્રીને સપૂર્ણ ખ્યાલ છે કે એના પ્રત્યાઘાતો પડવાના છે, છતા

પણ એ મધ્યમના, પોતાનું અને સહિષ્ણુતાથી કામ કરે છે અને સમાજને આગળ ધપવા માટે અનુરોધ કરે છે

દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવને નજરમાં ઓળખી આચાર્યશ્રી આગળ વધે છે. શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કોન્ફરન્સને પ્રેરણા આપનાર, એના કાર્યમાં અનુમોદન કરનાર કેળવણીની આપ્ત બની રહેલી દૃષ્ટિને આવકારનાર, મધ્યમ વર્ગના ઉત્કર્ષ માટે ટકોર કરનાર, સમાજમાં એકતા માટે પ્રયત્ન કરનાર, ઘર ઘરના, આર્ય-અનાર્ય, માતા-પુત્રના આંતરિક ઝઘડાઓને શાંત કરનાર, એમના હિત માટે મથનાર, ઉદ્યોગધંધાના જ્ઞાનનો પ્રચાર કરનાર, બધા ફિરકાઓના અંતર એટલે પોતાની પાસે સર્વ જૈન ધર્મની સમાન ભૂમિકા પર લાવીને એકત્ર કરવાનો પ્રયાસ કરનાર—આમ અનેક રીતે કાર્ય કરનાર તરીકે તેઓશ્રીને ઓળખનાર એમના જીવનની વિશિષ્ટતા સમજ્યા વગર નહિ રહે. પોતાની આવી અનેક વિશિષ્ટતાઓને કારણે આચાર્યશ્રી મહાન યુગપ્રવર્તક અને યુગદ્રષ્ટા બન્યા હતા.

આચાર્યશ્રી કવિ તરીકે

આચાર્યશ્રી જ એક કવિ હતા. વ્યવહાર અને સાહિત્યની દૃષ્ટિએ પણ તેઓશ્રી કવિ હતા. તેઓશ્રીની અનેક કૃતિઓ, સ્તવનો, પૂજાઓ, સજ્ઝાયો આદિમાં એમનું કવિત્વ પ્રગટ્યું છે. વિહાર દરમિયાન જ્યાં જ્યાં એમની ઊર્મિ જાગ્રત થઈ ત્યાં ત્યાં એ ઊર્મિઓનું કવિતારૂપે અવતરણ થયું છે. એ ઊર્મિઓના ભક્તિનાં સ્તવનો ઘણાં જ પ્રચલિત જેટલાં બની ગયાં છે.

આચાર્યશ્રીની ઊર્મિ એક ભક્તકવિની ઊર્મિ છે. પ્રભુ-મૂર્તિને નીરખતાં તેમનું ભક્તહૃદય ઉછળી આવ્યું અને ભક્તિભર્યું મધુર કાવ્ય બન્યું. આજુબાજુની દુનિયા ભૂલી જતા હોવાને કારણે તીર્થ સિદ્ધિની એમની કૃતિઓ આપણને એની સરળ ભાષાને કારણે ગમી જાય એવી છે. આચાર્યશ્રીનાં સ્તવનો એમની ઊર્મિઓનો નૈસર્ગિક પ્રવાહ.

આચાર્યશ્રીએ પરમેષ્ઠિ પૂજા, શ્રી પંચતીર્થ પૂજા, શ્રી આદીશ્વર પંચકલ્યાણક પૂજા, શ્રી શાંતિનાથ પંચકલ્યાણક પૂજા, શ્રી પાર્શ્વનાથ પ્રભુ પંચકલ્યાણક પૂજા, શ્રી મહાવીર પ્રભુ પંચકલ્યાણક પૂજા વગેરે રચી છે. શ્રી અરિહંત, સિદ્ધ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય, સાધુ, સમ્યક્ત્વ, જ્ઞાન અને દર્શન તથા વિંશતિસ્થાનક વિધિ પણ આચાર્યશ્રીએ રચી બનાવ્યા છે.

પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજનો ઉપકાર

પૂ. આત્મારામજી મહારાજ પ્રત્યે આચાર્યશ્રીને બહુ માન હતું. આથી એમની અનેક કૃતિઓમાં આચાર્યશ્રી કહે છે : આતમરામકી હો જયજય, આતમરામકી હો જીને વલ્લભ ઠીક જાના, વગેરે.

પૂ. આત્મારામજી મહારાજના ભક્ત તરીકે એમનું જીવનઘડતર થઈ ગયું. પૂ. આત્મારામજી મહારાજે પોતાના આ શિષ્યમાં રહેલી અસાધારણ શક્તિનો તાગ મેળવ્યો હતો. પૂ. આત્મારામજી મહારાજે એમની જીવનયાત્રાના છેલ્લા દિવસોમાં પ્રેરણા આપી અને કહ્યું, વલ્લભ, મારા જીવનની સંધ્યા આવી રહી છે. પંજાબની રક્ષા કરવાનું કાર્ય હવે તારે શિરે છે. સરસ્વતીમંદિરોની તું સ્થાપના કરજે. જનસેવાના કાર્યો કરજે. આજનો જમાનો કેળવણીનો છે. શ્રાવકો ભણેલા હશે, કેળવાયેલા હશે, જ્ઞાનવાન હશે તો જ તેઓ ધર્મ અને દેશની રક્ષા કરી શકશે.

ચોર્યાસી વર્ષનું આચાર્યશ્રીનું દીર્ઘજીવન આવા પ્રકારની પ્રવૃત્તિમાં જ વીત્યું છે. જીવનની અનેક પળ ઉત્તમ હેતુ માટે વાપરવાની તાલાવેલીવાળી આચાર્યશ્રીની આ પ્રવૃત્તિ-પ્રેમ ... જાણો અર્થ એ નથી

કે એઓશ્રીએ આત્મ-સાધના ઓછી કરી છે પરતુ કેવળ આત્મસાધનામા જ પોતાનુ જીવન મર્યાદિત બનાવવાને બદલે સમાજસેવા દ્વારા જીવનનો વિકાસ કરવાના આશયમાથી આચાર્યશ્રીની અનેકવિધ પ્રવૃત્તિઓ જન્મેની આત્માના વિકાસની વાતો આચાર્યશ્રીને મજૂર હતી પણ એની સાથોસાથ એ સમાજના ઉત્કર્ષનુ, શ્રાવકોની ઉન્નતિનુ અને એ દ્વારા આખા સમાજને પ્રગતિના માર્ગે લઈ જવાનુ એ કદી વીસરી શકતા નહિ

ધર્મ પહેલો કે સમાજ પહેલો ? ધર્મથી સમાજ છે કે સમાજથી ધર્મ ? આ પ્રશ્નો મહત્ત્વના છે જૈન આચાર્ય સદાયે ઝખે છે મોક્ષને, સાસારિક પ્રવૃત્તિમાથી આત્માના કલ્યાણને કાજે નિવૃત્તિને, એ બોધ કરે છે નિવૃત્તિનો, વૈરાગ્યનો, દીક્ષાનો અને ધર્મનો આચાર્યશ્રીના પ્રવચનોમા આને માટે બોધ નથી એમ કહી શકાય નહિ પણ એઓશ્રીના પ્રવચનોમા માત્ર આ જ વસ્તુ નથી ધર્મના પ્રશ્નો આવે, ધર્મની કથા આવે અને તત્ત્વજ્ઞાનની ચર્ચા આવે ત્યારે આચાર્યશ્રી જરૂર આ વસ્તુ પર ભાર મૂકતા અને બોધ આપતા પરતુ એમનો મુખ્ય હેતુ સમાજના ઉત્કર્ષનો, સમાજના મધ્યમ વર્ગના માનવીને ઊંચે લઈ જાય તેવો બોધ આપવાનો રહેતો સામાન્ય માનવીને તેઓ સ્પષ્ટ હકીકતો રજૂ કરી કહેતા "હુ ઝખુ છુ સામાન્ય માનવીના ઉત્કર્ષને, જૈન યુનિવર્સિટીને હજારો શ્રાવકો આર્થિક રીતે ભીંસાતા હોય ત્યારે આ બેદરકારી ન શોભે' સમાજ જીવશે તો ધર્મ જીવશે સમાજમા જૈનધર્મીઓનુ નેતૃત્વ હશે તો જ જૈન-ધર્મની વાહવાહ બોલાશે દેવમદિરોની જેમ જ્ઞાનમદિરો પણ પ્રવૃત્તિથી ગુજતા હોવા જોઈએ "

આનો અર્થ એ નથી કે આચાર્યશ્રીને પોતાના ધર્મનો ખ્યાલ ન હતો પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ અને એમના ગુરુઓમા આચાર્યશ્રીએ આદર્શ સાધુના ધર્મનુ ઉત્કૃષ્ટ સ્વરૂપ નિહાળ્યુ હતું પ્રવર્તક શ્રી કાતિવિજયજી મહારાજ, શ્રી હસવિજયજી મહારાજ, શ્રી વીરવિજયજી મહારાજ વગેરેની જીવનચર્યાનો આચાર્યશ્રીને ગાઢ પરિચય હતો એમના આશીર્વાદો પણ આચાર્યશ્રીને મળેલા હતા પણ સમાજના માર્ગદર્શક કે ઉદ્ધારક થવામા આચાર્યશ્રીને આદર્શ સાધુજીવન સાથે કોઈ પણ જાતનો બાધ ન જણાયો ઊલટુ એમાં એમને આત્મવિકાસ માટે વધુ અવસર મળતો લાગ્યો પરિણામે એઓશ્રીની પ્રવૃત્તિઓ અને જીવનચર્યા પણ એ રીતે ચાલી એક સસ્થા શરૂ થાય એટલે એના વિકાસ માટે બીજી અનેક પ્રવૃત્તિઓ જન્મે અને એ માટે બીજી અનેક જાતની ચિંતાઓ સેવવી પડે એ સ્વાભાવિક છે પજાબની અનેક સસ્થાઓ માટે આચાર્યશ્રી હમેશા ચિંતા વ્યક્ત કરતા છતા તેઓ કદી સમાજમાથી શ્રદ્ધા ગુમાવતા નહિ સસ્થાઓ માટે આચાર્યશ્રી નિ સકોચ હાથ લાબો કરી શકતા અને બીજાઓને એમ કરવાની પ્રેરણા આપતા તેઓ કાર્યકરો સમક્ષ એક ઉત્તમ ઉદાહરણ રજૂ કરતા અનેક સ્થળના વિહારમા, દિનચર્યામા તેમ જ પત્રવ્યવહારમા આચાર્યશ્રીની આ પ્રવૃત્તિનુ દર્શન થઈ શકે તેમ છે આથી એમના જીવનની પ્રત્યેક પળ કોઈ ને કોઈ કાર્યમા મગ્ન થયેલી આપણને દેખાય છે

"હે ગૌતમ! એક ક્ષણમાત્રનો પણ પ્રમાદ તું ન કરીશ"—પ્રભુ મહાવીરનો આ જીવનસદેશ આચાર્યશ્રીએ જીવનમા ઉતાર્યો હતો જીવનની પ્રત્યેક પળ કોઈ ને કોઈ કાર્યમા, કોઈને કોઈ ઉપાસનામા વીતતી હતી સવારના ચારથી ઊઠીને રાત્રે સથારો કરે ત્યા સુધી એમનું કાર્ય ચાલતું આગતુકો સાથે સકુચિતતાના નામ વિના જીવન સિદ્ધિની કે દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવે જન્માવેલા અનેક વિષયોની ચર્ચા ચાલે

સામાન્ય જનના કેવુ જીવન જીવે છે એનો ખ્યાલ આચાર્યશ્રીને વિહારમા મળતો જન સપર્કના પરિણામે સમાજના દુ ખ સુખ, વ્યક્તિઓની ઈર્ષ્યા અસૂયા-ઝેર અને વ્યક્તિના ગુણો, દેશનું વ્યાપક

રાજકીય સામાજિક આર્થિક સાંસ્કારિક જીવન, સ્ત્રી સમાજના પ્રશ્નો, સામ્યવાદના ધમના અને પ્રશ્નો—આ બધાનો આચાર્યશ્રી તાગ મેળવી શકતા. જીવનક્રમમાં ઉત્તરોત્તર વધતી જતી માહિતીનું આ એક પ્રબળ સબૂતી હતા. એક પ્રશ્ન પૂર્ણ થયું કે આચાર્યશ્રી બીજું કામ હાથમાં લેતા—અને કે એક કાર્યમાંથી બીજા કાર્ય માટેની તેઓશ્રી પૂર્વભૂમિકા ઊભી કરતા.

માનવપ્રેમી અને માનવી ભાવના ગુરુ

એમના અનુયાયીઓમાં મુસલમાનો, ખ્રિસ્તીઓ, શીખો—બધા જ ધર્મના લોકો હતા. આચાર્યશ્રીએ મુસલમાનો માટે કૂવો કરાવી આપ્યો હતો અને એક સ્થળે હરિજનોના સમાગમ અને ધમાલ કરી આપી હતી. એક ગામના નવાબને હિંદુ ધર્મનો જયગનું સમાધાન કરાવી આપ્યું હતું. એક હરિજનને ઉપદેશ આપી આકર્ષ કરવા પ્રેર્યો હતો. ઉપદેશ આપવા માટે સ્થળ અને સમયનું બંધન તોડી, શ્રોતાઓનો ખ્યાલ રાખી એમની ભૂમિકા પ્રમાણે આચાર્યશ્રી બોધ આપતા. શીખો વિનંતિ કરે તો ગુરુદ્વારામાં જઈ અને ઉપદેશ આપે, રામ જયંતીમાં ભાગ લઈ શકે. એક સ્થળે આચાર્યશ્રીએ ઘેર મહિના સુધી મુસલમાની ધાર્મિકોને જેમ રાખવાનું સમજાવ્યું હતું. આચાર્યશ્રીનું માનસ સ્પષ્ટ હતું. પ્રત્યેક માનવીમાં સરખો આત્મા છે. એ જ્યોત છે એ કોઈને આધીન નથી. માનવી જન્મે છે એના પૂર્વજન્મ પ્રકારો લઈને. પોતાના રીત રિવાજ એ તો માણસનો ભેદ છે. હિંદુનું આત્મા ચોટલી સાથે જન્મ્યું નથી. મુસ્લિમ આત્મા સુન્નત સાથે રાખીને જન્મ્યું નથી. શીખ આત્મા દાઢી સાથે જન્મ્યું નથી. પણ જ્યારે તે જેવા સંસ્કારો પામે છે ત્યારે તે તેવા માનવો બને છે. કોઈ પણ માનવી પ્રત્યે દ્વેષ એ એક ભયાનક વસ્તુ છે. પ્રેમથી પ્રેમ મળે છે. સાચા પ્રેમથી માનવીના અંતરને જીતી શકાય છે. એની લાગણીને સમજી શકાય છે. સમભાવના અને સહિષ્ણુતા એ જ જીવનની ને ધર્મની સાચી બાજી છે. માનવીના ભિન્ન વિચાર હોય તેમાંથી સારપ ગ્રહણ કરી એના મનોભાવોને સમજીને માનવીને જીવતા શીખો. ક્રોધ, વૈમનસ્ય, વેર, ક્રોધ, માન, માયા, લોભ આ બધા તજવું છે. એ માનવીનો સાચો ધર્મ નથી. ભલે તે ધર્મનો, ભલે તે વિચારો ધરાવતો માનવી હોય, એ માનવીના દુઃખો હળવા કરવાની, એનો ઉપાય દૂર કરવાની આપણી ફરજ છે. એના આત્માને દુઃખ ન થાય, એના મનની પ્રસન્નતામાં વિક્ષેપ ન પડે,—આ પ્રયત્ન એ જ સાચો ધર્મ છે. હૃદય આપી હૃદય મેળવી શકાય છે ને એમ સાચી જીવનને ઉન્નત બનાવી શકાય છે. આ ઉદ્‌ગારો કહે છે કે આચાર્યશ્રીના હૈયામાં માનવપ્રેમ ભર્યો પડ્યો હતો અને તેઓ માનવભાવના ગુરુ હતા.

રાષ્ટ્રપ્રેમી આચાર્ય

આચાર્યશ્રી એ સમજી ગયા હતા કે જો સમાજ જીવત હોય તો એ રાષ્ટ્રનાથી આઝાદીની અસરથી મુક્ત ન રહી શકે. જો સમાજ એથી અળગ પડી જાય તો સમાજે એને જ નુકસાન થાય. આથી આચાર્યશ્રી રાષ્ટ્રભાવના પુરસ્કર્તા બન્યા. એ પ્રવૃત્તિ અને એની પાછળના આશયોને સમજતા થયા. પરિણામે આચાર્યશ્રીમાં રાષ્ટ્રના પ્રશ્નો સમજવાની નવી દૃષ્ટિ આવી અને સામાન્ય પ્રજાના માનસને અનુકૂળ અને બાધક ન આવે એવી રીતે એમની જીવનપ્રવૃત્તિએ લીધી. આ દૃષ્ટિને લીધે રાષ્ટ્રીય આંદોલન જેમ જ સ્થાનેથી અલગ હોવા છતાં રાષ્ટ્રના પ્રશ્નો અને પ્રજાના આંદોલનોનું મૂલ્ય એઓશ્રી સમજી શક્યા અને ગ્રામ રાજકીય તેમ જ બીજી રીતે કઈ બાજુ જઈ રહી છે એનો ખ્યાલ એઓશ્રી મેળવી શકતા.

આ પ્રસંગોથી જીવનને વિવિધ રૂપે જોવાની દૃષ્ટિ આચાર્યશ્રીએ મેળવી અને ગાંધીજીની આઝાદીની વાત અપનાવી. રાષ્ટ્રનેતાઓ અને તેઓશ્રી સમભાવ રાખતા થયા. પંજાબ આવ્યે તેમનો સંપર્ક પણ વધતા

શ્રી મોતીલાલ નહેરુ તથા પં૦ માલવિયાજી સાથે આચાર્યશ્રીને સારો એવો પરિચય હતો એ જમાનામા જૈન સાધુ ખાદી અપનાવીને રાષ્ટ્રીય ભાવનાને જીવનમા સ્થાન આપે અને પરદેશી ખાદનો બહિષ્કાર પોકારવે એ કંઈ નાનીસૂની વાત નથી આ રીતે આચાર્યશ્રી ચાલી આવતી પ્રણાલિકા સાથે જીવન જીવવાના પ્રયોગો કરતા થયા, નવી વસ્તુ અપનાવતા થયા અને રાષ્ટ્રીય ભાવનાના પુરસ્કર્તા થયા

માત્ર ખાદી પહેરવામા જ નહિ પણ સમાજના વ્યાપક અનિષ્ટો સામેના આદોલનમા પણ આચાર્યશ્રીએ વખતોવખત ઉત્સાહ બતાવ્યો છે દારૂત્યાગ માટે અનેકો પાસે આચાર્યશ્રીએ પ્રતિજ્ઞા લેવરાવી એટલુ જ નહિ, પણ દારૂબધીના પ્રચાર અગે અનેક સમયે આચાર્યશ્રીએ જાહેર પ્રવચનો કર્યા જ્યારે રાજકીય અસર અતિવ્યાપક બની માનવીના પ્રત્યેક અગને સ્પર્શી જાય છે અને રાજકીય તાકાત દુન્યવી તાકાતનુ રૂપ ધારણ કરે છે ત્યારે એની અવજ્ઞા સમાજનો કોઈ પણ નેતા કરી શકે નહિ આચાર્યશ્રી આ વસ્તુ બરોબર સમજી શક્યા હતા અને તેથી રાજકારણ પ્રત્યે દુર્લક્ષ ન સેવતા ધર્મનો માનમરતબો વધે એ હેતુથી અનેક જુવાનોને રાજકીય નેતૃત્વ માટે આચાર્યશ્રીએ પ્રેરણા આપી આચાર્યશ્રી સમજી ગયા હતા કે કેળવણી અને રાજકીય લાગવગના પરિણામે સમાજ પાસે ધાર્યા કામો કરાવી શકાશે

ભવિષ્યનું દર્શન શ્રમણ સંઘની જવાબદારી

સાપ્રતને સમજવો એ જરાયે અઘરુ નથી ભવિષ્યને ભાખવો એ ખરે જ દુર્લભ છે મહાપુરુષો હમેશા ભવિષ્યને જુએ છે અને એ પ્રમાણે વર્તમાનને ઘડવા પ્રયત્ન કરે છે જેથી ભવિષ્યમા વર્તમાન સમાજના માનવીઓને નવુ કઈ ન લાગે કવિઓ આવતી કાલને જુએ છે સ્વપ્નદ્રષ્ટાઓ આજના સ્વપ્નમા આવતી કાલની સિદ્ધિ જુએ છે વૈજ્ઞાનિક આજની શોધમા આવતી કાલને બદલી નાખવાની ઉમેદ સેવે છે આ બધા માનવીઓ માત્ર વર્તમાનમા ન રાચતા ભૂતકાળના વારસાનુ યોગ્ય મૂલ્યાકન કરી ભવિષ્યમા વ્યાજ સાથે એને વધારે છે મૂડીનુ રોકાણ વધે છે, નફો પણ ઝાઝો થાય છે આવતી કાલને જોઈ આવા માણસો વર્તમાન ઘડે છે આવા માનવો જ સમાજને ઉપકારી થઈ શકે છે એમની દીર્ઘદષ્ટિને લઈને જ આવતી કાલની પેઢી ઉજ્જ્વળ બને છે આચાર્યશ્રી આ જાતના કવિ, દ્રષ્ટા અને ભવિષ્યના પ્રવાહોના વેત્તા હતા આથી જ સમાજને તેઓશ્રી યોગ્ય માર્ગદર્શન આપી શકતા ભવિષ્યમા સમાજને શાની જરૂર પડશે એનો ખ્યાલ રાખીને અને આવતી કાલની વાસ્તવિકતાને નજરમા રાખીને આચાર્યશ્રીએ સમાજને દોર્યો હતો આચાર્યશ્રીનુ મતવ્ય એ હતું કે સઘમા સાધુ મુખ્ય પદે છે અને એથી સઘને સાચી દોરવણી આપવાનુ કાર્ય શ્રમણ સસ્થાનુ છે આ સસ્થા સમાજના બીજા વિભાગોથી અલગ રહી શકે નહિ કર્મની નિર્જરા કરવા મથતા શ્રમણની જવાબદારી સઘ પ્રત્યે હોય છે નિજાનદમા મસ્ત રહેતા શ્રમણ પણ સઘના એક ભાગ રૂપ છે અને સઘની પ્રભાવનામા જ એમનુ શ્રેય છે આચાર્યશ્રી એ પણ સમજી શક્યા કે ધર્મના મૂળ સસ્કારોને સમય અને વિજ્ઞાનની ચકાસણીમાથી પસાર કરવા પડશે પાશ્ચાત્ય જીવનની ઊંડી અસરોના વેગતા સમાજમા સમન્વય એ જ સાચો માર્ગ છે આથી ધર્મ એકાગી ન રહેતા વ્યાવહારિક કેળવણીની સાથોસાથ કદમ ભરે એવુ એઓશ્રી સમજી શક્યા અને એ પ્રકારનો ઉપદેશ પણ આપતા

ધાર્મિક ઉદારતાની જરૂર

આચાર્યશ્રી સમજી શક્યા કે નવા યુગમા જૈનો માત્ર કૂવાના દેડકા ન બની રહે વિશ્વના પ્રવાહો સાથે એ કદમ બઢાવશે તો એનુ શ્રેય થશે જૈન ધર્મના વિશિષ્ટતા, અભિનવ ચિંતન, સનાતન સિદ્ધાતો વગેરેની વ્યાખ્યાન પણ નવી વૈજ્ઞાનિક દૃષ્ટિથી કરવી પડશે પોતાના ટૂકા ગજથી માપનારાઓએ જૈન

ધર્મને સંકુચિત બનાવ્યો છે. એને દીવાલોમાં, સમાજની રૂઢિઓમાં અને સ્થાપિત વ્યવહારમાં એને પૂરવામાં આવ્યો છે. આ પૂરણપણું રહે તો જ ધર્મનું સાચું સ્વરૂપ સમજાય. આચાર્યશ્રીના મનોભાવ અને કાર્યનું પ્રેરક બળ આ જ વાસ્તવિકતા હતી એમ કહેવામાં કંઈ જ ખોટું નથી. આ ભાવોમાંથી વ્યાવહારિક અને ધાર્મિક કેળવણીનો સમન્વય સાધતી અનેક સંસ્થાઓ જન્મી. આચાર્યશ્રીએ આવી સંસ્થાઓનાં રોપેલાં બીજ આજે તો પૂર્ણ છે. કેટલીક સંસ્થાઓ વિરાટ વૃક્ષ બની છે. જૈન સમાજ આધુનિક કેળવણીમાં આગળ વધી રહ્યો છે અને વધી શક્યો છે એ આચાર્યશ્રીની દીર્ઘદૃષ્ટિનું પરિણામ છે.

જૈન યુનિવર્સિટીની એમની ભાવના મૂર્ત કરવાની હજી બાકી છે. જૈન શાસ્ત્રોનો પશ્ચિમના ચિંતનની રીતે અભ્યાસ, પશ્ચિમના લોકોને જૈન સંસ્કૃતિનો પરિચય, જૈન તત્ત્વજ્ઞાનનું મુક્ત વિવેચનાત્મક આલેખન—જૈન ધર્મની ઉદારતાનો જગતને પરિચય આપવા માટે આ બધું કાર્ય કરવું હજી બાકી છે.

શિક્ષણ-સંસ્થાઓનું મહત્ત્વ

આચાર્યશ્રીએ સ્થાપેલી કે પ્રેરણા આપેલી શિક્ષણસંસ્થાઓની સુવાસ જૈન સમાજમાં પ્રસરી છે. એ સંસ્થાઓ સ્વાશ્રયમાં કાર્યકર્તાઓ [illegible] તત્ત્વો કેળવે એક યા બીજી રીતે એના પુરસ્કર્તા બન્યા છે. અનેક જૈનોએ આ સંસ્થાઓનો લાભ લીધો છે. વ્યાવહારિક અને ધાર્મિક કેળવણીનો સમન્વય અને ધાર્મિક સંસ્કારોનું સિંચન આ સંસ્થાઓમાં થાય છે. આને પરિણામે જૈન સમાજને અનેક આગેવાનો અને સેવકો સાંપડ્યા છે. આજે વ્યાવહારિક જ્ઞાનમાં જૈન કોમ આગળ પડતી કહી છે અને તે પોતાનું હતું તેમ જ કરે તે પ્રત્યે જાગ્રત રહે છે એમાં આ સંસ્થાઓનો પણ નોંધપાત્ર હિસ્સો છે.

આચાર્યશ્રીની આ જીવનસાધના અને એની સફળતાની દૃષ્ટિ લીધે આચાર્યશ્રીનું પાત્ર અસાધારણ રીતે ઘડ્યું છે. એ એક હકીકત છે. જીવનમાં એક ધ્યેય લીધું બસ અને એમાંથી આખો જીવનપથ ઉજ્જ્વળ બને એ વસ્તુ આચાર્યશ્રીના જીવનમાં બની છે. એથી એમની બીજી પ્રવૃત્તિઓ સમાજ-ઉત્થાનની હોવા છતાં એમાં અગત્યનું આકર્ષણ રહે છે. આચાર્યશ્રી ખાસ પ્રતિભાશાળી હતા એમ કહેવું બરાબર નથી. પણ સમાજના કલ્યાણ માટે જે સાધના કરી એમાંથી આચાર્યશ્રીને નવી દૃષ્ટિ સાંપડી. આચાર્યશ્રી સમયજ્ઞ હતા. એથી એમણે સમાજમાં નવા આદર્શોનો સંદેશ આપ્યો અને એના ઉપર એની અનેક મર્યાદાઓ હતી. આચાર્યશ્રીએ [illegible] આઘાત પ્રત્યાઘાતો હજી શમ્યા નથી એવા સંજોગોમાં એમના જીવનકાર્યની સમીક્ષા કરવી મુશ્કેલ બને છે. અને એ કરવું તાત્કાલિક જરૂરનું એ પણ મુશ્કેલ છે. છતાં વ્યક્તિત્વનો ઘેરો રંગ જોઈને એટલું કહી શકાય કે આચાર્યશ્રી સમાજના આગામી પરિવર્તનશીલ બળોના પુરસ્કર્તા થયા અને એમનામાંની આ પ્રવૃત્તિ ભવિષ્યના સમાજ સમાજના આગામી યુગને અનુકૂળ બની શકશે.

ભૂમિકા સાધવાની વૃત્તિ અને પ્રવૃત્તિ

કેળવણીના ક્ષેત્રમાં આટલું કાર્ય કરનાર આચાર્યશ્રી જીવનની અનેક [illegible] પ્રવૃત્તિઓ કરી શક્યા અને સમાજની [illegible] કરે એ વસ્તુ રચનાત્મક છે. વિવિધ મતભેદોમાં એમણે હંમેશાં માધ્યસ્થ્ય રસ્તો લીધો છે. એમનું જીવનસૂત્ર હતું કે ભલો, વિચાર વિનિમય કરો અને નિર્ણયને અમલી બનાવવામાં સાથ આપો. મતભેદ ભલે હોય, પણ મનભેદ ન થાય, સમાધાન હોય તેવા માટે યત્ન કરો. જીવનના છેલ્લાં વર્ષોમાં સામાન્ય ભૂમિકાની એકતાની એમણે જે હિમાયત કરી એના મૂળમાં આ વસ્તુ હતી.

આને પરિણામે આચાર્યશ્રીએ અનેક પ્રવૃત્તિઓ કરી છે. [illegible] ૧૯૫૫માં અમદાવાદમાં શ્રી અખિલ ભારત ન ભરાયેલ સમ્મેલનમાંનું અધિવેશન થયું. પણ આ કાર્ય [illegible]. આને લીધે પરસ્પર [illegible]

અનેક સમેલનો-પરિષદો-મત્રણાઓ અને વિચાર-વિનિમય માટેની ભૂમિકા આચાર્યશ્રીએ ઊભી કરી આવા સમેલનો સફળ થાય અને કાર્ય આગળ ધપે અને સમાજમા મેળ સ્થાપવાની જાગૃતિ આવે એ માટેની જ એમની પ્રવૃત્તિ હતી અનેક સ્થાને આ રીતે જૈનોમા પરસ્પર ભ્રાતૃભાવ વધે, સગઠનના બીજ રોપાય અને સમાજની પ્રગતિ સધાય એ એમનો મુખ્ય હેતુ રહ્યો હતો

આચાર્યશ્રીએ માત્ર શ્રાવકોના જ નહિ પણ સાધુઓના સમેલનો પર પણ ભાર મૂકયો આચાર્યશ્રીનુ મતવ્ય એવી મતલબનુ હતુ કે જો જૈન મુનિઓ ભેગા થાય તો સમાજોન્નતિનુ કાર્ય ઘણુ સરળ થાય જૈન સમાજને સ્પર્શતા વ્યાપક પ્રશ્નોની વિચારણા થાય અને એ વિચારણા પછીનુ કાર્ય જો અમલી બને તો સમાજને ઘણો જ ઝડપી લાભ થાય આવા શુભાશયથી અથાગ મહેનત કરીને વડોદરામા પૂ૰ આત્મારામજી મહારાજના મુનિઓનુ સમેલન તેમણે યોજ્યુ હતું અમદાવાદમા પણ અનન્ય મુનિ–સમેલન મળ્યુ તેની પૂર્વભૂમિકા ઊભી કરવામા આચાર્યશ્રીનો મોટો ફાળો હતો ત્યાર બાદ આચાર્યશ્રી નેમિસૂરિજી અને આચાર્યશ્રી વચ્ચે મીઠો સબધ રહ્યો હતો

મહાન સમાધાનકાર

વ્યક્તિઓના અને સઘના કલહો દૂર કરાવવા પણ એમણે પ્રયત્ન કર્યો છે જીવનની આ પ્રવૃત્તિના અનેક દાખલા આપણને એમના જીવનમા જોવા મળે છે

સ૰ ૧૯૬૫મા જેઠ શુદિ બીજે આચાર્યશ્રી પાલણપુર ગયા એક દિવસ રહીને બીજે દિવસે ચોંકાવનારી જાહેરાત કરી " હું ભોયણી જવાનો છુ "

આખો સઘ વિસ્મય પામ્યો અને પૂછ્યુ, "કેમ ? આપ અહીં ચાતુર્માસ કરો ને ! "

આચાર્યશ્રીએ કહ્યુ " તમે બધા તમારા મતભેદો દૂર કરી તમામ પક્ષોને એક કરો તો રહું જ્યા વિખવાદ હોય ત્યા મને ઘડીભર પણ રહેવુ ન પાલવે મારે તો સમાધાનની ભિક્ષા જોઈએ "

આ જાહેરાતના પરિણામે પાલણપુરના નેવુ જેટલા આગેવાનોએ લખી આપ્યુ કે આચાર્યશ્રી જે ચુકાદો આપે તે અમને મજૂર છે આચાર્યશ્રીએ સૌને પ્રિય એવો ચુકાદો આપ્યો અને પાલણપુરમા સુખદ સમાધાન થયુ

બાલાપુરમા માતા-પુત્રનો ઝઘડો અદાલતે પણ ગયેલો તેમના ઘરે આચાર્યશ્રી ગોચરી વહોરવા ગયા 'ધર્મલાભ' કહી ઊભા રહ્યા અને કહ્યુ " મને બીજુ ન ખપે તમારી ગોચરી જ્યારે તમે બને સયુક્ત રીતે વહોરાવો ત્યારે ખપે આપણે કોણ ? આ બધા ઝઘડા શા માટે અને કેટલા વખત માટે અને કોના માટે ? અને આખરે શુ ? આ વેરઝેરના કર્મ બાધી કયે દિવસે છોડવાના ? " આચાર્યશ્રીની સમજાવટની વીજળી જેવી અસર થઈ પુત્ર માતાને પગે પડી ગયો અને આચાર્યશ્રીની હાજરીમા એક કુટુબ કિલ્લોલ કરતુ થઈ ગયુ

જે વસ્તુ ઉપર પોતે ભાર મૂકતા તે સ્વીકારવામા સમાજ ઢીલ કરે છે એવુ આચાર્યશ્રીને લાગતું ત્યારે એઓશ્રી પ્રતિજ્ઞા લેતા એની અસર સમાજ ઉપર તાત્કાલિક પડતી ઉત્કર્ષ ફડમા પાચ લાખ રૂપિયા ભેગા કરવા આચાર્યશ્રીએ દૂધસાકરની પ્રતિજ્ઞા લીધી શત્રુજય તીર્થની યાત્રા બધ થઈ ત્યારે પ્રવેશ સમયના પોતાના સામૈયાનો તેમણે ત્યાગ કર્યો હતો

ઉગ્રવિહારી

આચાર્યશ્રી ઉગ્ર વિહારી હતા આ વસ્તુ એમનુ આખુ જીવન કહી જાય છે એમનો વિહાર ઘણો જ ઝડપી હતો અને તે પજાબમા ગુજરાનવાલાથી પૂનાની પેલી બાજુ સુધી વીસ્તરેલો હતો

પંજાબ—મારવાડ—ગુજરાત સૌરાષ્ટ્રના અનેક નાનામોટા કસ્બાઓમાં આચાર્યશ્રીનો વિહાર થયો હતો. સં. ૧૯૬૪માં જેઠ મહિનામાં પાલીતાણાથી ગુજરાનવાલાનો લાંબો આકરો માર્ગનો વિહાર રોજના ત્રીસ માઈલના હિસાબે આચાર્યશ્રીએ કર્યો હતો. સં. ૨૦૦૧માં પચોતેર વર્ષની વયે બિકાનેરથી પંજાબ તરફ આચાર્યશ્રીએ ઉગ્ર વિહાર કર્યો હતો.

આ વિહારો અને નવી દૃષ્ટિને લીધે આચાર્યશ્રીની સહનશક્તિ પણ ખૂબ વિકાસ પામી હતી. પોતાની શાંત સ્વભાવનાથી તેઓ અનેક માનવોને માટે પ્રેરણાદાયી અને શાંતિદાતા બની ગયા હતા. માનવી એની સહનશક્તિ દ્વારા કામો સિદ્ધ કરી શકે છે. એવો માનવી સંજોગોને વશ થઈ પોતાના કાર્યને અનુરૂપ બનાવે છે. સંજોગોને અનુરૂપ કાર્ય એને કરવાનું હોતું નથી. આવો માનવી જ્યાં જાય ત્યાંથી કઠિનાઈ કોસ દૂર જાય, વાતાવરણમાં નવી ચમક આવે. આચાર્યશ્રીના સહવાસીઓ એ રીતે અનેક પ્રગતિ પ્રયાસોના પ્રેરક બની શક્યા હતા.

પુણ્યાત્માનો પ્રભાવ

આચાર્યશ્રીના જીવન સાથે કેટલીક અસાધારણ ઘટનાઓ સંકળાયેલી છે. આ વસ્તુને સામાન્ય જનતા ચમત્કાર તરીકે ઓળખે, આજનું વિજ્ઞાન પણ એ વસ્તુને એ રીતે સ્વીકારવા તૈયાર નથી. છતાં આવા પ્રસંગો વ્યક્તિના અસાધારણ પુણ્યત્વનો નિર્દેશ કરી જાય છે. હજારો–લાખો માનવોની મેદની ભેગી હોય છતાં કોઈ પણ માણસને કંઈ અનિષ્ટ ન થાય, અશુભ ન થાય એ પુણ્યાત્માની હાજરીનો પ્રભાવ જ ગણાય. આવા પુણ્યાત્મા હોય છે ત્યાં ઉપદ્રવ નાશ પામે છે. વિરોધી વેગો શમી જાય છે અને માનવીનું મન પ્રસન્ન થઈ જાય છે.

સં. ૧૯૮૨ની સાલમાં કરચલીઆમાં પ્રભુજીને નવી આંગીઓને ચડાવવાના હતા. એ વખતે આ પ્રસંગે વિઘ્ન આવ્યાં; પણ આચાર્યશ્રીએ જે મુહૂર્ત કાઢી આપ્યું તે મુહૂર્ત પ્રમાણે શાંતિથી પ્રતિષ્ઠા ગુજરાનવાલામાં આખું ગામ આગને ચારેકોરથી ઘેરી વળી હતી, પણ આગ બુઝાઈ ગઈ. આચાર્યશ્રીના પવિત્ર પગલાં પંજાબમાં પડવાં ત્યારના સુકાઈ ગયેલા કૂવામાં પાણી આવ્યાં. સં. ૧૯૯૦માં બનાસો વખતે ઉપાશ્રય બહાર બોમ્બ પડ્યા પણ કોઈને ઈજા થઈ નહિ. કોઈ પણ વ્યક્તિના યોગ વિના આચાર્યશ્રીની પવિત્રતાથી બધા બન્યું એ પણ બનાવ અસાધારણ ગણી શકાય.

સર્વધર્મની આત્મીયતા

ઉદારતા, નમ્રતા, મોટાનો આદર વગેરેને લીધે આચાર્યશ્રીની દૃષ્ટિ દિનપ્રતિદિન વિશાળ બનતી ગઈ. આથી તેઓ લોકસમૂહની સામાન્ય ભૂમિકા પર ધ્યાન આપવા લાગ્યા. માત્ર સાંપ્રદાયિક બાબતમાં પુરાઈ રહેવાને બદલે આચાર્યશ્રી જીવનના આધ્યાત્મિક અને નૈતિક મુદ્દા ઉપર ભાર મૂકતા હતા. જીવનના કડવા મીઠા અનુભવોમાંથી ઘડાયેલી દૃષ્ટિને કારણે આચાર્યશ્રી પ્રત્યેક પ્રશ્ન ઉદાર બની સમજી શકતા, અને પાછી દાદ પૂરી રીતે બહાર કરી શકતા. હિંદુ, મુસલમાન, શીખ, પારસી કે ગમે તે કોઈ પણ જાતિનો માણસ હોય, તેમની આજ્ઞા તેમને અનુરૂપ બનાવવાનું વલણ આચાર્યશ્રી સહજ રીતે સ્વીકારી શકતા. સર્વ જાતિને સાર્વજનિક ધર્મ સમજાવતા.

જૈન ધર્મની પ્રસ્તુતિ, અને જાગૃતિ અને જૈન સમાજનો અમર વારસો આચાર્યશ્રીને આખી જીવનની ભિન્ન ભાવનાઓ પણ મિત્રોથી મેળવી શક્યા. અને કારણે મિત્રોમાંના પ્રશ્નો માત્ર સામાજિક બનાવને બદલે ધાર્મિક બન્યા. આચાર્યશ્રી જૈન સિદ્ધાંતોની વાત વાંચો કે માત્ર સત્યોના આધારે આચાર્ય નહોતા બન્યા. પણ એ સત્યનો મર્મ વાણીને સાચા અર્થમાં જીવનમાં સમજીને ઉતારનારા એવો સુગમ બનાવ્યા.

આચાર્યશ્રી ઘણી વખત શાસ્ત્રોને સમજાવતા પોતાની મર્યાદા સ્વીકારતા ઘણી વખત આધુનિક દાખલાઓથી અને અદ્યતન માહિતીથી વ્યાખ્યાનોને રસિક બનાવતા શાસ્ત્રીય કે અસામાન્ય લાગતી બાબતો ઘણી સરળ ભાષામા સાદી ઉપમા કે રૂપક લઈ આચાર્યશ્રી રજૂ કરતા અને બધી વાતો તેમા સાકળી લેતા આને કારણે અનેક જૈનેતર ભાઈઓને પણ આચાર્યશ્રીએ જૈન ધર્મના સિદ્ધાતોનો ખ્યાલ આપી જીવનમા સમભાવ કેળવતા કર્યા

આચાર્યશ્રીનુ વક્તવ્ય આ બધા કારણોને લઈ સર્વદૃષ્ટિનો સમન્વય કરનારુ થતું આચાર્યશ્રી અહિંસાનો ઉપદેશ આપે ત્યારે માત્ર જૈન ધર્મના સિદ્ધાતોમા જ એમની વાત મર્યાદિત ન થતા એમા બધા ધર્મોની વાત આવે વેદના અનેક ઉલ્લેખો, કુરાને શરીફના સિદ્ધાતો, ઇસાઈ ધર્મના મતવ્યો—આ બધામાથી અહિંસાનુ તારતમ્ય તારવી શ્રોતાગણને રસાસ્વાદ કરાવે આચાર્યશ્રીના અનેક વ્યાખ્યાનોમા પૂ૦ આત્મારામજી મહારાજ, એમનો જમાનો, એમનુ મતવ્ય અને પોતાના વિવિધ અનુભવો કેન્દ્રસ્થાને રહેતા રામ, કૃષ્ણ કે પ્રતાપ જેવા મહાન પુરુષોના જીવન પર, દાદુસાહેબ જેવી વ્યક્તિ ઉપર, ગીતા અને પુરાણ પર આચાર્યશ્રી પ્રવચનો કરતા આ વ્યાખ્યાનોમા સત્યની ઉપાસના ઉપર આગ્રહ રહેતો આચાર્યશ્રી સત્યને સાપેક્ષ અને નિરપેક્ષ રીતે રજૂ કરતા આ રીતે તેઓશ્રી એક ધાર્મિક નેતામાથી માનવતાવાદી મહાપુરુષ બની ગયા આચાર્યશ્રીના મતવ્યોનો સાર એટલો જ રહેતો "शिवमस्तु सर्वजगत"—સર્વ જગતનુ કલ્યાણ થાવ આચાર્યશ્રી માનતા કે સત્ય માટેનો આગ્રહ સાચી વસ્તુ છે, પણ સત્યાગ્રહની મર્યાદા હોય છે અને એ કોઈ પણ સમયે હઠાગ્રહ કે દુરાગ્રહનુ સ્વરૂપ પકડે ત્યારે અસહિષ્ણુતા, વિસવાદ, અસમાનતા અને અશાતિ જન્માવે છે સાચો સત્યાગ્રહી સમજે કે એનો સત્યાગ્રહ માનવ માત્રના કલ્યાણ માટે હોય, વિસવાદ પેદા કરી અશાતિ જન્માવવા માટે નહિ આચાર્યશ્રીએ પોતાની રીતે આવા સત્યની ઉપાસના કરી જીવન વ્યતીત કર્યું અને એથી તેઓ જમાનાના પ્રેરક થઈ ગયા

વિનય અને સેવાનો મહાન ગુણ

"विणयमूलो धम्मो" આચાર્યશ્રીમા બીજો તરી આવતો ગુણ 'વિનય'નો હતો આને કારણે સામા માનવીના હૃદયને તેઓ સદા જીતી લેતા સાગર પોતાની ગભીરતા સમજે છે અને એક પ્રકારનુ નિરવધિ સગીત સભળાવી જનોના ચિત્તને પ્રફુલ્લિત કરે છે વિનયી દિલ ગુલાબનુ બનેલુ હોય છે અને તેથી જ સુવાસિત હોય છે 'હુ કઈક છુ' એવી અહતાની લાગણી વિનયના ગુણ આગળ તવાઈ જાય છે આચાર્યશ્રી વખતોવખત કહેતા "જેનામા વિનય નથી, પરતુ અભિમાન છે એ કષાય એવા માનવીના આત્મવિકાસ અને આત્મકલ્યાણની આડે આવે છે આથી સૌ કોઈએ વિનયી તેમ જ નમ્ર બનવુ જોઈએ "

વિનયના આ ગુણને કારણે આચાર્યશ્રી પ્રવર્તક શ્રી કાતિવિજયજી મહારાજ તેમ જ બીજા વડેરા મુનિઓની વખતોવખત સલાહ લેતા, એમનો વિનય જાળવતા અને વ્યવહાર પણ સાચવતા

આ વિનયના લીધે એમનામા સેવાભાવનો ગુણ ખૂબ ખીલ્યો હતો માનવી ગમે એટલો મહાન હોય, પણ એની મહત્તાની પારાશીશી તો એની સાથેના નાના માનવો પ્રત્યેનો વર્તાવ જ છે માનવી જેટલો મહાન બને તેટલો તેણે નાના માનવી પ્રત્યે ખ્યાલ રાખવો ઘટે આને કારણે સેવાની લાગણી વિકાસ પામે અતેવાસીઓમાથી કોઈ પણ માદુ પડે કે તબિયત સહેજ પણ અસ્વસ્થ લાગે તો આચાર્યશ્રી તુરત દોડી જતા અને ખૂબ જ સમભાવથી એમની શુશ્રૂષા કરવા લાગી જતા આવી હતી તેઓશ્રીની સેવાની મહાન ભાવના અને માનવી પ્રત્યેની લાગણી

તીર્થયાત્રાઓ અને સંઘો

આચાર્યશ્રીએ લગભગ બધાં જ તીર્થોની યાત્રા કરી હતી. તેઓશ્રી કહેતા : "તીર્થયાત્રામાં કોઈએ જ્યારે તે તે સ્થળોની પરિસ્થિતિ જાણવા મળે છે. આવા પ્રદેશમાં હોઈએ ત્યારે સ્વાભાવિક જ કેટલો ધર્મ-બોધ થાય છે. આવી અનુભવની શક્તિ મળે છે. તીર્થયાત્રા એ માત્ર મોજશોખની વસ્તુ નથી, પણ ઇતિહાસની જાગૃતિ છે. આવાં તીર્થસ્થાનોને લીધે આપણો ધર્મ અને આપણી સંસ્કૃતિ ટકી રહ્યાં છે." આચાર્યશ્રીએ શત્રુંજય, આબુ, રાણકપુર, ઓસિયાં, પાલનપુર, ગિરનાર, પાટણ, કેસરિયાજી, મક્ષી, કાંગડા, હસ્તિનાપુર, જેસલમેર વગેરે અનેક તીર્થોની યાત્રા કરી હતી. સાથે સાથે કેટલાંક તીર્થોના રક્ષણ અને ઉદ્ધાર માટે પ્રેરણાઓ પણ આપી હતી.

એમની પ્રેરણાથી અનેક સંઘો નીકળ્યા હતા. સં. ૧૯૬૧માં રાધનપુરથી પાલિતાણાનો સંઘ નીકળ્યો હતો. એ જ રીતે ... સંઘ નીકળ્યો. સં. ૧૯૭૧માં આચાર્યશ્રી સાથે કેસરિયાજીનો સંઘ નીકળ્યો હતો. સં. ૧૯૮૯માં જેસલમેરનો સંઘ નીકળ્યો. આચાર્યશ્રીની પ્રેરણાથી સં. ૧૯૯૧માં હસ્તિનાપુરથી કાંગડા-તીર્થનો સંઘ નીકળ્યો હતો. પ્રત્યેક સંઘમાં આચાર્યશ્રી ધર્મોપદેશ આપતા અને ધર્મ-જાગૃતિ કરવા પ્રેરણા આપતા.

રૂઢિ સામેની જેહાદ

જે માનવીનું અતિશય બળ બોધ છે, જે માનવી દૃષ્ટિ અમુક રીતે વિકાસ પામેલી છે એ માનવી કોઈ પણ બાબત ઉપદેશોથી કે પક્ષપાતથી કામ કરે નહિ. ધર્મ અને મોક્ષની આશા રાખીને એ લોકો વિવિધ આચરણ કરે, પણ કાળ અને ભાવનો ખ્યાલ રાખી એ પ્રમાણે વર્તે છે. આવી કાળનો ખ્યાલ રાખી ભૂતકાળની નકામી વસ્તુઓને તે ફગાવી દે છે. આવા માણસના જીવનને રૂઢિ કે રિવાજો કુંઠિત કરી શકતા નથી. આવો માનવી જીવનના મૂલ્યને પારખે છે. આથી કોઈ કોઈ વખત રૂઢ બનેલાને આઘાતો આપી જાય છે. નિર્ભય બનીને ઉપાસના માનવી કોઈ કોઈ વાર સામા માણસને કડવું લાગે એવું પણ કહી દે છે. આ માનવી જૂના કે નવાનો એકાંત આગ્રહી કે વિરોધી નથી હોતો, પણ એ તો હંમેશાં જૂના અને નવા વચ્ચેનાં સારભૂત તત્ત્વોનો સમન્વય કરી જીવનને વિકસાવે છે.

આચાર્યશ્રી આવા પ્રકારના માનવી હતા. આચાર્યશ્રીએ જોયું કે કેટલીક કુપ્રથાઓ અને રૂઢિઓ માનવીને સાચો ધાર્મિક આચાર પાળવામાં અંતરાયરૂપ બની રહી છે ત્યારે તે કુપ્રથાઓ અને રૂઢિઓને ફગાવી દેવાની આચાર્યશ્રીએ હિંમત બતાવી. રૂઢિઓ અને રિવાજો તો આચરણનાં ખોખાં જેવાં છે. આચરણનો આત્મા એ મૂળ ધાર્મિક વસ્તુ છે. રૂઢિ-રિવાજનું ખોખું જડ બની આત્માના મૂળ પ્રસારને રૂંધાવે છે. આચાર્યશ્રીએ આ નિમિત્તે કેટલાક સામાજિક વ્યવહારને પડકાર્યો, રેશમી વસ્ત્રો અને વિલાયતી કેસર સામે અવાજ કરી, અને અનેક સ્થળે કન્યાવિક્રય અને વરવિક્રય બંધ કરાવવા પ્રયત્ન કર્યા.

પરાણે દીક્ષા દેવામાંથી સમાજમાં સુધારો આવતો નથી એ વાત આચાર્યશ્રી બરાબર સમજતા. કન્યાવિક્રય અને વરવિક્રય સામે પોકારેલા જેહાદની અસર જોવાથી એ પ્રથા ઓછી થઈ અને કરવું તેઓશ્રી અજ્ઞાનતિમિરતરણિ કલિકાલકલ્પતરુના વિશેષણથી ઓળખાવા લાગ્યા. અજ્ઞાનતામાં ઘેરાયા હોવા છતાંય વીસ હજાર માનવોની સભામાં મેં જ્યારે પ્રવચન કરતાં આચાર્યશ્રીએ જણાવ્યું હતું કે "સમાજમાં સુધારાઓ એવી રીતે દાખલ થવા જોઈએ કે જેથી કોઈને આઘાત ન થાય. સુધારાઓ જબરજસ્તીથી કોઈના માથે ઠોકી બેસાડાય નહિ. સુધારાનો અમલ એવી રીતે થવો જોઈએ કે જેથી સમાજનો મોટો ભાગ પણ એનો સ્વીકાર કરે અને કાર્ય સરળ થઈ જાય." આચાર્યશ્રીએ આવા ભારતમાં

જ્ઞાનપ્રચાર કરી ઠેર ઠેર પાઠશાળા, કન્યાશાળા, પુસ્તકાલય, નિશાળો, વિદ્યાલયો વગેરે માટે પ્રેરણા આપી

સર્જકશક્તિ અને સરળ ભાષા

આચાર્યશ્રીમા સર્જકશક્તિ અને કલ્પનાશક્તિ હતા, પરતુ સમાજસેવાના વિશાળ કાર્યમા આ શક્તિને વિકસાવવાની એઓશ્રીને પૂરી તક ન મળી આચાર્યશ્રીએ ઘણુ લખ્યુ છે જો કે એમના ઘણુંખરુ પ્રાસગિક છે, પ્રચારાત્મક છે, અને ચિરજીવી ગણી શકાય તેવુ મૌલિક સાહિત્ય પણ તેમા ઘણું છે, જેનાથી એમની સર્જકશક્તિના આપણને દર્શન થાય છે આ શક્તિ આચાર્યશ્રીની બહુશ્રુતતા પુરવાર કરે છે આચાર્યશ્રીએ પૂ૦ વિજયાનદસૂરિજીનુ જીવનચરિત્ર લખ્યુ 'વિશિષ્ટ નિર્ણય' તથા બીજા પુસ્તકો એઓશ્રીએ ગુજરાનવાલામા લખ્યા, જેમા એમણે અહિંસાનું સમર્થન કર્યુ વેદાદિક શાસ્ત્રો, ભાષ્યો, સૂત્રો વગેરેમાથી હિંસાવિરોધી દલીલો રજૂ કરી અનેક અઠવાડિક પત્રોમા અને સામયિકોમા પ્રસગોપાત્ત આચાર્યશ્રીએ લેખો લખ્યા અને જૈન સાહિત્યની રચના માટે પ્રેરણા આપી આચાર્યશ્રીના વ્યાખ્યાનો તેમ જ બીજા સર્જનમા કવિત્વના ચમકારા દેખાય છે એઓશ્રીની ભાષા સરળ, બોધવાહી અને સુરેખ હતી આચાર્યશ્રી ટૂકા અને સચોટ, તર્કશીલ છતા ઊર્મિથી ભરપૂર વાક્યો બોલતા એમના કથિતવ્યમા ઘણા ઉલ્લેખો આવતા આથી સામાન્ય માનવી ઉપર તેની છાપ તરત જ પડી જતી

નીડર અને સ્પષ્ટભાષી

જેણે કચન અને કામિનીનો ત્યાગ કર્યો છે તેવા સાધુઓને દુનિયામા કોઈનાથી બીવાનુ હોતુ નથી ત્યાગી માનવી પોતાની અમૂલ્ય શક્તિને કારણે કોઈની શેહમા આવતો નથી જે માણસને કઈ પણ ગુમાવવાનો ભય નથી, જે પોતાના નક્કી કરેલા અમુક કાર્યક્ષેત્રમા જ માને છે તે માનવી સદાયે સિંહસમો નિર્ભય હોય છે જેને સિદ્ધાતોમા તડજોડ ન કરવી હોય તેનામા સ્વાભાવિક રીતે જ આ નિર્ભયતા જન્મે છે જે માનવી નિસ્વાર્થી છે, પ્રામાણિક છે, જે દુનિયામા સીધા રાહે ચાલવા માગે છે, જે નિસ્પૃહી છે અને જે ચચળ વસ્તુઓ માટે ઝખતો નથી તે માનવી સદાયે નીડર હોય છે

'પજાબ કેસરી' આચાર્યશ્રીની આ નીડરતા જાણીતી છે એમનુ બિરુદ પણ એ રીતે સાર્થ છે ઉદેપુરમા પ્રવચન વખતે કર્મનો સિદ્ધાત સમજાવતા આચાર્યશ્રીએ એક દાખલો આપ્યો "જુઓ, સામે બેઠેલા ઉદેપુરના મહારાજાને જુઓ આ મહારાજાનુ ઉપરનુ અગ કેટલુ સુદર છે! નીચેના અગમા પગે ખોડ છે કર્મરાજાનો આ પ્રતાપ છે કર્મરાજા કોઈને ય છોડતા નથી અને જો કોઈ એમ માનતુ હોય કે કર્મવાદ મિથ્યા છે તો એ માનવી મૂર્ખાઓના સ્વર્ગમા વસતો હોવો જોઈએ જૈન ધર્મ કહે છે કે કર્મ એ જ સૌથી મોટી બળવાન વસ્તુ છે સારુ કર્મ કરે એ પુણ્યના બધ બાધે અને ખરાબકર્મી પાપના બધ બાધે "

આચાર્યશ્રી વ્યાખ્યાનોમા ધનપતિઓને ખાસ ટકોર કરી કહેતા "લક્ષ્મી ચચળ છે કોઈ દિવસ એ સીધી ટકવાની નથી લક્ષ્મી વાપરે વધે છે માટે એનો ત્યાગ કરી ભોગવવી જોઈએ જો મોજશોખમા જ લક્ષ્મીનો ઉપયોગ કરશો તો પુણ્યથી મેળવેલી લક્ષ્મી પાપકર્મ બાધનારી થઈ જશે ધનનો આ નિયમ સનાતન છે " આચાર્યશ્રી આ રીતે નીડરતાથી ટકોર કરતા અને અસત્ય વસ્તુનો વિરોધ કરતા રાજ્યો ધર્મમા દખલ કરે તો એમને પણ સ્પષ્ટ કહી દેતા, અને રાજ્યનો વિરોધ કરવામા પહેલ કરતા

સમજાવવાની સરળ પદ્ધતિ

જૈનધર્મના આચાર્ય તરીકે તેઓશ્રી આગમો, શાસ્ત્રો, સિદ્ધાંતો અને પ્રશ્નોત્તર-પરંપરાથી વાકેફ હતા. અન્ય ધર્મોમાં વૈદિક શું છે એનો તેઓશ્રીને ખ્યાલ હતો. ભાગવત ઇસ્લામ એમની તીવ્ર સ્મૃતિને કારણે શ્લોકો ઉપર શ્લોકો બોલ્યે જતા અને એનો અર્થ પણ સમજાવતા. વિરોધીઓના તર્કોનો બુદ્ધિગમ્ય જવાબ આપવાની આચાર્યશ્રીની શક્તિ અનોખી હતી. એઓશ્રી બીજાની શક્તિની કદર કરી જાણતા અને એને ઉત્તેજન આપતા, અને ક્યાં કદીયે તેઓશ્રીએ પોતાને વિદ્વાન ગણાવ્યાનો દંભ કર્યો નથી અને કરાવ્યો પણ નથી. અનેકાંત જેવા ગહન વિષયને સમજાવવા તેઓ સરસ ઉપમા આપતા. તેઓ કહેતા : એક માણસ ભત્રીજાનો કાકો, ભાણેજનો મામો, ભાઈનો ભાઈ, બાપનો બેટો અને બેટાનો બાપ તથા બહેનનો ભાઈ છે. એક જ માણસ જુદા જુદા માણસની જુદા જુદા સગપણની અપેક્ષાએ વિવિધ રીતે ઓળખાય છે. આવી રીતે એક જ વસ્તુ દરેકની જુદી જુદી દૃષ્ટિએ જુદી જુદી સમજાય છે. કોઈ કહે તે બાપ છે અને બેટો નથી. એવો આગ્રહ કેમ રખાય? બેટાની અપેક્ષાએ તે બાપ છે અને બાપની અપેક્ષાએ તે બેટો છે. એ રીતે સૌને સમજવા માટે સગપણની અપેક્ષા રહે છે.

શાસ્ત્રની વસ્તુ સમજાવવામાં આચાર્યશ્રી ઘણી વખત સાદાસીધા રૂપકનો ઉપયોગ કરતા અને તે પછી મૂળ વિષય પર આવી એમાનું ચિંતન, એ ચિંતન પર વિવિધ આચાર્યોએ કરેલો અભિપ્રાય અને એમાંથી નિપજેલા જ્ઞાનનો આલેખન ખ્યાલ આપતા. આમ આચાર્યશ્રી એક વસ્તુને એના સ્વરૂપમાં રજૂ કરતા ત્યારે એ વિષયના મૂળથી માંડીને એક અખંડ માહિતી સાથે વિષયને રસિક બનાવતા. આનું પરિણામ એ આવતું કે આચાર્યશ્રી ધર્મના ગહન સિદ્ધાંતો અને ગહન વિષયો માનવીઓને સહેલાઈથી સમજાવી શકતા.

મૂર્તિપૂજાનો વિરોધ કરનારને તે પ્રશ્ન કરતા અને કહેતા : પ્રત્યેક ધર્મમાં મૂર્તિપૂજા એક યા બીજા સ્વરૂપે છે જ. મૂર્તિઓ આપણી પ્રતીક છે. વિવિધ આકૃતિઓ, વિવિધ સ્થળો વગેરેને લીધે આપણું પ્રતીક બને ભગવાન પરનું. માનવીના મનને ઉન્નત બનાવવા માટે પ્રતીક હોવું જોઈએ. આ પ્રતીક વિના કોઈને ન ચાલે. કોઈ ભૂમિને માને, કોઈ મક્કાને માને. હિંદુઓ હરદ્વારની યાત્રાએ જાય. મુસલમાનો પાક થવા માટે મક્કાની હજે જાય. પારસીઓ અગિયારીમાં જાય. શીખો ગુરુદ્વારામાં જાય. ખ્રિસ્તીઓ દેવળમાં જઈ પ્રાર્થના કરે. આમાં સૌ કોઈનો હેતુ મનને ધન્ય બનાવવાનો અને મનનો ભાર ઓછો કરવાનો છે. મૂર્તિપૂજામાં ન માનનારા નાસ્તિકો પણ પોતાના માતપિતાની છબીઓ ધરાવે છે ને એને સાથ સાથે રાખે છે. આ મૂર્તિપૂજા નથી તો શું છે? પ્રભુનું નામ અક્ષરોમાં લખાય એ પણ મૂર્તિપૂજાનો એક પ્રકાર છે. તો પછી એમની પ્રતિમા રાખીને આપણા હૃદયમાં પૂજ્યભાવ જાગ્રત કરીએ તો એમાં કશું ખોટું નથી.

પ્રતિષ્ઠાઓ તથા ઉપધાન

ઉપધાન તથા પ્રતિષ્ઠા જેવા અનુષ્ઠાનોના આગ્રહથી ગુરુ કદી ન હતા તેમ કહેવું તદ્દન ખોટું છે. પરંતુ આ વિધાનના નામે જે આડંબરયુક્ત ખર્ચાળ ઉજવણીઓ થાય છે અને સમાજ ઉપર એનો જે ભાર પડે છે એનો પોતે ચોક્કસ વિરોધ કરતા. આચાર્યશ્રીએ અનેક ગામોમાં પ્રભુની પ્રતિમાઓ બિરાજમાન કરી પ્રતિષ્ઠામહોત્સવો ઉજવ્યા હતા ને મંદિરો માટે પ્રેરણા કરી હતી. મુંબઈમાં શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયના દેરાસરની પ્રતિષ્ઠા, વડોદરા દેરાસરમાં સં. ૧૯૭૪માં શ્રી શાન્તિનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા, સં. ૧૯૮ મા આચાર્યપદ સ્વીકાર્યા પછી શ્રી શાન્તિનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા,

સં૦ ૧૯૮૩મા બિનોલીની પ્રતિષ્ઠા, બડૌતમા પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૧૯૮૫મા હસ્તિનાપુરમા શ્રી સંભવનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા, પૂનામા શ્રી સિદ્ધાચળજીનો પટ, આકોલા અને બાલાપુરમા પ્રતિષ્ઠા, ડભોઈમા શ્રી લોઢણ પાર્શ્વનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૧૯૯૩મા ખભાતમા પ્રભુજી અને ગુરુમૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા, સાદડીમા પ્રતિષ્ઠા, ખાનડોગરામા શ્રી શાંતિનાથ પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૧૯૯૮માં કસુરમા શ્રી આદીશ્વર પ્રભુની પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૨૦૦૦મા બિકાનેરમા શ્રી પાર્શ્વનાથ પ્રભુ, તેમજ શ્રીહેમચંદ્રાચાર્ય, શ્રીહીરવિજયસૂરિજી મહારાજ તથા ગુરુદેવની મૂર્તિઓની પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૨૦૦૨મા ગુજરાનવાલામા પ્રતિષ્ઠા, સં૦ ૨૦૦૮મા વડોદરામા પ્રતિષ્ઠા, મુંબઈમા પ્રતિષ્ઠા વગેરે જાણીતું છે આચાર્યશ્રીના ઉપદેશથી અનેક સ્થળોએ શાંતિસ્નાત્રો થયા છે, અનેક સ્થળોએ ઉપધાનાદિ ક્રિયાઓ થઈ છે

આ ક્રિયાઓ અંગેના સામાજિક વિવાદોમા સંઘના નિર્ણય અનુસાર આચાર્યશ્રી કરાર કરાવતા અને અમુક કરારો માટે આચાર્યશ્રી સાક્ષી રહેતા વર્જ્ય રૂઢિઓને ટકાવવામા જરા પણ ઢીલ તેઓશ્રી કરતા નહિ સામાન્ય માનવીના મિત્ર, ચિંતક અને શુભેચ્છક બની સહુને પ્રવૃત્તિ કરવાનો ઉપદેશ આપતા

આચાર્યશ્રી ઇતિહાસ, ગણિત અને જ્યોતિષના સારા અભ્યાસી હતા ઇતિહાસ વિષેનુ પરપરાગત જ્ઞાન તેમના વ્યાખ્યાનોમા હમેશ જોવા મળતુ આખો જૈન ઇતિહાસ તેઓશ્રીને મોઢે હતો એઓશ્રીએ ઇતિહાસના અનેક પુસ્તકો વાચેલા અને આથી પ્રણાલિકાગત ઇતિહાસ ઉપર એઓશ્રીનુ અપૂર્વ પ્રભુત્વ હતુ ગણિતશાસ્ત્રનુ તેમનું જ્ઞાન પણ અદ્ભુત હતુ ભલભલા લાબા ગુણાકાર તથા ભાગાકાર આકડા લખ્યા વગર મોઢે કરી આપતા જ્યોતિષમા પણ તેઓશ્રીને સારો રસ હતો મુહૂર્ત કાઢી આપવામા તેઓ નિષ્ણાત હતા એઓશ્રીનો યોગવિદ્યા પર સારો કાબૂ હતો પ્રાણાયામ વગેરે આચાર્યશ્રી સારી રીતે કરતા આચાર્યશ્રીએ ટાઢ તડકો જોયા વિના પણ ધ્યાનને જીવનચર્યામા સ્થાન આપ્યુ હતુ ધ્યાનમા મગ્ન થઈ નિજાનંદમા મસ્ત બનતા

મધ્યમ વર્ગને બચાવવાની જરૂર

જનતા સાથેના સીધા સપર્કને લીધે સામાન્ય જનતાના સુખદુ ખો, ઇચ્છા-અનિચ્છાઓ, પૂર્વગ્રહો, પક્ષપાતો, મર્યાદાઓ, વિચિત્રતાઓ, ગુણો દુર્ગુણો તથા નબળાઈઓ વગેરેથી આચાર્યશ્રી વાકેફ હતા જૈન સમાજની નાડી આચાર્યશ્રીના હાથમા હતી એઓશ્રી કહેતા કે મધ્યમ વર્ગની ઘણીખરી નબળાઈઓ અનુકરણમાથી આવે છે દેખાદેખીના ખપ્પરમા, સમાજની રૂઢિઓમા એની બચત ખર્ચાઈ જતા એ રહેંસાઈ ગયો છે અને અન્યનો દેવાદાર પણ બની ગયો છે જો એ પોતાના કૃત્યો પરત્વે જાગ્રત ન હોય તો એ સમાજમાં આડે માર્ગ જાય છે અને આખરે સમાજને બોજારૂપ થઈ પડે છે કરોડરજ્જુ સમાન ગણાતા મધ્યમ વર્ગની દિનપ્રતિદિન બગડતી પરિસ્થિતિનો આચાર્યશ્રીને ખ્યાલ હતો અને તેથી અવારનવાર વ્યાખ્યાનો દ્વારા ભારપૂર્વક તેઓશ્રી કહેતા કે મધ્યમ વર્ગ તૂટી જશે તો સમાજનો પાયો સ્થિર નહિ રહે સમાજમાં અરાજકતા અને આતર વિગ્રહની ભૂમિકા રચાશે આવતી કાલના રાજકીય—આર્થિક—સાસ્કૃતિક પરિબળોએ સર્જેલા પ્રશ્નોનો જો સમાજ ન ઉકેલી શકે તે ભારે પછડાટ ખાશે

જીવનના ત્રણ આદર્શો

શ્રમણ ભગવાન મહાવીરે જૈન સઘનુ પ્રરૂપેલું બધારણ લોકશાહી છે એ આચાર્યશ્રી બરોબર સમજતા હતા શ્રમણ ભગવાન મહાવીરે સત્ય અહિંસાનો આદર્શ રજૂ કરી સમાનતાની હિમાયત કરી હતી કર્મવાદ અને સ્યાદ્વાદ રજૂ કરીને જૈન દર્શને અનેકોને નવી દૃષ્ટિએ વિચાર કરતા કરી મૂક્યા

હતા. પણ કાળના પ્રવાહોએ આવી સ્થિતિમાં ધર્મ સ્થાપિત હિતોનો પુરસ્કર્તા બની ગયો હતો. કાળનો પ્રવાહ વિચિત્ર રીતે વહ્યો હતો અને ભ્રમમાં વર્ગ અજ્ઞાન હતા. સમાજના નેતાઓને સમાજના બાહ્ય પ્રશ્નોનો એમાંથી કોઈ ખ્યાલ નહોતો અને ધર્મની બાબતનું મુક્તિ બની ગયો હતો. ઘણાય સમાજમાં એ રીતે અજ્ઞાને [illegible] વ્યાપેલી અવસ્થા હતી. નવીન માર્ગ [illegible] ધરખમ હતી.

આવી પરિસ્થિતિમાં હવે [illegible] ધર્મો રાજનીતિ સિવાય આપેલી [illegible] સાથે ધર્મોમાં બાહ્ય પ્રચાર કરવાનું એક આત્મસાધનાને માટે [illegible] છે. આચાર્યશ્રી ઘણું કહેતા: "મારા જીવનના ત્રણ મુખ્ય આદર્શો: આત્મા પહેલું આત્મસાધના, બીજું જ્ઞાનપ્રચાર અને ત્રીજું માતા સાધ્વીઓનો ઉદ્ધાર." આચાર્યશ્રીએ આ ત્રણ આદર્શોને જીવનની સાથે જોડીને ઉદ્ધાર કરી જીવનને ધન્ય બનાવ્યું છે અને એક અનુપમ પ્રેરણા જીવન [illegible] છે. આચાર્યશ્રીનું જીવન કેવળ સ્પષ્ટ રીતે ખ્યાલ આપે છે કે સાચા આત્મસાધક સાધુ જૈન નેતાઓ એ સમાજની સેવા માટે પ્રવૃત્તિ કરે તો એ નવીન ક્રાંતિ કરી શકે અને સમાજને એમની પ્રવૃત્તિ લાભદાયી થાય! વળી જૈન સાધુનો માર્ગ ધર્મ માત્ર [illegible] આજ્ઞાઓમાં જ જૈન સમાજને દોરે એ ન ચાલે. કારણ કે સાધુઓનો એક મોટો ભાગ તો સમાજના એક ભાગ તરીકે જ જીવન વ્યતીત કરી આત્મચિંતન કરે છે. આ સાધુ-સમુદાય નવયુગીન સમાજમાં [illegible] પરિવર્તનો [illegible] ન કરી શકે. આથી સાધુ-સમુદાયનું એ કર્તવ્ય બને છે કે એ જૈન ધર્મની ઉચ્ચ પ્રવૃત્તિઓ [illegible] માટે પ્રયત્નો કરતા અને સમાજને ઉત્તેજિત કરતા [illegible] પ્રથમ [illegible] સમાજ એ [illegible] છે. પણ એ વસ્તુ સ્પષ્ટ છે કે બન્નેને એક [illegible] તેઓએ [illegible] બન્નેનો સમન્વય કર્યો. તેઓએ એમ કરીને [illegible] સાધ્વીઓનો [illegible] કર્યો. આચાર્યશ્રીનું જીવન આપણને [illegible] પૂરી પાડે છે. તેઓશ્રી કહેતા કે આત્મસાધનાની [illegible] સમાજ અને [illegible] પોતાની [illegible] ભૂલવી ન જોઈએ. આચાર્યશ્રીએ પોતે પણ આ બાબત પોતાની [illegible] છે એમ [illegible] એ વસ્તુને પોતાના જીવનને [illegible] કરી છે. દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવનો ખ્યાલ રાખી એમણે જીવન [illegible] અને અનેકોને ઉપકારી બન્યા.

આથી [illegible] માટે ભગવાન મહાવીરે જૈન ધર્મના અનેક સિદ્ધાંતોનું [illegible] કર્યું છે. [illegible] કરી છે. [illegible] સ્થાપના કરી છે અને [illegible] જીવોને માર્ગદર્શન આપ્યું છે. ભગવાન મહાવીરના શાસનને અનેક [illegible] છે. જૈન ધર્મનું સ્વરૂપ એવું એ [illegible] એવી [illegible] સ્વરૂપ [illegible] છે. પ્રભુ મહાવીરે જે [illegible] આપ્યો છે તે સાચો છે. પણ એ [illegible] તે [illegible] નથી. [illegible] અને [illegible] કરી શકે. આચાર્યશ્રી [illegible] પુરુષ હતા.

જૈન ધર્મ અને વિજ્ઞાન

આચાર્યશ્રીના જીવન અને [illegible] જણાય છે કે ધર્મનું [illegible] નથી [illegible] પણ એની [illegible] શક્તિઓ અને રહસ્યો [illegible] છે—[illegible] છે. જૈન [illegible] વિશિષ્ટ [illegible] આપ્યો છે તે હવે વૈજ્ઞાનિક રીતે સાબિત થતા જાય છે. એટલે કે વિજ્ઞાન પણ હવે જૈન સિદ્ધાંતોની [illegible] થયું છે. [illegible] વૈજ્ઞાનિક [illegible] વનસ્પતિમાં જીવ છે એ સાબિત કર્યું અને [illegible] તે માન્ય થયું છે. જૈન ધર્મે આ વાત

ઘણા વર્ષોથી કહી છે પશ્ચિમના ચિંતકો આપણા સ્વતંત્ર દર્શનને સ્વીકારતા થયા છે જર્મન ચિંતક હેગલ આપણા જૈન દર્શનની નજીક આવે છે સ્વ૦ પ્રો૦ આલ્બર્ટ આઈન્સ્ટાઈન એમના સાપેક્ષવાદના સિદ્ધાંતને લઈને જૈન સિદ્ધાંતની ઘણી નજીક આવે છે 'મેટર' અને 'માઈન્ડ'ની વ્યાખ્યામા અને વિશ્વના ઉદ્ભવ સબધી વિચારણામા જૈન વ્યાખ્યાઓનો હવે વ્યાપક રીતે સ્વીકાર થઈ રહ્યો છે વિજ્ઞાનની ચકાસણીમા આપણો ધર્મ ટકી રહ્યો છે અને ટકી શકે એમ છે એ નક્કર સત્ય છે

વિજ્ઞાન અને ધર્મ વચ્ચે મેળની જરૂર

આજના વિજ્ઞાને સમય અને સ્થળનુ અતર દૂર કર્યું છે સમસ્ત વાતાવરણમા આપણા અવાજનો પડઘો પડે છે એ વસ્તુ રેડીઓ જેવી શોધોએ પુરવાર કરી છે આજના વિજ્ઞાને આસુરી કહી શકાય એવી વિનાશક શક્તિ પેદા કરી છે આજના માનવી પાસે સાધનો છે, સપત્તિ છે, જ્ઞાનના વિવિધ પ્રકારનો વિકાસ અને સિદ્ધિઓ છે આજના યુગમા માનસશાસ્ત્રજનિત વિજ્ઞાને માનવીના ચિંતન અને એ પરત્વેનુ એનુ વલણ બદલી નાખ્યા છે માનવીએ ભૌતિક પ્રગતિ કરી વિપુલતા પ્રાપ્ત કરી છે પણ આજના દાર્શનિકો અને તત્ત્વજ્ઞોને લાગે છે કે આ ભૌતિક પ્રગતિના મુકાબલે માનવી આધ્યાત્મિક અને નૈતિક જીવનમા કઈ જોજનો દૂર પાછળ રહી ગયો છે આમ આજના અપરિમિત જ્ઞાનવિજ્ઞાનની અનેક શોધો છતા માનવી હજી કેટલીય બાબતમા પાછળ છે—અજ્ઞ છે

વિજ્ઞાન એક તરફ આગળ વધી રહેલ છે, જ્યારે બીજી તરફ આપણા વિનાશનુ કારણ બની રહેલ છે આથી વિજ્ઞાન ઉપર અકુશ મૂકવો જરૂરી બની રહેલ છે આ લગામ જો નહિ આવે તો માનવીના વિનાશની એક નવી તવારીખ રચાશે અણુબૉમ્બ અને બીજી શોધોએ યુદ્ધનુ આખુ શાસ્ત્ર બદલી નાખી આજના જીવનમા અનેક કોયડાઓ પેદા કર્યા છે

વિજ્ઞાનની શોધોને પરિણામે આજે સકુચિત ભાવનાઓને ક્યાયે સ્થાન રહ્યુ નથી માનવીની દૃષ્ટિને વિકસાવે એવુ ઘણુ ઘણુ આ ભૌતિક દુનિયામા બની રહ્યુ છે ભૌતિક દુનિયાનો વિકાસ અને આધ્યાત્મિક નૈતિક જીવનની પીછેહઠ આ બને કારણોને લઈ આજની જીવન-વીણા વિસવાદી સૂરો વહાવી રહી છે સમષ્ટિના સઘર્ષમા પણ આ જ બે કારણો છે પરિણામે નિષ્ફળતા અને નિરાશાના ઘોર વાદળો ચારે બાજુ ઝઝુમી રહ્યા છે વિજ્ઞાને જન્માવેલી લાગણી અને ધર્મભાવના વચ્ચે મેળ સાધવાની ખાસ જરૂર છે આ કાર્ય ધર્મગુરુઓ જેટલુ બીજુ કોઈ ન કરી શકે આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજી આ રીતે આપણી ઘણી સેવા બજાવી ગયા

આદર્શ ગુરુ

આજના યુગને પ્રતિકૂળ થવાથી—યુગની પ્રવૃત્તિઓથી નિર્લેપ થવાથી આપણે સાચુ જીવન જીવી શકવાના નથી એમ કરવા જતા આપણી તાકાત જ તૂટી જશે એથી આજના યુગને સમજીને આપણે પ્રવૃત્તિ કરવાની છે કોઈનુ યે અમગળ ઇચ્છ્યા વિના, સદાયે જાગ્રત રહી, આત્મકલ્યાણ સાધવાનુ છે આ આત્મકલ્યાણ આપણે આપણી રીતે કરવાનુ છે એ માટે આપણને સદ્ગુરુની જરૂર છે આજના યુગમા આ સદ્ગુરુ કેવા હોઈ શકે એનો દાખલો આચાર્યશ્રીએ આપણી સમક્ષ મૂક્યો છે એમની અનેકવિધ સમાજોપયોગી પ્રવૃત્તિનુ ઉદાહરણ આપણી સમક્ષ છે એઓશ્રીએ આપણને આપણી ફરજનું ભાન કરાવ્યુ છે યુગવીર–યુગદૃષ્ટા આચાર્ય તરીકેનું એઓશ્રીનુ સ્થાન અનન્ય છે પરિવર્તનશીલ સસારમા સમાજ તેમજ ધર્મને નજરમાં રાખી ધર્મમય પ્રવૃત્તિ કેવી રીતે કરી શકાય એનો અનુપમ દાખલો આચાર્યશ્રી આપણી સમક્ષ મૂકી ગયા છે એમનો વારસો આપણે જીરવવાનો છે આપણે આપણી

સમસ્ત મહાપુરુષોના જીવન અને કાર્યોનો દાખલો રાખીએ તો આપણને જીવન જીવવાની પ્રેરણા મળે, અને આપણે આપણું જીવન ધન્ય બનાવી શકીએ. આમ કરીને જ આપણે આપણા ધ્યેયની સિદ્ધિ આગળ ધપી શકીએ. મહાપુરુષોના જીવન તો માત્ર પ્રેરણા આપે. પણ આપણે એ જીવનમાં તે ઉતારવા પ્રયત્ન કરીએ અને સફળ આત્મા બનીએ તો આપણે પણ પુરુષોત્તમ બની શકીએ. આચાર્યશ્રીના જીવનમાંથી આપણને આ પ્રેરણા સહેજ મળે છે. આ રીતે એઓશ્રી ખરેખર એક આદર્શ ગુરુ હતા.

ઉપસંહાર

આચાર્યશ્રીના જીવન અને વ્યક્તિત્વ પ્રતિ આપણે એક ટૂંકો દૃષ્ટિપાત કર્યો. શરૂઆતમાં જ કહ્યું તેમ કોઈ મહાન વ્યક્તિને પૂર્ણ રીતે સમજવી મુશ્કેલ છે; તેના અંતરમાં વસી રહેલા મહાન પ્રવાહોને પામવા કઠિન છે. તેમ છતાં આપણે જેટલે અંશે અને જેટલી રીતે તેને સમજી શકીએ એટલું આપણું સદ્ભાગ્ય. મહાન પુરુષો પોતાની જાતને કદી અસાધારણ કે અસામાન્ય ગણાવતા નથી. તેઓ તો પોકારી પોકારીને કહેતા હોય છે કે તમે અમને સમજવા પ્રયત્ન કરો. અમારી વાતો આચરણમાં મૂકો અને તમે પણ અમારા જેવી પ્રગતિ સાધી શકશો.

"Lives of great men all remind us
W can make our lives sublime"

આચાર્યશ્રીનું વ્યક્તિત્વ વિવિધ પ્રકારનું હતું. પોતાની આગવી પ્રતિભા અને શક્તિ વડે તેમણે પોતાનો તેમ જ સમષ્ટિનો વિકાસ સાધવા જીવનભર સતત પ્રયત્ન કર્યો. જ્યાં અન્યાય જોયો ત્યાં ન્યાયની સ્થાપના માટે મથ્યા. જ્યાં અનિચ્છનીય માન્યતાઓ, રૂઢિઓ અને વહેમો નિહાળ્યાં ત્યાં સત્યનું પ્રકાશન કર્યું. નિરક્ષર સમાજને શિક્ષિત બનાવવા વિદ્યામંદિરો સ્થાપ્યાં, અજ્ઞાનને દૂર કરવા જ્ઞાન અને સુશિક્ષણ પ્રગતિનો કર્યો, સમાજની પરિસ્થિતિને પૂર્ણ રીતે સમજવા શહેરેશહેર અને ગામોગામ ભમ્યા. જીવનની અનેક ચડતીપડતી અનુભવી અને પરિણામે તેમની દૃષ્ટિ અતિ વિશાળ બની, તેમની દૃષ્ટિમાં દિવ્ય તેજ આવ્યું અને અજોડ જ્ઞાન હોવાથી અનેરું રહ્યું. તેમનાં આ તેજ અને સૌરભને આપણે ઝીલી શકીએ તો તેમને યોગ્ય તેમ જ સાચી અંજલિ આપી ગણાશે અને તેમની દૃષ્ટિને પામી શકીશું અને તો જ આપણે સાચી ભક્તિ વ્યક્ત કરી કહેવાશે.

આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીનું જીવન કવન રજૂ કરતાં જાણ્યેઅજાણ્યે આચાર્યશ્રીનું મહાન ભાવની રીતે રજૂ થઈ શક્યું હોય અથવા ક્યાંય ક્ષતિની અલ્પતા થઈ ગઈ હોય તો તે અમે મિચ્છામિ દુક્કડં !

અને અંતે—

ગુરુ—આત્મારામજી ગુરુની અંતિમ આજ્ઞાને મન સાથે આપનાર, ગુરુના પુનિત પગલે ચાલનાર આચાર્યશ્રીએ સ્વર્ગીય ગુરુની અંતિમ ભાવના પૂર્ણ કરી. ધન્ય છે આવા ધર્મ અને સમાજના સમોવડ ઉજ્જ્વળ વીરશાસનધારીને !

ૐ શાન્તિ શાન્તિ શાન્તિ !
શિવમસ્તુ સર્વજગતઃ ! !

સાધુસંસ્થાના કીર્તિકળશ

આચાર્યશ્રી ઉમંગસૂરિજી

સામાન્ય રીતે એમ માનવામા આવે છે કે આધુનિક યુગ એ એક પડતો કાળ છે, અને તે માટે 'કળિકાળ' જેવો ઘણાદર્શક શબ્દ વાપરવામા આવે છે હાલના કહેવાતા સુધરેલા લોકો પર એક મોટો આક્ષેપ મૂકવામા આવે છે કે તેઓ ધર્મહીન, શ્રદ્ધાહીન અને નાસ્તિક બનતા જાય છે જ્યારે બીજી બાજુ એક એવો વિશાળ વર્ગ છે જે માને છે કે તેઓએ અપૂર્વ પ્રગતિ સાધી છે, જગત પ્રતિ વૈજ્ઞાનિક રીતે જોવાની નૂતન દૃષ્ટિ કેળવી છે અને દુનિયાને નવા સત્યોનુ દિવ્ય દર્શન કરાવ્યુ છે આમાથી કોણુ સાચુ તે નક્કી કરવુ મુશ્કેલ છે, પણ એટલુ તો અવશ્ય ધ્યાનમા રાખવાની જરૂર છે કે બન્ને વર્ગોમા કોઈ સપૂર્ણ સાચુ કે સપૂર્ણ ખોટુ નથી બન્નેની દૃષ્ટિમા એક યા બીજા પ્રકારે અમુક સત્ય રહેલા છે અને તેથી બન્નેના સુભગ સમન્વયમા જ માનવનુ હિત સમાયુ છે

આ વાત જગતમા પ્રવર્તી રહેલા દરેક ધર્મ, દેશ અને સમાજને લાગુ પડે છે જૈનધર્મનો પણુ એ દૃષ્ટિએ વિચાર કરવો જોઈએ પડતા જતા આ કાળમા ધર્મને ટકાવી રાખનાર મહત્ત્વના ત્રણુ બળો છે જિનાગમ, જિનબિંબ અને સાધુસસ્થા હાલની વૈજ્ઞાનિક પ્રગતિ જોઈને અત્યત અજાઈ જવાની જરૂર નથી ધર્મના ઘણાખરા મહત્ત્વના સિદ્ધાન્તોનો વૈજ્ઞાનિક દૃષ્ટિએ જ વિચાર કરવામા આવ્યો છે એ ભૂલવા જેવુ નથી ઉપર્યુક્ત ત્રણુ બળોને ઉવેખ્યા વિના તેના પર ઊંડો વિચાર કરવાથી વણુ જ્ઞાન મળી શકે એમ છે, અને તેમા યે ખાસ કરીને સાધુસસ્થાને સમજવાનો પ્રયત્ન વધુ આવશ્યક છે

સાધુસસ્થા મોટે ભાગે સમાજને હમેશા ઉપકારક નીવડી છે તેણે સમાજનુ ધોરણ જાળવી રાખ્યુ છે, સમાજને સાચો પથ ચીંધ્યો છે અને આમસમાજ પર એક પ્રબળ અસર પાડી છે આપણી સાધુસસ્થા જેટલી વિરક્ત, ચારિત્રમય અને પુનિત હશે તેટલી તે વધુ સબળ અને અસરકારક નીવડશે એટલે આપણે કહી શકીએ કે સાધુસસ્થાની ઉન્નતિમા સમાજની ઉન્નતિ સમાયેલી છે

જૈન સાધુસસ્થાનો ક્રમિક વિકાસ નિહાળતા આપણું હૃદય પુલકિત બને છે જૈન સાધુસસ્થાએ આજ સુધી પોતાની જે પ્રતિષ્ઠા જાળવી રાખી છે તે જોતા કહેવુ જોઈએ કે તેની કીર્તિ કદી ઝાખી નહિ પડે, તેની દીપ્તિ નિતનિત બઢતી જ રહેશે

શ્રી મહાવીર ભગવાનથી માડી ૭૪મી પાટ પર બિરાજમાન થયેલ આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજી સુધીની ક્રમિક વિકાસ સાધતી સાધુ સસ્થા નોંધપાત્ર છે શ્રી મહાવીર ભગવાન પછી તેમના પટ્ટધર શ્રી સુધર્માસ્વામી ગણધર થયા, ત્યારપછી ૬૧મી પાટ ઉપર શ્રી વિજયસિંહસૂરિ મહારાજ થયા અને ૬૨મી પાટ ઉપર પ૦ શ્રી સત્યવિજયજી ગણિમહારાજ થયા તે પછીના ત્રણુ સાધુ આચાર્યોની નોંધ પણુ છે ૭૨મી પાટ ઉપર બિરાજેલ શ્રી બુદ્ધિવિજયજી (બુટેરાયજી), ૭૩મી પાટ પર આવેલ શ્રી વિજયાનદસૂરિજી (પૂ૦ આત્મારામજી) અને છેલ્લા ૭૪મી પાટને શોભાવનાર શ્રી વિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજી

આપણા સમકાલીન શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીએ આધુનિક જૈન સમાજ પર એક પ્રબળ અસર કરી છે એ નિ શક છે તેઓ સાચા અર્થમા સાધુ હતા પોતાની નિશ્ચિત સાધનાના અડગ ઉપાસક હતા તેમની પાસે પોતાની આગવી દૃષ્ટિ અને શક્તિ હતા તેમના દૃઢ ચારિત્ર્યમા

સમાજ મહાપુરુષોનાં જીવન અને પ્રસંગો લક્ષમાં રાખીએ તો આપણને જીવન જીવવાની પ્રેરણા મળે, અને આપણે આપણું જીવન ધન્ય બનાવી શકીએ. આમ કરીને જ આપણે આપણા ધ્યેયની દિશામાં આગળ વધી શકીએ. મહાપુરુષોનાં જીવન તો માત્ર પ્રેરણા આપે પણ આપણે એ જીવનમાં તે ઉતારવા પ્રયત્ન કરીએ અને સફળ થઈએ ઉત્તમ બનીએ તો આપણે પણ પુરુષોત્તમ બની શકીએ. આચાર્યશ્રીના જીવનમાંથી આપણને આ પ્રેરણા સહેજ મળે છે. આ રીતે એઓશ્રી ખરેખર એક આદર્શ ગુરુ હતા.

ઉપસંહાર

આચાર્યશ્રીના જીવન અને વ્યક્તિત્વ પ્રતિ આપણે એક ટૂંકો દૃષ્ટિપાત કર્યો. શરૂઆતમાં જ કહ્યું તેમ કોઈ મહાન વ્યક્તિને પૂર્ણ રીતે સમજવી મુશ્કેલ છે; તેના અંતરમાં વહી રહેલા ગહન પ્રવાહોને પામવા કઠિન છે. તેમ છતાં આપણે જેટલે અંશે અને જેટલી રીતે તેને સમજી શકીએ એટલું આપણું સદ્ભાગ્ય. મહાન પુરુષો પોતાની જાતને કદી અસાધારણ કે અસામાન્ય ગણાવતા નથી. તેઓ તો પોકારી પોકારીને કહેતા હોય છે કે તમે અમને સમજવા પ્રયત્ન કરો, અમારી વાતો આચરણમાં મૂકો અને તમે પણ અમારા જેવી પ્રગતિ સાધી શકશો.

Lives of great men all remind us
We can make our lives sublime!"

આચાર્યશ્રીનું વ્યક્તિત્વ વિવિધ પ્રકારનું હતું. પોતાની આગવી પ્રતિભા અને શક્તિ વડે તેમણે પોતાનો તેમ જ સમષ્ટિનો વિકાસ સાધવા જીવનભર સતત પ્રયત્ન કર્યો. જ્યાં જ્યાં જેવી ત્યાં ત્યાં નવી સ્થાપના માટે મથ્યા, જ્યાં અનિચ્છનીય માન્યતાઓ રૂઢિઓ અને વહેમો નિહાળ્યા ત્યાં સતત મથન કર્યું. નિરક્ષર સમાજને શિક્ષિત બનાવવા વિદ્યામંદિરો સ્થાપ્યાં, અજ્ઞાનને દૂર કરવા જ્ઞાન અને બુદ્ધિયુક્ત પ્રયત્નો કર્યા, સમાજની પરિસ્થિતિને પૂર્ણ રીતે સમજવા શહેરેશહેર અને ગામોગામ ફર્યા. જીવનની અનેક ચડતીપડતી અનુભવી અને પરિણામે તેમની દૃષ્ટિ અતિ વિશાળ બની. તેમની દૃષ્ટિમાં દિવ્ય તેજ આવ્યું અને અનેરું જ્ઞાન સોળેકળાથી મહેકી રહ્યું. તેમના આ તેજ અને પ્રકાશને આપણે ઝીલી શકીએ તો તેમને યોગ્ય તેમ જ સાચી અંજલિ આપી ગણાશે અને તેમની દૃષ્ટિને પામી શકીશું અને તો જ આપણે સાચી ભક્તિ અદા કરી ગણાશે.

આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીનું જીવન અહીં રજૂ કરતાં અધૂરું આલેખતાં આચાર્યશ્રીનું માન ન્યાયી રીતે રજૂ થઈ શક્યું ન હોય અથવા ક્યાંય ઉત્સૂત્રની પ્રરૂપણા થઈ ગઈ હોય તો તે અંગે મિચ્છામિ દુક્કડં!

અને અંતે—

ગુરુ—આત્મારામજી ગુરુની અંતિમ આજ્ઞાને મૂર્ત સ્વરૂપ આપનાર ગુરુના ગુણિત માર્ગે ચાલનાર આચાર્યશ્રીએ સ્વર્ગીય ગુરુની અંતિમ આજ્ઞા પૂર્ણ કરી. ધન્ય છે આવા ધર્મ અને સમાજની જ્યોત! ધન્ય આવા વીરશાસનને!

ૐ શાંતિ શાંતિ શાંતિ!
શિવમસ્તુ સર્વજગતઃ!!

યુગદ્રષ્ટા આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીના હસ્તાક્ષર

દાનવીર સેઠ દેવકરણ મૂલજી
જોગ ધર્મલાભ જી સાથે માલમ
થાય જે ગઈ કાલે અમારી સાથે
તમારી જે વાત થઈ હતી તે
મુજબ અને અમુક વિશ્વાસુ
આદમીની સાથે થયેલી વાત
ચિત મુજબ અમારો વિચાર
નીચે મુજબ જણાય છે
હોસ્પીટલની વાત ઘણી મોટી
અને અશક્ય જેવી અમને
લાગે છે તો એના બદલામા
હોસ્પીટલની જલદી જરૂરત
ન પડે એવી રીતે આપના
સાધર્મિ ભાઈઓની તંદુરસ્તી

૨

ને માટે ખાસ સગવડ
મોટા પાયા ઉપર થાય તો
વધારે સારૂ બનવા જોગ છે
અને આ કામ જૈન સમાજ
મા આજ સુધી થયું નથી
આપનું નામ પ્રથમ નંબરે
આવશે અને હમેશાં ને
માટે કાયમ રહેશે માટે
ઘણાં નાનાં નાનાં કામો
કરવા કરતાં એક જ મોટું
અને સંગીન કામ થાય તો

3

કોઈ પણ કર્યું કહેવાય
આ બાબત પ્રથમ પણ કોઈ
વખતે પત્રો માં તમને
જણાવેલ યાદ હશે –
એ ઉપરાંત શ્રી મહાવીર જૈન
વિદ્યાલયમા આપનું અમર
નામ અમદાવાદ વાળા
વાડીલાલ સારા ભાઈની
માફક થવાની જરૂરત છે
એ આપ પોતે જાણો છો
કારણ કે પ્રથમ થી આપે જ

૪

શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયનું
કામ માથે લીધેલું છે -
આ બે કામ ખરાં આપની
જીંદગીમાં લાહો લેવાના
સમજવામાં આવે છે તો
આશા છે આપ જરૂર ઉદાર
તા દાખવી વિચારી એક
મક્કમ પણું જણાવશો – મોતી
ચંદભાઈ આવશે ત્યારે
બની શકશે તો હું પણ આવી
શ હાલ એજ દ. વલ્લભવિ.
ધર્મલાભ
તા ૭-૬-૨૮

આ પત્રની મૂળ નકલ શેઠશ્રી દેવકરણ મૂળજી ટ્રસ્ટના એડમિનિસ્ટ્રેટર શ્રી ગોકળદાસ મૂળજી [illegible]

અપૂર્વ અલૌકિકતા અને દિવ્ય તેજસ્વિતા હતા. આ બધાના પરિણામે તેઓ સરસ્વતીદેવીના સાચા ભક્ત બન્યા, અને એ દેવીને ભક્ત કરવા તેમની વાણીએ નૂતન કવિતાના પારણાં કરી. તેમના કાવ્યોરૂપે અમીની ધાર વહેવા માંડી. તેમના વ્યાખ્યાનોએ જ્ઞાનની જ્યોત ઉજાળવા માંડી. આ નવીન શૈલીએ તેમના શ્રાવકો પર ઘેરી અસર નિપજાવી. જે વિષયનું તેઓ પ્રતિપાદન કરતા તેનું પૂરેપૂરું ધ્યાન આપતી વખતે સામી વ્યક્તિના પ્રશ્નોનો એવો સચોટ જવાબ આપતા કે તે વ્યક્તિ હમેશાં પોતાને અનુકૂળ બની જતી. વાદવિવાદ વખતે તેઓ કદી પોતાના મનની સ્વસ્થતા કે શાંતિ ન ગુમાવતા. શાસ્ત્રાર્થ કરતી વખતે ધૈર્ય અને ગાંભીર્ય એ એમના મુખ્યતમ ગુણો હતા અને આથી જ જૈનશાસનને પ્રતિષ્ઠિત કરવામાં તેમણે અપૂર્વ સાફલ્ય પ્રાપ્ત કર્યું.

તેઓએ સમાજહિતના એવાં પ્રશંસનીય કાર્યો કર્યાં કે જેથી તેઓ ભિન્ન ભિન્ન બિરુદોને પાત્ર બન્યા. પંજાબ શ્રીસંઘની વ્યક્તિએ તેમને 'પંજાબ-કેસરી' બનાવ્યા. અજ્ઞાનરૂપી અંધકારને જ્ઞાનજ્યોતિ દ્વારા નષ્ટ કરવામાં સૂર્ય સમાન હોવાથી 'અજ્ઞાનતિમિરતરણિ' અને આ કલિકાળમાં ભક્ત જનોના પ્રેરક અને માર્ગદર્શક હોવાથી 'કલિકાલ-કલ્પતરુ' બન્યા. આધુનિક યુગના વીર સમાન હોવાથી 'યુગવીર' તરીકે સન્માન્યા.

સામાજિક પ્રવૃત્તિઓની સાથે સાથે તેઓએ ધાર્મિક પ્રવૃત્તિઓને પણ ઉચિત રીતે ગતિમાન બનાવી. પંજાબ, ગુજરાત, મારવાડ આદિ પ્રદેશોમાં જિનમંદિરોનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવ્યો. કેટલાક શહેરોમાં અંજનશલાકાઓના મહોત્સવો ઉજવાયા, અનેક સ્થળોએ ગુરુમૂર્તિઓના ગુરુમંદિર તથા સમાધિમંદિર ઊભા કરી પાઠશાળાઓની સ્થાપના કરી, ધાર્મિક અને અન્ય પ્રકારની કેળવણી અર્થે અનેક સંસ્થાઓ ઊભી કરી. કન્યાશાળાઓ, ઔષધશાળાઓ, ગુરુકુળો, જ્ઞાનમંદિરો, વાચનાલયો વગેરેના વિકાસ અર્થે તેઓએ સમગ્ર જીવનને ખર્ચી નાખ્યું. સાધર્મિક ફંડ અને કેળવણી ફંડ એકત્રિત કરવા માટે તેઓએ અપાર જહેમત ઉઠાવી.

આ બધી પ્રવૃત્તિઓ ઉપરાંત તેમણે ધાર્મિક સાહિત્યની પણ કીમતી સેવા કરી છે. તેમનામાં આંતરિક કવિશક્તિ હતી. પંચતીર્થની પૂજા, પંચપરમેષ્ઠીપૂજા, 'આત્મવલ્લભ' વગેરે ૧૯ પુસ્તકોની રચના તેમની કવિ પ્રતિભાનો નિર્દેશ કરે છે. 'ભીમજ્ઞાન દ્વાત્રિંશિકા' 'જૈન ભાનુ' 'જૈન દીપિકા' જેવા ગ્રંથો એમના વિશાળ જ્ઞાનની ઝાંખી કરાવે છે. તેમનાં સ્તવનો, સજ્ઝાયો, સ્તુતિઓ તેમના ભક્તિભાવનું દર્શન કરાવે છે. આ બધા સાહિત્યનો ઊંડો અભ્યાસ કરીએ તો જ એમની અપૂર્વ શક્તિનો ખ્યાલ આવી શકે.

પોતાના જીવનકાળને પર્યન્તમાં તેઓ ગામેગામ, શહેરેશહેર ફર્યા અને તીર્થોની આવશ્યક યાત્રા કરી. જ્યાં જ્યાં ગયા ત્યાં ત્યાં તેમની વાણીરૂપી સૌરભ મહેકી ઊઠી, તેમના જ્ઞાનરૂપી પ્રકાશથી સર્વ સ્થળ પ્રકાશી ઊઠ્યાં. તીર્થાધિરાજ શત્રુંજય, ગિરનાર, આબુ આદિ સ્થળોની યાત્રા અર્થે સંઘો કાઢ્યા. જ્યાં જ્યાં તેમનું આગમન થયું ત્યાં ત્યાં અપૂર્વ સ્વાગત થયું. તેમણે ધર્મ, અહિંસા, દાન અને દયા જેવા અનેક વિષયો પર જ્ઞાનયુક્ત પ્રવચનો કર્યાં, જેની સમાજ પર ઘેરી ઊંડી અસર પડી. અનેક સ્થળોએ વિક્ષેપકારક બનેલા કલહ, વહેમો અને રૂઢિઓ સામે તેમણે જેહાદ ઉપાડી સમાજનું નવનિર્માણ કરવા ખાસ પ્રેરણા કરી. આમ તેમણે સાધુધર્મને દિપાવવા ઉપરાંત સમાજની પણ અભ્યુદયકારી પ્રગતિ સાધી. તેઓ માનતા હતા કે યુવકો આગળ આવે તો સમાજનું જ કલ્યાણ છે. સમાજની પ્રગતિ થાય તો તેમાંથી જ સાધુઓ પાકશે. આમ સમગ્ર સાધુસંસ્થાને સમાજના નવનિર્માણના કાર્યમાં સીધી તેમણે વ્હાલ દૃષ્ટિ નાખી છે. માટે જ તેમને સાધુસમાજના ક્રાંતિકાર કહીએ તો જરાય અતિશયોક્તિ નથી.

યુગદૃષ્ટા આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીના હસ્તાક્ષર

દાનવીરસેઠ દેવકરણ મૂલજી
જોગ ધર્મલાભની સાથે માલમ
થાયજે ગઈ કાલે અમારી સાથે
તમારી જે વાત થઈ હતી તે
મુજબ અને અમુક વિશ્વાસુ
આદમીની સાથે થયેલી વાત
ચિત મુજબ અમારો વિચાર
નીચે મુજબ જણાય છે
હોસ્પીટલની વાત ઘણી મોટી
અને અશક્ય જેવી અમને
લાગે છે તો એના બદલામાં
હોસ્પીટલની જલદી જરૂરત
ન પડે એવી રીતે આપણા
સાધર્મિ ભાઈઓની તંદુરસ્તી

૨

ને માટે ખાસ સગવડ
મોટા પાયા ઉપર થાય તો
વધારે સારૂ બનવા જોગ છે
અને આ કામ જૈન સમાજ
મા આજ સુધી થયું નથી
આપનુ નામ પ્રથમ નંબરે
આવશે અને હમેશાંને
માટે કાયમ રહેશે માટે
ઘણાં નાના નાનાં કામો
કરવા કરતા એકજ મોટું
અને સંગીન કામ થાય તો

3

કોઈપણ કર્યું કહેવાય
આ બાબત પ્રથમ પણ કંઈ
વખત પત્રોમાં તમને
જણાવેલ યાદ હશે –
એ ઉપરાંત શ્રી મહાવીર જૈન
વિદ્યાલયમા આપનુ અમર
નામ અમદાવાદ વાળા
વાડીલાલ સારાભાઈની
મા ફક થવાની જરૂરતછે
એ આપ પોતે જાણો છો
કારણકે પ્રથમથી આપેલ

૪

શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલયનું
કામ માથે લીધેલું છે –
આ બે કામ ખરાં આપની
જીંદગીમાં લાહો લેવાનાં
સમજવામાં આવે છે તો
આશા છે આપ જરૂર ઉદાર
તા દાખવી વિચારી એક
મક્કમપણું જણાવશો – મોતી
ચંદભાઈ આવશે ત્યાર
બની શકશે તો હું પણ આવી
શ હાલ એજ
દ. વલ્લભવિ.
ધર્મલાભ
તા. ૭-૬-૨૮

આ પત્રની મૂળ નકલ શેઠશ્રી દેવકરણ મૂળજી ટ્રસ્ટના એક્ઝીક્યુટર શ્રી ગોકળદાસ મૂળજી સતની પાસે છે

वल्लभवाणी *

અનેકાંતવાદ

હિંદુસ્તાનમાં ત્રણ મુખ્ય દર્શનો—બૌદ્ધ, જૈન અને વેદ. પ્રમાણશાસ્ત્રની દૃષ્ટિએ વિચારતાં તેમના વિભાગ પાડી શકો. જ્યાં તે વિચારણા છે ત્યાંથી આ પ્રશ્નોમાં પ્રથમ કયું એ પ્રશ્નનો ઉત્તર મુશ્કેલ છે.

સર્વ પદાર્થો એકાંતે નિત્ય નથી, તેમ જ એકાંતે અનિત્ય પણ નથી. વેદ સર્વ વસ્તુને એકાંતે નિત્ય માને છે. બૌદ્ધદર્શન દરેક ચીજને એકાંતે અનિત્ય કહે છે. આમ વેદ નિત્યને માને અને બૌદ્ધ અનિત્યને—ક્ષણિકને—માને. ટૂંકી ભાષામાં કહેવું હોય તો એમ કહેવાય કે વસ્તુ જે પ્રમાણે છે તે જ પ્રમાણે રહે છે એવું વેદનું માનવું છે—વસ્તુ જે હાલતમાં, જે સ્વરૂપમાં છે તે જ હાલતમાં અને તે જ સ્વરૂપે સદૈવ રહી રહે છે એવી વેદની માન્યતા છે. જે વસ્તુ એકરૂપ રહે તે નિત્ય. બૌદ્ધદર્શન બરાબર આનાથી બીજું જ કહે છે. વસ્તુ ક્ષણિક છે, ક્ષણે ક્ષણે એનું સ્વરૂપ બદલાય છે. એકરૂપ વસ્તુ રહી શકે જ નહિ. અને આથી વસ્તુને અનિત્ય કહે છે. એક જ વસ્તુને વેદ એકાંતે નિત્ય માને અને બૌદ્ધ ક્ષણિક અનિત્ય માને.

જૈનદર્શન આ બન્નેની વચ્ચે વાત કરનાર દર્શન છે. જૈનદર્શનનો સિદ્ધાંત અભાવ-અનાગ્રહ છે. એકાંતને એ પોતાના મનોપ્રદેશમાં કદી પ્રવેશવા દેતો નથી. ઊલટું તે સતત જ નિરસન કરે છે. ટૂંકું વિધાન એકરૂપ સ્યાદ્વાદ એમ કહેવું હોય તો કહી શકાય એમ. જૈનદર્શન માને છે કે વસ્તુ એકરૂપે ન રહે. સમયે સમયે તેની અવસ્થા બદલાય. નહીંતર તો આવ્યું ક્યાંથી? હતું તે ગયું ક્યાં? આમ જૈનોનો મત સ્યાદ્વાદ, અનેકાંતવાદ છે—એકાંતવાદ નહિ. જૈનો વસ્તુને સદા નિત્ય કે એકાંતે અનિત્ય માનતા નથી.

સ્યાદ્વાદને અપેક્ષાવાદ પણ કહે છે. એક અપેક્ષાએ વસ્તુ સત્ય ઠરે, તો અન્ય અપેક્ષાએ વસ્તુ અસત્ય પણ ઠરે. જે એકનો ગુરુ છે તે બીજાનો ચેલો છે. જે એકનો પિતા છે તે બીજાનો પુત્ર છે. આમ વસ્તુની સમાનસમાનતા સમજવા વસ્તુના અંતરંગ અને બહિરંગ ધર્મો સમજવાની અપેક્ષા રહે છે.

બૌદ્ધદર્શનનો વિચાર કરીએ. આ દર્શનની માન્યતા પ્રમાણે વસ્તુનો સમયે સમયે નાશ થાય—અર્થાત્ કોઈ પણ વસ્તુ બીજા જ સમયે સ્વરૂપ બદલે. પહેલા સમયે હતી તે બીજા સમયે નથી રહેતી. આ માન્યતામાં રહેલી અપૂર્ણતાનો તરત ખ્યાલ આવી જાય છે. આ માન્યતા પ્રમાણે ઉધાર આપનાર અને ઉધાર લેનાર બન્ને બીજા સમયે નાશ પામે. ઉધાર આપનારનું સ્વરૂપ બદલાઈ ગયું, ઉધાર લેનારનું સ્વરૂપ બદલાઈ ગયું, તો પછી રકમની લેવડદેવડ કરવી કોણે? આ દર્શનની અપેક્ષાએ તો બન્ને મરી ગયા.

પરંતુ અપેક્ષાએ વેદ અને બૌદ્ધદર્શન—બન્ને સાચાં. એક અપેક્ષાથી નિત્યતા માનવી વાજબી અને બીજી જ અપેક્ષાથી અનિત્યતા પણ ખરી. દાખલા તરીકે સમયે સમયે વસ્તુનું બદલાવું તે તેની અવસ્થા—દશા; કે દાખલ અવસ્થા પર્યાય. પરંતુ વસ્તુ કાયમ રહે તે દ્રવ્ય. મૂળ વસ્તુમાં કોઈ ફેરફાર થતો નથી, અને તેથી તે નિત્ય છે. તેના સ્વરૂપમાં, અવસ્થામાં, હાલતમાં, દશામાં કે પર્યાયમાં સમયે સમયે ફેરફાર થાય છે તેથી તે અનિત્ય. આમ દ્રવ્યથી દરેક પદાર્થ નિત્ય અને પર્યાયથી દરેક પદાર્થ અનિત્ય છે.

---

* આચાર્ય શ્રીવિજયવલ્લભસૂરિજીએ જુદા જુદા સમયે કરેલ વ્યાખ્યાનોમાંથી સંકલન

આજે એક બાળક જન્મ્યો તે દસ વર્ષનો થયો યુવાન થયો અને પરણ્યો અને વૃદ્ધ થયો અને મરી ગયો જે બચ્ચું જન્મ્યું તે જ બાળક થયો તે જ યુવાન વયે પરણ્યો અને તે જ વૃદ્ધ થઈ મૃત્યુ પામ્યો પરંતુ બીજો કોઈ નહિ એક હાલતમાંથી બીજી હાલતમાં, બીજીમાંથી ત્રીજી હાલતમાં અને પણ વ્યક્તિ તો તેની તે જ છે બાળક જન્મ્યો તેનો તે જ તે જ મૂળ દ્રવ્ય તેની અવસ્થાઓ તે પર્યાય જો બાળકનો નાશ માનીએ તો મોટું કોણ થયું? આમ દ્રવ્યથી દરેક પદાર્થ નિત્ય અને પર્યાયથી દરેક પદાર્થ અનિત્ય છે

વસ્તુ મૂળે એક માત્ર અવસ્થા બદલાય ઉત્પન્ન થવું, નાશ પામવું અને કાયમ રહેવું એ ત્રણ ધારા છે ભગવાન ગણધરને જ્યારે પ્રથમ શિક્ષા આપે છે ત્યારે આ ત્રણ પદ સમજાવે છે 'પહેલું પદ ઉત્પન્ન થાય છે બીજું પદ નાશ પામે છે ત્રીજું પદ કાયમ રહે છે' ગમભને નિગડ અને વધ્યાને પુત્ર ઉત્પન્ન થતા નથી તેમ જ નાશ પણ પામતા નથી એવી જ રીતે, કાયમ પણ રહેતા નથી વસ્તુની નવી નવી હાલત ક્ષણે ક્ષણે પ્રગટ થવી અને દર ક્ષણે પૂર્વક્ષણની સ્થિતિ પ્રણષ્ટ થવી, તેમ છતાં મૂળમાં વસ્તુ એની એ જ રહેવી એનું નામ જ અનેકાંતવાદ એ રીતે દરેક વસ્તુનું યથાર્થ દર્શન કરવું તે અનેકાંતદષ્ટિ જ્યાં હકારને સ્થાન નથી એનું નામ જ સ્યાદ્વાદ આમ સ્યાદ્વાદને પ્રરૂપતું જૈનદર્શન મહદંશે પૂર્ણ છે

કામ, કામ અને કામ

આપણા સમાજમાં કામ કરવાની આળસ એ એક મોટામાં મોટી ખામી છે કામ બધાએ કરવાનું છે 'બીજા કામ કરે છે' એમ વિચારી આળસુ ન બનો, બધા કામ કરવા કટિબદ્ધ બનો ફુરસદ નથી એમ ન કહો નવરાશ તો મર્યા પહેલાં આવવાની નથી જીવન સુધી કામ કરો અને એકબીજાને મદદ કરવા તૈયાર બનો સાધુઓ અને શ્રાવકોના વિચારમાં સામ્ય લાવો અભિમાન છોડો અને કામ કરવા ઐક્યની સાધના કરો પછી જુઓ કે એવું કયું કામ છે જે તમારા સૌના સહકારથી પણ અશક્ય હોય! તમારા વિચાર આચારમાં ફેરવાશે ત્યારે સમાજ પ્રોન્નત થશે જૈન સમાજના હે આબાલવૃદ્ધો! કાર્ય અપનાવવાનો સમય આવી લાગ્યો છે ઊઠો, જાગો અને કાર્ય કરો

પ્રભુ મહાવીરના ઝંડા નીચે એકત્ર થાઓ

ભલે તમારી ક્રિયાઓ જુદી હોય, ભલે તમે જુદા જુદા ગામના હો, ભલે તમારા આચાર્યો જુદા જુદા હોય, પણ તમારા દરેકમાં એક વસ્તુનું સામ્ય છે તમે બધા જ પ્રભુ મહાવીરને તમારા પ્રભુ માનો છો તો પછી પ્રભુ મહાવીરના ઝંડા નીચે બધા એક થઈ જૈન સમાજનું વધુ કલ્યાણ થાય તથા પ્રભુના સિદ્ધાંતોનો પ્રચાર થાય અને જૈન સમાજની એકતા થાય તે માટે બધાં એકત્રિત થઈ સંગઠિત પ્રચાર શરૂ કરો સંગઠનથી ચમત્કારિક લાભ થશે

આત્માને પવિત્ર બનાવો

જ્યાં સુધી આ આત્મા કર્મબદ્ધ છે ત્યાં સુધી તેની કિંમત છોતરાવાળા ચોખાના જેવી છે જેમ ઉપરનું છોતરું કાઢી નાખતાં છોતરાની કિંમત કંઈ નહિ અને ચોખાની કિંમત વધી જાય છે તેમ કર્મોનો નાશ થતાં આત્માની કિંમત વધી જાય છે, આત્મા ઊંચે ચઢતો જાય છે એ માટે કષાયોનો ત્યાગ કરી, રાગદ્વેષ ઘટાડી, તપ કરી આત્માને તેનું મૂળ સ્વરૂપ પ્રાપ્ત કરાવો આત્માને પવિત્ર બનાવો

દરરોજ એક પૈસો આપો

આ શું? એક પૈસો આપવાનો? એક પૈસાથી શું થશે એમ તમને વિચાર થશે, સજ્જનો! તમારા જેવા એક લાખ માણસો જો દરરોજ એક પૈસો આપે તો એક વર્ષમાં સાડાત્રણ લાખ રૂપિયા ભેગા થઈ જાય. ટીપે ટીપે સરોવર ભરાય તેમ પૈસે પૈસે રૂપિયાનું સરોવર ભરાઈ જાય. જરૂર એટલી છે આપણને ભાર ન પડે તેમ તે આપવો. કરકસર કરી દરરોજ એક પૈસો આપવો જ. તો માનું છું કે તમે દરેક દરરોજ એક પૈસો જરૂર આપી શકો. પૈસો આપવો. આપેલા પૈસા એકત્રિત કરી તે રૂપિયા તમામ ધર્મી ભાઈઓને પગભર કરવાના કામમાં લગાડો.

સારો સ્વભાવ રાખો

જ્યારે કોઈ સંન્યાસી તળાવમાં ડૂબતા વીંછીને બહાર કાઢીને બચાવે છે, ત્યારે જ વીંછી સંન્યાસીને ડંખ મારે છે. ડંખ મારવાની સાથે સંન્યાસીના હાથમાંથી છૂટીને વીંછી ફરીથી પાણીમાં પડી જાય છે. તેને ડૂબતો જોઈ સંન્યાસી ફરીથી તેને બચાવે છે. સ્વભાવ મુજબ વીંછી ફરીથી ડંખ મારે છે, ફરી પાણીમાં પડે છે. સંન્યાસી ફરીથી તેને બચાવે છે. આ દૃશ્ય જોઈ રહેલો કોઈ મુસાફર સંન્યાસીને પૂછે છે: "આપ તેને શા માટે ફરી ફરી બચાવો છો?" સંન્યાસી પ્રત્યુત્તર આપે છે: "ભાઈ, વીંછી જો તેનો ડંખ મારવાનો સ્વભાવ છોડતો નથી, તો પ્રાણીમાત્રને દુઃખમાંથી બચાવવાનો મારો ધર્મ હું કેમ છોડું? ભલે કોઈ ખરાબ સ્વભાવવાળો ખરાબ કરતો જાય, પણ તમે સજ્જન હો તો તમારા સારા સ્વભાવને ન છોડવો જોઈએ."

સંગઠન સાધો

એક તો એક દોરો [illegible] બળતા તરત તૂટી જાય છે. સૂતરના ઘણા તાંતણા ભેગા કરી બનાવેલ દોરડું [illegible] હાથીને પણ બાંધી શકે છે. તમે છૂટા છૂટા રહેશો તો તમારો અવાજ કોઈ નહિ સાંભળે. બધા ભેગા એક સાથે એક અવાજે બોલશો તો તમારો અવાજ આખી દુનિયાને સાંભળવો પડશે. તમારા [illegible] અનેક ભાઈઓનો નાશ થશે. એનાથી તમારા દરેક કામ સિદ્ધ થશે. બધા [illegible] એકમત થઈ વિચાર કરી એકત્રિત થઈ બધા કાર્ય કરો. [illegible] સંગઠન આત્માના વિકાસનું સાધન છે. આત્માનો વિકાસ થવાથી માનવ ભવ સાર્થક બની શકશે.

બ્રહ્મચર્યનો મહિમા

બ્રહ્મચારીને [illegible] બ્રહ્મચારીના તેજથી બધા અંજાઈ જાય. ઉત્તમ વિચારો [illegible] ઉત્તમ પુરુષોનું મન, વચન અને કાયા ઉત્તમ [illegible] શરીર, મન, બુદ્ધિ અને આત્માને પરમ શાંતિ મળે છે. બ્રહ્મચર્યનો મહિમા અપરંપાર છે. [illegible] પણ [illegible] જેમ [illegible] તેમાં કેટલા એવા બ્રહ્મચર્યનું મન, વચન અને કાયાથી પાલન કરનાર બનો [illegible]

સદ્બુદ્ધિ રાખો

બુદ્ધિ [illegible] ધર્મની આજ્ઞાઓનું [illegible] નમતા [illegible] સદ્બુદ્ધિ. આવી સદ્બુદ્ધિ રાખી તમારા જીવનને સાર્થક કરો. જૈનશાસનની પ્રભાવના કરવા માટે ઉદ્યમ કરો.

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

लेख-संग्रह : गुजराती विभाग



संपादक मंडळ

डॉ. भोगीलाल ज. सांडेसरा, एम. ए., पीएच. डी.

डॉ. उमाकान्त प्रे. शाह, एम. ए., पीएच. डी.

श्री नागकुमार ना. मकाती, बी. ए., एलएल. बी.

દરરોજ એક પૈસો આપો

આ શું? એક પૈસો જ આપવાનો? એક પૈસાથી શું થશે એમ તમને વિચાર થશે. સજ્જનો! તમારા જેવા એક લાખ વ્યક્તિઓ જો દરરોજ એક પૈસો આપે તો એક વર્ષમાં સાડાત્રણ લાખ રૂપિયા ભેગા થઈ જાય. ટીપે ટીપે સરોવર ભરાય તેમ પૈસે પૈસે રૂપિયાનું સરોવર ભરાઈ જાય. વળી મદદ છે આપનારને ભાર ન પડે તેમ તે જતી રહે છે. કરકસર કરી દરરોજ એક પૈસો બચાવો. હું તો માનું છું કે તમે દરેક દરરોજ એક પૈસો જરૂર બચાવી શકો. પૈસો બચાવો. બધાના પૈસા એકત્રિત કરી તે રૂપિયા તમામ સધર્મી વ્યક્તિઓને પગભર કરવાના કામમાં લગાડો.

સારો સ્વભાવ રાખો

કિનારે બેઠેલો સંન્યાસી તળાવમાં તણાતા વીંછીને બહાર કાઢીને બચાવે છે. તરત જ વીંછી સંન્યાસીને ડંખ મારે છે. ડંખ મારતાની સાથે સંન્યાસીના હાથમાંથી છૂટીને વીંછી ફરીથી પાણીમાં પડી જાય છે. તેને તણાતો દેખી સંન્યાસી ફરીથી તેને બચાવે છે. સ્વભાવ મુજબ વીંછી ફરીથી ડંખ મારે છે. ફરી પાણીમાં પડે છે. સંન્યાસી ફરીથી તેને બચાવે છે. આ દૃશ્ય જોઈ રહેલો કોઈ મુસાફર સંન્યાસીને પૂછે છે: આપ તેને શા માટે ફરી ફરી બચાવો છો? સંન્યાસી પ્રત્યુત્તર આપે છે: ભાઈ, વીંછી જો તેનો ડંખ મારવાનો સ્વભાવ છોડતો નથી, તો પ્રાણીમાત્રને દુઃખમાંથી બચાવવાનો હું મારો ધર્મ કેમ છોડું? ભલે કોઈ ખરાબ સ્વભાવવાળો ખરાબ કરતો હોય, પણ તમે સજ્જન હો તો તમારા સારા સ્વભાવને ન છોડવો જોઈએ.

સંગઠન સાધો

સૂતરનો એક તાર જરાક ખેંચતા તરત તૂટી જાય છે. સૂતરના ઘણા તાંતણા ભેગા કરી બનાવેલ દોરડું હાથી જેવા મજબૂત પ્રાણીને પણ બાંધી શકે છે. તમે જુદા જુદા બોલશો તો તમારો અવાજ કોઈ નહિ સાંભળે. બધા ભેગા થઈ એક સાથે એક અવાજે બોલશો તો તમારો અવાજ આખી દુનિયાને સાંભળવો પડશે. તમારા સંગઠિત અવાજથી અનેક આપદાઓનો નાશ થશે. એનાથી તમારાં દરેક કામ સિદ્ધ થશે. બધા જ પ્રેમથી યત્ન કરો. એકબીજાના વિચાર સમજો. એકત્રિત થઈ બધાં કાર્યો કરવા તૈયાર બનો. સંગઠનથી જ શક્તિ છે. સંગઠન આત્મોન્નતિના ઉદ્ધારનું સાધન છે. આત્માનો ઉદ્ધાર થવાથી મોક્ષના માર્ગે આગળ વધી શકશો.

બ્રહ્મચર્યનો મહિમા

બ્રહ્મચારીને જગત વંદન કરે. બ્રહ્મચારીના તેજથી બધા અંજાઈ જાય. ઉત્તમ વિચારો, ધર્મધ્યાન, ઉત્તમ પુસ્તકોનું મનન, સંયમ અને મનન ઉપર ધ્યાન રાખવાથી વિષયવાસના શાંત થાય છે. શરીર, મન, બુદ્ધિ અને આત્માને પરમ શાંતિ મળે છે. બ્રહ્મચર્યનો મહિમા અપરંપાર છે. ગૃહસ્થે પણ સ્વદારાસંતોષી બની રહે તેટલું વ્રત તો જરૂર પાળવું જોઈએ. તેમાં એક એવા બ્રહ્મચર્યનું મન વચન અને કાયાથી પાલન કરનાર સાચો જૈન છે.

સદ્બુદ્ધિ રાખો

જે બુદ્ધિ દ્વારા આત્મિક તત્ત્વ ચિંતન, ધર્મ અને એકતા થાય, ધર્મની શાખાઓનું તત્ત્વ સમજ સમજાય, સત્યની ઓળખ થાય, નમ્રતા વધે, સત્યમાં રુચિ થાય, સેવાભાવી બનાય, આત્મશાંતિ આવે, ધર્મપ્રેમી બનાય, તે સદ્બુદ્ધિ. આવી સદ્બુદ્ધિ રાખી તમારા જીવનને સફળ કરો. સદ્બુદ્ધિદ્વારા સમાજના ભલા માટે ઉદ્યમ કરો.

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

लेख-संग्रह : गुजराती विभाग

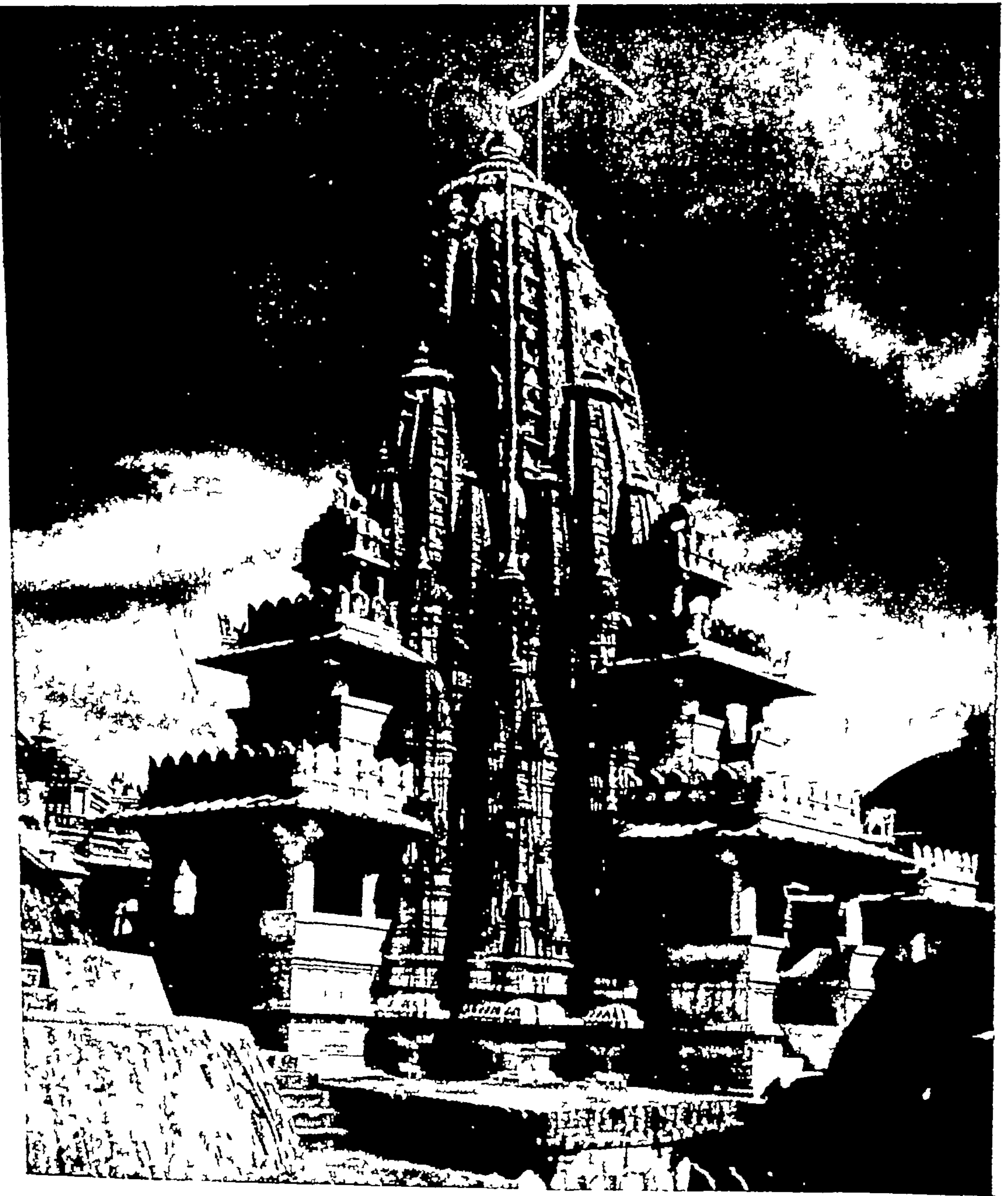


संपादक मंडळ

डॉ. भोगीलाल ज. सांडेसरा, एम् ए, पीएच् डी

डॉ. उमाकान्त प्रे. शाह, एम् ए, पीएच् डी

श्री नागकुमार ना. मकाती, बी ए, एल्एल् बी



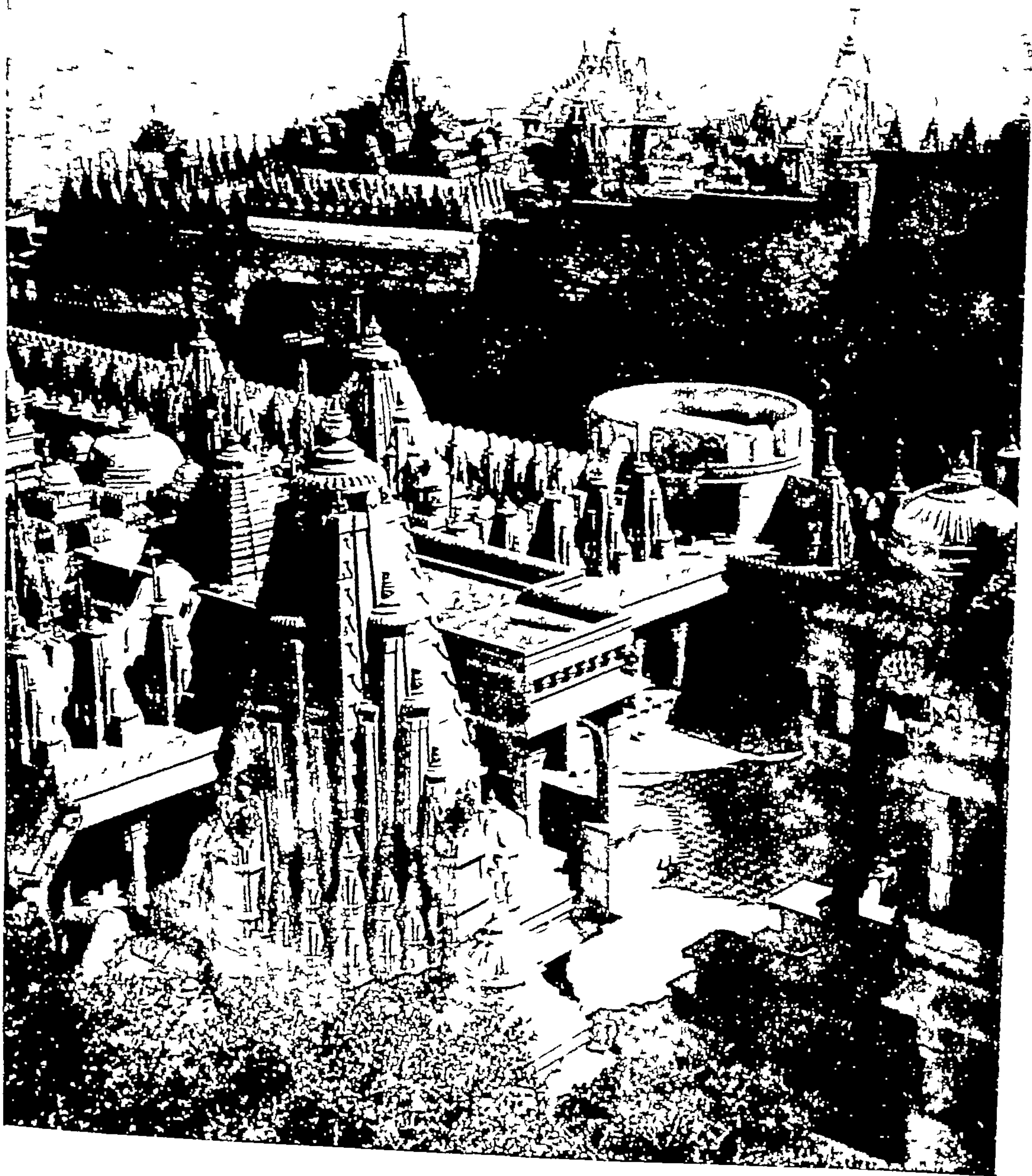
धरणाशाहे बंधावेल चतुर्मुख जिनप्रासादनु गगनचुंबी शिखर, राणकपुर, १५मी सदी
Śikhara of the famous temple at Rāṇakpur, 15th Century

तसवीर श्री० आर० भारद्वाज]



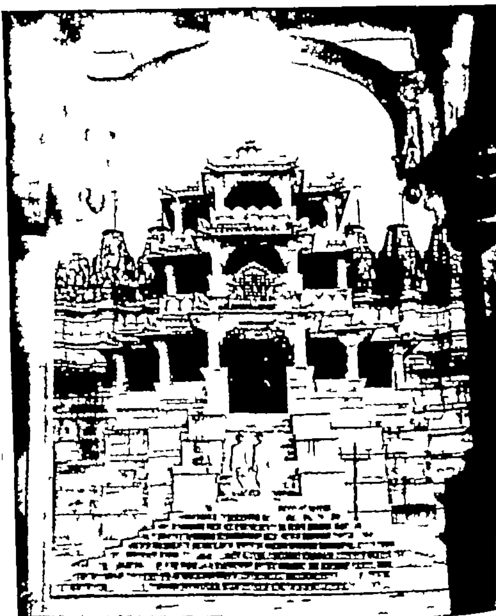
[illegible]

Entrance to the temple at Ranakpur built by Dharanasha and Ratanasha in the 15th Century

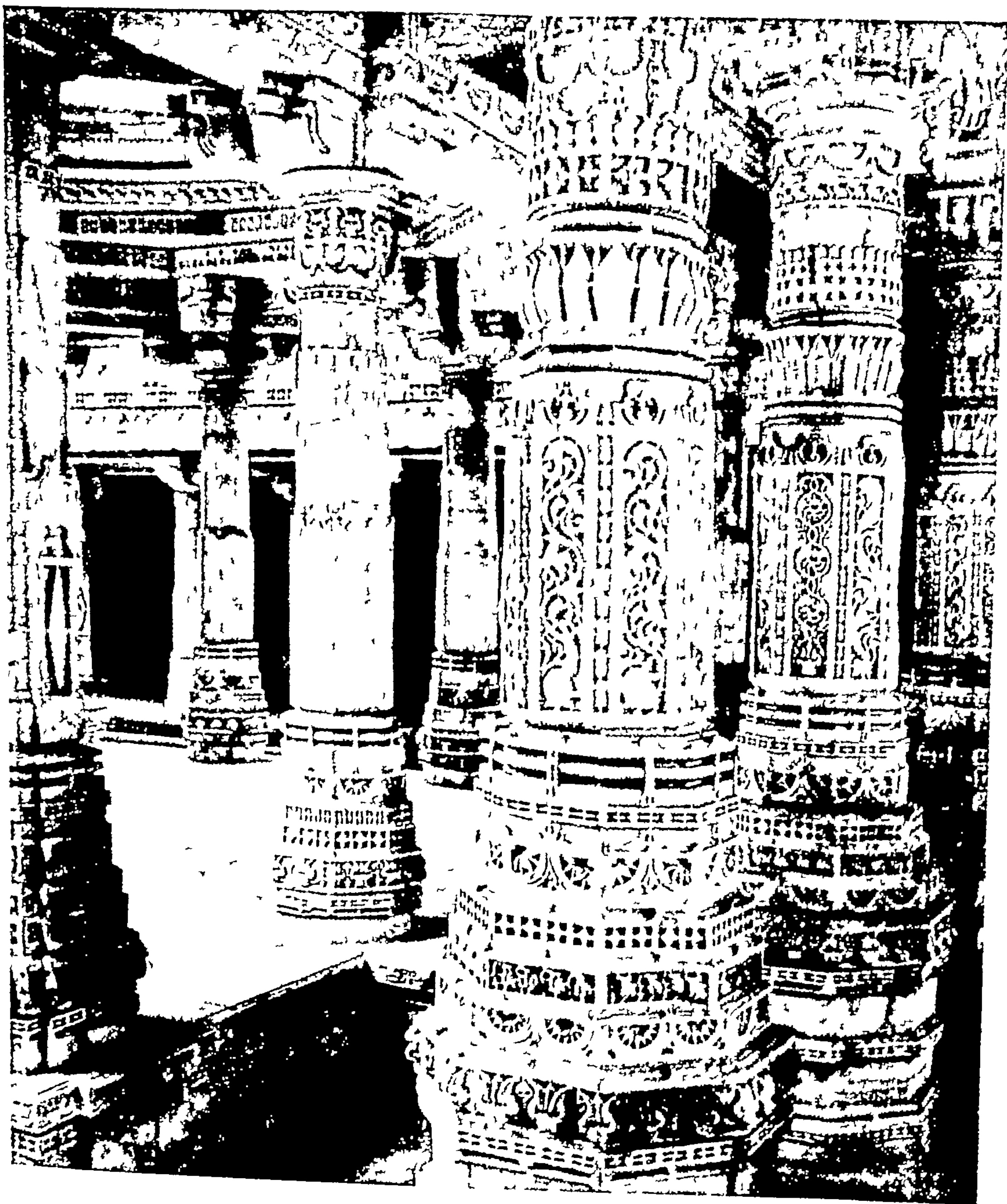


तीर्थाधिराज शत्रुंजय, पालिताणा
Śatruñjaya The city of temples Pālitāṇā, Saurāṣṭra

तसवीर श्री० आर० भारद्वाज]

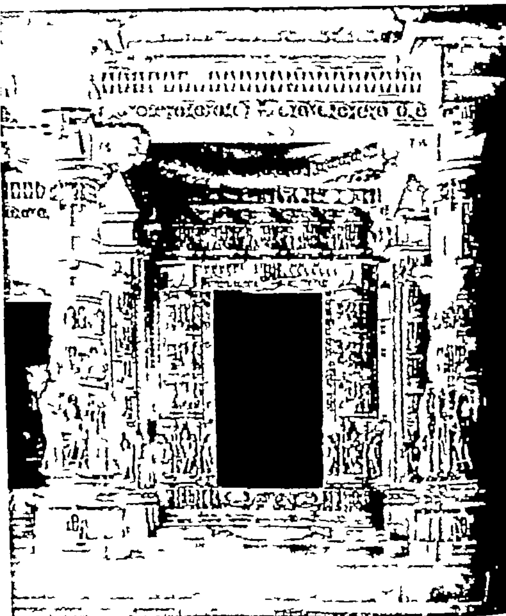


धरणाशाह अने रत्नाशाहे बंधावेलं चतुर्मुख देरासरनुं मुख्य प्रवेशद्वार राणकपुर १५मी सदी
Entrance to the temple at Ranakpur built by Dharanashah and Ratnashah in the 15th Century



राणकपुरना चतुर्मुख जिनप्रासादना कलामय स्तंभोपरनी अद्भुत कोतरणी
Richly carved pillars in the famous Jaina Shrine at Rānakpur, 15th Century

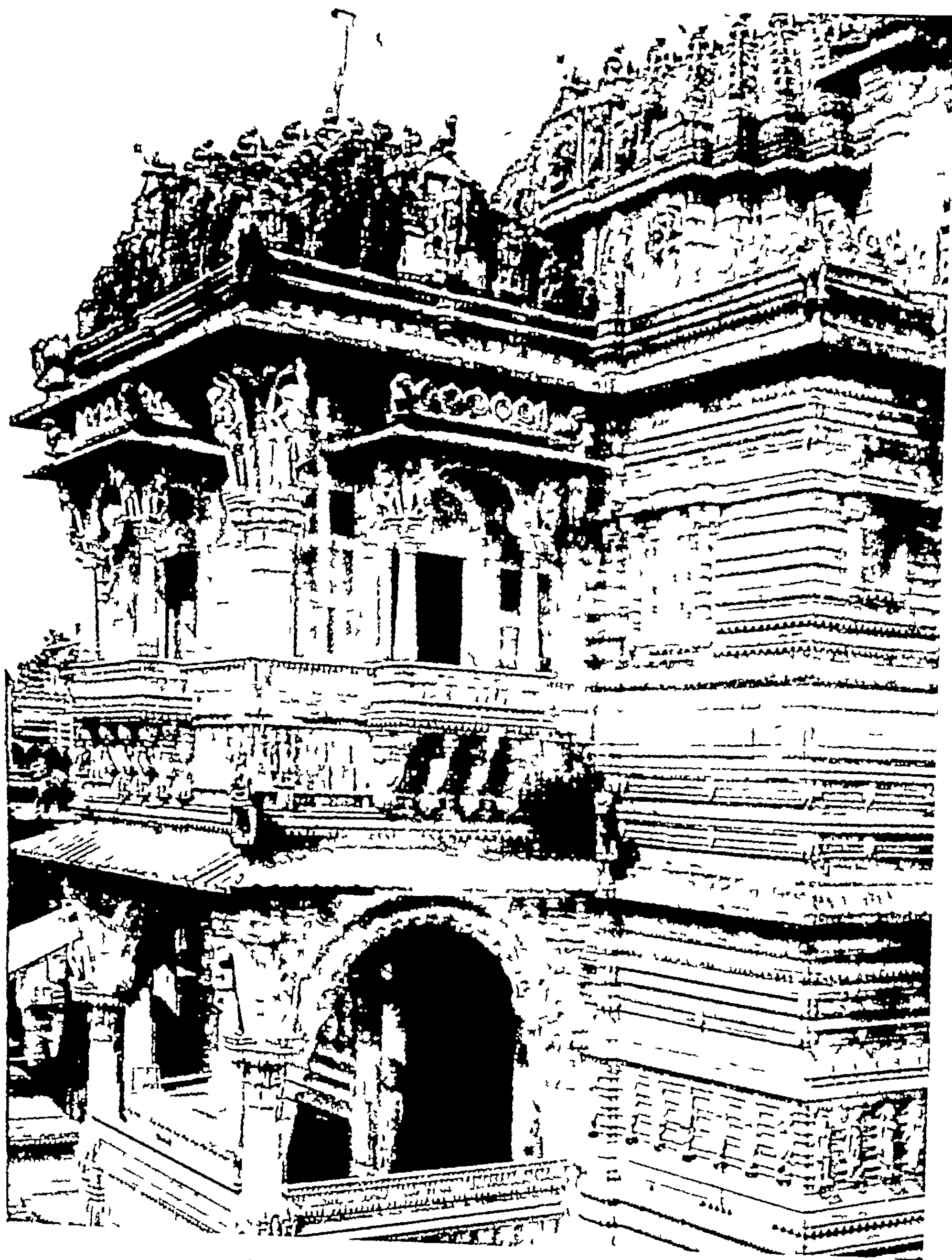
[तसवीर श्री० आर० भारद्वाज]



[illegible]

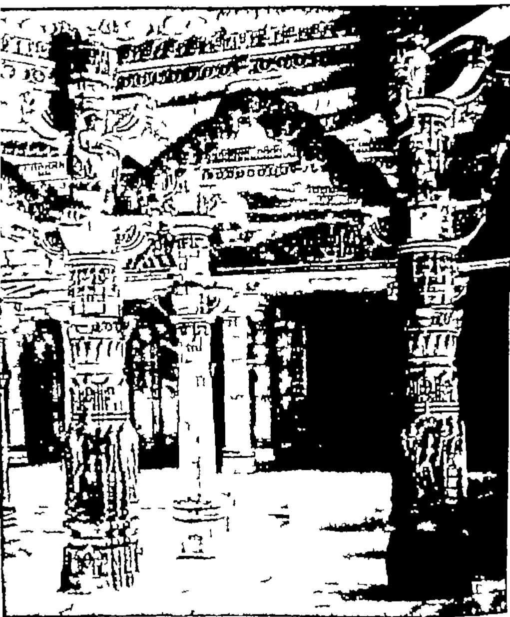
Interior of Parsvanath temple, Khumbharia, N. Guj. 12th Century

[illegible]

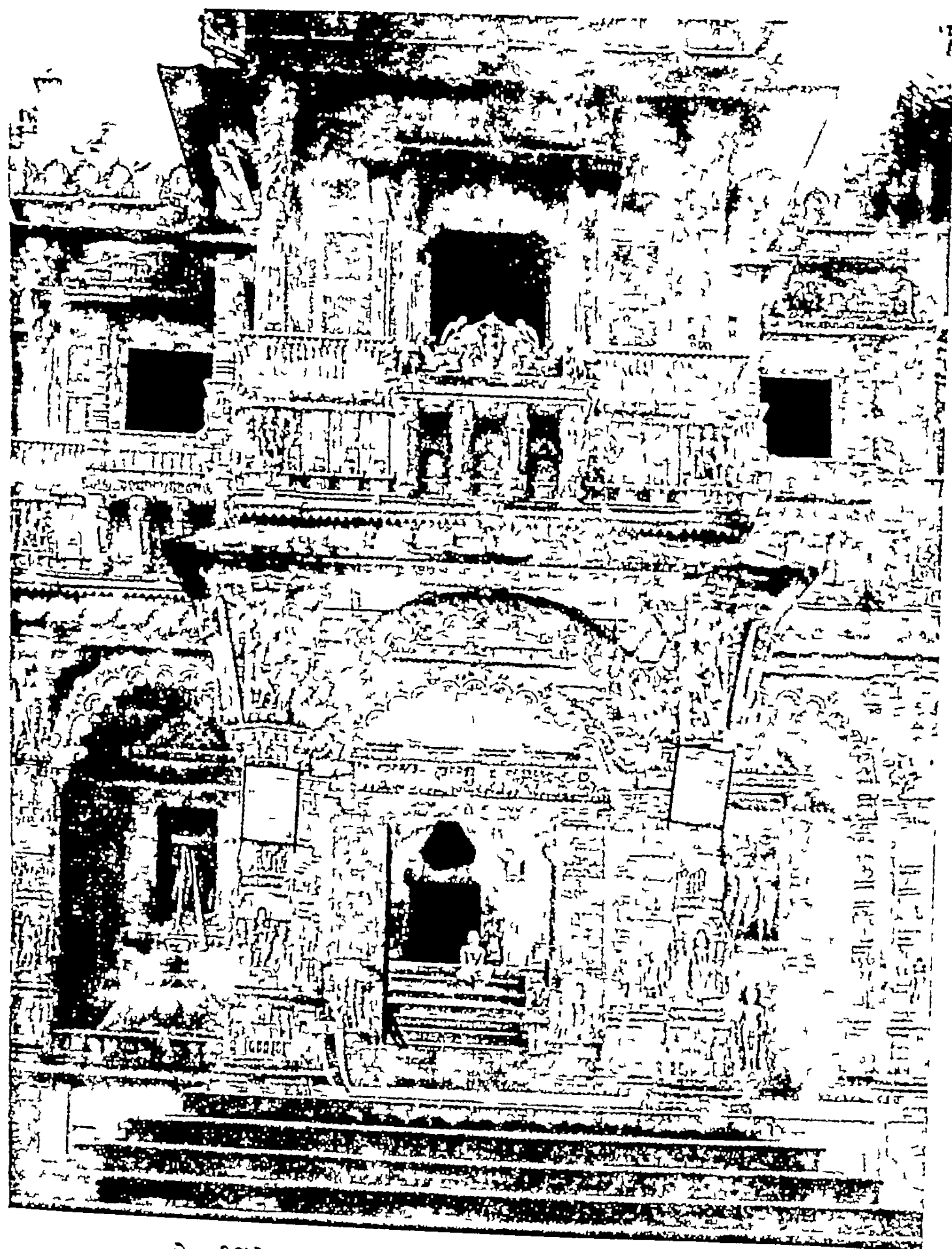


हठीसिंगना देरासरनो उपरनो भाग, अमदावाद, १९मी सदी
Upper part of Hathising temple, side view, Ahmedabad 19th Century

तसवीर जॉनस्टन अने हॉफमेन]



विमलवसही, आबू : रंगमंडप तथा देवकुलिकाओं का एक दृश्य
Arrenental interior of the Rang mandapa and Devkulikas Vimal Vasahi Abu

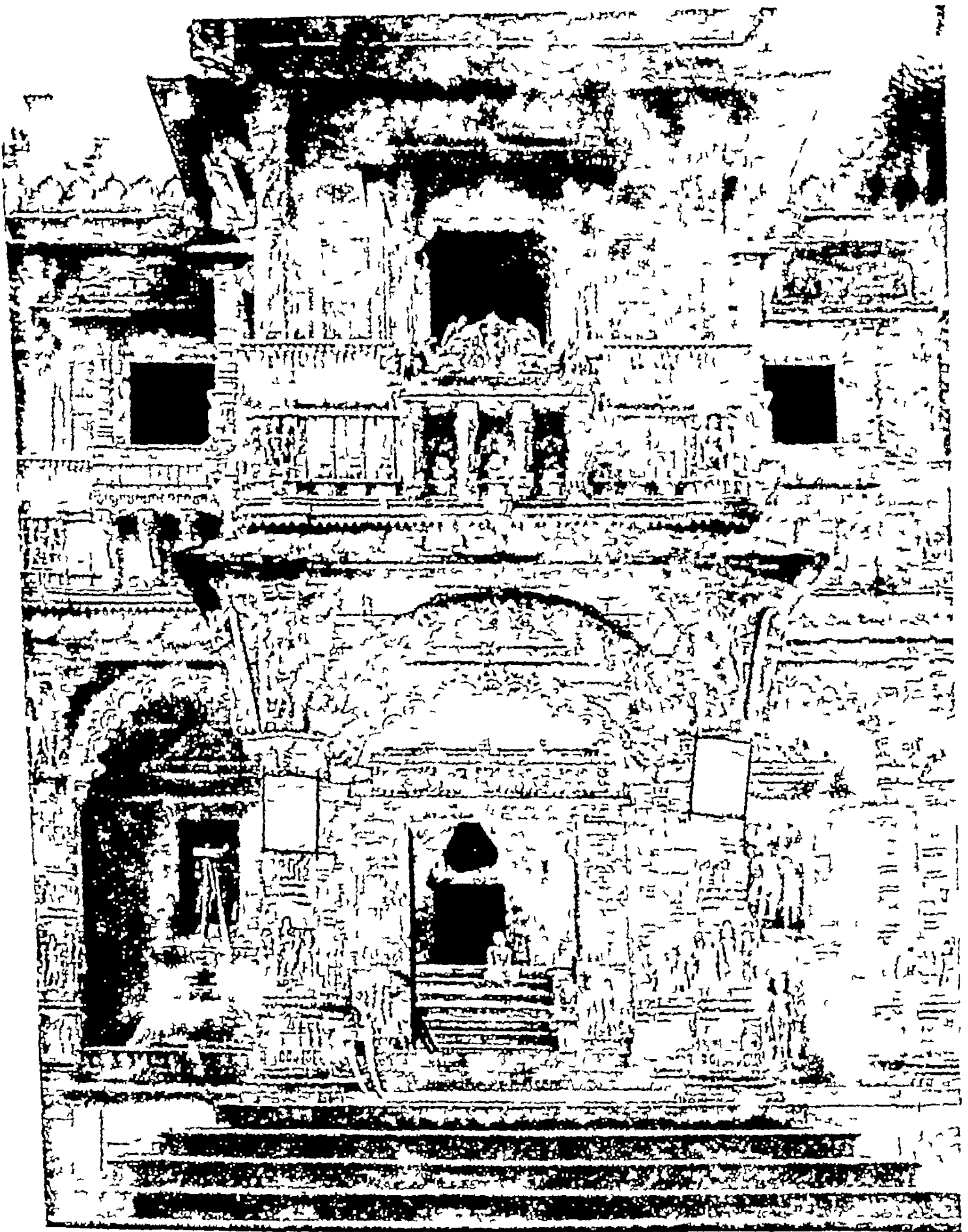


शेठ हठीसिंगे थधावेल देरासरनु कलामय प्रवेशद्वार, अमदावाद, १९मी सदी
Entrance to the temple built by Sheth Hathising Ahmedabad, 19th Century

तसवीर जॉनस्टन अने हॉफमेन]

[illegible]

Basement and porch of Māladevi Shrine, view from south, Gyaraspur Bhilsa



शेठ हठीसिंगे बंधावेल देरासरनु कलामय प्रवेशद्वार, अमदावाद, १९मी सदी
Entrance to the temple built by Sheth Hathising Ahmedabad, 19th Century

तसवीर जॉनस्टन अने हॉफमेन]

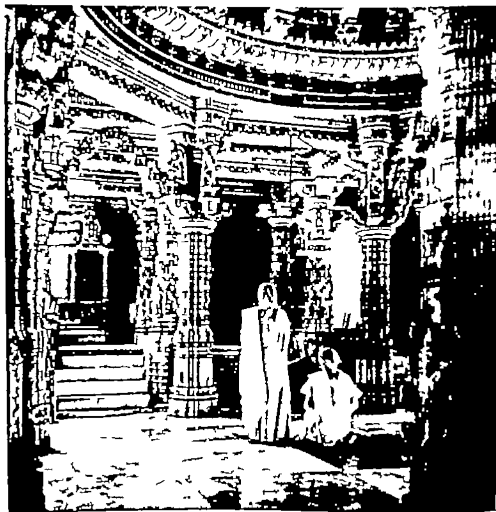


मालादेवी मंदिरनुं अधिष्ठान अने मंडप, ग्यारसपुर भीलसा

Basement and porch of Mâlâdevi Shrine, view from south, Gyaraspur, Bhilsa



जैन स्तभ, चित्तोडगढ, इ स भासरे ११००
Jaina Pillar Chitorgaḍh, c 1100 A.D



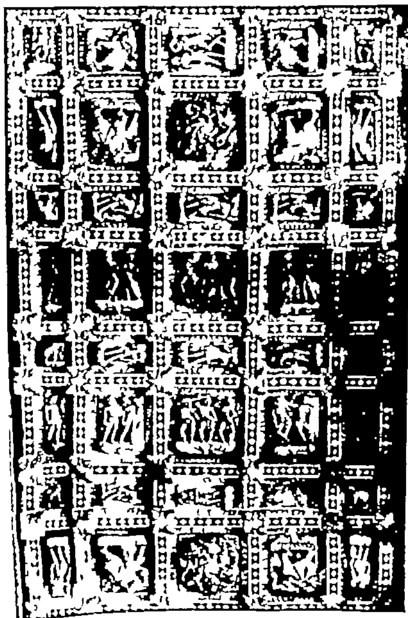
लूण-वसहीका रंगमंडप प्रभुदर्शनरत साध्वीजीओ आबू, १३मी सदी

Rangamandapa of Luna Vasahi (Abu) with Jaina nuns worshipping 13th Century

तसवीर : श्री [illegible] मरेठ]



जैन स्तभ, चित्तोडगढ, ई स आसरे ११००
Jaina Pillar, Ci... c 1100 A.D



કુંભારિયાજીના મહાવીરસ્વામી દેરાસરની છતમાં કોતરેલી મનહર શિલ્પની શોભા [illegible]

Ceiling carvings in Mahaviraswami temple, Kumbhāriā, N. Gu. 11th Century

[તસવીર : શ્રી [illegible] મહેતા]

ભારતીય કળામાં જૈન સંપૂર્તિ

શ્રી૦ રવિશંકર મ. રાવળ

[illegible] જૈન [illegible] હિન્દ [illegible] જૈન [illegible] કળાને [illegible] જૈન [illegible]?

ગુજરાતના [illegible] જૈન [illegible] અતિ [illegible] પ્રાચીન [illegible] પ્રતીતિ [illegible] છે.

[illegible] જૈન [illegible] ગિરનાર, આબુ, [illegible] ગુજરાતની [illegible] છે.

હિંદુસ્તાનમાં પ્રાચીનમાં પ્રાચીન [illegible] ગિરિનિવાસોમાં નજરે આવે છે [illegible] પોતાની [illegible] સાધના [illegible] અને [illegible] મથુરા [illegible] પ્રતિમાઓ [illegible] છે અને તેથી [illegible] વિદ્વાનોને [illegible] હતો [illegible] પ્રાચીન [illegible] પ્રતિમાઓને બૌદ્ધ [illegible] હતી. મથુરાના [illegible] સ્તૂપોને પણ બૌદ્ધ [illegible] હતા.

[illegible] પ્રાચીન [illegible] હિંદુ અને જૈન [illegible] અભિનવ [illegible] હતા. [illegible] બૌદ્ધ સાધુઓની જેમ જૈન સાધુઓ માટે પણ ગિરિનિવાસો અને [illegible] નિર્માણ થયા હતા. [illegible] એટલું જ હતું કે જૈનોએ [illegible] જળનિમાણની [illegible] કરી હતી.

તે રીતે [illegible] બીજા [illegible] પ્રાચીન સમયની જૈન ગિરિનિવાસો ઓરિસ્સા, દક્ષિણ [illegible] અને ગુજરાતમાં ગિરનાર અને બીજા કોઈ કોઈ સ્થળે થયા હતા. તેમાંના બદામી, પાટના (ખાનદેશ), [illegible] વગેરે સ્થળોના ગુફામંદિરો ભારતની કળાના શ્રેષ્ઠ પત્તિના નમૂના છે. એ પ્રત્યેકનું સ્વરૂપ [illegible] જૈન મંદિરો સાથે મળતું નહિ હોવાથી ઘણો કાળ તેને બૌદ્ધ સમયના ગણી લેવામાં આવ્યા હતા.

આરિસ્સાનાં આવેલાં ઉદયગિરિ અને ખંડગિરિની ગુફાઓ [illegible] પ્રાચીનતમ [illegible] મનાય છે. એનાં [illegible] ચિત્ર, શિલ્પપ્રતિમાઓની [illegible] અને લખાણની [illegible] પ્રાચીનતા [illegible] તેની પર [illegible]

ઉદયગિરિ–ખંડગિરિ [illegible] છે. આ ગુફાઓની પ્રાચીનતા સિદ્ધ કરવામાં [illegible] સુપ્રસિદ્ધ વિદ્વાન [illegible] હાથીગુફાના લેખના ઉપર આમીનૂરી પ્રાચીન લિપિના [illegible] છે તેનું [illegible] શિલાલેખો [illegible] તેને [illegible] કરેલી છે [illegible] એ લેખો નિષ્ફળ [illegible] ઐતિહાસિક જૈન [illegible] આપે છે.

[illegible] લગભગ [illegible] ૧૩૫ [illegible] ૧૧૫ [illegible] ૨૩ [illegible]

હાથીગુફાનો [illegible] છે [illegible] ઉપર [illegible] જૈન [illegible] અને [illegible] પ્રાચીન [illegible] અને [illegible] છે. [illegible]

હાથીગુફા [illegible] નથી. [illegible] ગુફાઓમાં જૈન તીર્થંકરો અને [illegible] છે [illegible] હાથીગુફા [illegible] વગેરે [illegible] ૧૯ ગુફાઓ છે. [illegible] ૨૪ [illegible] ગુફાઓ છે. ગુફાઓમાં [illegible] ઓરડી અને [illegible] છે.

[illegible] છે. [illegible] ઓરડી [illegible] છે. [illegible]

[illegible] ગુફા [illegible] (ગર્ભગૃહ) [illegible] છે [illegible] છે [illegible] છે.

[illegible] છે [illegible] ગુફાઓનો [illegible] છે. [illegible] ગુફાઓમાં [illegible] જૈન

[illegible] ની ગુફાઓ [illegible] છે [illegible] છે [illegible] જૈન ગુફા [illegible] ગુફા ૧૧ [illegible] અને [illegible] છે [illegible] મૂર્તિઓ [illegible] છે. [illegible] ગુફા [illegible] છે [illegible] છે. [illegible] જૈન ગુફા [illegible] છે [illegible] છે.

પરસાળ ૮૨ ફૂટ લાંબી, ૭ ફૂટ જેટલી પહોળી અને સુંદર એવી છત છે આ છતના મંડપ ૧૭ ફૂટ ૮ ઇંચ પહોળો અને ૧૫ ફૂટ ઊંચો છે તેની આસપાસ નાના દેવઘરો કોતરેલા છે અને સામે મુખ્ય ગોલક ૮ા ઓરસ ચોરસ છે તેમા શ્રીમહાવીરની પદ્માસન પ્રતિમા છે તેની આગળ બે કોતરણીવાળા સ્તંભો છે બૌદ્ધ કે બ્રાહ્મણ ગુફાઓની જેમ પ્રવેશ આગળ બન્ને બાજુ દ્વારપાળો કોતરેલા છે બદામી તાલુકામા બીજા પણ જૈન મંદિરો છે

ઈલુરા ઈલુરા અજંટાથી ૩૦ માઈલ છેટે ઔરંગાબાદની પાસે આવેલુ છે ઈલુરાના શિલ્પમા પાષાણમંદિર અને ગુફામંદિરના જેવી માત્ર અંતરંગ કોતરણી નથી, પણ તેનો બહિરંગનો દેખાવ ખરેખર દેવમંદિરોની જેમ ઘડી કાઢી આકાર પ્રત્યક્ષ કરવામા આવ્યો છે એટલે તે પહાડમાથી અખંડ કોતરી કાઢેલા શિલ્પો જ છે જગતની વિશાળકાય કલાકૃતિઓમા તેની ગણના થાય છે ગ્રીક શિલ્પો તેની પાસે વામણા બની જાય છે પહાડને ઉપરથી ભોંતલ સુધી કોતરી મંદિરનો સપૂર્ણ ઘાટ, સ્તંભો અને છેવટ અંદરના મંડપો અને ગોખલાઓમા અદ્ભુત પ્રભાવવાળી પ્રતિમાઓ સરસ, સપ્રમાણ, સુઘડ, તક્ષણકાર્યથી પરિપૂર્ણ બનાવેલી છે લગભગ ચાર માઈલના ઘેરાવામા ખડક કાપીને કરેલા ૩૪ જેટલા ખડકમંદિરોમા ૫થી ૮મા સૈકા સુધીની શિલ્પકળાનો પ્રસ્તાર છે, આમા મોટા ભાગની બ્રાહ્મણ અને બાકીની બૌદ્ધ જૈન ગુફાઓ છે અહીં ફરી આપણને કલાની દૃષ્ટિમા સર્વ ધર્માનુ સામંજસ્ય જોવા મળે છે

ઈલોરી અતિ કૌતુક વસ્યુ જોતા હીયડુ અતિ ઉલસ્યુ
વિશ્વકર્મા કીધુ મંડાણ ત્રિભુવન ભાવતણુ સહિનાણ

(શ્રી શીલવિજયજી)

ઈલુરા—ઈલોરા (એલાગિરિ) ની પ્રસિદ્ધિ કેવી હતી તે ઉપરની પ્રશસ્તિથી સમજાય છે ઈલુરાની જૈન ગુફાઓ સૌથી પાછળ થયેલી લાગે છે ગુફામંદિરોની પિછાન ૧૦માથી નવની માત્ર બાહ્ય સ્વરૂપથી થઈ શકે આ દર્શનભાગ અંદર પ્રકાશ જાય એવા હેતુથી કોતરેલો હોય છે બાંધકામથી કરેલા મકાન કરતા તેના છેદ મોટા રાખવા અને તે સાથે ખડકના ભાગ પ્રમાણે ટેકા, થાભલા પણ ભારેખમ રહેવા દેવા જોઈએ આવી અંદરની રચનાને તેને અનુસરી આકાર લેવો પડે

ઈલુરાના જૈન ખડકમંદિરો ઈ સ ૮૫૦ પહેલાના નથી તેનુ દર્શનસ્વરૂપ અને પ્રતિમાઓ ધ્યાનથી જોઈએ તો દક્ષિણ (દ્રાવિડ) પદ્ધતિએ કામ થયેલુ લાગે છે બ્રાહ્મણ ગુફા કૈલાસ પણ એ જ શૈલીની છે બન્ને વચ્ચે એટલુ સામ્ય છે કે તેના રચનાકાલ વચ્ચે બહુ અંતર નહિ હોય

ઇન્દ્રસભા ઇન્દ્રસભા અને કૈલાસનાથ બન્ને મંદિરો બે માળના છે અને અંદર નાના ખંડો છે જૈન મંદિરમા ગોમટેશ્વર અને પાર્શ્વનાથની પ્રતિમાઓ છે તે પરથી તે દિગંબર જૈન સંપ્રદાયના છે એમ નિર્ણય કરી શકાય બદામીમા એક લેખ છે, તે કન્નડ ભાષામા છે તેથી માની શકાય કે શિલ્પીઓ દક્ષિણના હતા અને તેઓ દ્રવિડી ઘાટ લઈ આવ્યા ત્યા એક કુદરતી માપનો હાથી છે સામી બાજુ ૩૧ ફૂટ ૬ ઇંચનો એક જ શિલ્પનો સ્તંભ હતો તે સો વર્ષ પહેલા પડી ગયો હતો આ ગુફાઓના ઉપરના ભાગમા પાર્શ્વનાથની વિરાટ પ્રતિમા કોતરેલી છે આ પ્રતિમા પર કોતરેલ અક્ષરો પરથી લાગે છે કે તે ઈ સ ૧૨૩૫ની આસપાસ થઈ હશે

આ બધા શિલ્પો ચાલુક્ય અને રાષ્ટ્રકૂટ રાજ્યોની સીમા ઉપર હોવાથી બન્ને રાજ્યોની શૈલીઓનો તેમા સમ્મેળો થયો જણાય છે અહીં ઉત્તર ભારતમા વિકસી રહેલા દેવમંદિરોની વિશાળતા અને

વિખરસ્થાનોને અવકાશ નથી છતાં કલ્પના અને રૂપનિર્માણની શક્તિ અજંતાની બરાબર જ પ્રમાણી રહી છે.

પહેલા આબુના વિમલવસહી જેવો રત્ન કીર્તિમાં ઈ. સ. ૧૦૩૨માં ગુજરાતે આપ્યો, પછી ઈ. સ. ૧૨૩૦માં આબુમાં વસ્તુપાલ તેજપાલે તેનું શાસન ચલાવી લીધું. તે પછી, દેલવાડા, કુંભારિયા વગેરે દેરાસરોનાં મંદિરો કરાવ્યાં. કૈલાસ અને બીજા મંદિરો સંપૂર્ણપણે કોતરીને કર્યાં હતાં એટલે, ભારતીય રીતિ આબુનું શિલ્પ ક્યાં એમની આબુ નજીકના અંત સુધી પહોંચી હતી. આ બધું એનાં ભાગો કર્યાં જૈન શાસનને આપ્યો સાથે લીધું લાગ્યું જણાય છે.

સૌરાષ્ટ્રમાં આવેલ ગિરનાર જેવું એક જૈનમંદિર, પ્રાચીનતા અને કલાત્મકતામાં જાણીતું, દક્ષિણમાં તીર્થોની પ્રાંતમાં શ્રી ક્ષેત્રપાલથી ૨૦ માઈલ દૂર કન્યાકુમારીથી ૭૫ માઈલ ઉત્તરે મદુરાઈ નામના સ્થળે શ્રવણબેલગોલા જેવું જ આબુમાં કોતરેલું મંદિર છે. એ જૂનું ક્યાં થયું જ નથી. એની ઉપર ઘણું પાષાણ કામ થયું ન હોત તો એનો દેખાવ ગિરનાર જેવો હોત. તે બેરંગી નથી. તે તીર્થંકરોની મૂર્તિઓ તથા તીર્થંકરોની પ્રતિમાઓ છે તે જૈન દેવોની વસતિ છે. આ મંદિર કોઈએ પાછળથી પૂર્ણ કરાવ્યું નહિ એટલે તેના મૂળ હાથની કીર્તિ અમર રહી છે.

દક્ષિણના જૈન ગુફામંદિરોની કથામાં સિત્તન્નવાસલ (સિદ્ધવાસ) અર્થાત્ સિદ્ધોનો વાસ તે સ્થાનનું લોકપ્રિય ઉપનામ સિત્તન્નવાસલની પ્રાચીન પરિપાટીના એક અગત્યના સ્થળ તરીકે જાણીતું થયું છે. પુદુકોટાથી નવ માઈલને અંતરે આ ગુફામંદિર આવેલ છે. ઈ. સ. ૪ થી સદીનો આ ગુફામંદિર સિત્તન્નવાસલ છે. તેમાં શયન છે કે જૈન મુનિઓના નિવાસ માટે તેનું નિર્માણ થયું હતું. આ સ્થાન શયનશિલાઓ છે. ગુફાના અંતરમાં ગિરનાર ૧ ફૂટ લાંબો અને ૧ ફૂટ પહોળો છે. તેનો રચનાસમય ઈ. સ. બીજી સદીથી આરંભી ૧ લી સદી સુધી પહોંચે છે. સાધુઓને આશ્રયસ્થાન પૂરું પાડતું હતું એટલે વસવાટમાં સર્વ ભિન્ન ભિન્ન પ્રકારનું ચિત્રકામ અને કોતરકામ થયાં હતાં છે. ૧ લી સદીમાં પલ્લવરાજ મહેન્દ્રવર્મા રાજાનો મહાન આશ્રયદાતા હતો. તેણે આ ચિત્રો કરાવ્યાં છે. તેમાં શ્રમણોચિત કમળસરોવરો તેમ જ અપ્સરાઓ અને કેટલાક જૈન પ્રસંગો છે. ચિત્રોમાં ભારતના પ્રાચીન ચિત્રકળાની સુંદર અસર છે. ભીંતો પર ચિત્રો કરવાની પ્રથાનું અનુકરણ આજ સુધી જૈન સમાજે રાખ્યું છે. પણ તેની દુર્દિશા અને પરિસ્થિતિમાં અત્યંત આવેગી જણાય છે. પુદુકોટાના મંદિરોના ચિત્રોના સમય પુરાતત્ત્વની ૧ લી—૧૧મી સદીની શિલાલેખો સાથે સ્પષ્ટ થયો છે. તેનું સ્થાન ઈ. ૫૦૦થી પ્રાચીન ચિત્રોમાં ઉતરી આવ્યું છે.

દક્ષિણ ભારતમાં જૈન-પ્રભાવિત શિલ્પકળા ભાગી, એલોરા કે પુદુકોટા શિલ્પકળાની બરાબર થઈ નથી. એલોરામાં ઉંચા સ્તંભાવાળી પહેલા કૈલાસ દક્ષિણ ભારતમાં પ્રવેશ કરતાં એલોરાની મંડપી અને ગુફા ૧ લી કૈલાસ સુધી પુદુકોટા શિલ્પો વિશાળ પ્રતિમાઓ કર્યાં તે ઉપરાંત ઉત્તર ભારતમાં મળે નહિ. એવું શિલ્પ પ્રતિમાનિર્માણ જૈન ભાવનાએ દક્ષિણ ભારતને આપ્યું છે. એની બધી પ્રતિમાઓ ભવ્યલેપવાળી, શાંત અને મધુરતા છે.

આબુ ગોમટેશ્વરની પ્રતિમા સુપ્રસિદ્ધ છે. તેનાથી વધુ પ્રાચીન થયું જ એવી ગોમટેશ્વરની પ્રતિમા મૈસુર રાજ્યમાં ચંદ્રગિરિની ૪ ફૂટ ઊંચી ખડક ટેકરી પર છે. તથા તીર્થ ક્ષેત્રમાં ઊંચી ૫૮ ફૂટની એ નગ્ન પ્રતિમા જગત ભરમાં સૌમ્યભાવ ભાવોચિત ધ્યાનસ્થ મુદ્રા કાયોત્સર્ગ સિદ્ધાંતને આલેખ બાહુબલી મુનિ છે. ત્યાગવૃત્તિનો ભાવને અંગ પ્રત્યંગ આપતી પ્રતિમાથી ૫૮ ફૂટ સુધીનું તપસ્યાનું સ્થાપત્ય

કાપી કાઢયું છે તે છે આવું પ્રચંડ પૂતળું જમીન પરથી એટલી ઊંચાઈએ લઈ જવાનું અશક્ય કાર્ય કલ્પનાનો અવરોધ કરે, પરંતુ ઉપરથી જ પ્રતિમાઓ કોરી કાઢવાની યોજના ભારતીય શિલ્પીની અપૂર્વ મૌલિકતા છે આવું મૂર્તિનિર્માણ મિસર વિના અન્ય સ્થળે નથી થયું

બીજી પ્રતિમા કન્નડદેશમાં કારકલમાં છે. તેની ઊંચાઈ ૪૧ ફૂટ ૫ ઇંચ છે વજનમાં લગભગ ૮૦ ટન છે એ પ્રતિમા તૈયાર કર્યા પછી તેના સ્થાને મુકાઈ છે આ પ્રતિમા ઈ સ ૧૪૩૨ના વખતની છે ત્રીજી પનુર કે વેનુર ખાતે છે તેની ઊંચાઈ ૩૫ ફૂટ છે તે ઈ સ ૧૬૦૪માં બનેલી છે આ ત્રણે પ્રતિમાઓ દિગંબર જૈન સંપ્રદાયની છે ત્રણે ઊભેલી કાયોત્સર્ગ સ્વરૂપની નગ્ન છે પગ આગળથી વનવેલીઓ શરીર પર ચડી ગયેલી છે ઉત્તર ભારતમાં ગોમતેશ્વરની પ્રતિમા જોવામાં આવતી નથી, પરંતુ દક્ષિણ ભારતની શિલ્પકલાએ આ પાત્ર માટે કલાની ચરમ શક્તિઓ કામે લગાડી છે

આ ઉપરાંત દક્ષિણ ભારતના મંદિરોની કલામાં ધાબાની ઉપર ચઢઊતર માળોની રચના પણ એક વિશિષ્ટ પ્રકારની છે કેટલાકના છાપરો નેપાળના મંદિરોને મળતા છે, પણ બીજી નવાઈ એ છે કે ઉત્તર ભારતમાં અશોકના વખતમાં સ્મારક–સ્તંભો ઊભા કરવાની પ્રથાનો પછીથી લોપ થયો હતો તે પ્રથા દક્ષિણના જૈન મંદિરોમાં બહુ સુંદર પ્રકારે પાંગરી છે મંદિરથી અલગ મંદિરના ચોકમાં સ્વતંત્ર ઊભેલા સ્તંભની શોભા અને રચનાનો પ્રકાર આપણે ઇલુરના કૈલાસમંદિરમાં જોયો છે આમ સ્વતંત્ર સ્તંભ ખડો કરવાની રીતો પ્રાચીન કાળમાં નાઈલ પ્રદેશમાં હતી નાઈલ પ્રદેશના સ્તંભો એક જ શિલામાંથી ઘડી કાઢેલ ચોરસ ઘાટના અને ટોચ પરથી પિરામિડ જેવી અણીવાળા હતા, પરંતુ દક્ષિણના સ્તંભો તો શિલ્પના અલંકારકાવ્યો જેવા ગોળ તેમ જ પાસાદાર અનેક કદોરાવાળા એક એકથી જુદા રમ્ય વ્યક્તિત્વવાળા છે

મહાકોસલ

દક્ષિણ ભારતને ઉત્તર ભારત સાથે સાંકળવામાં મહાકોસલની જૈન કલા–પરિપાટીનું મહત્ત્વ છે રામગિરિની ટેકરી, જ્યાં મેઘદૂતનો યક્ષ વસ્યો હતો, ત્યાંના ગુફાગૃહોમાં જૈન પ્રસંગો મળી આવ્યા છે ગુફાચિત્રોથી આરંભ થયેલો જૈનકલાનો વિહાર આઠમી સદી પૂરી થતાં અંધકારમાં લુપ્ત થયો કલચૂરી રાજવંશના નરેશો મતસહિષ્ણુ હતા તેઓ શૈવ હોવા છતાં જૈનોને સંપૂર્ણ રક્ષણ અને આશ્રય આપતા કલચૂરી શંકરગણ જૈનધર્માનુસારી હતો મહાકોસલની રાજ્યધાની ત્રિપુરિ (તેવર) હતી એ રાજકુળને દક્ષિણના રાષ્ટ્રકૂટો સાથે સગા સંબંધ હતો આ રાષ્ટ્રકૂટોની સભામાં જૈન વિદ્વાનો રહેતા મહાકવિ પુષ્પદન્ત તેમનો રાજકવિ હતો જૈન ધર્માનુસાર અમોઘવર્ષે જૈન મુનિપદનો અંગિકાર કર્યો હતો

મહાકોસલના જૈન કલાવૈભવને પ્રસિદ્ધિ આપવાનું શ્રેય મુનિશ્રી કાન્તિવિજયજીને આપી શકાય એ કાર્યથી એમનો માત્ર જૈન સમાજ ઉપર જ નહિ, પણ સમગ્ર ભારતવર્ષના સંસ્કારી સમાજ ઉપર ઉપકાર થયો છે ગુપ્ત સમયની અનેક જૈન પ્રતિમાઓ, દેવીઓ, પ્રતિહારીઓ અને સ્થાપત્ય અવશેષોની વિસ્તારવતી તપશીલ અને વિગતપૂર્ણ વર્ણન તેમણે 'खण्डहरोंका वैभव' નામના પુસ્તકમાં આપેલું છે તે સાથે જે ચિત્રમુદ્રાઓ આપી છે તે છાપકલાની દૃષ્ટિએ સંપૂર્ણ નથી પરંતુ અસલ વસ્તુમાં કેટલું સૌન્દર્યનિરૂપણ અને પ્રભાવ હશે તેનો ખ્યાલ આપે છે આ પ્રત્યેક અવશેષના સુંદર સ્વચ્છ ફોટોગ્રાફો નવેસરથી તૈયાર કરાવી મોટી પ્લેટો યા ચિત્રસંપુટો રૂપે પ્રજા આગળ મુકાય તો જૈન સંસ્કૃતિનો પ્રકાશ અનેક જનોને આહ્લાદક બનશે

બુદ્ધ અને મહાવીરના ઉપદેશ એક જ સમયમાં થયા હતા અને ભારતમાં બન્ને ધર્મોનો સરખો વિકાસ થયો હતો. અશોક [illegible] અને તેમની [illegible] પ્રોત્સાહન [illegible] બૌદ્ધ ધર્મ [illegible] ઘણું વિશાળ રાજ્યોનો આશ્રય પામ્યો. પૂર્વ ભારતમાં [illegible] રાજ્યાશ્રય થયો ત્યાં થી તેનું વિસ્તાર [illegible] થયું અને તેનાં સ્મારકોનો અનેક મળી આવ્યાં છે. પણ તે સાથે જૈન ધર્મના સંસ્થાપક શ્રીમહાવીર અને તેમના અનુયાયીઓને પશ્ચિમ ભારતમાં જે પ્રચાર કર્યો તે પણ [illegible] હતો. બૌદ્ધ ધર્મ ભારતમાં રાજ્યાશ્રય પામ્યો અને આમ જનતાને આકર્ષી શક્યો. આથી તેના સ્મારકોને વિશાળ પ્રમાણ મળ્યાં.

ઉત્તર ભારતમાં જૈનધર્મનો પ્રસાર

જૈન ધર્મ ખેતી અને યુદ્ધના ક્ષેત્રોથી અલિપ્ત રહેવાનો આગ્રહ સેવતો હતો એટલે વેપાર અને નગરના ક્ષેત્રમાં [illegible] પ્રસર્યો. આથી જ્યાં જ્યાં વેપાર અને વસ્તી હતાં ત્યાં ત્યાં તેના અનુયાયીઓએ સ્તૂપો, શિલ્પકૃતિઓ અને મંદિરોનું નિર્માણ કર્યું છે. દક્ષિણ ભારતમાં પણ આપણે જોયું કે જ્યાં [illegible] અને [illegible] ત્યાં જૈન પ્રજાએ વસવાટ કરેલ છે અને ધાર્મિક [illegible] ઘણો આપ્યો છે. જૈન સમાજનું આ [illegible] ઉત્તર ભારતના પ્રાચીન કલાના ઇતિહાસમાં સ્પષ્ટ ભાગ છે.

ભારતના શિલ્પનો ઇતિહાસ ઈ. પૂ. ૩ [illegible] વર્ષે શિલ્પના મોહન-જો-દડોનાં પ્રાચીન અવશેષોથી પ્રારંભ થાય છે. એ સમયે મૂર્તિઓના [illegible] ચિત્રો અને મૂર્તિ તેમ જ ધાતુની માનવમૂર્તિઓ જોતાં લાગે કે [illegible] અને ધાર્મિક સ્થાપત્યનો પ્રચાર [illegible] હતો. એ સમયની મુદ્રાઓમાં [illegible] યોગીઓની આકૃતિઓ પણ મળી છે. પરંતુ [illegible] જૈન સમયની જે શિલ્પકૃતિઓ મળી છે તેની સાથે [illegible] નથી. [illegible] સમયમાં [illegible] અને યક્ષિણીઓની [illegible] માનવભાવથી મોટી અને [illegible] મળી છે પણ તેના માટે કોઈ આધાર નથી.

ભૂમિના મહાન પુરુષો કે નેતાઓના સ્મારકરૂપે તેમના અસ્થિઓ ઉપર ગોળાકાર મોટા સ્તૂપો બાંધવા હોય (ચૈત્ય [illegible]) રચાતા અને તે પર છત્ર કે ધજાની પ્રથા હતી. આ રિવાજ તેથી પણ પ્રાચીન છે. [illegible] ઉપર માટીનો ટીંબો કરી ઉપર છત્ર કે [illegible] તેની [illegible] તે પછી ભિન્ન દેશોમાં [illegible] એટલે સ્મારકો અને સ્તૂપોના [illegible] સ્તૂપની આકૃતિના અવશેષો મુખ્ય છે તે આપણે જૈન કહે છે. [illegible] પરથી [illegible] પ્રાચીનકાળથી જૈનનો રિવાજ [illegible] અને તે પ્રમાણે [illegible] નિર્વાણ પછી [illegible] અને બીજા સ્થાનોમાં જ્યાં જૈન હોય તે જૈનમંદિર અને પૂજાની પ્રતિમા અને શિલ્પકૃતિ [illegible] નામો [illegible].

આવા ચૈત્ય, સ્તૂપ અને શિલ્પકૃતિઓ બૌદ્ધ, જૈન તેમ જ [illegible] સ્થાનોમાં હતા પણ બુદ્ધના સ્તૂપોનો વિસ્તાર [illegible] પહેલાં [illegible] સુધી તેને [illegible] અને [illegible] ભિન્ન પણ છે કે પ્રાચીન સ્તૂપો તેમ જ [illegible] નિર્માણ કરવામાં જૈન [illegible] મોટો અને [illegible] હતો.

તક્ષશિલામાં, મથુરામાં [illegible], [illegible] જૈન સ્થાનો મળી આવ્યાં છે જેની શિલ્પ-મુદ્રાઓ, [illegible] લેખો, પ્રતિમાઓ, [illegible] અને [illegible]

પ્રકારના નમૂનારૂપ છે આમાના ઘણાખરા ખંડિત અથવા વિશીર્ણ સ્થિતિમા ઉપેક્ષિત પડ્યા છે છતા મૌર્યકાળથી ઈ સ ૧૦૮૦ સુધીની એકસરખી અંકોડા પૂરતી અનેકવિધ શિલ્પસામગ્રી એકત્રિત થઈ છે પણ બૌદ્ધ કે બ્રાહ્મણ સ્મારકો જેટલી પ્રસિદ્ધિ પામી નથી

પ્રાચીન તક્ષશિલામા જે સ્તુપ મળી આવ્યો તેના શિલ્પમા બાક્ટ્રીયન, ઈરાની, બેબીલોનિયન અસરવાળી આકૃતિઓ છે પરતુ મથુરાની કંકાલી ટેકરીમાથી જે અપાર શિલ્પખડો મળ્યા છે તેમાથી જૈન સપ્રદાયની એ નગરીમા કેવી જાહોજલાની હશે તે સમજાય છે

ઘણા માને છે કે ગુફામદિરો પરથી મદિરોનુ નિર્માણ થયુ છે, પરતુ મદિરોના ગર્ભગૃહની રચના જોતા તેનો સબધ યજ્ઞવેદી સાથે હોય એમ લાગે છે આવી વેદિકાઓ રચવાની પ્રથા વૈદિક સપ્રદાય બહારના પણ સ્વીકારતા હતા જ્યારથી સ્તુપની પૂજા બધ થઈ ગઈ અને પ્રતિમાપૂજન શરૂ થયુ ત્યારથી જૈનોએ પણ મદિરોની રચના પર ધ્યાન આપ્યુ હતુ પણ તે કાળે તે બહુ મોટા પ્રમાણમા બધાયા નહિ હોય મદિરના વાસ્તુશાસ્ત્રમા વર્ણવેલા શાતિક, પૌષ્ટિક, નાપદ એવા નામો છે, નાગર કે દ્રવિડ એવા ભેદો છે પણ સાપ્રદાયિક નામ નથી

મથુરાનગરી જે સમયે સમૃદ્ધિપૂર્ણ હતી તે વખતે ત્યા અનેક જૈન ધનાઢ્યો વસતા તેમના દાનથી થયેલા મદિરોની જે શિલ્પસામગ્રી કંકાલી ટેકરીમાથી મળી આવી છે તેમા જૈન પ્રતીકોથી ભરપૂર તક્ષણપ્રચુરતા અને પ્રતિમાઓ મથુરાના મ્યુઝીયમમા છે તે તે કાલની કલાની ચરમ સીમા રજૂ કરે છે મથુરાના શક રાજાઓ હવિષ્ક અને કનિષ્કના સવત્સરવાળી અનેક જિનમૂર્તિઓ, સ્તુપની વડીઓના કોતરેલા પથ્થરો, સાચી અને ભારતના સાથમા મૂકી શકાય એવા છે એક લેખ વિ સ ૭૮ના લેખવાળો છે તે દેવનિર્મિત એટલે તેના નિર્માણના સમયની કોઈને ખબર નથી એવો છે

મથુરાનો જૈન સમાજ વેપારી ધનાઢ્ય હતો, એટલે તેમના શિલ્પો ઉપર નોંધ મૂકવાની ઘણી ચીવટ બતાવી છે

અનંધમેસવ અને ઉત્તર ભારતના સ્તુપો ઈ પૂ ૫૦ વર્ષ પહેલાના કરે છે જૈન શિલ્પાવશેષો ઉત્તર ભારતમા બ્રાહ્મીલિપિની વિકાસ, વ્યાકરણ, પ્રાકૃત ભાષાઓનો ઉદય તેમ જ રાજકીય અને સામાજિક પરિસ્થિતિ અને ઇતિહાસ અને જૈન ધર્મના પૂજાકાર્ય પર પ્રકાશ પાડે છે એ શિલ્પોનુ મૂલ્યાકન કરવા પ્રત્યક્ષ પરિચય થાય અથવા ઉત્તમ ફોટોગ્રાફો જોવા મળે એવુ થવુ જોઈએ અલકારો તેમજ વેલોની સુસ્પષ્ટ કોતરણી ભારતીય કલામા ગ્રીક ઈરાની આસીરિયન તેમ જ બેબીલોનની અસરો કેટલી ઊતરી હતી તેના દૃષ્ટાતો તેમા મળે છે ખાસ કરી પાખોવાળા સિંહો, દરિયાઈ પ્રાણીઓ તેમ જ વેલબુટીમા ગ્રીક પ્રકારો ભારતના સસ્કારવ્યવહારના ઉદાહરણો છે, છતા વસ્તુ સપૂર્ણ ભારતીય છે બ્રાહ્મણ, બૌદ્ધ, જૈન સર્વે કોઈ તત્કાલીન દેશવ્યાપી કલાસ્વરૂપોનો પોતાના સપ્રદાય માટે વિના સકોચ ઉપયોગ કરતા સધાના પ્રતીકો-રૂઢ પદ્ધતિઓ-એક જ શિલ્પભડારમાથી મળી રહેતા વૃક્ષ, કડેડા ચક્રો, શણગારો બધે સરખા હતા જૈન ધર્મના ઈ પૂ ના પુરાતન અને આજ સુધીના શિલ્પની પાકી સાક્ષી આપતા ભૂતકાળના મહત્ત્વના અંકોડા ત્યા મળી રહે છે જૈન સપ્રદાયમા પ્રાચીન વિભાગો "ગણ, કુલ, શાખા" વગેરે પ્રચલિત હતા એ શિલ્પ પરના લેખોથી નક્કી થયુ છે જૈન સાધ્વીઓ સમાજમા ઊંચો મોભો ધરાવતી હતી એ પણ જાણવા મળે છે મથુરાના શિલ્પોમા ઈ પૂ બસોથી વિ સ ૧૦૮૬ સુધીની શિલ્પસૃષ્ટિ જોવા મળે છે.

ઉત્તર ભારતમાં ગુપ્ત સમયમાં જે ગિરિમંદિરો હતાં તેનું અસ્તિત્વ આજપર્યંત જણાયું છે. પરંતુ ત્યાર બાદ ગુપ્તકાળનાં દેવમંદિરોનાં સ્થાપત્યો વિરલ છે. જે છે તે નહિવત્ જ નાશ થતાં છે. જૂનો કે કોઈ નવ નગર પથ્થરની શિલાઓ ખાણીને ઉપયોગમાં આવતાં આ મંદિરોમાંના ઘણાં ગુપ્ત સમયની કલા દક્ષિણના મહાબલીપુરમ કે એલોરાના પરિવાર હોય એવું લાગે. અમ આવી શિલાઓની બનાવટ પર તેના શિખરનો આધાર હતો. ઉત્તર ભારતમાં ગ્વાલિયરનું તેલી મંદિર, સૌરાષ્ટ્રમાં ગોપ, કચ્છ કલ્યાણ વગેરે સ્થળ એનાં દાખલારૂપ છે.

તાજેતરમાં ગુજરાતમાંથી મળેલાં ગુપ્ત સમયનાં શિલ્પો ઉપર વડોદરાના પુરાતત્ત્વવિદ્ શ્રી ઉમાકાન્ત શાહે નવીન જ પ્રકાશ પાડ્યો છે. તેમણે આકોટામાંથી શ્રીઋષભદેવની ઈ.સ. ૫ સદીની ગુપ્ત ધાતુપ્રતિમા પ્રાપ્ત કરી મ્યુઝિયમને આપી છે. જૈનશિલ્પના ક્ષેત્રે જૈની આ પ્રતિમાથી ગુજરાત મોખરે બન્યું છે.

ક્રમાનુક્રમે આગળ ધપતા ગર્ભમંદિર ઉપરના શિખરોમાં વિકાસ અને ઉત્કર્ષ સધાયો અને તેમાંથી આદિત્યના રથાકારના શિખરોનો પ્રારંભ થયો. દેવનાગરી પ્રતિમાના મંદિર જેવાં એ મંદિરો ગગનગામી સ્વરૂપે વધતા ચાલ્યા. દક્ષિણમાં એ રીતે ગોપુરમથી મંદિરનો વૈભવ વધ્યો. ઉત્તર ભારતમાં આદિત્યથી પ્રસાર પામેલી શૈલી આર્યાવર્ત ભાગના મધ્ય દેશની શૈલી તરીકે પ્રચાર પામી. જેના ભાગરૂપે ગુજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, કચ્છ પણ તેમાં ભળે છે.

ભુવનેશ્વર અને પુરીના મંદિરો જેવાં શિખરોના ઘાટનો પ્રારંભિક પ્રકાર સૌરાષ્ટ્રનું રાણકમંદિર અને ઘૂમલીનું એક દેવમંદિર જણાય છે. કચ્છમાં કેરા, કોટાઈ વગેરે મંદિરો નવમા સૈકાના નમૂના છે. પણ પછીથી ગુજરાત, રાજસ્થાન અને કલિંગના શિલ્પીઓએ સ્થાપત્ય અને તેની કળાઓને વિશાળ સ્વરૂપ આપી જે નવીન અને અનેરી ઉપજાવી છે તેની આગળ ઓરિસ્સાના મંદિરો પણ જેવાં તોતિંગ લાગે છે.

રાજસ્થાન અને ગુજરાતમાં દસમી સદીમાં રાજપૂત રાજ્યો થયાં. તેઓના દેવમંદિરો, રાજમહેલો, ધર્મશાળા, કિલ્લાઓ બાંધવાની એક અપૂર્વ હરીફાઈ ચાલી હોય એમ દેખાય છે. ભીમદેવ સોલંકીએ ગુજરાતમાં ૨૬ મહાલયનું મોઢેરાનું મંદિર શરૂ કર્યું તે વખતે સ્થાપત્યમાં ગુપ્તમંદિરમાં ફેરફાર થયો અને સોલંકીઓની પ્રગતિ હતી. શૈલીઓ કદાચ દક્ષિણના સ્થપતિઓ કે રૂપવિધાનના ચાલ્યા હશે એવું એ સમયના ગણી, ચોલકાળના શિલ્પો અને રાણીઓની મૂર્તિઓ પરથી ધારી શકાય. પરંતુ મંદિરને ઊંચું ઊંચું ગગનચુંબી શિખર કરવું એ વિચાર તો ઉત્તર ભારતનો જ હતો. નવાં રાજ્યોની સ્થાપના સાથે શાસિત્રમાં પણ ક નારી મેલ પ્રજાએ નગરોની નવોજવાણીમાં સારો ભાગ ભજવ્યો હશે અને ઉપયોગી સમાજ તરીકે પણ આદર પામ્યા હશે. વળી, વર કે વિષ્ણુના ઉપાસક રાજ્યોએ તેમને કદી ઉપદ્રવ થયો જાણવામાં નથી. તેના ધર્મસ્થાન કરવાના અને વ્યવસ્થા કરવામાં સહાય હોય અનેકવાર રાજ્યકર્તાઓને આપત્તિ વખતે સહાયતા કરનારા હતા. એ પણ વનરાજ ચાવડાના સમયથી સુવિદિત છે. ગુજરાતના નવા પાટનગરો — શહેરો વસ્યાં ત્યારે તેમાં આગળ પડીને આગેવાની કરનાર જૈન સમાજ હતા. તેમની વ્યાપારકુશળતા અને આત્મકલ્યાણના અનુભવે તેમાંના કેટલાક ક્રમે ક્રમે ગુજરાતના રાજપુરુષો, મુત્સદ્દીઓ અને ધનાઢ્ય વેપારીઓ થયા. અન્ય સમાજોની ધાર્મિક સંસ્થાઓ અને મંદિરો જેનાથી સચવાતા અને નભતા તે જનસમાજ ભક્તિ થયા તથા ઉપેક્ષા પામ્યા. તેમના નિર્વાહ કે મરામત માટે ખર્ચ કરનાર કોઈ રહ્યું નહિ ત્યારે જૈનધર્મના શ્રીમંતો અને વેપારીઓએ દેરાસર પોતાની સંપત્તિ આપી શિલ્પકળાનો પ્રચાર કર્યો છે.

૧૧મી સદીના પરદેશી હુમલાથી ઉત્તર ભારત પાદાક્રાન્ત થઈ ગયો હતો, રાજ્યકુળો જડમૂળથી ઉખડી ગયા હતા અને પ્રજાના મોટા સમુદાયો દક્ષિણ તરફ ભાગી છૂટ્યા હતા તે વખતે ધર્મદ્વેષથી પણ પરદેશી સૈન્યોએ દેવમંદિરો, પ્રતિમાઓ અને ગ્રંથોનો સર્વનાશ કરવાનો નિર્ધાર કર્યો હતો

આવા વિકટ સમયમા કલા કારીગરી પર નભતા સમાજનો તો શો આશરો? પણ ગઝનીના ધાડા પાછા વળ્યા કે તુરત જ આબુ, શત્રુંજય અને ગિરનાર ઉપર શિલ્પીઓનાં ટાંકણાના તાલ પડવા લાગ્યા અને જૈનધર્મના દેવમંદિરો પહેલાની જેમ આરતીપૂજાથી ગાજી રહ્યા

જૈન સંપ્રદાયનુ એક વિશેષ સુન્દર કાર્ય એ છે કે ખંડિત થયેલ મંદિર કે પ્રતિમાની પુનઃ પ્રતિષ્ઠા કરી તેને ઉપયોગમા લઈ શકાય છે આથી પૂર્વજોએ કરેલા કીર્તિકાયા સચવાઈ રહે છે અને પ્રજાના કલાસંસ્કારને પૂર્તિ આપે છે આ રીતે શત્રુંજય, આબુ, ગિરનાર, રાણકપુર વગેરે જૈન પ્રજાના જ નહિ પણ સકલ ભારતવર્ષના કીર્તિધ્વજસમા મોજૂદ છે

આબુનુ સૌથી જૂનુ મંદિર સં ૧૦૮૮મા ભોળા ભીમદેવના મહામંત્રી વિમળશાહે બંધાવ્યુ હતુ અને બીજા મંદિરો ઈ સ ૧૨૩૦ના અરસામા વાઘેલાના મંત્રીઓ વસ્તુપાળ તથા તેજપાળે બંધાવ્યા

આબુ દેલવાડાના મંદિરો

આ મંદિરોનુ બાંધકામ ધોળા આરસથી કરેલું છે આસપાસ વીસ કે ત્રીસ માઈલ પર આરસની કોઈ ખાણ નથી એટલે વણે દૂરથી આટલો પથ્થર ઉપર પર્વત ચડાવવાનુ કામ કરવામા અપાર ખર્ચ અને શ્રમ લાગ્યા હશે પણ જૈન કોમ ધર્મના કાર્યમા ખર્ચ કે સમયનો હિસાબ રાખે નહિ એવી પ્રથા એ વખતે હશે અને તેથી જ શિલ્પ કલાધરોએ તેના નિર્માણમા જે નૈપુણ્ય તથા નવીન પ્રકારોની અજબ સૃષ્ટિ અદ્ભુત ધીરજ અને ઝીણવટથી આકારબદ્ધ કરી છે તે જગતના સર્વ પ્રવાસીઓને અને કલાકારોને વિસ્મયમુગ્ધ કરી દે છે

આ મંદિરોની કલામા ગુજરાતના શિલ્પીઓએ આઠમી સદીના ખજુરાહોના મંદિરો કરતા જે વિશેષતા કરી છે તે તેના રંગમંડપની રચના છે તે પહેલાંના રંગમંડપોની છત ચારેપાસની દીવાલો પર ટકાવવામા આવતી અને તેની ઉપર નાનુ મેરુ ઘાટનુ શિખર થતું મંડપને કદી કદી અંદરથી બે બાજુ જાળિયા અથવા વિમાનવાટના ગવાક્ષો કે ઝરૂખા મૂકવામા આવતા પરતુ ગુજરાતના શિલ્પીઓએ આઠ થાંભલા પર ગોળાકારે લાંબી શિલાઓ ગોઠવી ઉપરથી અડાસ મારી ધીરે ધીરે નાના થતા ગોળ વર્તુળોનો ઉપર મળી જતો ઘુમ્મટ રચ્યો તેમા ય જગતને અપાર આશ્ચર્ય કરાવતુ નકશીદાર આરસનુ ઝુમ્મર જેને મધુચ્છત્ર કહે છે તે ગુજરાતના શિલ્પીઓનુ નાવીન્ય છે મંદિરની રચનામા દ્વારમંડપ, શૃંગારચોકી, નવચોકી, ગૂઢમંડપ, ગર્ભગૃહ, તોરણ શિખર, મંગળ ચૈત્ય વગેરે વિભાગોવાળો શિલ્પવિસ્તાર છે

રંગમંડપના સ્તંભો પર વિવિધ વાદ્યો સહિત ઊભી રાખેલી અપ્સરાઓ, વિદ્યાધરીઓ, નર્તિકાઓ, સ્તંભો પર સમોસરણ તથા ભીંતો અને છતો પર કોરેલાં ઋષભદેવના જીવનપ્રસંગો, નાગપ્રબંધ, અનેક શરીર છતા એક મસ્તકવાળુ માનવપ્રબંધ એ બધુ શિલ્પકલાનો વ્યાપક સમાદર બતાવે છે

જૈન સંપ્રદાયમા જાણે એ કાળે એવી માન્યતા હશે કે મંદિરમા કોઈ ઠેકાણે સપાટ પ્રદેશ ભીંત કે છતમા ખાલી રખાય નહિ એના દૃષ્ટાંત તરીકે દેરાણી-જેઠાણીનો ગોખ બતાવવામા આવે છે કિંવદન્તી પ્રમાણે કારીગરોને આગળ કામ કરી શકે માટે વધુ વધુ કોતરી ધૂળ લાવે તેની ભારોભાર રૂપુ કે નાણુ મળતુ, એનુ રહસ્ય એટલુ જ કે કલાકારીગીરી માટે દેવમંદિરમા દ્રવ્યનો સંકોચ લેશભાર નહોતો થતો સામાન્ય જનને તો એ દેવસૃષ્ટિમા ગયાનો આનંદ થાય અને સંસ્કારીને કલાની સમાધિ લાગે એવા એ કાર્યો નિઃશંક બન્યા છે

આબુની પ્રશસ્તિ જેવા શિલ્પવૈભવ માટે ખ્યાત છે તો મારવાડના રાણકપુરના મંદિરમાં ૪૨ સ્તંભોની રચના, સુમેળ અને મંદિરનો અદ્ભુત પ્રભાવ આ [illegible] સ્થાનોમાં [illegible] આવે છે.

રાણકપુર

મંદિરને ઉન્નત સ્વરૂપ આપવાની યોજના, બે ભાગથી [illegible] વધારવા મેઘનાદ મંડપ નામનો પ્રકાર ભારતીય સ્થાપત્ય રચનામાં સ્વતંત્ર [illegible] ઉમેરો જ છે અને સ્તંભો દ્વારા આકાશના શિલ્પીઓએ રચનામાં અને શિલ્પોનાં કલાધારા જેમ તે જ પ્રમાણે મેઘનાદ માટે ઉપરના ભાગના સ્તંભોમાંથી કલાધારા સાથે ભવ્યની ઉંચાઈ વધારી આપી.

પવિત્ર, સ્વચ્છ અને જનસમાજથી અલગ શાંત વાતાવરણ મેળવવા માટે ગિરિનિવાસનું માહાત્મ્ય ભારતમાં પુરાણપ્રસિદ્ધ છે. પણ તેનો મોટો ઉપયોગ કરવામાં જૈન સમાજે શત્રુંજયનાં શિખર ઉપર મંદિરોની નગરી કરીને અજોડ કરી બતાવી છે.

શત્રુંજય, ગિરનાર અને તારંગા

શ્રી [illegible] પાલીતાણા આગળ આવેલ [illegible] ફૂટ ઊંચી ટેકરી ઉપર માનવીની સાધનાએ [illegible] અજબ કલા સર્જ્યું છે તેનો જોટો અન્ય નથી. પુણ્યપ્રાપ્તિ માટે મંદિર બંધાવવા જેવું કોઈ કાર્ય નથી એવી દૃઢ માન્યતા જૈનોમાં હોવાથી લગભગ [illegible] મંદિરો કોઈ એક જ યોજનાના ગમથી બન્યાં છે. સ્વાભાવિક રીતે ધનવાનો પોતાનું નામ અમર રહે માટે મંદિરના [illegible] એટલું [illegible] કરે છે. આ મંદિરોનો ખરેખરો રચનાકાળ નિશ્ચિત નથી. કોઈ તો જરૂર ૧૧મા સૈકાનું હશે. પરંતુ ૧૪મા–૧૫મા સૈકા ત્યાં [illegible] મુસલમાનોથી ખંડિત થયેલાં તેનો જીર્ણોદ્ધાર કરતાં પહેલાના [illegible] નથી. પણ [illegible] નીચે પણ [illegible] છે. પણ આ મંદિરો ૧૬મી ૧૮મા સૈકા સુધીના અનેક [illegible] સ્થાપત્ય નિર્માણના નમૂના ગણી શકાય છે.

[illegible] પ્રતિમાઓ અને શિલ્પોનું [illegible] તથા [illegible] જરૂર છે. પણ તેમાં પરંપરા [illegible] છે એટલે [illegible] માટે આ [illegible] છે. જો કોઈ [illegible] તેના [illegible] અને [illegible] શિલ્પો સાથે તૈયાર કરી શકે તો સ્થાપત્યનું એક અનેરું પુસ્તક થાય.

ગિરનાર અને તારંગાના મંદિરોની [illegible] છે. [illegible] શિલ્પીઓએ તેમના [illegible] કીર્તિ [illegible] છે. [illegible] અને [illegible] જિનમંદિરો છે તેનું [illegible] જીર્ણોદ્ધારને નામે આ [illegible] અને [illegible] છે. [illegible] પ્રાચીન પ્રસિદ્ધ મંદિર [illegible] તેની [illegible] છે અને [illegible] રચના [illegible] છે. આ [illegible] જીર્ણોદ્ધાર [illegible] તો [illegible] પ્રાપ્ત થાય.

મંદિરોના [illegible] અને શિલ્પીઓ [illegible] અને [illegible] સુધી [illegible] મંદિરો, પ્રતિમા અને [illegible] અને અન્ય [illegible] જેવા કે [illegible], ધાતુપ્રતિમાઓ, [illegible] ૧૯મી સદી [illegible] વર્ણન [illegible] છે.

સંગેમરમર અને રંગકામ પાછળ તમામ મંદિરોનો ખર્ચ કુલ વર્ષે એંશી-પંચાશી લાખ રૂપિયા થવા જાય છે એમ એક સંભાવિત વ્યક્તિએ કહ્યું હતું તેમ હોય તો જૈન કોમ આ કાર્ય માટે પૂર્ણ અભ્યાસી શાસ્ત્રજ્ઞ કુશળ કલાકાર ને નિરીક્ષકો નીમીને ફરી પૂજ્ય સ્થાનોની પ્રતિષ્ઠાનું રક્ષણ કરી શકે છે

રંગ અને ચિત્રની હકીકત પર આવતા મંદિરોમાં થતું ચિત્રકામ અને રંગકામ આજકાલના સુસંસ્કારી જનની રુચિને સંતોષે એવું થતું નથી કારણ કે તેમાં કોઈ પ્રકારે જૈન કલાની પ્રાચીન શિષ્ટતા કે પરિપાટીનો સંભાસ કે અસર નથી આધુનિક બજારુ રમકડા જેવા રંગરાગ અને ભેંકારા સંગીતમાંથી કોમની પ્રજાને કયા સંસ્કાર અને સદ્‌ગુણોની પ્રાપ્તિ થશે એ માનસશાસ્ત્રનો પ્રશ્ન બને છે પણ ગુજરાતને ગૌરવ લેવા જેવી હકીકત એ છે કે ભારતવર્ષમાં અજંતા પછી ૧૧મી સદીથી અપભ્રંશ થયેલી કલાનું એક મોટું આશ્રયસ્થાન ગુજરાત અને મારવાડ હતું મોટે ભાગે ૧૩મીથી ૧૬મી સદીના કલ્પસૂત્રો અને કાલક કથાના હસ્તગ્રંથોમાં જ એ કલાના અવશેષો સચવાયેલા મળ્યા હતા, અને તેથી જ વિદ્વાનો ભારતીય કલાના ઇતિહાસની ખૂટતી કડીઓ મેળવી શક્યા છે અને ૧૯૧૦માં આરંભાયેલ સંશોધન પ્રવૃત્તિમાંથી આજે એ ફલિત થયું છે કે એ કલા રાજસ્થાન, નેપાળ, બંગાળ અને દક્ષિણ સુધી વિસ્તરી હતી પણ મોટું સરોવર સુકાઈ જતા છેવટનું જળ જેમ એક મોટા ખાડામાં સચવાઈ રહે તેમ ગુજરાતના ધનાઢ્ય જૈન સમાજે એ કલાને ગ્રંથભંડારોમાં સાચવી રાખી હતી અને ધર્મ સંબંધથી પ્રેરિત એ પ્રકારની પરંપરા અને રૂઢિનું રક્ષણ કર્યું હતું અને હવે તે નવા યુગના કલાકારોના તેમ જ વિદ્વાનોના અભ્યાસમાં એક અગત્યનું પ્રકરણ બની ચૂકી છે

એના પ્રચાર અને પરિશીલન માટે સુંદર પ્રકાશનો કરવાનો યશ અમદાવાદના એક તરુણ ગૃહસ્થ શ્રી સારાભાઈ નવાબને આપીશું

ગ્રંથસ્થ કલાના નમૂના ઉપરાંત એમણે આઠમી સદીની જિન ધાતુ પ્રતિમાઓનું સંશોધન અને સંગ્રહ કરી દક્ષિણ ભારતની ધાતુ પ્રતિમાઓની બરોબરી કરે એવો એક કલાપ્રદેશ પ્રકાશમાં આણ્યો છે

કાષ્ઠ શિલ્પના ઉત્તમોત્તમ નમૂના પાટણના ગૃહમંદિરો કે ઘરદેહરાસરો છે આ અપૂર્વ ભારતીય શિલ્પકૃતિઓની નિકાસ કે વેપાર પર અટકાયત મુકાવી જોઈએ મંદિરોના નાના નમૂનાઓ ઉપરાંત કાષ્ઠ શિલ્પીઓએ જૂના મંદિરોની છતોમાં કાષ્ઠ પૂતળીઓ, નકશીઓ, પ્રસંગો અને નકશીદાર સ્તંભો કોતર્યાં છે એ આરસના તક્ષણની પૂરી સ્પર્ધા કરે છે

પાટણ અને અમદાવાદમાંથી અનેક કલાશિલ્પની અપ્રાપ્ય વસ્તુઓ પરદેશના સંગ્રહાલયોમાં પહોંચી ગઈ છે એ માટે હવે સૌ જૈન કલાપ્રેમીઓને ખેદ થવો જોઈએ અને હવે પછીથી એવી વસ્તુઓ મેળવવા ઉદાર દાનફંડમાંથી તેની ખરીદી કરી સંગ્રહ રચવો જોઈએ, જેથી પ્રજા જૈનકલા માટે સુયોગ્ય રીતે ગૌરવ લઈ શકે ઉપરાંત કુશળ અને કલાવિદ્ વિદ્વાનો પાસે એ વસ્તુઓની પરીક્ષા, કદર અને નોંધ કરાવી ઉત્તમ ચિત્રો સાથે તેના ગ્રંથો પ્રજા સમક્ષ મૂકવાથી જૈનકલાની સંપૂર્તિમાં યશકલગી ઉમેરાશે



આબુની પ્રશસ્તિ તેના શિલ્પવૈભવ માટે પાત્ર છે તો [illegible] રાણકપુરના મંદિરના [illegible] સ્તંભોની રચના, સુમેળ અને મંદિરનો ભવ્ય [illegible] આ નવા [illegible] સ્થાનોમાં [illegible]

રાણકપુર મંદિરને ઉન્નત સ્વરૂપ આપવાની યોજના, એ [illegible] વધારવા [illegible] પ્રકાર ચાતુર્મુખ સ્થાપત્ય [illegible] સાથ [illegible] છે અને [illegible] આજના શિલ્પીઓએ રચનામાં જ્યારે શિલ્પોનાં [illegible] એવા જ [illegible] મેઘનાદ મંડપે ઉપરના ભાગના સ્તંભોમાંથી દેવાંગનાઓ સાથે [illegible] વધારી આપી.

પવિત્ર, [illegible] અને જનસમૂહથી [illegible] મેળવવા માટે [illegible] [illegible] છે. [illegible] તેનો [illegible] ઉપયોગ કરવામાં [illegible] ઉપર મંદિરોની [illegible] નગરી [illegible] છે.

શત્રુંજય, ગિરનાર અને તારંગા સૌરાષ્ટ્રના પાલીતાણા [illegible] [illegible] છે તેનો [illegible] નથી [illegible] પુણ્યપ્રાપ્તિ માટે મંદિર બંધાવવા જેવું [illegible] નથી [illegible] હોવાથી લગભગ [illegible] મંદિરો [illegible] બન્યાં છે. [illegible] રીતે [illegible] પોતાનું નામ અમર રહે માટે [illegible] મંદિરોનો બરોબર રચનાકાળ નિશ્ચિત નથી. કોઈ તો જરૂર ૧૧મા સૈકાનું હશે પરંતુ ૧૪મા [illegible] તે [illegible] તેનો જીર્ણોદ્ધાર કરતાં પહેલાના જેવી મૂર્તિ રહી નથી [illegible] [illegible] છે. પણ આ મંદિરમાં [illegible] ૧૮મા સૈકા સુધીના અનેક [illegible] સ્થાપત્ય નિર્માણના નમૂના મળી આવે છે.

પાલીતાણાના [illegible] પ્રતિમાઓ અને શિલ્પોનું [illegible] તથા [illegible] છે. [illegible] તેમાં પરંપરા [illegible] રહી છે [illegible] અભ્યાસી માટે આ પણ સાધન છે. જો કોઈ [illegible] નકશા, નોંધ અને પુરાતત્ત્વના [illegible] રીતે ચિત્રો સાથે તૈયાર કરી શકે તો [illegible] અનેરું પુણ્ય થાય.

ગિરનાર અને તારંગાનાં મંદિરોની સ્થાપત્યરચના [illegible] છે. [illegible] શિલ્પીઓએ તેમના [illegible] કીર્તિ પર [illegible] છે. [illegible] અને [illegible] જિનમંદિરો છે તેનું [illegible] તો [illegible] રહ્યું પણ જીર્ણોદ્ધારને નામે [illegible] અને [illegible] બની ગયા છે. [illegible] પ્રાચીન પ્રસિદ્ધ મંદિર [illegible] તેની [illegible] વીતરાગ બની ગઈ છે અને [illegible] ઉપર [illegible] અને [illegible] છે. આ [illegible] સાથે [illegible] રૂપે રાણકપુર અને આબુનું જીર્ણોદ્ધાર [illegible] સ્વીકાર [illegible] તો જ [illegible] પાપોનું પ્રાયશ્ચિત્ત થાય.

મંદિરોના [illegible] અને શિલ્પીઓ જ્યાં સુધી [illegible] અને [illegible] ઉપાસકો હતા ત્યાં સુધી [illegible] [illegible] પ્રતિમા અને [illegible] અને [illegible] જેવા કે દીપસ્તંભો, [illegible] [illegible] સુધી [illegible] ઉપર [illegible] તેવા [illegible] થયા છે.

મરામત અને રંગકામ પાછળ તમામ મંદિરોનો ખર્ચ કુલ વર્ષે એંશી–પચાસી લાખ રૂપિયા થવા જાય છે એમ એક સંભાવિત વ્યક્તિએ કહ્યું હતું તેમ હોય તો જૈન કોમ આ કાર્ય માટે પૂર્ણ અભ્યાસી શાસ્ત્રજ્ઞ કુશળ કલાકાર ને નિરીક્ષકો નીમીને ફરી પૂજ્ય સ્થાનોની પ્રતિષ્ઠાનું રક્ષણ કરી શકે છે

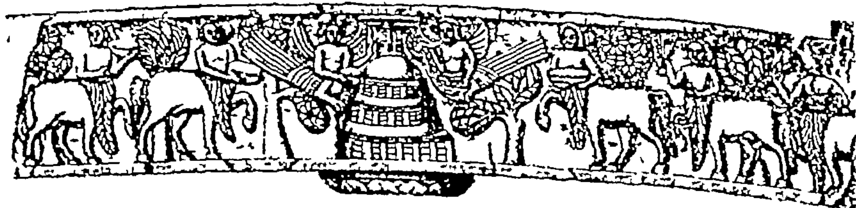
રંગ અને ચિત્રની હકીકત પર આવતાં મંદિરોમાં થતું ચિત્રકામ અને રંગકામ આજકાલના સુસંસ્કારી જનની રુચિને સંતોષે એવું થતું નથી કારણ કે તેમાં કોઈ પ્રકારે જૈન કલાની પ્રાચીન શિષ્ટતા કે પરિપાટીનો સભાસ કે અસર નથી આધુનિક બજારુ રમકડાં જેવા રંગરાગ અને બેંડરાગ સંગીતમાંથી કોમની પ્રજાને કયા સંસ્કાર અને સદ્ગુણોની પ્રાપ્તિ થશે એ માનસશાસ્ત્રનો પ્રશ્ન બને છે પણ ગુજરાતને ગૌરવ લેવા જેવી હકીકત એ છે કે ભારતવર્ષમાં અજંતા પછી ૧૧મી સદીથી અપભ્રંશ થયેલી કલાનું એક મોટું આશ્રયસ્થાન ગુજરાત અને મારવાડ હતું મોટે ભાગે ૧૩મીથી ૧૬મી સદીના કલ્પસૂત્રો અને કાલક કથાના હસ્તગ્રંથોમાં જ એ કલાના અવશેષો રહાયેલા મળ્યા હતા, અને તેથી જ વિદ્વાનો ભારતીય કલાના ઇતિહાસની ખૂટતી કડીઓ મેળવી શક્યા છે સને ૧૯૧૦માં આરંભાયેલ સંશોધન પ્રવૃત્તિમાંથી આજે એ ફલિત થયું છે કે એ કલા રાજસ્થાન, નેપાળ, બંગાળ અને દક્ષિણ સુધી વિસ્તરી હતી પણ મોટું સરોવર સુકાઈ જતાં છેવટનું જળ જેમ એક મોટા ખાડામાં સંચવાઈ રહે તેમ ગુજરાતના ધનાઢ્ય જૈન સમાજે એ કલાને ગ્રંથભંડારોમાં સાચવી રાખી હતી અને ધર્મ સંબંધથી પ્લુત એ પ્રકારની પરંપરા અને રૂઢિનું રક્ષણ કર્યું હતું અને હવે તે નવા યુગના કલાકારોના તેમજ વિદ્વાનોના અભ્યાસમાં એક અગત્યનું પ્રકરણ બની ચૂકી છે

એના પ્રચાર અને પરિશીલન માટે સુંદર પ્રકાશનો કરવાનો યશ અમદાવાદના એક તરુણ ગૃહસ્થ શ્રી સારાભાઈ નવાબને આપીશું

ગ્રંથસ્થ કલાના નમૂના ઉપરાંત એમણે આઠમી સદીની જિન ધાતુ પ્રતિમાઓનું સંશોધન અને સંગ્રહ કરી દક્ષિણ ભારતની ધાતુ પ્રતિમાઓની બરાબરી કરે એવો એક કલાપ્રદેશ પ્રકાશમાં આણ્યો છે

કાષ્ઠ શિલ્પના ઉત્તમોત્તમ નમૂના પાટણનાં ગૃહમંદિરો કે જે વરદહેરાસરો છે આ અપૂર્વ ભારતીય શિલ્પકૃતિઓની નિકાસ કે વેપાર પર અટકાયત મુકાવી જોઈએ મંદિરોના નાના નમૂનાઓ ઉપરાંત કાઠ શિલ્પીઓએ જૂના મંદિરોની છતોમાં કાષ્ઠ પૂતળીઓ, નકશીઓ, પ્રસંગો અને નકશીદાર સ્તંભો કોતર્યા છે એ આરસના તક્ષણની પૂરી સ્પર્ધા કરે છે

પાટણ અને અમદાવાદમાંથી અનેક કલાશિલ્પની અપ્રાપ્ય વસ્તુઓ પરદેશના સંગ્રહાલયોમાં પહોંચી ગઈ છે એ માટે હવે સૌ જૈન કલાપ્રેમીઓને ખેદ થવો જોઈએ અને હવે પછીથી એવી વસ્તુઓ મેળવવા ઉદાર દાનફંડમાંથી તેની ખરીદી કરી સંગ્રહ રચવો જોઈએ, જેથી પ્રજા જૈનકલા માટે સુયોગ્ય રીતે ગૌરવ લઈ શકે ઉપરાંત કુશળ અને કલાવિદ્ વિદ્વાનો પાસે એ વસ્તુઓની પરીક્ષા, કદર અને નોંધ કરાવી ઉત્તમ ચિત્રો સાથે તેના ગ્રંથો પ્રજા સમક્ષ મૂકવાથી જૈનકલાની સંપૂર્તિમાં યશકલગી ઉમેરાશે



આબુની પ્રશસ્તિ તેના શિલ્પવૈભવ માટે ખાસ છે તો ખાસ્સા ના ગજ્જાપ્રમાણ મંદિરમાં જે સ્તંભોની રચના, સુમેરુ અને મંદિરનો ચાયત્ય પ્રમાણ અને તેના સ્થાપત્ય ધ્યાનોમાં જે આવે છે

રાણકપુર મંદિરને ઉન્નત સ્થાન આપવાની જે તેના બે ભાગથી અનન્ય વધ રચના મંદિર ખાસ નામે પ્રકાર આર્યાવર્ત સ્થાપત્ય અનામાં સ્વસ્તિની મુદ્રિનો પ્રકાર ૮ છ અને ભાગો છે આજ્ઞાના શિલ્પીઓએ રચનાપ્રમ માટે ધ્યાનોનાં દ્વારા તે એમાં તે જ પ્રકારે મેરુતલ માપે ઉજ્જ્વલ મંદિર સંભોમાંથી દ્વારપ્રદ ભારે નામની ઉત્કૃષ્ટ ગતિ થઈ છે.

ચતિવ, સ્ત છ અને તલમાંથી ભવ્ય ભાવ વાસ્તવ્યનું નગરના માટે શિલ્પસ્થાપત્યનું આધ્યાત્મ ભાવના પૂર્ણપણે મિશ્ર છે પણ તેના મ પણે ઉપયોગ કાર્યમાં તે પ્રમાણે તત્ત્વમાં શિલ્પ ઉપર મંદિરોની જ નગરી કરીને આદિ કરી ભરાયી છે

શત્રુંજય, ગિરનાર અને તારંગા મ ત્યાગ પ્રાચીન અને આદર મ એ ૮૨ ૧૨ મંદિરો તેરી ઉપર મનનીની સમ સમે ૮ અધ્યાય દરેક ૫ છે તેના દેરા ભાગ નથી પુરાતત્ત્વ માટે મંદિર જાળવવા તેનું કાર્ય થાય નહીં એવી દર આજના જમાનામાં

લોકોથી લગભગ ૧ ખાના ૬ મંદિર ૧ કાર્ય એક જ નવું થયા ગ્રંથમાં નથી છે સાધારણ રીતે બાંધેલાં પોતાના નામ અમર રહે માટે મંદિર ના શોભા ઉમ્મરનારાથી ખરચ ખાસ એ ૫ બાબ કરે છે આ મંદિરના ઓરડાનો સ્થાનક નિશ્ચિત નથી કોઈ તો ૧૨ ૧૧મા સૈકાનું હશે પરંતુ ૧૪મા ૧૫મા સૈકાના ચિત્રો દરવાજાઓથી મળી આવેલા તેનો ઉદ્ધાર ૬ ની પરંપરા તેની મુદ્રિ સહી નથી પડે કેમકે જરાજનને કારણે પ્રાચીનતાના લેખન નીચે પણ ભરાઈ ગયું છે પણ આ મંદિરમાં ૧૧મી ૧૨મા સૈકા સુધીના અનેક મંદિરના સ્થાપત્ય નિર્માણના નમૂના મળી આવે છે

પાછળના કાળમાં પ્રતિમાઓ અને શિલ્પોનું સ્થાન તથા નાશીના ઉપર નજરમાં આવ્યું છે પણ તેમાં પરંપરા વિશુદ્ધ રહી છે એટલે પુનરુદ્ધારના આનંદથી મારે ગમે પણ ખાસ છે જો કોઈ પ્રયોગ માટે તેના નકશા, નીચે અને પુરાતત્ત્વના મધ્યયુગ રીતિ શિલ્પ સામે તૈયાર કરી શકે તો આખાનું એ અનેનું પુનરા થાય

ગિરનાર અને તારંગાના મંદિરોની સ્થાપત્યકલા વિષયમાં ઘણી મુદ્રિકા આપણો છે ઉત્તમ સમુદ્ર કાળના અજાણ શિલ્પીઓએ તેમના પ્રસંગોની કીર્તિ પર અમર ભાવ છે આપણાથી અને કંઈ જે શિલ્પશ્રેષ્ઠિઓ છે તેનું આધાર રહે તો ખાસ છું પણ ઉદ્ધારકને નામે આરસ અને શિલ્પની નમૂનારો ભાગ કાયમ કર્યા નથી થયા છે મુગ આગમનું ઓઢવાનું પ્રાચીન પ્રસિદ્ધ મંદિર અત્યારે નષ્ટપ્રાય થઈ ગયાં છતાં મૂળના આવ્યાથી સમ્પ્રદાયની મુગની જેમ નીલરત્ન બની ગઈ છે અને દરેક ભાગો પર સ્થાપત્ય ની મ મો અને અમોલ પ્રમાણના બેહદ દેખાય છે આ આરોપની સામે અત્યારના ઉપાયો રૂપે રાણકપુર અને આબુનું ઉદ્ધાર કામ મળી શક્યું એનું ઉદ્ધરણ સર્વત્ર સ્વીકાર પામે તો જ આપણા પાપોનું પ્રાયશ્ચિત્ત થાય

મંદિરોના દાનવીરો અને શિલ્પીઓ જ્યાં સુધી અમર અને શિલ્પના ઉપાસકો હતા ત્યાં સુધી તેમ પ્રમાણે સર્વેત્ર મંદિરો, પ્રતિમા અને આભરણો અને અન્ય પદાર્થો જેવા કે દીપસ્તંભો, ધાતુપ્રતિમાઓ, દીવીઓ વગેરેમાં એક રમ્ય અને કલાત્મકતા રહી હતી પણ ૧૬મી સદી પછી શિલ્પ વર્તમાન વર્ગ એ ઉપાસો શુદ્ધ થયા અને આજે જે બ્લાક તેવા દાન પડે તેમને થયા છે

કર્મને આભારી સસારત્વ છે એમ પ્રતિપાદી તમામ પ્રાણ, જીવ, ભૂત અને સત્ત્વને સમકક્ષ બનાવ્યા છે ને ઉચ્ચ, નીચનો ભેદ ટાળ્યો છે, વર્ણ અને જ્ઞાતિના વિચારને બહિષ્કૃત કર્યા છે અને સ્ત્રી-પુરુષના એકસરખા અધિકારની હિમાયત કરી છે આ રીતે કરેલી જગત્ પ્રત્યેની જૈન ધર્મની અપૂર્વ સેવા ઉવેખવા કે હામી કરવા જેવી તો છે જ નહિ, પરંતુ સન્માનવા જેવી છે વર્તમાનમા ચાલી રહેલ ભીષણ તાડવને ખાળવાની અને અરાજકતાને સ્થાને સુરાજ્ય સ્થાપવાની, મારામારી અને કાપાકાપીને નાબૂદ કરવાની, શોષણ, લાચ, રુશવત વગેરે બદીઓને નિર્મૂળ કરવાની, એકને ભોગે બીજાની જીવવાની અસદ્ વૃત્તિને વિદાય આપવાની શક્તિ કે કામયાબી કોઈપણ પ્રચલિત સસ્કૃતિમા સાપ્રતમા હોય તો તે કેવળ જૈન સસ્કૃતિમા છે નીતિની નાદારીને દેવાળુ કાઢતા બચાવનાની અને કાચી પડના જતી આસામીને ફડચામા નહિ જવા દેતા ટકાવી રાખવાની સપૂર્ણ યોગ્યતા જૈન ધર્મ પ્રતિબોધિત અને પ્રરૂપિત અહિંસાના, કર્મવાદના, અનેકાતના અને પચમહાવ્રતોના તત્ત્વોમા છે આ સસ્કૃતિના હાર્દને સમજ્યે અને પચાવ્યે જ વર્તમાન ભ્રાન્ત અને મદમત્ત જગતનો છુટકારો છે—આ સસ્કૃતિમા એના ઉન્નાયક તત્ત્વો છે એ કારણે

જૈન ધર્મની પ્રાચીનતા પુરવાર કરતો બડલીનો શિલાલેખ મોજૂદ છે શ્રેણિક, ચદ્રગુપ્ત, બિંદુસાર, અશોક, સપ્રતિ, ખારવેલ, વિક્રમાદિત્ય, મુજ, ભોજ વગેરે વગેરે ઐતિહાસિક રાજાધિરાજાઓએ જૈન ધર્મને સપૂર્ણ અપનાવ્યો હતો અથવા તો વેગ આપ્યો હતો સિદ્ધરાજ, કુમારપાળ વગેરેએ તો જૈન ધર્મની સારી એવી પ્રભાવના કરી હતી એ તો હવે કયા છાની વાત રહી છે? જૈન ધર્મ દક્ષિણમા પણ પોતાના પ્રભાવનો પ્રસાર સારો કર્યો હતો મહાપ્રતિભાશાળી જૈન સાહિત્યકારોએ, કવિવર્યોએ બીજાઓને મોમા આગળી ઘાલવી પડે એવી સાહિત્યની ચિરંજીવ કૃતિઓનુ નિર્માણ કર્યું છે સ્થાપત્યના, ચિત્રકળાના, સાહિત્યના—ટૂકમા બુદ્ધિના એકેએક પ્રદેશમા જૈન સાધુઓએ અને શ્રાવકોએ નિર્દોષ વિહાર કરી બતાવી જગતમા નામ સ્થાપ્યુ છે, કાઢ્યુ છે વસ્તુપાળ, તેજપાળ, જગડુશા, ભામાશા વગેરે દાનવીરોએ ફોર્ડ કે રોકફેલરને ભુલાવી દે એવુ કરી બતાવ્યુ છે જૈન ધર્મની અને સસ્કૃતિની જગતને આ દેણ છે એની પુરાણી યશોગાથાને અહીં સ્પર્શવામા કફાશ મારવાનો કોઈ અપ્રશસ્ત હેતુ નથી, પરતુ એ ધર્મ અને સસ્કૃતિ મહાપ્રાણવાન, સત્ત્વશાળી સસ્કૃતિના બીજ ધરાવે છે એ તરફ કેવળ અગુલિનિર્દેશ જ કરવાનો હેતુ છે

સાધુ, સાધ્વી, શ્રાવક, અને શ્રાવિકા—આ ચાર ચતુર્વિધ જૈન સઘના એકમ, ઘટક પહેલા બેને પાળવાનો ધર્મ તે અણગાર ધર્મ અને બીજા બેનો તે આગારધર્મ પોતપોતાના કર્તવ્યપાલનની મર્યાદામા રહી એ ચારે ય આત્મોન્નતિ સાધી સપૂર્ણ દશાએ પહોચી શકે છે એ ચારેયે અમુક જ સ્થિતિ અવશ્યમેવ પ્રથમથી સ્વીકારવી જોઈએ એવુ કાઈ નથી પોતપોતાની મર્યાદાના વર્તુળમા રહી, સદાચાર સેવી, વિકાસ વધારતા વધારતા અતે છુટકારો મેળવી શકે આ ઔદાર્યનો દાખલો છે સકુચિત નહિ પરતુ વિસ્તારિત—તદ્દન વિસ્તારિત દૃષ્ટિનુ આ ઉદાહરણ કહેવાય સાધુ અને શ્રાવકના ધર્મનુ નિરૂપણ પારિભાષિક હોઈ અહીં અપ્રસ્તુત છે સયમ અને તપ દ્વારા અશુદ્ધિઓનુ પરિમાર્જન કરવાની પરમ આવશ્યકતા બન્નેમા નિર્ધારાઈ છે વશપરપરાથી કે પેઢીનુપેઢીથી આચાર્ય કે એવા કોઈ પદની પ્રાપ્તિ થતી નથી આચાર્યના ગુણ ધરાવતો હોય તો જ આચાર્ય કહેવાય, વય કે લિંગ આદરનું સ્થાન નથી, ગુણની જ પ્રતિષ્ઠા કરવામા આવી છે જૈન ધર્મ રૂઢિચુસ્ત નથી પણ વેગવાન્ વિકાસમા જ માનનારો છે એનું જ્વલત પ્રતીક આથી બીજુ કયુ હોઈ શકે? માત્ર જ્ઞાન કે માત્ર ક્રિયા—આ બન્ને એકાતો હોઈ એનો અસ્વીકાર કરવામા આવ્યો છે અને એને સ્થાને જ્ઞાનક્રિયા સમુચ્ચયવાદને મૂકવામા આવ્યો છે સાધુ-સાધ્વીએ

જૈન ધર્મ અને જૈન સંસ્કૃતિની કેટલીક લાક્ષણિકતાઓ

પ્રા૦ અમૃતલાલ સવચંદ ગોપાણી, એમ.એ., પીએચ.ડી.

આજ સંસ્કૃતિના નિર્માણ અને ઘડતરમાં વૈદિક અને બૌદ્ધ સંસ્કૃતિઓની જેમ અને એટલો જ જૈન સંસ્કૃતિનો પણ ફાળો છે. જૈન એટલે 'જિન'નો ભક્ત, અનુયાયી અને મન, વાણી તથા શરીર આ ત્રણે ય ઉપર જેણે સમ્યગ્ પૂર્ણ વિજય મેળવ્યો હોય તે 'જિન'. આ જિન પછી ગમે તે દેશનો હોય, ગમે તે કાળે થઈ ગયો હોય અને ગમે તે ક્રિયાનો હોય. આ એની ઉદારતાભર્યું ઉદાર વ્યાખ્યા છે. આમાંથી જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિની અનાદિતા સાવ સ્પષ્ટ થાય છે. જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિનો ઉદ્ગમ કોઈ પણ અન્ય ધર્મ કે સંસ્કૃતિમાંથી થયો નથી, એનું અસ્તિત્વ સ્વતંત્ર છે. ઐતિહાસિક પ્રમાણો અને પુરાણોમાં પુરાણ મનાતા શાસ્ત્રો અને ગ્રંથોમાં આવતા ઉલ્લેખો ઉપરથી આ વિધાન હવે અસંદિગ્ધ રીતે પુરવાર થઈ ચૂક્યું છે. એના ઉપર અન્યે, અને અન્ય ઉપર એણે પ્રભાવ અને સંસ્કાર નાખ્યા છે — આ બન્ને વસ્તુઓ સ્વીકારતી એકેએક સંસ્કૃતિઓ પારસ્પરિક અસરથી તદ્દન મુક્ત રહી શકતી નથી એ સિદ્ધાંત સર્વમાન્ય છે.

અહિંસા જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિનો પ્રાણ છે. એટલા માટે એને અહિંસા ધર્મ તરીકે પણ ઓળખવામાં આવે છે. એના મૌલિક સિદ્ધાંતો પૈકી કર્મવાદનો સિદ્ધાંત મોખરે છે. જન્મ અને મરણના ફેરાઓથી રચાતું સંસાર ભ્રમણ એ એક અનાદિ અનંત દુઃખ એને હિસાબે સમાન છે. આ દુઃખ કર્મજન્ય છે. ચોરાશી લાખ યોનિઓમાં ભમતો ભમતો, કર્મજનિત શક્તિ ખોતો આત્મા કર્મમુક્ત થઈ શકતો નથી એ મોક્ષ પ્રાપ્ત કરી આપવામાં ઈશ્વરાદિ કોઈ બાહ્ય તત્ત્વ નિમિત્ત કારણભૂત નથી પરંતુ આત્માએ પોતે જ સિદ્ધિ હાસલ કરવાની છે. એટલે એનામાં અનંત શક્તિનો સ્વીકાર કરવામાં આવ્યો છે. આત્મા પદાર્થની આજુબાજુ ગોઠવાયેલી ઉપર એને છુટકારો નથી. એ પોતે જ કર્તા, ભોક્તા અને હર્તા છે. પોતાના સુખ દુઃખ માટે કોઈને પણ એ જવાબદાર ન ગણી શકે. આમાં રાગ દ્વેષની પરિસ્થિતિનો પરિહાર સમાવિષ્ટ થઈ જાય છે. નિરાધાર ભિક્ષિત પુરુષાર્થનું સાધન પણ આ સિદ્ધાંતમાંથી જ સ્પષ્ટ થાય છે.

જીવ અને ચેતન આત્મા, અજીવ અને જડ—આ બે મુખ્ય તત્ત્વો સ્વીકારી, બીજાં સાત તત્ત્વોને—પુણ્યપાપાદિને—આ બેના અવાંતર ભેદો તરીકે સ્થાપી કુલ નવ તત્ત્વોની પ્રરૂપણા જૈન ધર્મે કરી છે.

જગતના સર્જક અને સંહારક તરીકે 'ઈશ્વર'ને સ્વીકારનાર ધર્મોની દૃષ્ટિએ જૈન ધર્મ નિરીશ્વરવાદી ગણાતો હોય તો ભલે ગણાય, પરંતુ નિરીશ્વરવાદી એટલે નાસ્તિક અને નાસ્તિક એટલે નીતિની આવશ્યકતા અને મૂલ્ય નહિ માનનાર એવો જો અર્થ કરવામાં આવતો હોય તો તે કેવળ ભ્રાન્ત, અયથાર્થ અને ગેરવાજબી છે. પાપ અને પુણ્યમાં અનીતિ અને નીતિના મૂલ્યાંકનો અન્તર્ગત જ છે. આ ખુલાસાની પણ જરૂર નથી.

પૃથ્વી, પાણી, તેજ, વાયુ આદિ ઈશ્વરકૃત નથી. તેઓનું અસ્તિત્વ પોતપોતાના આગવા નિયમોને આભારી છે. ઈશ્વરત્વ આ રીતે જૈન દૃષ્ટિને અનુકૂળ નહિ હોવા છતાં આત્મા પોતે પોતાનો જ પરમાત્મા બની શકે છે એ રીતે ઈશ્વરત્વનો એ સ્વીકાર પણ કરે છે.

કર્મને આભારી સંસાર છે એમ પ્રતિપાદી તમામ પ્રાણ, જીવ, ભૂત અને સત્ત્વને સમકક્ષ બનાવ્યા છે ને ઉચ્ચ, નીચનો ભેદ ટાળ્યો છે, વર્ણ અને જ્ઞાતિના વિચારને બહિષ્કૃત કર્યા છે અને સ્ત્રી-પુરુષના એકસરખા અધિકારની હિમાયત કરી છે આ રીતે ડગેલી જગત પ્રત્યેની જૈન ધર્મની અપૂર્વ સેવા ઉવેખવા કે હાંસી કરવા જેવી તો છે જ નહિ, પરંતુ સન્માનવા જેવી છે વર્તમાનમાં ચાલી રહેલ બીહામણુ તાંડવને ખાળવાની અને અરાજકતાને સ્થાને સુરાજ્ય સ્થાપવાની, મારામારી અને કાપાકાપીને નાબૂદ કરવાની, શોષણ, લાંચ, રુશ્વત વગેરે બદીઓને નિર્મૂળ કરવાની, એકને ભોગે બીજાની જીવવાની અસદ્ વૃત્તિને વિદાય આપવાની શક્તિ કે કામયાબી કોઈપણ પ્રચલિત સંસ્કૃતિમાં સાંપ્રતમાં હોય તો તે કેવળ જૈન સંસ્કૃતિમાં છે નીતિની નાદારીને દેવાળુ કાઢતા બચાવવાની અને કાચી પડતા જતી આસામીને ફડચામાં નહિ જવા દેતા ટકાવી રાખવાની સંપૂર્ણ યોગ્યતા જૈન ધર્મ પ્રતિબોધિત અને પ્રરૂપિત અહિંસાના, કર્મવાદના, અનેકાંતના અને પંચમહાવ્રતોના તત્ત્વોમાં છે આ સંસ્કૃતિના હાર્દને સમજશે અને પચાવશે જ વર્તમાન ભ્રાન્ત અને મદમત્ત જગતનો છુટકારો છે—આ સંસ્કૃતિમાં એવા ઉન્નાયક તત્ત્વો છે એ કારણે

જૈન ધર્મની પ્રાચીનતા પુરવાર કરતો બડલીનો શિલાલેખ મોજૂદ છે શ્રેણિક, ચંદ્રગુપ્ત, બિંદુસાર, અશોક, સંપ્રતિ, ખારવેલ, વિક્રમાદિત્ય, મુંજ, ભોજ વગેરે વગેરે ઐતિહાસિક રાજવિરાજાઓએ જૈન ધર્મને સંપૂર્ણ અપનાવ્યો હતો અથવા તો વેગ આપ્યો હતો સિદ્ધરાજ, કુમારપાળ વગેરેએ તો જૈન ધર્મની સારી એવી પ્રભાવના કરી હતી એ તો હવે ક્યાં છાની વાત રહી છે? જૈન ધર્મ દક્ષિણમાં પણ પોતાના પ્રભાવનો પ્રસાર સારો કર્યો હતો મહાપ્રતિભાશાળી જૈન સાહિત્યકારોએ, કવિવર્યોએ બીજાઓને મોંમાં આંગળી ઘાલવી પડે એવી સાહિત્યની ચિરંજીવ કૃતિઓનું નિર્માણ કર્યું છે સ્થાપત્યના, ચિત્રકળાના, સાહિત્યના—ટૂંકમાં બુદ્ધિના એકેએક પ્રદેશમાં જૈન સાધુઓએ અને શ્રાવકોએ નિર્દોષ વિહાર કરી બતાવી જગતમાં નામ સ્થાપ્યું છે, કાઢ્યું છે વસ્તુપાળ, તેજપાળ, જગડુશા, ભામાશા વગેરે દાનવીરોએ ફોર્ડ કે રોકફેલરને ભુલાવી દે એવું કરી બતાવ્યું છે જૈન ધર્મની અને સંસ્કૃતિની જગતને આ દેણ છે એની પુરાણી યશોગાથાને અહીં સ્પર્શવામાં કંકાશ મારવાનો કોઈ અપ્રશસ્ત હેતુ નથી, પરંતુ એ ધર્મ અને સંસ્કૃતિ મહાપ્રાણવાન, સત્ત્વશાળી સંસ્કૃતિના બીજ ધરાવે છે એ તરફ કેવળ અંગુલિનિર્દેશ જ કરવાનો હેતુ છે

સાધુ, સાધ્વી, શ્રાવક, અને શ્રાવિકા—આ ચાર ચતુર્વિધ જૈન સંઘના એકમ, ઘટક પહેલા બેને પાળવાનો ધર્મ તે અણગાર ધર્મ અને બીજા બેનો તે આગારધર્મ પોતપોતાના કર્તવ્યપાલનની મર્યાદામાં રહી એ ચારે ય આત્મોન્નતિ સાધી સંપૂર્ણ દશાએ પહોંચી શકે છે એ ચારેયે અમુક જ સ્થિતિ અવશ્યમેવ પ્રથમથી સ્વીકારવી જોઈએ એવું કાંઈ નથી પોતપોતાની મર્યાદાના વર્તુળમાં રહી, સદાચાર સેવી, વિકાસ વધારતા વધારતા અંતે છુટકારો મેળવી શકે આ ઔદાર્યનો દાખલો છે સંકુચિત નહિ પરંતુ વિસ્તારિત—તદ્દન વિસ્તારિત દૃષ્ટિનું આ ઉદાહરણ કહેવાય સાધુ અને શ્રાવકના ધર્મનું નિરૂપણ પારિભાષિક હોઈ અહીં અપ્રસ્તુત છે સંયમ અને તપ દ્વારા અશુદ્ધિઓનું પરિમાર્જન કરવાની પરમ આવશ્યકતા બન્નેમાં નિર્ધારાઈ છે વંશપરંપરાથી કે પેઢાનુપેઢીથી આચાર્ય કે એવા કોઈ પદની પ્રાપ્તિ થતી નથી આચાર્યના ગુણ ધરાવતો હોય તો જ આચાર્ય કહેવાય, વય કે લિંગ આદિનું સ્થાન નથી, ગુણની જ પ્રતિષ્ઠા કરવામાં આવી છે જૈન ધર્મ રૂઢિચુસ્ત નથી પણ વેગવાન્ વિકાસમાં જ માનનારો છે એનું જ્વલંત પ્રતીક આથી બીજું કયું હોઈ શકે? માત્ર જ્ઞાન કે માત્ર ક્રિયા—આ બન્ને એકાંતો હોઈ એનો અસ્વીકાર કરવામાં આવ્યો છે અને એને સ્થાને જ્ઞાનક્રિયા સમુચ્ચયવાદને મૂકવામાં આવ્યો છે સાધુ-સાધ્વીએ

મુક્ત દશામાં આત્માની કે જ્ઞાની સ્થિતિ છે ભાવ નથી. આત્મસ્વરૂપના બોધ નથી એમ કહી એનો નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે. હરિભદ્ર આદિ જૈનાચાર્ય આ સિદ્ધાંતના પુરસ્કર્તાઓ સામે વાત આવી પડતા એ ભાખે છે કે યોગીને એક ક્ષણે પણ ન આવતો દોષ ત્યાં પણ એ પાછો પરમેશ્વરી રહેવા અનાદિનો કે યોગનો નાશ બની તેમ ઉપયોગ ન કરી શકે. [illegible] વિશ્વભિન્ન એમ નથી એ જેવાનું એને ન હોય. આત્મજ્ઞાનના નિર્ણયમાં ઉપયોગી બને એવી હકીકત. હરિભદ્રની સમજ એવી જોઈએ—આ એક જ મુખ્ય વાત. [illegible] ઉપદેશના તત્ત્વજ્ઞાનને એ રીતે જ [illegible] આત્માની [illegible] જ્ઞાનની વાત તરફ એને નજર છે.

જીવ અને અજીવ—આ બે મુખ્ય તત્ત્વોમાંથી વિસ્તૃત થતા નવ તત્ત્વોનો સ્વીકાર જૈન દર્શન કરે છે એ આગમ પ્રસિદ્ધ છે. આમાં જીવના, સંસારી અને મુક્ત, સંસારીના ત્રસ અને સ્થાવર, ઇન્દ્રિયભેદે ભાવ એ સ્થાવર ભેદ. એકેન્દ્રિય ભેદો પણ ભેદો છે. ત્રસમાં બે ઇન્દ્રિયોથી માંડી પાંચ ઇન્દ્રિય સુધીના ભેદો છે જ્યારે સ્થાવર એકેન્દ્રિય છે. પૃથ્વી અગ્નિ આદિ—ધર્માસ્તિકાયાદિ—અજીવના ભેદો છે. આમાં ક્રમને ભેદથી છ દ્રવ્યોની રચના કરવામાં આવી છે. જૈન દર્શન વિશિષ્ટ દૃષ્ટિએ પ્રધાનપણે ધ્યાનમાં રાખી આ ઉપર કહી તે તત્ત્વોની વ્યવસ્થિત રચના યોજના અને સિદ્ધિ પણ કરવામાં આવી છે. જેનું વિસ્તૃત વિવરણ એ અહીં અભીષ્ટ નથી.

બધા જ જીવોનો મોક્ષ થાય તો શું થશે? એક સ્થિતિ અને એક સમય એવો આવીને ઊભો રહે કે જે વખતે સંસાર જેવું કાંઈ હોય જ નહિ. ઉપર પ્રશ્નની આ વાતનો જૈનદર્શન એ રીતે જવાબ આપે છે કે ના, એમ નથી. કારણ કે જીવોના પણ ભવ્ય અને અભવ્ય એવા બે મોટા વિભાગો પાડવામાં આવ્યા છે. આમાંથી જે અભવ્ય છે તે સ્વભાવે જ એવા છે કે એમનો મોક્ષ કદાપિ થતો જ નથી. આ અભવ્ય જીવોની ઉપમા શાસ્ત્રકારોએ (જૈન) કોરડુ મગની આપી છે. કોરડુ મગ કદી પણ પાકતા નથી તેમ એ અભવ્ય જીવો પણ કદી મોક્ષ મેળવતા નથી.

આત્માની સાથે કર્મના સંયોગને અનાદિ માનવા જતાં સામે પ્રશ્ન એક મુશ્કેલી આ ઊભી કરી શકે કે અનાદિ વસ્તુનો નાશ થાય નહિ અને એમ માનવા જતાં સંપૂર્ણ કર્મનો નાશ અશક્ય બની જાય. મોક્ષનો પણ અસંભવ ઊભો થશે. આ મુશ્કેલીનો જૈન શાસ્ત્રકારોએ એવી રીતે ઉકેલ આપ્યો છે કે આત્મા સાથે નવા કર્મ બંધાતા જાય છે અને જૂના ખરતા જાય છે. આથી આત્મામાં કોઈપણ એક કર્મની સ્થિતિ અનાદિ નથી, પરંતુ કર્મસ્થિતિનો પ્રવાહ જ અનાદિ કાળથી ચાલ્યો આવે છે અને આ ઔપચારિક રીતે આત્મા સાથે કર્મો અનાદિ કાળથી જોડાયેલાં છે એમ સમજવાનું છે.

જૈન દર્શને આત્માને ચૈતન્ય સ્વરૂપ, પરિણામી, કર્તા, સાક્ષાત્ ભોક્તા, દેહપરિમાણી, પ્રતિક્ષેત્રે ભિન્ન, પૌદ્ગલિક અદૃષ્ટવાન્ માન્યો છે. જ્ઞાનને આત્માનું મૂળ સ્વરૂપ કહી નૈયાયિકોથી જુદો મત પાડ્યો છે. પરિણામી, કર્તા અને સાક્ષાત્ ભોક્તા કહી પરિણામરહિત—ક્રિયારહિત માનનાર સાંખ્યમતથી ભિન્નતા પ્રગટ છે. દેહપરિમાણી એવું લક્ષણ બાંધી આત્મા સર્વવ્યાપી છે એવું કહેનાર વૈશેષિક, નૈયાયિક, અને સાંખ્ય મતનો અસ્વીકાર કર્યો છે. શરીરે શરીરે આત્માનું પાર્થક્ય પ્રતિપાદિત કરી એક જ આત્મા માનનાર અદ્વૈતવાદીઓ સાથેની પોતાની અસંમતિ દર્શાવી છે. કર્મને અદૃષ્ટ કે ધર્મ—અધર્મને આત્માનો વિશેષ ગુણ માનનાર નૈયાયિક વૈશેષિકો સાથેનું મતભિન્નત્વ [illegible] વિશેષણ મારફત બતાવ્યું છે.

પુણ્યાનુબંધી પુણ્ય, પુણ્યાનુબંધી પાપ, પાપાનુબંધી પુણ્ય અને પાપાનુબંધી પાપ આમ પુણ્ય પાપના વિભાગો પણ જૈન દર્શનની વિચારણાના ફળ છે.

વસ્તુને અનંતધર્માત્મક માની એના ધર્માને અમુક અમુક દૃષ્ટિકોણોથી જોવા તેનું નામ સ્યાદ્વાદ છે જૈનોનો આ અણમોલ સિદ્ધાંત છે પરંતુ પ્રતિસ્પર્ધીઓએ એને હાથે કરી ખોટે સ્વરૂપે સમજી અન્યાય કરવામાં પણ બાકી રાખી નથી અપેક્ષા દૃષ્ટિએ સ્વીકાર કરવો એનું નામ પણ સ્યાદ્વાદ જ નિત્યત્વ અનિત્યત્વ, વિનાશીપણું, સ્થિરપણું, સત્પણું, અસત્પણું—આ ઉપરાંત દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર કાળ અને ભાવથી જોનારું—આમ અનેક ધર્મોને અનેક દૃષ્ટિથી જોઈ શકાય છે માટે અપેક્ષાવાદ સ્વીકારવાથી જ વસ્તુના સ્વરૂપનું યત્કિંચિત્ પણ સાચું ભાન થાય છે સ્યાદ્વાદ સંશયવાદ છે એવો એક મોટો આક્ષેપ એના ઉપર છે એક જ વસ્તુને પ્રતિસ્પર્ધી ગુણોથી યુક્ત કહેવી એ એક પ્રકારનો સંશય ઊભો કરવા જેવું જ થયું એવો આમાં પક્ષનો દાવો છે પરંતુ અહીંયા સંશય કોને કહેવો એ જ એક મુખ્ય સવાલ છે રજ્જુમાં સર્પની ભ્રાન્તિ કે ઝાડના ઠૂંઠામાં માણસની ભ્રાન્તિ—આ સંશય જરૂર કહેવાય કારણ કે સર્પ અને દોરડી કે ઝાડ અને માણસ—આ બન્નેમાંની કોઈ પણ એક નિશ્ચિત નથી હોતું જ્યારે સ્યાદ્વાદ કથન કરે છે ત્યારે અમુક એક વસ્તુમાં અમુક ધર્મ એ કથન કરતી વખતે નિશ્ચિતપણે રહેલો છે એમ કહે છે હકીકત જ્યારે આમ છે ત્યારે એને સંશયવાદ શી રીતે કહી શકાશે?

વસ્તુના અનેક ધર્મો એને વ્યક્ત કરનારા અભિપ્રાયો કે વચનપ્રકારો પણ અનેક હોય છતાં એ બધાને દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક આમ બે પ્રધાન નય દ્વારા વિભક્ત કરી પછી અવાંતર સાત ભેદો પાડ્યા છે

જૈન ધર્મને વીતરાગનો ધર્મ પણ કહેવાય છે રાગ-દ્વેષની પરિણતિને શમાવવામાં સ્યાદ્વાદ અગત્યનો ભાગ ભજવે છે

પરમાત્માએ મુક્તિનો માર્ગ બતાવ્યો આ માર્ગ ચાલી અન્યે મુક્તિ હાંસલ કરી માટે પરમાત્મા મુક્તિદાયક ઉપચારથી ગણાય—આવું સ્યાદ્વાદ કહે અને એમ કહી ઈશ્વરકર્તૃત્વવાદના પુરસ્કર્તાઓને ન્યાય આપે

આત્મા જ ઈશ્વર છે અને આત્મા સ્પષ્ટપણે કર્તા છે જ ઈશ્વર જગતનો કર્તા છે એવું કહેનારના આશયને સ્યાદ્વાદ એ પ્રમાણે સમજાવે

મોહવાસનાના પ્રાબલ્યને હણવા બુદ્ધે ક્ષણિકવાદ આગળ ધર્યા, વિષયની આસક્તિ હઠાવવા વિજ્ઞાનવાદ પ્રરૂપવામાં આવ્યો, સમભાવની પ્રાપ્તિ અર્થ અદ્વૈતવાદની ખોજ થઈ—આમ પરમાર્થ બતાવી સ્યાદ્વાદ બધાના મનનું સમાધાન કરે છે ખરેખર! વિચારકલહોને શમાવવાનું અમોઘ સાધન સ્યાદ્વાદ છે અસ્તુ

આ પ્રમાણે ઉપર જણાવી તે લાક્ષણિકતાઓ જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિની છે અત્યારે આ લાક્ષણિકતાઓ ઘણું અનેરું કામ કરી બતાવે તેમ છે સમસ્ત જગતને શાંતિ આપવાનું જબ્બર સામર્થ્ય આ ધર્મમાં છે એમ સૌ કોઈ ખરેખર સમજે અને એ પ્રમાણે આચરે તો જગતનું વાસ્તવિક કલ્યાણ થાય તેમ છે ઇત્યલમ્



એવું વૃત્તિથી યોજી કલ્પના કરી છે. ખાસ મર્યાદિત આત્મસ્વરૂપ પ્રાપ્ત નથી એમ કહી એના નિત્ય કર્મમાં માન્યો છે. હરિભદ્ર પણ પ્રમાણાભાસ. આ સિદ્ધાંતના પુરસ્કર્તાઓ સામે ન્યાય પ્રશ્ન એ ભાખે છે કે મરીને એક ડુંડો પણ ન બનતો. ઘોર સર્વ ભીમએ પાંચ પગલેથી રહેવા બનાવ્યો કે જો તેનો નાશ થવાની તો ઉપયોગ ન કરી શકો. કેવળ વિચ્છિન્ન એમ નથી એ તેનું એને ન હોય. સત્યાસત્યના નિર્ણયમાં ઉપયોગી બને એટલી હદે. હરિની સમજ હતી એવી એ—આ એક મુખ્ય વાત. ધ્યાન દેવાની ઉપદેશના બાબત નવે એ રીતિએ છે જ. ભિન્ન આત્માની જ્ઞાનની વાતો તથા એને નાશ ન છે.

જીવ અને અજીવ—આ બે મુખ્ય તત્ત્વોમાંથી ક્રમિક બાકી નવ તત્ત્વોનો સ્વીકાર જૈન દર્શન કરે છે. એ આસ્રવ કર્મબંધ. આત્મા જીવના, સંસારી અને મુક્ત, સશરીરી ત્રસ અને સ્થાવર; પૃથ્વીકાયાદિ પાંચ એ સ્થાવર. એક ઇન્દ્રિયવાળા એ જીવો પણ એ જ. ત્રસમાં બે ઇન્દ્રિયથી માંડી પાંચ ઇન્દ્રિયો સુધીના જીવો છે, જ્યારે સ્થાવર એકેન્દ્રિય છે. પાંચ અસ્તિકાયો—ધર્માધર્માદિ—અજીવના ભેદો છે. આમાં પ્રાણને એમાંથી જ કર્મોની કલ્પના કરવામાં આવી છે. જૈન દર્શન વિશેષ દૃષ્ટિને પ્રધાનપદે ધ્યાનમાં રાખી આ ઉપર કહી તે બાબતોની વર્ગીકૃત કલ્પના, યોજના અને સિદ્ધિ પણ કરવામાં આવી છે. એ ઉદ્દેશ્ય જાણવું એ અહીં અભીષ્ટ નથી.

બધા જ જીવોનો મોક્ષ થાય તો શું? એ સિદ્ધિ અને એક સમાન એવો આવીને ઉભા રહે કે? ભવ્યને સંસાર જેવું કોઈ સ્થાન જ નહિ. ઉત્તર પક્ષની આ શંકાનો જૈનદર્શન એ રીતે જવાબ આપે છે કે ના, એમ નથી. કારણ કે જીવોના પણ ભવ્ય અને અભવ્ય એવા બે મોટા વિભાગો પાડવામાં આવ્યા છે. આમાંથી જે અભવ્ય છે તે સ્વભાવે જ એવા છે કે એમનો મોક્ષ કદાપિ થતો જ નથી. આ અભવ્ય જીવોની ઉપમા શાસ્ત્રકારોએ (જૈન) કોરડુ મગની આપી છે. કોરડુ મગ કદી પણ પાકતા નથી, તેમ એ અભવ્ય જીવો પણ કદી મોક્ષ મેળવતા નથી.

આત્માની સાથે કર્મના સંયોગને અનાદિ માનતાં જૈન સામે પણ એક મુશ્કેલી આ ઊભી કરી હતી કે અનાદિ વસ્તુનો નાશ થાય નહિ અને એમ માનતાં જતાં ઘણું કર્મનો નાશ અશક્ય બની જાય. મોક્ષનો પણ અસંભવ ઊભો થશે. આ મુશ્કેલીનો જૈન શાસ્ત્રકારોએ એવી રીતે ઉકેલ આપ્યો છે કે આત્મા સાથે નવાં કર્મો બંધાતાં જાય છે અને જૂનાં ખરતાં જાય છે. આથી આત્મામાં કોઈ પણ એક કર્મની યુતિ અનાદિ નથી, પરંતુ કર્મયુતિનો પ્રવાહ જ અનાદિ કાળથી ચાલ્યો આવે છે અને આ પ્રાવાહિક રીતે આત્મા સાથે કર્મો અનાદિ કાળથી જોડાયેલાં છે એમ સમજવાનું છે.

જૈન દર્શને આત્માને ચેતન સ્વરૂપ, પરિણામી, કર્તા, સાક્ષાત્ ભોક્તા, દેહપરિમાણી, પ્રતિક્ષેત્ર ભિન્ન, પૌદ્ગલિક અદૃષ્ટવાન્ માન્યો છે. જ્ઞાનને આત્માનું મૂળ સ્વરૂપ કહી નૈયાયિકોથી જૈનોએ જુદો મત આપ્યો છે. પરિણામી, કર્તા અને સાક્ષાત્ ભોક્તા કહી પરિણામરહિત—નિત્ય માનનાર સાંખ્યમતથી ભિન્નતા બતાવી છે. દેહપરિમાણી એવું લક્ષણ આપી આત્મા સર્વવ્યાપી છે એવું કહેનાર વૈશેષિક, નૈયાયિક અને સાંખ્ય મતનો અનાદર કર્યો છે. શરીરે શરીરે આત્માનું પૃથક્ પ્રતિપાદન કરી એક જ આત્મા માનનાર અદ્વૈતવાદીઓ સાથેની પોતાની અસંમતિ દર્શાવી છે. કર્મને જોઈએ તો ધર્મ—અધર્મને આત્માનો ગુણ માનનાર નૈયાયિક વૈશેષિકો સાથેનું મતભિન્નત્વ જૈનદર્શનને જુદા વિશિષ્ટ માર્ગે લઈ જાય છે.

પુણ્યાનુબંધી પુણ્ય, પુણ્યાનુબંધી પાપ, પાપાનુબંધી પુણ્ય, અને પાપાનુબંધી પાપ આમ ચાર પ્રકારના વિભાગો પણ જૈન દર્શનની વિશિષ્ટતાના સૂચક છે.

વસ્તુને અનંતધર્માત્મક માની એના ધર્મોને અમુક અમુક દૃષ્ટિકોણોથી જોવા તેનું નામ સ્યાદ્વાદ છે. જૈનોનો આ અણમોલ સિદ્ધાંત છે પરંતુ પ્રતિસ્પર્ધીઓએ એને હાથે કરી ખોટે સ્વરૂપે સમજી અન્યાય કરવામાં પણ બાકી રાખી નથી. અપેક્ષા દૃષ્ટિએ સ્વીકાર કરવો એનું નામ પણ સ્યાદ્વાદ જ. નિત્યત્વ, અનિત્યત્વ, વિનાશીપણું, સ્થિરપણું, સત્પણું, અસત્પણું—આ ઉપરાંત દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવથી જોવાનું—આમ અનેક ધર્મોને અનેક દૃષ્ટિથી જોઈ શકાય છે. માટે અપેક્ષાવાદ સ્વીકારવાથી જ વસ્તુના સ્વરૂપનું યત્કિંચિત્ પણ સાચું ભાન થાય છે. સ્યાદ્વાદ સંશયવાદ છે એવો એક મોટો આક્ષેપ એના ઉપર છે. એક જ વસ્તુને પ્રતિસ્પર્ધી ગુણોથી યુક્ત કહેવી એ એક પ્રકારનો સંશય ઊભો કરવા જેવું જ થયું એવો સામા પક્ષનો દાવો છે. પરંતુ અહીંયા સંશય કોને કહેવો એ જ એક મુખ્ય સવાલ છે. રજ્જુમાં સર્પની ભ્રાન્તિ કે ઝાડના ઠૂંઠામાં માણસની ભ્રાન્તિ—આ સંશય જરૂર કહેવાય. કારણ કે સર્પ અને દોરડી કે ઝાડ અને માણસ—આ બન્નેમાંની કોઈ પણ એક નિશ્ચિત નથી હોતું. જ્યારે સ્યાદ્વાદ કથન કરે છે ત્યારે અમુક એક વસ્તુમાં અમુક ધર્મ એ કથન કરતી વખતે નિશ્ચિતપણે રહેલા છે એમ કહે છે. હકીકત જ્યારે આમ છે ત્યારે એને સંશયવાદ શી રીતે કહી શકાય?

વસ્તુના અનેક ધર્મો, એને વ્યક્ત કરનારા અભિપ્રાયો કે વચનપ્રકાર પણ અનેક હોય. છતાં એ બધાને દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક આમ બે પ્રધાન નય દ્વારા વિભક્ત કરી પછી અવાંતર સાત ભેદો પાડ્યા છે.

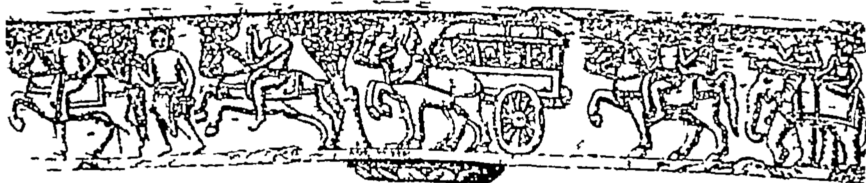
જૈન ધર્મને વીતરાગનો ધર્મ પણ કહેવાય છે. રાગ-દ્વેષની પરિણતિને ઘટાડવામાં સ્યાદ્વાદ અગત્યનો ભાગ ભજવે છે.

પરમાત્માએ મુક્તિનો માર્ગ બતાવ્યો. આ માર્ગ ચાલી અન્યે મુક્તિ હાંસલ કરી. માટે પરમાત્મા મુક્તિદાયક ઉપચારથી ગણાય—આવું સ્યાદ્વાદ કહે અને એમ કહી ઈશ્વરકર્તૃત્વવાદના પુરસ્કર્તાઓને ન્યાય આપે.

આત્મા જ ઈશ્વર છે અને આત્મા સ્પષ્ટપણે કર્તા છે જ. ઈશ્વર જગતનો કર્તા છે એવું કહેનારના આશયને સ્યાદ્વાદ એ પ્રમાણે સમજાવે.

મોહવાસનાના પ્રાબલ્યને હણવા બુદ્ધે ક્ષણિકવાદ આગળ ધર્યો, વિષયની આસક્તિ હઠાવવા વિજ્ઞાનવાદ પ્રરૂપવામાં આવ્યો, સમભાવની પ્રાપ્તિ અર્થે અદ્વૈતવાદની ખોજ થઈ—આમ પરમાર્થ બતાવી સ્યાદ્વાદ બધાના મનનું સમાધાન કરે છે. ખરેખર! વિચારકલહોને શમાવવાનું અમોઘ સાધન સ્યાદ્વાદ છે. અસ્તુ.

આ પ્રમાણે ઉપર જણાવી તે લાક્ષણિકતાઓ જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિની છે. અત્યારે આ લાક્ષણિકતાઓ વધુ અનેરું કામ કરી બતાવે તેમ છે. સમસ્ત જગતને શાંતિ આપવાનું જબ્બર સામર્થ્ય આ ધર્મમાં છે એમ સૌ કોઈ ખરેખર સમજે અને એ પ્રમાણે આચરે તો જગતનું વાસ્તવિક કલ્યાણ થાય તેમ છે. ઇત્યલમ્.



મધુકરવૃત્તિથી ગોચરી કરવાની કહી છે. આમ અહીં આત્મકલ્યાણના પાયા નથી એમ કહી એનો નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે. શરીરમાદ્યં ખલુ ધર્મસાધનમ્. આ સિદ્ધાંતના પુરસ્કર્તાઓ સામે લાલ બત્તી ધરતા એ આજે છે કે શરીરને એક ટુકડો પણ ન આપતો હોય તો બીજાએ પોતાના પરસેવાથી રળેલ અનાજનો નાશ કરી તેને ઉપયોગ ન કરી શકો. કોઈનું નિરૂપણ એવું નથી એ એવાનું એને ન હોય. સમભાવના નિર્વાહમાં ઉપયોગી અને એટલી હદે જ શરીરની સંભાળ લેવી જોઈએ—આ એક મુખ્ય વાત. ધન ધાન્યની ઉપાર્જના અભ્યાસને એ સ્વીકારે છે જ. ક્રિયાહીન આત્માની શુષ્ક જ્ઞાનની વાતો તરફ એને નારાજ છે.

જીવ અને અજીવ—આ બે મુખ્ય તત્ત્વોમાંથી ફલિત થતાં નવ તત્ત્વોનો સ્વીકાર જૈન દર્શન કરે છે એ આગમ પ્રસિદ્ધ છે. આમાં જીવના, સંસારી અને મુક્ત, સંસારીના ત્રસ અને સ્થાવર; પૃથ્વીકાયાદિ પાંચ એ સ્થાવર ભેદ. ઇન્દ્રિયાદિ ભેદો પણ એ તો છે. ત્રસમાં બે ઇન્દ્રિયોથી માંડી પાંચ ઇન્દ્રિયો સુધીના ભેદો છે, જ્યારે સ્થાવર એકેન્દ્રિય છે. પાંચ અસ્તિકાયો—ધર્માધર્માદિ—અજીવના ભેદો છે. આમાં કર્મને લગતી જ કર્મોની રચના કરવામાં આવી છે. જૈન દર્શન વિશ્વના હરિને પ્રધાનપણે ધ્યાનમાં રાખી આ ઉપર કહી તે ભાવનાની તાત્ત્વિક રચના, યોજના અને સિદ્ધિ પણ કરવામાં આવી છે. એના વિસ્તાર વિચારનું એ અહીં અભીષ્ટ નથી.

બધા જ જીવોનો મોક્ષ થાય તો શું? એક સ્થિતિ અને એક સમય એવો આવીને ઊભો રહે કે જે વખતે સંસાર જેવું કંઈ હોય જ નહિ. ઉક્ત પ્રશ્નની આ શંકાનો જૈનદર્શન એ રીતે જવાબ આપે છે કે ના, એમ નથી. કારણ કે જીવોના પણ ભવ્ય અને અભવ્ય એવા બે મોક્ષ વિભાગો પાડવામાં આવ્યા છે. આમાંથી જે અભવ્ય છે તે સ્વભાવે જ એવા છે કે એમનો મોક્ષ કદાપિ થતો જ નથી. આ અભવ્ય જીવોની ઉપમા શાસ્ત્રકારોએ (જૈન) કોરડુ મગની આપી છે. કોરડુ મગ કદી પણ પાકતા નથી. આમ એ અભવ્ય જીવો પણ કદી મોક્ષ મેળવતા નથી.

આત્માની સાથે કર્મના સંયોગને અનાદિ માનવા જતાં શાસ્ત્રો પણ એક મુશ્કેલી આ ઊભી કરી શકે કે અનાદિ વસ્તુનો નાશ થાય નહિ અને એમ માનતાં ત્યાં સંપૂર્ણ કર્મનો નાશ અશક્ય બની જાય. આ મુદ્દો પણ અગત્યનો ઊભો થશે. આ મુશ્કેલીનો જૈન શાસ્ત્રકારોએ એવી રીતે ઉકેલ આપ્યો છે કે આત્મા સાથે નવાં કર્મો બંધાતાં જાય છે અને જૂનાં ખરતાં જાય છે. આવી વાસ્તવમાં કોઈપણ એક કર્મની યુતિ અનાદિ નથી, પરંતુ કર્મયુતિનો પ્રવાહ જ અનાદિ કાળથી ચાલ્યો આવે છે અને આ ઔપચારિક રીતે આત્મા સાથે કર્મો અનાદિ કાળથી જોડાયેલાં છે એમ સમજવાનું છે.

જૈન દર્શને આત્માને ચૈતન્ય સ્વરૂપ, પરિણામી, કર્તા, સાક્ષાત્ ભોક્તા, દેહપરિમાણી, પ્રતિક્ષેત્રે ભિન્ન, પૌદ્ગલિક અદૃષ્ટવાન માન્યો છે. જ્ઞાનને આત્માનું મૂળ સ્વરૂપ કહી નૈયાયિકોથી જૈનમત જુદો પડ્યો છે. પરિણામી, કર્તા અને સાક્ષાત્ ભોક્તા કહી પરિણામરહિત—નિર્વિકાર માનનાર સાંખ્યમતથી ભિન્નતા પ્રગટ કરી છે. દેહપરિમાણી એવું લક્ષણ આપી આત્મા સર્વવ્યાપી છે એવું કહેનાર વૈશેષિક, નૈયાયિક અને સાંખ્ય મતનો અસ્વીકાર કર્યો છે. શરીરે શરીરે આત્માનું પાર્થક્ય પ્રતિપાદિત એક જ આત્મા માનનાર અદ્વૈતવાદીઓ સાથેની પોતાની અસંમતિ દર્શાવી છે. કર્મને એટલે કે ધર્મ—અધર્મને આત્માનો વિશેષ ગુણ માનનાર નૈયાયિક-વૈશેષિકો સાથેનું મતભિન્નત્વ નજરે છે આ વિશેષણ મારફત બતાવ્યું છે.

પુણ્યાનુબંધી પુણ્ય, પુણ્યાનુબંધી પાપ, પાપાનુબંધી પુણ્ય, અને પાપાનુબંધી પાપ આમ પુણ્ય પાપના વિભાગો પણ જૈન દર્શનની વિચારસૂક્ષ્મતા બતાવે છે.

વસ્તુને અનંતધર્માત્મક માની એના ધર્માને અમુક અમુક દૃષ્ટિકોણોથી જોવા તેનું નામ સ્યાદ્વાદ છે જૈનોનો આ અણુમોલ સિદ્ધાંત છે પરંતુ પ્રતિસ્પર્ધીઓએ એને હાથે કરી ખોટે સ્વરૂપે સમજી અન્યાય કરવામાં પણ બાકી રાખી નથી અપેક્ષા દૃષ્ટિએ સ્વીકાર કરવો એનું નામ પણ સ્યાદ્વાદ જ નિત્યત્વ અનિત્યત્વ, વિનાશીપણું, સ્થિરપણું, સત્પણું, અસત્પણું—આ ઉપરાંત દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર કાળ અને ભાવથી જોવાનું—આમ અનેક ધર્મોને અનેક દૃષ્ટિથી જોઈ શકાય છે માટે અપેક્ષાવાદ સ્વીકારવાથી જ વસ્તુના સ્વરૂપનું યત્કિંચિત્ પણ સાચું ભાન થાય છે સ્યાદ્વાદ સંશયવાદ છે એવો એક મોટો આક્ષેપ એના ઉપર છે એક જ વસ્તુને પ્રતિસ્પર્ધી ગુણોથી યુક્ત કહેવી એ એક પ્રકારનો સંશય ઊભો કરવા જેવું જ થયું એવો સામા પક્ષનો દાવો છે પરંતુ અહીંયા સંશય કોને કહેવો એ જ એક મુખ્ય સવાલ છે રજ્જુમાં સર્પની ભ્રાન્તિ કે ઝાડના ઠૂંઠામાં માણસની ભ્રાન્તિ—આ સંશય જરૂર કહેવાય કારણ કે સર્પ અને દોરડી કે ઝાડ અને માણસ—આ બન્નેમાંની કોઈ પણ એક નિશ્ચિત નથી હોતું જ્યારે સ્યાદ્વાદ કથન કરે છે ત્યારે અમુક એક વસ્તુમાં અમુક ધર્મ એ કથન કરતી વખતે નિશ્ચિતપણે રહેલો છે એમ કહે છે હકીકત જ્યારે આમ છે ત્યારે એને સંશયવાદ શી રીતે કહી શકાશે ?

વસ્તુના અનેક ધર્મો એને વ્યક્ત કરનાર અભિપ્રાયો કે વચનપ્રકારો પણ અનેક હોય છતાં એ બધાને દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક આમ બે પ્રધાન નય દ્વારા વિભક્ત કરી પછી અવાંતર સાત ભેદો પાડ્યા છે

જૈન ધર્મને વીતરાગનો ધર્મ પણ કહેવાય છે રાગદ્વેષની પરિણતિને ઘટાવવામાં સ્યાદ્વાદ અગત્યનો ભાગ ભજવે છે

પરમાત્માએ મુક્તિનો માર્ગ બતાવ્યો આ માર્ગ ચાલી અમે મુક્તિ હાંસલ કરી માટે પરમાત્મા મુક્તિદાયક ઉપચારથી ગણાય—આવું સ્યાદ્વાદ કહે અને એમ કહી ઈશ્વરકર્તૃત્વવાદના પુરસ્કર્તાઓને ન્યાય આપે

આત્મા જ ઈશ્વર છે અને આત્મા સ્પષ્ટપણે કર્તા છે જ ઈશ્વર જગતનો કર્તા છે એવું કહેનારના આશયને સ્યાદ્વાદ એ પ્રમાણે સમજાવે

મોહવાસનાના પ્રાબલ્યને હણવા બુદ્ધે ક્ષણિકવાદ આગળ ધર્યો, વિષયની આસક્તિ હટાવવા વિજ્ઞાનવાદ પ્રરૂપવામાં આવ્યો, સમભાવની પ્રાપ્તિ અર્થે અદ્વૈતવાદની ખોજ થઈ—આમ પરમાર્થ બતાવી સ્યાદ્વાદ બધાના મનનું સમાધાન કરે છે ખરેખર ! વિચારકલહોને શમાવવાનું અમોઘ સાધન સ્યાદ્વાદ છે અસ્તુ

આ પ્રમાણે ઉપર જણાવી તે લાક્ષણિકતાઓ જૈન ધર્મ અને સંસ્કૃતિની છે અત્યારે આ લાક્ષણિકતાઓ ઘણું અનેરું કામ કરી બતાવે તેમ છે સમસ્ત જગતને શાંતિ આપવાનું જબ્બર સામર્થ્ય આ ધર્મમાં છે એમ સૌ કોઈ ખરેખર સમજે અને એ પ્રમાણે આચરે તો જગત્નું વાસ્તવિક કલ્યાણ થાય તેમ છે ઇત્યલમ્



જૈન અભ્યાસમા નવીન દૃષ્ટિની આવશ્યકતા

પ્રા૦ કેશવલાલ હિં કામદાર, એમ એ

હમણાં હમણાં જૈન સાહિત્ય, ફિલસૂફી, ઇતિહાસ, કલાશિલ્પ વગેરે ઉપર અતિ મહત્ત્વના પ્રકાશ[illegible] કોઈ કારણ છે કે એ પ્રકાશમા મહારાજ [illegible] મુનિશ્રીઓ જેવી સંસ્થાઓએ હવે પ્રવેશ કર્યો છે તે આનંદની વાત છે આવાં પ્રકાશનોમાંથી કેટલાંક પ્રકાશનોને આદિથી અંત સુધી વાંચી જવાનો અને કેટલાંકના અવલોકનો કરવાનો મને પ્રસંગ મળ્યો છે દિલગીરીની વાત તો એ છે કે આ પ્રકાશનો અને તેમના વિવેચનો વગેરે જોતાં [illegible] પણ આપણા વિદ્વાનોનું ધ્યાન [illegible] ગયું છે [illegible] સ્પષ્ટ છે અવલોકનો જે સામયિકોમાં કે વર્તમાનપત્રોમાં આવે છે તે નહિ ઉપલબ્ધ હોતા નથી, અને જે વર્તમાનપત્રોમાં અને સામયિકોમાં અવલોકનો એ પ્રકાશનો [illegible] આવે છે તેમના [illegible] અને સંપાદકો પાછળ તેમની સ્પષ્ટ નીતિ પણ હોતી નથી. વધુમાં એવું બને છે કે પ્રકાશનો જે [illegible] હાથમાં અવલોકન અર્થે મૂકવામાં આવે છે તેઓ એ વિષયોના અભ્યાસી હોતા નથી, એટલે તેમના અવલોકનો [illegible] અને ઉપલકિયાં નીવડે છે

આવા પ્રકાશનો મુખ્યત્વે ગુજરાતીમાં અને હિન્દીમાં હોય છે [illegible] ભારતની ભાષાઓનો અને [illegible] નથી એટલે તેમને [illegible] પ્રકાશનો [illegible] તમામ વિષયો સબંધી હોય છે મુખ્યત્વે તેઓ ઇતિહાસ, ફિલસૂફી, [illegible] સાહિત્ય, [illegible] વગેરે ઉપર હોય છે તેમના સંપાદકો વિદ્વાનો હોય છે એટલે સંપાદનોની ન્યૂનતા ઓછી હોય છે એ ન્યૂનતા મને [illegible] થઈ છે અને તે [illegible] સમય [illegible] તેને દૂર કરવાનો [illegible] પણ સાથે હું સૂચવીશ

આવા પ્રકાશનોના સંપાદનોમાં, મારા નમ્ર મત પ્રમાણે, [illegible] જરૂર છે [illegible] જૈન ફિલસૂફી કે [illegible] હોય છે એમાં જૈન દૃષ્ટિના [illegible] વિચાર ૨૮ વર્ષનો હાલ છે અને [illegible] તે પ્રકાશન [illegible] કરેલું હોય છે [illegible] હોય તો તે [illegible] છે [illegible] જૈન દૃષ્ટિએ [illegible] સમજાય તેવી રચાયેલી હોય છે એનો [illegible] હાલ છે એમાં [illegible] જૈન [illegible] અનેક [illegible] હોય છે [illegible] જૈન લેખકોએ આ [illegible] અનેક [illegible] કરેલું છે બીજા લેખકોએ આ [illegible] તેઓએ, કારણ કે આ પ્રકાશન [illegible] સાહિત્યમાં જૈન દૃષ્ટિના વિચાર નજરે [illegible] નથી. [illegible] તેઓએ છોએ, [illegible] મને એક [illegible] છે [illegible] હવે [illegible] એટલે [illegible] કે એમાં જૈન [illegible] વિચાર કરે ત્યારે તે [illegible] હવે પશ્ચિમના વિચાર પણ [illegible] કોઈ [illegible] કે [illegible] તે જૈન તત્ત્વ વિચારની સમજાવટ કરવી હોય તો તેમાં હવે પશ્ચિમની [illegible] વિચાર પણ [illegible] જોઈએ. [illegible] પશ્ચિમના [illegible] નજરે [illegible] છે [illegible] કરેલો [illegible] હોય છે [illegible] Pre-destination Determinism – [illegible] નજરે [illegible] આ દૃષ્ટિ [illegible] છે [illegible] હોય [illegible] છે [illegible] પણ [illegible] દૃષ્ટિ [illegible]

હોય છે, અથવા તો તેમને એ સુલભ હોતી નથી આપણા જે અભ્યાસીઓ આવા સંપાદનકાર્યમા પડેલા છે તેમને પશ્ચિમની વિદ્યાઓનો સંસર્ગ હોતો નથી ઘણે ભાગે આ લેખકો સાધુઓ હોય છે કોઈ કોઈ શ્રાવકો તેમા જોવામા આવે છે તેમનો મોટો ભાગ પશ્ચિમની વિદ્યાથી અપરિચિત હોય છે તેમને પશ્ચિમની વિવેચનકળાનુ યોગ્ય જ્ઞાન પણ હોતું નથી પરિણામે એમના અમૂલ્ય પણ જૂની ઢબમા થયેલા પ્રકાશનોનુ ઉપયોગિત્વ સકુચિત થઈ જાય છે અને જૈન દૃષ્ટિનો જે પરિચય બહારની દુનિયાને થવો જોઈએ તે થઈ શકતો નથી

જૈન સાહિત્યના સંપાદનમા આ ન્યૂનતા મને ગભીર રીતે જણાય છે એ સંપાદનોમા સામયિક પૂર્વપીઠિકા, ઐતિહાસિક અન્વેષણ, અવલોકનની તીક્ષ્ણતા વગેરે ગુણો પશ્ચિમની દૃષ્ટિએ ઓછા જોવામા આવે છે કદાચ પ્રસ્તાવના લખાયેલી હોય તો ભાષાનો કોઈ ધડો હોતો નથી, અને એમા વાસ્તવિક ઇતિહાસદર્શન જોવામા આવતું નથી સ્વભાષા પણ એવી જ ઢીલી હોય છે સાહિત્યના પ્રકાશનનુ સંપાદન તો ઘણે ભાગે ભારતવર્ષની પુરાણી પ્રણાલિકા પ્રમાણે કરવામા આવેલુ હોય છે જીવનચરિત લખેલુ હોય તો જીવનચરિત શુ હોવુ જોઈએ તેનો કોઈ ખ્યાલ હોતો નથી — ઇંગ્રેજીમા જેને characterisation — નિરૂપણ કહેવામા આવે છે તે જોવાતું જ નથી અવતરણો ખીચોખીચ હોય, પણ તેમનો ગૂઢ અર્થ સ્પષ્ટ થઈ શકતો નથી

એક દૃષ્ટાંત આપુ વસ્તુપાળે ખભાત બદરનો કબજો સઈદ પાસેથી લીધો તે આપણે કેટલીવાર વાચતા હઈશુ ! મને હમ્મેશ લાગ્યુ છે કે લેખકને તેનો ગૂઢ અર્થ સમજાયો હોતો નથી, કારણ કે લેખક કે સંપાદક જૂની ઘરેડમા લખ્યે જાય છે અને તેને ઇતિહાસનુ શુદ્ધ દર્શન હોતુ નથી, એટલે તે ઊડો ઊતરી શકતો નથી હું તે ગૂઢ અર્થને મારી અલ્પ મતિ અનુસાર અહીં સ્પષ્ટ કરીશ, જેથી વાચકને મારી દૃષ્ટિનો ખ્યાલ આવી શકે

ખરી વસ્તુસ્થિતિ આ પ્રમાણે છે જેમ સોળમી સદીથી ઓગણીસમી સદી સુધી આપણે ત્યા યુરોપના વેપારીઓ સશસ્ત્ર કોઠીઓ નાખી વેપાર કરતા હતા તેમ આરબ લોકો ખભાત, સોમનાથ-પાટણ વગેરે સ્થળોએ સશસ્ત્ર કોઠીઓ જમાવી આપણી સાથે વેપાર કરતા હતા સમકાલીન સાહિત્યમા ખભાત બંદરના સઈદ કુલનો ક્ષય કરનાર વસ્તુપાળની પ્રશસા થયેલી છે ત્યારે કુળનો અર્થ આપણે આ પ્રમાણે સમજવો જોઇએ એ સાહિત્યમા કહેવામા આવ્યુ છે કે સઈદનો મહાલય વારણો – હાથીઓથી રક્ષાયેલો હતો તેનો અર્થ એવો કરવો જોઇએ કે એ વારણસેના હતી, હસ્તિવૃન્દ સશસ્ત્ર હતુ, અને જેમ ગોરા અને હિન્દી સિપાહીઓ મદ્રાસ હુગલી, પૉંડેચેરી, સૂરત, દીવ, વસઈ, માહે વગેરે સ્થળોએ પરદેશી વેપારીઓનો બચાવ કરતા હતા તેમ ખભાતનો આરબ-વસવાટ પણ એવો જ સુરક્ષિત હતો, ઉપરાંત જેમ દુપ્લેએ હિન્દીઓને પશ્ચિમી વિદ્યાની તાલીમ આપી નવીન સિપાહીઓ બનાવ્યા તેમ આરબ વેપારીઓએ આપણી યુદ્ધકલાને ઝડપી લઈ આપણા જ હાથીઓને શસ્ત્રસજ્જ કરી આપણી જ સામે ખડા કર્યા હતા એ કારણથી વસ્તુપાલે આ પરદેશી સશસ્ત્ર વેપારી વસાહતનો ધ્વસ કર્યો—જેમ શાહજહાએ પોર્ચુગીઝોના વેપારી થાણા હુગલીનો ધ્વસ કર્યો હતો, ચીમાજી અપ્પાએ વસઈને ઉડાડી દીધુ હતુ, સિરાજ-ઉદ્-દૌલાએ કલકત્તાને લીધુ હતુ, તેમ

બીજુ દૃષ્ટાત આપુ હીરવિજયસૂરિએ અકબર મારફત અમારિઘોષણા ચલાવી, એનો અર્થ એવો ન થાય કે હીરવિજયસૂરીને અકબરને જૈનધર્મી કરવો હતો, કે અહિંસાવાદી કરવો હતો એક સ્થળે એવુ લખવામા આવ્યુ છે કે જજિયાવેરો અકબરે માફ કર્યો તેમા હીરવિજયસૂરીનો હાથ હતો, પણ ઐતિહાસિક ઘટનાએ એ વાસ્તવિક નથી, કારણ કે જજિયાવેરાની માફી અકબરે હીરવિજયસૂરીનો

જૈન અભ્યાસમાં નવીન દૃષ્ટિની આવશ્યકતા

પ્રા૦ હેમન્તકુમાર [illegible] કામદાર, એમ. એ.

હમણાં હમણાં જૈન સાહિત્ય, ફિલસૂફી, ઇતિહાસ, કે કળા વગેરે ઉપર અતિ મહત્ત્વનાં પ્રકાશનો થયાં છે. એ પ્રકાશનમાં મહારાજ સાહેબ મુનિશ્રી [illegible] તથા કેટલાક વિદ્વાનોએ હવે પ્રત્યેક [illegible] છે તે જાણીતી વાત છે. આવાં પ્રકાશનોમાંથી કેટલાંક ગ્રંથોને અત્યાર સુધી ઘણી [illegible] અને કેટલાંના અનુવાદો કરવાનો પણ પ્રયત્ન થતો છે. ફિલસૂફીની બાબત તો એ છે કે આ પ્રકાશનો અને તેમના વિવેચનો તરફ આપણી પ્રજા જેટલું તો [illegible] પણ આપણા વિદ્વાનોનું ધ્યાન પણ ઓછું જાય છે. કારણ કે [illegible] ગ્રંથોમાં [illegible] સામાન્ય ગ્રંથોમાં આવે છે તેવું ઉપયોગી હોતા નથી, અને જે સામાન્ય ગ્રંથોનાં અને સામયિકોનાં કાર્યાલયને એ પ્રકાશનો મોકલવામાં આવે છે તેમના [illegible] અને સંપાદકો ખાતામાં તેમની નોંધ પણ લેતા નથી. [illegible] અને જે પ્રકાશનો જે ભાષામાં અથવા લિપિમાં હોય છે તેનો એ વિષયોના અભ્યાસી હોતા નથી, એટલે તેમનાં ગ્રંથોનો અભ્યાસ અને ઉપયોગ થતો નથી.

આવાં પ્રકાશનો [illegible] ગુજરાતીમાં અને હિન્દીમાં હોય છે. પશ્ચિમ ભારતની ભાષાઓનો પરિચય નથી એટલે તેમને વિશે કંઈ જાણતા નથી. પ્રકાશનો [illegible] સમાજના તમામ વિષયો ઉપર હોય છે. મુખ્યત્વે તેમાં ઇતિહાસ, ફિલસૂફી, [illegible] સાહિત્ય, ભાષા વગેરે ઉપર હોય છે. તેમના લખનારા વિદ્વાનો હોય છે એટલે [illegible] ઓછી હોય છે. એ [illegible] અને [illegible] થઈ છે અને તે વિશે કંઈ લખવા ઇચ્છું છું. તેને દૂર કરવાના ઉપાય પણ સૂચવું છું.

આવાં પ્રકાશનોના સંપાદકોએ, ખાસ કરીને [illegible] વિચાર કરવાની [illegible] પ્રકાશન જૈન ફિલસૂફી કે [illegible] હોય છે એમાં જૈન દૃષ્ટિએ [illegible] વિચાર [illegible] થયેલો હોય છે. [illegible] જૈનેતર [illegible] તે [illegible] હોય છે. [illegible] હોય તો તે ઘણો [illegible] હોય છે. [illegible] જૈન દૃષ્ટિએ [illegible] તેની [illegible] હોય છે. એનો આધાર [illegible] હોય છે. એમાં [illegible], [illegible], જૈન [illegible] અનેક [illegible] હોય છે. [illegible] જૈન લેખકોએ આ દિશા પર તો [illegible] કર્યું છે. બીજા લેખકોએ આ [illegible] જેવું [illegible], [illegible] આ પ્રકારના જૈનેતર સાહિત્યમાં જૈન દૃષ્ટિનો વિચાર નથી. [illegible] એટલે [illegible] તે [illegible] હવે [illegible] જૈન [illegible] વિચાર કરે ત્યારે તે વિચારમાં હવે પશ્ચિમના વિચાર પણ આવી જવા જોઈએ. [illegible] જૈન તત્ત્વ વિચારની [illegible] કરતો હોય તો તેમાં હવે પશ્ચિમની [illegible] વિચાર પણ આવી જવો જોઈએ. [illegible] દૃષ્ટિ પશ્ચિમના [illegible] નજરે પડે છે. [illegible] કોઈ [illegible] જેવો હોય છે. [illegible] નિયતિવાદ – Pre-destination Determinism – [illegible] ફિલસૂફીમાં [illegible] નજરે પડે છે. આ દૃષ્ટિ [illegible] [illegible] ફિલસૂફોમાં કોઈ વાત [illegible] તો [illegible] છે. [illegible] ફિલસૂફી [illegible] છે. [illegible] આ સાહિત્યનો અભ્યાસ થાય છે. પણ [illegible] જૈન દૃષ્ટિએ [illegible]

એમને આધુનિકનો પરિચય પણ હોવો જોઈએ, કોઈ વિધાન જૈન સિદ્ધાંતોને પ્રતિકૂળ હોય એનો વાંધો હોવો જોઈએ નહિ. Jeans નો ખગોળનો ગ્રંથ વાંચીએ તો, ઊલટું, જૈનોના અનાદિ-અનંતકાળની ભાવનાનો વિચાર દૃઢ થવાનો.

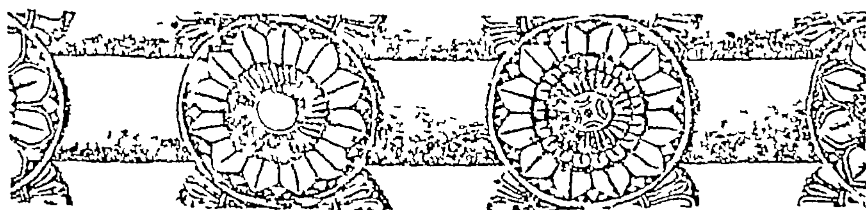
આ જ વિચાર જૈન સ્થાપત્ય, શિલ્પ, ચિત્રકળાના અભ્યાસને લાગુ પડી શકે છે. આપણે અનેકવાર કહેતા ફરીએ છીએ કે મુસ્લિમ સ્થાપત્ય, શિલ્પ અને ચિત્રકળા ઉપર જૈન છાયા જોવામાં આવે છે, પણ જો વધારે સ્ફુટ કરવાનું તે જ વિવેચકને કહેવામાં આવશે તો તે ગોથાં ખાશે, કારણ કે આ વિવેચકો ભાગ્યે જ કોઈ મસ્જિદમાં ગયા હશે, કે મુસ્લિમ શિલ્પ, સ્થાપત્ય, ચિત્રકળા તેમણે સૂક્ષ્મ રીતે જોયાં હશે!! કેટલાક લેખકો તો બધે અજંતાની છાયા જ જોતા આવ્યા છે!! આ વિષયમાં જો એટલી નિર્મળ દૃષ્ટિ આપણામાં આવી હોત તો જૈન પ્રતિમાઓના ઓષ્ઠ વગેરેને લાલ રંગ લગાડવામાં આવે છે તે હોત નહિ!!

Literary criticism — સાહિત્યના વિમર્શને તો આ વિચાર ખાસ લાગુ પડશે. આપણે આ વિમર્શ ઘણે ભાગે આપણી જૂની પ્રણાલિકાથી કરીએ છીએ. આપણા આ જૂનવાણીથી ભરેલા સંપાદકો જાણતા નથી કે સાહિત્ય, કળા વગેરેનો વિમર્શ યુરોપમાં જે દૃષ્ટિથી થયો છે તે દૃષ્ટિ વ્યાપક અને સાયન્ટિફિક દૃષ્ટિ છે અને તે દૃષ્ટિને આપણે હવે ખાસ કેળવવાની જરૂર છે.

આપણું ઇતિહાસનું પરિશીલન તો આ દૃષ્ટિએ અનેક ભૂલોથી ભરેલું છે. એ કળા આપણે કેળવી જ નથી.

આ વસ્તુસ્થિતિમાં ફેરફાર થાય તે માટે આપણા આગેવાનોએ, ખાસ કરીને શ્રી મહાવીર જૈન વિદ્યાલય જેવી સંસ્થાઓના સંચાલકોએ સાધુઓના અને વિદ્યાર્થીઓના અભ્યાસવિધિમાં ક્રાંતિ લાવવી પડશે અને તે માટે તેમણે વાચનાલયોની અને ગ્રંથાલયોની વ્યવસ્થામાં નવું ચેતન લાવવું પડશે. હું તો એટલે સુધી દલીલ કરી શકું કે આપણો સાધુવર્ગ થોડા સમય માટે કૉલેજોમાં વિશિષ્ટ પ્રાધ્યાપકોના વર્ગોમાં હાજરી આપે, અને પરીક્ષામાં ઉત્તીર્ણ થઈ યોગ્યતા પ્રાપ્ત કરે!! અલબત્ત, તે માટે સંઘે વ્યવસ્થા કરવી પડશે. આપણા ખ્રિસ્તી પાદરી-ભાઈઓને મેં કૉલેજોમાં અભ્યાસ કરતા જોયા છે. તેઓ અનેક સ્થળે Theology ની અભ્યાસસંસ્થાઓ ચલાવે છે. આપણે એવું કેમ ન કરીએ!!

બ્રિટિશ અમલ અગાઉ જૈન સાધુઓએ ભારતવર્ષપૂરતો તુલનાત્મક અભ્યાસ કરેલો, વિશેષ અભ્યાસ તે સમયે આવશ્યક નહોતો. મુસ્લિમ યુગમાં કોઈ કોઈએ ફારસી અભ્યાસ કરેલો. જિનપ્રભસૂરિ, ભાનુચંદ્ર ઉપાધ્યાય, સિદ્ધિચંદ્ર વગેરે એ અભ્યાસના નિષ્ણાત હતા. શ્રાવક વર્ગ તો એ નવી પ્રણાલિકાને અપનાવતો જાય છે, સાધુ વર્ગ હજુ પછાત છે. ઇચ્છીએ કે શિક્ષિત સાધુસમુદાય અને શિક્ષિત શ્રાવકસમુદાય યુરોપની પ્રણાલિકાને ગ્રહણ કરે અને જૈન સંસ્કારિત્વને તેથી નવો ઓપ આપે. જ્યારે એ સિદ્ધ થશે ત્યારે આચાર્યશ્રી વિજયવલ્લભસૂરીશ્વરજીનો પ્રયાસ પરિપૂર્ણતાના ગુણને વરશે અને ત્યારે જ આચાર્યપદની ભૂમિકા નવીન સફળતા પ્રાપ્ત કરશે.



પરિચય થયો ન હતો એવાં વર્ષો કયાં આવી રહી હતી. જૈન સાધુઓના આવા પ્રયત્નોમાં એક હેતુ હતો, તે એ કે મુસ્લિમ અને હિંદુ રાજકર્તાઓના અમલમાં જે હિંસા અને Irrational વર્તણૂકના બનાવો બની રહ્યા હતા તેમને દૂર કરવાનો હેતુ હતો. જેમ રોમના મહાસામ્રાજ્યના સમયમાં રોમના પાટનગરમાં અને અન્ય સ્થળોએ Gladiators એટલે હિંસક પ્રાણીઓની સાથે ખાસ જાતને દ્વંદ્વ કરવાની [illegible] પાળવામાં આવતી અને મેદાન—Arena—માં [illegible] લોકો અનેક [illegible] તે ખાસ જોવાને આવતી હતી તેમ.

સાહિત્યના સંપાદનક્ષેત્રમાં પણ આ દૃષ્ટિ લાગુ પાડી શકાય. ડૉ. [illegible] ભારતીય ઇતિહાસ અને સંસ્કૃતિને સમજવામાં નવીન જ્ઞાન પાડી છે તેમ હવે આ ક્ષેત્રમાં નવીન જ્ઞાન પાડવાની જરૂર છે. [illegible] એક દૃષ્ટિ મળવાની આવી નવીન જ્ઞાન ન જોઈએ છે. સાહિત્યના વિશારદોને એક દાખલો ૧૮ [illegible] રામ સીતાને વનવાસમાં મોકલે છે તે વખતે ભારે હોહો અને રામના [illegible] ઘણા [illegible] છે ત્યારથી આ રામાયણમાં દર્શાવેલ [illegible] રામને [illegible] છે કે [illegible] હવે અમે રોકાય [illegible] હું [illegible] રાજ્ય [illegible] છે તો પ્રજાને અનુસરતો રહે? કારણ કે [illegible] છે [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] આમાં આપણો આમ અનુકરણીય એવો ધર્મ જોઈએ, કારણ કે આ સમયે રામનું [illegible] તો હોવું જોઈએ. રામ વખતમાં પુષ્ટ હતા, પણ રાજ્યના અનુકરણની અપેક્ષાએ [illegible] હતા, એટલે વસિષ્ઠ આદિ ગુરુ આપે તેને યોગ્ય સલાહ આપેલી કે ધ્યાન રાખે? [illegible] ન હતો. રામ લોકઅપવાદનો આશ્રય લઈ સીતાને ત્યજવા માટે વનમાં મોકલે છે ત્યારે [illegible] આજના યુગમાં [illegible] છે કારણ કે [illegible] થઈ ગયા, પણ રામ [illegible] છે ત્યારે સીતાનું નામ સાચું રહ્યું છે — [illegible] રામને આ ધર્મ [illegible] હતું. વિધિ પ્રમાણે રાજ્ય કરવું, અને પ્રિય સીતાનો વિયોગ સહન કરવો—કેવું દુષ્કર કામ છે! ([illegible] (constitutionally) [illegible]) [illegible] આ રામના પ્રજાની માનસિક ધારણાને આધુનિક પરિભાષામાં, રાજ્યધર્મ, અનુશાસનનિષ્ઠા અને વે ન ઠીક રામરાજ્ય—એનું અનેક ભિન્ન રજૂ કરી આપવાને કરવું રહેશે પ્રયાસ થતાં છે, સાહિત્યના સંપાદનમાં આવી દૃષ્ટિ આવકારી જોઈએ.

આપણા સંપાદનો યોગ્ય દૃષ્ટિ કેળવી શકે તે માટે શું શું જોઈએ એ વિચારે પ્રશ્ન છે. એટલું તો ખરું છે કે આપણા સંપાદકો વિદ્વાનો છે. તેમનો ભારતીય સાહિત્યનો અભ્યાસ ખરેખર [illegible] છે. જે ન્યૂનતા છે તે પરંપરાગત શૈલીથી અભ્યાસ કરવાથી નિપજતી ન્યૂનતા છે. અત્યારે જૈન સાધુઓની પરિષદો થાય છે અને એ પરિષદોની ચર્ચાનું સમાપની ધાર્મિક ખરેખર આવકાર યોગ્યમાં આવી છે. વ્યવસ્થા ખરેખર ઉત્તમ છે. પણ હવે સમય આવ્યો છે ત્યારે એવી વ્યવસ્થા કરવાની જરૂર છે. જેથી આપણો સહેજ અને અપેક્ષિત આધુનિક પરિભાષાની વિદ્યાથી પણ વિભૂષિત હોય. ઉત્તમોત્તમ વિશેષતા તેમણે જોઈ અને યુરોપીય તત્ત્વચિંતકોનો પરિચય મળવાનો જોઈએ. તેમણે તે માટે વિશ્વભરની અને ગામનો પ્રતિપક્ષ ચાલુ રાખવો જોઈએ. હું એવી પણ આશા રાખું અને ઇચ્છું છું કે—તેમણે સમાજશાસ્ત્ર, રાજ્યશાસ્ત્ર અને અર્થશાસ્ત્ર, એના સામાન્ય સૂત્રો પણ જાણવાં જોઈએ, જેથી તેમનો વિચારમાં [illegible] ન થાય અને દરેક વિચારને પ્રતિપક્ષના યોગ્ય મોરચામાં મૂકી શકે.

આના ભાતભાતના સંક્રમણોમા પસાર થતા પ્રાકૃત ભાષાઓ આ નવી ભાષાના રૂપને પામી છે એ જ એમનો ભાષાઓના વિકાસમા મોટામા મોટો ફાળો છે

ભાષાઓના ક્રમવિકાસની પ્રક્રિયા એ ભાષાશાસ્ત્રનો મૂળ પાયો છે ધ્વનિઓનુ વિવિધ પ્રકારનુ સંક્રમણ કાઈ આકસ્મિક નથી તેમ અનિયમિત પણ નથી એ સક્રમણ સર્વથા વૈજ્ઞાનિક નિયમને વશવર્તી ે અને તે અમુક અમુક નિયમોને વશવર્તી હોઈ એકદમ સુનિયમિત છે, આમ છે માટે જ આપણા ચીન ભાષાકુળો અને અર્વાચીન ભાષાકુળો વચ્ચે એકસરખુ સળગ અનુસધાન સચવાયેલ છે અને ને લીધે જ ભૌગોલિક પરિસ્થિતિને લીધે નોખા નોખા પડી ગયેલા છતા એક આર્ય ભાષા બોલનારા ણામા એટલે તમામ પ્રાતના અને તમામ વર્ગના લોકોમા એવો કોઈ મોટો વિચ્છેદ થઈ ગયો હોય ાષાવિકાસની દૃષ્ટિએ જગાય જણાતુ નથી વા પરાપૂર્વથી ચાલ્યા આવતા આપણા સામાજિક ા કોઈ મોટુ અતર પડી ગયુ હોય એમ પણ અનુભવાતુ નથી

ગાના પાણી નિરતર બદલાયા કરતા હોવા છતા જેમ તે એકરૂપમા દેખાય છે તેમ આપણી રપરાઓ અને અર્વાચીન પરપરાઓ નિરતર બદલાતી રહી છે છતા તેમા સળગસૂત્રતા અખડતા નતતસાતત્ય ટકી રહેલા છે એવુ આજે હજારો વરસ પછી પણ આપણે અનુભવીએ છીએ ાષાઓના સબધમા સચવાયેલી મૌલિક સમાનતાનો છે એમા લેશ પણ શક નથી

જાઓ જ્યારે વિજેતારૂપે ભારતમા ઊતરી પડી અને આર્યેતર પ્રજાઓ સાથે સઘર્ષમા ર્યપ્રજાની ભાષાઓને પણ બીજી અનેક આર્યતર પ્રજાઓની ભાષાઓ સાથે બરાબર પડેલુ અને એમા કેટલેક અશે વિજય મેળવ્યા પછી જ આર્ય ભાષા ભારતમા પોતાનુ ાપ્ત કરી શકી

થી માડીને બ્રાહ્મણગ્રથોના સમય સુધીની આર્ય ભાષા પોતાના સમયની બીજી બીજી ઓ સાથે સઘર્ષમા આવતા છતા કેટલીક માડવાળ પછી પોતાનુ સ્વરૂપ બરાબર માટે જ એ ભાષાને ભારતીય આર્ય ભાષાની પ્રથમ ભૂમિકારૂપે ગણી શકાય

ોથી અતગ રહેવુ વા બાહ્ય રગ કે ચોકખાઈના મિથ્યાભિમાનથી પ્રેરાઈ બીજી ાથે સસર્ગમા ન આવવુ એ વૃત્તિ આર્યોમા ન હતી જેમ સમુદ્રમા અનેક નદીઓ પ બની જાય છે તેમ આર્યોમા અનેક આર્યતર પ્રજાઓ એવી રીતે ભળી ગઈ ીને નોખી પાડવાના એંધાણો જ જાણે ભૂસાઈ ગયા હોય એવુ બની ગયુ અને ટો સમાજ જ બની ગયો આનો અર્થ એ થયો કે હવે કોઈ આર્યેતર છે એમ — આર્ય અનાર્ય તે બધા વચ્ચે પરસ્પર લોહીનો સબધ, કામકાજનો ગાઢ ર વિનિમય, એને લીધે એકબીજી ભાષાઓએ આર્યોની ભાષા ઉપર સારી ને આર્યોએ બરાબર આવકારી પણ ખરી, તેમ આર્યોની ભાષાએ ી એવી જ અસર કરી આમ એકબીજી ભાષાઓમા કોઈએ કશુ ય ગેલુ, પરંતુ દરેક ભાષાએ બીજી ભાષાની અસરને આવવા દેવા ા

ો લીધે આર્ય ભાષાએ આર્યેતર ભાષાના હજારો શબ્દોને પોતામા ાણિક પુરાવાઓ ભાષાસશોધકોને મળી આવ્યા છે તેમાના કેટલાક

ભાષાના વિકાસમાં પ્રાકૃત–પાલિભાષાનો ફાળો

પં૦ બેચરદાસ

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

એમનામા જે એકસરખી અનેક ખાસિયતો છે તે બધી વિગે તો કહેવાનુ આ સ્થાન નથી, છતા તેમની પારસ્પરિક એકસૂત્રતાનો સ્પષ્ટ ખ્યાલ આવે તે સારુ તેમના કેટલાક શબ્દો આ નીચે નોંધી બતાવુ છુ

સસ્કૃત	પતિ	ગ્રીક	પોતિસ્	લેટિન	પોતિસ	લિથુઆનીઅન	પતઈસ
"	અપિ	"	એપિ				
"	પિબામિ			"	બિબો		
"	ભરામિ	"	ફેરો	"	ફેરો	આર્મેનિયન	બેરેમ
"	ત્રય	"	ત્રેસ્	"	ત્રેસ		
"	દમ	"	દોમોસ્	"	દોમુસ્	સ્લાવ	દોમુ
"	પાદમ્	"	પોદ	"	પેદેમ્		
"	ધૂમ	"	થુમોસ્	"	ફુમુસ્	સ્લાવ	ધમુ
"	રુધિર	"	એ રુથ્રોસ્	"	રુબેર		

(સસ્કૃત સિવાયની બીજી બીજી ભાષાઓના જે એકસરખા શબ્દો ઉપર દર્શાવ્યા છે તેમને હુ શુદ્ધ રીતે અહીં આપણી ગુજરાતી લિપિમા ઉતારી શક્યો નથી એથી અહીં બતાવેલા શબ્દો દ્વારા તેમના શુદ્ધ ઉચ્ચારણો કરી શકાય એમ નથી)

તે તે ભાષાના નામો પ્રજા ઉપરથી કે દેશ ઉપરથી પ્રચલિત થયેલા છે ઉત્તરમા વસનારાઓની ભાષાનુ નામ ઉદીચ્ય ભાષા, પૂર્વમા વસનારાઓની ભાષાનુ નામ પ્રાચ્ય ભાષા, મધ્યપ્રદેશમા વસનારાઓની ભાષાનુ નામ મધ્યદેશીય ભાષા એ જ રીતે મગધ દેશની માગધી ભાષા, શૂરસેન દેશની શૌરસેની ભાષા, પિશાચ દેશની પૈશાચી ભાષા, અવતી દેશની ભાષા અવતિજા, સુરાષ્ટ્રની સૌરાષ્ટ્રી, મહારાષ્ટ્રની મહારાષ્ટ્રી, વિદર્ભની વૈદર્ભી, ગ્રીક નામની પ્રજાની ટોળીની ગ્રીક ભાષા, લેટિનમ નામના કસ્બાની લેટિન ભાષા, આર્યોની ઇરાની ભાષા, લોકોમા પ્રચલિત ભાષાનુ નામ લૌકિક ભાષા

આ રીતે ભાષાના નામકરણની ઘણી પ્રાચીન પ્રથા છે, આમા ક્યાય સસ્કૃત ભાષા, પ્રાકૃત ભાષા કે અપભ્રશ વા અપભ્રષ્ટ ભાષા આવા નામ મળતા નથી મહાભાષ્યકાર જેવા કટ્ટર સનાતની પુરોહિતે પણ સસ્કૃત નામે ભાષાનો ઉલ્લેખ કરેલો નથી ત્યારે અહીં એ પ્રશ્ન થવો સ્વાભાવિક છે કે એ નામો આવ્યા શી રીતે ? એ નામોનો ઉદ્ભાવક કોણ ? આનો ઉત્તર અતિસક્ષેપમા આમ આપી શકાય

થોડા સમય પહેલા આપણા દેશમા રાજશાહી હતી, તેનો અને તેની અતિસકુચિત પ્રકૃતિનો આપણને અનુભવ છે જે લોકો માત્ર પોતાની જ જાતને નરી સુખી સુખી જોવા વા કરવા ચાહે છે તેમને પોતાના ભાઈઓ તરફ પણ જુલમગારની પેઠે વર્તવુ પડે છે, માટે જ તે સુખાર્થીઓની પ્રકૃતિ અતિ સકુચિત બની જાય છે એવી રાજશાહી જેવી જ આશરે બેત્રણ હજાર વરસ પહેલા આપણા દેશમા પુરોહિતશાહી ચાલતી હતી માણસ માત્ર સમાન હકના અધિકારી છે એ નિયમને નહીં સ્વીકારી તેણે પોતાની જાતને સૌથી ઉત્તમ કલ્પી અને બીજી તમામ જનતાને પુરોહિતોમાત્રથી ઊતરતી ગણી, આ સાથે તે પુરોહિતશાહીએ જ પોતાની ભાષાને પણ ઉત્તમ કોટિની માની અને બીજી આમજનતાની ભાષાને અનુત્તમ કોટિની કહી અર્થાત્ તે પ્રાચીન પુરોહિતવિપ્રોએ પોતાની ભાષાને સસ્કૃત એવુ નામ આપ્યુ અને જનતાની ભાષાને પ્રાકૃત અથવા અપભ્રષ્ટ કે અપભ્રશ નામ આપ્યું એવો આ સસ્કૃત પ્રાકૃત વા અપભ્રશ નામોની પાછળ વર્તમાનમા તો ધૃણા આવે એવો ઇતિહાસ છુપાએલ છે

વસ્તુસ્થિતિએ વિચારવામાં આવે તો શું કોઈ તટસ્થને એમ ચોક્કસ જ જણાશે કે અમુક ભાષા ઉત્તમ છે અને અમુક ભાષા અનુત્તમ છે એવી કલ્પના જ વાહિયાત છે વા અમુક ભાષાને બોલનારો વર્ગ શિષ્ટ છે અને અમુક ભાષાને બોલનારો વર્ગ અશિષ્ટ છે એવી કલ્પના પણ વળી વધારે વાહિયાત છે અને માનવતાનું દેવાળું ફૂંકનારી છે.

કોઈપણ ભાષાનું મૂળ તેના બોલનારાઓના જીવનમાં છે. જે ભાષા જે લોકોને માટે બરાબર અભિવ્યક્તિ કરનારી હોય તે ભાષા તેમની દૃષ્ટિએ બરાબર છે એટલે શિષ્ટ જ છે. એ વાત જેટલી અર્થસૂચક છે તેટલી જ બરાબર અર્થસાધક [illegible] છે. એ વાત પણ છે માટે એ બેમાંથી કોઈ ભાષાને અશિષ્ટ કેમ કહેવાય?

ભાષાશાસ્ત્રની દૃષ્ટિએ તો અમુક એક ભાષા શિષ્ટ છે અને અમુક એક ભાષા અશિષ્ટ છે એવી કલ્પના તદ્દન અજ્ઞાન છે. એ શાસ્ત્ર તો દરેક ભાષાના ઉચ્ચારણો અને તેના પરિવર્તનોનાં કારણોને શોધી કાઢી તેમની વચ્ચેની સાંકળ જાણી ભાષાના ક્રમિક ઇતિહાસની કેડી તરફ આપણને લઈ જાય છે.

એ શાસ્ત્રે જણાવેલી રીતિએ જોતાં આપણી ભારતીય આર્યભાષાના વિકાસની મુખ્ય મુખ્ય રેખાઓની ભૂમિકાઓ આ પ્રમાણે છે. ભારત-યુરોપીય ભાષા, ભારત-ઈરાની ભાષા અને ભારતીય-આર્ય ભાષા.

પ્રસ્તુતમાં અંતિમ એવી ભારતીય આર્ય ભાષા વિશે ખાસ કહેવાનું છે. ભારતીય આર્ય ભાષાની પણ પ્રધાનપણે ત્રણ ભૂમિકાઓ છે. પ્રાચીન ભારતીય આર્ય ભાષા, મધ્યયુગીન ભારતીય આર્ય ભાષા અને નવ્ય ભારતીય આર્ય ભાષા. આ ત્રણે ભૂમિકાઓને સંસ્કૃત, પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ ભાષારૂપે પણ સમજાવી શકાય.

આપણી આર્ય ભાષાનો ઇતિહાસ ઘણો પ્રાચીન છે. આવો અને આટલો પ્રાચીન ઇતિહાસ બીજી કોઈ ભાષાને હોય એવું હજી સુધીમાં જણાયેલ નથી.

જો કે આપણામાં પ્રાકૃત અને પાલિ એ બે નામો જુદાં જુદાં જણાવેલાં છે. છતાં વસ્તુસ્થિતિએ એક પ્રાકૃત નામમાં જ તે બન્ને ભાષાનો સમાવેશ થઈ જાય છે.

પ્રાકૃત ભાષાઓ ભારતીય આર્ય ભાષાના ઇતિહાસની એક અગત્યની ભૂમિકારૂપ છે. ભગવાન મહાવીર, ભગવાન બુદ્ધથી માંડીને ભારતીય તમામ સંતોએ એટલે કે આ યુગના પૂર્વ ભારતના સરહપા, કણ્હપા, મહીપા, જાલન્ધરપા વગેરે સિદ્ધો, દક્ષિણ ભારતના જ્ઞાનેશ્વર, તુકારામ, ઉત્તર ભારતના તુલસીદાસ, કબીર, નાનક, પશ્ચિમ ભારતના નરસિંહ મહેતા, આનંદઘન વગેરે સંતોએ પોતાના સાહિત્યનું મુખ્ય વાહન પ્રાકૃત ભાષાઓને બનાવેલ છે. અહીં એ યાદ રાખવું જરૂરી છે કે આ પ્રાચીન અને અર્વાચીન તમામ સંતો આમજનતાના પ્રતિનિધિસમ હતા અને આમજનતાના સુખદુઃખના સહવેદી હતા.

પ્રાકૃતભાષાનું પ્રધાન લક્ષણ આ પ્રમાણે આપી શકાય: એક તરફથી પ્રાચીનતમ ભારતીય આર્ય ભાષા એટલે કે વેદોની ભાષા અને બીજી તરફથી વર્તમાનકાળની બોલચાલની ગુજરાતી, હિન્દી, મરાઠી, બંગાળી વગેરે ભાષાઓ. એ બન્ને વચ્ચે આર્યોની આદ્ય ભાષા અને અંતિમ ભાષાના સ્તરોની વચ્ચે વહનારા ભારતીય ભાષાના ઇતિહાસની જે સાંકળરૂપ અવસ્થા છે તેને પ્રાકૃતનું નામ આપી શકાય. આ પ્રધાન લક્ષણ કહી શકાય.

કોઈ ને કોઈ પ્રકારે પ્રાકૃતરૂપે સામ્ય પામ્યા પછી જ તે આદ્ય અથવા પ્રાચીનતમ ભારતીય ભાષા, આર્ય ભાષા વા વેદોની ભાષા વર્તમાન કાળે બોલચાલમાં ચાલતી નવીન ભારતીય ભાષાના રૂપને પામી હો, એ એક ભાષાશાસ્ત્રનો સુનિશ્ચિત સિદ્ધાંત છે. એવી જાતનાં વિવિધ સામ્ય વિના આ નવી અનેક આર્ય ભાષાઓનો ઉદ્ભવ કેમ કરીને થાય?

આવા ભાતભાતના સંક્રમણોમા પસાર થતા પ્રાકૃત ભાષાઓ આ નવી ભાષાના રૂપને પામી છે એ જ એમનો ભાષાઓના વિકાસમા મોટામા મોટો ફાળો છે

ભાષાઓના ક્રમવિકાસની પ્રક્રિયા એ ભાષાશાસ્ત્રનો મૂળ પાયો છે ધ્વનિઓનુ વિવિધ પ્રકારનુ સંક્રમણ કાઈ આકસ્મિક નથી તેમ અનિયમિત પણ નથી એ સંક્રમણ સર્વથા વૈજ્ઞાનિક નિયમને વશવર્તી છે અને તે અમુક અમુક નિયમોને વશવર્તી હોઈ એકદમ સુનિયમિત છે, આમ છે માટે જ આપણા પ્રાચીન ભાષાકુળો અને અર્વાચીન ભાષાકુળો વચ્ચે એકસરખુ સળગ અનુસધાન સચવાયેલ છે અને એને લીધે જ ભૌગોલિક પરિસ્થિતિને લીધે નોખા નોખા પડી ગયેલા છતા એક આર્ય ભાષા બોલનારા આપણામા એટલે તમામ પ્રાતના અને તમામ વર્ગના લોકોમા એવો કોઈ મોટો વિચ્છેદ થઈ ગયો હોય એવુ ભાષાવિકાસની દૃષ્ટિએ જરાય જણાતુ નથી વા પરાપૂર્વથી ચાલ્યા આવતા આપણા સામાજિક પ્રવાહમા કોઈ મોટુ અતર પડી ગયુ હોય એમ પણ અનુભવાતુ નથી

ગગાના પાણી નિરતર બદલાયા કરતા હોવા છતા જેમ તે એકરૂપમા દેખાય છે તેમ આપણી પ્રાચીન પરપરાઓ અને અર્વાચીન પરપરાઓ નિરતર બદલાતી રહી છે છતા તેમા સળગસૂત્રતા અખડતા અભિન્નતા સતતસાતત્ય ટકી રહેલા છે એવુ આજે હજારો વરસ પછી પણ આપણે અનુભવીએ છીએ એ પ્રતાપ ભાષાઓના સબધમા સચવાયેલી મૌલિક સમાનતાનો છે એમા લેશ પણ શક નથી

આર્યપ્રજાઓ જ્યારે વિજેતારૂપે ભારતમા ઊતરી પડી અને આર્યેતર પ્રજાઓ સાથે સઘર્ષમા આવી ત્યારે આર્યપ્રજાની ભાષાઓને પણ બીજી અનેક આર્યતર પ્રજાઓની ભાષાઓ સાથે બરાબર સઘર્ષમા ઊતરવુ પડેલુ અને એમા કેટલેક અશે વિજય મેળવ્યા પછી જ આર્ય ભાષા ભારતમા પોતાનુ સાસ્કૃતિક સ્વરૂપ પ્રાપ્ત કરી શકી

વેદોના સમયથી માડીને બ્રાહ્મણગ્રથોના સમય સુધીની આર્ય ભાષા પોતાના સમયની બીજી બીજી અનેક આર્યેતર ભાષાઓ સાથે સઘર્ષમા આવતા છતા કેટલીક માડવાળ પછી પોતાનુ સ્વરૂપ બરાબર ટકાવીને વિજયી બની માટે જ એ ભાષાને ભારતીય આર્ય ભાષાની પ્રથમ ભૂમિકારૂપે ગણી શકાય

એકબીજી પ્રજાઓથી અતગ રહેવુ વા બાહ્ય રગ કે ચોકખાઈના મિથ્યાભિમાનથી પ્રેરાઈ બીજી બીજી આર્યેતર પ્રજાઓ સાથે સમ્પર્કમા ન આવવુ એ વૃત્તિ આર્યામા ન હતી જેમ સમુદ્રમા અનેક નદીઓ ભળી જાય છે અને સમુદ્રરૂપ બની જાય છે તેમ આર્યામા અનેક આર્યતર પ્રજાઓ એવી રીતે ભળી ગઈ છે કે પછી તેને આયતર કહીને નોખી પાડવાના એંધાણો જ જાણે ભૂસાઈ ગયા હોય એવુ બની ગયુ અને આર્યોનો એક નવો એવો મોટો સમાજ જ બની ગયો આનો અર્થ એ થયો કે હવે કોઈ આયતર છે એમ કળાવુ જ અશક્ય બની ગયુ — આર્ય અનાર્ય તે બધા વચ્ચે પરસ્પર લોહીનો સબધ, કામકાજનો ગાઢ સબધ, ભાષાઓનો પણ પરસ્પર વિનિમય, એને લીધે એકબીજી ભાષાઓએ આર્યોની ભાષા ઉપર સારી એવી અસર કરી અને એ અસરને આર્યોએ બરાબર આવકારી પણ ખરી, તેમ આર્યાની ભાષાએ આર્યતર ભાષાઓ ઉપર પણ સામી એવી જ અસર કરી આમ એકબીજી ભાષાઓમા કોઈએ કશુ ય આભડછેટનુ તત્ત્વ મુદ્દલ નહીં સ્વીકારેલું, પરંતુ દરેક ભાષાએ બીજી ભાષાની અસરને આવવા દેવા પોતાના બારણા તદ્દન ખુલ્લા રાખેલા

આવી વિશાળહૃદયી પરિસ્થિતિને લીધે આર્ય ભાષાએ આર્યેતર ભાષાના હજારો શબ્દોને પોતામા પોતાની રીતે સમાવી લીધાના જે પ્રામાણિક પુરાવાઓ ભાષાસશોધકોને મળી આવ્યા છે તેમાના કેટલાક આ પ્રમાણે છે

વસ્તુ સ્થિતિએ વિચારવામાં આવે તો સૌ કોઈ [illegible] એમ [illegible] ... અમુક અંશ અનુત્તમ છે [illegible] ... અમુક અંશ તે બોલતો [illegible] ... અમુક અંશ તે બોલતો [illegible] અશિષ્ટ છે એટલી [illegible] ... છે અને [illegible] ઉપકારી છે.

[illegible] તેના [illegible] છે [illegible] લોકોને માટે [illegible] ... દૃષ્ટિએ [illegible] છે એટલે [illegible] છે. એ વાત [illegible] ... એ વાત [illegible] છે માટે એ એમાંથી એક વાતને અશિષ્ટ [illegible]?

[illegible] દૃષ્ટિએ તો અમુક એક [illegible] શિષ્ટ છે અને અમુક એક [illegible] અશિષ્ટ છે એવી [illegible] છે. એ વાત તો [illegible] અને તેનાં [illegible] ... [illegible] તેમની [illegible] ઇતિહાસની [illegible] ... ને [illegible] છે.

[illegible] તેનાં [illegible] ... [illegible] મુખ્ય મુખ્ય રેખાઓની [illegible] ... અને [illegible].

[illegible] એવી [illegible] કરેલું છે. [illegible] ... પ્રાચીન [illegible] અને [illegible] ... અને [illegible] ... પ્રાકૃત અને [illegible] ... [illegible]

[illegible] ઇતિહાસ [illegible] પ્રાચીન છે [illegible] અને [illegible] પ્રાચીન ઇતિહાસ [illegible] ... [illegible] નથી.

તે [illegible] પ્રાકૃત અને [illegible] નામો [illegible] છે. [illegible] વસ્તુ સ્થિતિ [illegible] પ્રાકૃત [illegible] ... સમાવેશ થઈ જાય છે.

[illegible] ઇતિહાસની એક [illegible] ભૂમિકારૂપ છે. [illegible] ... તમામ [illegible] એટલે કે [illegible] ... [illegible] ઇતિહાસ [illegible] ... [illegible] અને [illegible] ... [illegible] છે. [illegible] છે કે આ પ્રાચીન અને અર્વાચીન [illegible] ... અને [illegible] ... [illegible].

[illegible] પ્રાચીનતમ [illegible] ... [illegible] ગુજરાતી, હિન્દી, [illegible] ... અને [illegible] ... [illegible] ઇતિહાસની [illegible] છે તેને પ્રાકૃત નામ આપી [illegible] ... [illegible]

[illegible] પ્રાકૃતનો [illegible] ... [illegible] છે. [illegible] ... [illegible] છે. એવી [illegible] ... [illegible]

આર્યપ્રવાહમાં એવા કેટલાંય આર્યેતર કર્મકાંડો, પ્રામાણિકાઓ અને પરંપરાઓ આર્યરૂપ પામી આજલગી ચાલતાં આવેલાં છે, એની પણ કોઈ વિચારક સંશોધક ના નહીં પાડી શકે

આપણામાં આર્યેતર લોહી આર્યરૂપ પામી ભળેલું છે એ હકીકત કાંઈ આજના શોધકોએ જ શોધી કાઢેલ છે એમ નથી, પરંતુ આપણા મહર્ષિ મીમાંસાશાસ્ત્રકાર શબર અને મહાપંડિત કુમારિલભટ્ટ પણ એ હકીકતને સ્પષ્ટપણે જાણતા હતા, તેથી એ બાબત તેમણે પોતાના શાબર ભાષ્યમાં તથા તન્ત્રવાર્તિકમાં નોંધ આપેલી છે અને સાથે ખાસ ભલામણ પણ કરેલી છે કે જે આર્ય બે ભાષાના એટલે આર્ય ભાષા અને આર્યેતર ભાષાના જાણકાર હશે તેઓ વેદોની પરંપરાને અને વેદોના ભાવને ઠીક ઠીક સમજી શકશે

આ રીતે સમગ્ર માનવધર્મીના ધ્યેયને વરેલી આર્ય પ્રજા અને તેની આર્ય ભાષા પોતાના વિકાસમાં આગેકૂચ કરી રહી હતી ઈરાનમાં આગળ ને આગળ વધતી આર્યોની ટોળીઓ જ્યારે ભારત ઈરાનની આર્ય ભાષાના સહવાસમાં આવી ત્યારે એ બન્ને ભાષાઓએ પણ એકબીજાની છાપ પરસ્પર બરાબર લગાડી દીધી, તે હકીકત પણ આજે વર્તમાન જે અવેસ્તા સાહિત્ય છે તે દ્વારા સ્પષ્ટ જણાઈ આવે છે આ નીચે એવા કેટલાક નામો, વિભક્તિવાળા નામો અને ક્રિયાપદો એ બન્ને ભાષાના આપ્યા છે જેથી એ બન્ને ભાષાઓનો અત્યંત નિકટનો સંબંધ સહજ રીતે ખ્યાલમાં આવી જશે

ભારત ઈરાનની આર્ય ભાષા		ભારતીય આર્ય ભાષા
સ્પેન્ત	એટલે	શ્રેષ્ઠ
વોહુ	"	વસુ-પવિત્ર
હુખ્ત	"	સૂક્ત
બૂમી	"	ભૂમિ
હથ્રા	"	સત્રા એટલે સાથે
અહુર	"	અસુર

વિભક્તિવાળા નામો

થ્વા	એટલે	ત્વામ્-તને
અહ્યા	"	અસ્ય-એનું
વચેબીશ્યા	"	વચોભિશ્ચ-વચનો વડે
ઉભોઈબ્યા	"	ઉભયેભ્ય-યુગલ માટે
હ્વો	"	સ્વ-પોતે
અઝેમ્	"	અહમ્-હું
વએમ્	"	વયમ્-અમે
અહ્મા	"	અસ્માન્-અમોને
મત્	"	મત્-મારાથી

વિભક્તિવાળા ક્રિયાપદો

નેમખ્યામહી	એટલે	નમિષ્યામહે-નમીએ છીએ
બરૈતી	"	ભરતિ-ભરે છે-પોષણ કરે છે
અહી	"	અસિ-તું છે
વએદા	"	વેદ-જાણ્યું

ભારત અને મેસોપોટેમિયા વચ્ચે ઘણું મોટું અંતર છે છતાં જ્યારે આર્યો સ્થિર, ફરતાં ફરતાં પહોંચેલા ત્યારે ત્યાંના આજથી આશરે ત્રણેક હજાર વરસ પહેલાંના શિલાલેખમાં ત્યાંના આર્યેતર રાજાઓએ પોતાના દેવોનાં જે નામો લખેલાં હતાં તે જ નામો આપણા આર્યોનાં પણ દેવોનાં બની ગયાં.

મિતાનીના શિલાલેખમાં	વેદમાં
ઇન્-દ-ર	ઇન્દ્ર
મિ-ઇત્-ત-ર	મિત્ર
અ-રુ-ન અથવા ઉ-રુ-વ-ન	વરુણ
ન-સ-સત્-તિ-ય	નાસત્ય

નાસત્ય શબ્દ વેદમાં જુગલરૂપ અશ્વિનો માટે વપરાયેલ છે. મેસોપોટેમિયા માટે ઋગ્વેદમાં મંડળ ૧ સૂક્ત ૧૩૪ મંત્ર ૧–૭ માં મેહસ્થાન શબ્દ આપેલ છે અને મિસિસ્ત્ર પ્રજા માટે વેદમાં શિશ્નદેવ શબ્દ વપરાયેલ છે.

આર્ય પ્રજા ઓસ્ટ્રિક પ્રજાઓ સાથે, દ્રવિડ પ્રજાઓ સાથે અને નિગ્રોઈડોની પ્રજાઓ સાથે સંપર્કમાં આવી ત્યારે તે તે પ્રજાની ભાષાના પણ હજારો શબ્દો આર્ય ભાષામાં આર્ય રીતે ભળેલા જોવા મળ્યા છે. તેમાંના થોડા જ શબ્દો આ છે.

આર્ય ભાષામાં ભળી ગયેલા આર્યેતર શબ્દો			કેટલાક ઓસ્ટ્રિક શબ્દો		
દ્રવિડ	એટલે	ગુજરાતી	ઓસ્ટ્રિક ઉચ્ચારણ		આર્ય ઉચ્ચારણ
રામ		સુંદર	પોનક્	એટલે	બાણ
ચિત્તિરાઈ		સુંદર કળા જાણતી	કિપેલ		કર્પાસ—કપાસ
		હોય એવી અપ્સરા	કેળું		કદલી—કેળ
નીર		પાણી	ભાતમ[1]		ભક્ત—ધાણી
પિલ		ઝાડ	નિયોરઓલાઈ		નારિકેલ—નાળિયેર
ચિત્તર		પૂજારી અથવા ધૂર્ત	વાતિંગાન		વાતિંગણ—વાઇંગણ—વેંગણ
કાલી		કાલી—જવલ			
કુલાલ		કુંભાર	નીગ્રોઈડ નિગ્રોની ઉચ્ચારણ		આર્ય ઉચ્ચારણ
તડુન		તાંદુલ—ચોખા	પૂ	એટલે	પુષ્પ—પૂલ—કેસરી
નિલ		તલ	ભોમ[2]		નગ

જેમ હિમગિરિમાંથી વહેતી નદીમાં બીજા બીજા પ્રવાહો ભળી તદ્રૂપ બની જાય છે તેમ જ આર્ય પ્રજાની અને ગણતંત્ર દેવભાષાની આ ભાષામાં હજારો આર્યેતર શબ્દો ભળી જઈ આર્યરૂપ બની ગયા એ હિમગિરિ જેવી ભાષા માટે તદ્દન સ્વાભાવિક છે. વેદો, બ્રાહ્મણગ્રંથોમાં અને આરણ્યકોમાં મહાભારતથી માંડીને અત્યાર સુધીનાં સંસ્કૃત સાહિત્યમાં એવા આર્યેતર શબ્દોને આત્મરૂપે બનાવી વગર સંકોચે તે તે મહર્ષિઓએ અને કવિવર પંડિતોએ અપનાવી લીધા છે એટલું જ નહીં, પણ આપણા

૧. ઓસ્ટ્રિકમાં ભાતનો અર્થ ખોરાક થાય છે.
૨. બાન્ટુ નિગ્રોમાં ભોમનો અર્થ નદી થાય છે.

આર્યપ્રવાહમાં એવા કેટલાય આર્યેતર કર્મકાંડો, પ્રણાલિકાઓ અને પરંપરાઓ આર્યરૂપ પામી આજ સુધી ચાલતા આવેલા છે, એની પણ કોઈ વિચારક સંશોધક ના નહીં પાડી શકે

આપણામાં આર્યેતર લોહી આર્યરૂપ પામી ભળેલું છે એ હકીકત કાંઈ આજના શોધકોએ જ શોધી કાઢેલ છે એમ નથી, પરંતુ આપણા મહર્ષિ મીમાંસાભાષ્યકાર શબર અને મહાપંડિત કુમારિલભટ્ટ પણ એ હકીકતને સ્પષ્ટપણે જાણતા હતા, તેથી એ બાબત તેમણે પોતાના શાબર ભાષ્યમાં તથા તન્ત્રવાર્તિકમાં નોંધ આપેલી છે અને સાથે ખાસ ભલામણ પણ કરેલી છે કે જે આવા બે ભાષાના એટલે આર્ય ભાષા અને આર્યેતર ભાષાના જાણકાર હશે તેઓ વેદોની પરંપરાને અને વેદોના ભાવને ઠીક ઠીક સમજી શકશે

આ રીતે સમગ્ર માનવશ્રેણીના ધ્યેયને વરેલી આર્ય પ્રજા અને તેની આર્ય ભાષા પોતાના વિકાસમાં આગેકૂચ કરી રહી હતી ભ્રમણમાં આગળ ને આગળ વધતી આર્યોની ટોળીઓ જ્યારે ભારત ઈરાની આર્ય ભાષાના સહવાસમાં આવી ત્યારે એ બન્ને ભાષાઓએ વળી એકબીજાની છાપ પરસ્પર બરાબર લગાડી દીધી, તે હકીકત પણ આજે વર્તમાન જે અવેસ્તા સાહિત્ય છે તે દ્વારા સ્પષ્ટ જણાઈ આવે છે આ નીચે એવા કેટલાક નામો, વિભક્તિવાળા નામો અને ક્રિયાપદો એ બન્ને ભાષાના આપ્યા છે જેથી એ બન્ને ભાષાઓનો અત્યંત નિકટનો સંબંધ સહજ રીતે ખ્યાલમાં આવી જશે

ભારત ઈરાની આર્ય ભાષા		ભારતીય આર્ય ભાષા
મએસ્ત	એટલે	શ્રેઠ
વોહુ	”	વસુ-પવિત્ર
હપ્ત	”	સપ્ત
બૂમી	”	ભૂમિ
હથ્રા	”	સત્રા એટલે સાથે
અહુર	”	અસુર

વિભક્તિવાળા નામો

થ્વા	એટલે	ત્વામ્-તને
અહ્યા	”	અસ્ય-એનું
વચેબીશ્યા	”	વચોભિશ્ચ-વચનો વડે
ઉભોઈબ્યા	”	ઉભયેભ્ય-યુગલ માટે
હ્વો	”	સ્વ-પોતે
અઝેમ્	”	અહમ્-હું
વએમ્	”	વયમ્-અમે
અહ્મા	”	અસ્માન્-અમોને
મત્	”	મત્-મારાથી

વિભક્તિવાળા ક્રિયાપદો

નેમખ્યામહી	એટલે	નમિષ્યામહે-નમીએ છીએ
બરઈતી	”	ભરતિ-ભરે છે-પોષણ કરે છે
અહી	”	અસિ-તું છે
વએદા	”	વેદ-જાણવું

ઈ. સ. પૂર્વે બે હજાર વરસ કરતાં ય વિશેષ પ્રાચીન આપણી ભારતયુરોપીય આર્ય ભાષાનો નમૂનો એ [illegible] અર્વાચીન ભાષા હતી. આ રીતે બતાવી શકાય

ઈ. [illegible] પિતા [illegible] ઈ. સ. [illegible] આ વાક્યનું બે હજાર વરસ [illegible] પહેલાના સમયનું ઉચ્ચારણ આમ કલ્પી શકાય

[illegible]

એ રીતે ઋગ્વેદના પ્રથમ સૂક્તનું તથા ગાયત્રી મંત્રનું ભારત-ઈરાની [illegible] ભાષામાં જે ઉચ્ચારણ થતું હશે તેને નીચે પ્રાચીનો નમૂનો આ પ્રમાણે બતાવે છે

ઋગ્વેદ	ભારત-ઈરાની આર્યભાષા
અગ્નિમ્ ઈળે પુરોહિતમ્	અગ્નિમ્ ઈઝ્દઈ પુરઝ્ધિતમ્
યજ્ઞસ્ય દેવમ્ ઋત્વિજમ્	યજ્ઞસ્ય દઇવમ્ ઋત્વિજમ્
હોતારમ્ રત્નધાતમમ્	ઝ્હૌતારમ્ રત્નધાતમમ્

ગાયત્રી મંત્ર	ભારત-ઈરાની આર્યભાષા
તત્ સવિતુર્ વરેણ્યમ્	તત્ સવિતુર્ વરઇણિયમ્
ભર્ગો દેવસ્ય ધીમહિ	ભર્ગઝ્ દઇવસ્ય ધીમહિ
ધિયો યો નઃ પ્રચોદયાત્	ધિયઝ્ યઝ્ નઝ્ પ્રચાઇદયાત્

નવ્ય ભારતીય ભાષાઓના વિકાસમાં જે પ્રાકૃત ભાષાએ ઘણો મોટો ફાળો આપેલ છે તે પ્રાકૃત જ [illegible] સૌથી પ્રાચીનતમ રૂપ આદિમભારતયુરોપીય ભાષા પછી તેનું બીજું રૂપ ભારત-ઈરાની આર્ય ભાષા અને પછી તેની ત્રીજી ભૂમિકા તે ભારતીય આર્ય ભાષા અને આ પછી આવી પ્રાકૃતની પોતાની ભૂમિકા. આ પ્રાકૃતની ઉત્તર ભૂમિકાઓ તરીકે ભારતની મધ્ય યુગની વિવિધ પ્રાકૃતો, અપભ્રંશો અને આજ વર્તમાન હિંદી, મરાઠી, બંગાળી, ગુજરાતી, સિંધી, પંજાબી, ઉડિયા વગેરે ભાષાઓ અને તેમની ઝીણી ઝીણી બોલીઓ.

હવે પ્રાકૃત ભાષાના પ્રારંભિક રૂપોનો વિચાર કરી વર્તમાન ભારતીય નવ્ય ભાષાઓના વિકાસમાં તેના મહત્ત્વના ફાળા વિષે પણ જાણી લઈએ.

આપણે ત્યાં [illegible] સંસ્કૃતભાષાનો અધિકાર એ માત્ર વિપ્રપુરોહિતવર્ગને જ હતો. આમ જનતાને તેમના ધર્મમાં ભાગ લેવાની અનુકૂળતા ન હોવાથી આમજનતાના ઉચ્ચારણો પુરોહિતો જેવા ન રહે એ સ્વાભાવિક છે. વળી પુરોહિતો ભણેલા અને વળી તેમનો ઉચ્ચારણો કરવાનો વિશેષ [illegible] હોવાથી તેઓ અભ્યાસ અને [illegible] જટિલ ઉચ્ચારણો પણ કરી શકતા ત્યારે આમજનતાને એવો અભ્યાસ સુલભ નહીં અને અભ્યાસ કરવાનો તો મોટે ભાગે જ મનાઈ હોવાથી તેઓની [illegible] જેવા ઉચ્ચારણો કરવાની ટેવ ન પડી તેમ ન કરી શકે એટલે આમજનતાની અને વિપ્ર-પુરોહિત વર્ગના ઉચ્ચારણમાં ભેદ પડી ગયો. વિપ્રની ભાષામાં કહીએ તો તે પોતાના ઉચ્ચારણોને સંસ્કૃત માનતો અને આમજનતાના ઉચ્ચારણોને પ્રાકૃત સમજતો, આ ઉપરાંત તેઓના [illegible] [illegible] તેની [illegible] નહિની [illegible] [illegible] આ પરિસ્થિતિને લીધે હવે તે [illegible] ભાષાનો વિકાસ [illegible] અને આમજનતાની વચ્ચેની [illegible] વિકાસ પામી—બીજી રીતે કહીએ તો [illegible] તેઓની ભાષા જ [illegible] અને [illegible] [illegible] સ્થાન [illegible] આમજનતાની પ્રાકૃતને [illegible] ભાષાનો અને [illegible] વિકાસ પામવાનો અવસર મળી ગયો.

એમ કહેવામાં આવે છે કે ઉદીચ્યોના ઉચ્ચારણો ઉત્કૃષ્ટ પ્રકારના હતા અર્થાત્ તેમના ઉચ્ચારણો વેદોની ભાષાને બરાબર મળતા આવતા ત્યારે પ્રાચ્યોના ઉચ્ચારણો વેદોની ભાષાને મુકાબલે ઊતરતા હતા અને મધ્ય પ્રદેશવાળાઓના ઉચ્ચારણો ન ઉત્તમ તેમ ન ઊતરતા, પરંતુ મધ્યમસરના હતા ઉદીચ્ય પ્રજા એટલે વર્તમાન વાયવ્ય સરહદ અને પંજાબ પ્રાંતની વસતિ પ્રાચ્યો એટલે વર્તમાન અવધ, પૂર્વ સંયુક્ત પ્રાંત અને ઘણે ભાગે બિહારની પ્રજા અને ગંગાયમુનાના પ્રદેશમાં વસતા લોકો તે મધ્યદેશીય પ્રજા

આમ આ ત્રણે લોકસમૂહોની ભાષા આમજનતાની ભાષારૂપે ઝપાટાબંધ વિકસવા માંડી, ફેલાવા માંડી અને ઉત્તરોત્તર ઉચ્ચારણોની દૃષ્ટિએ વિવિધ પરિવર્તનો પણ પામવા લાગી બરાબર આ જ ટાણે એ સમાજમાંથી કેટલાક અસાધારણ પુરુષો આમજનતાના નેતારૂપે પ્રગટ થયા તેઓમાં મુખ્ય નાયકરૂપે કપિલ, શ્રીકૃષ્ણ, મહાવીર અને બુદ્ધનું સ્થાન હતું જે ટોળીના આગેવાન મહાવીર અને બુદ્ધ હતા તે ટોળીઓ વૈદિક કર્મકાંડરૂપ યજ્ઞાદિકને આધ્યાત્મિક શુદ્ધિનું સાધન ન માનતી અને તેથી તે, વિપ્રપુરોહિતોએ નિર્માણ કરેલી કોઈ ધાર્મિક યા સામાજિક વ્યવસ્થાને પણ વશવર્તી નહીં હતી હિંસાપ્રધાન યજ્ઞાદિકને ધર્મરૂપે નહીં સ્વીકારનારી આ ટોળીઓ કેવળ શબ્દોના ઉચ્ચારણોને જ શ્રેયસ્કર નહીં સમજતી ત્યારે વિપ્રપુરોહિતો તો એમ કહ્યા જ કરતા કે એક પણ શબ્દનું શુદ્ધ ઉચ્ચારણ જ કલ્યાણકારી નીવડે છે આ ટોળીઓને વિપ્રપુરોહિતોએ કેવળ 'વ્રાત્ય' નામ આપેલું વ્રાત્ય એટલે બ્રાહ્મણોએ નિર્માણ કરેલી સંસ્કારાદિક પ્રવૃત્તિને નહીં સ્વીકારનારી પરંતુ ચિત્તશુદ્ધિ માટેના વ્રતનિયમોને આચરનારી પ્રજા પુરોહિતો એ ટોળીઓને ઉત્તમ નહીં સમજતા આ ટોળીઓના અગ્રણી પુરુષો વેદોની ભાષાના જટિલ ઉચ્ચારણોને પણ સ્પષ્ટ રીતે બોલી બતાવવા સમર્થ હતા છતાંય તેઓએ એ વૈદિક ઉચ્ચારણોને બદલે આમજનતામાં વ્યાપેલા ઉચ્ચારણોને વિશેષ મહત્ત્વ આપ્યું કેમકે તેમનો ઉદ્દેશ પોતાનું ધર્મચક્ર આમ જનતા સુધી પહોંચાડવાનો હતો અને એમ કરીને માનવતાના જે મહા હકો છિનવાઈ ગયા હતા તેની આમ જનતાને માનવતાના એ હકો સુપ્રત કરી આપવાની હતી આથી કરીને અત્યાર સુધી જે આમજનતાની ભાષાને પ્રકર્ષ નહીં મળેલો તે પ્રકર્ષ શ્રીમહાવીર અને શ્રીબુદ્ધ દ્વારા વધારેમાં વધારે મળ્યો અને આ સમય જ પ્રાકૃત ભાષાના અભ્યુદયનો હતો આ સમયનું પ્રાકૃત તે જ પ્રાકૃત-ભાષાની પ્રથમ ભૂમિકા મહાવીરે અને બુદ્ધે પોતાના તમામ પ્રવચનો સમગ્ર મગધ, બિહાર, બંગાળ વગેરે પ્રદેશોમાં ફરીફરીને લોકભાષામાં જ આપ્યા. એ બન્ને સંતો આમજનતાના પ્રતિનિધિરૂપ હતા, આમજનતાના સુખદુઃખમાં પૂરી સહાનુભૂતિ રાખનાર હતા અને તેઓએ આમજનતાની ભાષાને પ્રધાન સ્થાને બેસાડી ઘણી મોટી પ્રતિષ્ઠા આપેલી છે જો કે એ સમયની પ્રચલિત વૈદિક ભાષામાં ય આમજનતાની ભાષામાં જે પરિવર્તનો આવેલાં તેમનાં મૂળ પડેલાં હતાં છતાં તેમાં તે પરિવર્તનો બીજરૂપે અને પરિમિત માત્રામાં હતાં ત્યારે આમજનતાની ભાષાને વિશેષ પ્રતિષ્ઠા અને પ્રચારના સ્થાન મળવાથી તેમાં તે પરિવર્તનો ઝપાટાબંધ વધવા લાગ્યા અને એ રીતે વિવિધ પરિવર્તનો પામતી આમજનતાની પ્રાકૃત ભાષા હવે દેશમાં ઝપાટાબંધ ફેલાવા લાગી આમ પોતાની પૂર્વભૂમિકારૂપ આદ્ય ભાષાથી માંડીને આર્ય ઋષિની સંહિત વૈદિક ભાષાનો સમગ્ર શબ્દભંડાર ધરાવતી આમજનતાની આ પ્રાકૃત ભાષાએ જે જે પ્રકારના પરિવર્તનો સ્વીકાર્યાં અને એ જ પરિવર્તનો તેની મધ્ય યુગની પ્રાકૃતના વિકાસમાં, તથા વિવિધ અપભ્રંશોના વિકાસમાં અને છેક છેલ્લે ભારતીય નવ્ય ભાષા હિંદી, મરાઠી, ગુજરાતી, બંગાળી વગેરે ભાષાઓના વિકાસમાં મોટો મહત્ત્વનો ભાગ ભજવનારા નીવડ્યા અને નવી ભાષાઓની બોલીઓના—નોખી નોખી અનેક બોલીઓના—પણ ઉત્તરોત્તર વિકાસનાં કારણરૂપ બન્યા તે તમામ પરિવર્તનો વિશે પણ થોડું વિચારીએ

ઈ. સ. પૂર્વે બે હજાર વરસ કરતાં ય વિશેષ પ્રાચીન ભાષાથી ભારતયુરોપીય આર્ય ભાષાનો નમૂનો એ ઋગ્વેદ અર્વાચીન ભાષા હતા આ રીતે જાણી શકાય :

હરિમન્ત્રમ પિતા અશ્વસ ઉપરિ નિષ્ઠા સ્વ-ભન્ જન્મ ગ્રાહન્ જયાન આ વાક્યનું બે હજાર વરસ કરતાં ય પહેલાંના સમયનું ઉચ્ચારણ આમ કલ્પી શકાય

ઈ. નાભ્યા પતતેસુ અશ્વસ્ય ઉપરિ સ્વભન્તોસુ જમ્ભાન્સુ પર્ હ્રુણાનસુ જયાન

એ રીતે ઋગ્વેદના પ્રથમ સૂક્તનું તથા ગાયત્રી મંત્રનું ભારત ઈરાની આર્ય ભાષામાં જે શુદ્ધ ઉચ્ચારણ થાય છે તેને નીચે દર્શાવેલો નમૂનો આ પ્રમાણે જણાવે છે

ઋગ્વેદ	ઈરાની આર્યભાષા
અગ્નિમ્ ઈળે પુરોહિતમ્	અગ્નિમ્ ઈઝ્ઝઈ પુરઝ્ધિતમ્
યજ્ઞસ્ય દેવમ્ ઋત્વિજમ્	યઝ્નસ્ય દઇવમ્ ઋત્વિજમ્
હોતારમ્ રત્નધાતમમ્	ઝ્હઉતારમ્ રત્નધાતમમ્
ગાયત્રી મંત્ર	ઈરાની આર્યભાષા
તત્ સવિતુર્ વરેણ્યમ્	તત્ સવિતુર્ વરઇનિઅમ્
ભર્ગો દેવસ્ય ધીમહિ	ભર્ગસ્ દઇવસ્ય ધીમહિ
ધિયો યો નઃ પ્રચોદયાત્	ધિયસ્ યસ્ નસ્ પ્રચઉદયાત્

નવ્ય ભારતીય ભાષાઓના વિકાસમાં જે પ્રાકૃત ભાષાએ ઘણો મોટો ફાળો આપેલ છે તે પ્રાકૃત ભાષાનું સૌથી પ્રાચીનતમ રૂપ આદિમભારતયુરોપીય ભાષા પછી તેનું બીજું રૂપ ભારત ઈરાની આર્ય ભાષા અને પછી તેની ત્રીજી ભૂમિકા તે ભારતીય આર્ય ભાષા અને આ પછી આવી પ્રાકૃતની પોતાની ભૂમિકા. આ પ્રાકૃતની ઉપર ભૂમિ ઉપર ઈ. સ. ના આરંભથી મધ્ય યુગની વિવિધ પ્રાકૃતો, અપભ્રંશો અને બાદ વર્તમાન હિંદી, મરાઠી, બંગાળી, ગુજરાતી, સિંધી, પંજાબી, ઉડિયા વગેરે ભાષાઓ અને તેમની જુદી જુદી બોલીઓ

હવે પ્રાકૃત ભાષાના પ્રાદુર્ભાવનાં કારણોનો વિચાર કરી વર્તમાન ભારતીય નવ્ય ભાષાઓના વિકાસમાં તેના મહત્ત્વના ફાળા વિશે પણ સ્હેજ જોઈએ.

વેદોને વા બીજા ધર્મશાસ્ત્રોને ભણવા-ભણાવવાનો અધિકાર એક માત્ર વિપ્રપુરોહિતવર્ગને જ હતો, આમજનતાને તેમના સંપર્કમાં આવતી અટકાવેલી હોવાથી આમજનતાના ઉચ્ચારણો પુરોહિતો જેવા ન રહે એ સ્વાભાવિક છે એક તો પુરોહિતો ભણેલા અને વળી તેમનો ઉચ્ચારણો કરવાનો વિશેષ મહાવરો હોવાથી તેમનો અભ્યાસ અને પાઠના અર્થે જળવાતો ઉચ્ચારણો પણ કરી શકતા ત્યારે આમજનતાને એવો મહાવરો સુલભ ન હતો અને અભ્યાસ પાઠની તો મોકો ન જ મળતો હોવાથી તેઓની પુરોહિતોના જેવા ઉચ્ચારણો કરવાની ટેવ ન પડી તેમ ન રહી એટલે આમજનતાના અને વિપ્ર-પુરોહિત વર્ગના ઉચ્ચારણો વચ્ચે ફરક પડી ગયેલો. વિપ્રની ભાષામાં કહીએ તો તે પોતાના ઉચ્ચારણોને સંસ્કૃત માનતો અને આમજનતાના ઉચ્ચારણોને પ્રાકૃત સમજતો, આ ઉપરાંત વેદોના સૂક્તો અમરત્વ થઈ ગયા એટલે તેની ભાષા વહેતી નદીની જેવી મટીને નહીં વહેતા ખાબોચિયા જેવી થઈ ગઈ. આ પરિસ્થિતિને લીધે હવે તે ભાષામાં નવે નવે શબ્દોનો વિકાસ થતો અટકી પડ્યો અને આમજનતાની વહેતી ભાષાનો પ્રવાહ તો વિકાસ પામી—બીજી રીતે કહીએ તો આ કારણથી વેદોની ભાષા બંધિયાર થઈ, જડ બની ગઈ અને વહેતી અટકી પડી ત્યારથી પ્રાચીન સમયથી ચાલ્યા આવતા આમજનતાનાં પ્રાકૃતોને પ્રગતિમાં આવવાનો અને ઉત્તરોત્તર વિકાસ પામવાનો અવસર મળી ગયો.

હવે કેટલાક અસંયુક્તવ્યંજનોના પરિવર્તનો

રાજન્ — રાજ અથવા લાજ અથવા રાય

નગર — નયર — પછી નેર

નયન — નયણ — પછી નેણ

મેઘ — મેહ — પછી મે

કથ — કહ — પછી કહેવું

રેખા — લેહા — પછી લીહા-લી

બધિર — બહિર — પછી બહેરો

શોભામત્ — સોહામણ — પછી સોહામણું

વટ — વડ — પછી વડો

પાઠ — પાઢ — પછી પાડો

ગુડ — ગુલ — પછી ગોળ

તડાગ — તલાય — પછી તળાવ અથવા તાલાવ

વચન — વયણ — પછી વેણ

દીપ — દીવ — પછી દીવો

ભગિનીપતિ — બહિણીવઈ — પછી બનેવી અથવા બન્હોઈ

દશ — દસ — પછી દસ

શબ્દ — સદ્દ — પછી સાદ

સિંહ — સિંઘ અથવા સીહ—પછી સગ અથવા સન અથવા ગી

સ્વરોના પરિવર્તનો આ પ્રમાણે છે

ઋ, લૃ, ઐ અને ઔનો પ્રયોગ જ નિકળી જવા પામ્યો છે

ઋ ને બદલે અ — ઘૃત — ઘય — પછી ઘી

કૃત — કરિઅ — પછી કર્યું

" " ઇ — ઋદ્ધિ — રિદ્ધિ — પછી રવ

" " ઈ — પૃષ્ઠ — પિટ્ઠિ — પછી પીઠ

" " ઉ — વૃદ્ધ — વુડ્ઢ — પછી બૂઢો

પિતૃગૃહ — પિઉહર — પછી પીહર કે પીયર

માતૃગૃહ — માઉહર — પછી માયરું

ઐ ને બદલે એ અને અઈ — શૈલને બદલે સઈલ અથવા સેલ

ઐરાવણ — અઈરાવણ — પછી અઇરાવણ

ઔ ને બદલે ઓ અને અઉ — કૌશામ્બી — કઉસમ્બી — કોસંબી — કોસમ્બી — કોસમ

યૌવન — જોવ્વણ — જોબન

સંસ્કૃત ભાષાનો અર્થ સમજવી આર દર્શાં ના આદિમાં દર્શ તેમાં ? ફેરફાર થયો તે આ પ્રમાણે છે :

હસ્ત ને બદલે હત્થ પછી હાથ
કર્ણ ને બદલે કણ્ણ પછી કાન
અક્ષિ ને બદલે અક્ખિ પછી આંખ અથવા અચ્છિ પછી આંછ
મક્ષિકા ને બદલે મક્ખિઆ પછી માખ અથવા મચ્છિઆ પછી માછ
ક્ષેત્ર ને બદલે ખેત્ત પછી ખેતર અથવા છેત્ત પછી છેતર
ક્ષીર ને બદલે ખીર પછી ખીર અથવા છીર પછી છીર
કુક્ષિ ને બદલે કુક્ખિ પછી કૂખ કે કોખ
ગવાક્ષ ને બદલે ગવાક્ખ પછી ગોખ
પ્રસ્તર ને બદલે પત્થર પછી પથ્થર અથવા પત્થર
પુષ્કર ને બદલે પુક્ખર પછી પોખર અથવા પુખર
સમ ને બદલે સમ્મ પછી સામ કે સામુ
કાર્ય ને બદલે કજ્જ પછી કાજ–કારજ
વૃશ્ચિક ને બદલે વિંછિઅ પછી વીંછી અથવા વીંછૂ
અદ્ય ને બદલે અજ્જ પછી આજે
શય્યા ને બદલે સેજ્જા પછી સેજ
મર્દલ ને બદલે મદ્દલ પછી માદલ
ઉપાધ્યાય ને બદલે ઉવજ્ઝાય પછી ઓઝા
સંધ્યા ને બદલે સંઝા પછી સાંજ
વર્ધિ ને બદલે વડ્ઢી પછી વાઢ
અર્ધ ને બદલે અદ્ધ પછી આધો
નિમ્ન ને બદલે નિન્નુ પછી નેનું–નાનું
સ્તન ને બદલે થણ પછી થાન
સ્તમ્ભ ને બદલે થંભ પછી થાંભલો અથવા થંભ કે ખંભો
પર્યસ્તિકા ને બદલે પલ્લત્થિઆ પછી પલાઠી
સ્ત્યાન ને બદલે થીણ પછી થીણું
મુષ્ટિ ને બદલે મુટ્ઠિ પછી મૂઠી
ઇષ્ટ ને બદલે ઇટ્ઠ પછી ઈટ
કુટુંબ ને બદલે કુડુંબ પછી કુડુંબ
જિહ્વા ને બદલે જિબ્ભા પછી જીભ
કૃષ્ણ ને બદલે કણ્હ પછી કાન
સ્નાન ને બદલે ણ્હાણ પછી નાણુ
આદર્શ ને બદલે આયરિસ પછી આરિસો કે આરસો
ગુહ્ય ને બદલે ગુજ્ઝ પછી ગૂઝ

હવે કેટલાક અસંયુક્તવ્યંજનોના પરિવર્તનો

ગજન્ — ગજ અથવા લાજ અથવા રાય

નગર — નયર – પછી નેર

નયન — નયણુ – પછી નેણુ

મેઘ — મેહ – પછી મે

કથ — કહ – પછી કહેવુ

રેખા — લેહા – પછી લીહા–લી

બધિર — બહિર – પછી બહેરો

શોભામત્ – સોહામણુ – પછી સોહામણુ

વટ — ઘડ – પછી વડો

પાઠ — પાઢ – પછી પાડો

ગુડ — ગુલ – પછી ગોળ

તડાગ — તલાય – પછી તળાવ અથવા તાલાવ

વચન — વયણુ – પછી વેણુ

દીપ — દીવ – પછી દીવો

ભગિનીપતિ — બહિણીવઈ– પછી બનેવી અથવા બનેવી

દશ — દસ – પછી દસ

શબ્દ — સદ્ – પછી સાદ

સિંહ — સિંઘ અથવા સીહ–પછી સગ અથવા સઘ અથવા સી

સ્વરોના પરિવર્તનો આ પ્રમાણે છે

ઋ, લૃ, ઐ અને ઔનો પ્રયોગ જ નિકળી જવા પામ્યો છે

ઋ ને બદલે અ — ઘૃત – ઘય – પછી ઘી

કૃત – કરિઅ – પછી કર્યું

„ „ રિ — ઋદ્ધિ – રિદ્ધિ – પછી રધ

„ „ ઈ — પૃષ્ઠ – પિટ્ઠિ – પછી પીઠ

„ „ ઉ — વૃદ્ધ – વુડ્ઢ – પછી બૂઢો

પિતૃગૃહ — પિઉહર – પછી પીહર કે પીયર

માતૃગૃહ — માઉહર – પછી માયરુ

ઐ ને બદલે એ અને અઈ — શૈલને બદલે સઈલ અથવા સેલ

ઐંગવણુ — અઈરાવણુ – પછી અઇગવણુ

ઔ ને બદલે ઓ અને અઉ — કૌશામ્બી — કઉસબી – કોસબી – કોસબી – કોસમ

યૌવન — જોવ્વણુ – જોબન

આ રીતે વ્યંજનો અને સ્વરોનાં ઉચ્ચારણોના બીજા પણ ઘણાં ઘણાં પરિવર્તનો આવતાં ગયાં છે. મધ્યયુગની પ્રાકૃતોમાં પણ આવા જ પરિવર્તનો દેખાય છે, ત્યારે અપભ્રંશમાં તો વળી આથી વધારે બીજાં વિવિધ પ્રકારનાં પરિવર્તનો છે. આમ પરિવર્તનો પામતી પ્રાકૃત ભાષા અને પાલિ ભાષાએ વર્તમાનકાલની નવ્ય ભાષાઓ હિંદી, ગુજરાતી વગેરે અને તેની જુદી જુદી પ્રાંતિક બોલીઓમાં ઘણો મોટો ફાળો આપેલ છે તે ઉપરના બોધ ઉપરથી પણ સ્પષ્ટ થઈ જાય છે. સંસ્કૃત ભાષા [illegible] સમજ્યા વિના આ નવ્ય ભાષાઓના પ્રાદુર્ભાવનું સીધું નિમિત્ત નથી થઈ શકતી [illegible] ભારતીય પ્રચલિત તમામ આર્ય ભાષાઓ અને બોલીઓનું પ્રધાન નિમિત્ત પ્રાકૃત અને પાલિ ભાષા છે, પરંતુ સંસ્કૃત નથી એ ખાસ ધ્યાન રાખવાનું છે.

આ લેખ માટે નીચેનાં ગ્રંથોનો ઉપયોગ કરેલો છે:

૧ ભારતીય આર્ય ભાષા અને હિંદી — ડૉ. સુનીતિકુમાર ચેટર્જી (હિંદી [illegible])

૨ [illegible] — ડૉ. [illegible]

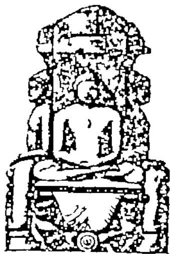
૩ [illegible] —

[illegible] — [illegible] પંડિત

[illegible] — [illegible]

૪ ભાષાવિજ્ઞાન — [illegible]

[illegible] — [illegible]



જૈન પરંપરાનું અપભ્રંશ સાહિત્યમાં પ્રદાન

પ્રા. હરિવલ્લભ ચુ. ભાયાણી, એમ એ, પીએચ ડી

પ્રાસ્તાવિક

અપભ્રંશ સાહિત્યની એક તરત જ ઊડીને આંખે વળગે તેવી વિશિષ્ટતા તેને સંસ્કૃત અને પ્રાકૃત સાહિત્યથી નોખું તારવી આપે છે ઉપલબ્ધ અપભ્રંશ સાહિત્ય એટલે જૈનોનું જ સાહિત્ય એમ કહીએ તો પણ ચાલે, કેમ કે તેઓએ એ ક્ષેત્રમાં જે સમર્થ અને વિવિધતાવાળું નિર્માણ કર્યું છે તેની તુલનામાં બૌદ્ધ અને બ્રાહ્મણ (એ તો હજી નોંધવાનું રહ્યું — મળે છે તે છૂટાછવાયા થોડાક ટાંચણો જ માત્ર) પરંપરાનું પ્રદાન અપવાદરૂપ અને તેનું મૂલ્ય પણ મર્યાદિત એમ કહોને કે અપભ્રંશ સાહિત્ય એટલે જૈનોનું આગવું ક્ષેત્ર — જો કે આપણને મળી છે તેટલી જ અપભ્રંશ કૃતિઓ હોય તો જ ઉપરનું વિધાન સ્થિર સ્વરૂપનું ગણાય પણ અપભ્રંશ સાહિત્યની ખોજની ઇતિશ્રી નથી થઈ ગઈ — એ દિશામાં હજી ઘણું કરવાનું બાકી છે એટલે ભવિષ્યમાં મહત્ત્વની કે ગણનાપાત્ર સંખ્યામાં જૈનેતર કૃતિઓ હોવાનું જાણવામાં આવે તો આપણું આ ચિત્ર પલટાઈ જાય

પ્રધાનપણે જૈન અને ધર્મપ્રાણિત હોવા ઉપરાંત અપભ્રંશ સાહિત્યની બીજી એક આગળ પડતી લાક્ષણિકતા તે તેનું ઐકાન્તિક પદ્યસ્વરૂપ અપભ્રંશ ગદ્ય નગણ્ય છે તેનો સમગ્ર સાહિત્યપ્રવાહ છંદમાં જ વહે છે આનું કારણ અપભ્રંશ ભાષા જે ખાસ પરિસ્થિતિમાં ઉદ્‌ભવી અને વિશિષ્ટ ઘડતર પામી તેમાં ક્યાંક રહ્યું હોવાનો સંભવ છે

અપભ્રંશ ભાષા

સાહિત્યિક પ્રાકૃતોની જેમ સાહિત્યિક અપભ્રંશ પણ એક સારી રીતે કૃત્રિમ ભાષા હોવાનું જણાય છે એ એક એવી વિશિષ્ટ ભાષા હતી જેના ઉચ્ચારણમાં 'પ્રાકૃત' ભૂમિકાના પ્રમુખ લક્ષણો જળવાઈ રહ્યા હતા, પણ જેના વ્યાકરણ અને રૂઢિપ્રયોગો (તથા શબ્દકોશનો થોડોક અંશ પણ) સતત વિકસતી તત્તત્કાલીન બોલીઓના રંગે અંશત રંગાતા રહેતા હતા આથી અપભ્રંશને એક લાભ એ થયો કે તે જડ ચોકઠામાં જકડાઈ જવાના ભયથી છૂટી કેમ કે શિષ્ટમાન્ય ધોરણનું કડક પાલન કરવાના વલણવાળી કોઈ પણ સાહિત્યભાષા વધુ ને વધુ રૂઢિબદ્ધ થતી જાય છે તેમાં યે અપભ્રંશ સંસ્કૃત તથા પ્રાકૃત જેવી શતાબ્દીઓ જૂની પ્રશિષ્ટ પરંપરા ધરાવતી સાહિત્ય-ભાષાઓના ચાલુ વર્ચસ્વ નીચે ઊછરી હતી એટલે તેને માટે બીજે પક્ષે જીવંત બોલીઓ સાથેનો સતત સંપર્ક નવચેતન અર્પતો નીવડે એ ઉઘાડું છે

કઈ જાતની પરિસ્થિતિ વચ્ચે અપભ્રંશ ભાષા અને સાહિત્યનો ઉદ્‌ગમ થયો? આ બાબત હજી સુધી તો પૂર્ણ અંધકારમાં દટાયેલી છે આરંભનું ઘણુંખરું સાહિત્ય સાવ લુપ્ત થયું છે અપભ્રંશ સાહિત્યવિકાસના પ્રથમ સોપાન કયાં તે જાણવાની કશી સાધનસામગ્રી ઉપલબ્ધ નથી અપભ્રંશના આગવા ને આકર્ષક સાહિત્યપ્રકારો તથા છંદોનો ઉદ્‌ભવ ક્યાંથી થયો તે કોઈપણ રીતે સ્પષ્ટપણે સમજાવી શકવાની આપણી સ્થિતિ નથી

આ રીતે ભાષાઓ અને સ્વરોના ઉચ્ચારણોનાં ભીન્ન ભિન્ન ઘણાં ઘણાં પરિવર્તનો આવ્યાં છે. મધ્યયુગની પ્રાકૃતોમાં પણ આવા ૪ પરિવર્તનો દેખાય છે ત્યારે અપભ્રંશોમાં વળી આથી વધારે ભીન્ન વિવિધ પ્રકારનાં પરિવર્તનો છે. આમ પરિવર્તનની પરંપરા પ્રાકૃત ભાષા અને પાલિ ભાષાએ વર્તમાનકાળની તમામ ભાષાઓ હિંદી, ગુજરાતી વગેરે અને તેની જુદી જુદી પ્રાન્તિક બોલીઓમાં ઘણો મોટો ફાળો આપેલ છે તે ઉપરનાં થોડાં ઉદાહરણો જોવાથી પણ સ્પષ્ટ થઈ જાય છે. સંસ્કૃત ભાષા પ્રત્યે તમા[illegible] વિના આ તમામ ભાષાઓના પ્રાકટ્યમાં સીધું નિમિત્ત નથી થઈ શકી. અર્થાત્ આપણી ભારતીય પ્રચલિત તમામ આર્ય ભાષાઓ અને બોલીઓનું સીધું નિમિત્ત પ્રાકૃત અને પાલિ ભાષા છે પણ સંસ્કૃત નથી. ૪ એ વાત સમજવાનું છે.

આ લેખ માટે જોવાના ગ્રંથો : ભાષા [illegible] નો છે

૨ [illegible] આર્યભાષા અને હિંદી ભા — લે. સુનીતિકુમાર ચ. (હિ. [illegible])

ભાષાતત્ત્વ — લે. સુનીતિકુમાર ચે. [illegible]

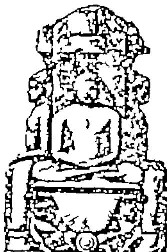
૩ [illegible] ભાષા —

પ્રાકૃત ભાષા — લે. પ્રબોધ બેચરદાસ પંડિત

૪ ભાષાવિજ્ઞાન — [illegible]

૫ ભા. વિજ્ઞાન — [illegible]

[illegible] — [illegible]



पउमचरिउ

पउमचरिउ (स पद्मचरितम्) એ रामायणपुराणु (स रामायणपुराणम्) નામે પણ જાણીતુ છે એમા પદ્મ એટલે રામના ચરિત પર મહાકાવ્ય રચવાની સંસ્કૃત તથા પ્રાકૃત સાહિત્યની પરંપરાને સ્વયંભૂ અનુસરે છે पउमचरिउમા રજૂ થયેલુ રામકથાનુ જૈન સ્વરૂપ વાલ્મીકિ રામાયણમા મળતા બ્રાહ્મણ પરંપરા પ્રમાણેના સ્વરૂપ(બંનેમા આ પુરોગામી છે)થી અનેક અગત્યની બાબતમા જુદુ પડે છે સ્વયંભૂરામાયણનો વિસ્તાર પુરાણની સ્પર્ધા કરે તેટલો છે તે विज्जाहर (स विद्याधर), उज्झा (स अयोध्या), सुंदर, जुज्झ (स युद्ध) અને उत्तर એમ પાચ કાડમા વિભક્ત છે આ દરેક કાડ મર્યાદિત સખ્યાના 'સંધિ' નામના ખડોમા વહેંચાયેલો છે પાચે કાડના બધા મળીને નેવુ સંધિ છે આ દરેક સંધિ પણ બારથી વીશ જેટલા 'કડવક' નામના નાના સુગ્રથિત એકમોનો બનેલો છે આ કડવક (= પ્રાચીન ગુજરાતી સાહિત્યનુ 'કડવુ') નામ ધરાવતો પદ્યપરિચ્છેદ અપભ્રંશ અને અર્વાચીન ભારતીય-આર્યના પૂર્વકાલીન સાહિત્યની વિશિષ્ટતા છે કથાપ્રધાન વસ્તુ ગૂથવા માટે તે ઘણુ જ અનુકૂળ છે કડવકદેહ કોઈ માત્રાછંદમા રચેલા સામાન્યત આઠ પ્રાસબદ્ધ ચરણયુગ્મનો બનેલો હોય છે કડવકના આ મુખ્ય કલેવરમા વર્ણ્ય વિષયનો વિસ્તાર થાય છે, જ્યારે જરા જુદા છંદમા બાધેલો ચાર ચરણનો અંતિમ ટુકડો વર્ણ્ય વિષયનો ઉપસંહાર કરે છે કે વચ્ચારેમા પછીના વિષયનુ સૂચન કરે છે * આવા વિશિષ્ટ સંવારણને કારણે અપભ્રંશ સંધિ શ્રોતાઓ સમક્ષ લયબદ્ધ રીતે પઠન કરવાની કે ગીત રૂપે ગવાવાની ઘણી ક્ષમતા ધરાવે છે

पउमचरिउના નેવુ સંધિમાથી છેલ્લા આઠ સ્વયંભૂના જરા વધારે પડતા આત્મભાનવાળા પુત્ર ત્રિભુવનની રચના છે, કેમ કે કોઈ અજ્ઞાત કારણે સ્વયંભૂએ એ મહાકાવ્ય અપૂરુ મૂકેલુ આ જ પ્રમાણે પોતાના પિતાનુ બીજુ મહાકાવ્ય रिट्ठणेमिचरिउ પૂરુ કરવાનો યશ પણ ત્રિભુવનને ફાળે જાય છે અને તેણે पचमीचरिउ (स. पञ्चमीचरितम्) નામે એક સ્વતંત્ર કાવ્ય રચ્યુ હોવાનો પણ ઉલ્લેખ છે

સ્વયંભૂએ પોતાના પુરોગામીઓના ઋણનો સ્પષ્ટ શબ્દોમા સ્વીકાર કર્યો છે મહાકાવ્યના સંધિબંધ માટે તે ચતુર્મુખથી અનુગૃહીત હોવાનુ જણાવે છે, જ્યારે વસ્તુ અને તેના કાવ્યાત્મક નિરૂપણ માટે તે આચાર્ય રવિષેણનો આભાર માને છે पउमचरिउના કથાનક પૂરતો તે રવિષેણના સંસ્કૃત पद्मचरित કે पद्मपुराण(ઈ સ ૬૭૭-૭૮)ને પગલે પગલે ચાલે છે તે એટલે સુધી કે पउमचरिउને पद्मचरितનો મુક્ત અને સંક્ષિપ્ત અપભ્રંશ અવતાર કહેવો હોય તો કહી શકાય * ને છતાયે સ્વયંભૂની મૌલિકતા અને ઉચ્ચ પ્રતિની કવિત્વશક્તિના પ્રમાણ पउमचरिउમા ઓછા નથી એક નિયમ તરીકે ને રવિષેણે આપેલા કથાનકના દોરને વળગી રહે છે — અને આમેય એ કથાનક તેની નાનીમોટી વિગતો સાથે પરંપરાથી રૂઢ થયેલુ હોવાથી કથાવસ્તુ પૂરતો તો મૌલિક કલ્પના માટે કે સંવિધાનની દૃષ્ટિએ પરિવર્તન કે રૂપાતર માટે ભાગ્યે જ કશો અવકાશ રહેતો પણ શૈલીની દૃષ્ટિએ કથાવસ્તુને શણગારવાની બાબતમા, વર્ણનો ને રસનિરૂપણની બાબતમા, તેમજ મનગમતા પ્રસંગને સંહેલાવવાની બાબતમા, કવિને જોઈએ તેટલી છૂટ મળતી આવી મર્યાદાથી બંધાયેલી હોવા છતા સ્વયંભૂની સૂક્ષ્મ કલાદૃષ્ટિએ પ્રશસ્ય સિદ્ધિ મેળવી છે પોતાની ઔચિત્યબુદ્ધિને અનુસરીને તે આધારભૂત સામગ્રીમા કાપકૂપ કરે છે, તેને નવો ઘાટ આપે છે કે કદીક નિરાળો જ માર્ગ ગ્રહણ કરે છે

---

* અપભ્રંશ કડવકનુ સ્વરૂપ પ્રાચીન અવધિ સાહિત્યની સૂફી પ્રેમાખ્યાનક કાવ્યોમા અને તુલસીદાસકૃત રામચરિતમાનસ જેવી કૃતિઓમા ઊતરી આવ્યુ છે

* રવિષેણનુ પદ્મચરિત પોતે પણ જૈન મહારાષ્ટ્રીમાં રચાયેલા વિમલસૂરિકૃત पउमचरिय (સંભવત ઈસવી ત્રીજી સદી)ના પલ્લવિત સંસ્કૃત છાયાનુવાદથી ભાગ્યે જ વિશેષ છે

આરંભ અને મુખ્ય સાહિત્યસ્વરૂપો

સાહિત્યમાં તથા ઉત્કીર્ણ લેખોમાં મળતા ઉલ્લેખો પરથી સમજાય છે કે છઠ્ઠી સદી સુધીમાં તો અપભ્રંશે એક સ્વતંત્ર સાહિત્યભાષાનું સ્થાન પ્રાપ્ત કરી લીધું હતું. સંસ્કૃત અને પ્રાકૃતની સાથોસાથ તે પણ એક સાહિત્યભાષા તરીકે ઉલ્લેખાઈ રહ્યાની. આમ છતાં આપણને મળતી પ્રાચીનતમ અપભ્રંશ કૃતિ છઠ્ઠી નવમી શતાબ્દીથી જૂની જતી નથી. એનો અર્થ એ થયો કે તે પહેલાંનું બધું સાહિત્ય લુપ્ત થયું છે. નવમી શતાબ્દી પૂર્વે પણ અપભ્રંશ સાહિત્ય સારી રીતે ખેડાતું રહ્યું હોવાના પુષ્કળ પુરાવા મળે છે અને તેના ઉપલબ્ધ પ્રાચીનતમ નમૂનાઓમાં સાહિત્યસ્વરૂપ, શૈલી અને ભાષાની જે સુનિશ્ચિત પ્રૌઢતા જોવા મળે છે તે ઉપરથી પણ એ વાત સમર્થિત થાય છે. નવમી શતાબ્દી પૂર્વેના બે વિદ્વાનોના પ્રતિપાદન પરથી સ્પષ્ટ સમજાય છે કે પ્રાચીન સાહિત્યમાં અત્યારે જેવા જોવામાં આવે છે તેવાં સાહિત્યસ્વરૂપો — સંધિબંધ અને રાસાબંધ — તથા [illegible] પ્રબંધક ઇતર ભાગથી અપભ્રંશભાષામાં અસ્તિત્વમાં આવ્યાં હતાં.

સંધિબંધ

આમ સંધિબંધ સૌથી વધુ પ્રચલિત રચનાપ્રકાર હતો. એનો ઉપયોગ કથાકાવ્યની રચના માટે થયેલો છે — પૌરાણિક મહાકાવ્ય, ચરિતકાવ્ય, કથાકાવ્ય — પછી તે એક જ હોય કે આખું કથાચક્ર હોય — આ બધા વિષયો માટે નિયમિત રીતે સંધિબંધ જ યોજાતો છે. ઉપલબ્ધમાં પ્રાચીનતમ સંધિબંધ નવમી શતાબ્દીના પ્રારંભનો છે. પણ તેની પૂર્વે લાંબી પરંપરા રહેલી હોવાનું સૂચવે એવી સામગ્રી છે. સ્વયંભૂની પહેલાં થઈ ગયેલા (કે [illegible]) ગોવિંદ અને ચતુર્મુખે રામાયણ અને કૃષ્ણકથાના વિષય પર રચનાઓ કરી હોવાનું સાહિત્યિક ઉલ્લેખો પરથી અનુમાન થઈ શકે છે. આમાંથી ચતુર્મુખનો નિર્દેશ પછીની અનેક શતાબ્દીઓ સુધી માનપૂર્વક થતો રહ્યો છે. ઉક્ત વિષયોનું સંધિબંધમાં નિરૂપણ કરનાર એ આદ્ય કવિ હતો.

સ્વયંભૂદેવ

પણ એમાંના એક પણ પ્રાચીન કવિની કૃતિ ઉપલબ્ધ ન હોવાથી કવિરાજ સ્વયંભૂદેવ (છઠ્ઠી સાતમીથી નવમી શતાબ્દી વચ્ચે)ના મહાકાવ્યો એ સંધિબંધ વિશેની માહિતી પૂરી પાડવા માટે આપણો પ્રાચીનતમ આધાર છે. ચતુર્મુખ, સ્વયંભૂ અને પુષ્પદંત એ અપભ્રંશના પ્રથમ પંક્તિના કવિઓ છે અને તેમાંયે પહેલું સ્થાન સ્વયંભૂને આપવા પણ કોઈ પ્રેરાય. કાવ્યપ્રતિભા સ્વયંભૂની કુળપરંપરામાં જ હતી તેવું લાગે છે. અને તેની સમીપના પ્રદેશમાં [illegible] ના આશ્રયે રહી કાવ્યરચના કરી હોવાનું જણાય છે. સ્વયંભૂ યાપનીયસંઘના જૈન પંથનો હોય એ પણ સંભવિત છે. એ પંથનો તેના સમય આસપાસ દક્ષિણ પ્રદેશમાં ઘણો પ્રચાર હતો. સ્વયંભૂની આજ ત્રણ કૃતિઓ જળવાઈ રહી છે: પઉમચરિઉ અને રિટ્ઠણેમિચરિઉ નામે બે પૌરાણિક મહાકાવ્ય અને સ્વયંભૂછન્દ* નામનો પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ છંદોને લગતો ગ્રંથ.

---

* [illegible] સ્વયંભૂછન્દ [illegible] પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ [illegible] છે. [illegible]

पउमचरिउ

पउमचरिउ (સં. पद्मचरितम्) એ रामायणपुराणु (સં. रामायणपुराणम्) નામે પણ જાણીતું છે. એમાં પદ્મ એટલે રામના ચરિત પર મહાકાવ્ય રચવાની સંસ્કૃત તથા પ્રાકૃત સાહિત્યની પરંપરાને સ્વયંભૂ અનુસરે છે. पउमचरिउમાં રજૂ થયેલું રામકથાનું જૈન સ્વરૂપ વાલ્મીકિ રામાયણમાં મળતા બ્રાહ્મણ પરંપરા પ્રમાણેના સ્વરૂપ(બંનેમાં આ પુરોગામી છે)થી અનેક અગત્યની બાબતમાં જુદું પડે છે. સ્વયંભૂ-રામાયણનો વિસ્તાર પુરાણની સ્પર્ધા કરે તેટલો છે. તે विज्जाहर (સં. विद्याधर), उज्झा (સં. अयोध्या), सुंदर, जुज्झ (સં. युद्ध) અને उत्तर એમ પાંચ કાંડમાં વિભક્ત છે. આ દરેક કાંડ મર્યાદિત સંખ્યાના 'સંધિ' નામના ખંડોમાં વહેંચાયેલો છે. પાંચે કાંડના બધા મળીને નેવું સંધિ છે. આ દરેક સંધિ પણ બારથી વીશ જેટલા 'કડવક' નામના નાના સુગ્રથિત એકમોનો બનેલો છે. આ કડવક (= પ્રાચીન ગુજરાતી સાહિત્યનું 'કડવું') નામ ધરાવતો પદ્યપરિચ્છેદ અપભ્રંશ અને અર્વાચીન ભારતીય-આર્યના પૂર્વકાલીન સાહિત્યની વિશિષ્ટતા છે. કથાપ્રધાન વસ્તુ ગૂંથવા માટે તે ઘણું જ અનુકૂળ છે. કડવકદેહ કોઈ માત્રાછંદમાં રચેલા સામાન્યતઃ આઠ પ્રાસબદ્ધ ચરણયુગ્મનો બનેલો હોય છે. કડવકના આ મુખ્ય કલેવરમાં વર્ણ્ય વિષયનો વિસ્તાર થાય છે, જ્યારે જરા જુદા છંદમાં બાંધેલો ચાર ચરણનો અંતિમ ટુકડો વર્ણ્ય વિષયનો ઉપસંહાર કરે છે કે વચગાળામાં પછીના વિષયનું સૂચન કરે છે.* આવા વિશિષ્ટ સંઘટનને કારણે અપભ્રંશ સંધિ શ્રોતાઓ સમક્ષ લયબદ્ધ રીતે પઠન કરવાની કે ગીત રૂપે ગવાવાની ઘણી ક્ષમતા ધરાવે છે.

पउमचरिउના નેવું સંધિમાંથી છેલ્લા આઠ સ્વયંભૂના જરા વધારે પડતા આત્મભાનવાળા પુત્ર ત્રિભુવનની રચના છે, કેમ કે કોઈ અજ્ઞાત કારણે સ્વયંભૂએ એ મહાકાવ્ય અપૂરું મૂકેલું. આ જ પ્રમાણે પોતાના પિતાનું બીજું મહાકાવ્ય रिट्ठणेमिचरिउ પૂરું કરવાનો યશ પણ ત્રિભુવનને ફાળે જાય છે અને તેણે पचमीचरिउ (સં. पञ्चमीचरितम्) નામે એક સ્વતંત્ર કાવ્ય રચ્યું હોવાનો પણ ઉલ્લેખ છે.

સ્વયંભૂએ પોતાના પુરોગામીઓના ઋણનો સ્પષ્ટ શબ્દોમાં સ્વીકાર કર્યો છે. મહાકાવ્યના સંધિબંધ માટે તે ચતુર્મુખથી અનુગૃહીત હોવાનું જણાવે છે, જ્યારે વસ્તુ અને તેના કાવ્યાત્મક નિરૂપણ માટે તે આચાર્ય રવિષેણનો આભાર માને છે. पउमचरिउના કથાનક પૂરતો તે રવિષેણના સંસ્કૃત पद्मचरित કે पद्मपुराण(ઈ. સ. ૬૭૭–૭૮)ને પગલે પગલે ચાલે છે. તે એટલે સુધી કે पउमचरिउને પદ્મચરિતનો મુક્ત અને સંક્ષિપ્ત અપભ્રંશ અવતાર કહેવો હોય તો કહી શકાય.† તે છતાંયે સ્વયંભૂની મૌલિકતા અને ઉચ્ચ પ્રતિની કવિત્વશક્તિના પ્રમાણ पउमचरिउમાં ઓછાં નથી. એક નિયમ તરીકે તે નિયમે આપેલા કથાનકના હાર્દને વળગી રહે છે — અને આમેય એ કથાનક તેની નાનીમોટી વિગતો સાથે પરંપરાથી રૂઢ થયેલું હોવાથી કથાવસ્તુ પૂરતો તો મૌલિક કલ્પના માટે કે મતિવિલાસની દૃષ્ટિએ પરિવર્તન કે રૂપાંતર માટે ભાગ્યે જ કશો અવકાશ રહેતો. પણ શૈલીની દૃષ્ટિએ કથાવસ્તુને શણગારવાની બાબતમાં, વર્ણનો ને રસનિરૂપણની બાબતમાં, તેમજ મનગમતા પ્રસંગને બહેલાવવાની બાબતમાં, કવિને જોઈએ તેટલી છૂટ મળતી. આવી મર્યાદાથી બંધાયેલી હોવા છતાં સ્વયંભૂની સૂક્ષ્મ કલાદૃષ્ટિએ પ્રશસ્ય સિદ્ધિ મેળવી છે. પોતાની ઔચિત્યબુદ્ધિને અનુસરીને તે આધારભૂત સામગ્રીમાં કાપકૂપ કરે છે, તેને નવો ઘાટ આપે છે કે કદીક નિરાળો જ માર્ગ ગ્રહણ કરે છે.

---

* અપભ્રંશ કડવકનું સ્વરૂપ પ્રાચીન અવધિ સાહિત્યનાં સૂફી પ્રેમાખ્યાનક કાવ્યોમાં અને તુલસીકૃત રામચરિતમાનસ જેવી કૃતિઓમાં ઊતરી આવ્યું છે.

† રવિષેણનું પદ્મચરિત પોતે પણ જૈન મહારાષ્ટ્રીમાં રચેલા વિમલસૂરિકૃત पउमचरिय (અનુમાને ઈ. સ. ના ૧લા–૨જા શતક)ના પલ્લવિત સંસ્કૃત રૂપાંતર જેવો જ ગ્રંથ છે.

પઉમચરિઉના આરંભ સંધિનું વસંતનાં દૃશ્યોની મોહક પ્રસ્તુતિ વ. આલેખાયેલું વર્ણન, ગતિમાન, હિમાલયમાં જતી વખતે એક ઉત્કૃષ્ટ વર્ણન તરીકે પ્રવેશતી ૮ પ્રકારનું આવ્યું છે. જુદાં જુદાં યુદ્ધો, અંજનાના ઉપાખ્યાન (સંધિ ૧૭–૧૯)માંના કેટલાક લાગણીસભર પ્રસંગો, રાવણના અવસાનના સિલસિલામાંથી પ્રસંગમાંથી નીપજતો વેધક વિલાપ (૭૭મો સંધિ) — આવા આવા ઉત્તમ ભાગોમાં સ્વયંભૂની કવિપ્રતિભાના પ્રબળ ઉન્મેષનાં આપણે દર્શન કરી શકીએ.

રિટ્ઠણેમિચરિઉ

સ્વયંભૂનું બીજું મહાકાવ્ય મહાકાવ્ય રિટ્ઠણેમિચરિઉ (સં. અરિષ્ટનેમિચરિતમ્) અથવા હરિવંસપુરાણુ (સં. હરિવંશપુરાણમ્) પણ પ્રસિદ્ધ છે. તેમાં બાવીસમા તીર્થંકર અરિષ્ટનેમિનું જીવનચરિત તથા કૃષ્ણ અને પાંડવોની જૈન પરંપરા પ્રમાણેની કથા અપાયેલી છે. એકસો બાર સંધિ સુધી તે ૯૭ સુધી અપ્રકાશિત છે. તેના એક સો બાર સંધિઓ (એના બધાં મળીને ૧૯૩૭ કડવક અને ૧૮ નવીન—બારસો એકાવન — ... —હોવાનું કહેવાય છે)નો ચાર કાંડમાં સમાવેશ થાય છે: જાયવ (સં. યાદવ) કુરુ કુરુ (સં. કુરુ) અને જુજ્ઝ. આ વિષયમાં પણ સ્વયંભૂ પાસે કેટલીક આધારભૂત પૂર્વકૃતિઓ હતી. નવમી શતાબ્દી પહેલાં વિમલસૂરિ અને જિનસેન પ્રાકૃતમાં, જિનસેને (ઈ. સ. ૭૮૩–૮૪) સંસ્કૃતમાં અને ભદ્રે (? 'ધનિલ્લે' 'ધવલે'?) ભીમિને તથા ગુણભદ્રે અપભ્રંશમાં હરિવંશના વિષય પર મહાકાવ્યો રચ્યાં હોવાનું જાણવા મળે છે. રિટ્ઠણેમિચરિઉનો નવ્વાણુમા સંધિ પછીનો ભાગ સ્વયંભૂના પુત્ર ત્રિભુવનનો રચેલો છે અને પાછળથી ૧૬મી શતાબ્દીમાં તેમાં ગોપાચલ (= ગ્વાલિયર)ના એક અપભ્રંશ કવિ યશઃકીર્તિ ભટ્ટારકે કેટલાક ઉમેરા કરેલા છે.

રામ અને કૃષ્ણના ચરિત પર સ્વયંભૂ પછી રચાયેલાં અપભ્રંશ પ્રબંધ કાવ્યોમાંથી કેટલાંકનો ઉલ્લેખ અહીં જ કરી લઈએ — આ બધી કૃતિઓ હજી અપ્રકાશિત છે. ધવલે (કદાચ અગિયારમી શતાબ્દી પહેલાં) ૧૨૨ સંધિમાં હરિવંસપુરાણ રચ્યું. ઉપર્યુક્ત યશઃકીર્તિ ભટ્ટારકે ૩૪ સંધિમાં પાંડુપુરાણુ (સં. પાંડવપુરાણમ્) (ઈ. સ. ૧૫૨૩) તથા તેના સમકાલીન પંડિત રઇધૂ અપરનામ સિંહસેને ૧૧ સંધિમાં બલભદ્રપુરાણુ (સં. બલભદ્રપુરાણમ્) તેમ જ ણેમિણાહચરિઉ (સં. નેમિનાથચરિતમ્) રચ્યાં. એ જ સમય લગભગ શ્રુતકીર્તિએ ૪૪ સંધિમાં હરિવંસપુરાણુ (સં. હરિવંશપુરાણમ્) (ઈ. સ. ૧૫૫૧) પૂરું કર્યું. આ કૃતિઓ સ્વયંભૂ પછી સાત સો જેટલાં વરસ વીતી ગયાં છતાં રામાયણ ને હરિવંશના વિષયોની ઉજ્જ્વળ પરંપરા અને લોકપ્રિયતાના પુરાવારૂપ છે.

પુષ્પદન્ત

પુષ્પદન્ત (અપ. પુષ્ફયંત) અપરનામ અભિમાનમેરુ (ઈ. સ. ૯૫૭–૯૭૨ આ. વિદ્યમાન)ની કૃતિઓમાંથી આપણને સંધિબંધના પૂરતા વિકાસ ને પ્રૌઢીની આગવી ઝાંખી થાય છે. પુષ્પદન્તનાં માતાપિતા બ્રાહ્મણ હતાં. તેમણે પાછળથી દિગંબર જૈન ધર્મ સ્વીકારેલો. પુષ્પદન્તનાં ત્રણે અપભ્રંશ કાવ્યોની રચના માન્યખેટ (= હાલનું દેવગામ રાજ્યમાં આવેલું મલખેડ)માં રાજ્ય કરતા રાષ્ટ્રકૂટ રાજાઓ કૃષ્ણ ત્રીજા (ઈ. સ. ૯૩૯–૯૬૮) અને ખોટ્ટિગદેવ (ઈ. સ. ૯૬૮–૯૭૨)ના મંત્રીઓ અનુક્રમે ભરત અને તેના પુત્ર નન્નના આશ્રય નીચે થઈ હતી. સ્વયંભૂ અને તેના પુરોગામીઓએ રામ અને કૃષ્ણચરિતની કથાઓ લીધી જ હતી, એટલે પુષ્પદન્તની કવિપ્રતિભાએ જૈન પુરાણકથાનો ગ્રંથ — અને વિસ્તૃત — એટલામાં વિસ્તારનું કામ કર્યું છે. જૈન ધાર્મિક માન્યતા પ્રમાણે પૂરા જગતમાં ત્રેસઠ મહાપુરુષ (કે શલાકાપુરુષો) થઈ ગયા. તેમાં ચોવીસ તીર્થંકર, બાર ચક્રવર્તી, નવ વાસુદેવ (= અર્ધચક્રવર્તી), નવ બલદેવ (તે તે વાસુદેવના ભાઈ) અને નવ પ્રતિવાસુદેવ (એટલે કે તે તે વાસુદેવના વિરોધી)નો

સમાવેશ થાય છે લક્ષ્મણ, પદ્મ (= રામ) અને રાવણ એ આઠમા બલદેવ, વાસુદેવ ને પ્રતિવાસુદેવ તથા કૃષ્ણ, બલભદ્ર અને જરાસંધ એ નવમા ગણાય છે આ ત્રેસઠ મહાપુરુષોનો જીવનવૃત્તાંત આપતી રચનાઓ 'મહાપુરાણ' અથવા 'ત્રિષષ્ટિમહાપુરુષ(કે-શલાકાપુરુષ-)ચરિત'ને નામે ઓળખાય છે આમા પહેલા તીર્થંકર ઋષભ અને પહેલા ચક્રવર્તી ભરતના ચરિતને વર્ણવતો આરંભનો અંશ 'આદિપુરાણ', અને બાકીના મહાપુરુષોના ચરિતવાળો અંશ 'ઉત્તરપુરાણ' કહેવાય છે

મહાપુરાણ

પુષ્પદન્ત પહેલા પણ આ વિષય પર સંસ્કૃત અને પ્રાકૃતમા કેટલીક પદ્યકૃતિઓ રચાયેલી પણ અપભ્રંશમા પહેલવહેલા એ વિષયનુ મહાકાવ્ય બનાવનાર પુષ્પદન્ત હોવાનુ જણાય છે महापुराण કે तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु (સ त्रिषष्टिमहापुरुषगुणालङ्कार) નામ ધરાવતી તેની એ મહાકૃતિમા ૧૦૨ સંધિ છે, જેમાથી પહેલા સાડત્રીશ સંધિ આદિપુરાણને અને બાકીના ઉત્તરપુરાણને ફાળે જાય છે

પુષ્પદન્ત કથાનક પૂરતો જિનસેન-ગુણભદ્રકૃત સંસ્કૃત त्रिषष्टिमहापुरुषगुणालङ्कारसंग्रह (ઈ સ ૮૯૮મા સમાપ્ત)ને અનુસરે છે આ વિષયમા પણ પ્રસંગો અને વિગતો સહિત કથાનકોનુ સમગ્ર કલેવર પરંપરાથી રૂઢ થયેલું હતુ, એટલે નિરૂપણમા નાવિન્ય અને ચારુતા લાવવા કવિને માત્ર પોતાની વર્ણનની અને રસીલી સંજાવટની શક્તિઓ પર જ આધાર રાખવાનો રહેતો વિષયો કથનાત્મક સ્વરૂપના ને પૌરાણિક હોવા છતા જૈન અપભ્રંશ કવિઓ તેમના નિરૂપણમા પ્રશિષ્ટ સંસ્કૃતના આલંકારિક મહાકાવ્યની પરંપરા અપનાવે છે અને આછાપાતળા કથાનકકલેવરને અલંકાર, છંદ ને પારિસના ઠેંગથી ચઢાવેબઢાવે છે તેનુ એક કારણ આ પણ છે रिट्ठणेमिचरिउमા સ્વયંભૂ આપણને સ્પષ્ટ કહે છે કે કાવ્યરચના કરવા માટે તેને વ્યાકરણ ઇન્દ્રે દીધું, રસ ભરતે, વિસ્તાર વ્યાસે, છંદ પિંગલે, અલંકાર ભામહ અને દંડીએ, અક્ષરડંબર બાણે, નિપુણત્વ શ્રીહર્ષે અને છડ્ડણી, દ્વિપદીને ધ્રુવકથી મંડિત પદ્ધડિકા ચતુર્મુખે પુષ્પદન્ત પણ પરોક્ષ રીતે આવુ જ કહે છે, વિદ્યાના બીજા કેટલાક ક્ષેત્રમા પ્રતિષ્ઠિત એવા થોડાક નામો ઉમેરે છે અને એવી ઘોષણા કરે છે કે પોતાના महापुराणમા પ્રાકૃતલક્ષણો, સકલ નીતિ, છંદોભંગી, અલંકારો, વિવિધ રસો તથા તત્ત્વાર્થનો નિર્ણય મળશે સંસ્કૃત મહાકાવ્યનો આદર્શ સામે રાખી તેની પ્રેરણાથી રચાયેલા અપભ્રંશ મહાકાવ્યોનુ સાચુ બળ વસ્તુના વૈચિત્ર્ય કે સંવિધાન કરતા વિશેષ તો તેના વર્ણન કે નિરૂપણમા રહેલુ છે

સ્વયંભૂની તુલનામા પુષ્પદન્ત અલંકારની સમૃદ્ધિ, છંદોવૈવિધ્ય અને વ્યુત્પત્તિ ઉપર વિશેષ આધાર રાખે છે છંદોભેદની વિપુલતા તથા સંધિ અને કડવકની દીર્ઘતા પુષ્પદન્તના સમય સુધીમા સંધિબંધનુ સ્વરૂપ ઠાઈક વધુ સંકુલ થયુ હોવાની સૂચક છે महापुराणના ચોથા, બારમા, સત્તરમા, ઉંતાળીસમા, બાવનમા ઇત્યાદિ સંધિઓના કેટલાક અંશો પુષ્પદન્તની અસામાન્ય કવિત્વશક્તિના ઉત્તમ ઉદાહરણો તરીકે ટાંકી શકાય महापुराणના ૬૯થી ૭૯ સંધિમા રામાયણની કથાનો સંક્ષેપ અપાયો છે, ૮૧થી ૯૨ સંધિ જૈન હરિવંશ આપે છે, જ્યારે અંતિમ અંશમા ત્રેવીશમા તથા ચોવીશમા તીર્થંકર પાર્શ્વ અને મહાવીરના ચરિત છે

ચરિતકાવ્ય

પુષ્પદન્તના બીજા બે કાવ્ય, णायकुमारचरिउ (સ नागकुमारचरितम्) અને जसहरचरिउ (સ यशोधरचरितम्) પરથી જોઈ શકાય છે કે વિશાળ પૌરાણિક વિષયો ઉપરાંત જૈન પુરાણ, અનુશ્રુતિ કે પરંપરાગત ઇતિહાસની પ્રસિદ્ધ વ્યક્તિઓના બોધક જીવનચરિત આપવા માટે પણ સંધિબંધ વપરાતો વિસ્તાર અને નિરૂપણની દૃષ્ટિએ આ ચરિતકાવ્યો કે કથાકાવ્યો સંસ્કૃત મહાકાવ્યોની પ્રતિકૃતિ જેવા

[illegible] આમાં પણ પુષ્પદંત પાસે [illegible] ઉત્પન્ન હોવા [illegible] ૮ [illegible] આપવે પુષ્પદંતની પદ્યોનાં આ [illegible] નાં નામ [illegible] : [illegible] ણાયકુમારચરિઉ [illegible] અને [illegible] તેના [illegible] (૩ [illegible]) [illegible] અને [illegible] મુનિ [illegible] [illegible] છે

પુષ્પદંતનું [illegible] જસહરચરિઉ [illegible] ના [illegible] પછી [illegible] તે [illegible] છે પુષ્પદંતની પદ્યોમાં અને પછી [illegible] અને [illegible] અનેક રચનાઓ [illegible] [illegible] છે

પુષ્પદંતનું [illegible] પણ [illegible] અનેક [illegible] તેમ [illegible] અને [illegible] છે [illegible] પોતાના [illegible] પ્રથમ [illegible] અને [illegible] [illegible] અને [illegible] અને [illegible] છે પણ તેમાં [illegible] પુષ્પદંતને [illegible] મુનિ નથી

પુષ્પદંત પછીનાં અપભ્રંશ

પુષ્પદંત પછી [illegible] છે પણ [illegible] ૧૯૯ [illegible] ૧૩૩ [illegible] છે તેમાં [illegible] ([illegible]) છે [illegible] અને [illegible] તેનું [illegible] અને [illegible] [illegible] છે [illegible] પોતાની [illegible] કરે છે [illegible] [illegible] અને [illegible] તેની [illegible] અને [illegible] તેને [illegible] છે [illegible] ([illegible]) [illegible] ([illegible]) (વિ. સં. ૧૧૦૮) રચ્યું છે [illegible] છે

[illegible] ([illegible]) [illegible] ([illegible]) [illegible] છે

[illegible] ([illegible]) ([illegible]) [illegible] છે

પણ પહેલા કહ્યું તેમ સંધિબદ્ધ ચારિતકાવ્યોના ઘણા મોટા ભાગને હજી મુદ્રણનું સદ્ભાગ્ય નથી સાંપડ્યું અહીં આપણે તેવા કાવ્યોની એક યાદી—અને તે પણ સંપૂર્ણ નહીં—આપીને જ સંતોષ માનશું સામાન્ય રીતે આ કાવ્યો અમુક જૈન સિદ્ધાંત કે ધાર્મિક-નૈતિક માન્યતાના દૃષ્ટાંત લેખે કોઈ તીર્થંકરનું કે જૈન પુરાણકથાના યા ઇતિહાસના કોઈ યશસ્વી પાત્રનું ચરિત વર્ણવે છે

ચરિતકાવ્યોની યાદી

નામ		કવિ	સંધિ સંખ્યા	રચનાસમય (ઇસવીસનમાં)
पासपुराणु	(स पार्श्वपुराणम्)	પદ્મકીર્તિ	૧૮	૯૪૩
जम्बूसामिचरिउ	(स जम्बूस्वामिचरितम्)	સાગરદત્ત		૧૦૨૦
जम्बूसामिचरिउ	(स जम्बूस्वामिचरितम्)	વીર	૧૧	૧૦૭૦
सुदसणचरिउ	(स सुदर्शनचरितम्)	નયનંદી	૧૧	૧૦૪૦
विलासवइकहा	(स विलासवतीकथा)	સાધારણ અથવા સિદ્ધસેન	૧૧	૧૦૬૮
पासचरिउ	(स पार्श्वचरितम्)	શ્રીધર	૧૨	૧૧૩૩
सुकुमालचरिउ	(स सुकुमारचरितम्)	શ્રીધર	૬	૧૧૫૨
सुकुमालसामिचरिउ	(स सुकुमालस्वामिचरितम्)	પૂર્ણભદ્ર	૬	
पज्जुण्णकहा	(स प्रद्युम्नकथा)	સિંહ કે સિદ્ધ	૧૫	૧૨મી શતાબ્દી
जिणदत्तचरिउ	(स जिनदत्तचरितम्)	લક્ખણ	૧૧	૧૨૧૯
वयरसामिचरिउ	(स वज्रस्वामिचरितम्)	વરદત્ત	૨	
बाहुबलिदेवचरितम	(स बाहुबलिदेवचरितम्)	ધનપાલ	૧૮	૧૩૯૮
सेणियचरिउ	(स श्रेणिकचरितम्)	જયમિત્ર હલ્લ	૧૧	૧૫મી શતાબ્દી
चन्दप्पहचरिउ	(स चन्द्रप्रभचरितम्)	યશઃકીર્તિ	૧૧	"
सम्मइजिनचरिउ	(स सम्मतिजिनचरितम्)	રઇધૂ	૧૦	"
मेहेसरचरिउ	(स मेघेश्वरचरितम्)	રઇધૂ	૧૩	"
धणकुमारचरिउ	(स धनकुमारचरितम्)	"	૪	"
वड्ढमाणकव्वु	(स वर्धमानकाव्यम्)	જયમિત્ર હલ્લ	૧૧	"
अमरसेणचरिउ	(स अमरसेनचरितम्)	માણિક્યરાજ	૯	૧૫૨૦
णायकुमारचरिउ	(स नागकुमारचरितम्)	"	"	"
सुलोयणाचरिउ	(स सुलोचनाचरितम्)	દેવસેન	૨૮	

કથાકોશો

અહીં સુધીમાં ગણાવ્યા તે ઉપરાંત બીજો એક વિષયપ્રકાર પણ સંધિબંધમાં મળે છે તે છે કોઈ વિશિષ્ટ જૈન ગ્રંથમાં પ્રતિપાદિત થયેલા અમુક ધાર્મિક વા નૈતિક વિષયને ઉદાહૃત કરતી કથાવલી 'કથાકોશ' નામે જાણીતા આ સાહિત્યની સંખ્યાબંધ કૃતિઓ સંસ્કૃત અને પ્રાકૃતમાં મળે છે અપભ્રંશમાં ૫૬ તથા ૫૮ સંધિના બે ભાગમાં રચાયેલું નયનંદીકૃત सयलविहिविहाणकव्वु (स. सकलविधिविधानकाव्यम्) (ઇ સ ૧૦૪૪) તથા ૫૩ સંધિમાં નિબદ્ધ શ્રીચંદ્રકૃત कहकोसु (स कथाकोश) (ઇસ્વીની અગીઆરમી સદી) એ બન્ને, શ્રમણજીવનને લગતા ને જૈન શૌરસેનીમાં રચાયેલા આગમકલ્પ

પ્રસિદ્ધ દિગમ્બર ગ્રંથ ભગવતી-આરાધનાની સાથે સંકળાયેલી કથાઓ નોંધેલી છે. નયનંદી અને શ્રીચંદ્રે પોતાની કૃતિઓ પુરોગામી સંસ્કૃત અને પ્રાકૃત આરાધનાકથાકોશોને આધારે રચી હોવાનું જણાવ્યું છે.

૨૧ સંધિનો શ્રીચંદ્રકૃત કહકોસુ (સં. કથાકોશ) (ઈ. સ. ૧૦૬૪), ૧૧ સંધિની હરિષેણકૃત ધમ્મપરિક્ખા (સં. ધર્મપરીક્ષા) (ઈ. સ. ૯૮૮), ૧૪ સંધિનું અમરકીર્તિકૃત છક્કમ્મુવએસો (સં. ષટ્કર્મોપદેશ) અને લગભગ ૭ સંધિનું શ્રુતકીર્તિકૃત પરમેટ્ઠિપયાસસાર (સં. પરમેષ્ઠિપ્રકાશસાર) (ઈ. સ. ૧૪૯૭) વગેરેનો પણ આ જ પ્રકારમાં સમાવેશ થાય છે. આ બધી કૃતિઓ પણ હજી પ્રકાશમાં નથી આવી.

આમાં હરિષેણની ધમ્મપરિક્ખા તેના વસ્તુની વિશિષ્ટતાને કારણે ખાસ રસપ્રદ છે. તેમાં મુખ્યત્વે બ્રાહ્મણ પુરાણો કેટલાં વિસંગત અને અર્થહીન છે તે અનેક યુક્તિથી પુરવાર કરીને મનોવેગ પોતાના મિત્ર પવનવેગ પાસે જૈન ધર્મનો સ્વીકાર કરાવે છે તેની વાત છે. મનોવેગ પવનવેગની હાજરીમાં એક બ્રાહ્મણસભા સમક્ષ પોતાના વિશે સાવ અસંભવિત અને ઉપજાવી કાઢેલી વાતો કહે છે, અને જ્યારે પેલા બ્રાહ્મણો તેને માનવાની ના પાડે છે ત્યારે તે રામાયણ, મહાભારત અને પુરાણોમાંથી એવા જ અસંભવિત પ્રસંગો ને બનાવો સમર્થનમાં ટાંકી પોતાનાં કથનોને પ્રમાણભૂત ઠરાવે છે. હરિષેણની આ કૃતિનો આધાર કોઈ પ્રાકૃત રચના હતી. ધમ્મપરિક્ખાને અનુસરીને પાછળથી સંસ્કૃત તેમ જ બીજી ભાષાઓમાં કેટલાક ગ્રંથો રચાયા છે. હરિભદ્રકૃત પ્રાકૃત ધૂર્તાખ્યાન (લગભગ આઠમી શતાબ્દી)માં આ જ કથાયુક્તિ અને પ્રયોજન છે અને આ વિષયની સૌપ્રથમ કૃતિ હોવાનું માન તેને ફાળે જાય છે.

આ સંક્ષિપ્ત વૃત્તાંત પરથી અપભ્રંશ સાહિત્યમાં સંધિબંધનું કેટલું મહત્ત્વ છે તેનો થોડો ખ્યાલ આવી શકશે.

રાસાબંધ

સંધિબંધની જેમ અપભ્રંશે સ્વતંત્રપણે વિકસાવેલું અને લોકપ્રિય બનેલું બીજું સાહિત્યસ્વરૂપ તે રાસાબંધ. તે નૃત્યસહિત ગાવાના પ્રકારની, અભિનય ભાવની (ભાવ સહિત અભિનયનું સ્મરણ કરાવતી) રચના હોવાની જાણ થઈ શકે છે. તેમાં ગાવાના હેતુ માટે સામાન્ય રીતે અમુક એક પરંપરાગત માત્રા છંદ પ્રયોજાતો, જ્યારે વૈવિધ્ય માટે વચ્ચે વચ્ચે ભિન્નભિન્ન રચિત છંદો વપરાતા. રાસાબંધનો પ્રચાર અને લોકપ્રિયતા આપણને ઉપલબ્ધ પ્રાચીનતમ પ્રાકૃત-અપભ્રંશ છંદશાસ્ત્રીઓએ આપેલી રાસકની વ્યાખ્યાથી સમર્થિત થતાં હોવા છતાં (સ્વયંભૂ તો તેને પદ્ધતિઓમાં રસાયનરૂપ કહીને વખાણે છે) એક પણ પ્રાચીન રાસકનો નમૂનો તો હજી નામે પણ નથી મળતો એ આશ્ચર્યની વાત છે. અને છઠ્ઠાના સમયમાં પણ આ પ્રકારના અપભ્રંશ છંદઃશાસ્ત્રકાર વિરહાંકનું આપેલું લક્ષણ ઘટાવે તેવી સામગ્રી મળતી નથી. સમય અને પરંપરાનું પરિવર્તન પામીને રાસો અર્વાચીન ભારતીય-આર્ય સાહિત્યમાં ઓગણીસમી શતાબ્દીના અંત સુધી ચાલુ રહ્યો છે. પ્રાચીન ગુજરાતી-રાજસ્થાની સાહિત્યમાં બહુધા જૈન લેખકોએ રચેલા રાસાઓ સેંકડોની સંખ્યામાં મળે છે. પણ અપભ્રંશમાં કે તેની લગભગના એક મુસ્લિમ કવિ અને બારમી સદીના લગભગના સાહિત્યકૃતિએ પ્રાચીન એક ઉપદેશમાં જિન રાસ સિવાય બીજું કશું બચ્યું નથી. આમાં પાછલી કૃતિ ઉપદેશરસાયનરાસ એંશી પદોમાં સદ્ગુરુ અને સદ્ધર્મની પ્રશંસા અને કુગુરુ અને કુધર્મની નિંદા કરે છે. એ રાસાબંધ એક પ્રતિનિધિરૂપ કૃતિ નથી, પણ લોકપ્રિય સાહિત્યપ્રકારનો ધાર્મિક હેતુ અર્થે ઉપયોગ કરવાનું ઉદાહરણ માત્ર છે. માણિક્યપ્રસ્તારિકાપ્રતિબદ્ધ રાસ નામે એક બારમા રાસનો ઉલ્લેખ બારમી શતાબ્દીની કૃતિમાં મળે છે.

અનિબદ્ધ રચનાપ્રકારો

જેમા પ્રતિપાદ્ય વિષયને સવિધાન, સયોજન વગેરે દ્વારા ચોક્કસ ઘાટ આપવાનો હોય છે તેવા વિશિષ્ટ બંધવાળા પ્રકારો ઉપરાત અપભ્રશમા બધરહિત પ્રકારોનો પણ ઉપયોગ થતો

અપભ્ર શ કથાકાવ્ય માટે અધિબધ જ નિયત હતો એવુ નથી કેમ કે આરભથી અત સુધી નિરપવાદપણે એક જ છદ યોજાયો હોય અને બધારણ કે વિષયાદિને અવલબીને કોઈ પણ જાતના વિભાગ કે ખડ પાડવામા ન આવ્યા હોય તેવા કથાકાવ્યોના આપણને એકબે નમૂના મળે છે ઈ સ ૧૧૫૦મા સમાપ્ત થયેલું હરિભદ્રનું णेमिणाहचरिउ(સ नेमिनाथचरितम्)નું પ્રમાણ ૮૦૩૨ શ્લોક જેટલુ છે, અને તે સળગ રડ્ડા નામના એક મિશ્ર છદમા રચાયુ છે હરિભદ્ર પહેલા ઓછામા ઓછી ત્રણ શતાબ્દી પૂર્વ થયેલા ગોવિંદ નામે અપભ્રશ કવિએ પણ રડ્ડાછદના વિવિધ પ્રકારોમા એક કૃષ્ણકાવ્ય રચ્યુ હોવાનુ આપણે स्वयम्भूच्छन्दमा આપેલા ટાચણો પરથી અનુમાન કરી શકીએ છીએ

ધાર્મિક, તથા આધ્યાત્મિક કૃતિઓ

અપભ્રશમા કથાકાવ્યોની (અને સભવત ઊર્મિપ્રધાન કાવ્યોની) વિપુલતા હતી એનો અર્થ એવો નથી કે તે બીજા કાવ્યપ્રકારોથી સાવ અજ્ઞાત હતો ધાર્મિક બોધક વિષયની કેટલીક નાની નાની રચનાઓ ઉપરાત ત્રણ આધ્યાત્મિક કે યોગવિષયક રચનાઓ પણ મળે છે

આમા યોગીન્દુદેવ (અપ જોઈદુ)નો परमप्पपयासु (સ परमात्मप्रकाश) અને योगसार સૌથી વિશેષ મહત્ત્વના છે परमप्पपयासुના બે અધિકારમા પહેલામાથી ૧૨૩ દોહા છે, જેમા બાહ્યાત્મા, અતરાત્મા અને પરમાત્માનુ મુક્ત, રસવતી શૈલીમા પ્રતિપાદન કરેલુ છે ૨૧૪ પદ્યો(ઘણાખરા દોહા)નો બીજો અધિકાર મોક્ષતત્ત્વ અને મોક્ષસાધન ઉપર છે યોગીન્દુ સાધક યોગીને આત્મસાક્ષાત્કારનુ સર્વોચ્ચ મહત્ત્વ સમજાવે છે, અને તે માટેના માર્ગ તરીકે વિષયોપભોગ તજવાનો, ધર્મના માત્ર બાહ્યાચારને નહીં, પણ આતરિક તત્ત્વને વળગી રહેવાનો, આતરિક શુદ્ધિનો અને આત્માના સાચા સ્વરૂપનુ ધ્યાન ધરવાનો ઉપદેશ આપે છે योगसारमा ૧૦૮ પદ્યો(ઘણાખરા દોહા)મા સસારભ્રમણથી વિરક્ત મુમુક્ષુને પ્રબુદ્ધ કરવા માટે ઉપદેશ અપાયેલો છે સ્વરૂપ, શૈલી અને સામગ્રીની દૃષ્ટિએ તેનુ परमप्पपयासु સાથે ઘણુ સામ્ય છે

આ જ શબ્દો રામસિંહકૃત दोहापाहुड(સ दोहाप्राभृत)ને લાગુ પડે છે તેના ૨૧૨ દોહાબહુલ પદ્યોમા એ જ અધ્યાત્મિક નૈતિક દૃષ્ટિ પર ભાર મુકાયો છે તેમા શરીર અને આત્માનો તાત્ત્વિક ભેદ નિરૂપી, પરમાત્માની સાથે આત્માની અભેદાનુભૂતિને સાધક યોગીનુ સર્વોચ્ચ સાધ્ય ગણ્યુ છે વિચારમા તેમ જ પરિભાષામા આ ત્રણે કૃતિઓ બ્રાહ્મણ અને બૌદ્ધપરપરાની અધ્યાત્મવિષયક કેટલીક કૃતિઓ સાથે ગણનાપાત્ર સામ્ય ધરાવે છે

તેમની ભાષા અને શૈલી સરળ, સચોટ, લોકગમ્ય અને અલકારના તથા પાંડિત્યના ભારથી મુક્ત છે તેમને ભારતીય અધ્યાત્મરહસ્યવાદી સાહિત્યમાં જૈન પરપરાના મૂલ્યવાન પ્રદાન તરીકે ગણાવી શકાય

નાની ધાર્મિક કૃતિઓમા લક્ષ્મીચદ્રકૃત सावयधम्मदोहा (સ श्रावकधर्मदोहा) અપરનામ नवकारश्रावकाचार (૧૬ મી શતાબ્દી પહેલા) ઉલ્લેખાર્હ છે તેમા નામ પ્રમાણે શ્રાવકોનું કર્તવ્ય લોકભોગ્ય શૈલીમા સમજાવ્યુ છે એ ઉપરાત ૨૫ દોહાની મહેશ્વરકૃત સયમવિષયક सयममञ्जरी (સભવત ૧૩મી શતાબ્દી લગભગ)નો, જિનદત્ત (ઈ સ ૧૦૭૬ – ૧૧૫૨) કૃત चर्चरी અને

પ્રસિદ્ધ [illegible] ગ્રંથ ભગવતી–ભગવતીસૂત્રની સાથે સરખાવેલી કથાઓ નમૂને છે. તેમની અને બીજાઓની પોતાની કૃતિઓ [illegible] અને પ્રકૃત આરાધનાકથાકોશોને આધારે આ કોશનું બનાવ્યું છે.

૨૧ ભવિસ્સયત્તકહા અને [illegible] (સં. [illegible]) (વિ. સં. ૧૧૪૪) ૧૧ [illegible] ધર્મપરીક્ષા (સં. ધર્મપરીક્ષા) (વિ. સં. ૬૮૮) ૧૪ [illegible] અભયદેવસૂરિકૃત [illegible] (સં. [illegible]) અને [illegible] (સં. [illegible]) (વિ. સં. ૧૨૬૭) વગેરેનો પણ આ [illegible] પ્રકારમાં સમાવેશ થાય છે. આ બધી કૃતિઓ પણ હજી પ્રકાશમાં નથી આવી.

આમાં [illegible] ધમ્મપરિક્ખા તેના વસ્તુની વિશિષ્ટતાને કારણે [illegible] છે. તેમાં મુખ્યત્વે [illegible] દેવો વિષ્ણુ અને બ્રહ્મા છે તે સર્વોત્કૃષ્ટ [illegible] અને [illegible] ધર્મનો સ્વીકાર કરાવે છે તેની વાત છે. [illegible] પણ [illegible] અને [illegible] તેની કરેલી વાતો કરે છે અને જ્યારે [illegible] માનવાની ના પાડે છે ત્યારે તે રામાયણ, મહાભારત અને પુરાણોમાંથી [illegible] તેવા જ પ્રસંગો ટાંકી [illegible] પ્રામાણ્ય [illegible] છે. હરિષેણની આ કૃતિ [illegible] પ્રાકૃત [illegible] ધમ્મપરિક્ખાને અનુસરીને પાછળથી સંસ્કૃત તેમ જ [illegible] [illegible] રચાયા છે. [illegible] પ્રાકૃત [illegible] (છઠ્ઠી આઠમી સદીની)માં આ જ [illegible] કૃતિ [illegible] છે અને આ [illegible] પ્રથમ કૃતિ હોવાનું [illegible] તેને [illegible] છે.

આ [illegible] પછી અપભ્રંશ સાહિત્યમાં હરિષેણનું રહેવું [illegible] છે. તેનો પત્તો [illegible] [illegible].

કથાકોશ

[illegible] અપભ્રંશ [illegible] [illegible] અને [illegible] પ્રાચીન [illegible] સાહિત્યમાં તે [illegible] ની પ્રથમ [illegible] (આમ સંસ્કૃત ભાષાનું સ્મરણ કરાવતી) [illegible] રીતે [illegible] પરંપરા [illegible] [illegible] [illegible] અને [illegible] પ્રાચીનતમ પ્રાકૃત–અપભ્રંશ [illegible] [illegible] (સ્વયંભૂ તો [illegible]માં [illegible] કરીને [illegible] છે) આ પણ પ્રાચીન [illegible] એ [illegible] છે અને [illegible] પણ [illegible] અપભ્રંશ [illegible] [illegible] [illegible] નથી [illegible] છે [illegible] અને [illegible] [illegible] [illegible] સાહિત્ય [illegible] પ્રાચીન [illegible]–[illegible] સાહિત્યમાં [illegible] [illegible] છે. પણ અપભ્રંશમાં [illegible] [illegible] અને [illegible] [illegible] સાહિત્યદૃષ્ટિએ [illegible] [illegible] નથી. [illegible] કૃતિ [illegible] [illegible] અને [illegible] અને [illegible] છે એ [illegible] કૃતિ [illegible] [illegible] [illegible] છે. [illegible] [illegible] ઉલ્લેખ આપી [illegible] કૃતિ [illegible] છે.

જૈન સાહિત્યનાં પદો વિષે વિચારણા

પ્રા. ચન્દ્રકાન્ત મહેતા એમ એ, એલએલ બી, પીએચ ડી

મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યમા વિશેષ વ્યાપક, વિશેષ લોકગમ્ય અને લોકપ્રિય, અને વિશેષ સમૃદ્ધ પ્રકાર પદનો હતો બીજા પ્રકારોમા આમજનતા મોટે ભાગે શ્રોતાનું કામ કરતી પરન્તુ, આ પ્રકાર જ એવો હતો, કે જે આમજનતા, મુખપાઠ કરીને, હોંશે હોંશે, દિનપ્રતિદિન ગાઈને, આનન્દ માણી શકે આ પ્રકાર એ જૈન, જૈનેતર—બન્નેએ વિકસાવ્યો છે આ પ્રકારની લોકપ્રિયતા એટલી બધી હતી, કે પ્રબંધલેખકો પ્રબંધોમા, આખ્યાનકારો આખ્યાનોમા, રાસલેખકો રાસાઓમા, ને વાર્તાકારો વાર્તાઓમા એનો છૂટથી ઉપયોગ કરતા આમ પદનુ સ્વતંત્ર સ્થાન તો હતુ જ, પરન્તુ અન્ય પ્રકારો જોડે પણ એ પ્રકાર સંકળાયેલો હતો

પદ એ ઊર્મિજન્ય કાવ્યપ્રકાર છે એથી પદને આપણી અર્વાચીન કાવ્યસંજ્ઞા આપવી હોય તો, આપણે એને ઊર્મિકાવ્ય (Lyric) કહી શકીએ આ પ્રકારમા ઊર્મિ જેટલે અંશે પ્રબળ, કાવ્યોચિત, તેટલે અંશે કાવ્યની ઉત્તમતા જે ઊર્મિનુ પદમા નિરૂપણ થાય છે તે ઊર્મિ બે પ્રકારની છે એક ભક્તિની ને બીજી ઉપદેશાત્મક ઉપદેશાત્મક ઊર્મિમા પણ બહુધા શાન્તરસના હોય છે અને એ પ્રકાર જૈન સાહિત્યમા સારા પ્રમાણમા ખીલ્યો છે જૈન સાહિત્યના પદમા આપણને જે ઊર્મિ દૃષ્ટિએ પડે છે તે કા તો કથનાત્મક યા તો વર્ણનાત્મક સ્વરૂપમા વ્યક્ત થઈ છે

મધ્યકાલીન સાહિત્યની એક વિશેષતા એ હતી કે સાહિત્ય અને જીવન પરસ્પર સુસંકલિત હતા જીવનની જરૂરિયાતમાંથી જ સાહિત્યનો ઉદ્‌ગમ થતો આથી સાહિત્યનુ આખુ માળખુ જ જીવન જોડે સંકળાયેલુ રહેતું આથી મધ્યકાલીન કવિ સામાન્ય માનવી માટે જ કાવ્ય રચતો, સામાન્ય જનને માટે જ પોતાની ઊર્મિને વ્યક્ત કરતો અને એથી સાહિત્ય સર્જનસુલભ અને સર્વજનનુ બની જતુ એ સમયનો કવિ સામાન્ય જનથી ભિન્ન એવી ભાષામા બોલતો કે કાવ્ય રચતો નહિ કાવ્યનો રચયિતા અને ભાવક બન્ને એક જ પ્રકારની દૈનંદિન વપરાતી ભાષાથી સંકળાયેલા હતા કવિ સામાન્ય જીવનમાથી જ પોતાના વક્તવ્ય માટે ઉપમાનો ને દૃષ્ટાન્તો શોધતો, લોકજીવન જ એનુ પ્રેરણાસ્થાન હતુ, જેમકે સમયસુન્દર એમના નીચેના પદમા લોકજીવનનુ જ રૂપક આપે છે

ધોબીડા તુ ધોજે મનનુ ધોતીયુ રે,
  રખે રાખતો મેલ લગાર રે
એણે રે મેલે જગ મેલો કર્યો રે,
  વિણ ધોયુ ન રાખે લગાર રે
શમદમ આદે જે શીલ રે,
  તિહા પખાળે આતમ ચીર રે
તપવજે તપ તડકે કરી રે,
  જાળવજે નવબ્રહ્મ વાડ રે

[illegible]નો, અને ધનપાલકૃત [illegible] (ઈસવી ૧૧મી શતાબ્દી) [illegible]કૃત [illegible] આદિ સ્તવનો વગેરેનો ઉલ્લેખ કરી શકાય.

પ્રકીર્ણ કૃતિઓ અને ઉત્તરકાલીન વલણો

સ્તોત્ર કૃતિઓ ઉપરાંત જૈન પ્રાકૃત તથા સંસ્કૃત ગ્રંથોમાં અને ટીકાસાહિત્યમાં નાનાંમોટાં અપભ્રંશ અવતરણો મળે છે. ઉદાહરણ લેખે થોડાંક નામ ગણાવીએ : વર્ધમાનકૃત આદિનાથચરિત (ઈ. સ. ૧૧૦૪) દેવચંદ્રકૃત શાન્તિનાથચરિત (ઈ. સ. ૧૧૦૪) હેમચંદ્રકૃત સિદ્ધહેમ વ્યાકરણ તથા કુમારપાલચરિત અને નામ [illegible] (ઈસવી ૧૨મી શતાબ્દી), રત્નપ્રભકૃત ઉપદેશમાલાકર્ણિકાવૃત્તિ (ઈ. સ. ૧૧૮૨) સોમપ્રભકૃત કુમારપાલપ્રતિબોધ (ઈ. સ. ૧૧૮૪) [illegible]કૃત [illegible] (ઈસવી ૧૪મી શતાબ્દી પહેલાં) વગેરે.

સંધિ

તેરમી શતાબ્દી આસપાસ ટૂંકા અપભ્રંશ કાવ્યો માટે 'સંધિ' નામે (આગલા [illegible] થી ભિન્ન છે) એક નવો કાવ્યપ્રકાર વિકસે છે. તેમાં કોઈ ધાર્મિક ઉપદેશાત્મક કે આધ્યાત્મિક વિષયનું [illegible] નિરૂપણ કર્યું હોય છે અને તેમનો ઘણો ભાગ આગમ [illegible] — અથવા તો પૂર્વેના જૈન ધાર્મિક સાહિત્યમાંનો — કોઈ પ્રસંગ કે ઉપદેશાત્મક હોય છે. રત્નપ્રભકૃત [illegible] (ઈસવી ૧૩મી શતાબ્દી) [illegible]કૃત [illegible] (ઈસવી ૧૩મી શતાબ્દી)કૃત [illegible] (ઈ. સ. ૧૨૪૧) તથા અન્ય સંધિઓ, વગેરે.

તેરમી શતાબ્દીમાં અને તે પછી રચાયેલી કૃતિઓના ઉત્તરકાલીન અપભ્રંશમાં [illegible] બોલીઓનો વધતો જતો પ્રભાવ જોવા મળે છે. આ બોલીઓમાં જ આધુનિક ભારતીય સાહિત્યનાં બીજ હતાં — ને કે આરંભમાં આ સાહિત્ય અપભ્રંશ સાહિત્યના [illegible] સાહિત્યસ્વરૂપોના [illegible] આ પ્રભાવ આ આરંભમાં તો કેટલીક અપભ્રંશ [illegible] પણ છે. [illegible] સાહિત્યમાં અપભ્રંશ પરંપરા [illegible] શતાબ્દી સુધી ચાલે છે અને [illegible] પછી પણ થતું રહેલી જોવા મળે છે.

ધર્મનિષ્ઠાની અને પ્રેમની મર્યાદા છતાં વિપુલ સાહિત્યરાશિ અને અનેક [illegible] પરંપરાપુષ્ટ કાવ્યરીતિનું [illegible], વર્ણનનિપુણતા અને રસનિષ્પત્તિની શક્તિ — આ બધાં દ્વારા જૈન અપભ્રંશ સાહિત્યને જે સામાન્ય અને સિદ્ધિ પ્રાપ્ત થાય છે તેથી ભારતીય સાહિત્યના ઇતિહાસમાં સહેજે તેને ઊંચું ને ગૌરવભર્યું સ્થાન પ્રાપ્ત થાય છે.



જૈન સાહિત્યનાં પદો વિષે વિચારણા

પ્રા. ચન્દ્રકાન્ત મહેતા એમ એ , એલએલ બી , પીએચ ડી

મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યમા વિશેષ વ્યાપક, વિશેષ લોકગમ્ય અને લોકપ્રિય, અને વિશેષ સમૃદ્ધ પ્રકાર પદનો હતો બીજા પ્રકારોમા આમજનતા મોટે ભાગે શ્રોતાનુ કામ કરતી પરન્તુ, આ પ્રકાર જ એવો હતો, કે જે આમજનતા, મુખપાઠ કરીને, હોંગે હોંગે, દિનપ્રતિદિન ગાઈને, આનદ માણી શકે આ પ્રકાર એ જૈન, જૈનેતર—બન્નેએ વિકસાવ્યો છે આ પ્રકારની લોકપ્રિયતા એટલી બધી હતી, કે પ્રબધલેખકો પ્રબધોમા, આખ્યાનકારો આખ્યાનમા, રાસાલેખકો રાસામા, ને વાર્તાકારો વાર્તામા એનો છૂટથી ઉપયોગ કરતા આમ પદનુ સ્વતત્ર સ્થાન તો હતુ જ, પરન્તુ અન્ય પ્રકારો જોડે પણ એ પ્રકાર સકળાયેલો હતો

પદ એ ઊર્મિજન્ય કાવ્યપ્રકાર છે એથી પદને આપણી અર્વાચીન કાવ્યસજ્ઞા આપવી હોય તો, આપણે એને ઊર્મિકાવ્ય (Lyric) કહી શકીએ આ પ્રકારમા ઊર્મિ જેટલે અશે પ્રબળ, કાવ્યોચિત, તેટલે અશે કાવ્યની ઉત્તમતા જે ઊર્મિનુ પદમા નિરૂપણ થાય છે તે ઊર્મિ બે પ્રકારની છે એક ભક્તિની ને બીજી ઉપદેશાત્મક ઉપદેશાત્મક ઊર્મિમા પદો બહુધા શાન્તરસના હોય છે અને એ પ્રકાર જૈન સાહિત્યમા સારા પ્રમાણમા ખીલ્યો છે જૈન સાહિત્યના પદમા આપણને જે ઊર્મિ દૃષ્ટિએ પડે છે તે કા તો કથનાત્મક યા તો વર્ણનાત્મક સ્વરૂપમા વ્યક્ત થઈ છે

મધ્યકાલીન સાહિત્યની એક વિશેષતા એ હતી કે સાહિત્ય અને જીવન પરસ્પર સુસકલિત હતા જીવનની જરૂરિયાતમાથી જ સાહિત્યનો ઉગમ થતો આથી સાહિત્યનુ આખુ માળખુ જ જીવન જોડે સકળાયેલુ રહેતુ આથી મધ્યકાલીન કવિ સામાન્ય માનવી માટે જ કાવ્ય રચતો, સામાન્ય જનને માટે જ પોતાની ઊર્મિને વ્યક્ત કરતો અને એથી સાહિત્ય સર્જનસુલભ અને સર્વજનનુ બની જતુ એ સમયનો કવિ સામાન્ય જનથી ભિન્ન એવી ભાષામા બોલતો કે કાવ્ય રચતો નહિ કાવ્યનો રચયિતા અને ભાવક બન્ને એક જ પ્રકારની દૈનદિન વપરાતી ભાષાથી સકળાયલા હતા કવિ સામાન્ય જીવનમાથી જ પોતાના વક્તવ્ય માટે ઉપમાનો ને દૃષ્ટાન્તો શોધતો, લોકજીવન જ એનુ પ્રેરણાસ્થાન હતુ, જેમકે સમયસુન્દર એમના નીચેના પદમા લોકજીવનનુ જ રૂપક આપે છે

ધોબીડા તુ ધોજે મનનુ ધોતીયુ રે,
    રખે રાખતો મેલ લગાર રે
એણે રે મેલે જગ મેલો કર્યો રે,
    વિણુ ધોયુ ન રાખે લગાર રે
શમદમ આદે જે શીલ રે,
    તિહા પખાળે આતમ ચીર રે
તપવજે તપ તડકે કરી રે,
    જાળવજે નવબ્રહ્મ વાડ રે

નાગકુમારચરિત, અને ધનપાલકૃત ભવિસયત્તકહા (૧૦મી ૧૧મી શતાબ્દી) આદિ ... વગેરેનો ઉલ્લેખ કરી શકાય.

પ્રકીર્ણ કૃતિઓ અને ઉત્તરકાલીન વલણો

સ્વતંત્ર કૃતિઓ ઉપરાંત જૈન પ્રાકૃત તથા સંસ્કૃત ગ્રંથોમાં અને ટીકાસાહિત્યમાં નાનામોટા અપભ્રંશ અવતરણ આવે મળે છે. ઉપરાંત કેટલીક મિશ્રભાષી કૃતિઓ પણ છે. આમાંથી કેટલીક: વર્ધમાનકૃત ઋષભચરિત (વિ. સં. ૧૧ ૪) દેવચંદ્રકૃત શાન્તિનાથચરિત (વિ. સં. ૧૧ ૪) હેમચંદ્રકૃત સિદ્ધહેમ વ્યાકરણ તથા કુમારપાલચરિત અપભ્રંશ દ્વયાશ્રય (૧૨મી શતાબ્દી), રત્નપ્રભકૃત ઉપદેશમાલાદોઘટ્ટીવૃત્તિ (વિ. સં. ૧૨૩૮) સોમપ્રભકૃત કુમારપાલપ્રતિબોધ (વિ. સં. ૧૨૪૧) હેમહંસગણિકૃત ... (૧૫મી શતાબ્દી પહેલાં) વગેરે.

સંધિ

૧૧મી શતાબ્દી આસપાસ ટૂંકા અપભ્રંશ કાવ્યો માટે સંધિ નામે (આગમના સંધિ થી ભિન્ન છે) એક નવો રચનાપ્રકાર વિકસે છે. તેમાં કોઈ ધાર્મિક ઉપદેશ કે ઉપદેશાત્મક વિષયનું ... નિરૂપણ કરેલું હોય છે અને તેમનો મૂળ આધાર ઘણી વાર આગમિક ... કથાનકો — અથવા તો પ્રાચીન ધાર્મિક સાહિત્યમાંનો — કોઈ પ્રસંગ કે ઉપદેશાત્મક હોય છે. રત્નપ્રભકૃત અંતરંગસંધિ (૧૩મી શતાબ્દી), જિનપ્રભકૃત ભાવનાસંધિ ... (૧૪મી શતાબ્દી) કૃત ..., મયણરેહાસંધિ (વિ. સં. ૧૨૯૭) તથા અન્ય સંધિઓ, વગેરે.

૧૨મી શતાબ્દી અને તે પછી રચાયેલી કૃતિઓના ઉત્તરકાલીન અપભ્રંશમાં ... બોલીઓનો વધતો જતો પ્રભાવ જોવા મળે છે. આ બોલીઓમાં જ ... પ્રાદેશિક સાહિત્યના મૂળ નાખી દીધાં — તે તે પ્રદેશના પ્રાચીન અપભ્રંશ સાહિત્ય તે સાહિત્યસ્વરૂપોના ... જૂની ગુજરાતની ... આ પ્રભાવ ... જૈન અપભ્રંશ ઉત્તરકાલીન પણ છે. ... સાહિત્યમાં ... ૧૫મી શતાબ્દી સુધી ચાલ્યા છે અને ક્વચિત પછી પણ ... જોવા મળે છે.

વસ્તુનિર્માણની અને શૈલીની મર્યાદા છતાં જ્ઞાન સાહિત્યરચના અને જીવન પ્રત્યેનું ..., ... વર્ણનનિપુણતા અને રસનિષ્પત્તિની શક્તિ — આ બધાં દ્વારા જૈન અપભ્રંશ સાહિત્યના ? સામાન્ય અને વિશિષ્ટ ... થાય છે. તેથી ભારતીય સાહિત્યના ઇતિહાસમાં ... તેને ... ને યોગ્ય સ્થાન પ્રાપ્ત થાય છે.



જૈન સાહિત્યનાં પદો વિષે વિચારણા

પ્રા. ચંદ્રકાન્ત મહેતા, એમ એ , એલએલ બી , પીએચ ડી

મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યમા વિશેપ વ્યાપક, વિશેપ લોકગમ્ય અને લોકપ્રિય, અને વિશેપ સમૃદ્ધ પ્રકાર પદનો હતો બીજા પ્રકારોમા આમજનતા મોટે ભાગે શ્રોતાનું કામ કરતી પરન્તુ, આ પ્રકાર જ એવો હતો, કે જે આમજનતા, મુખપાઠ કરીને, હોંરો હોંરો, દિનપ્રતિદિન ગાઈ ને, આનદ માણી શકે આ પ્રકાર એ જૈન, જૈનેતર—બન્નેએ વિકસાવ્યો છે આ પ્રકારની લોકપ્રિયતા એટલી બધી હતી, કે પ્રબધલેખકો પ્રબંધોમા, આખ્યાનકારો આખ્યાનમા, રાસાલેખકો રાસામા, ને વાર્તાકારો વાર્તામા એનો છૂટથી ઉપયોગ કરતા આમ પદનુ સ્વતત્ર સ્થાન તો હતું જ, પરન્તુ અન્ય પ્રકારો જોડે પણ એ પ્રકાર સકળાયેલો હતો

પદ એ ઊર્મિજન્ય કાવ્યપ્રકાર છે એથી પદને આપણી અર્વાચીન કાવ્યમના આપની હોય તો, આપણે એને ઊર્મિકાવ્ય (Lyric) કહી શકીએ આ પ્રકારમા ઊર્મિ જેટલે અશે પ્રબળ, કાવ્યોચિત, તેટલે અશે કાવ્યની ઉત્તમતા જે ઊર્મિનુ પદમા નિરૂપણ થાય છે તે ઊર્મિ બે પ્રકારની છે એક ભક્તિની ને બીજી ઉપદેશાત્મક ઉપદેશાત્મક ઊર્મિમા પદો બહુધા શાન્તરસના હોય છે અને એ પ્રકાર જૈન સાહિત્યમા સારા પ્રમાણમા ખીલ્યો છે જૈન સાહિત્યના પદમા આપણને જે ઊર્મિ દષ્ટિએ પડે છે તે કા તો કથનાત્મક યા તો વર્ણનાત્મક સ્વરૂપમા વ્યક્ત થઈ છે

મધ્યકાલીન સાહિત્યની એક વિશેપતા એ હતી કે સાહિત્ય અને જીવન પરસ્પર સુસકલિત હતા જીવનની જરૂરિયાતમાથી જ સાહિત્યનો ઊગમ થતો આથી સાહિત્યનુ આખુ માળખુ જ જીવન જોડે સકળાયેલુ રહેતુ આથી મધ્યકાલીન કવિ સામાન્ય માનવી માટે જ કાવ્ય રચતો, સામાન્ય જનને માટે જ પોતાની ઊર્મિને વ્યક્ત કરતો અને એથી સાહિત્ય સર્વજનસુલભ અને સર્વજનનુ બની જતુ એ સમયનો કવિ સામાન્ય જનથી ભિન્ન એવી ભાષામા બોલતો કે કાવ્ય રચતો નહિ કાવ્યનો રચયિતા અને ભાવક બન્ને એક જ પ્રકારની દૈનદિન વપરાતી ભાષાથી સકળાયલા હતા કવિ સામાન્ય જીવનમાથી જ પોતાના વક્તવ્ય માટે ઉપમાનો ને દષ્ટાન્તો શોધતો, લોકજીવન જ એનુ પ્રેરણાસ્થાન હતુ, જેમકે સમયસુન્દર એમના નીચેના પદમા લોકજીવનનુ જ રૂપક આપે છે

ધોબીડા તુ ધોજે મનનુ ધોતીયુ રે,
    રખે રાખતો મેલ લગાર રે
એણે રે મેલે જગ મેલો કર્યો રે,
    વિણ ધોયુ ન રાખે લગાર રે
શમદમ આદે જે શીલ રે,
    તિહા પખાળે આતમ ચીર રે
તપવજે તપ તડકે કરી રે,
    જાળવજે નવબ્રહ્મ વાડ રે

જ્યાં ઉદારે પાપ અપારના રે,
એમ ઉત્તમ ચોમે તત્કાળ રે,
આલોયણ સાધુને સુખી કરે રે,
તે આવે ભવ ભેરાળ રે.

અહીં મોખીનું રૂપક સર્વજનગમ્ય છે એટલું જ નહિ, પણ સરળ શબ્દોમાં, સ્પષ્ટતાથી, રૂપકને કવિએ એક પછી એક મોખીનાં ઝવેરાત જેવો આપીને સમજાવ્યું છે.

આ ઉપરાંત, ભગવાનની નિરાકારને પણ પરમાં મૂકી તે દ્વારા ધર્મોપદેશ કરવાની, તે ભગવાનને એનાં કલ્યાણનું સ્મરણ કરાવવાની રીતિ પણ પરમ દૃષ્ટિએ પડે છે. વાચક જશવિજયજીનું નીચેનું સ્તવન—

ધ્યાન કરતાં જાતિવેદ અનુકૂળ અવધુત શુદ્ધ
ઉત્તમ ઉજારી પ્રભાવતી હો મુખ નિર્મળ શુદ્ધ
તાનામે ભાન કરીનેજી કહો મેવ મિલાપ
દીનો કરતાં જિનવરજી જ્ઞાનદીપક સુપ્રકાશ
નાભિનંદન શ્રી ઋષિજી વરતાપ સુવિશાળ

ગોળના આત્મ ભાવના એવા કર્યો કવિએ અહીં પોતાનું ધ્યાન શ્રોતાઓના હૃદયમાં સોંસરું ઉતારે માટે આપેલ્યાં છે. આમ પણ ઉક્તિ ઝવેર એની પતિત રીતે સાધનોનું છે.

સામાન્ય રીતે જૈનસાહિત્યમાં ૧૬ સિત્તાવન ભીમ પ્રકારોમાં, જૈનેતર સાહિત્યની જે ધર્મની અસર ત્યારે જ દૃષ્ટિએ પડે છે. પરંતુ જૈનકવિઓની એક વિશેષતા એ છે કે એમાં જૈનેતર પ્રેમલક્ષણા ભક્તિની અસર સ્પષ્ટપણે દૃષ્ટિએ પડે છે. વૈરાગ્યપ્રધાન જૈનધર્મમાં પ્રેમલક્ષણા ભક્તિને સ્થાન ન હોય, પણ જૈનકવિઓ પરમ આત્મા પ્રેમલક્ષણા ભક્તિની પરિભાષામાં જ પોતાની ઊર્મિને વ્યક્ત કરે છે. શૃંગારની પરિભાષાનો ઉપયોગ, જૈનકવિઓને પણ જૈનેતર કવિઓ જેટલો જ સુગમ હતો, અને એ વાહન દ્વારા પણ પોતાની ઊર્મિઓ ભક્ત આત્માનીથી વ્યક્ત કરતા. પ્રભુને પ્રિયતમ માનીને એની ઉપાસના કરાઈ હોય એવું કવિ આનંદઘનજીનું નીચેનું પદ જુઓ—

મુને મારો નાથ વિયોગે મળવાનો કોડ
મીરાંબોલ મનમથ માઠા વિણ તનમન થાકે મોડ
કાઈ હોમિયો ભાર પછેડી લગાઈ આવે ન રેશમ સોડ
જાન ધન મારે અગારે અપેયુ, મારે આનંદઘન શિરમોડ
(જૈનકાવ્યદોહન, પૃ ૪૦)

બીજા એક પદમાં એઓ કહે છે

નિરાધાર કેમ મૂકી, શ્યામ મને નિરાધાર કેમ મૂકી
કોઈ નહિ હું કોણ શું બોલું, સહુ આલંબન ટૂકી
પ્રાણનાથ તમે દૂર પધાર્યા, મૂકી નેહ નિરાશી
જણ જણના નિત પ્રતિગુણ ગાવું, જનમારો કિમ જાશી
(જૈનકાવ્યદોહન, પૃ ૪૦)

અહીં ઈશ્વરને માટે 'શ્યામ', 'પ્રાણનાથ' વગેરે સંબોધનો, સ્પષ્ટ રીતે, ગોપી જ કૃષ્ણને સંબોધતી હોય, અને પોતાની વિરહવેદના આર્દ્ર શબ્દોમા વ્યક્ત કરતી હોય એમ લાગે છે આનંદઘનજીનુ નીચેનુ પદ તો એથી પણ વધારે આગળ વધીને, જાણે દયારામ કે નરસિંહે જ લખ્યુ હોય, એવી ઉત્કટ શૃંગારની પરિભાષામા પોતાના ભાવો વ્યક્ત કરે છે

પિયાબીન સુધબુધ ખુદી હો
વિરહ ભુજગ નિશા સમે,
મેરી સેજડી ખૂદી હો
નિશદિન જોઉં તારી વાટડી
ઘેરે આવો રે ઢોલા

અથવા

મીઠો લાગે કતડો ને ખારો લાગે લોક
કતવિહુણી ગોઠડી, તે રણમાહે પોક

જાણીતા કવિ યશોવિજયજી પણ એમના પદોમા ગોપીભાવને મળતો પ્રિયતમ-પ્રિયતમાનો ભાવ નિરૂપે છે એમના એક પદમા એઓ કહે છે

પિયુ પિયુ કરી તુમને જપુ રે
હું ચાતક તુમે મેહ
(શીતલવદન ચોવીશી)

આ પક્તિ મીરાની આવી જ ઉપમાવલિઓની સહજ રીતે આપણને યાદ આપે છે આ પરિભાષા એ જૈનપદ સાહિત્યની એક વિશેષતા ગણી શકાય જૈન રાસાઓ, કથાઓ તથા પ્રબંધોમા શૃંગાર આવે છે, પણ એ શૃંગારનું એ પ્રકારોમા સ્વતંત્ર સ્થાન છે ભક્તિની ભાવનાને વ્યક્ત કરવાની પરિભાષા યા તો રૂપક તરીકે નહિ

જૈનો મુખ્યત્વે વાણિજ્યપ્રધાન કોમ હોઈ વાણિજ્યની પરિભાષા કે વાણિજ્ય જગતમાથી લીધેલા રૂપકો પણ જૈનપદોમા સ્વાભાવિક રીતે મળે છે આપણા વાણિજ્યપ્રધાન મુલકને એવા રૂપકો વિશેષ રૂચે અને આસ્વાદ્ય બને એ સ્વાભાવિક છે આનંદઘનજીના નીચેના પદમા જિંદગી ટૂંકી છે અને જીવનમા આપણે જે સાધવાનું છે તે ઘણુ છે, એ હકીકત વેપારની પરિભાષામા સમજાવતા એઓ કહે છે

મૂલડો થોડો ભાઈ વ્યાજડો ઘણો રે,
કેમ કરી દીધો રે જાય
તલપદ પૂજી મેં આપી સઘળી રે,
તોય વ્યાજ પૂરુ નહિ થાય
વ્યાપાર ભાગો જલવટ થલવટે રે,
ધીરે નહિ નિશાની માય
વ્યાજ છોડાવી કોઈ ખદા પરઠવે,
તો મૂલ આખુ સમ ખાય
હાટડુ મારુ રૂડા માણેકચોકમા રે,
સાજનિયાનું મનડુ મનાય
આનંદઘન પ્રભુ શેઠ શિરોમણિ રે,
બાહડી ઝાલજે રે આય

જ્યાં ઉછરે બાપ આદરના રે,
એમ ઉન્નત દીસે તારણ રે,
આલોચન સજ્જને સુખી કરે રે,
રમે આવે ભાવ તોરણ રે.

અહીં પોળીનું રૂપક સર્વજનગમ્ય છે એટલું જ નહિ, પણ સરળ શબ્દોમાં, રસાળતાથી, રૂપકને કવિએ એક પછી એક પોળીનાં જીવનનાં ચિત્રો આપીને સમજાવ્યું છે

આ ઉપરાંત, માનવનાં નિત્યકર્મોને પણ ધર્મમાં ભૂલી તે દ્વારા ધર્મોપદેશ કરવાની, કે માનવને એમનાં કર્તવ્યનું સ્મરણ કરાવવાની રીતિ પણ ધર્મમાં દૃષ્ટિએ પડે છે નમૂના રૂપે કવિશ્રીનું નીચેનું સ્તવન—

દાતણ કરતાં આવિવેક અસુખ જયસુખ શુદ્ધ
ઉપ ઉપારી પ્રભાતાદિ હો મુખ નિર્મળ શુદ્ધ
જાતાએ સ્નાન કરીએ મલો મેલ મિથ્યાત
ઉનો કર્મ મિતોય જ્ઞાનદીપક સુપ્રકાશ
નાઈતા થી પુણ્ય તત્ત્વાગ્ર સુવિશાળ

રોજના અત્યંત અગત્યના એવા કર્મો કવિએ અહીં પોતાનું વક્તવ્ય શ્રોતાઓના હૃદયમાં સોંસરું ઉતરે માટે આણેલાં છે આમ પણ આ વિત્ત સ્તવન એક ધનિષ્ઠ રીતે સાંકળેલું હતું

સામાન્ય રીતે જૈનસાહિત્યનાં ૫૬ વિભાગના ભક્તિ પ્રકારોમાં, જૈનેતર સાહિત્યની કે ધર્મની અસર ભાગ્યે જ દૃષ્ટિએ પડે છે પરંતુ જૈનકવિઓની એક વિશેષતા એ છે કે એમાં જૈનેતર પ્રેમલક્ષણા ભક્તિની અસર સ્પષ્ટપણે દૃષ્ટિએ પડે છે વૈરાગ્યપ્રધાન જૈનધર્મમાં પ્રેમલક્ષણા ભક્તિને સ્થાન ન હોય, પણ જૈનકવિઓ પ્રસંગ પ્રમાણે પ્રેમલક્ષણા ભક્તિની પરિભાષામાં જ પોતાની ભક્તિને વ્યક્ત કરે છે સુધારાની પરિભાષાનો ઉપયોગ, જૈનકવિઓને પણ જૈનેતર કવિઓ જેટલો જ સુગમ હતો, અને એ વાહન દ્વારા પણ પોતાની ભક્તિનો અનંત આત્માનીથી વ્યક્ત કરતા પ્રભુને ઉપકાર માનીને એની ઉપાસના કરતાં હોય એવું કવિ આત્મારામજીનું નીચેનું પદ જુઓ

મુને મારો નાથ નિરંજન મળવાનો કોડ
પ્રીતમજીના મનગમતા મારાં ચિત્ત લગન લગ્ને મોડ
કર્મ સેવિતો ભાઈ પછી તમાર્ડ આવે ન રેશમ લોક
આજ હમ મારે સચરાચર, મારે આત્મારામ સિરમોડ
(જૈનસ્તવનાવલિ, પૃ. ૪૭)

બીજા એક પદમાં એમનો કહે છે

નિરાધાર કેમ મૂકી, શ્યામ મને નિરાધાર કેમ મૂકી
કોઈ નહિ હું કોણ શું બોલું, સહુ આલંબન દૂરી
પ્રાણનાથ તુમે દૂર પધાર્યા, મૂકી નેહ નિરાશી
જગજીવન જિન અવિરત માનું, જનમરી ઉમ આશી
(જૈનસ્તવનાવલિ, પૃ ૪૭)

આ કથામા કોઈ પણ જાતના ઉપચાર વિના સીધુ કથન જ છે એમા કથાને ઉચિત વસ્તુ છે જરા પણ આડકેટે ગયા વિના લબ્ધિવિજયજીએ કથા કહી છે ઇલાચીપુત્રને વૈરાગ એ મધ્યબિન્દુ છે અહી કથાનો દૃષ્ટાન્ત તરીકે ઉપયોગ થયો છે આમા ઊર્મિ નથી—સીધુ કથન છે મુનિ વખતસર આવી પહોંચ્યા અને પેલાને રાજા તરફ ઇર્ષા થવાને બદલે વૈરાગ આવ્યો એમા વાર્તાની ખરી ચમત્કૃતિ રહેલી છે આવી ઘણી કથાઓ સજ્ઝાયોમા કહેવાઈ છે જેમકે 'મેતારજમુનિની સજ્ઝાય', 'અરણિકમુનિની સજ્ઝાય', 'વયરમુનિની સજ્ઝાય', 'પણ્ડમુનિની સજ્ઝાય' વગેરે

સજ્ઝાયોમા ક્યારેક સીધો ઉપદેશ પણ આવતો

કડવા ફળ છે ક્રોધના જ્ઞાની એમ બોલે
રીસતણો રસ જાણીએ, હલાહલ તોલે
ક્રોધે ક્રોડ પૂરવતણુ સજય ફળ થાય,
ક્રોધ સહિત તપ જે કરે, તે તો લેખે ન થાય

(વિવિધ સ્તવનાદિ સમુચ્ચય ગ્રન્થ)

અથવા,

દૃષ્ટિરાગે નવ લાગીએ, વળી જાગીએ ચિત્તે
માગીએ શીખ જ્ઞાન તણી, હવે ભાગીએ નિત્યે
જ્ઞાની ગુરુવચન રળિયામણા, કટુ તીરસા લાગે
દૃષ્ટિરાગે ભ્રમ ઊપજે, વધે જ્ઞાન ગુણ રાગે

(પદસજ્ઝાયમાળા)

બીજા જૈનપદના પ્રકારોમા 'ચૈત્યવદન' અને 'સ્નાત્રપૂજા' છે આ બન્ને પ્રકારો મદિર જોડે સકળાયેલા છે ચૈત્યનો અર્થ જૈનમદિર એવો થાય છે સામાન્ય રીતે ભક્તો દેવના દર્શન કરતી વખતે જે ગીતો કે સ્તુતિ બોલતા તે ચૈત્યવદન કહેવાય છે એટલે સ્વાભાવિક રીતે એમા મદિરસ્થ દેવનુ સકીર્તન આવતુ ખીમાએ ચૈત્યવદનામા શત્રુજય તીર્થમાહાત્મ્ય ગાયુ છે જેમકે

આરાધુ સામિણી શારદા, જિમ મતિ તણી દિઈ મતિ સદા
શ્રી સેત્રજ તીરથ વદેનિ, ચૈત્રપ્રવાડિ રચેઈ સખેવિ
પાલીતાણુઈ પ્રણમુ પાસ, જિમ મનવાછિત પૂરઈ આશ
લલિતાસર વદુ જિનવીર, સોઈ સાયર જિમ ગુહિર ગભીર

આ પદમા આરભ રિવાજમુજબ શારદાની સ્તુતિથી કર્યો છે અને લાબા કાવ્યમા જે પ્રમાણેનો વિધિ હોય છે, તેવો વિધિ અહીં છે અતમા તો કવિ મદિરસ્થ દેવની જ પ્રશસ્તિ કરે છે કવિ કહે છે

એહ સામી તુમ ગુણ જેટલા, મઈ કિમ બોલઈ તેતલા,
તું ગુણ રયણાયર હોઈ, એહ સમા નવ જાણઈ કોઈ

આમ કવિનું વક્તવ્ય વિશાળ છે અને રૂપાની પરબની ઘણું એ રીતે કર્યું છે. નરસિંહ મહેતાનું

અમે તો વહેવરિયા રામનામના રે
વેપારી આવે છે બધા ગામગામના રે.

એ પદનું આખું ચાલમાં સ્મરણ થાય છે. આમ કાવ્યમાં વેપારીની દૃષ્ટિએથી જ રૂપાની પરબની કરી છે. આ બધા સમાનતા સાથે તેનું કારણ એ કે આમ બંનેનું પ્રેરણાસ્થાન એક જ હતું. આમ અનેકને દૃષ્ટિ સમક્ષ રાખીને, તેમને પોતાનું વક્તવ્ય શી રીતે સુગ્રાહ્ય બને, એ દૃષ્ટિએ લખાયું છે.

સજ્ઝાયોનો બીજો એક વિશિષ્ટ પ્રકાર સજ્ઝાયનો છે. સજ્ઝાય શબ્દ સ્વાધ્યાયપરથી આવ્યો છે. જે પ્રસંગે જે પ્રમાણે, પોતાના અભ્યાસ માટે અથવા પોતાને જે સજ્ઝાયો મુખપાઠ હોય તે બોલી જવા. આ રીતે સજ્ઝાયો મુખપાઠ કરી અને અંતિમમાં પણ ગવાતી. સજ્ઝાયોનો મુખ્ય હેતુ લોકોને ધર્મમાર્ગે દોરી જવાનો હતો. ધર્મમાર્ગે લોકોને બે રીતે દોરી શકાય: કાં તો સીધેસીધો ઉપદેશ આપીને, અથવા તો દૃષ્ટાંત દ્વારા — વાર્તા કહીને — પરોક્ષ ઉપદેશ આપીને. સજ્ઝાયમાં આ બંને પ્રકારો દૃષ્ટિએ પડે છે.

કથાપ્રધાન સજ્ઝાયોમાં કોઈ સાધ્વી પુરુષનું કે મુનિનું જીવનવૃત્તાંત સંક્ષેપમાં આપેલું હોય છે:

ઇલાચીપુત્રની સજ્ઝાય

નામ ઇલાપુત્ર જાણીએ, ધનદત્ત શેઠનો પુત્ર
નટવી દેખીને મોહિયો, જે રાખે ઘરસૂત્ર
કરમ ન છૂટે રે પ્રાણિયા — ટેક
નિજકુળ છંડી રે નટ થયો, નાણી શરમ લગાર — ક મ
બેનાતટ આવ્યો રે નાચવા, ઊભ્યો વાંસ વિશાળ
તિહાં રાય જોવા રે આવીઓ, મળિયા લોક અનેક — ક મ
દોય પગ પહેરી રે પાવડી, વાંસ ચઢ્યો ગજગેલ
નિરાધાર ઉપર નાચતો, ખેલે નવનવા ખેલ — કરમ
ઢોલ બજાવે રે નટવી, ગાવે કિન્નર સાદ
પાયતલ ઘૂઘરા રે ઘમઘમે, ગાજે અંબર નાદ — ક મ
તિહાં રાય ચિત્તમાં ચિંતવે, લુબ્ધો નટવીની સાથ
જો નટ પડે રે નાચતો, તો નટવી મુજ હાથ — ક મ
ધન ન આપે રે ભૂપતિ, નટ જાણે રે ભૂપ વાત
હું ધન વાંછું રે રાયનો, ને રાય વાંછે મુજ ઘાત — કરમ
દાનવિધ મુનિવર પેખિયા, ધન ધન સાધુ નિરાગ
ધિક ધિક વિષયા રે જીવને, એમ તે પામ્યો વૈરાગ — ક મ
થાળ ભરી શુભ મોદક, પદમણી ઊભેલ બહાર
લો લો કહે છે લેતા નથી, ધન ધન મુનિ અવતાર — કરમ
સંવર ભાવે રે કેવળી, થયો મુનિ કર્મ ખપાય
કેવળ મહિમા રે સુર કરે, લબ્ધિવિજય ગુણ ગાય — કરમ

(સજ્જનમાળા)

આ કથામા કોઈ પણ જાતના ઉપચાર વિના સીધુ કથન જ છે એમા કથાને ઉચિત વસ્તુ છે જરા પણ આડકતરે ગયા વિના લબ્ધિવિજયજીએ કથા કહી છે ઈલાચીપુત્રને વૈરાગ એ મધ્યબિન્દુ છે અહીં કથાનો દૃષ્ટાન્ત તરીકે ઉપયોગ થયો છે આમા ઊર્મિ નથી—સીધુ કથન છે મુનિ વખતસર આવી પહોંચ્યા અને પોતાને રાજા તરફ ઈર્ષા થવાને બદલે વૈરાગ આવ્યો એમા વાર્તાની ખરી ચમત્કૃતિ રહેલી છે આની ઘણી કથાઓ સજ્ઝાયોમા કહેવાઈ છે જેમકે 'મેતારજમુનિની સજ્ઝાય', 'અરણિકમુનિની સજ્ઝાય', 'વયરમુનિની સજ્ઝાય', 'પધુકમુનિની સજ્ઝાય' વગેરે

સજ્ઝાયોમા ક્યારેક સીધો ઉપદેશ પણ આવતો

કડવા ફળ છે ક્રોધના જ્ઞાની એમ બોલે
રીસતણો રસ જાણીએ, હલાહલ તોલે
ક્રોધ ક્રોડ પૂરવતણું સંજમ ફળ જાય,
ક્રોધ સહિત તપ જે કરે, તે તો લેખે ન થાય

(વિવિધ સ્તવનાદિ સમુચ્ચય ગ્રન્થ)

અથવા,

દૃષ્ટિરાગે નવ લાગીએ, વળી જાગીએ ચિત્તે
માગીએ શીખ જ્ઞાન તણી, હવે ભાગીએ નિત્યે
જ્ઞાની ગુરુવચન રળિયામણા, કટુ તીરસા લાગે
દૃષ્ટિરાગે ભ્રમ ઊપજે, વધે જ્ઞાન ગુણ રાગે

(પદસજ્ઝાયમાળા)

બીજા જૈનપદના પ્રકારોમા 'ચૈત્યવંદન' અને 'સ્નાત્રપૂજા' છે આ બન્ને પ્રકારો મદિર જોડે સંકળાયેલા છે ચૈત્યનો અર્થ જૈનમદિર એવો થાય છે સામાન્ય રીતે ભક્તો દેવના દર્શન કરતી વખતે જે ગીતો કે સ્તુતિ બોલતા તે ચૈત્યવંદન કહેવાય છે એટલે સ્વાભાવિક રીતે એમા મદિરસ્થ દેવનુ સકીર્તન આવતુ ખીમાએ ચૈત્યવંદનામા શત્રુંજય તીર્થમાહાત્મ્ય ગાયુ છે જેમકે

આરાંધુ સામિણી શારદ, જિમ મતિ તૂઠી દિઈ મતિ સદા
શ્રી શેત્રુજ તીરથ વદેવિ, ચૈત્રપ્રવાડિ કરેઈ સખેવિ
પાલીતાણઈ પ્રણમુ પાસ, જિમ મનવાછિત પૂરઈ આશ
લલિતાસર વદુ જિનવીર, સોઈ સાયર જિમ ગુહિર ગભીર

આ પદમા આરભ શિરસ્તામુજબ શારદાની સ્તુતિથી કર્યો છે અને લાબા કાવ્યમા જે પ્રમાણેનો વિધિ હોય છે, તેનો વિધિ અહીં છે અતમા તો કવિ મદિરસ્થ દેવનીજ પ્રશસ્તિ કરે છે કવિ કહે છે

એહ સ્વામી તુમ ગુણ જેટલા, મઈ કિમ બોલઈ તેતલા,
તું ગુણ રયણાયર હોઈ, એહ સમા નવ જાણઈ કોઈ

આ રીતિ મેરુવાન એટલે, ઉત્સવમાં જન્મ કરતી વખતે ગવાતાં પદ. આ પ્રકારમાં કવિવર સમય સુંદર પણ આવતું મૂળ નામનાં કવિએ એના ઉત્સવનાં પદ રચવાની રચના કરીને અને કર્યું છે:

કળશ

આજુએ જિનવર આજુએ જિનવર
ભાવે ઉર્મે ને લોક વિરૂપે નણુ એ
સકલ આગમ દેવ પવિત્ર, તે મેરે વખાણું એ
શ્રી૦ વિવિધ પૂજા પરમ, શ્રી ધર્મવર્ધન સૂરિ એ
વાચક પદ લઈ આનંદ કરિ, કરિ આણંદુ એ

અહીં કળશના શીર્ષક જે કળશ છે તે સ્નાત્રપૂજાનો જે કળશ આવે છે તે નહિ, પણ કળશ એ વાજું કે કળશ વગાડવાની રીતિનું નામ હતું તે છે. જ્યારે સ્નાત્રપૂજાના ગીતને જે કળશ નામ આપવામાં આવે છે તે સ્નાત્રપૂજામાં બધા જ કળશને લઈને હોવું જોઈએ.

જૈનધર્મ ત્યાગી જ મંદિરની લોકપ્રથાઓનો અને મંદિરની પૂજાવિધાનમાંથી ઉત્સવોનો પ્રકાર એ સ્નાત્રપૂજા કે કળશનો છે. દેવને સ્નાન કરાવવાની વખતે અને પુષ્પ ચઢાવવાની વખતે સ્નાત્રપૂજા કે કળશના પદો ગવાતા. આ પદોમાં સ્નાનનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ આવતો.

પવિત્ર થઈ મેરે અંગ પખાળી
વિવિધ જાતિ જળ નિરમાળા
કુસુમાંજલિ મેલો આદિ જિણંદા,
તોરા ચરણકમલ સેવે ચોસઠ ઇન્દા
—કુસુમાંજલિ

સરસ સેવંતી માલતીમાળા,
ગુંથ લાવે જિન કંઠ ઠવાયા,
અગર અમિત સુગંધ ગુંથ જાઈ,
અગર મોગરો જિનની ભોગવ ચાઈ,
કુસુમાંજલિ મેલો વીરજિણંદા,
તોરા ચરણકમલ સેવે ચોસઠ ઇંદા

અહીં પ્રથમ પંક્તિમાં જળાભિષેકનો અને દ્વિતીય પંક્તિમાં કુસુમાર્પણનો ઉલ્લેખ આવે છે. બીજા એક સ્નાત્રપૂજાનો નમૂનો લઉં છું.

નિર્મળ જળ કળશે ન્હવરાવે
વસ્ત્ર અમૂલખ અંગ ધરાવે
કુસુમાંજલિ મેલો આદિ જિણંદા
સિદ્ધ સ્વરૂપી અંગ પખાળી
આતમનિર્મળ હુઈ સુકુમાળી
—કુસુમાંજલિ

(આર્યા)

મચકુંદ ચંપમાલઈ, કમલાઈ પુફ્ફપંચ વણ્ણાઈ
જગનાહ ન્હવણ સમયે, દેવા કુસુમાંજલિ દીતી
(વીરવિજય સ્નાત્રપૂજા)

આમા પણ સ્નાનનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ છે કુસુમાર્પણ વિધિનો પણ ઉલ્લેખ છે એ વિધિમા વિશેષત તો ફૂલોની નામાવલિ આવતી

કેટલાક જૈનપદપ્રકારો અન્ય જૈનેતર પદપ્રકારોની જોડે તદ્દન મળતા આવે છે અને બન્ને પ્રકારોમા બાહ્યદૃષ્ટિએ કશો ભેદ નથી હોતો ભેદ માત્ર, જે દેવની સ્તુતિ હોય તેના નામનો હોય છે બાકી અન્ય રીતે એટની બધી જૈન અને જૈનેતર પદપ્રકારમા આપણને સમાનતા જડે છે કે જો દેવોના નામની અદલબદલ કરીએ તો એ પ્રકાર જૈનસાહિત્યનો છે કે જૈનેતર સાહિત્યનો છે તે વરતાય નહિ આવો પ્રકાર આરતીનો છે આરતીની વિધિ જૈન, વૈષ્ણવ, શિવ, માતા બધા મદિરોમા સમાન હતો એટલુ જ નહિ, પણ બધે એક જ રિવાજ પ્રમાણે આરતી ઉતારતી એટલે બન્ને પ્રકારના મદિરોની જરૂરિયાત પૂરી પાડવા માટે આરતીનો પદપ્રકાર ઉદ્ભવ્યો મહાવીરસ્વામીની નીચેની આરતી કાઈક વિશિષ્ટ હોવાથી આપી છે

મહાવીર સ્વામીની આરતી

જયદેવ જયદેવ જયસુખના સ્વામી પ્રભુ (૨)
તુજને વદન કરીએ (૨) ભવભવના ભામી — જયદેવ જયદેવ

સિદ્ધારથના સુત, ત્રિશલાના જાયા પ્રભુ (૨)
જશોદાના છે કથજી, (૨) ત્રિભુવન જગરાયા — જયદેવ જયદેવ

બાળપણામા આપ ગયા રમવાને કાજે — પ્રભુ (૨)
દેવતાએ દીધો પડછાયો (૨) બીવરાવા કાજે — જયદેવ જયદેવ

એકવારનુ રૂપ લીધુ છે નાગનુ પ્રભુ (૨)
બીજીવારનુ રૂપ (૨) લીધુ છે બાળકનુ — જયદેવ જયદેવ

બાળક બીના સહુ પોતે નથી બીના પ્રભુ (૨)
દેવતાનુ કાઈ નવ ચાલ્યુ, (૨) હારી જતા રહેતા, — જયદેવ જયદેવ

એવા છે ભગવાન, મહાવીર તમે જાણો પ્રભુ (૨)
વન્દે છે સહુ તેને (૨) નમે રાયરાણો — જયદેવ જયદેવ

અહીં ‘ જયદેવ ’ ‘ જયદેવ ’નું ધ્રુવ ઉચ્ચારણ, એકીપક્તિના ઉત્તરાર્ધનુ અને બેકી પક્તિના પૂર્વાર્ધનું બે બે વાર ઉચ્ચારણ, એ બધા જૈનેતર તેમ જ જૈન આરતીના પદના બાહ્ય સ્વરૂપના સમાનતત્ત્વો છે અને મહાવીરને બદલે માત્ર નામો બદલીને કૃષ્ણને માટે પણ આ આરતી ચાલી શકે એટલી સમાનતા છે

આ રીતે ચૈત્યવંદન બોલીને, કળશમાં જળ ભરવાનો આરંભ કરવો. આ પ્રકારમાં કવિએ, સ્નાત્ર-મહોત્સવ પણ આવતું 'કળશ' નામની કડીમાં એના ચૈત્યવંદનમાં ભાવ દેવની વાત કરીને આમ કહ્યું છે :

કળશ

ઉત્તમો જિનવર ઉત્તમો જિનવર
આવો મેરે ને ઓહ લીજીએ આણ એ
સકલ આગમ જૈન પંડિત, તે સર્વે વખાણું એ
સ્નાત્ર વિવિધ પૂજન પ્રકાર, શ્રી પરમપદ સુખ એ
વાચક વદે કરે આતુર્ય ગતિ, ગતિ આપણું એ

અહીં કળશના ગીતમાં જે કળશ છે તે સ્નાનપૂજામાં જે કળશ આવે છે તે નહિ, પણ કળશ એ શબ્દ કે કળશમાં વપરાતી દેશીનું નામ હતું તે છે. જ્યારે સ્નાત્રપૂજાના ગીતને જે કળશ નામ આપવામાં આવે છે તે સ્નાત્રપૂજામાં વપરાતા કળશને લઈને હોવું જોઈએ.

ચૈત્યવંદન જેવો જ પંક્તિની એવી શબ્દરચનાઓ અને ભક્તિની જાતિઓમાંથી ઉદ્ભવેલો પ્રકાર એ સ્નાત્રપૂજા. આ પૂજામાં તો છે દેવને સ્નાન કરાવવાની વખતે અને પુષ્પ ચઢાવવાની વખતે સ્નાત્રપૂજા કે સ્નાત્ર ના ગાયે જવાતા આ ગીતોમાં સ્નાનનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ આવતો.

પવિત્ર ઉદક લેઈ અંગ પખાળી,
વિવિધ વસ્ત્ર અંગ શિરમાળ
કુસુમાંજલિ મેલો આદિ જિણંદા,
તોરા ચરણકમળ સેવે ચોસઠ ઈંદા
—કુસુમાંજલિ

×

સરસ સેવંતિ માલતીમાલા,
સુગંધ ભાવે પંચ ભવિક રસાલા,
કદંબ અખિલ પ્રકાર ગુણ ગાઈ,
અનંત ચોવીશી જિનની જોગાઈ પાઈ,
કુસુમાંજલિ મેલો શાંતિજિણંદા,
તોરા ચરણકમળ સેવે ચોસઠ ઈંદા

અહીં પ્રથમ પંક્તિમાં જળાભિષેકનો અને દ્વિતીય પંક્તિમાં કુસુમાંજલિનો ઉલ્લેખ આવે છે. બીજા એક સ્નાત્રપૂજામાં પણ કહ્યું છે

નિર્મળ જળ કળશે ન્હવરાવે
વસ્ત્ર અમૂલખ અંગ ધરાવે
કુસુમાંજલિ મેલો આદિ જિણંદા
સિદ્ધ સ્વરૂપી અંગ પખાળી
આતમનિર્મળ હુઈ સુકુમાળી
—કુસુમાંજલિ

(આર્યા)

મચકુન્દ ચંપમાલઈ, કમલાઈ પુપ્ફપંચ વણ્ણાઈ
જગનાહ ન્હવણ સમયે, દેવા કુસુમાંજલિ દીંતી
(વીરવિજય સ્નાત્રપૂજા)

આમા પણ સ્નાનનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ છે કુસુમાર્પણ વિધિનો પણ ઉલ્લેખ છે એ વિધિમા વિશેષત તો ફૂલોની નામાવલિ આવતી

કેટલાક જૈનપદપ્રકારો અન્ય જૈનેતર પદપ્રકારોની જોડે તદન મળતા આવે છે અને બન્ને પ્રકારોમા બાહ્યદૃષ્ટિએ કશો ભેદ નથી હોતો ભેદ માત્ર, જે દેવની સ્તુતિ હોય તેના નામનો હોય છે બાકી અન્ય રીતે એટલી બધી જૈન અને જૈનેતર પદપ્રકારમા આપણને સમાનતા જડે છે કે જો દેવોના નામની અદલબદલ કરીએ તો એ પ્રકાર જૈનસાહિત્યનો છે કે જૈનેતર સાહિત્યનો છે તે વરતાય નહિ આવો પ્રકાર આરતીનો છે આરતીની વિધિ જૈન, વૈષ્ણવ, શિવ, માતા બધા મદિરોમા સમાન હતો એટલુ જ નહિ, પણ બધે એક જ શિરસ્તા પ્રમાણે આરતી ઉતારતી એટલે બન્ને પ્રકારના મદિરોની જરૂરિયાત પૂરી પાડવા માટે આરતીનો પદપ્રકાર ઉદ્ભવ્યો મહાવીરસ્વામીની નીચેની આરતી કાઈક વિશિષ્ટ હોવાથી આપી છે

મહાવીર સ્વામીની આરતી

જયદેવ જયદેવ જયસુખના સ્વામી પ્રભુ (૨)
તુજને વદન કરીએ (૨) ભવભવના ભામી — જયદેવ જયદેવ

સિદ્ધારથના સુત, ત્રિશલાના જાયા પ્રભુ (૨)
જશોદાના છે કથજી, (૨) ત્રિભુવન જગરાયા — જયદેવ જયદેવ

બાળપણામા આપ ગયા રમવાને કાજે — પ્રભુ (૨)
દેવતાએ દીધો પારખો (૨) બીવરાવા કાજે — જયદેવ જયદેવ

એકવારનુ રૂપ લીધુ છે નાગનુ પ્રભુ (૨)
બીજીવારનુ રૂપ (૨) લીધુ છે બાળકનુ — જયદેવ જયદેવ

બાળક બીના સહુ પોતે નથી બીના પ્રભુ (૨)
દેવતાનું કાઈ નવ ચાલ્યુ, (૨) હારી જતા રહેતા, — જયદેવ જયદેવ

એવા છે ભગવાન, મહાવીર તમે જાણો પ્રભુ (૨)
વન્દે છે સહુ તેને (૨) નમે ગયગણો — જયદેવ જયદેવ

અહીં 'જયદેવ' 'જયદેવ'નુ ધ્રુવ ઉચ્ચારણ, એકીપક્તિના ઉત્તરાર્ધનુ અને બેકી પક્તિના પૂર્વાર્ધનુ બે બે વાર ઉચ્ચારણ, એ બધા જૈનેતર તેમ જ જૈન આરતીના પદના બાહ્ય સ્વરૂપના સમાનતત્ત્વો છે અને મહાવીરને બદલે માત્ર નામો બદલીને કૃષ્ણને માટે પણ આ આરતી ચાલી શકે એટલી સમાનતા છે

મધ્યકાલના ગુજરાતના સંક્ષેપમાં । બે ભાવના પ્રસંગોને બાજુ એ મૂકી પ્રસંગો મળી શકાય. આ સમયનાનું ચરણું ઉપર જણાવ્યું તેમ આરતી ઉતારતી પ્રવૃત્તિ, તેમ જ આરતી ગાવા શીખી હતી, વિધિ સારો હતો તે જ છે. બીજી એક ગ્રન્થિક આરતી જોઈએ

> અપ્સરા કરતી આરતી જિન આગે
> હાં રે જિન આગે રે જિન આગે
> હાં રે એ તો અવિચલ સુખડાં માગે
> હાં રે નાભિનંદન પાસ—અપ્સરા
> તા થઈ નાટક નાચતી પાય ઠમકે હાં રે દોય ચરણે
> —ઝાંઝર ઝમકે
> હાં રે સોવન ઘૂઘરી ઘમકે, હાં રે લેતી ફુદડી બાળી—અપ્સરા
> તાલ મૃદંગને વાંસળી ડફ વેણા, હાં રે રૂડા ગાવતી સ્વર ઝીણા
> હાં રે મધુર સુરાસુર નયણાં હાં રે જોતી મુખડું નિહાળી—અપ્સરા

આની નિરોતામાં એ છે કે એમાં દેવતા વર્ગનાને જ ન દેવની આરતી ઉતારતી રૂપે નું વર્ણન છે. આ અપ્સરા આત્મામાં ભક્તિ ભીનું જ જિનવરને પોતાની માગણી અરપતિ હૃદયની વિનતિ કરે છે. આમ આ રીતે અપ્સરા મૂર્તિનું વર્ણન, ભાવના, ને એની પ્રશસ્તિ જ કરે છે. આ રીતે આરતીનો પ્રકાર એ તેમ જ નાના સ્તુતિમાં ભાવ દાખવે—વર્ણ અને નિરૂપણ બને દૃષ્ટિએ—અનેક પ્રકાર હતો.

આ રીતે જૈન સ્તુતિઓમાં વૈવિધ્ય રહ્યું છે. એમાં સ્તવન, વર્ણન, ભક્તિ વગેરે ઘણાં તત્ત્વો આવતાં. આ પ્રકાર જૈનેતર ભક્તિની જન વિમલતા ભરી છે. સાત્ત્વિક હતો અને તેથી જ આ પ્રકાર, જૈનેતર વર્ગના હૈયાનો જ ભાગ. પોતાની આગવી વિમલતાઓ, જ્યાં ભીના પ્રવૃત્તિ ઉત્સાહ નહિ પણ સત્ત્વશીલોનો એવો મનહારી સાહિત્ય પ્રકાર છે અને મધ્યકાલીન જૈન ભક્તિની ભાવના સર્જિત, ભાવભક્તિવાળાઓનો પ્રભાવ પણ વિસ્તારમાં છે. તો તેમ જ માનવા છે એ હકીકત ઉપર પણ છે.



॥ जयन्तु वीतरागाः ॥

પ્રથમાનુયોગશાસ્ત્ર અને તેના પ્રણેતા સ્થવિર આર્યકાલક

મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી

૧

परिआओ पव्वज्जाभावाओ नत्थि वासुदेवाण।
होइ बलाण सो पुण **पढमणुओगाओ** णायव्वो ॥

आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ४१२

દીક્ષા લઈ ન શકવાને કારણે વાસુદેવોનો દીક્ષાપર્યાય નથી પણ બલદેવો દીક્ષા સ્વીકાર કરે છે માટે તેમનો દીક્ષાપર્યાય છે તે અમે અહીં જણાવતા નથી એટલે જેઓ જાણવા ઇચ્છે તેમણે **પ્રથમાનુયોગ**થી તે જાણી લેવો

૨

तत्थ ताव **सुहम्मसामिणा** जंबूनामस्स **पढमाणुओगे** तित्थयर-चक्कवट्टि-दसारवंसपरूवणागयं **वसुदेवचरियं** कहियं ति।

वसुदेवहिंडी प्रथमखंड पत्र २

સુધર્માસ્વામિએ જંબૂ નામના પોતાના શિષ્ય સમક્ષ **પ્રથમાનુયોગ**ના વ્યાખ્યાન પ્રસંગે તીર્થંકર ચક્રવર્તી અને દશાર્હોનું ચરિત્ર વર્ણવતાં **વસુદેવ**નું ચરિત્ર કહ્યું હતું

૩

मेहावीसीसम्मि ओहामिए **कालगज्जथेराण**।
सज्झंतिएण अह सो खिंसंतेण इमं भणिओ ॥ १५३८ ॥

સ્થવિર આર્યકાલકનો બુદ્ધિમાન શિષ્ય દીક્ષા મૂકીને ઘરવાસમાં ચાલ્યો ગયો ત્યારે તેમના સહાધ્યાયીએ તેમને (કાલકાર્યને) ઉપહાસ કરતાં આ પ્રમાણે કહ્યું

अतिबहुतं मेऽधीतं ण य णातो तारिसो **मुहुत्तो** उ।
जत्थ थिरो होइ सेहो निक्खंतो अहो! हु चोद्दव्वं ॥ १५३९ ॥

આપ ઘણું ભણ્યા, પણ તેવું મુહૂર્ત નથી જાણી શક્યા કે જે મુહૂર્તમાં નિષ્ક્રાંત એટલે દીક્ષા લીધેલો શિષ્ય સ્થિર રહે અહો! હજુ આપને પણ કેટલું જાણવાનું છે?

तो एवं स ओमं थ भणिओ अह गंतु सो **पतिट्ठाणं**।
आजीविसगासम्मी सिक्खति ताहे **निमित्तं** तु ॥ १५४० ॥

આ પ્રમાણે જ્યારે સહાધ્યાયીએ **કાલકાર્ય**ને તેમની ઊણપ જણાવી ત્યારે તેમણે **પ્રતિષ્ઠાનપુર**માં જઈને **આજીવકો**ની પાસે **નિમિત્તવિદ્યા**નો અભ્યાસ કર્યો

अह तम्मि अहीयम्मी वड्ढेंहं निमिट्ठ अन्नयरयानि।
सालाहणो णरिंदो पुच्छतिमा तिण्णि पुच्छाओ ॥ १५४१ ॥

મધ્યકાલીન સ્તવન સંગ્રહમાં આ મેળાવના પ્રસંગોને જ એ પ્રભુના પ્રસંગો પૂરી હતાર. આ સમાન્તાનુ ઉપર ત્યાંનું તેમ આરતી ગાવાની પદ્ધતિ, તેમ આરતી ગવાઈ શ્રી હતી, તિથિ સરખો હતો, તે ૪૭ ની ઢાલ જ આરતી જોઈએ

આજ ! ઉજળી આરતી જિન આગે
હાં રે જિન આગે રે જિન આગે
હાં રે એ તો અવિનાશ મુખડાં આગે
હાં રે નમિજિન પાય — આજ !
ના ગઈ નાક નમણી, પાય ઉભો હાં રે હેમ ગ છું
— અંગ ઝળકે
હાં રે શાસન પુરી વધાય હાં રે એની પૂરી આઈ — આજ !
તાલ મૃદંગ ને વાજાં વાગે, હાં રે ઇન્દ્રાણીની સ્વર ઝીણા
હાં રે મધુર મુખડું નાચતા, હાં રે તેની મુખડું નિહાળ — આજ !

આની વિશેષતા એ છે કે એમાં દેવના વખાણને બદલે દેવની આરતી ઉતારવી અપાનું વર્ણન છે આરતીના આનંદમાં ઇન્દ્ર સીધું જ જિનવરને પોતાની મનાણી આપતિ છે વાની તિથિ કરે છે સાથે જ રીતે આ ત્રીજા ભક્તિનું વર્ણન, ત્યારે કે એની પ્રશસ્તિ જ હોય છે આ રીતે આરતીનો પ્રકાર તેમ જ જૈનેતર સાહિત્યમાં આવ દૃષ્ટિએ—વસ્તુ અને નિરૂપણ બન્ને દૃષ્ટિએ—ઘણા ભાવન હતા.

આ રીતે જૈન પારસાહિત્યમાં વૈવિધ્ય ઘણું છે એમાં સ્તવન, સઝાય, ઊર્મિ વગેરે ઘણાં તત્ત્વો આવ્યા આ પ્રકાર જૈનેતર સાહિત્યની જેમ વિશિષ્ટ અંશો નહિ સ આવ્યો હતો અને તેથી જ આ પ્રકાર, જૈનેતર ખાસ કરીને, પોતાની આગવી વિશિષ્ટતાવાળો, ક્યાંય પણ જ મળી શકે નહિ એવું સ આવેલ એવી મનોહારી અભિવ્ય પ્રકાર છે અને મધ્યકાલીન જૈન સાહિત્યની આગવી સમૃદ્ધિમાં, સ્વસાહિત્યકારોના ફાળો પણ કિ મહત્ત્વનો છે. સારો તેમ જ આગવો છે એ હકીકત પણ તેથી સ્પષ્ટ છે

ઇત્યાદિ નષ્ટભ્રષ્ટ, શીર્ણ વિશીર્ણ અને વિસ્મૃત ગ્રંથોની નિર્યૂહણા—ઉદ્ધાર કરવો તેનુ નામ **પ્રકલ્પકલ્પ** કહેવાય છે તદુપગત અલ્પ યાદશક્તિ ધરાવનાર માટે **સંગ્રહણી** ગ્રંથોની રચના કરવી તે પણ **પ્રકલ્પકલ્પ** નામથી જ ઓળખાય છે

૪

पच्छा तेण सुत्ते णट्ठे **गडियाणुयोगा** कया। **सगहणीओ** वि कप्पट्ठियाण अप्पघारणाण उवग्गहकराणि भवति। **पढमाणुओगमाई** वि तेण कया। पचकल्पभाष्य चूर्णी

પછી (અષ્ટાંગનિમિત્ત ભણી ગયા બાદ) તેમણે સૂત્ર નષ્ટ થઈ ગયેલ હોવાથી **ગંડિકાનુયોગ**ની પણ રચના કરી **સંગ્રહણીઓ**ની પણ રચના કરી અલ્પસ્મરણશક્તિવાળા બાળજીવોને ઉપકારક થશે એમ માનીને **પ્રથમાનુયોગ** આદિની પણ રચના તેમણે કરી

૫

एत सव्व **गाहाहिं जहा पढमाणुओगे** तहेव इहइ पि वन्निज्जति वित्यरतो।
आवस्यकचूर्णी भाग १ पत्र १६०

આ બધુ **ગાથાઓ** દ્વારા જેમ **પ્રથમાનુયોગ**મા વર્ણન છે તે જ પ્રમાણે અહી વિસ્તારથી—લંબાણથી વર્ણન કરવુ

૬

पूर्वभवा खल्वमीषा **प्रथमानुयोगतोऽ**वसेया।
आवस्यकहारिभद्री वृत्ति पत्र १११–२

આમના (કુલકરોના) પૂર્વભવોનુ ચરિત્ર **પ્રથમાનુયોગ**થી જાણી લેવુ

૭

तत्र **पुष्कलसंवर्त्तोऽ**स्य भरतक्षेत्रस्य अशुभभावं पुष्कलं सवर्त्तयति नाशयतीत्यर्थ। एव शेषनियोगोऽपि **प्रथमानुयोगा**नुसारतो विज्ञेय। अनुयोगद्वार हारिभद्री वृत्ति पत्र ८०

પુષ્કલસવર્ત્ત નામનો મેઘ ભરતક્ષેત્રની અશુભ પરિસ્થિતિનો નાશ કરે છે આ જ પ્રમાણે બાકીના મેઘોની હકીકત વગેરે **પ્રથમાનુયોગ**થી જાણી લેવુ

૮

से किं त अणुओगे? अणुओगे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—**मूलपढमाणुओगे** य **गडियाणुओगे** य। से किं त **मूलपढमाणुओगे**? एत्थ ण अरहताण भगवताण पुव्वभवा देवलोगगमणाणि चवणाणि य जम्मणाणि य अभिसेया रायवरसिरीओ सीयाओ पव्वज्जाओ तवा य भत्ता केवलणाणुप्पाया य तित्थप्पवत्तणाणि य सघयण सठाण उच्चत्त आउ वन्नविभागो सीसा गणा गणहरा य अज्जा पवत्तणीओ सघस्स चउव्विहस्स वा वि परिमाण जिण मणपज्जव-ओहिनाण-सम्मत्तसुयनाणिणो य वाई अणुत्तरगई य जत्तिया य सिद्धा पाओवगया य जे जहिं जत्तियाइ भत्ताइ छेयइत्ता अतगडा मुणिवरुत्तमा तमरओघविप्पमुक्का सिद्धिपहमणुत्तर च सपत्ता, एए

અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યા જેવી સત્ય ભાર કહી પ્રમને સ્થવિર આચાર્ય [illegible] ... [illegible] ઉ ના ગણિપિતાનન ગામ જાતી મેરે છે અને આચાર્યને આ પ્રમાણે મનુ પ્રશ્નો પૂછે છે:

कुम्मिमि पव्वयरे सिरिण वग्गे व वेलिंग वासे ।
सीयरे पुप्फ पसूत्र व बाला व न व [illegible] ॥ १५४१ ॥

ધ ના પ્રશ્ન નારી વર્ષે ધનુઓની સૌથીઓ કેમ થાય છે? બીજે પ્રશ્ન [illegible] ૧૫ બીજે પ્રશ્ન મધુસનુ પતન થશે કે નહિ?

पसमाय वामराय वेर वी [illegible] नु ।
[illegible] पुरुष नू वीसर रि पुरुष सिरिये ॥ १५४२ ॥

ધ ના પ્રશ્નના ઉત્તર શી પ્રશ્ન થઈ રાજ [illegible] અને આચાર્યને [illegible] ... [illegible] બી ન ધન બીજ પ્રશ્નના ઉત્તરથી રાજ થઈ રાજાએ બે પ્રશ્નો એક કર્યા.

[illegible] वर्षति गुरुसी [illegible] एल भाई रि ।
तहि वर नू [illegible] ॥ १५४४ ॥

આ પ્રમાણે, આચાર્યને નિમિત્તવિદ્યા વડે ચાર આદેશ કહ્યા તો ધાર્યા હતા. તેમનું આ આભારી મુનિઓ છે [illegible] તેમ કરી તે સફળ થયેલા થઈ દીધા અને આચાર્યે પોતાના મન [illegible] થાયી મત

[illegible] मुनम्मी [illegible] ता पुग्ग ।
[illegible] व वत पटमणुओगं व पेटविए ॥ १५४५ ॥

આ ગાથામાં મુદ્દાની વાત છે તેનો અર્થ એટલે કે ચાર મુદ્દાય નથી એટલે લોકાનુયોગ અને પ્રથમાનુયોગ નામના બે ગ્રંથની તેમણે પુનઃ રચના કરી

[illegible] निमित्त [illegible] पटमणुओग व [illegible] ।
[illegible] पुप्फसयर [illegible] ॥ १५४६ ॥

ઉપ [illegible] પણ પ્રમાણની નિમિત્તવિદ્યા અને પ્રથમાનુયોગમાં જિન [illegible] ... [illegible] માં છે

न [illegible] पाडलिपुत्त [illegible] एव ।
वेर वद मे [illegible] नुम्र ॥ १५४७ ॥

આ બન્નેય ગ્રંથની રચના કરીને તેમણે પાટલીપુત્રમાં [illegible] અને [illegible] કર્યું છે તેને અનુસાર કરીને નીચે સાંભળો

सो [illegible] से [illegible] व पु ।
[illegible] नू [illegible] कुसुमपुरम्मि ॥ १५४८ ॥

ત્યારે પાટલીપુત્રમાં [illegible] તે [illegible] અને [illegible] તેમના ગ્રંથોને [illegible] આ રીતે કુસુમપુર—પાટલીપુત્રમાં તે ગ્રંથો માન્ય થયા.

[illegible] पञ्चगो कर ।
[illegible] ॥ १५४९ ॥

[illegible]

ઇત્યાદિ નષ્ટભ્રષ્ટ, શીર્ણ વિશીર્ણ અને વિસ્મૃત ગ્રંથોની નિર્યૂહણા—ઉદ્ધાર કરવો તેનું નામ **પ્રકલ્પકલ્પ** કહેવાય છે તદુપરાંત અલ્પ યાદશક્તિ ધરાવનાર માટે **સંગ્રહણી** ગ્રંથોની રચના કરવી તે પણ **પ્રકલ્પકલ્પ** નામથી જ ઓળખાય છે

૪

पच्छा तेण सुत्ते णट्ठे **गंडियाणुयोगा** कया। **संगहणीओ** वि कप्पट्ठियाण अप्पधारणाण उवग्गहकराणि भवंति। **पढमाणुओगमाई** वि तेण कया। पञ्चकल्पभाष्य चूर्णी

પછી (અષ્ટાંગનિમિત્ત ભણી ગયા બાદ) તેમણે સૂત્ર નષ્ટ થઈ ગયેલ હોવાથી **ગંડિકાનુયોગ**ની પણ રચના કરી **સંગ્રહણીઓ**ની પણ રચના કરી અલ્પસ્મરણશક્તિવાળા બાળજીવોને ઉપકારક થશે એમ માનીને **પ્રથમાનુયોગ** આદિની પણ રચના તેમણે કરી

૫

एत सव्व **गाहाहिं जहा पढमाणुओगे** तहेव इहइ पि वन्निज्जंति वित्थरतो।
आवस्यकचूर्णी भाग १ पत्र १६०

આ બધું **ગાથાઓ** દ્વારા જેમ **પ્રથમાનુયોગ**મા વર્ણન છે તે જ પ્રમાણે અહીં વિસ્તારથી—લંબાણથી વર્ણન કરવું

૬

पूर्वभवा खल्वमीषा **प्रथमानुयोगतो**ऽवसेया।
आवस्यकहारिभद्री वृत्ति पत्र १११–२

આમના (કુલકરોના) પૂર્વભવોનું ચરિત્ર **પ્રથમાનુયોગ**થી જાણી લેવું

૭

तत्र **पुष्कलसंवर्त्तो**ऽस्य भरतक्षेत्रस्य अशुभभाव पुष्कल संवर्त्तयति नाशयतीत्यर्थ। एव शेषनियोगोऽपि **प्रथमानुयोगा**नुसारतो विज्ञेय। अनुयोगद्वार हारिभद्री वृत्ति पत्र ८०

પુષ્કલસંવર્ત્ત નામનો મેઘ ભરતક્ષેત્રની અશુભ પરિસ્થિતિનો નાશ કરે છે આ જ પ્રમાણે બાકીના મેઘોની હકીકત વગેરે **પ્રથમાનુયોગ**થી જાણી લેવું

૮

से किं त अणुओगे? अणुओगे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—**मूलपढमाणुओगे** य **गंडियाणुओगे** य। से किं त **मूलपढमाणुओगे**? एत्थ ण अरहताण भगवताण पुव्वभवा देवलोगगमणाणि चवणाणि य जम्मणाणि य अभिसेया रायवरसिरीओ सीयाओ पव्वज्जाओ तवा य भत्ता केवलणाणुप्पाया य तित्थपवत्तणाणि य सघयण सठाण उच्चत्त आउ वन्नविभागो सीसा गणा गणहरा य अज्जा पवत्तणीओ सघस्स चउव्विहस्स वा वि परिमाण जिण मणपज्जव-ओहिनाण-सम्मत्तसुयनाणिणो य वाई अणुत्तरगई य जत्तिया य सिद्धा पाओवगया य जे जहिं जत्तियाइ भत्ताइ छेयइत्ता अतगडा मुणिवरुत्तमा तमरओघविप्पमुक्का सिद्धिपहमणुत्तर च सपत्ता, एए

भवे य एवमाइया भावा मूलपढमाणुओगे कहिया आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति, से त्तं मूलपढमाणुओगे।

से किं तं गंडियाणुओगे? २ अणेगविहे पन्नत्ते, तं जहा—कुलगरगंडियाओ तित्थगरगंडियाओ चक्कवट्टिगंडियाओ दसारगंडियाओ बलदेवगंडियाओ वासुदेवगंडियाओ हरिवंसगंडियाओ भद्दबाहुगंडियाओ तवोकम्मगंडियाओ चित्तंतरगंडियाओ उस्सप्पिणीगंडियाओ ओसप्पिणीगंडियाओ अमर नर तिरिय निरयगइगमणविविहपरियट्टणाणुओगे एवमाइयाओ गंडियाओ आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति, से त्तं गंडियाणुओगे।

समवायांगसूत्र सूत्र १४७

અનુયોગ શું છે? અનુયોગ બે પ્રકારે છે: મૂલપ્રથમાનુયોગ અને ગંડિકાનુયોગ. મૂલપ્રથમાનુયોગ શું છે? મૂલપ્રથમાનુયોગમાં અરહંત ભગવંતોના પૂર્વભવો, દેવલોકમાં અવતાર, દેવલોકથી ચ્યવન, જન્મ, મેરુ ઉપર જન્માભિષેક, રાજ્યપ્રાપ્તિ, દીક્ષાની પાલખી, દીક્ષા, તપશ્ચર્યા, કેવલજ્ઞાનપ્રાપ્તિ, ધર્મપ્રવર્તન, સંઘયણ, સંઠાણ, ઊંચાઈ, આયુષ્ય, શરીરની વર્ણવ્યવસ્થા, શિષ્યો, ગણો, ગણધરો, સાધ્વીસંઘ, પ્રવર્તિનીઓ—ચતુર્વિધ સંઘની આગેવાન સાધ્વીઓ, ચતુર્વિધ સંઘની સંખ્યા, કેવલજ્ઞાની, મનઃપર્યવજ્ઞાની, અવધિજ્ઞાની, શ્રુતજ્ઞાનધરો, વાદીઓ, અનુત્તરવિમાનગામીઓની અને સિદ્ધોની સંખ્યા, જેટલા ઉપવાસ કરી સિદ્ધિમાં ગયા ઇત્યાદિ બાબતોનું વર્ણન પ્રથમાનુયોગમાં કરાયું છે.

ગંડિકાનુયોગ એટલે શું? ગંડિકાનુયોગ અનેક પ્રકારે છે—કુલકરગંડિકાઓ, તીર્થંકરગંડિકાઓ, ચક્રવર્તિગંડિકાઓ, દશારગંડિકાઓ, વાસુદેવગંડિકાઓ, હરિવંશગંડિકાઓ, ભદ્રબાહુગંડિકાઓ, તપઃકર્મગંડિકાઓ, ચિત્રાન્તરગંડિકાઓ, ઉત્સર્પિણીગંડિકાઓ, અવસર્પિણીગંડિકાઓ, દેવ મનુષ્ય તિર્યંચ નરકગતિ પરિભ્રમણ આદિને લગતી ગંડિકાઓ ઇત્યાદિ બાબતો ગંડિકાનુયોગમાં અંતર્ગત છે.

૬

નંદિસૂત્રમાં પણ આ રીતે સમવાયાંગ પ્રમાણે બન્ને ભાગો જ આપ્યા છે.

* * *

ઉપર જોઈ ગયા તે અનેક ઉતારાઓ આપવામાં આવ્યા છે તે 'પ્રથમાનુયોગ શું છે?' તે વિષે વિશિષ્ટ પ્રકાશ પાડનારા ઉલ્લેખો છે. આજે કોઈક કોઈક વિરલ વ્યક્તિઓને બાદ કરતાં આપણે જ કોઈને ખબર હશે કે 'પ્રથમાનુયોગ' એ ધર્મકથાનુયોગનો ઘણો વિસ્તૃત અને વિશિષ્ટ ગ્રંથ હતો. એ ગ્રંથ આ યુગમાં અપ્રાપ્ય થઈ ગયો છે એમ નથી, પરંતુ તેના પૂર્વે તે નષ્ટ થઈ ગયો છે—ખોવાઈ ગયો છે. આજે માત્ર એ ગ્રંથ વિષેની સ્થૂલ માહિતી પૂરી પાડતા કેટલાક પ્રાચીન ઉલ્લેખો જ આપણી સામે વર્તમાન છે. આમ છતાં આ વિરલ ઉલ્લેખો દ્વારા આપણને કેટલીક એ ગ્રંથ અંગેની અને તે સાથે કેટલીક બીજી પણ મહત્ત્વની હકીકતો જાણવા મળી શકે છે. આપણે ક્રમશઃ તે જોઈએ.

૧ ઉપર આપેલા પ્રાચીન અવતરણો પૈકી ત્રીજા અને ચોથા (૪) ઉલ્લેખપરથી એ વાત સ્પષ્ટ થાય છે કે પ્રાચીન કાળમાં એટલે પૂર્વકાળમાં પ્રથમાનુયોગ નામનો ગ્રંથ હતો, જેને નંદિસૂત્રકાર અને સમવાયાંગસૂત્રકારે મૂલપ્રથમાનુયોગ નામથી ઓળખાવેલ છે. પરંતુ કાળક્રમે તે લુપ્ત થઈ જવાને લીધે તેમાંની (૪) અને જેટલી હકીકતો મળી આવી તે આધારે તેનો પુનરુદ્ધાર સ્થવિર આર્યકાલકે કર્યો હતો. વસુદેવહિંડી, આવશ્યકચૂર્ણી, આવશ્યક સૂત્ર અને અનુયોગદ્વારસૂત્રની હારિભદ્રી વૃત્તિ આદિમાં પ્રથમાનુયોગના નામનો જે ઉલ્લેખ છે તે આ પુનરુદ્ધૃત પ્રથમાનુયોગને લક્ષીને છે. જ્યારે આવશ્યક સૂત્રની નિર્યુક્તિમાં (અવતરણ ૧) આવતો અનુયોગ નામનો ઉલ્લેખ સંભવ છે કે મૂલપ્રથમાનુયોગને લક્ષીને પણ હોય.

૨ આઠ અને નવ ઉલ્લેખને આધારે આપણને જાણવા મળે છે કે **પ્રથમાનુયોગ**મા માત્ર તીર્થંકરોના જ જીવનચરિત્ર હતા, પરંતુ ત્રીજા ઉલ્લેખને આધારે પ્રથમાનુયોગમા તીર્થંકરોના ચરિત્ર ઉપરાંત ચક્રવર્તી અને દશારોના પણ ચરિત્રો હતા મને લાગે છે કે સૂત્રકાળમા પ્રથમાનુયોગનુ ગમે તે સ્વરૂપ હો, પરંતુ સ્થવિર આર્યકાલકે પુનરુદ્ધાર કર્યા ત્યારે તેનુ સ્વરૂપ આચાર્ય શ્રીભદ્રેશ્વરકૃત **કહાવલી,** શ્રીશીલાંકાચાર્યકૃત **ચઉપ્પણ્ણમહાપુરિસચરિય** અને આચાર્ય શ્રી હેમચંદ્રકૃત ત્રિષષ્ટિ શલાકાપુરુષચરિતને મળતુ હોવુ જોઈએ

૩ પાચમો ઉલ્લેખ જોતા સમજી શકાય છે કે—પ્રથમાનુયોગ ગ્રથની રચના ગદ્યપદ્યરૂપે હતી પરંતુ પ્રસ્તુત ગ્રથ આજે આપણા સામે નથી, એટલે તેની ભાષાશૈલી, વર્ણનપદ્ધતિ, છદો વગેરે વિષય આ ગ્રથમા શી શી વિશેષતા અને વિવિધતાઓ હશે, એ આપણે ખરા સ્વરૂપમા સમજી શકીએ તેમ નથી તે છતા અનુયોગદ્વારસૂત્ર ઉપરની હરિભદ્રી વૃત્તિ(ઉલ્લેખ ૭)મા પાચ મહામેરુઓનુ વર્ણન જોવા માટે પ્રથમાનુયોગ જોવાની ભલામણ કરી છે એ ઉપરથી પ્રથમાનુયોગમા પ્રસગે પ્રસગે ઘણી ઘણી હકીકતોનો સમાવેશ હોવાનો સભવ છે

૪ સમવાયાગ સૂત્ર અને નદિસૂત્ર(ઉલ્લેખ ૮–૯)મા પ્રથમાનુયોગને બદલે મૂલપ્રથમાનુયોગ નામ મળે છે, તેનુ કારણ મને એ લાગે છે કે—જ્યા સુધી સ્થવિર આર્યકાલકે પ્રથમાનુયોગનો પુનરુદ્ધાર નહોતો કર્યા ત્યાસુધી સૂત્રકાલીન પ્રથમાનુયોગને પ્રથમાનુયોગ નામથી જ ઓળખવામા આવતો હશે, પરંતુ સ્થવિર આર્યકાલકે એ ગ્રથનો ઉદ્ધાર કર્યા બાદ સૂત્રકાલીન પ્રથમાનુયોગને મૂલપ્રથમાનુયોગ નામ આપ્યુ હોવુ જોઈએ જો કે સમવાયાગસૂત્ર–નદિસૂત્રના ચૂર્ણિ–વૃત્તિકારોએ વ્યુત્પત્ત્યર્થસિદ્ધ કેટલાક વૈકલ્પિક લાક્ષણિક અર્થો આપ્યા છે, પણ મારી સમજ પ્રમાણે એ વાસ્તવિક અર્થને સ્પર્શ નથી કરતા જો પ્રથમાનુયોગમા માત્ર તીર્થંકરોના જ ચરિત્રો હોત તો ચૂર્ણિવૃત્તિકારોના અર્થો લાક્ષણિક ન રહેતા વાસ્તવિક બની જાત પરંતુ આપણે સભાવના કરી શકીએ છીએ ત્યા સુધી પ્રથમાનુયોગમા માત્ર તીર્થંકરોના જ ચરિત્રો હોય અને તેમની સાથે અનિવાર્ય રીતે સબધ ધરાવતા ચક્રવર્તિ–વાસુદેવાદિના ચરિત્રો હોય જ નહિ, એ કદીયે બનવાયોગ્ય નથી એટલે પ્રથમાનુયોગમા માત્ર તીર્થંકરોના ચરિત્રો હોવાની વાત નન્દિસૂત્ર–સમવાયાગસૂત્રમા મળતી હોય કે માત્ર તીર્થંકર–ચક્રવર્તિ–દશારોના ચરિત્રો હોવાની વાત પચકલ્પભાષ્યાદિમા મળતી હોય તો પણ આપણે એ સમજી જ લેવુ જોઈએ કે પ્રથમાનુયોગમા ઉપર કહેવામા આવ્યુ તેમ ત્રેસઠ શલાકાપુરુષ અને તે સાથે સબધ ધરાવતી અનેક વ્યક્તિઓના ચરિત્રોનો સમાવેશ થવો જોઈએ એટલે ચૂર્ણી–વૃત્તિકારોની વ્યાખ્યાને આપણે અહીં લાક્ષણિક જ સમજવી જોઈએ

દિગબર આચાર્ય **શ્રીશુભચદ્ર** પ્રણીત **અગપણ્ણત્તી**મા **પ્રથમાનુયોગ**મા શુ છે તે વિષે આ હકીકત જણાવી છે—

पढम मिच्छादिट्ठिं अव्वदिक आसिदूण पडिवज्ज ।
अणुयोगो अहियारो वुत्तो **पढमाणुयोगो** सो ॥ ३५ ॥
चउवीस तित्थयरा पइणो बारह छखडभरहस्स ।
णव बलदेवा किण्हा णव पडिसत्तू पुराणाइ ॥ ३६ ॥
तेसि वण्णति पिया माई णयराणि तिण्ह पुव्वमवे ।
पचसहस्सपयाणि य जत्थ हु सो होदि अहियारो ॥ ३७ ॥

દ્વિતીય અધિકાર

[illegible] આચાર્ય શ્રી ભદ્રગુપ્ત(?) વિરચિત ઋષિમંડલ(?) [illegible] આ પ્રમાણે નિર્દેશ છે

निमित्त [illegible] पढिसु ।
[illegible] पढमाणुओग [illegible] ॥ ११ ॥

પ્રથમાનુયોગના પ્રણેતા

પ્રથમાનુયોગના [illegible] ટૂંકમાં [illegible] સ્થવિર આર્યકાલક વિષે ટૂંકમાં વિચારવામાં આવે છે

૧ [illegible] અને તેની ચૂર્ણી(ઉલ્લેખ ૩ ૪)માં [illegible] પ્રમાણે સ્થવિર આર્યકાલકે પ્રથમાનુયોગ ગ્રંથનો પુનરુદ્ધાર કર્યો હતો. તે જ રીતે તેમણે ગંડિકાનુયોગ નામના ગ્રંથનો પણ ઉદ્ધાર કર્યો હતો. લોકાનુયોગ અને જૈન આગમો ઉપરની સંગ્રહણીઓની રચના પણ તેમણે કરી હતી. ગંડિકાનુયોગમાં શું છે તે માટે આગમો [illegible] ગંડિકાનુયોગમાં અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યા [illegible] છે અને સંગ્રહણીઓ, એ જૈન આગમોની [illegible] છે એમ આપણે સ્પષ્ટ રીતે [illegible] નથી કે [illegible] સંગ્રહણીઓ [illegible] તે [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] આદિ [illegible] આ સંગ્રહણીઓ હોવી જોઈએ.

૨ સ્થવિર આર્યકાલકે અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યાનું અધ્યયન આજીવકો પાસે કર્યું હતું એટલે કે નિમિત્તવિદ્યાના વિષયમાં સ્થવિર આર્યકાલક માટે આજીવકોનું ગુરુત્વ અને [illegible] હતા. ભગવાન વીર [illegible] અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યાને સામાન્ય રીતે [illegible] નિષેધ કરેલ [illegible] એ વિદ્યા [illegible] હતી, પરંતુ [illegible] એ [illegible] [illegible] આર્યકાલકને આજીવક [illegible] પાસે જ [illegible] [illegible] શાલિવાહનને આર્યકાલકને ઉપદેશ કરેલ [illegible] અને [illegible] આજીવકો [illegible] નથી [illegible] તેથી તે [illegible] આજીવકનિમિત્તોમાં [illegible] [illegible] પણ હતા એ [illegible] છે

૩ પ્રથમાનુયોગાદિના પ્રણેતા સ્થવિર આર્યકાલક [illegible] શાલિવાહનના સમકાલીન હતા. [illegible] શાલિવાહનને આર્યકાલકને [illegible] હતો કે [illegible] નહિ તેનો ઉત્તર આર્યકાલકે [illegible] હતો એ [illegible] નથી, તે [illegible] પ્રશ્ન કરી [illegible] ઉલ્લેખ છે તે ઉપરથી [illegible] વિષય [illegible] કે જેનો ઉલ્લેખ [illegible]—ચૂર્ણી—ટીકામાં અને [illegible][1]—ચૂર્ણી—ટીકામાં આવે છે એટલે [illegible] બે પ્રશ્નોનો નિર્દેશ છે એ

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ॥

[illegible] पत्र ११

સભવિત જ છે અને આ જ કારણસર રાજા શાલિવાહનનો કાલકાર્યસાથેનો સબધ ધર્મભાવનામા પરિણમ્યો હશે એમ લાગે છે અને આ જ ધર્મસબધને કારણે કાલકાર્ય રાજા શાલિવાહનની ખાતર ભાદ્રપદ શુકલ પચમીને બદલે ભાદ્રપદ શુકલ ચતુર્થીને દિવસે સવત્સરી પર્વની આરાધના કરી હતી આ ઉપરથી આપણે એટલુ નિશ્ચિત કરી શકીએ છીએ કે અષ્ટાગનિમિત્તવિદ્યાપારગત, પ્રથમાનુયોગ–ગડિકાનુયોગ–લોકાનુયોગ–અને જૈન આગમોની સગ્રહણીઓના પ્રણેતા, તેમ જ પચમીને બદલે ચતુર્થીને દિવસે સવત્સરી કરનાર સ્થવિર આર્યકાલક એક જ છે અને તે રાજા શાલિવાહનના સમકાલીન હતા આ યુગમા રાજા શાલિવાહન સાથે સબધ ધરાવનાર બીજા કોઈ કાલકાર્ય હોવાનો ઉલ્લેખ મળતો નથી પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પ્રણેતા શ્યામાર્ય–કાલકાર્ય આ કાલકાર્ય કરતા જુદા જ છે

પ્રથમાનુયોગનું ગુપ્ત સ્થાનમા અસ્તિત્વ

પ્રથમાનુયોગ ગ્રથ ઘણા ચિરકાળથી નષ્ટ થઈ જવા છતા પણ એ ગ્રથ ગુપ્ત સ્થાનમા હોવાનો અને ત્યાથી લાવી દેવતાએ કોઈ કોઈ આચાર્યને વાચવા માટે આપ્યાની કેટલીક કિંવદતીઓ આપણે ત્યા ચાલતી હતી અને તેવા બે ઉલ્લેખો મારા જોવામા આવ્યા છે જે પૈકીનો એક ઉલ્લેખ જયસાગરકૃત **ગુરુપારતન્ત્ર્યસ્તવવૃત્તિની** પ્રારંભિક પ્રસ્તાવનામા છે અને બીજો ઉલ્લેખ હર્ષભૂષણકૃત **શ્રાદ્ધવિધિવિનિશ્ચય**મા છે પહેલા ઉલ્લેખમા પ્રથમાનુયોગગ્રથની હાથપોથી શાસનદેવતાએ ખરતર આચાર્ય શ્રી **જિનદત્તસૂરિ**ને આપ્યાનો, અને વાચ્યાનો ઉલ્લેખ છે અને બીજામા ગુર્જરેશ્વરમહારાજા શ્રીકુમારપાલદેવપ્રતિબોધક આચાર્ય શ્રી **હેમચંદ્ર**ને આપ્યાનો, એક રાત્રિમા વાચી લીધાનો અને તદનુસારે **ત્રિષષ્ટિશલાકાપુરુષચરિત્ર** રચ્યાનો ઉલ્લેખ છે, જે વિષેનો જરા સરખોય નિર્દેશ આચાર્ય શ્રી હેમચદ્રે પોતાના શલાકાપુરુષચરિત્રમહાકાવ્યમા કર્યો નથી આ **દેવતાઈ** વાતોને આપણે કેટલે અશે માનવી એ એક ગભીર કોયડો જ છે આવી રચનાઓની નકલ કરવા દેવામા કે કરી લેવામા ન આવે, એ એક નવાઈની જ વાત છે ને ? અસ્તુ, એ બન્નેય ઉલ્લેખો આ નીચે નોંધવામા આવે છે —

१ "ज्ञानदर्शनचारित्रागण्यपुण्यातिशयसत्त्वरञ्जितश्री**शासनदेवतावितीर्णोज्जयिनीस्थितमहाकाल-प्रासाद**मध्यवर्तिशैलमयमारपट्टनीटकान्त संगोपितपुरा**सिद्धसेनदिवाकर**वाचितदशपूर्वधरश्री**कालिकसूरि**-विरचितानेकाद्भुतश्री**प्रथमानुयोग**सिद्धान्तपुस्तकरत्नार्थसम्यक्परिज्ञानजगद्विदितप्रभावा. निजप्रतिमावैभव-विस्मापितदेवसूरय श्रीजिनदत्तसूरय " गुरुपारतन्त्र्यस्तववृत्ति

२ "श्री **हेमाचार्या प्रथमानुयोग देवताप्रसादा**ल्लब्ध्वैकरात्रावववधार्य च तदनुसारेण **त्रिषष्टि-चरित्राणि** जग्रन्थुरिति ।" श्राद्धविधिविनिश्चय

ગુરુપારતન્ત્ર્યસ્તવવૃત્તિના ઉલ્લેખમા સિદ્ધસેનદિવાકરવાચિત એમ ઉલ્લેખ કર્યો છે તે માત્ર કલ્પિત અને અપ્રામાણિક છે કારણ કે આવશ્યકચૂર્ણિકાર **જિનદાસગણિ** અને આવશ્યક તથા અનુયોગદ્વાર વૃત્તિકાર યાકિનીમહત્તરાસૂનુ આચાર્ય શ્રી **હરિભદ્રે** ચૂર્ણિ અને વૃત્તિમા અનેક ઠેકાણે અને અનેક વિષયમા **પ્રથમાનુયોગની** સાક્ષી આપી છે, જેમાના થોડા ઉપયોગી ઉલ્લેખો મેં આ લેખના પ્રારભમા આપ્યા છે, એટલે પ્રથમાનુયોગની પ્રતિ મેળવવા માટે કે વાચવા માટે આચાર્ય શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકરને દેવતાની જરૂરત જરાય ન હતી, ભલે શ્રી જિનદત્તસૂરિ મહારાજને હો શ્રી હર્ષભૂષણે કરેલો ઉલ્લેખ પણ કલ્પિત જ છે સભવ છે ગુરુપારતન્ત્ર્યસ્તવવૃત્તિકારની સ્પર્ધામા હર્ષભૂષણે પણ એક તુક્કો ઊભો કર્યો હોય તુક્કો પણ જેવોતેવો નહિ, એક રાત્રિમા જ આચાર્યશ્રી હેમચદ્રે પ્રથમાનુયોગ વાચી લીધો મને તો લાગે છે કે બન્નેય મહાનુભાવોએ તુક્કા જ ઉડાવ્યા છે

[illegible] ભાષ્ય ની [illegible] તિ [illegible] શ્રુતસ્કંધમાં આ પ્રમાણે નિર્દેશ છે

[illegible] ।
[illegible] ॥ ११ ॥

પ્રથમાનુયોગના પ્રણેતા

પ્રથમાનુયોગના [illegible] ઉલ્લેખ [illegible] તેના પ્રણેતા સ્થવિર આર્યકાલક [illegible] ઉલ્લેખ આવે છે

૧. પંચકલ્પભાષ્ય અને તેની ચૂર્ણી (ઉદ્દેશ ૩ ૪)માં ઉલ્લેખ પ્રમાણે સ્થવિર આર્યકાલકે પ્રથમાનુયોગ ગ્રંથની રચના કરી હતી. તે જ રીતે તેમણે ગંડિકાનુયોગ નામના ગ્રંથની પણ રચના કરી હતી. લોકાનુયોગ અને જૈન આગમો ઉપરની સંગ્રહણીઓની રચના પણ તેમણે કરી હતી. ગંડિકાનુયોગમાં [illegible] છે તે માટે આગળ [illegible] જણાવ્યું છે. લોકાનુયોગમાં અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યા મુખ્યત્વે આવી છે અને સંગ્રહણીઓ, એ જૈન આગમોની [illegible] વિષયાનુક્રમ છે. આજે આપણે સ્પષ્ટ રીતે જાણી શકતા નથી કે [illegible] સંગ્રહણીઓ [illegible] તે પણ [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] આદિમાં આવતી [illegible] આ સંગ્રહણીઓ હોવી જોઈએ.

૨. સ્થવિર આર્યકાલકે અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યાનું અધ્યયન આજીવકો પાસે કર્યું હતું એટલે કે નિમિત્તવિદ્યાના વિષયમાં સ્થવિર આર્યકાલક માટે આજીવકોનું ગુરુત્વ અને [illegible] હતા. ભગવાન મહાવીર વર્ધમાન સ્વામીએ અષ્ટાંગનિમિત્તવિદ્યાને સામાન્ય રીતે ઉપયોગનો નિષેધ કરેલ હોઈ જૈન શ્રમણોમાંથી એ વિદ્યા ભૂલાઈ ગઈ હતી, પરંતુ સમયના પ્રભાવે એ જ વિદ્યા પુનઃ [illegible] આર્યકાલકને આજીવક નિમિત્તોનું [illegible] પડ્યું છે. પંચકલ્પભાષ્યમાં [illegible] રાજા શાલિવાહને આર્યકાલકને વંદન કરેલ હતું અને [illegible] આજીવકોએ પોતાની [illegible] આ છે જેમાંથી "તે સમયમાં આજીવકનિમિત્તોમાં [illegible] પણ હતા" એ [illegible] છે

૩. પ્રથમાનુયોગાદિના પ્રણેતા સ્થવિર આર્યકાલક રાજા શાલિવાહનના સમકાલીન હતા. રાજા શાલિવાહને આર્યકાલકને પ્રશ્ન કર્યો કે મનુષ્યનું [illegible] કે નહિ. તેનો ઉત્તર આર્યકાલકે જે આપ્યો હતો એ પંચકલ્પમહાભાષ્યમાં ઉપલબ્ધ નથી, તે [illegible] ગાથાને પ્રશ્ન [illegible] આપેલી [illegible] છે તે ઉપરથી [illegible] વિષય જણાય છે. [illegible] ઉદ્દેશ [illegible]—ચૂર્ણી—ટીકામાં અને [illegible][1]—ચૂર્ણી—ટીકામાં આવે છે. એટલે પંચકલ્પભાષ્યમાં એ પ્રશ્નનો નિર્દેશ છે એ

१ [illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] [illegible]—[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible]—[illegible] ॥

શ્વે૦ ગુરુ વિમલસૂરિની પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલા

પં. લાલચંદ ભગવાન ગાંધી

જિજ્ઞાસુ શિષ્યના ઉપયોગી પ્રશ્નોના, ગુરુએ આપેલા તાત્ત્વિક ઉત્તરોથી ગૂંથાયેલી આ પ્રશ્નોત્તર-માલા સર્વમાન્ય અમૂલ્ય ઉપદેશ રત્નોથી શોભતી હોઈ એ ખરેખર રત્નમાલા જેવી મહત્ત્વની કીમતી છે, રત્નમાલાના નામને સાર્થક કરે છે બાહ્ય રત્નોની માલા કરતા આતરિક ગુણ રત્નોની આ માલા અધિક પ્રભાવક, મગલ કલ્યાણકારક, આરોગ્ય દાયક, આયુષ્ય વર્ધક, હિતકર, શાતિકર અને સુખકારક થઈ શકે તેવી છે સાચા રત્ન પરીક્ષકો (ઝવેરીઓ) તેની ઊંચી કિંમત આંકી શકે છે એની રચના હજારેક વર્ષ પહેલાની હોવા છતા તેના તેજસ્વી રત્નો જરાય ઝાંખા પડ્યા વિના હજી ઝળહળતા જણાય છે સસ્કૃત ભાષામા ૨૯ આર્યા–ગાથામા એ રચાયેલી છે તેની પહેલી ગાથા મગલ અને અભિધેય દર્શાવે છે અને તેની છેલ્લી ગાથા કવિના નામની નિદર્શક છે એ બે ગાથાઓને માલાના મેરુ તરીકે ગણીએ તો ૨૭ ગાથા નક્ષત્રોથી દીપતી આ રત્નમાલા નક્ષત્રમાલા જેવી શોભે છે કોને ભાર ન કરે અને કોને શોભાવે એવી એ નાજુક અને સુંદર હોઈ સુંદરીઓએ જ નહિ, સત્પુરુષોએ પણ કંઠે ધારણ કરવા યોગ્ય છે—કંઠસ્થ કરવા યોગ્ય છે એની મનોહરતાએ જૈન–જૈનેતર જનતાને આકર્ષી જણાય છે એ રત્નમાલા રચનાર તરીકે શ્વે૦ જૈનાચાર્ય સિવાય દિગંબર જૈન રાજા, શકરાચાર્ય અને શુક યતીન્દ્રના પણ નામ જોડાયેલા છે, તેમાથી આના વાસ્તવિક સાચા કવિ-ઉપદેશક કયા હોવા જોઈએ ! તેની પ્રામાણિક ગવેષણા કરી સત્ય શોધવા અહીં પ્રયત્ન કરવામા આવે છે

શ્વેતાંબર જૈન-સમાજમા સાધુ, સાધ્વી, શ્રાવક, શ્રાવિકારૂપ ચતુર્વિધ સઘમા ચિરકાલથી એનુ લેખન, પઠન–પાઠન, વ્યાખ્યાન, ઉપદેશાદિ પ્રચલિત રહેલુ જણાય છે શ્વે૦ જૈન-સમાજે પાઠ્ય સ્વાધ્યાય-પુસ્તિકામા, પ્રકરણ પુસ્તિકામા, પ્રકરણ સગ્રહમા અને પ્રકીર્ણ ગ્રથ સગ્રહમા પણ એને સ્થાન આપી સૈકાઓથી તેના પ્રત્યે આદર દર્શાવેલો જણાય છે પાટણ, વડોદરા, ખભાત, છાણી, ડભોઈ, લિંબડી, પાલીતાણા, મુબઈ, જેસલમેર, બિકાનેર, પૂના, પજાબ, કલકત્તા (બગાળ) અને પરદેશોના પ્રખ્યાત સગ્રહો–ભડારો–જ્ઞાનમદિરોમા આ રત્નમાલાની પચાસ જેટલી પ્રાચીન પ્રતિયો જાણવામા આવી છે કાગળો પર જ નહિ, સાતસો વર્ષ પહેલા તાડપત્રો પર પણ લખાયેલી તેની કેટલીક હસ્તલિખિત પ્રતિયો મળી આવે છે ગુજરાતની પ્રાચીન રાજધાની પાટણના પ્રાચીન ગ્રથ ભડારમા રહેલી તેવી ૧૫ પ્રતિયોનો નિર્દેશ અમે પાટણ જૈન ગ્રથ ભડાર સૂચી(તાડપત્રીય પ્રથમ ભાગ ગા ઓ સિ ન ૭૬, સન ૧૯૩૭, પૃ ૨૪, ૬૪, ૭૦, ૧૦૨, ૧૨૯, ૧૩૩, ૧૪૬, ૧૪૯, ૧૭૪, ૨૬૨, ૨૭૮, ૨૯૬, ૩૮૬, ૪૧૦, ૪૧૨)મા કર્યા છે, જેમાની કેટલીક વિક્રમની ચૌદમી સદીમા સવત ૧૩૦૩મા, ૧૩૨૬મા, સ ૧૩૮૪મા, અને સ ૧૩૮૮મા પણ લખાયેલી છે ડભોઈમા શ્રીજબૂસૂરિજીના જ્ઞાનમદિરની એક પત્રવાળી પ્રતિ (ન ૬૫૦) સવત ૧૪૮૨મા કા વ ૮ શનિવારે મુંજિગપુરમા લખાયેલી જણાવી છે તેવી જ રીતે વિક્રમના ૧૫મા, ૧૬મા સૈકામા, તથા તે પછીના સમયમા લખાયેલી મૂળની પ્રતિયો સખ્યાબધ મળે છે તે સર્વમા તેના રચનાર કવિનું નામ સ્પષ્ટ રીતે '**શ્વે૦ ગુરુ વિમલ**' છેલ્લી ૨૯મી ગાથામા દર્શાવ્યુ છે તથા આ રચનાને કવિએ **વિમલ**–નામાંકિત કરી યુક્તિપૂર્વક '**વિમલ**–

આવા દેવનાઈ વૃક્ષનો આપણે ત્યાં ઘણા મળ્યા છે. પ્રભાવકચરિત્રકાર આચાર્યે પણ એક આવી જ કથા રજૂ કરી છે —

એવામાં બુદ્ધાનંદ મરણ પામી વ્યંતર થયો અને પૂર્વના વૈરભાવથી તેણે મલ્લવાદિકૃત નયચક્ર અને પદ્મચરિત્ર એ બન્ને ગ્રંથો પોતાને સ્થાને કર્યા અને તે કોઈને વાંચવા દેતો ન હતો.

પ્રભાવકચરિત્ર ભાષાંતર પૃ૦ ૧૨૩

ખરેખર આવી કથાઓ અર્થ વિનાની જ છે. મલ્લવાદી પ્રાચીન નયચક્ર ગ્રંથને વાંચે છે ત્યારે તેમના ગ્રંથમાંથી દેવતા તે ગ્રંથને પાછો લઈ જાય છે અને એની જ કૃપાથી નિર્યૂઢ થયેલ નયચક્ર ગ્રંથની રક્ષા કરવાની એ દેવતાને પરવા નથી, ત્યારે તો આવી કથાઓ ઉપહાસજનક જ લાગે ને!

અહીં પ્રાસંગિક ન હોવા છતાં પણ મેં આ લેખમાં શત્રુંજયમાહાત્મ્ય અને તેની મૂર્તિના લેખોની નોંધ કરી છે એટલે મારે કહેવાની વસ્તુ અનુપ્રસ્તુત તો છે જ અને તે એ કે શત્રુંજયમાહાત્મ્ય નામ સાંભળી ઘણા વિદ્વાનો એમ ધારી લે છે કે ધનેશ્વર નામનું એક સ્વતંત્ર ગ્રંથ હશે પરંતુ ખરું જોતાં તેમ છે જ નહિ. શત્રુંજયમાહાત્મ્ય એ કલ્પભાષ્યમાંથી જુદો પાડેલો એક ભાગ વિશેષ છે. જેને કોઈ પણ કલ્પ કહી શકાય તો તે કલ્પસૂત્ર (બૃહત્કલ્પસૂત્ર) જ કહી શકાય — જેમ આવશ્યકનિર્યુક્તિમાંથી ઓઘનિર્યુક્તિને જુદી પાડવામાં આવી છે — દશવૈકાલિકનિર્યુક્તિમાંથી પિંડનિર્યુક્તિને જુદી કરી છે તે જ રીતે કલ્પભાષ્યમાંથી શત્રુંજયમાહાત્મ્યને પણ અલગ કરવામાં આવ્યું છે. બૃહત્કલ્પસૂત્રની ટીકાની જૂની તાડપ્રતિઓના અંતમાં શત્રુંજયકલ્પ સમાપ્તમ્ આવો ઉલ્લેખ જોઈ કેટલાક ભ્રમમાં પડી જાય છે પરંતુ ખરી રીતે ભ્રમમાં પડવું જોઈએ નહિ. એવા નામોલ્લેખવાળી પ્રતિઓ બધી બૃહત્કલ્પસૂત્રની જ પ્રતિઓ છે.



શ્વે૦ ગુરુ વિમલસૂરિની પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલા

પં. લાલચંદ ભગવાન ગાંધી

જિજ્ઞાસુ શિષ્યના ઉપયોગી પ્રશ્નોના, ગુરુએ આપેલા તાત્ત્વિક ઉત્તરોથી ગૂંથાયેલી આ પ્રશ્નોત્તરમાલા સર્વમાન્ય અમૂલ્ય ઉપદેશ-રત્નોથી શોભતી હોઈ એ ખરેખર રત્નમાલા જેવી મહત્ત્વની કીમતી છે, રત્નમાલાના નામને સાર્થક કરે છે બાહ્ય રત્નોની માલા કરતાં આંતરિક ગુણ-રત્નોની આ માલા અધિક પ્રભાવક, મંગલ-કલ્યાણકારક, આરોગ્ય-સાધક, આયુષ્ય-વર્ધક, હિતકર, શાંતિકર અને સુખકારક થઈ શકે તેવી છે સાચા રત્ન-પરીક્ષકો (ઝવેરીઓ) તેની ઊંચી કિંમત આંકી શકે છે એની રચના હજારેક વર્ષ પૂર્વની હોવા છતાં તેનાં તેજસ્વી રત્નો જરાય ઝાંખાં પડ્યા વિના હજી ઝળહળતાં જણાય છે પ્રાકૃત ભાષામાં ૨૯ આર્યા-ગાથામાં એ રચેલી છે તેની પહેલી ગાથા મંગલ અને અભિધેય દર્શાવે છે અને તેની છેલ્લી ગાથા કવિના નામની નિદર્શક છે એ બે ગાથાઓને માલાના મેરુ તરીકે ગણીએ તો ૨૭ ગાથા નક્ષત્રોથી દીપતી આ રત્નમાલા નક્ષત્રમાલા જેવી શોભે છે કંઠને ભાર ન કરે અને કંઠને શોભાવે એવી એ નાજુક અને સુંદર હોઈ સુંદરીઓએ જ નહિ, સત્પુરુષોએ પણ કંઠે ધારણ કરવા યોગ્ય છે—કંઠસ્થ કરવા યોગ્ય છે એની મનોહરતાએ જૈન-જૈનેતર જનતાને આકર્ષી જણાય છે એ રત્નમાલા રચનાર તરીકે શ્વે૦ જૈનાચાર્ય સિવાય દિગંબર જૈન રાજા, શંકરાચાર્ય અને શુક યતીન્દ્રનાં પણ નામ જોડાયેલાં છે, તેમાંથી આના વાસ્તવિક સાચા કવિ-ઉપદેશક કયા હોવા જોઈએ? તેની પ્રામાણિક ગવેષણા કરી સત્ય શોધવા અહીં પ્રયત્ન કરવામાં આવે છે

શ્વેતાંબર જૈન-સમાજમાં સાધુ, સાધ્વી, શ્રાવક, શ્રાવિકારૂપ ચતુર્વિધ સંઘમાં ચિરકાલથી એનું લેખન, પઠન-પાઠન, વ્યાખ્યાન, ઉપદેશાદિ પ્રચલિત રહેલું જણાય છે શ્વે૦ જૈન સમાજે પાઠ્ય સ્વાધ્યાય-પુસ્તિકામાં, પ્રકરણ પુસ્તિકામાં, પ્રકરણ સંગ્રહમાં અને પ્રકીર્ણ-ગ્રંથ સંગ્રહમાં પણ એને સ્થાન આપી સૈકાઓથી તેના પ્રત્યે આદર દર્શાવેલો જણાય છે પાટણ, વડોદરા, ખંભાત, છાણી, ડભોઈ, લિંબડી, પાલીતાણા, મુંબઈ, જેસલમેર, બિકાનેર, પૂના, પંજાબ, કલકત્તા (બંગાળ) અને પરદેશોના પ્રખ્યાત સંગ્રહો-ભંડારો-જ્ઞાનમંદિરોમાં આ રત્નમાલાની પચાસ જેટલી પ્રાચીન પ્રતિયો જાણવામાં આવી છે કાગળો પર જ નહિ, સાતસો વર્ષ પહેલાં તાડપત્રો પર પણ લખાયેલી તેની કેટલીક હસ્તલિખિત પ્રતિયો મળી આવે છે ગૂર્જરાતની પ્રાચીન રાજધાની પાટણના પ્રાચીન ગ્રંથ ભંડારમાં રહેલી તેવી ૧૫ પ્રતિયોનો નિર્દેશ અમે પાટણ જૈન ગ્રંથ ભંડાર સૂચી (તાડપત્રીય પ્રથમ ભાગ ગા. ઓ. સિ. નં. ૭૬, સં. ૧૯૯૭, પૃ. ૨૪, ૬૪, ૭૦, ૧૦૨, ૧૨૯, ૧૩૩, ૧૪૬, ૧૪૯, ૧૭૪, ૨૬૨, ૨૭૮, ૨૯૬, ૩૮૬, ૪૧૦, ૪૧૨)માં કર્યો છે, જેમાંની કેટલીક વિક્રમની ચૌદમી સદીમાં સંવત ૧૩૦૩માં, ૧૩૨૬માં, સં. ૧૩૩૪માં, અને સં. ૧૩૮૮માં પણ લખાયેલી છે ડભોઈમાં શ્રીજંબૂસૂરિજીના જ્ઞાનમંદિરની એક પત્રવાળી પ્રતિ (નં. ૬૫૦) સંવત ૧૪૮૨માં કા. વ. ૮ શનિવારે મુનિજિરપુરમાં લખાયેલી જણાવી છે તેવી જ રીતે વિક્રમના ૧૫મા, ૧૬મા સૈકામાં, તથા તે પછીના સમયમાં લખાયેલી મળની પ્રતિયો સંખ્યાબંધ મળે છે તે સર્વમાં તેના રચનાર કવિનું નામ સ્પષ્ટ રીતે 'શ્વે૦ ગુરુ વિમલ' છેલ્લી ૨૯મી ગાથામાં દર્શાવ્યું છે તથા આ રચનાને કવિએ **વિમલ**–નામાંકિત કરી યુક્તિપૂર્વક '**વિમલ**–

પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલા' એવા નામથી ઓળખાતી છે. તેમાં વીરજિનેન્દ્રના મંગલાચરણ, અભિધેય સૂચવતી પ્રથમ ગાથા આવી છે:

" प्रणिपत्य जिनवरेन्द्रं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये ।
नाग-नरामर-वन्द्यं, देवं देवाधिपं वीरम् ॥ १ ॥"

બીજી તથા ૨૮મી ગાથામાં વિમલ પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલા નામનો નિર્દેશ આવી રીતે કર્યો છે:

" कः खलु नालङ्क्रियते, दृष्टादृष्टार्थ-साधन-पटीयान् ।
कण्ठस्थितया विमल-प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकया ॥ २ ॥
इति कण्ठगता विमला प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका येषाम् ।
ते मुक्ताभरणा अपि, विभान्ति विद्वत्-समाजेषु ॥ २८ ॥
रचिता सितपट गुरुणा विमला विमलेन रत्नमालेव ।
प्रश्नोत्तरमालेयं कण्ठगता कं न भूषयति ? ॥ २९ ॥"

— પ્રાન્ત ૨૯મી ગાથામાં કર્તાએ પોતાનું નામ સિતપટ ગુરુ = શ્વેતાંબર-આચાર્ય વિમલ એવું આ રીતે જણાવ્યું છે.

— વિશેષમાં બે શ્વેતાંબર જૈનાચાર્યોએ વિક્રમની તેરમી અને પંદરમી સદીમાં આ કૃતિ પર આખ્યાન-દૃષ્ટાંતો સાથે સંક્ષિપ્ત અને વિસ્તૃત વ્યાખ્યાઓ સંસ્કૃતભાષામાં રચેલી છે.

[૧]

આ પ્રશ્નોત્તર રત્નમાલા પર પહેલી વૃત્તિ વિ. સં. ૧૨૨૩માં [illegible] હેમપ્રભસૂરિએ રચી હતી, જેનું શ્લોકપ્રમાણ ૨૧૩૪ જણાવેલ છે. આ વૃત્તિકાર, ચંદ્રપ્રભસૂરિના પટ્ટધર ધર્મઘોષસૂરિના પ્રશિષ્ય અને યશોઘોષસૂરિના શિષ્ય હતા, જે ધર્મઘોષસૂરિ નરસિંહરાજ(સિદ્ધરાજ)થી સન્માનિત થયા હતા. વૃત્તિકારે પોતાનો સંક્ષિપ્ત પરિચય તેના અંતમાં કરાવ્યો છે.[૨] આ વૃત્તિની પ્રાચીન પ્રતિ વિક્રમની ચૌદમી સદીમાં લખાયેલી જણાય છે. [illegible] ([illegible]) [illegible] જણાવેલ એ

૧ [illegible] છે, [illegible] આવતો મળે છે.

૨ [illegible] । [illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] । [illegible] ॥ ९ ॥
[illegible] । [illegible] ॥ १० ॥
[illegible] । [illegible] ॥ ११ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ १२ ॥

— જેસલમેર ભં. ગ્રંથસૂચી (ગા. ઓ. સિ. નં. ૨૧ પૃ. ૧)

પુસ્તિકાના અંતમાં શ્રીજિનેશ્વરસૂરિના શિષ્ય દેવમૂર્તિ ઉપાધ્યાયે રચેલી ૨૫ શ્લોકની પ્રશસ્તિ છે ³ (આ જિનેશ્વરસૂરિ વિક્રમની તેરમી સદીના ઉત્તરાર્ધમાં તથા ચૌદમી સદીના પૂર્વાર્ધમાં વિદ્યમાન હતા)

જેસલમેર-ગ્રંથ-ભંડારમાં રહેલી હજી સુધી અપ્રકાશિત આ વૃત્તિનો આદ્યન્ત ભાગ અમે જેસલમેર ભંડાર ગ્રંથ-સૂચી (ગા ઓ સિ ન ૨૧, પૃ ૧૦, પ્ર સન ૧૯૨૩)માં દર્શાવ્યો છે તથા ત્યાં અપ્રસિદ્ધ ગ્રંથ ગ્રંથકૃત્ પરિચય (પૃ ૪૦)માં, જૈનોપદેશગ્રંથોમાં એનો ઉલ્લેખ કર્યો છે એ પ્રતિમાં પણ 'रचिता सितपटगुरुणा' ગાથા છે, અને તેની વ્યાખ્યામાં મૂલકાર કવિને શ્વેતાંબર-ગુરુ વિમલ જણાવેલ છે

[૨]

આ પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલાની દૃષ્ટાંતો સાથે વિવરણરૂપ બીજી વૃત્તિ વિક્રમસંવત ૧૪૨૯માં ચંદ્રગચ્છ (રુદ્રપલ્લીયગચ્છ)ના દેવેન્દ્રસૂરિએ ૭૭૮૦ શ્લો પ્રમાણ રચી હતી, જેનું સંશોધન મુનિભદ્રસૂરિએ કર્યું હતું ⁴ આ વૃત્તિકારે અંતમાં પોતાનો પરિચય વિસ્તારથી પ્રશસ્તિમાં આપ્યો છે, તથા જે બે સદ્ગૃહસ્થોની—ભોલા અને ખેતા નામના ભાઈઓની પ્રેરણાથી તેમણે એ વૃત્તિ રચી હતી, તે ઉપકેશજ્ઞાતિના લિંગાવંશનો પણ પરિચય પ્રશસ્તિ દ્વારા કરાવ્યો છે (કેટલાક વિદ્વાને ભૂલથી આ મુનિભદ્રસૂરિને પણ આના વૃત્તિકાર જણાવ્યા છે) આ વૃત્તિની વિક્રમસંવત ૧૪૪૧, સં ૧૪૮૯ અને સં ૧૫૩૯માં લખાયેલી પ્રાચીન પ્રતિયો પાટણ (શ્વે જૈનાચાર્ય જયાનંદસૂરિના ઉપદેશથી પૂજ્યશ્રાવિકાએ લખાવેલ), પૂના (પૂના ડે કૉલેજના સન ૧૮૮૮માં પ્રકટ થયેલા કેટલૉગમાં ૧૮૮૧-૮૨ના કલેક્શનમાં સૂચિત ન ૧૬૪) અને પરદેશમાં બર્લિનના પુસ્તકસંગ્રહમાં વિદ્યમાન છે ચાણસ્મામાં સંવત ૧૬૪૦ની પ્રતિ છે આ વૃત્તિને જામનગર-નિવાસી શ્રાવક પં હીરાલાલ હંસરાજે સંવત ૧૯૭૧માં છપાવી પ્રસિદ્ધ કરેલ છે તે વૃત્તિના અંતમાં પણ મૂળ 'रचिता सितपटगुरुणा' ૨૯મી આર્યા જોવામાં આવે છે તથા તેની વ્યાખ્યામાં શ્વેતાંબરાચાર્ય વિમલસૂરિએ રચેલી તે પ્ર૦ રત્નમાલા જણાવી છે—

> व्या० "सितपटा श्वेताम्बरास्तेषु गुरुः सूरिपदं प्रतिष्ठस्तेन सितपटगुरुणा श्वेताम्बराचार्येण विमलेन विमलनाम्ना सूरिणा विमला गतकल्मषा निर्मला वा रत्नमालेव रचिता विहिता इयं प्रश्नोत्तररत्नमाला कण्ठगता सती गलस्थिता सती पठिता सती कं भविकं न भूषयत्यलङ्करोतीत्यर्थः । यथा रत्नमाला गलकन्दलस्था पुमांसं स्त्रियं वा भूषयति, तथेयमपि प्रश्नोत्तररत्नमाला कण्ठपीठस्था अर्थोपत्त्याऽधीता सती नरं नारीं वा शृङ्गारयतीत्यार्यार्थः ॥
>
> समाप्ता चेयं प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्तिः ॥"　　　　(પ હી હ પ્ર પૃ ૫૬૭)

---

૩ "श्रीजिनेश्वरसूरीणां पादाम्भोजमधुव्रतैः । श्रीदेवमूर्त्युपाध्यायैर्निर्मितैषा प्रशस्तिका ॥
इति प्रश्नोत्तररत्नमालावृत्तिपु० साधुअभयचन्द्रलेखिताया प्रशस्तिः समाप्ता ॥" — જે ભ ગ્રંથસૂચી

૪ "तस्यानुजेन देवेन्द्रसूरिणा विक्रमार्कतः । नन्द-युग्म-पयोराशि-शशाङ्क-प्रमवत्सरे (१४२९) ॥ १७॥
प्रश्नोत्तररत्नमालाया वृत्तिर्विदधे मुदा । शोधिता च लसद्भद्रैः श्रीमुनिभद्रसूरिभिः ॥ १८॥ युग्मम् "
— પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલા સટીકા (પ્ર પં હી હ)

પ્રશ્નોત્તર – રત્નમાલા ’ એવા નામથી ઓળખાતી છે તેમાં વીરજિનેન્દ્રના મંગલવાળી, [illegible] સમસ્તની પ્રથમ ગાથા આવી છે

प्रणिपत्य जिनवरेन्द्रं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये ।
नाग-नरामर-वन्द्यं, देवं देवाधिपं वीरम् ॥ १ ॥”

બીજી તથા ૨૮મી ગાથામાં વિમલ પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલા નામનો નિર્દેશ આ રીતે કર્યો છે:

क एष नाम्नि रक्तो [illegible] परीक्षन् ।
कण्ठस्थितया विमल-प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकया ॥ २ ॥

“ इति कण्ठगता विमला प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका येषाम् ।
ते मुक्ताभरणा अपि, विभान्ति विद्वत्-समाजेषु ॥ २८ ॥
रचिता सितपट-गुरुणा विमला विमलेन रत्नमालेव ।
प्रश्नोत्तरमालेयं कण्ठगता कं न भूषयति ? ॥ २९ ॥”

— આ રચનામાં છેલ્લી આર્યામાં કવિએ પોતાનું નામ સિતપટ ગુરુ = શ્વેતાંબર આચાર્ય વિમલ એવું સ્પષ્ટ રીતે જણાવ્યું છે

— વિવિધ બે શ્વેતાંબર જૈનાચાર્યોએ વિક્રમના તેરમા અને પંદરમા સૈકામાં આ કૃતિ પર પ્રાકૃત બોધક કથાઓ સાથે સંક્ષિપ્ત અને વિસ્તૃત વ્યાખ્યાઓ સંસ્કૃતભાષામાં રચેલી છે

[૧]

આ પ્રશ્નોત્તર રત્નમાલા પર પહેલી વૃત્તિ વિ સં ૧૨૨૩માં લુણિયાણ ગામની વિનતિથી હેમપ્રભસૂરિએ રચી હતી, જેનું ગ્રંથપ્રમાણ ૨૧૩૪ શ્લોક જણાવેલ છે આ વૃત્તિકાર, ચંદ્રપ્રભસૂરિના પટ્ટધર ધર્મઘોષસૂરિના પ્રશિષ્ય અને યશોઘોષસૂરિના શિષ્ય હતા, જે ધર્મઘોષસૂરિ જયસિંહદેવ (સિદ્ધરાજ)થી સન્માનિત થયા હતા વૃત્તિકારે પોતાનો ઉચિત પરિચય તેના અંતમાં કરાવ્યો છે ² આ વૃત્તિની પ્રાચીન પ્રતિ વિક્રમની ચૌદમી સદીમાં લખાયેલી જણાય છે પરંતુ તે સંપૂર્ણ ([illegible]) અવસ્થામાં લખાયેલ એ

---

૧ [illegible]

૨ श्रीचन्द्रगच्छ[illegible] । [illegible] श्रीचन्द्रप्रभसूरीश ॥
[illegible] ।
श्रीचन्द्रप्रभसूरि[illegible](?) [illegible] श्रीयशोघोषसूरि[illegible] ॥
[illegible] ॥ १ ॥
[illegible] ॥ १ ॥
[illegible] श्रीहेमप्रभसूरिभि ॥ ११ ॥
[illegible] ।
[illegible] प्रश्नोत्तररत्नमालायाः ॥ १२ ॥

— જેસલમેર ભં સૂચી (ગા. ઓ સિ નં ૨૧ પૃ ૧)

[૫-૧૨]

— એ જ પ્રમાણે વડોદરા, ડભોઈ અને અન્ય સ્થળોના ગ્રથ સગ્રહોની બાલાવબોધ સાથેની એ ગ્રથની બીજી પ્રાચીન પ્રતિયોમા પણ તેવા ઉલ્લેખ જોવામા આવે છે

વડોદરા-જૈનજ્ઞાનમદિરમા પ્ર કાતિવિજયજી મ શાસ્ત્રસગ્રહમા ન ૮૯૦મા બીજી વૃત્તિની પ્રતિ કથા-સવત ૧૬૪૮મા લખાયેલી છે તથા ૫૬૫મા, ન ૫૬૭મા, ૨૦ પત્રવાળી પ્રતિમા આ પ્ર૦ ૨૦ સાથે સક્ષિપ્ત કથા સબધ છે, પ્રતિ સ ૧૬૭૫મા લખાયેલી છે

વડોદરામા શ્રીઆત્મારામજી-જૈનજ્ઞાનમદિરમા શ્રીહસવિજયજી-શાસ્ત્રસગ્રહમા ન ૨૧૬૪ની ચાર પત્રવાળી પ્ર૦ ૨૦ પ્રતિ સ્તબક-ગુજરાતી ટબા-ભાવાર્થ સાથે છે, તેના અતમા જણાવ્યા પ્રમાણે તે સાધ્વી શ્રી**રૂપલક્ષ્મી** પદ્મેવિ સાધ્વી ગુણ**લક્ષ્મી** પઠનાર્થ લખેલી જણાવી છે તેમા પણ પૂર્વોક્ત ગાથા છે, તથા તેના અર્થમા 'નીપજાવી **શ્વેતામ્બર** આચાર્યઈ **વિમલ** ઇમિનામઈ' જણાવેલ છે

ડભોઈમા શ્રી જબૂસૂરિજીના જૈનજ્ઞાનમદિરમા ન ૪૬૫મા રહેલી ચાર પત્રવાળી પડીમાત્રામા લખાયેલી પ્ર૦ રત્નમાલા-**બાલાવબોધ**ની પ્રતિ, સવત ૧૬૯૪ આશ્વિન વ ૩ ભૌમે લખાયેલી છે, તે **નાગબાઈ**ના પઠન માટે લખાઈ હતી—તેવો તેના અતમા ઉલ્લેખ છે—

તેમા પણ **સિતપટગુરુ વિમલ** નામવાળી આર્યા છે, તેના ભાવાર્થમા **'નીપજાવી સેતંબરનઇ આચારયઈ'** વગેરે ઉલ્લેખ છે

—એ જ જ્ઞાનમદિરની ન ૯૫૪ની ૨૮ પત્રવાળી, વૃત્તિને આધારે સક્ષિપ્ત કથાવાળી બાલાવબોધ સાથેની પ્ર૦ ૨૦ની પ્રતિ, ઋષિ **સહસકરણ**જીના ચરણ પ્રસાદથી ઋ **સાદુલે** લખી હતી—તેમા પણ **વિમલ** નામવાળી ગાથાના ભાવાર્થમા "નીપજાવી શ્વેતાબરગુરુઈ **વિમલ**નામા આચાર્યઈ" વગેરે જણાવેલ છે

—એજ સગ્રહની ન ૧૦૦૧ની ૧૦ પત્રવાળી, તથા ન ૧૨૮૪ની ૬ પત્રવાળી પ્ર૦ ૨૦ **બાલાવબોધ**ની પ્રતિમા પણ તે જ નામ જણાવેલ છે

મુબઈ-લાલબાગમા, મડલાચાર્ય કમલસૂરિ-ભડારની સ ૧૭૫૨મા લખેલી ટબાવાળી પાચપત્રવાળી પ્ર૦ રત્નમાલાની પ્રતિમા પણ તે આર્યા છે અને ત્યા તેવો ઉલ્લેખ જોવાય છે **વડોદરાના આત્મારામજી** જૈનજ્ઞાનમદિરમા શ્રીહસવિજયજી-જૈનશાસ્ત્રસગ્રહની ન ૨૧૮૩ મૂળ પ્રતિમા, તથા ન ૨૧૩૩ ગુજરાતી ભાવાર્થવાળી પ્ર૦ રત્નમાલાની પ્રતિમા પણ શ્વે૦ ગુરુ **વિમલાચાર્ય**નો નામનિર્દેશ જોઈ શકાય છે

પ્રો પીટર્સનસાહેબના હ લિ પુસ્તકોના રિપોર્ટમા પણ એ જ નામ મળે છે

'એ **કેટલોગ** ઑફ સ મેન્યુ ઇન ધી લાયબ્રેરી ઑફ હીજ હાઇનેસ ધી મહારાજા ઑફ **બીકાનેર**' (ડ **રાજેન્દ્રલાલ** મિત્ર, પ્ર સન ૧૮૮૦, કલકત્તા) ન ૧૫૦૬મા જણાવેલ પ્ર૦ રત્નમાલાના અતમા પૂર્વોક્ત સિતપટગુરુ વિમલનામવાળી આર્યા છે

'**કેટલોગ** ઑફ ધી સ મેન્યુ ઇન ધી **બ્રિટિશ મ્યુઝિયમ**' સન ૧૯૦૨મા **લડન**થી પ્રકાશિત પુ પૃ ૧૨૮મા ન ૩૧૧મા પણ એ પ્રમાણે આર્યા જણાવેલ છે

'નોટીસીઝ્ ઑફ સ મેન્યુ ૧૮૯૪ એ સો બગાલ' પ્ર સન ૧૯૦૭ વો ૩, પૃ ૧૨૫, ન ૧૯૪મા સિતપટગુરુ વિમલ નિર્દેશવાળી આર્યા સાથે પ્ર રત્નમાલાની ૬ પત્રવાળી પ્રતિ **બનારસ**ની દિગ્મ્બરાચાર્ય મ **બાલચદ**ની જણાવી છે

— આ કૃતિના પ્રારંભમાં પણ મંગલ ને ચોરપલ્લી વિમલાચાર્ય, વિમલચંદ્રસૂરિ એવા નામથી ઓળખાવ્યા છે—

"चरणाम्भोजयुग्माय श्रीदेवेन्द्रमुनीश्वरः ।
मोक्षान्दोलाऽपि भानुसुनेनासम्पर्पित ॥
प्रश्नोत्तररत्नमाला विमलाचार्यनिर्मितम् ।
चिरमेति सुरासेषु सारो तथा मम ॥ युग्मम् ॥

इति श्रीनिर्वेदहिनेशानपुरोपप्रकाशप्रज्ञादत्तम प्रश्नोत्तररत्नमाला प्रकरणम् सुलभमहा-प्रमारिगुणसूरि श्रीविमलचन्द्रसूरि विरचितम् ... " (પૃ ૧)

[૩]

આ પ્રશ્નોત્તરમાલાના આરંભને લગતી ચાર ગાથાઓ—મૂળગાથા—ક્રમસર આપવાનો નામથી પ્રસ્તુત આ વ ... નવિન મુનિજનોએ પ્રશ્ન કર્યો છે તેની પ૦મી-૬૦મી સદીમાં લખાયેલી પ્રાચીન પ્રતિ મળી આવે છે. વાડીના પ્રાચીનવિદ્યામંદિરમાં રહેલી નં ૨૧૨૬ની ૬ પત્રવાળી પ્રતિ સં ૧૫૪૭માં માઘ વ ૧૪ દિને વિમલનગરમાં લખેલી મળી છે તે એ તપાગચ્છ-આચાર્ય શ્રીસુમતિસાગરજીના શિષ્ય સંઘજ્યાતિત્રણિએ સ્વપરોપકાર માટે લખેલી મળી છે તથા આગમ પ્રમાણે તે પ્રતિની પુષ્પિકાને આપેલી હતી તેમાં પણ એ ગુરુ વિમલના નામવાળી આઈ છે તથા મૂળ ગાથા તેના અર્થમાં એનો ઉલ્લેખ છે.[૫]

[૪]

વડોદરા—પ્રાચ્યવિદ્યામંદિરમાં (નં ૭૦) આ ગ્રંથની ગદ્ય પદ્યવાળી વ્યાખ્યાવાળી સાથેની પ્રતિ પણ ૧૬ મી સદી જેટલી પ્રાચીન છે. જેને આધારે આ શોધ પાસે લખાયેલ છે તેમાં પણ એ પ્રમાણે બે ગુરુ વિમલનો નામનિર્દેશ છે.[૬]

---

૫ श्वेताम्बर गुरु विमलेन्दु रत्नमालायां यदि विमल प्रश्नोत्तररत्नमाला कीर्ति । प्रश्नोत्तरर[त्न]माला कति नमी मति न बुध? यदि तु सविपदीवर यज्ञकरं । इति सारि यति गुरु शोभा पावन । वर्ष यति पुन्य इत इति वर्ष

इति प्रश्नोत्तररत्नमालाप्रकरणबालावबोध समाप्त । संवत् १५४७ वर्षे माघवदि १४ दिने लिखि श्रीविमलनगरे तपागच्छ गच्छाधिराजसुमतिसागरसूरीशिष्य प सङ्घज्योतिगणिना स्वपरोपकारा ॥

प पुण्यप्रभावस्य सदा ॥

६ श्वेताम्बर गुरु विमलेन्दु रत्नमालायां यदि विमल प्रश्नोत्तररत्नमाला कीर्ति प्रश्नोत्तररत्नमाला कति रति यदि मति न भवत? यदि तु सविपदीवर यज्ञकरं । इति सारि यति गुरु शोभा पावन । वर्ष यति पुन्य इत । इति वर्ष ।

इति प्रश्नोत्तररत्नमाला–बालावबोध समाप्त । श्रीम मस्तकेन लिखापित च शोभनार्थे । श्री ।।"

[૫-૧૨]

—એ જ પ્રમાણે વડોદરા, ડભોઈ અને અન્ય સ્થળોના ગ્રંથ સંગ્રહોની બાલાવબોધ સાથેની એ ગ્રંથની બીજી પ્રાચીન પ્રતિયોમાં પણ તેવા ઉલ્લેખ જોવામાં આવે છે

વડોદરા-જૈનજ્ઞાનમંદિરમાં પ્ર કાંતિવિજયજી મ શાસ્ત્રસંગ્રહમાં નં ૮૯૦માં બીજી વૃત્તિની પ્રતિ કથા-સંવત ૧૬૪૮માં લખાયેલી છે તથા ૫૬૫માં, નં ૫૬૭માં, ૨૦ પત્રવાળી પ્રતિમાં આ પ્ર૦ ૨૦ સાથે સંક્ષિપ્ત કથા સંબંધ છે, પ્રતિ સં ૧૬૭૫માં લખાયેલી છે

વડોદરામાં શ્રીઆત્મારામજી-જૈનજ્ઞાનમંદિરમાં શ્રીહંસવિજયજી-શાસ્ત્રસંગ્રહમાં નં ૨૧૬૪ની ચાર પત્રવાળી પ્ર૦ ૨૦ પ્રતિ સ્તબક-ગુજરાતી ટબા-ભાવાર્થ સાથે છે, તેના અંતમાં જણાવ્યા પ્રમાણે તે સાધ્વી શ્રીરૂપલક્ષ્મી-પદ્મેવિ સાધ્વી ગુણલક્ષ્મી પઠનાર્થ લખેલી જણાવી છે તેમાં પણ પૂર્વોક્ત ગાથા છે, તથા તેના અર્થમાં 'નીપજાવી **શ્વેતામ્બર** આચાર્યઈ **વિમલ** ઇસિનામઈ' જણાવેલ છે

ડભોઈમાં શ્રી જંબૂસૂરિજીના જૈનજ્ઞાનમંદિરમાં નં ૪૬૫માં રહેલી ચાર પત્રવાળી પડીમાત્રામાં લખાયેલી પ્ર૦ રત્નમાલા-**બાલાવબોધ**ની પ્રતિ, સંવત ૧૬૯૪ આશ્વિન વ ૩ ભૌમે લખાયેલી છે, તે **નાગબાઈ**ના પઠન માટે લખાઈ હતી—તેવો તેના અંતમાં ઉલ્લેખ છે—

તેમાં પણ સિતપટગુરુ વિમલ નામવાળી આર્યા છે, તેના ભાવાર્થમાં '**નીપજાવી સેતંબરનઈ આચારયઈ**' વગેરે ઉલ્લેખ છે

—એ જ જ્ઞાનમંદિરની નં ૯૫૪ની ૨૮ પત્રવાળી, વૃત્તિને આધારે સંક્ષિપ્ત કથાવાળી બાલાવબોધ સાથેની પ્ર૦ ૨૦ની પ્રતિ, ઋષિ **સહસકરણજી**ના ચરણ પ્રસાદથી ઋ **સાદુલે** લખી હતી—તેમાં પણ **વિમલ** નામવાળી ગાથાના ભાવાર્થમાં "નીપજાવી શ્વેતાંબરગુરુઈ વિમલનામા આચાર્યઈ" વગેરે જણાવેલ છે

—એ જ સંગ્રહની નં ૧૦૦૧ની ૧૦ પત્રવાળી, તથા નં ૧૨૮૪ની ૬ પત્રવાળી પ્ર૦ ૨૦ બાલાવબોધની પ્રતિમાં પણ તે જ નામ જણાવેલ છે

મુંબઈ-લાલબાગમાં, મંડલાચાર્ય કમલસૂરિ-ભંડારની સં ૧૭૫૨માં લખેલી ટબાવાળી પાંચપત્રવાળી પ્ર૦ રત્નમાલાની પ્રતિમાં પણ તે આર્યા છે અને ત્યાં તેવો ઉલ્લેખ જોવાય છે વડોદરાના આત્મારામજી જૈનજ્ઞાનમંદિરમાં શ્રીહંસવિજયજી-જૈનશાસ્ત્રસંગ્રહની નં ૨૧૮૩ મૂળ પ્રતિમાં, તથા નં ૨૧૩૩ ગુજરાતી ભાવાર્થવાળી પ્ર૦ રત્નમાલાની પ્રતિમાં પણ શ્વે૦ ગુરુ વિમલાચાર્યનો નામનિર્દેશ જોઈ શકાય છે

પ્રો પીટર્સનસાહેબના હ લિ પુસ્તકોના રિપોર્ટમાં પણ એ જ નામ મળે છે

'એ **કેટલોગ** ઑફ સં મેન્યુ ઈન ધી લાયબ્રેરી ઑફ હીજ હાઈનેસ ધી મહારાજા ઑફ **બીકાનેર**' (ડૉ રાજેન્દ્રલાલ મિત્ર, પ્ર સન ૧૮૮૦, કલકત્તા) નં ૧૫૦૬માં જણાવેલ પ્ર૦ રત્નમાલાના અંતમાં પૂર્વોક્ત સિતપટગુરુ વિમલનામવાળી આર્યા છે

'**કેટલોગ** ઑફ ધી સં મેન્યુ ઈન ધી **બ્રિટિશ મ્યુઝિયમ**' સન ૧૯૦૨માં લંડનથી પ્રકાશિત પૃ ૫ ૧૨૮માં નં ૩૧૧માં પણ એ પ્રમાણે આર્યા જણાવેલ છે

'નોટીસીઝ ઑફ સં મેન્યુ ૧૮૯૪ એ સો બંગાલ' પ્ર સન ૧૯૦૭ વૉ ૮, પૃ ૧૭૫, નં ૧૯૪માં સિતપટગુરુ વિમલ નિર્દેશવાળી આર્યા સાથે પ્ર રત્નમાલાની ૬ પત્રવાળી પ્રતિ બનારસની વિક્રમલાચાર્ય મ બાલચંદ્રની જણાવી છે

ભૂલથી બુદ્ધિસ્ટ મેન્યુ તરીકે

ડૉ ફ્લીટે 'બ મેન્યુ' ગ્રન્થમિન્ક કમેટન બંગર ધી ગેર ગાઈ પી ગે સો ન્યાય, વો ૧ બુદ્ધિસ્ટ મેન્યુ સન ૧૯૧૦મા ગ્ર પુ ૫ ૧૭૭-૧૭૮માં ન ૬૬૬૫ બોલન પામથીક જણાવી ય મ સુરક્ષા સામ્રાજ્યએ બે અવતરણો આપ્યાં છે તે વે. વિમલસૂરિની પૂર્વોક્ત પ્ર રત્નમાલાની

આર્યા ૧૩ કો નરક ? પરવશતા, કિં સૌખ્યં ? સર્વસઙ્ગવિરતિર્યા ।

આર્યા ૧૮ કુત્ર વિધેયો યત્નો ? વિદ્યાભ્યાસે સદૌષધે દાને ॥

અવધીરણા ક્વ કાર્યા ? ખલ પરયોષિત્ પરધનેષુ ॥"

—નિ આ રત્નમાલા સપ્તમ ગુચ્છક(પૃ. ૧૨૨)મા અને અન્યત્ર જોઈ શકાય છે

આ પ્ર રત્નમાલા પર શ્રીમાનતુંગસૂરિની સંક્ષિપ્ત વૃત્તિ, તથા અભયસૂરિ વગેરે મળે છે તેમાં પણ એ ગુરુ વિમલના તેના કર્તા જણાવ્યા છે

પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલા (પ્રાકૃતમાં)

વડોદરા જૈનજ્ઞાનમંદિરમાં શ્રીહંસવિજયજી શાસ્ત્રસંગ્રહમાં નં ૧ ૬૨માં ૨૧ પત્રાત્મક ની પ્રતિ છે તે આ પ્ર રત્નમાલાના પ્રાકૃત રૂપાંતર – ભાષાંતરરૂપ છે તેમાં સાથે ઉદયસાગરશિષ્યે કરેલ વાર્તિક છે તે પ્રાચીન ગૂજરાતીમાં બાલાવબોધ રૂપ છે

તેના પ્રારંભમાં— નમ ! પિઉપારેણ ! ગુરુસમ પંક્તિ છે

ગ્રંથની ૨૯મી અંતિમ ગાથા આવી છે—

" પણ્હુત્તરરયણમાલં કંઠે ધારેઇ સુઅમત્તેણ ।
સો નર સિવસુહલચ્છી વરઇ અચિરેણ કાલેણ ॥ "

વાર્તિકના પ્રારંભમાં— શ્રીમદ્વીરજિનં નત્વા, ગૌતમાદિગણાધિપમ્ ।
સમ્યગુરુમપિ ભાવાર્થં, લિખ્યતે વાર્તિકં મુદા ॥'

અમોઘવર્ષ નામ સાથે

આ પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલા (મૂલ), નિર્ણયસાગર મુદ્રણાલય, મુંબઈ તરફથી પ્રકટ થયેલી કાવ્યમાલાના સપ્તમ ગુચ્છકમાં (સન ૧૮૯૦થી સન ૧૯૨૬ સુધી આવૃત્તિમાં) પ્રકાશિત થયેલ છે આ પણ જેની આગળમાં જણાવ્યું છે તેમ પ્રમાણે આ કૃતિને શ્રીવિમલપ્રણીત (વિરચિત) પ્રશ્નોત્તર-રત્નમાલા નામથી જણાવી છે તેમ આના સંપાદકે તેમને મળેલ બે પત્રવાળી મીજ પ્રતિ, કે જે સંવતથી ઇડ અગ્નાતનામ લેખકને મોકલી હતી, તેમાં ૨૯મી આર્યાને બદલે મળતું પદ્ય (અનુષ્ટુપ શ્લોક) પાઠાન્તર તરીકે ટિપ્પણીમાં જણાવ્યું છે —

વિવેકાત્ત્યક્તરાજ્યેન રાજ્ઞેયં રત્નમાલિકા । રચિતામોઘવર્ષેણ સુધિયાં સદલંકૃતિ ॥

કેટલાક જૈન વિદ્વાનો આ પદ્ય જોઈ આ કૃતિને રાજા અમોઘવર્ષની–રચનાનો ભ્રમ કરી બેઠેલા છે જૈન સાધુની રચના જણાવે છે ઇન્ડિયન એન્ટિક્વેરી વો ૧૫ પૃ ૩૭૮ અને અન્યત્ર આ પ્રશ્નના કર્તા તરીકે અમોઘવર્ષને દર્શાવ્યા છે વિદ્વાનોએ પ્રમાણ કર્તા જણાવ્યા છે સુપ્રસિદ્ધ લેખક પં નાથૂરામ પ્રેમીજીના સન ૧૯૪૨મા પ્રકાશિત થયેલા હિંદી જૈન સાહિત્ય ઔર ઇતિહાસ પુસ્તકમાં વીર મહાન મનાતા ... અભ્યાસ જણાવતા, અમોઘવર્ષ(પ્રથમ)નો ઉલ્લેખ કરતા તેના આશયનું

સૂચન પૃ ૫૧૮મા કર્યું છે વિશેષમા પૃ ૫૨૦મા 'ક્યા અમોઘવર્ષ જૈન થે ?' એને પ્રમાણિત કરવા માટે અન્યોન્યાશ્રિત આ પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલા સબધમા જણાવ્યુ છે કે —

"ऊपर हम अमोघवर्षकी प्रश्नोत्तररत्नमालाका जिक्र कर आये हैं। एक तो उसके मगलाचरणमे वर्द्धमान तीर्थंकरको नमस्कार किया गया है और दूसरे उसमे अनेक बाते जैनधर्मानुमोदित ही कही गई है। इससे कमसे कम उस समय जब कि रत्नमाल रची गई थी, अमोघवर्ष जैनधर्मके अनुयायी ही जान पडते हैं।

प्रश्नोत्तररत्नमालाका तिब्बती भाषामे एक अनुवाद हुआ था जो मिलता है और उसके अनुसार वह अमोघवर्षकी ही बनाई हुई है। ऐसी दशामे उसे शंकराचार्यकी, शुक यतीन्द्रकी या विमलसूरिकी रचना बतलाना जबर्दस्ती है।"

તથા ત્યા નીચે ૪ ૫ ટિપ્પણીમા જણાવ્યુ છે કે —

"शकराचार्य और शुक यतीन्द्रके नामकी जो प्रतियाँ मिली हैं उनमे एक सात श्लोक नये मिला दिये गये हैं परन्तु वे वसन्ततिलका छन्दमे है जो बिल्कुल अलग मालूम होते हैं और उनके अन्त्यपद्योमे न शुकयतीन्द्रका नाम है और न शकरका।

"श्वेताम्बर साहित्यमें ऐसे किसी विमलसूरिका उल्लेख नहीं मिलता जिसने प्रश्नोत्तर-रत्नमाला बनाई हो। विमलसूरिने अपने नामका उल्लेख करनेवाला जो अन्तिम पद्य जोड़ा है वह आर्याछन्दमें है, परन्तु ऐसे लघु प्रकरण-ग्रन्थोंमे अन्तिम छन्द आम तौरसे भिन्न होता है जैसा कि वास्तविक प्र० र० मालामें है और वही ठीक मालूम होता है।"

પ્ર૦ રત્નમાલાના રચનાર શ્વે૦ જૈનાચાર્ય વિમલને બદલે દિ૦ અમોઘવર્ષને ઠરાવવા ૫ પ્રેમીજીએ કરેલી દલીલો યુક્તિયુક્ત નથી — એમ પૂર્વમા જણાવેલા પ્રમાણે જોનાર વાચનાર વિચારક વાચકોને સમજાશે અમોઘવર્ષના નામનિર્દેશવાળી પ્રતિ કેટલી પ્રાચીન છે? તે કોણે ક્યારે લખાવી છે? અથવા તેમા છેલ્લા શ્લોકનુ લેખન કેટલું પ્રાચીન છે? તે કોઈએ જણાવ્યુ નથી પૂર્વે દર્શાવેલા પ્રમાણો જોતા વિચારતા સભવ તો એ છે કે આર્યામય એ કૃતિમા જુદો તરી આવતો અમોઘવર્ષ નામવાળો અતનો અનુષ્ટુપ્ શ્લોક કોઈએ પાછળથી જોડી દીધો જણાય છે આ કાઈ મહાકાવ્ય નથી કે મહાકાવ્યના લક્ષણો પ્રમાણે તેના સર્ગ પરિચ્છેદના અતની જેમ પ્રકરણના અતમા પણ શ્લોક ભિન્ન છદમા હોવો જોઈએ

શ્વે૦ જૈન સાહિત્યમા વિમલસૂરિ નામના અનેક જૈનાચાર્યોના નામ મળી આવે છે, તેમા વિ સ ૬૦ (મહાવીર નિર્વાણ ૫છી ૫૩૦ વર્ષે) પ્રા પઉમચરિય રચનાર વિમલસૂરિ સુપ્રસિદ્ધ છે, કે જેની રચનાનુ સસ્કૃતમા પલ્લવિત રૂપાતર પદ્મચરિત નામથી દિ૦ જૈન કવિ રવિષેણે કરેલુ જાણીતુ છે એ જ શ્વે૦ વિમલસૂરિની કે તે પછીના બીજા વિમલસૂરિની આ રચના માનવી જોઈએ

વિવેકથી રાજ્યનો ત્યાગ કરનાર નિસ્પૃહ ત્યાગી આવી લઘુકૃતિના અતમા પોતાને રાજા અમોઘવર્ષ તરીકે ઓળખાવે, પોતાના પૂર્વનામને પ્રકટ કરે, એવા પૂર્વનામના મોહનો ત્યાગ ન કરે અને પોતાની સાધુ-અવસ્થાનું નામ પ્રકાશિત ન કરે ! એ સર્વ વિચાર કરતા પણ અમોઘવર્ષ-નામવાળો શ્લોક પાછળથી કોઈએ જોડી દીધો હોય તેમ જણાઈ આવે છે અમોઘવર્ષ દિ૦ જૈને આ પ્ર૦ રત્નમાલા રચી એવુ દિ૦ સાહિત્યમા ક્યા ક્યા મળે છે? એવુ ૫ પ્રેમીજીએ ત્યા જણાવ્યુ નથી પ્ર૦ રત્નમાલાના તિબ્બતી અનુવાદમા અમોઘવર્ષનુ નામ મળે છે — એ કથન માટે પણ ત્યા પ્રમાણ દર્શાવ્યુ નથી

શંકરાચાર્ય નામ સાથે

બૃહત્સ્તોત્ર રત્નાકર (બાબુ વેંકટેશ્વર સ્ટીમ પ્રેસ સં. ૧૯૮૫માં પ્ર.) પૃ. ૫૧૮-૫૩૨માં તથા બૃહત્સ્તોત્રરત્નાકર (સન ૧૯૨૪માં ગ. ઈ. દેસાઈ દ્વારા ગુજરાતી ન્યૂઝ પ્રિ. પ્રેસ, મુંબઈથી પ્ર.)માં પૃ. ૮૩૮થી ૮૪ મા વેદાન્તસ્તોત્રોમાં આ પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલિકા પ્રકાશિત થઈ છે. તેમાં 'પ્રણિપત્ય જિનવરેન્દ્ર'—એ મંગલાચરણવાળી પ્રથમ આર્યા નથી, તથા અન્તની 'રચિતા સિતપટગુરુણા' નામવાળી આર્યા નથી. ૨૮ આર્યા પછી અન્તમાં ગદ્યમાં 'ઇતિ શ્રીમત્પરમહંસ... 'શ્રીમચ્છંકરાચાર્યરચિતા' આ કૃતિને જણાવી છે.

શ્રી વાણીવિલાસ શ્રીશંકરાચાર્ય ગ્રં. ૧૬ (શ્રીરંગમ્ શ્રીવાણીવિલાસ પ્રેસથી પ્રકાશિત) પ્રકરણ પ્રબન્ધાવલિ (દ્વિતીય ભાગ પૃ. ૮૭થી ૯૪)માં પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલિકા પ્રકટ કરી છે. તેમાં પણ ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે મંગલ, અભિધેયવાળી આર્યા નથી, ... થી પ્રારંભ છે. ૨૭ શ્લોકો વિમલ પ્રશ્નોત્તર રત્નમાલાના છે. આ રચિતા સિતપટગુરુણા વિભૂષનામવાળી આર્યા નથી. વચમાં ૨૮થી ૬૬ પદ્યો છે. ૬૭મું પદ્ય આવું છે—

“ इत्येषा कण्ठस्था, प्रश्नोत्तररत्नमालिका येषाम् ।
ते मुक्ताभरणा इव विमलाश्चाभान्ति सत्समाजेषु ॥

અન્તમાં ગદ્યમાં 'ઇતિ શ્રીમત્પરમહંસપરિવ્રાજકાચાર્યસ્ય શ્રીગોવિન્દભગવત્પૂજ્યપાદશિષ્યસ્ય શ્રીમચ્છંકરભગવતઃ કૃતૌ પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલિકા સમ્પૂર્ણા ॥” આપેલ છે.

— પહેલાં દર્શાવેલાં પ્રમાણોનો વિચાર કરતાં આરંભનું મંગલ અભિધેયવાળું પદ્ય કાઢી નાખી પાછળથી કર્તાનું નામ બદલી આમાં કોઈએ પ્રક્ષિપ્ત ભાગનો વધારો કર્યો જણાય છે.

શંકરાચાર્ય નામ સાથે બીજી પ્રશ્નોત્તર-મણિરત્નમાલા

શંકરાચાર્ય નામ સાથે એક બીજી પ્રશ્નોત્તર મણિરત્નમાલા નામની કૃતિ મળે છે, પરંતુ તે આર્યાબદ્ધ નથી. તે ઉપજાતિવૃત્ત દ્વાત્રિંશિકા (બત્રીસી) છે. તે રચના જુદા પ્રકારની છે. તેની આદિ-અન્તના પદ્યો તથા અન્તિમ ગદ્ય જુઓ છે—

આદિ—“ अपारसंसारसमुद्रमध्ये, सम्म(निम)ज्जतो मे शरणं किमस्ति ? ।
गुरो ! कृपालो ! कृपया वदैतद् विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ॥ १ ॥

અન્ત—कण्ठं गता वा श्रवणं गता वा प्रश्नोत्तराख्या मणिरत्नमाला ।
तनोतु मोदं विदुषां सुरम्यं(सुरम्या) रमेशगौरीशकथेव सद्यः ॥ ३२ ॥
श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचिता प्रश्नोत्तररत्नमालिका समाप्ता ॥”

બૃહત્સ્તોત્ર રત્નાકર (પૃ. ૮ થી ૮૭) અને અન્ય વેદાન્તસ્તોત્રોમાં એ પ્રકાશિત થયેલ છે.

કેટલાક વિદ્વાનોએ વિમલસૂરિની ઉક્ત પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલાને જ ભ્રમથી શંકરાચાર્યની કૃતિ માની લીધી જણાય છે. એ રીતે આધાર આલોચન કરતાં ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે તે બંને કૃતિઓ સ્પષ્ટ રીતે જુદી છે.

'બુદ્ધિપ્રકાશ' માસિક સન ૧૯૦૬ નવેંબરના પુ ૫૩, અંક ૧૧મા પૃ ૩૩૪થી ૩૩૭ ઉપર "પ્રશ્નોત્તરમાલા" સંબંધમા લે નરસિંહરાવ હરિલાલ ધ્રુવે ચર્ચા કરી હતી તેના ચાર કર્તા (૧) શ્વે૦ જૈન વિમલ, (૨) યતીન્દ્ર શુકદેવ, (૩) શંકરાચાર્ય અને (૪) અમોઘવર્ષ સંબંધમા પોતાના વિચારો જણાવતા 'કોઈ જૈન વિદ્વાને તેમા વિમલાચાર્યનુ નામ દાખલ કરી દીધુ હોય' એવો આક્ષેપ કર્યો હતો —તે અનુચિત હતો તે પહેલા આપેલા પ્રમાણો જોનાર વાચનાર વિચારક વાચકો સમજી શકે તેમ છે તથા તે લેખકે તે ગ્રંથને જૈનેતર કૃતિ તરીકે ઓળખાવવા શ્લો ૮, ૧૦, ૨૦, ૨૪ તથા ૩૦મા શ્લોકના જે અવતરણો આપ્યાં હતા, તે શ્વે૦ ગુરુ વિમલસૂરિની પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલાના નહિ, પણ ઉપર જણાવેલ શંકરાચાર્યકૃત મનાતી પ્રશ્નોત્તરમણિરત્નમાલા નામની બીજી કૃતિમાના છે લેખકે સરખા નામવાળી કૃતિના ભ્રમથી વિમલસૂરિની પૂર્વોક્ત પ્ર૦ રત્નમાલામા તે જણાવેલા શ્લોકો છે કે કેમ ? તે જોયુ જણાતું નથી

શુક યતીન્દ્રના નામ સાથે

જર્નલ ગે એ સો બગાલ વૉ ૧૬ ભા ૨, પૃ ૧૨૩૫મા જણાવ્યા પ્રમાણે તે કૃતિના અંતમા આવો ઉલ્લેખ છે—

"इति श्रीशुकयतीन्द्रविरचिता प्रश्नोत्तरमाला समाप्ता।" તે બીજી પ્રશ્નોત્તરમણિરત્નમાલાના અંતમા જણાય છે

ઉપસંહાર

વિશેષમા, પૂના ભા ઓ રિ ઇન્સ્ટિટ્યૂટ તરફથી સન ૧૯૪૪મા પ્રકાશિત થયેલ, પ્રો હરિ દામોદર વેલણકર, એમ એ, એમના પ્રયત્નથી તૈયાર થયેલ ગ્રંથ જિનરત્નકોશ (ભા ૧, પૃ ૨૭૬–૨૭૭)મા પૂર્વોક્ત પ્રશ્નોત્તરરત્નમાલાના કર્તા વિમલસૂરિ જણાવ્યા છે તેની મૂળની, વૃત્તિ, ટીકા આદિની પ્રતિયો કયા કયા ? કયા કયા સંગ્રહોમા, હ લિ પુ ના કયા કયા રિપોર્ટ, કેટલૉગમા છે ? તે જાણવા ઇચ્છનાર ત્યાંથી જાણી જોઈ શકશે—અને સત્ય સ્વીકારશે—એવી આશા છે

આ સંબંધમા 'प्रश्नोत्तररत्नमालाका कर्ता (?)' આવો એક અમારો હિંદી લેખ વીરનિ સં ૨૪૭૬મા સાગરથી પ્રકાશિત 'वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ'મા પૃ ૪૧૯થી ૪૨૨મા પ્રકાશિત થયેલ છે, પરંતુ તેમા સંપાદક તરફથી કેટલુંક પરિવર્તન થયુ જણાય છે, તેથી અહીં ફરીથી બીજી રીતે થોડા વિસ્તારથી પ્રમાણો સાથે પુન પ્રયત્ન કર્યો છે સત્ય-શોધકો આથી સંતુષ્ટ થશે—એવી શુભ ભાવના સાથે વિરમુ છુ



બ્રહ્મવિહાર—જૈન અને જૈનેતર દૃષ્ટિએ

પ્રા૦ જયંતીલાલ ભાઈશંકર દવે, એમ. એ.

બ્રહ્મવિહાર એટલે શું? ઘણા માણસોને બ્રહ્મવિહાર શબ્દ અપરિચિત લાગશે. પરંતુ બ્રહ્મવિહાર શબ્દ ખાસ કરીને બૌદ્ધ દર્શનના સાહિત્યમાં ઘણું સ્થળે વપરાયેલો જોવામાં આવે છે. જો કે વૈદિક અને જૈન દર્શનોમાં આ શબ્દ સીધી રીતે વપરાયેલો જોવામાં આવતો નથી, છતાં તે શબ્દથી જે અર્થની અભિવ્યક્તિ થાય છે તે અર્થનાં વર્ણનો ફેરફાર ને કાર્યમાં આવે છે. સત્ય એક હોય છતાં તેને વ્યક્ત કરવા માટે જગતમાં જુદી જુદી જાતના ભાષા પ્રયોગોનો ઉપયોગ કરવામાં આવે છે.

અહીં પ્રસ્તુતમાં તો આત્મા, મોક્ષસાધન વગેરે વિચારોને સ્થાન નથી જ. અહીંનો અર્થ ભારતીય દર્શનોને આપણે નિઃશ્રેયસ-મોક્ષગામી દર્શનો કહી શકીએ. મોક્ષની કલ્પનાઓ ભલે જુદી જુદી હોય, બીજી રીતે કહીએ તો આ દર્શનો આત્મતત્ત્વનું નિરતિશય મહત્ત્વ આંકતાં હોવાથી તે આત્મવાદી દર્શનો છે એટલે કે આધ્યાત્મિકતા મુખ્ય વસ્તુ છે. તે જ શ્રેય છે, તે જ ધ્યેય છે, તે જ સાધ્યતત્ત્વ છે.

બ્રહ્મવિહારની વૈદિક કલ્પના: ભારતીય દર્શનોને બે મોટા વિભાગમાં વહેંચી નાખીએ તો (૧) વૈદિક દર્શનો અને (૨) શ્રમણ પરંપરાનાં દર્શનો એમ વર્ગીકરણ થાય છે. શ્રમણ પરંપરામાં જૈન અને બૌદ્ધ દર્શનો છે અને વૈદિક પરંપરામાં સાંખ્ય, યોગ, ન્યાય, વૈશેષિક, પૂર્વમીમાંસા અને ઉત્તરમીમાંસા-વેદાન્ત આવી જાય છે.

ઉપર જણાવી ગયા તેમ બ્રહ્મવિહાર વૈદિક ગ્રંથોમાં વપરાયેલો નથી પરંતુ તેને મળતા આવતા બ્રાહ્મી સ્થિતિ, 'બ્રહ્મભૂત', 'બ્રહ્મસંસ્પર્શ', આવા શબ્દો વપરાયેલા જોવામાં આવે છે. બ્રહ્મ શબ્દ અનેકાર્થ છે એમ હવે લગભગ બધા વિદ્વાનોએ સ્વીકાર્યું છે. તેમાંથી જ બ્રહ્મચર્ય શબ્દ આવ્યો છે. બ્રહ્મતત્ત્વના જ્ઞાનથી જ આત્માને અક્ષય સુખ છે અથવા પ્રાપ્તિ શક્ય છે માટે જ તેનો મહિમા ઉપનિષદ, ગીતા વગેરે તમામ વૈદિક ગ્રંથોમાં ગવાયો છે. બ્રહ્મમાં રમણ કરે, બ્રહ્મમાં વિહાર કરે તે બ્રહ્મવિહારી અથવા બ્રહ્મવિહારી કહેવાય. બ્રહ્મ અને આત્મા એક જ અર્થના વાચક વેદાંતીઓએ માનેલા હોવાથી બ્રહ્મમાંથી જન્મે તે એક શબ્દ તેના વાચક છે. પણ સરવાળે એક જ અર્થમાં વેદાન્તની કલ્પના પ્રમાણે તમામ લૌકિક અને વૈદિક બંધનો અને આચારોથી રહિત થઈને કેવળ આત્મચિંતનપરાયણ રહે એવા પુરુષને આત્મસ્વરૂપ અથવા બ્રહ્મસ્વરૂપ કહેવાય. આવો પુરુષ જ બ્રાહ્મી અથવા બ્રહ્મમાંથી અથવા બ્રહ્મવિહારી કહી શકાય છે.

છાંદોગ્યોપનિષદમાં ભૂમાના પ્રમાણે જગતના મનુષ્યમાત્ર, જે તો પ્રેયાર્થી હોય છે અથવા શ્રેયાર્થી હોય છે. દુનિયાની વસ્તુઓનો પરિગ્રહ કરવો અને તેમાં ગાઢ પ્રીતિ રાખવી એ પ્રેયાર્થી મનુષ્યનું લક્ષણ છે. તેથી ઊલટું, આ વસ્તુઓ ક્ષણભંગુર હોવાથી ક્ષણભંગુર આનંદ આપનારી હોવા છતાં પરિણામે દુઃખ જ આપનારી છે એવું સમજી આત્માને જ સત્ય માનવાની જ ભૂમિ એ સમજે છે તેને સાચો શ્રેયાર્થી છે. ભૂમામાં રમનારો પુરુષ બ્રહ્મવિહારી છે.

જૈન તત્ત્વજ્ઞોએ કરેલી બ્રહ્મવિહારની કલ્પના: પાતંજલયોગસૂત્રમાં ચાર ભાવનાઓનું વર્ણન આવે છે. આ ચાર ભાવનાઓનાં નામો અનુક્રમે મૈત્રી, કરુણા, મુદિતા અને ઉપેક્ષા છે. પાતંજલયોગ પ્રમાણે આ ચારેય ભાવનાઓ અહિંસામાં અંતર્ગત થઈ જાય છે. જૈનદર્શનમાં પણ અહિંસા એ જ એક

વ્યાપક આત્મધર્મ હોવાથી તેની વ્યાપક ભાવનામા મૈત્રી, કરુણા, મુદિતા અને ઉપેક્ષા આવી જાય છે એક જૈન કવિ દાર્શનિક અમિતગતિ કહે છે તેમ,

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद
संक्लिश्यमानेषु कृपापरत्वम ।

અર્થાત્ પ્રાણીમાત્ર પ્રત્યે મૈત્રીભાવ રાખવો જોઈએ, જ્યા જ્યા આપણને સદ્‌ગુણી લોકો દેખાય ત્યા તેમના પ્રતિ આનદ વ્યક્ત કરવો જોઈએ અને દુ ખથી પીડાતા લોકો તરફ કરુણા બતાવવી જોઈએ

આચાર્ય હેમચદ્રની બ્રહ્મવિહારકલ્પના . હેમચદ્રાચાર્યનો એક જ શ્લોક બસ થશે

प्राणभूत चरित्रस्य परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते ॥

અર્થાત્ બ્રહ્મચર્ય પાળનાર માણસ પૂજનીય માણસો વડે પણ પૂજાય છે આ બ્રહ્મચર્ય એટલે શુ અને તે કેવુ છે? ચારિત્ર્યનો પ્રાણ છે અને **પરબ્રહ્મની જે સ્થિતિ** છે તે પ્રાપ્ત કરાવનાર એક માત્ર કારણ છે એવુ જે બ્રહ્મચર્ય તેનું પાલન કરનાર બ્રહ્મમા સ્થિતિ કરે છે—તે જ બ્રહ્મવિહારી છે

શ્રીશુભચદ્રની બ્રહ્મવિહારકલ્પના તેમનો પણ એક જ શ્લોક (સ્થળસકોચના કારણે) બસ થશે

यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्
सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेक ।
यदि युवतिकरके निर्ममत्व प्रपन्नो
झटिति ननु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम् ॥

અહીંયા થોડાક ફેરફાર સાથે શ્લોકની છેલ્લી લીટીમા બ્રહ્મવિહાર શબ્દ સ્પષ્ટ રીતે મળી આવે છે બ્રહ્મવીથીવિહાર એટલે બ્રહ્મમાર્ગે વિહાર કરવો તે હવે આપણે શ્લોકનો અર્થ તપાસીએ

શરીરરૂપી ઘરમાથી વિષયરૂપી ડાકણ જો કાયમને માટે જાય એવો ઉપાય કરવો હોય, જો મોહ નિદ્રાની ગાઢ અસરને ભૂસી નાખવી હોય, જો યુવતીના મોહક દેહને હાડપિંજર સમાન ગણીને આસક્તિરહિત થવુ હોય તો હે ભાઈ! તું તુરત બ્રહ્મમાર્ગ વિહાર કર! બીજી રીતે અર્થ કરીએ તો સાસારિક પદાર્થોમાથી ગાઢ પ્રીતિ ઊઠી ગઈ હોય તો તુ બ્રહ્મમાર્ગે વિહાર કરવા લાયક થયો છે!

ઉમાસ્વાતિની કલ્પના તત્ત્વાર્થસૂત્ર નામના ઉમાસ્વાતિના ગ્રથમા બ્રહ્મ શબ્દનો નકારાત્મક પ્રયોગ (Negative use of the word) अब्रह्म શબ્દ તરીકે જોવામા આવ્યો છે, તે પણ સૂચક છે તે ગ્રથના સાતમા અધ્યાયનુ ૧૧મુ સૂત્ર આ પ્રમાણે છે मैथुनमब्रह्म ।

એટલે કે મૈથુનપ્રવૃત્તિ તે અબ્રહ્મ તો અહીં સ્વાભાવિક પ્રશ્ન એ થાય છે કે મૈથુનને અબ્રહ્મ શા માટે કહ્યુ? ટૂકામા કહીએ તો બ્રહ્મ એટલે સાત્ત્વિક મનોવૃત્તિઓનો સમૂહ અથવા અધ્યાત્મપરાયણ વૃત્તિઓ આવા બ્રહ્મના પાલનથી અને અનુસરણથી સદ્‌ગુણો વધે છે બ્રહ્મચર્ય શબ્દ પણ તેટલા માટે જ અને તે પરથી જ આવ્યો લાગે છે એનાથી વિમુખ થવુ એટલે જ અબ્રહ્મ થવું ઘણુખરુ મૈથુન એવી ગર્હ્ય પ્રવૃત્તિ છે કે તેમા પડવાથી સાધુઓને ખાસ અને ગૃહસ્થાશ્રમીઓને પણ સત્ત્વહાનિ અચૂક થાય છે

આ બધા ઉપરથી એટલું જરૂર ફલિત થાય છે કે બ્રહ્મવિહાર અને બ્રહ્મચર્યપાલનનો નિકટ સબધ છે જૈનદર્શન પ્રમાણે બ્રહ્મચર્યનો ભંગ તો એક મહાન હિંસાનો પ્રકાર ગણાય છે માટે જ બ્રહ્મચર્યને અહિંસાનું એક આવશ્યક અગ માન્યુ છે જે માણસ આત્માર્થી કે શ્રેયાર્થી થવા ઇચ્છતો હોય તેણે મન,

વચન અને કાયાથી પવિત્ર રહેવું તે જ એ જ. ટૂંકમાં ચારિત્ર ઉપર જૈન દાર્શનિકોએ જે ભાર મૂક્યો છે તે યથાર્થ છે. જ્ઞાન, દર્શન અને ચારિત્ર ત્રણેને મોક્ષમાર્ગ [illegible] કહેવાય છે.

બૌદ્ધ બ્રહ્મવિહાર : બ્રહ્મવિહારનું વર્ણન બૌદ્ધ સાહિત્યમાં ઘણું આવે છે. ખાસ કરીને વિશુદ્ધિમગ્ગના પરિચ્છેદ ૯માં અને [illegible] તેનું વર્ણન આવે છે. બૌદ્ધ ધર્મગ્રંથોની ભાષા પાલી હોવાથી હું તેની મૂળ ગાથાઓ નથી આપતો. ફક્ત તેનો સાર જ અહીં આપું છું. [illegible] ગાથાઓ જે હું નીચે આપું છું તેમાં કેટલો ઊંડો [illegible] ભરેલ છે!

પહેલી ગાથા : માતા જેમ પોતાના એકના એક પુત્રનું પોતાના પ્રાણના ભોગે પણ પાલન અને રક્ષણ કરે છે તેમ માણસે પોતાનું મન સર્વ પ્રાણીમાત્રમાં અપરિમિત પ્રેમથી ભરી રાખવું જોઈએ.

બીજી ગાથા : મનમાં અપરિમિત મૈત્રીની ભાવના કરવી. બધી દિશાઓને પ્રેમથી ભરી નાખવી. આ પ્રેમને અંતરાય હોવો જોઈએ નહિ. શત્રુ પ્રત્યે નિઃસ્વાર્થપણે પ્રેમ રાખવો.

ત્રીજી ગાથા : ઊભા, બેસતાં, સૂતાં કે ગમે ત્યાં હોઈએ — જાગૃતિની બધી [illegible] અને અવસ્થાઓમાં મૈત્રીની ભાવના [illegible] રાખવી [illegible] એને જ બ્રહ્મવિહાર કહે છે. ટૂંકમાં દુઃખિત લોકો તરફ અનુકંપા [illegible] તેને કરુણા કહે છે. પુણ્યશાળી પુરુષોને જોઈએ ત્યારે આનંદ [illegible] થાય તેને મુદિતા કહે છે અને અપુણ્યશાળીઓને જોઈને તેનો તિરસ્કાર ન કરતાં તેઓ પણ ક્યારેક પુણ્યવાન બને એવી આશાથી તેમના પ્રત્યે સમભાવ રાખવો તે ઉપેક્ષાની ભાવના કહેવાય છે.

'બ્રહ્મવિહાર'ના અર્થ પરત્વે મતભેદ : બૌદ્ધ ધાર્મિક સાહિત્યમાં વપરાયેલ 'બ્રહ્મવિહાર' શબ્દનો તાત્પર્ય સમજવામાં વિદ્વાનોમાં કંઈક મતભેદ દેખાય છે. પંડિત [illegible] ઉપાધ્યાય [illegible] ગ્રંથ(હિંદી)માં [illegible] તે લખે છે કે 'ચાર બ્રહ્મવિહારોં કે નામ હૈં—મૈત્રી, કરુણા, મુદિતા તથા ઉપેક્ષા। ઇનકી બ્રહ્મવિહાર સંજ્ઞા સાર્થક હૈ ક્યોંકિ ઇન ભાવનાઓં કા ફલ બ્રહ્મલોક મેં જન્મ દેના તથા [illegible] કી આનંદમય વસ્તુઓં કા ઉપભોગ કરના હૈ।' બ્રહ્મવિહારનો આવો અર્થ ઘટાવવો તે ઉચિત લાગતું નથી. ખરી રીતે આ ભાવનાઓ તો [illegible] ભાવનાઓના અંગો છે અને આત્મભાવનાની ઉપાસક વૃત્તિઓ છે. તેને બ્રહ્મલોકમાં જન્મ લેવાની સાથે અને આનંદમય વસ્તુઓના લાભ સાથે સાંકળી દેવા યોગ્ય નથી જ.

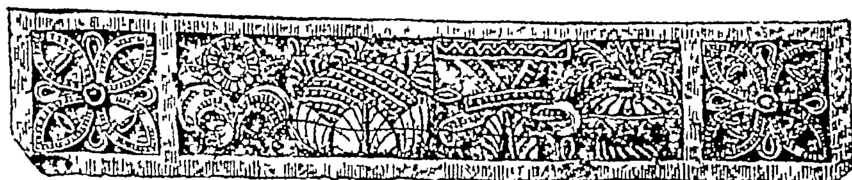
બૌદ્ધ [illegible] વગેરેનું વર્ણન એટલું ઉત્કૃષ્ટ આવે છે કે જેની કલ્પના [illegible] જ આવે છે.

હવે જૈન [illegible] ધર્મના [illegible] અભિપ્રાય તપાસીએ. [illegible] અને [illegible] નામની પુસ્તિકામાં તે પંડિત [illegible] ઉપાધ્યાય [illegible] અર્થ ઘટાવે છે [illegible] મૈત્રી [illegible] ભાવનાઓ [illegible] સુખમય અને દુઃખમય મનોવૃત્તિઓ છે. [illegible] સુખ પામે ત્યારે [illegible] ભાવનાઓને [illegible] કરવી [illegible] અને તેથી [illegible] પ્રગટ કરી [illegible]

આત્મતત્ત્વવિચારસૂત્રમાં જૈન દર્શનની અપૂર્વતા [illegible] ગાતી વખતે [illegible] (૧ [illegible])માં [illegible] પ્રવેશ [illegible] ધર્મ અને [illegible] જે આત્મવિકાસમાં [illegible] છે તેમાં [illegible] સાધનાથી જ [illegible] વિશિષ્ટ [illegible] સિદ્ધાંતો છે. [illegible] તેમ [illegible] નથી. [illegible] જૈન દર્શનોએ

મનોવિજ્ઞાન (Psychology) અને જીવગીમામા ઉપર ઘણો જ સૂક્ષ્મ વિચાર કર્યા છે તેમા શંકા નથી આ વાતના સમર્થનમાં એક જ ઉદાહરણ બસ થશે પશ્ચિમનુ મનોવિજ્ઞાન (Psychology) તો હજી પ્રયોગાત્મક અવસ્થામા છે અને અનેક શાખા ઉપશાખાઓમા અટવાઈ ગયુ છે (Psycho-analysis) એ પ્રયોગાત્મક મનોવિજ્ઞાનની એક શાખા છે તેમા ફ્રોઇડ, જગ વગેરે વિદ્વાનો થઈ ગયા છે એમના અભિપ્રાય પ્રમાણે માણસો બે પ્રકારના હોય છે, (૧) બહિર્મુખ (Extravert) અને (૨) અતર્મુખ (Intravert) હવે હજારો વર્ષ પહેલા જૈન દાર્શનિકોએ આ જ વાત બહિરાત્મા અને અતરાત્માનો ભેદ પાડીને સમજાવી છે જે માણસ શરીરાદિમા જ આત્મબુદ્ધિ રાખે છે તે મોટા ભ્રમમા પડ્યો છે આવો માણસ બહિરાત્મા કહેવાય દુ ખની વાત તો એ છે કે તેનુ તેને ભાન નથી આ કેવળ બહિર્મુખ પ્રવૃત્તિઓમા રાચે છે, પણ અતર્મુખ વૃત્તિવાળો વિચાર કરી શકે છે, અતરમા જોઈ શકે છે તેથી તે વહેલો જાગી જાય છે અતરાત્મા પુરુષ શુદ્ધ આત્મા તરફ પ્રગતિ કરવા યોગ્ય ગણી શકાય બહિરાત્મા, અતરાત્મા અને પરમાત્મા એવા જે ત્રણ ભેદ આત્માના જૈનદાર્શનિકોએ પાડ્યા છે તે કેટલા સુદર અને વૈજ્ઞાનિક છે ? મને તો લાગે છે કે આ આધ્યાત્મિક વિકાસના આ ત્રણ માર્ગસૂચક સ્તભો છે આ ક્રમ આપણે આધ્યાત્મિકતા તરફ કેટલી પ્રગતિ કરી શક્યા છીએ તેના સૂચક અને નિદર્શક છે

ફલશ્રુતિ વૈદિક, જૈન અને બૌદ્ધદર્શનોમા બ્રહ્મવિહારની કલ્પના કેવી રીતે કરવામા આવી છે તે આપણે જોઈ ગયા થોડાક શબ્દોના જ ફેરફાર બાદ કરતા ત્રણે દર્શનોની કલ્પના સમાતર ચાલી આવે છે એમ આપણને લાગ્યા વગર રહેતુ નથી જગતના તમામ ધર્મોમા એક અથવા બીજી રીતે આ ચાર ભાવનાઓનો સ્વીકાર થયેલો જોવામા આવે છે (Practical Religion of Mankind) એટલે માનવ માત્રનો વ્યવહારમા મૂકી શકાય તેવો ધર્મ એટલે જ આ ચાર ભાવનાઓ જૈનધર્મમા તો અહિંસાના તે અગ છે જૈનદર્શન પોકારીને કહે છે કે રાગ અને દ્વેષ એ મિથ્યાત્વના ખાસ લક્ષણ છે જ્યા રાગદ્વેષ હોય ત્યા મૈત્રી ક્યાથી સભવે ? અને કરુણા તથા મુદિતા પણ ક્યાથી હોય ? વળી આ રાગદ્વેષથી માધ્યસ્થ ભાવ અને ઉપેક્ષા કેવી રીતે ઊપજે ? ક્રોધ, દ્વેષ, મત્સર એ તો આત્માના ખાસ દુશ્મન છે, આત્મવિહાર કરનાર માટે, આત્મ ધ્યાન કરનાર માટે તો ક્ષમા, શાતિ, ભૂતદયા અને સત્યનુ અનુશીલન જોઈએ તે સિવાય અત કરણની શુદ્ધિ થવી અશક્ય છે શુદ્ધ અત કરણ વગર ધ્યાનયોગ ક્યાથી સિદ્ધ થાય ? આ વાત જેમ આત્માર્થીએ લક્ષ્યમા રાખવાની છે તેમ વ્યવહારમા પરોવાયેલા વ્યવસાયી માણસોએ પણ ધ્યાનમા રાખવી ઘટે વ્યાવહારિક જીવન, તે વ્યક્તિગત હોય કે રાષ્ટ્રીય અથવા આતરરાષ્ટ્રીય હોય—તે જેટલુ પ્રામાણિક, સત્યનિષ્ઠ, પ્રેમદયાથી ભરેલુ અને પરોપકારી હોય તેટલુ જ હિતકર અને સાર્થક કહી શકાય આવુ જીવન એ જ બ્રહ્મવિહાર એ જ, વ્યક્તિ, સમાજ અને જગતનુ ઉપકારક બની શકે



શ્રી પાર્શ્વનાથની એક પ્રાચીન ધાતુપ્રતિમા

ડૉ૦ ઉમાકાન્ત પ્રેમાનન્દ શાહ, એમ એ પીએચ ડી.

મુમ્બઈના પ્રિન્સ ઑફ વેલ્સ મ્યુઝિયમમાં શ્રીપાર્શ્વનાથ ભગવાનની એક કાયોત્સર્ગ મુદ્રાએ ખડી ધાતુપ્રતિમા છે આ પ્રતિમાની ઊંચાઈ આશરે નવ ઈંચની છે પ્રતિમાની નીચેનું મૂળ આસન મળ્યું નથી એટલે હાલ કાષ્ઠના આસન ઉપર સ્થિર કરેલ છે ભગવાનનો જમણો હાથ, મસ્તક તથા પાછળના ફણની ફણ ખંડિત છે મસ્તક પાછળ ફણાવાળો નાગ છે જેનું નાગીનું શરીર વીંટળાયું ભગવાનના પાછળના (પીઠના) ભાગ ઉપર છેક પગ સુધી પહોંચે છે ચિત્ર ૧ માં પ્રતિમાનો ફોટો સન્મુખથી લેવાયો છે જ્યારે ચિત્ર ૨ મા પીઠનો ભાગ બતાવ્યો છે ચિત્ર ૩ મા ફક્ત કમ્મર સુધીનો શરીરનો ઉપરનો ભાગ વધારે મોટો કરી બતાવ્યો છે

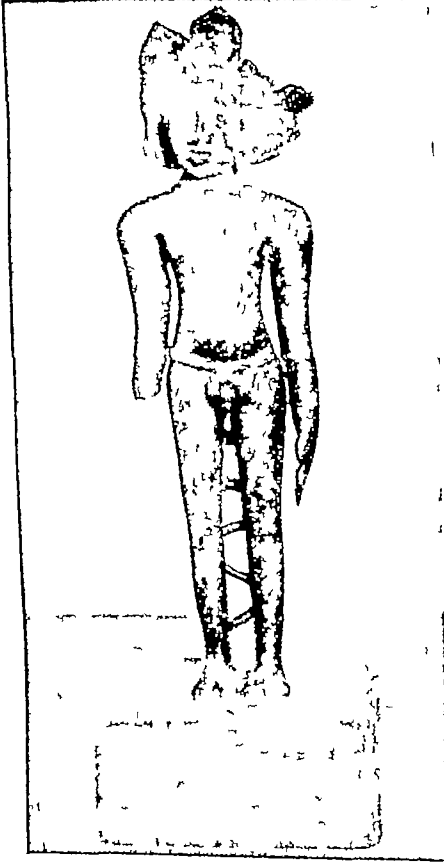
આ પ્રતિમા ક્યાંથી મળી તેની કોઈ માહિતી નથી. મ્યુઝિયમમાં આ પ્રતિમા કોઈકે વેચી હોય તે વેપારીએ મૂળ સ્થળ બતાવ્યું ના હોય, વેપારીને પણ ખબર ના હોય, અને ઘણાં વર્ષો ઉપર મ્યુઝિયમમાં આવેલી આ પ્રતિમાની માહિતી ઑફિસમાંથી મેળવી નોંધવાની રહી પણ ગઈ હોય ગમે તેમ હોય, આજે આપણે પ્રતિમાના રૂપવિધાન ઉપરથી એટલું તો કહી શકીએ કે ઉત્તર ભારતના કોઈ સ્થળની આ પ્રતિમા છે દક્ષિણની નહિ

પ્રતિમા ખાસ નગ્ન છે એટલા જ કારણે એ દિગમ્બર જ સમ્પ્રદાયની માની શકાય નહિ. કેમ? વાસ્તવિક રીતે એ પ્રતિમા એ સમયમાં ભરાઈ હતી જે સમયમાં શ્વેતામ્બર–દિગમ્બર ભાગલાની શરૂઆત પણ થયો નહોતો એ પ્રતિમા એટલી બધી પ્રાચીન છે કે ફક્ત નગ્નત્વના કારણે એની [illegible] વય [illegible] દાન કરનાર જેવા નર જૈન પોતાના ધર્મની પ્રાચીનતાને જ બતાવી શકે

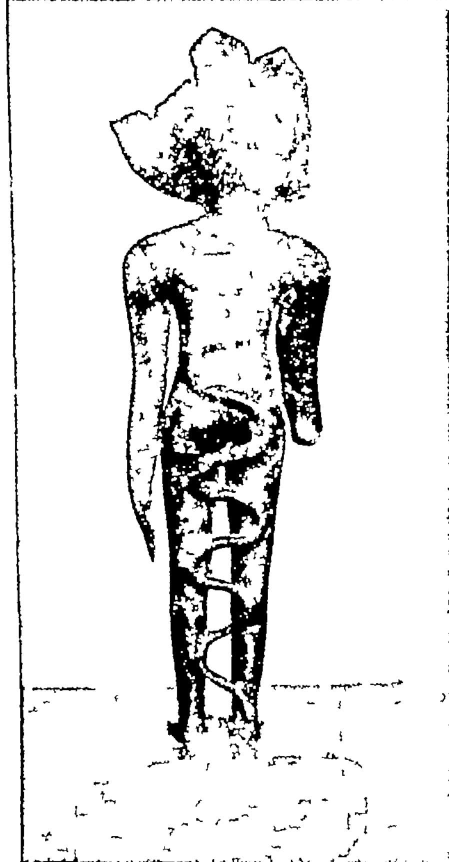
હાલ જે ભારતવર્ષમાં મળેલી જૈન પ્રતિમાઓમાં સૌથી વધુ પ્રાચીન પ્રતિમા કહી શકાય એવી પ્રતિમા પટણા પાસે લોહાનિપુરમાં ખોદકામમાંથી મળી આવી છે એ પ્રતિમા એક પ્રાચીન જૈન મન્દિરના પાયાના અવશેષોમાંથી મળી છે અશોકના ધર્મલેખયુક્ત સિંહલાટ(ભારતીય રાજમુદ્રા)પર જે [illegible] ચળકાટ—ઓપ—છે તે ચળકાટ મૌર્યકાલીન શિલ્પકલાની વિશિષ્ટતા હતી. આ જૈન પ્રતિમા પણ એવા જ ચળકાટ High polish વાળી છે હાલ પટણા મ્યુઝિયમમા સુરક્ષિત આ પ્રતિમા જ્યાંથી મળી છે એ ભાગ પણ પ્રાચીન પાટલિપુત્ર નગરીની હદમા જ ગણી શકાય એવો છે

આ પ્રતિમા ચિત્ર નં ૪ તરીકે રજૂ કરી છે એમા મસ્તક તથા ઘૂંટણ નીચેનો ભાગ નથી—એ તો ખંડિત થઈ ખોવાઈ ગયા બચ્યું ધડ અને પગ (torso and legs)ના ? ભાગ બચ્યાના છે તે જણાવે છે કે એ તો આ પ્રતિમા કાયોત્સર્ગમુદ્રાએ ઊભેલ અવસ્થામાં હોવા કોઈ તીર્થંકરની છે [illegible] જોઈએ કે જિનમૂર્તિ [illegible] પણ હજુ [illegible] પરિચય રાખતા નથી અને તીર્થંકરો પણ પોતે નિશ્ચલ રહી ધ્યાન સાધના કરે છે એ કલ્પનાના ઉપાસક હોવું કરી શકે! ખાસ કરીને પહેલા અને છેલ્લા તીર્થંકરનો ઉપદેશ તો [illegible] હતી આ તો પ્રાચીન બાબત પણ છે એવા સંજોગોમાં મૌર્યકાલીન આ તીર્થંકર પ્રતિમા નગ્ન અવસ્થામાં જ મળી. [illegible] અને તેને જૈન [illegible] ઉપયોગ આપવાની જ પડે.

श्रीपार्श्वनाथनी एक प्राचीन धातुप्रतिमा



चित्र न १ सन्मुखदर्शन



चित्र न २ पृष्ठभाग

[मुम्बइना प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युझियमना सौजन्यथी]

શ્રી પાર્શ્વનાથની એક પ્રાચીન ધાતુપ્રતિમા

ડો૦ ઉમાકાન્ત પ્રેમાનન્દ શાહ, એમ. એ. પીએચ. ડી.

મુંબઈના પ્રિન્સ ઓફ વેલ્સ મ્યુઝિયમમાં શ્રીપાર્શ્વનાથ ભગવાનની એક કાયોત્સર્ગ મુદ્રાએ ખડી ધાતુપ્રતિમા છે. આ પ્રતિમાની ઊંચાઈ આશરે નવ ઇંચની છે. પ્રતિમાની નીચેનું મૂળ આસન મળતું નથી એટલે હાલ કાષ્ઠના આસન ઉપર સ્થિર કરેલ છે. ભગવાનનો જમણો હાથ, મસ્તક તથા પાછળના સર્પની ફણ ખંડિત છે. મસ્તક પાછળ પાંચ ફણાવાળો નાગ છે જેનું આખું શરીર વાંકુંચૂકું ભગવાનના પાછળના (પીઠના) ભાગ ઉપર થઈ પગ સુધી પહોંચે છે. ચિત્ર ૧ માં પ્રતિમાનો ફોટો સન્મુખથી લેવામાં આવ્યો છે, જ્યારે ચિત્ર ૨ માં પીઠનો ભાગ બતાવ્યો છે. ચિત્ર ૩ માં ફક્ત કમ્મર સુધીનો શરીરનો ઉપરનો ભાગ વધારે મોટો કરી બતાવ્યો છે.

આ પ્રતિમા ક્યાંથી મળી તેની કોઈ માહિતી નથી. મ્યુઝિયમમાં આ પ્રતિમા કોઈ વેપારી પાસેથી લીધી હોય તે વેપારીએ મૂળ સ્થળ બતાવ્યું ના હોય, વેપારીને પણ ખબર ના હોય, અને ઘણાં વર્ષો ઉપર મ્યુઝિયમમાં આવેલી આ પ્રતિમાની માહિતી ઓફિસમાંથી ભેગી નોંધવાની રહી ગઈ હોય એમ પણ હોય. ગમે તેમ હોય, આપણે પ્રતિમાના રૂપવિધાન ઉપરથી એટલું તો કહી શકીએ કે ઉત્તર ભારતના કોઈ સ્થાનની આ પ્રતિમા છે, દક્ષિણની નહિ.

પ્રતિમા નગ્ન છે એટલા જ કારણે એ દિગમ્બર સંપ્રદાયની માની શકાય નહિ, કેમકે વાસ્તવિક રીતે એ પ્રતિમા એ સમયમાં બનાવેલી હતી જે સમયમાં શ્વેતામ્બર-દિગમ્બર મતભેદોની શરૂઆત પણ થઈ નહોતી. એ પ્રતિમા એટલી બધી પ્રાચીન છે કે ફક્ત નગ્નતાના કારણે એની અવગણના કરનાર શ્વેતામ્બર જૈન પોતાના ધર્મની પ્રાચીનતાને જ અન્યાય કરી બેસશે.

હાલ જે ભારતભરમાં મળેલી જૈન પ્રતિમાઓમાં સૌથી વધુ પ્રાચીન પ્રતિમા કહી શકાય એવી પ્રતિમા પટના પાસે લોહાનિપુરમાં ખોદકામમાંથી મળી આવી છે. એ પ્રતિમા એક પ્રાચીન જૈન મંદિરના પાયાના અવશેષોમાંથી મળી છે. સારનાથના ધર્મચક્રયુક્ત સિંહધ્વજ (ભારતીય રાજમુદ્રા) પર જે અનેરો ચળકાટ—ઓપ—છે તે ચળકાટ મૌર્યકાલીન શિલ્પકલાની વિશિષ્ટતા હતી. આ જૈન પ્રતિમા પણ એવા જ ચળકાટ High polish વાળી છે. હાલ પટના મ્યુઝિયમમાં સુરક્ષિત આ પ્રતિમા જ્યાંથી મળી છે એ ભાગ પણ પ્રાચીન પાટલિપુત્ર નગરીની હદમાં જ ગણી શકાય એવો છે.

આ પ્રતિમા ચિત્ર નં. ૪ વગેરે રજૂ કરી છે. એમાં મસ્તક તથા ઘૂંટણ નીચેનો ભાગ નથી—એ તો ખંડિત થઈ ખોવાઈ ગયા. ફક્ત ધડ અને પગ (torso and legs)ના જે ભાગ બચ્યા છે તે બતાવે છે કે એ તો આ પ્રતિમા કાયોત્સર્ગમુદ્રાએ ઊભેલ અવસ્થામાં કોઈ તીર્થંકરની છે. આપણે જાણીએ છીએ કે જિનકલ્પી સાધુઓ પણ વસ્ત્ર રાખવાનો પરિગ્રહ રાખતા નથી અને તીર્થંકરો પણ પોતે નિગ્રંથ રહી ધ્યાન સાધના કરે છે એ હકીકતની ઉપેક્ષા કેવી રીતે થઈ શકે? ખાસ કરીને પટના અને કેટલાં તીર્થોના ઉપદેશો તો ધર્મ પણ અચેલકનો હતો એ તો પ્રાચીન સાધુ પણ કહે છે. મૌર્ય અવશેષોમાં પણ પ્રાચીન આ તીર્થંકર પ્રતિમા નગ્ન અવસ્થામાં જ મળતી હોઈ એ અને તેને જૈન જ ગણવા એવો ઉ. ક્રમાએ ભરતપુર ભાવતી જ પડે.

એ પ્રતિમા અશોક પછીની હોય તો પણ સમ્પ્રતિના સમયની તો ગણવી જ પડે એટલે એ લોહાનિપુરની પાષાણપ્રતિમાને ઈ સ પૂર્વે ૨૫૦ આસપાસના સમયની ગણીએ તો તેમા જરાયે ગેરવ્યાજબી નથી

આ પ્રતિમાના ધડના ભાગનુ ઘડતર, ખાસ કરીને પેટના ભાગને જે રીતે ઘડ્યો છે તે, બરોબર સમજવા જેવુ છે બરોબર એ જ રીતનુ એના જ અનુકરણના ઘાટનું પેટ વગેરે ભાગનુ ઘડતર પાર્શ્વનાથજીની ધાતુપ્રતિમાનુ છે એટલે કે મૌર્યકાલીન રૂઢિને અનુસરીને આ પ્રતિમાના અગોનુ ઘડતર થયુ છે એથી લોહાનિપુરની કબન્ધ આકૃતિ (torso)–પછી આ ધાતુપ્રતિમા ભરાઈ હોય તો પણ ઈ સ પૂર્વેના બીજા સૈકા આસપાસની તો માની શકાય

આ પ્રતિમાને આટલી પ્રાચીન માનવા માટે બીજા અનેક કારણો છે પહેલુ તો એ આખીએ પ્રતિમામા મનુષ્ય આકૃતિના ઘડતરની જે શૈલી છે, તે ભારતની અતિ પ્રાચીન શૈલી છે મોહે-જો ડારોમાથી મળેલી, નૃત્ય કરતી અગનાની એ નાની ધાતુપ્રતિમા મળેલી છે[1] આ પ્રતિમામા જે જાતનુ મુખ છે બરોબર એ જ જાતિનું, એવી જ ઢબનુ મુખ પાર્શ્વનાથની પ્રતિમાનું છે લબગોળ મુખ, ગાલસ્થલો વચ્ચે વધુ વિશાલ અને ધીરે ધીરે દાઢી સુધી સાકડુ થતુ લાબુ મુખ, લાબુ નાક, નાના પણ જાડા હોઠ, આયત નેત્રો વગેરેની રચના ઉપરની મોહે-જો ડારોની આકૃતિ ઉપરાત, મથુરા, હાથરસ વગેરે સ્થળોએ મળેલી પ્રાચીન માટીકામની માતાની આકૃતિઓ સાથે સરખાવી શકાય તેવી, એ જ ઘાટની છે આમ મુખાકૃતિ જેને Primitive (પ્રાકૃત અથવા જગલી) કહેવામા આવે એવી ઢબની છે પ્રાચીન માટીની આકૃતિઓ ઉપર ભવા— eye-brows , ઘરેણા વગેરે બતાવવા માટે માટીના તેવા લોચાઓ ચોઢવામા આવતા જેને આપણે applique art કહીશુ આ applique art (ખચિતકલા)ની ઢબ દેખાડતી આ ધાતુપ્રતિમા છે એટલે એમા માટીકામ માફક પાછળથી ચોટેલા ભવા તો ન જ હોય પણ પ્રતિમા ભરનાર કારીગર પહેલા જે માટી વગેરેનુ કે મીણનુ બિબ બનાવે તેના ઉપર એ રીતની કારીગરી કરે, અને પછી એ ઘાટનું બિબ ઢાળે આ કલા એટલે કે ભરવાની કલા નહિ પણ આ જાતની applique technique (ખચિત–કારીગરી) વાળી કલા—જે પ્રાચીન માટીની માતૃમૂર્તિઓમા જોવામા આવે છે તેવી કલા—આજદિન સુધી અમુક જાતની મૂર્તિઓમા ચાલુ રહી છે છતા કઈ મૂર્તિ પ્રાચીન અને કઈ અર્વાચીન તે ઓળખવુ સહેલુ હોય છે જૂની મૃણ્મયી[2] મૂર્તિઓ (terracottas) સાથે સરખાવવાથી એ સ્પષ્ટ થાય છે કે શ્રીપાર્શ્વનાથજીની આ મૂર્તિ સહેજે ઈ સ પૂ પહેલાબીજા સૈકાની તો છે જ

વળી મોહ–જો–ડારોની નર્તકી અને ત્યાથી જ મળેલી માટીની એક પુરુષાકૃતિ[3] એ બેઉમા શરીરના અગો, હાથ અને પગ પાતળા લગભગ સોટા જેવા ઘડેલા છે આ પ્રમાણે પાર્શ્વનાથની પ્રતિમામા પણ હાથપગ લાબા અને પાતળા છે તેમ જ આ ત્રણેય આકૃતિઓના અગો લાબા અને સ્થૂલ નહિ એવા કઈક પાતળા છે[3] ખભા આગળથી પહોળા નહિ એવા આ શરીરો કુષાણકાલીન મથુરાની

---

૧ જુઓ, સર જોન માર્શલકૃત, મોહેન્જો-ડારો એન્ડ ધ ઇન્ડસ વેલી સિવિલિઝેશન, વૉલ્યુમ ૩, પ્લેટ ૯૪, આકૃતિ ૬ ૭ ૮

૨ આવી મૃણ્મૂર્તિઓ માટે જુઓ, ડી એચ ગૉર્ડન લિખિત, અર્લી ઇન્ડિઅન ટેરાકોટાઝ્, જર્નલ ઑફ ઇન્ડિઅન સોસાઇટી ઑફ ઓરિએન્ટલ આર્ટ, વૉલ્યુમ ૧૧

૩ આવા શરીરઘડતરની બીજી આકૃતિઓ માટે જુઓ, સર જોન માર્શલ, મોહેં જો ડારો ઍન્ડ ધ ઇન્ડસ વેલી સિવિલિઝેશન, વૉલ્યુમ, ૩, પ્લેટ ૯૪, ચિત્ર ૯, ૧૧ પ્લેટ ૯૫, ચિત્ર ૨૬, ૨૭, અર્નેસ્ટ મૅકેકૃત, ફર્ધર એક્સ્કેવેશન્સ ફ્રોમ મોહેં–જો–ડારો, વૉલ્યુમ ૨, પ્લેટ ૭૨, આકૃતિ ૮, ૯, ૧૦ પ્લેટ ૭૩, આકૃતિ ૬, ૧૦, ૧૧ પ્લેટ ૭૫, આકૃતિ ૧, ૨૧

श्रीपार्श्वनाथनी एक प्राचीन धातुप्रतिमा

लोहानिपुर(पटना पासे)थी मळेल मौर्यकालीन जिन-प्रतिमा



चित्र नं. ३ [मुंबईना प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युझियमना सौजन्यथी]

चित्र नं. ४ [पटना म्युझियमना सौजन्यथी]

પ્રકાશાનું એક પ્રાચીન શિલ્પ

શ્રી. શિવલાલદાસ શમ્ભુભાઈ દેસાઇ

પશ્ચિમ ખાનદેશમા નદરબારથી ઉત્તરે દશ માઇલ દૂર પ્રકાશા નામનુ તીર્થક્ષેત્ર છે પ્રકાશા નામ શાથી પડ્યુ અથવા તે સ્થળનુ પ્રાચીન નામ શુ હશે તે વિષે જૂનો ઇતિહાસ ખાસ જડતો નથી, ફક્ત સ્કન્દપુરાણાન્તર્ગત તાપી માહાત્મ્યમા પ્રકાશાનો ઉલ્લેખ આવે છે

સ્થાનિક લોકમાન્યતા મુજબ આ સ્થળ પ્રતિ કાશી < પ્રકાશી > પ્રકાશા છે, અને કાશીની યાત્રા આ પ્રતિકાશીની યાત્રા વિના પરિપૂર્ણ ગણાતી નથી તાપી કિનારે ભેખડ ઉપર વસેલા આ ગામની વસતિ હાલ આશરે પાચેક હજારની છે, જેમા મોટે ભાગે લેવા પાટીદાર છે[1] તેઓ ખેતીનો ધધો કરે છે આ ઉપરાત અન્ય કોમોમા ગુજરાતી લાડ વાણિયા અને વૈશ્ય સોનીઓની પણ થોડી વસતિ છે, તેમ જ ગુજરાતી મૈત્રાયણી બ્રાહ્મણો અને થોડાક દક્ષિણી બ્રાહ્મણો પણ છે આ સિવાય મરાઠાઓની પણ વસતિ છે વસતિનો મોટો ભાગ ગુજરોનો છે અને ભાષા પણ ગુજરાતી છે, જો કે દક્ષિણી પ્રદેશના સહવાસમા કેટલુક દક્ષિણી ભાષાનું મિશ્રણ વ્યવહારમા ચાલે છે

પ્રકાશામા પુષ્પદન્તેશ્વર મહાદેવનુ મદિર છે મહિમ્નસ્તોત્રના કર્તા પુષ્પદન્ત સાથે આ શિવાલયનો સબધ ત્યાના બ્રાહ્મણો જોડે છે પણ તે બાબતમા કાઈ જ નિર્ણય કરી શકાય એવા સાધનો નથી આ સિવાય કેદારેશ્વર, સગમેશ્વર, ગૌતમેશ્વરના મદિરો છે આ ઉપરાત ગામ લોકોએ છૂટીછવાઈ પ્રતિમાઓને એક સ્થળે ભેગી કરી છે જેમા સૂર્યની, વિષ્ણુની તેમ જ અન્ય દેવદેવીઓની નાનીમોટી મૂર્તિઓ છે, કેટલીક તો ચારપાચ ફૂટ ઊંચી પણ છે આ બધા શિલ્પોનો વિગતવાર વિચાર આ સ્થળે ન કરતા ફક્ત એક અગત્યના પ્રાચીન શિલ્પાવશેષ—મસ્તક—નો જ વિચાર કરીશુ

પ્રકાશામા નાગપૂજાના અવશેષ પણ છે, એમા નાગની આકૃતિના બે શિલ્પો (એક જૂનુ, અને એક અર્વાચીન) ખાસ ધ્યાન ખેંચે છે આ સ્થળે ડિસેમ્બર ૧૯૫૪મા વલ્લભવિદ્યાનગરના સશોધક ભાઈશ્રી અમૃત વસત પડ્યાએ, સગમેશ્વરના મદિર પાસેના ટેકરા ઉપર પ્રાચીન ઐતિહાસિક તેમ જ પ્રાગૈતિહાસિક અવશેષો ખોળી કાઢ્યા અને અમદાવાદમા ભરાયેલી અખિલ ભારતીય ઇતિહાસ પરિષદ પ્રસગે ગોઠવાયેલા પ્રદર્શનમા રજૂ કર્યા હતા—આમા અશ્માયસ (chalcolithic) યુગના ઓજારોથી માડીને મૌર્યકાળ અને ઈ સ ની શરૂઆત સુધીના અવશેષો હતા જેને Northern Black Polish નામથી ઓળખવામા આવે છે તેવા વિશિષ્ટ પ્રકારના ખૂબ સુદર ચકચકિત ઓપવાળા માટીકામના ટુકડાઓ પણ મળ્યા હતા

આ પછી તુરત જ ભારત સરકારના પુરાતત્ત્વખાતાએ તેના અનુભવી સશોધક શ્રી થાપરની દેખરેખ નીચે આ સ્થળે ખોદકામ તરીકે લગભગ પચાસ-પચાવન ફૂટ સુધી ઊંડુ ખોદી જુદા જુદા થરની જુદા જુદા સમયની પ્રાચીન વસ્તુઓ મેળવી, આ સ્થળનો ક્રમબદ્ધ સાસ્કૃતિક ઇતિહાસ મેળવ્યો છે, જે સરકાર તરફે યથાવકાશ પ્રસિદ્ધ થશે આ ખોદકામમા લગભગ ગુપ્તકાલીન ગણપતિનું શિલ્પ પણ તેઓને મળ્યુ છે

૧ ગુજરાતના લેવા પાટીદારો ખેતી માટે નદરબાર, ખાનદેશ અને નીમાડમાં જઈને વસ્યા હતા

જૈન અને બાહ્ય પ્રતિમાઓથી જુદી તરી આવે છે. મથુરાની મૂર્તિઓ વિશેષ અંશને લીધે વધુ મજબૂત દેખાય છે.

જીવન્તસ્વામીની આ પ્રતિમામાં કટીની નીચે પેટનો ભાગ જે રીતે ઘડેલો છે તે પ્રાચીન યક્ષમૂર્તિઓ, લોહાનિપુરની મૌર્યકાલીન મસ્તકરહિત જિન પ્રતિમા વગેરેને મળતો આવે છે.

પરંતુ એ બાબતો અને મૌર્ય કે શુંગ યુગો વચ્ચે સમયનું એટલું મોટું અંતર હોવા છતાં, ભારતમાં પ્રાચીન કલાસ્વરૂપો ચાલુ રહી એવું માનવાને કોઈ જ કારણ નથી. લોહાનિપુરની પ્રતિમાના ધડને અને જીવન્તસ્વામીની ધાતુપ્રતિમાના ધડને સરખાવતાં તો બે વચ્ચે જે સમાનતા દેખાય છે તે જોતાં આ પ્રતિમા ઈ. સ. પૂર્વે બીજા સૈકાથી પણ પ્રાચીન હોઈ શકે. પણ આટલું પાછળ એવા નિર્ણય પર આવવા માટે અત્યારે બીજું કોઈ સાધન નથી.

ધાતુપ્રતિમા બનાવવાની કલા તો સિંધમાં હડપ્પા મોહેંજોદડોની નગરી જેટલી જૂની પૂરે છે અને એક બાજુ મોહેંજોદડોની કાંસ્યમૂર્તિઓ અને બીજી બાજુ મથુરા, હસ્તિનાપુર, લોહાનિપુર વગેરે સ્થળોની મૂર્તિઓ અને પાલ શૈલીની સાથે સમાનતા પરથી આ પ્રતિમા પશ્ચિમ ભારત કે ઉત્તર ભારતના કોઈ સ્થળેથી મળી આવી હોય એમ કહી શકાય.

આટલી પ્રાચીન મૌર્યકાલીન કે શુંગકાલીન બીજી કોઈ જૈન કે બીજી ધાતુપ્રતિમા નથી જેની સાથે આ પ્રતિમાને સરખાવી શકાય. કુશાનકાલીન, ઈ. સ. ના પહેલાથી ત્રીજા સૈકા સુધીની ધાતુપ્રતિમાઓ પણ ભાગ્યે જ મળે છે. અત્યાર સુધીમાં ઈ. સ. ના પહેલા સૈકામાં નિશ્ચિતરૂપે મૂકી શકાય એવી એક પણ ધાતુપ્રતિમાઓ જાણીતી નથી.

વડોદરા પાસે અકોટા નામના સ્થળેથી કેટલાંક વર્ષો ઉપર મોટી જૈન ધાતુપ્રતિમાઓ મળી આવી હતી. તેમાંથી જ પ્રતિમાઓ [illegible] છે, [illegible] છે અને [illegible] પ્રતિમાઓને આશરે ઈ. સ. ના પાંચમાથી બારમા સૈકા સુધી મૂકી શકાય તેવી છે. આ પ્રતિમાઓ હજુ પૂરી પ્રસિદ્ધ નથી થઈ કેમકે તેને વિશે કોઈએ ઊંડો વિચાર કે ઊહાપોહ કર્યો નથી. પ્રિન્સ ઑફ વેલ્સ મ્યુઝિયમના બુલેટિનના પહેલા અંકમાં આ લેખકે એમાંની એક જીવન્તસ્વામીની પ્રતિમા છપાવી છે. આમાંની પ્રતિમાઓ The Art of the Akota Bronzes નામના આ જ લેખકના ગ્રંથમાં પ્રસિદ્ધ થનાર પુસ્તકમાં છપાશે.

આ પ્રતિમાઓ સાથે પણ જીવન્તસ્વામીની પ્રતિમાને સરખાવતાં ઉપર કરેલું અનુમાન યોગ્ય લાગે છે. જીવન્તસ્વામીની પ્રતિમા ઉપર શ્રીવત્સ ચિહ્ન નથી એ નોંધપાત્ર છે. સંભવ છે કે તે સમયમાં શ્રીવત્સ અંકિત કરવાનો પ્રચાર શરૂ પણ ન થયો હોય. મથુરાની પ્રતિમાઓમાં કેશની ઉપર શ્રીવત્સ છે. જીવન્તસ્વામીના મસ્તક ઉપરની કેશરચના દક્ષિણાવર્ત વાળ ગૂંછળાં (Schematic curls of hair) છે. આવો પ્રકાર આ મહાપુરુષ લક્ષણ છે. દક્ષિણાવર્ત રોમરાજિ મથુરાની કુશાનકાલીન પ્રતિમાઓમાં તો મળે છે જ પણ ઈ. સ. પૂર્વે પહેલી સદીના શિલ્પમાં પણ જોવામાં આવી છે. એટલે દક્ષિણાવર્ત કેશના કારણે પણ જીવન્તસ્વામીની આ ધાતુપ્રતિમાને પ્રાચીન માનવામાં કોઈ વિરોધ નડતો નથી.

ઉપર જણાવ્યું તેમ આ પ્રતિમાને [illegible] સાથે કોઈ સંબંધ રહેતો નથી. કેમકે તો એ [illegible] પ્રાચીન સમયની છે. [illegible] ઈ. સ. પૂર્વે [illegible] જો [illegible] ધાતુપ્રતિમાને માન્ય કરીએ તો [illegible] સમયની [illegible] ધાતુપ્રતિમાઓમાં આ પ્રતિમા સૌથી વધુ પ્રાચીન છે એ નિર્વિવાદ છે.

---

૧૭ જુઓ [illegible] પ્રિન્સ ઑફ વેલ્સ મ્યુઝિયમ [illegible] બુલેટિન [illegible]

प्रकाशानुं एक प्राचीन शिल्प



(पृ ७३) [श्री म स युनिवर्सिटिना पुरातत्व विभागना सौजन्यथी]

આ બધો કાળની સિક્કાઓમાં આપણને ભારતીય નહિ પણ આ ગ્રીકો ઉપરાંત જુદા જુદા પ્રકારે ઉપલબ્ધ થયેલા પ્રાચીન સિક્કાઓ જેવા સાતવાહન રાજાઓના, તેમ જ જેને tribal coins (કેટલીક વિશિષ્ટ જાતિઓના) કહે છે તેવા સિક્કા મળ્યા છે. આ ઉપરાંત ક્ષત્રપોના સિક્કા પણ મળ્યા છે અને અમદાવાદ પ્રદેશના તથા ગુજરાતના સુલતાન અહમદશાહના સિક્કા પણ મળ્યા છે. આનો વિસ્તારથી અભ્યાસ મારા મિત્ર શ્રી હરિહર ત્રિવેદી (ઈંદોર મ્યુઝિયમના ક્યુરેટર) પ્રસિદ્ધ કરનાર છે. આ સિક્કાઓ જોતાં એમ લાગે છે કે એક કાળે ગુજરાત, માળવા અને મહારાષ્ટ્રમાં એક જ પ્રકારના સિક્કાઓ વપરાતા હતા.

બીજી મળેલી પુરાતન વસ્તુઓમાં શંખની બંગડીઓ, તેમ જ જુદા જુદા પ્રકારના રંગબેરંગી પ્રાચીન મણકાઓ વગેરેમાંથી કેટલાક ગુપ્તયુગના અને કેટલાક તેથી પ્રાચીન ક્ષત્રપયુગના પણ છે.

આ સ્થળ પશ્ચિમ ભારત તેમજ ગુજરાતની અગત્યની કડી છે. પ્રાચીન કાળની, પૂર્વકાળમાં આવેલું એ ભાગની વસતિ અને વ્યાપાર જેવાં તેમ જ પાસેના નગરનો ગુજરાત અને તેના વિશ્વ ઇતિ પ્રેમવાનો સમય વગેરે જેવા ઐતિહાસિક મુદ્દાઓ જાણવા આ પશ્ચિમ સ્થળ મોટે ભાગે ગુજરાતી સાથે સાંસ્કૃતિક રીતે જોડાયેલો છે. ભાગની ગુજરાતની વસતિ એ આ હકીકતનો પોષક અને નિર્ણાયક પુરાવો છે.

શામળાજી રીતે આ ટેકરી ઉપર પણ ગુપ્ત કાળના બીજા અવશેષોની શૈલી સાથે જોડાયેલી આજની ટેકરી એ આ સાથે શિલ્પમાં ૮ ફૂટનું અગત્યનું દેવીનું શીર્ષ (મહાદેવ શિવ) નામના પાષાણમાં કંડારેલું એક પ્રાચીન મસ્તક ગુજરાત અને પશ્ચિમ ભારતના શિલ્પના ઇતિહાસમાં અનુ જ અગત્યની કડી છે. આ મસ્તક સર્વ અવયવોથી પૂર્ણ પ્રતિમાનું હશે એમ લાગે છે. જેનો આ બેઠ શૈલીઓને મળતા ઉપર ટોપ જેવા ભાગોવાળા મુકુટ જેવા શિલ્પોમાં જોવા મળે છે.

પારસીઓના પાઘ જેવા, પણ એવી ચોક્કસ પ્રકારના, જે કે આજના પારસી (પારસી) પાઘડીના આ મુકુટ આગળ પાછળની રચના સાથેના જેવી છે. સીધા ઊભા ટોપની બે બાજુએ પ્રત્યેક પાંખ છે તેમાં જે ઊંચી જતી રેખાઓ દેખાય છે તે વાસ્તવમાં અગ્નિજ્વાળાની સૂચક છે. આ તેજોજ્વાળાયુક્ત મુકુટ એ અગ્નિની આભાવાળો ટોપ છે. આને મળતો પણ આથી જુદા પ્રકારનો ટોપ પહેરેલી અગ્નિની એક આકૃતિ મથુરામાંથી મળેલી છે જે ઈ. સ. ના બીજા સૈકાની છે. દાન મથુરા મ્યુઝિયમમાં સુરક્ષિત આ અગ્નિની આકૃતિ પ્રાચીન ભારતીય શિલ્પના અભ્યાસીઓને સુવિદિત છે.[1] આ અગ્નિની પાઘ ઉપરથી ભારતીય કલાકારોએ જુદા જુદા પ્રકારના પાઘ અને મુકુટ બનાવવા માંડ્યા. જેવા પાઘને વલયાકાર ગોળને બદલે ચોરસ અથવા ચોરસ જેવા અને પછી ગોળની પણ પાછળથી બનાવી તેમાં ગુપ્તકાળની સુંદર આકૃતિઓ કોતરી સુશોભન શિલ્પના સુંદર મુકુટ બનાવ્યા. આવો એક સુંદર મુકુટ પહેરેલી જૈન તીર્થંકરની (મહાવીર સ્વામીની) ધાતુપ્રતિમા વડોદરા પાસે અકોટામાંથી મળેલી તે ડૉ. ઉમાકાન્ત શાહે પ્રકાર, વિવેચન, ૧૯૫૫ના અંકમાં પ્રસિદ્ધ કરેલી છે. આ પ્રતિમા ઈ. સ. ના પાંચમા સૈકાની અગત્ય છે એવી જૂનું એક મસ્તક કારવણથી શ્રી રવિશંકર રાવળ મહેતાને મળ્યું છે એની મુખાકૃતિ ઘણાને પ્રાકાશ્ય આપી ૨૮ કરેલા મસ્તકના પત્થર સાથે પણ સામ્ય છે. કારવણના મસ્તક ઉપરનો મુકુટ પણ આ શૈલીનો અને અકોટાના ઇન્દ્રના જેવા પ્રકાર જૂનો છે. એ મસ્તક શ્રી મહેતા પ્રકારમાં આવ્યું એમનો વિચાર નથી પણ એ મસ્તકની અભ્યાસ કરવાનો અવસર પ્રાપ્ત થયો, તેથી સ્પષ્ટ થાય છે કે પ્રકારનું આ મસ્તક તેમ જ કારવણનું શ્રી મહેતાએ શોધી કાઢેલું મસ્તક એક જ શૈલીના અને સમયના એક જ સમયના છે.

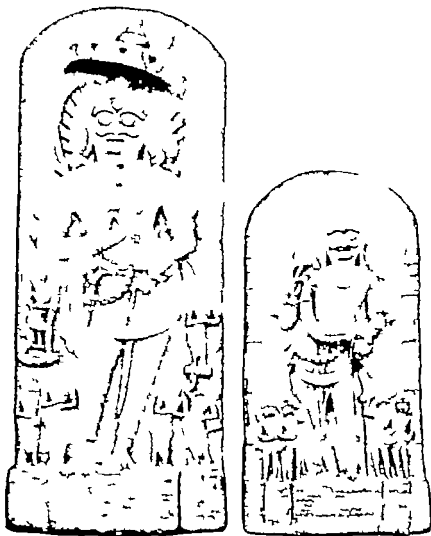
---

[1] જુઓ ઉપર, D. J. Ph. Vogel's પુસ્તક L. Sculpture de Mathura, Plate 39, figs. and b.

प्रकाशानुं एक प्राचीन शिल्प



(पृ ७३) [श्री म स युनिवर्सिटिना पुरातत्व विभागना सौजन्यथी]



[પૃ. ૧] શ્રી [illegible] પાર્શ્વનાથ [illegible] મૂર્તિઓ

[આર્કિઓલોજિકલ સર્વે ઑફ ઇન્ડિયાના સૌજન્યથી]

પ્રકાશાનું એક પ્રાચીન શિલ્પ

પ્રકાશાના મસ્તક ઉપરનો પાઘ આમ તો જૂના ઘાટનો છે પણ એના આગળના પાન-ઘાટનુ જે રત્નખચિત પદક જડેલુ દેખાય છે તે ગુપ્તયુગથી જૂના સમયમા ગણી શકાય તે' જ્યારે પાઘ ઉપરની આડીઅવળી ચોટડીઓ દર્શાવતી કોતરેલી રેખાઓ પાઘ ઉપરના જર' સૂચક છે, અને એવા ઘાટ આપણને ઈ સ ના ત્રીજા-ચોથા સૈકાના શિલ્પની કારીગરી ગણવા

ભવ્ય અને ભાવવાહી મુખાકૃતિ જાણે દેવ તેના ભક્ત સાથે વાતચીત કરી રહ્યા હોય એ- છે સમગ્ર રીતે વિચારી જોતા, અને શિલ્પની ઉત્કૃષ્ટ કારીગીરી જોતા, આ પ્રતિમા ગુપ્તયુગમા ' ચોથા-પાંચમા સૈકામા ઘડાઈ હોય એમ લાગે છે આ શિલ્પની શૈલી ગુજરાતના અન્ય પ્રાચીન I શૈલી સાથે મીઠો સંબંધ ધરાવે છે

ગુજરાતના પ્રાચીન શિલ્પો બહુ જ થોડા મળે છે હમણા 'કુમાર'માની પોતાની લે' અને એ પહેલાના અનેક લખાણોમા શ્રી ઉમાકાન્ત શાહે રજૂ કરેલા ગુપ્તકાલીન અન્ય શિલ્પો મસ્તકનો અભ્યાસ કરવાથી સમજાશે કે ક્ષત્રપકાલના અતમા (ત્રીજા-ચોથા સૈકામા) મૂકી શ આ મસ્તક, ગુપ્તકાલીન કેટલીક ખાસિયતો રજૂ કરતુ હોવાથી ચોથા સૈકાના અતનુ અથવા સૈકાની શરૂઆત લગભગનુ ગણવુ એ યોગ્ય ગણાશે — આમા પણ, 'કુમાર' ૧૯૫૪ના ડિસેમ્બર શ્રી ઉમાકાન્ત શાહે રજૂ કરેલી ભિન્નમાલની વિષ્ણુપ્રતિમાના મુકુટ સાથે પણ સરખાવવા જેવો છે



શ્રી પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિર વિષેના કેટલાક ઐતિહાસિક ઉલ્લેખો

પ્રા૦ ભોગીલાલ જ. સાંડેસરા, એમ. એ., પીએચ. ડી.

[પાટણનું શ્રીપંચાસરા પાર્શ્વનાથનું મન્દિર એ ગુજરાતનું એક અગત્યનું જૈન તીર્થ છે. [illegible] — તંત્રી]

અણહિલવાડ પાટણના સ્થાપક વનરાજે પોતાના ગુરુ શીલગુણસૂરિના આદેશથી પાટણમાં શ્રીપંચાસરા પાર્શ્વનાથનું મન્દિર બંધાવ્યું હતું એ વાત ઇતિહાસપ્રસિદ્ધ છે. વનરાજનો પિતા પંચાસરમાં રાજ્ય કરતો હતો, તેથી આ મન્દિરમાં પ્રતિષ્ઠિત પાર્શ્વનાથની મૂર્તિને પંચાસરા પાર્શ્વનાથ નામ આપવામાં આવ્યું હોય, અથવા કેટલાક વિદ્વાનો માને છે તેમ, એ મૂર્તિ પંચાસરમાંથી લાવીને નવા પાટનગર પાટણમાં પ્રતિષ્ઠિત કરવામાં આવી હોય. પાટણની સ્થાપના સં. ૮૦૨માં થઈ હતી, એટલે ત્યાર પછી થોડા સમયમાં આ મન્દિર બંધાયું હશે એમ અનુમાન કરવું વધારે પડતું નથી. એ રીતે ગુજરાતનાં જૂનામાં જૂનાં વિદ્યમાન જૈન મન્દિરોમાંનું એક તેને ગણવું જોઈએ. જો કે વખતોવખત તેના જીર્ણોદ્ધારો થયા હોવા જોઈએ. વિક્રમના તેરમા સૈકામાં મંત્રી વસ્તુપાલે કરાવેલા જીર્ણોદ્ધારની હકીકત તત્કાલીન ઐતિહાસિક સાધનોમાંથી મળે છે. હમણાં જ થયેલા ઉત્તમ જીર્ણોદ્ધાર પૂર્વે જે મન્દિર હતું તેનું સ્થાપત્ય સોળમા સૈકાનું જણાતું હતું. વળી આ મન્દિર પહેલાં તો જૂના પાટણમાં હતું, ત્યાંથી એ પ્રતિમાઓ આદિ નવા પાટણમાં ક્યારે લાવવામાં આવ્યાં હશે એ વિષે પણ કંઈ આધારભૂત માહિતી મળતી નથી. વનરાજના ગુરુ શીલગુણસૂરિ નાગેન્દ્ર ગચ્છના ચૈત્યવાસી આચાર્ય હતા અને પંચાસરા પાર્શ્વનાથનું મન્દિર સૈકાઓ સુધી નાગેન્દ્ર ગચ્છનું ચૈત્ય હતું એમ પ્રાપ્ય ઉલ્લેખો ઉપરથી જણાય છે. ગુજરાતની ઐતિહાસિક રાજધાની પાટણના ઇતિહાસ સાથે સંકળાયેલું હોઈ આ મન્દિર એક વિશિષ્ટ ઐતિહાસિક અગત્ય ધરાવે છે. એનો અનુક્રમબદ્ધ વૃત્તાન્ત આપી શકાય એવાં કોઈ સાધનો નથી. સાહિત્યમાં અને ઉત્કીર્ણ લેખોમાં જે પ્રકીર્ણ ઉલ્લેખો મળે છે એને આધારે જ આ મન્દિર વિષે કેટલીક માહિતી પ્રાપ્ત થાય છે અથવા એ પરત્વે સંભવિત અનુમાનો થઈ શકે છે. આ મન્દિર વિષેના તમામ ઉલ્લેખો તથા ઉપલભ્ય સામગ્રીમાંથી એકત્ર કરવાનો સમય મને મળ્યો નથી, પણ જે થોડાક ઉલ્લેખો મળી શક્યા તે કાલાનુક્રમે ટૂંકી નોંધ સાથે અહીં રજૂ કરું છું.

૧ હરિભદ્રસૂરિકૃત 'ચન્દ્રપ્રભચરિત' (સં. ૧૨૧૬ આસપાસ)

પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિર વિષેનો પહેલો નિશ્ચિત ઉલ્લેખ, એ મન્દિર બંધાયા પછી લગભગ ચારસો વર્ષે મળે છે. એ ઉલ્લેખ ગુજ્જર ગચ્છના આચાર્ય શ્રીચન્દ્રસૂરિના શિષ્ય હરિભદ્રસૂરિના

પ્રાકૃત 'ચંદ્રપ્રભચરિત'માંથી છે એ જ ગ્રન્થકારનું અપભ્રંશ 'નેમિનાથચરિત' સં ૧૨૧૬માં રચાયેલું છે, એટલે ઉક્ત 'ચંદ્રપ્રભચરિત' પણ એ અરસામાં રચાયું હશે જો કે સં ૧૨૨૩ પછી તો એ રચાયું નથી જ, કેમ કે એ વર્ષમાં લખાયેલી એ કાવ્યની તાડપત્રીય પ્રતિ પાટણમાં સંઘવીના પાડાના ભંડારમાં છે એની પ્રશસ્તિના ઉલ્લેખ પ્રમાણે, જયસિંહદેવ અને કુમારપાલના મંત્રી પૃથ્વીપાલે પોતાના માતાપિતાના શ્રેય અર્થે પંચાસર પાર્શ્વગૃહમાં મંડપની રચના કરાવી હતી—

जयसीहएव–सिरिकुमरवालनरनायगाण रज्जेसु ।
सिरीपुहइवालमंती अवितहनामो इमो विहिओ ॥
अह निन्नयकारावियजालिहरगच्छरिसहजिणभवणे ।
जणयस्स जणणीए उण **पंचासरपासगिहे** ॥
चड्डावलीयमि उ गच्छे मायामहीए सुहहेउ ।
अणहिल्लवाडयपुरे कराविया मंडवा जेण ॥'

અર્થાત્ શ્રીજયસિંહદેવ અને કુમારપાલ નરનાયકોના રાજ્યમાં શ્રી પૃથ્વીપાલ મંત્રી અવિતથ નામવાળો થયો (પોતાના પૂર્વજ) નિન્નયે કરાવેલા જાલિહર ગચ્છના ઋષભજિનભવનમાં તથા **પંચાસર પાર્શ્વગૃહમાં** પોતાના જનક અને જનનીના (શ્રેય) અર્થે તથા પોતાની માતામહીના સુખ અર્થે તેણે ચડ્ડાવલી (ચંદ્રાવતી) અને અણહિલવાડપુરમાં મંડપો કરાવ્યા હતા

૨. અરિસિંહકૃત 'સુકૃતસંકીર્તન' (સં. ૧૨૭૮ અને ૧૨૮૭ ની વચ્ચે)

અરિસિંહ એ ગુજરાતના સુપ્રસિદ્ધ મહામાત્ય વસ્તુપાલનો આશ્રિત કવિ હતો અને વસ્તુપાલના સત્કૃત્યો વર્ણવતું 'સુકૃતસંકીર્તન' નામે મહાકાવ્ય તેણે રચેલું છે એના પહેલા સર્ગમાં કવિએ ચાવડા વંશના રાજાઓનો કાવ્યમય વૃત્તાન્ત આપ્યો છે આમાં ખાસ નોંધપાત્ર તો એ છે કે સોલંકી અને વાઘેલા યુગમાં રચાયેલા અનેક ઐતિહાસિક કાવ્યોમાંથી માત્ર અરિસિંહકૃત 'સુકૃતસંકીર્તન' અને ઉદયપ્રભસૂરિકૃત 'સુકૃતકીર્તિકલ્લોલિની'માં જ ચાવડાઓનો ઉલ્લેખ છે, 'દ્વયાશ્રય' કાવ્યમાં ગુજરાતનો ઇતિહાસ આલેખવાનો રીતસર પ્રયત્ન કરનાર આચાર્ય હેમચન્દ્રે પણ ચાવડાઓની વાત કરી નથી ચાવડાઓની હકૂમત પાટણ આસપાસના થોડા પ્રદેશ ઉપર જ હતી અને તે કારણે ઐતિહાસિક કાવ્યોના લેખકોએ એમને એટલું રાજકીય મહત્ત્વ નહિ આપ્યું હોય એ રીતે 'સુકૃતસંકીર્તન'માં આપેલી ચાવડાઓની વંશાવલી મહત્ત્વની છે 'સુકૃતસંકીર્તન'ની રચના સં ૧૨૭૮ અને ૧૨૮૭ની વચ્ચે ક્યારેક થયેલી છે[૨] એ કાવ્યના પ્રથમ સર્ગના ૧૦મા શ્લોકમાં પંચાસર પાર્શ્વનાથના મન્દિરનો ઉલ્લેખ છે, એટલું જ નહિ પણ એ મન્દિરની તુલના પર્વત સાથે કરી છે, જે એના શિખરની ઊંચાઈ દર્શાવે છે—

अतर्वसद्घनजनाद्भुतभारतो भू-
र्मा भ्रंस्यतादिति भृशं वनराजदेव ।
पञ्चासराह्वनवपार्श्वजिनेशवेश्म-
व्याजादिह क्षितिधरं नवमाततान

---

૧ પાટણ ભંડારની સૂચિ (ગાયકવાડ્ઝ ઓરિએન્ટલ સિરીઝ), પૃ ૨૫૫

૨ જુઓ મારું પુસ્તક Literary Circle of Mahamatya Vastupala, પૃ ૬૩

વળી એ કાવ્યના ઉપલા સર્ગમાં (શ્લો. ૨) વસ્તુપાલનાં નાયિકાઓ વસ્તુનાં ક્રમે કહ્યું છે કે આલૂદિલરા પાલણપુર પ્રભાસ । પાર્શ્વનાથના મન્દિરનો ઉદ્ધાર કરાવીને મંત્રીએ વનરાજની સા મયેલી મૂર્તિને સ્થાપન કર્યું હતું —

पाखलपद्मसवितपुरोपुरथी
श्रीमत्पालमितस्वर्धमितेपरस्य ।
उत्कृत्य येन करुणा वनितो मराच
स्वागाररम्नानिविर्मितपतलीकि ॥

૩. ઉદયપ્રભસૂરિકૃત ‘સુકૃતકીર્તિકલ્લોલિની’ (સં. ૧૨૭૭)

નાગેન્દ્રગચ્છના વિ જયસેનસૂરિ જેઓ વસ્તુપાલના ધર્માચાર્ય ગુરુ હતા તેમના શિષ્ય ઉદયપ્રભસૂરિકૃત સુકૃતકીર્તિકલ્લોલિની કાવ્ય સં. ૧૨૭૭માં વસ્તુપાલે કરેલી શત્રુંજયની યાત્રાના પ્રસંગે રચાયું હતું, અને વસ્તુપાલે શત્રુંજય ઉપર બંધાવેલા ઇન્દ્રમંડપમાં એક શિલાપટ્ટ ઉપર કોતરીને તે મૂકવામાં આવ્યું હતું.* મંત્રીનાં સુકૃતોની પ્રશસ્તિરૂપે રચાયેલા આ કાવ્યના ૧૪મા શ્લોકમાં કવિ કહે છે કે પુરુષ-શિરોમણિ સમાન આલૂદિલપુરના નિવાસી આ પ્રાગ્વાટ જૈન વનરાજે બંધાવ્યું હતું, એના શિખરનો ઊંચો કળશ ઉન્નત ભક્તિ જેવો શોભતો હતો —

एर्कैसुभंभाजलनिधिपुलमोपमेऽस्मिन् पुरे
चैत्ये श्रिया निरीक्ष्य वनराज पञ्चासरपार्श्वं नृप ।
मन्त्रोक्ते स्वप्रभस्ति रचितमि निजकीर्तिनिमामर
स्फुरत्स्वसरेपरेपरापौत्रीमस्वतीमामति ॥

૪. ઉદયપ્રભસૂરિકૃત ‘ધર્માભ્યુદય’ મહાકાવ્ય (સં. ૧૨૯૦ પહેલાં)

ઉપર્યુક્ત ઉદયપ્રભસૂરિએ ધર્માભ્યુદય અથવા સંઘપતિચરિત્ર નામે પંદર સર્ગનું મહાકાવ્ય રચ્યું છે જેમાં મંત્રી વસ્તુપાલની સંઘયાત્રાનું વર્ણન હોઈ સં. ૧૨૭૭ની મોટી યાત્રા પછી તુરત એ રચાયું હોય એ સંભવિત છે તથા સં. ૧૨૯૦ પહેલાં તો નિ.શ. એની રચના થયેલી છે કારણ કે એ વર્ષમાં જ વસ્તુપાલના હસ્તાક્ષરોમાં લખાયેલી એની તાડપત્રીય નકલ ખંભાતના ભંડારમાં છે. એ કાવ્યની પ્રશસ્તિમાં (શ્લો. ૭) નાગેન્દ્ર ગચ્છના આચાર્યોની ગુરુપરંપરા આપીને પોતાના ગુરુ વિજયસેનસૂરિ વિષે કવિ કહે છે કે તેઓ પંચાસરા નામથી ઓળખાતા વનરાજવિહાર તીર્થના નાયક જેવા હતા —

पञ्चासरपार्श्वनाथवनराजविहारतीर्थे
मारे समुचितपरिपूर्णवरेऽस्मिन् ।
नागेन्द्रगच्छमन्त्र हरीन्द्र मल
मान्योऽस्मिन्नुस्तकमय विमर्शः ॥

પંચાસરા પાર્શ્વનાથનું મન્દિર બંધાયું ત્યારથી નાગેન્દ્ર ગચ્છના આચાર્યોનો એ સાથેનો સંબંધ હોવો આ સ્વાભાવિક છે. વળી પંચાસરાનું મન્દિર તે જ વનરાજવિહાર એમ અહીં કવિએ સ્પષ્ટ કહ્યું છે.

* ગુ. ૨ વ. ના.

વસ્તુપાલે એ મન્દિરનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવ્યો હતો એનો ઉલ્લેખ પણ કાવ્યના પહેલા સર્ગ(શ્લોક ૨૨)મા છે —

अणहिल्पाटकनगरादिराजवनराजकीर्त्तिकेलिगिरिम् ।
पञ्चासराह्वजिनगृहमुद्दध्रे य कुल च निजम् ॥

૫. શ્રી પંચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિરમાનો સં. ૧૩૦૧ નો શિલાલેખ

આ મન્દિરમાની વનરાજની મૂર્તિ પાસેની ઠ૦ આસાકની મૂર્તિ નીચે આ પ્રકારે શિલાલેખ છે —

(१) स १३०१ वर्षे वैशाख सुदि ९ शुक्रे पूर्वमहलीवास्तव्य मोढज्ञातीय नागेद्र
(२) सुत श्रे० जाहल्णपुत्रेण श्रे० राजुकुक्षीसमुद्भूतेन ठ० आशाकेन संसारासार
(३) योपार्जितवित्तेन **अस्मिन् महाराजश्रीवनराजविहारे** निजकीर्तिवल्लीवितान
(४) कारित तथा च ठ० आसाकस्य मूर्त्तिरिय सुत ठ० अरिसिहेन कारिता प्रतिष्ठिता
(५) सवबे गच्छे **पंचासरातीर्थे** श्रीशील्गुणसूरिसताने शिष्य श्री
(६) देवचन्द्रसूरिमि ॥ मगल महाश्री । शुम भवतु ॥

આ શિલાલેખમા પણ પચાસરા તીર્થનો વનરાજવિહાર તરીકે ઉલ્લેખ છે પચાસરાના મન્દિરમા શીલગુણસૂરિના શિષ્ય દેવચન્દ્રસૂરિની મૂર્તિ છે એક મૂર્તિ વનરાજના મામા સુરપાળની ગણાય છે, પણ આખા યે મન્દિરમાના બીજા કોઈ લેખમા પચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિરનો ઉલ્લેખ નથી એમા એક માત્ર અપવાદ વનરાજની મૂર્તિ નીચેના લેખનો છે એ શિલાલેખમા સ ૭૫૨ અને સ ૮૫૨નો નિર્દેશ છે, પણ એની લિપિ એટલી પ્રાચીન લાગતી નથી આ ઉપરાત તેમા સ ૧૩૦૧ અને સ ૧૪૧૭ના ઉલ્લેખ છે અને એક સ્થળે 'મહમદ પાતસાહ' અને 'પીરોજસાહ'ની પણ વાત છે એ મૂર્તિની નીચે તથા તેની આસપાસ નીચેના પથ્થર ઉપર ત્રણેક શિલાલેખો ભેગા થઈ ગયા છે અને ઘસાયેલા હોવાને કારણે તે વિશેષ દુર્વાચ્ય બન્યા છે પૂ મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી, સ્વ મોહનલાલ દલીચદ દેસાઈ અને ૫ લાલચદ ગાધીએ એ બધ બેસાડવા પ્રયત્ન કર્યા છે અને તેમણે તૈયાર કરેલી એ લેખની વાચના નાગેન્દ્રગચ્છીય દેવેન્દ્રસૂરિકૃત 'ચન્દ્રપ્રભચરિત્ર'ની પ્રસ્તાવના(પૃ ૧૧)મા છપાઈ છે એનો એકદેશ નીચે મુજબ છે—

सं १३०१ **श्रीपार्श्वनाथचैत्ये** श्रीवनराज राजराजश्री कडेससु (?) श्रीअणहल्लेस्वर शवायतन त्रा पि ति श्रीवनराजमूर्ति श्रीशील्गुणसूरि सगणे श्रीदेवचद्रसूरिमि प्रतिष्ठिता स १४१७ वर्षे

આ લેખમાનુ ' પાર્શ્વનાથ ચૈત્ય' એટલે 'પચાસરા પાર્શ્વનાથ ચૈત્ય' એમ ગણવુ જોઈએ વનરાજે બધાવેલા અણહિલ્લેશ્વર મહાદેવના મન્દિર ('શવાયતન')ની પણ એમા નિર્દેશ છે વનરાજની મૂર્તિની પ્રતિષ્ઠા દેવચન્દ્રસૂરિના હસ્તે થઈ હોવાનુ એમા જણાવ્યુ છે અને તેની જ સાથે સ ૧૪૧૭નો ઉલ્લેખ છે એનો મેળ બેસતો નથી આ શિલાલેખની વધારે સારી વાચનાની હજી અપેક્ષા રહે છે

૬. મેરુતુગાચાર્યકૃત 'પ્રબન્ધચિન્તામણિ (સ. ૧૩૬૧)

ગુજરાતના મધ્યકાલીન ઇતિહાસના સુપ્રસિદ્ધ સાધનગ્રન્થ 'પ્રબન્ધચિન્તામણિ' અનુસાર, વનરાજે શીલગુણસૂરિને પોતાના સિંહાસન ઉપર બેસાડીને પ્રત્યુપકારબુદ્ધિથી સપ્તાગ રાજ્ય આપવા માડ્યુ,

પણ મૂર્તિએ તેનો નિર્દેશ કર્યો, પછી સૂરિના આદેશથી [illegible] પાર્શ્વનાથનું બિંબ કરાવ્યું તથા તેમાં પોતાની આચાર્યની મૂર્તિ પણ સ્થાપિત કરી. —

[illegible]

(આચાર્ય [illegible] ની વાચના, પૃ. ૧૩)

[illegible] (સં. ૧૪૧૪)માં [illegible] પ્રતિમાનો ઉદ્ધાર કરાવ્યો [illegible] અને [illegible] (પંચાસરા [illegible]) [illegible] (આ નગર) [illegible] (શ્લોક ૭૨–૭૪) [illegible] પાર્શ્વનાથ [illegible] છે.

૭ જયશેખરસૂરિકૃત 'પંચાસર વીનતી' (સં. ૧૪૬૦ આસપાસ)

સં. ૧૪૬૨માં ખંભાતમાં પ્રબોધચિંતામણિ નામે આધ્યાત્મિક રૂપકગ્રંથ રચીને પછી એનું આધાર ગુજરાતી પદ્યમાં ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ નામથી રૂપાંતર કરનાર અંચલગચ્છીય આચાર્ય જયશેખરસૂરિનું સ્થાન જૂની ગુજરાતી સાહિત્યના ઇતિહાસમાં છે. એમની રચેલી [illegible] ગુજરાતી [illegible] ૨૨ [illegible] એક પ્રાચીન [illegible] પૂ. મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી અને પૂ. મુનિશ્રી [illegible] મેળવી હતી. આ [illegible] 'પંચાસરા વીનતી' એ નામનું પંચાસરા પાર્શ્વનાથનું એક સુંદર [illegible] છે. આ [illegible] પંચાસરા પાર્શ્વનાથ [illegible] છે. પણ એ [illegible] ગુજરાતી [illegible] છે. [illegible] છે.

નમ પાયુ પંચાસરાધીશ પાર્શ્વ,
[illegible]
[illegible]
[illegible]

૪ [illegible]

૮. સિદ્ધિસૂરિકૃત 'પાટણ ચૈત્યપરિપાટી' (સં. ૧૫૭૬)

પાટણના જૈન મન્દિરોનુ વર્ણન કરતી ચાર પ્રાચીન ચૈત્યપરિપાટીઓ અત્યાર સુધીમા મળેલી છે, જેમાની બે—લલિતપ્રભસૂરિ અને હર્ષવિજયકૃત—આ પહેલા શ્રીહંસવિજયજી લાયબ્રેરી, અમદાવાદ તરફથી પ્રકટ થયેલી છે જુદા જુદા મહોલ્લા, શેરીઓ, રાજમાર્ગો અને પરાનો તથા કેટલીક વિશિષ્ટ વ્યક્તિઓનો એમા નિર્દેશ આવતો હોઈ સ્થાનિક ઇતિહાસ અને ભૂગોળ માટે એ બહુ અગત્યની છે એ ચારમા સૌથી પ્રાચીન ઉપલબ્ધ ચૈત્યપરિપાટી સિદ્ધિસૂરિની છે એની નકલ પૂ. મુનિશ્રી રમણિકવિજયજી પાસેની હસ્તપ્રત ઉપરથી મેં કરી લીધી હતી એમા ૯મી કડીમા નીચે પ્રમાણે પચાસરા પાર્શ્વનાથનો ઉલ્લેખ છે

"મહકર મનહ મનોરથ પૂરઇ, **પાસ પંચાસરઇ** ભાવ વિચૂરઇ, સાર સસારઇ લેમિ "

૯. સિંઘરાજકૃત 'પાટણ ચૈત્યપરિપાટી' (સં. ૧૬૧૩)

આ પરિપાટીની હસ્તપ્રત પણ મને પૂ મુનિશ્રી રમણિકવિજયજી પાસે જોવા મળી હતી એમા પચાસરા પાર્શ્વનાથનો તથા આસપાસના મન્દિરોનો નિર્દેશ કડી ૬૨થી ૬૫ સુધીમા નીચે પ્રમાણે છે

"**પચાસર શ્રીપાસ,** આશાપૂરણ જિનપ્રતિમા નવ વાદીઇ એ,
હરખ્યા હીયા મઝારિ, હરખ ભરતિ જઈ જિન દેખી આણદિઆ એ ૬૨
મૂલનાયક શ્રીઆદિ પ્રથમ તીર્થંકર, ત્રાસી પ્રતિમા વાદીઇ એ,
ભમતી માહિ દેહરી રૂયડી નિરખીઇ નઇ ત્રીજઇ દેહરઇ આનીઆ એ ૬૩
તિહા પ્રતિમા પાત્રીસ, ચુવીસવટ્ટા સૂ વાસપુજ નાયક ધણી એ,
ચુથિઇ જિન ઉગણીસ, પ્રતિમા પૂજીઇ મૂલનાયક માહાવીર તણી એ ૬૪
પોસાલમાહિ દેહરૂ પાચમૂ, જાઇનિઇ નિરખીઇ નેમીસર એ,
તેર પ્રતિમા તિહા વાદી, પાપ નિકદીનઇ સેવીઇ રાજલિવરુ એ " ૬૫

એ એક જ પટાગણમા સત્તરમા સૈકાના આરભમા પાચ મન્દિર હતા પચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિર પછી ૮૩ પ્રતિમાઓ સહિત જે આદિનાથના મન્દિરનો ઉલ્લેખ છે તે હાલમા નથી તપાગચ્છનો ઉપાશ્રય, જે પોળિયા ઉપાશ્રય કે પોશાળ તરીકે ઓળખાય છે, એમા તે સમયે નેમિનાથનુ મન્દિર હોવાનો ઉલ્લેખ છે એ નોંધપાત્ર છે અને ચૈત્યવાસની પરપરાનો દ્યોતક છે

૧૦. લલિતપ્રભસૂરિકૃત 'પાટણ ચૈત્યપરિપાટી' (સં. ૧૬૪૮)

પૂનમિયા ગચ્છના આચાર્ય લલિતપ્રભસૂરિકૃત ચૈત્યપરિપાટીમા કડી ૧૮–૨૦મા પચાસરા પાર્શ્વનાથનો તથા આસપાસના મન્દિરોનો ઉલ્લેખ નીચે પ્રમાણે છે

"**પચાસરઇ પાટકિ** અછઇ એ, ધુરિ વીર જિનવર સાર તુ,
નવ પ્રતિમા વદી કરી એ, વાસપૂજ્ય જુહારિ તુ ૧૮
સતાવીસ બિંબ તિહા નમી એ, **પચાસરુ પ્રભુ પાસ** તુ,
અવર સાત જિનવર નમુ એ, વછિત પૂરઇ આસ તુ ૧૯
ઋષભદેહરઇ હિવઇ જિન નમુ એ, દશ વલિ ભમતી હોઇ તુ,
નવઇ ઘરે છઇ પાસ જિન, ત્રિહતાલીસ બિંબ જોઇ તુ " ૨૦

આ ચૈત્યપરિપાટીમાં પંચાસરપાડા અર્થાત્ પંચાસરવાડો એવો ઉલ્લેખ મન્દિરોના આ મૂળ પાડે છે એ ખાસ નોંધ છે. જિનરાજની જેમ લલિતપ્રભસૂરિએ પણ અહીં પંચ મંદિરો નોંધ્યાં છે એ કે જિનરાજે ખોખાવસના નેમિનાથના મન્દિરનો ઉલ્લેખ કર્યો છે તે અહીં નથી અને તેને બદલે નવા વાડિ —નવા પાસ પાસ્વ જિનનો નિર્દેશ કર્યો છે. નવા પાસનો અર્થ નવું દેરાસર થઈ એ વા એ મંદિર જિનરાજની કૃતિ રચાઈ (સં. ૧૬૬૩) બાદ પછી નવું બન્યું હશે એમ કહી શકાય. વળી એ સમય દરમિયાન ખોખાવસની પ્રતિમાઓ અન્યત્ર સ્થાપિત કરવામાં આવી હશે. એમ ન હોય તો લલિતપ્રભસૂરિએ એનો ઉલ્લેખ અવશ્ય કર્યો હોત.

૧૧ હર્ષવિજયકૃત ‘પાટણ ચૈત્યપરિપાટી’ (સં. ૧૭૨૯)

આમાં પંચાસરા સાથેના મન્દિરોનું વર્ણન નીચે મુજબ છે

પ્રથમ પંચાસરે આવ્યા એ, દીઠા પ્રાસાદ ચ્યાર,
પંચાસર જિનવર તણો એ, દેખી ઉદાર. ૪
ચોપન જિન બિંબ અતિ ભલા એ વળી હીરવિહાર,
પ્રતિમા બિંબ સરૂપ તણી એ, મૂરતિ મનોહાર. ૫
ત્રિગડી મધ્ય બિરાજતા એ, જિન વચન સંભાર,
એકવા જિન અતિ ભલા એ, આમલીએ જુહાર. ૬
વાસુપૂજ્યને દેહરે એ, જિન સત્ત વખાણું,
મહાવીર ધામ વળી એ, જિન બાર જ જાણું ૭

આમાં હીરવિહારનો ઉલ્લેખ મહત્ત્વનો છે. જે શ્રી હર્ષવિહાર બાદ ત્યાર પછીના પંચાસરાના મન્દિરમાં પેસતાં જમણી બાજુએ એક ઓરડી હતી અને તેમાં આચાર્યો વગેરેની જ મૂર્તિઓ હતી. એમાં મુખ્ય જગદ્ગુરુ હીરવિજયસૂરિ, વિજયસેનસૂરિ અને વિજયદેવસૂરિ એ તપગચ્છના ત્રણ પ્રભાવક આચાર્યોની મૂર્તિઓ હતી. આ સ્થાન હીરવિહાર તરીકે ઓળખાતું હશે. એમાં હીરવિજયસૂરિની મૂર્તિ સં. ૧૬૬૨માં તથા વિજયસેનસૂરિ અને વિજયદેવસૂરિની મૂર્તિઓ સં. ૧૬૬૪માં પ્રતિષ્ઠિત થયેલી છે એમ તે સાથેના શિલાલેખો ઉપરથી જણાય છે. આથી આ પહેલાંની ચૈત્યપરિપાટીઓમાં હીરવિહારનો ઉલ્લેખ ન હોય એ સમજાય એવું છે.

૧૨. ‘આલો શાહ ઓળિ’ વર્ણક

આ જૂની ગુજરાતી ગદ્યમાં રચાયેલું વર્ણક છે. લિપિ ઉપરથી અનુમાને અઢારમા સૈકામાં લખાયેલી જણાતી એની હસ્તપ્રત પ્રો. શ્રી આત્મારામ જૈન જ્ઞાનમન્દિરમાંથી મળી હતી. જોકે મુનિશ્રીની તરફથી પ્રાપ્ત થયેલ વર્ણક-સમુચ્ચયમાં આ કૃતિનો પણ સમાવેશ થયેલો છે. એમાં એક સ્થળે અણહિલપુર પાટણનું ટૂંક વર્ણન છે અને તેમાં પાટણના પ્રમુખ દેરાસર તરીકે પંચાસરાના મન્દિરનો પણ ઉલ્લેખ છે.

“તે અહ્વ અણહીલપુર પાટણ વર્ણવૂ. પશ્ચિમ દેશ મધ્યે કિ ? અણહિલપુર પાટણ ! જિહાં પાડે કરી વિષમ જિહાં ચોરી અધિકાર, મહાજને કરી ભલાં આગાર, પંચાસર પ્રમુખ દેવ દેહરાં,

---

૧ શ્રી જિનવિજયજી-સંપાદિત પ્રાચીન જૈન તીર્થમાળા, ભાગ ૧ પૃ. ૨૨

જે નગરમાહિ દાનશાલા, પૌષધશાલા, ધર્મશાલા, ગઢ મઠ મન્દિર પ્રકાર, ચુરાસી ચુહટાની હટશ્રેણિ, માહઇ વસ્ત સપૂર્ણ વરતઇ ”

૧૩. દેવહર્ષકૃત ‘પાટણની ગઝલ’ (સં. ૧૮૬૬)

ખરતર ગચ્છના મુનિ દેવહર્ષે સ ૧૮૬૬મા ‘પાટણની ગઝલ’ એ નામનુ એક સ્થલવર્ણનાત્મક કાવ્ય રચ્યુ છે[૧] ગઈ શતાબ્દીના પાટણની સ્થાનિક પરિસ્થિતિ, નોંધપાત્ર સ્થળો તથા વિશિષ્ટ વ્યક્તિઓ આદિની માહિતી માટે આ રચના અગત્યની છે એના અતિમ પદ્ય—કલશરૂપ છપ્પાની છેલ્લી બે પક્તિઓમા નીચે પ્રમાણે પચાસરાના મન્દિરનો ઉલ્લેખ છે

“પાટણ જસ કીધો પ્રગટ જિહા **પાચાસર** ત્રિભુવન ધણી,
કવિ દેવહર્ષ મુખથી કહે કુશલ રગરલીલા ઘણી ”

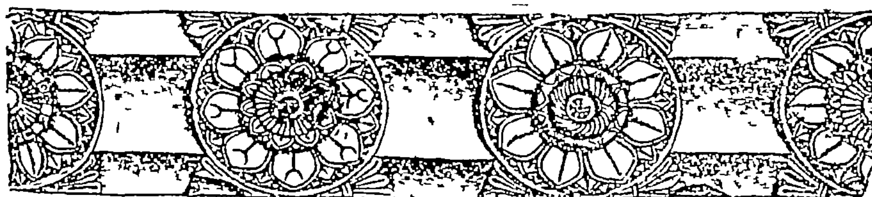
કલશમા આ રીતે એકમાત્ર પચાસરા પાર્શ્વનાથના મન્દિરનો ઉલ્લેખ કર્યો છે, એ પાટણના જૈન મન્દિરોમા એનુ મહત્ત્વ દર્શાવે છે

૧૪. ‘પંચાસરા પાર્શ્વનાથ સ્તવન’

આ નામની બે સક્ષિપ્ત ભાષાકૃતિઓ જાણવામા આવી છે અને તે બન્ને વડોદરા જૈન જ્ઞાનમન્દિરમા પૂ મુનિશ્રી હસવિજયજીના શાસ્ત્રસગ્રહમા (પ્રતિ ન ૩૩૯૪ અને ૪૫૧૫) છે બન્નેય સ્તવનોમા કર્તાનુ નામ કે રચના સવત નથી, પણ લિપિ ઉપરથી સો–દોઢસો વર્ષ પહેલા તે લખાયેલા જણાય છે પહેલું સ્તવન ‘પાસ પચાસર ભેટ્યો હો, દૂખ મેટ્યો મુઝ ઘર આગણે’ એ પક્તિથી તથા બીજુ સ્તવન ‘સુખકર શ્રીપચાસરો પાસ, પાટણપુરનો રાજીઓ’ એ પક્તિથી શરૂ થાય છે બન્નેયમાથી કોઈ ખાસ ઐતિહાસિક હકીકત મળતી નથી આ પ્રકારના બીજા પણ સ્તવનો તપાસ કરતા મળી આવવા સભવ છે

---

૧ મારા વડે સપાદિત, ‘ફાર્બસ ગુજરાતી સભા ત્રૈમાસિક’, એપ્રિલ–સપ્ટેમ્બર ૧૯૪૮મા



ગુજરાતનું પ્રથમ ઇતિહાસકાવ્ય

પ્રા૦ [illegible] એમ. એ. [illegible]

આપણા દેશમાં પ્રાચીન કાળમાં [illegible] જેવી દૃષ્ટિ [illegible] ન હતી તે [illegible] સમક્ષ [illegible] આવે છે. પ્રાચીનની ઇતિહાસની [illegible] પણ [illegible] તેમાં પ્રચલિત [illegible] પણ [illegible] અને [illegible] તે બન્નેને [illegible] ધર્મને પણ પ્રાધાન્ય [illegible] ઐતિહાસિક તત્ત્વ [illegible] છે [illegible] —ગુજરાતને [illegible] —કલા છે.

મુસલમાનોના [illegible] ઐતિહાસિક [illegible] બે ભિન્ન ઐતિહાસિક [illegible] પ્રબંધો તથા [illegible] કવિ [illegible] છે. [illegible] કવિ [illegible] ઐતિહાસિક તત્ત્વો [illegible] છે.

[illegible] ઇતિહાસની [illegible] ઐતિહાસિક [illegible] છે [illegible] [જુઓ [illegible], ભાગ ૧ ૨ ૧૮]

ગુજરાતના ઇતિહાસના [illegible] ૧૨મા [illegible] ૧૩મા [illegible] અને કુમારપાળના [illegible] અને [illegible] કુમારપાળ [illegible] ગુજરાતના [illegible] (વિ. સં. [illegible])થી કુમારપાળ (વિ. સં. ૧૧૯૯થી ૧૨૨૯) [illegible] છે. [illegible] (ઈ. સ. [illegible] – ૧૪) [illegible] છે. તે [illegible]

પરન્તુ ગુજરાતનો ૨૩૦ વર્ષનો ક્રમબદ્ધ ઇતિહાસ નિરૂપનારો આ પ્રથમ જ ગ્રન્થ છે અને તે દૃષ્ટિએ તેનુ મૂલ્ય ઘણુ છે

બીજી રીતે પણ આ કાવ્યનુ મહત્ત્વ ઘણુ છે મૂલરાજ જ્યારે પાટણનો અધિપતિ થયો ત્યારે તે પ્રદેશ તો 'सारस्वतमण्डल' તરીકે જ ઓળખાતો હતો (મૂળરાજના પોતાના વિ સ ૧૦૪૩ના દાનપત્રમા પણ આ જ નામ આપેલુ છે) મૂલરાજ જ્યાથી આવ્યો તે રાજપૂતાનામાના શ્રીમાલ-ભિન્નમાલની આસપાસનો પ્રદેશ ત્યારે 'गुर्जरात्र – गुज्जरत्ता – गुर्जरदेश' ગણાતા ગુર્જરેશ્વર મૂલરાજ સારસ્વતમણ્ડલનો રાજા બન્યો તે પછી ગુર્જરેશનો પ્રદેશ તે 'गुर्जरमण्डल–गुर्जरदेश–गुर्जरात्र–गुज्जरत्ता' ગુજરાત કહેવાયો આમ આપણા પ્રદેશને 'ગુજરાત' નામ પણ મૂળરાજના સમયમા જ મળ્યુ ('ગુજરાત' વિષે વિશેષ ચર્ચા માટે જુઓ ડૉ ભોગીલાલ સાંડેસરાકૃત 'ઇતિહાસની કેડી' પૃ ૧૩૬–૧૫૨) તદુપરાન્ત, આ પ્રદેશ સમૃદ્ધિની ઉચ્ચતમ કોટિએ પણ આ સોલકીયુગમા જ – સિદ્ધરાજ અને કુમાર-પાલના શાસનસમયમા – પહોંચેલો આ રીતે પુરાણકથાનુસાર જેનો મૂળપુરુષ બ્રહ્માના ચુલુક એટલે ખોબામાથી ઉત્પન્ન થયેલો મનાય છે તે ચૌલુક્ય કે સોલકીવશનો યુગ ગુજરાતના ઇતિહાસમા સૌથી વધારે મહત્ત્વનો યુગ ગણાય, અને દ્વયાશ્રયમહાકાવ્ય પણ આ જ યુગનો ઇતિહાસ આપતુ હોવાથી ગુજરાતના ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ તેનુ મહત્ત્વ અદ્વિતીય છે

ઇતિહાસ અને વ્યાકરણ એ બે આલમ્બનોને કારણે આ અઠ્ઠાવીસ સર્ગના મહાકાવ્યને 'द्व्याश्रय' નામ આપવામા આવ્યુ છે પ્રથમ વીસ સર્ગના સસ્કૃત દ્વયાશ્રયકાવ્યમા મૂળરાજ સોલકીની કારકિર્દીથી તે કુમારપાલના શાસનકાલ સુધીનો ઇતિહાસ આલેખી આઠ સર્ગના પ્રાકૃત દ્વયાશ્રયકાવ્યમા કુમારપાલની અધૂરી કથાની પૂર્તિ કરવામા આવી છે આથી પ્રથમ વિભાગને 'चौलुक्यवंशोत्कीर्तन' તથા દ્વિતીય વિભાગને 'कुमारपालचरित' પણ કહેવામા આવે છે

હવે આપણે આ કાવ્યનુ સક્ષિપ્ત વસ્તુનિરીક્ષણ કરી લઈએ

પહેલા સર્ગમા અણહિલપાટક – પાટણ, રાજા મૂલરાજ, પ્રજાની સુખસમૃદ્ધિ તથા રાજાપ્રજાપ્રીતિનુ સુંદર વર્ણન આપી પછીના ચાર સર્ગમા સોરાષ્ટ્રના પ્રજાપીડક ગ્રાહરિપુ ઉપરનો મૂલરાજનો વિજય વર્ણવ્યો છે આ નિમિત્તે બન્ને પક્ષે ઉપસ્થિત અનેક રાજાઓના નામ આપવામા આવ્યા છે ગ્રાહરિપુને તેની સ્ત્રીઓની આજીજીથી આગળી કાપી છોડી મૂક્યો, જ્યારે તેનો મિત્ર કચ્છનો લક્ષરાજ—લોકકથાઓનો લાખો ફુલાણી—યુદ્ધમા હણાયો

છઠ્ઠા સર્ગમા અગ, વિન્ધ્ય, પાણ્ડ્ય, સિન્ધુ, વનવાસ (ઉત્તર કાનડા), ગરુજાચલ (દેવગિરિ), કોલ્લાપુર, કશ્મીર (તેના રાજા માટે 'कीर' શબ્દ વાપર્યા છે, શ્લોક ૨૩), કુરુ અને પાચાલ (હિમાલયની તળેટીથી ચમ્બલ નદી સુધીનો પ્રદેશ, જેની રાજધાની કામ્પીલ્યનગરમા હતી) જેવા દૂર–દૂરના દેશોના રાજાઓ તરફથી મૂલરાજને ચરણે આવેલી વિશિષ્ટ ભેટોનુ વર્ણન છે, જે પછી લાટના દ્વારપે મોકલેલ નિષિદ્ધ લક્ષણોવાળા ગજરાજને નિમિત્ત બનાવી તેના ઉપર યુવરાજ ચામુણ્ડરાજે મેળવેલો વિજય આલેખેલો છે

સાતમા સર્ગમા કાશી તરફ જતા ચામુણ્ડરાજ(વિ સ ૧૦૫૩થી ૧૦૬)ને માલવાના રાજાએ લૂટતા તેના પુત્ર વલ્લભરાજ (વિ સ ૧૦૬૬) તેની આજ્ઞાથી માલવા પ્રતિ પ્રયાણ કરે છે, પરન્તુ માર્ગમા જ શીતળાના અસાધ્ય વ્યાધિથી તેનુ મૃત્યુ થાય છે અને એ વાત છુપાવી સૈન્ય પાછુ ફરે છે

વલ્લભરાજ પછી રાજ્યારૂઢ થયેલા તેના ભાઈ દુર્લભરાજ (વિ સ ૧૦૬૬–૧૦૭૮) આવેના મારવાડ (મરુ) ના રાજા મહેન્દ્રની બહેન દુર્લભદેવીના સ્વયવરલગ્નનું તથા તે નિમિત્તે દુર્લભરાજના બીજા ઘણા રાજાઓ સાથેના પશ્ચાદ્ યુદ્ધનુ વર્ણન પણ આ જ સર્ગમા આવે છે

આઠમા સર્ગમાં દુર્લભરાજના નાનાભાઈ નાગરાજના પુત્ર ભીમદેવ કે ભીમરાજ (વિ. સં. ૧૦૭૮-૧૧૨૦)ના વરસી અને નીતિમય રાજ્યનું તેમ જ પરાક્રમી સિન્ધુરાજ હમ્મુકને તેણે કેદ કરી લાવેલો તેનું સુન્દર આલેખન મળે છે.

સિન્ધુવિજય પછી નવમા સર્ગમાં ભીમદેવ ચેદિ (મધ્યપ્રદેશ) તરફ વળ્યો, પરન્તુ તેના દૂત દામોદર દ્વારા (કલિંગ, ગુજરાત અને ચેદિ ત્રણેએ સાથે હુમલો કરી હરાવેલા) માળવપતિ ભોજની દુર્દશાનું ભાન થતાં ચેદિરાજે ભીમની સાથે સંધિ કરી લીધી.

પરાક્રમી ભીમ પછી તેના જ્યેષ્ઠ પુત્ર ક્ષેમરાજે રાજ્ય ન સ્વીકારતાં નાના કર્ણદેવ (વિ. સં. ૧૧૨૦-૧૧૫૦)ને ગાદી મળે છે. કર્ણ અને દક્ષિણમાં આવેલા ચન્દ્રપુરના જયકેશીની પુત્રી મયણલ્લાદેવી (મીનળદેવી)ના ચિત્રદર્શનથી ઉદ્ભવેલા પ્રેમાદિનું અતિસુન્દર ચિત્રણ પણ આ જ સર્ગમાં આવે છે.

દશમા સર્ગમાં કર્ણદેવ ના તપથી પ્રસન્ન થઈ લક્ષ્મીની પ્રાપ્તિ તેમ જ પુત્ર માટે વરદાન આપે છે, અને ૧૧માં ગુજરાતનો નાથ જયસિંહ (વિ. સં. ૧૧૫૦-૧૧૯૯) રાજા બને છે.

આ બારમા સર્ગમાં શ્રીસ્થલ(સિદ્ધપુર)ના બ્રાહ્મણોને પરેશાન કરનાર રાક્ષસરાજ (ખરી રીતે મ્લેચ્છ) બર્બરક સાથે દ્વન્દ્વયુદ્ધ કરી જયસિંહ તેને પોતાનો દાસ બનાવે છે અને તેને બ્રાહ્મણોનો જ રક્ષક સ્થાપે છે. બાબરા ભૂત તરીકે લોકકથામાં ખ્યાતિ પામેલા એ સિદ્ધરાજના પરાક્રમોનો પણ કવિ અહીં પરિચય કરાવે છે.

તે આ સર્ગના બીજે એક રસિક પ્રસંગ વર્ણવેલો છે. ન્યાયપ્રિય જયસિંહ રાત્રે ફિરતી ચાલક વેશપરિવર્તન કરીને પ્રજાના સુખદુઃખ તથા વિચારો જાણવા નીકળી પડતો. એક રાત્રે કોઈ બીજાના કરુણ શબ્દો તેને કાને પડતાં તે તે બાજુ ગયો અને પૃચ્છા કરતાં આ પ્રમાણે જાણવા મળ્યું.

પાતાલમાં નાગલોકની ભોગવતી નામની નગરીમાં વાસુકિનો માનીતો નાગરાજ રત્નચૂડ રહેતો હતો. તેના પુત્ર કનકચૂડે એક વખત પોતાના બાલમિત્ર દમન સાથેના વાદવિવાદમાં પત્નીને હોડમાં મૂકી. આથી તેણે ભૂલ કરેલી અને સ્વાભાવિક રીતે જ દમન કનકચૂડની પત્નીને હેમન્તાલયમાં ઘુમ્યો આવે છે. તેનું પ્રાયશ્ચિત્ત બનાવવાની ઈચ્છા થયો. તેના કનકચૂડ પાસે પત્નીની મુક્તિનો એક ઉપાય હતો.

પૃથ્વી ઉપર પહેલા વરુણના વરદાનને પ્રતાપે કુબ્જ નામના દૈત્યને પાતાલલોકોને ભયમાં મૂકવાનો વિચાર કરેલો, જેથી ગભરાયેલા નાગો તેને શરણે ગયેલા અને કુબ્જે શાસન કરમાવેલું કે પ્રતિવર્ષ ઉત્તરાયણ એક એક નાગે કાશ્મીરમાં હાજર રહેવું પોતાની સ્વવિભૂષણ કરવા આવવું. તે આ દિવસથી દુર્ગમ તેવા કાશ્મીર દેશમાં કુબ્જા ભક્ષણ માટે આવ્યો અને પૂર્વે સાપ પણ એની પૂજા એકેડી નાગોએ એવા ભક્ષણ કરનારા સર્પો કુબ્જના હોમના અર્થી દર વર્ષે વારા પ્રમાણે નિયમિત રીતે તેની પૂજા માટે જવા લાગ્યા. આ વર્ષે દમનનો વારો આવ્યો હતો. એટલે કિમત શરતથી જનતા તેણે કનકચૂડ પાસે શરત મૂકી કે જો તે તેને બદલે કુબ્જ પાસે જાય તો પોતે તેની પત્નીને બન્ધનમાંથી મુક્ત કરે. આથી જીવતો ઘર જવાના ઇરાદાથી કનકચૂડ પાસે આવેલો અને એક વાર કુબ્જાથી તેની સામના તે તેમાં ન આ જતો હતો, પરંતુ તે આવતો કુબ્જ નજીકથી મહિમાઓથી ભાગ હોવાથી તેમાંથી છૂટવા પામ આપણી આજ્ઞા રખાવ તેમ ન હતું, તેથી તેની પત્ની પણ આત્મદાન કરવા તત્પર થઈ હતી અને પોતાને ન વારવા પતિને વિનવતી હતી.

આ વૃત્તાન્ત સાંભળી આશ્વાસન આપી આવેલ રાજા જયસિંહે કુબ્જ પાસે જઈને તેમપૂર્વક ભાર ઘણો મૂક્યો. તેના ભયાનકથી કુબ્જમાથી સર્પોનો હિંસામ ઊંચી ઉપર આવતી રહી. પછી

નિર્મક્ષિક બનેલા કૂવામા રાજાએ વિનાવિલબે ઝપલાવ્યુ અને ઊપનો ઘડો (ઘટી) ભરીને તત્કાળ બહાર કૂદી આવ્યો, અને ઊપ સાથે તે નાગદમ્પતીને બર્બરકાદિના રક્ષણ નીચે પાતાલમા મોકલી દીધુ (કદ્રૂ અને વિનતાની પૌરાણિક કથા અહીં સરખાવવા યોગ્ય છે નાગ લોકો સાથેનો ગુજરાતનો ઐતિહાસિક સબધ પૌરાણિક જેવા લાગતા આ કથાનક દ્વારા વર્ણવાયો છે એમ સમજવુ ?)

ચૌદમા સર્ગમા પણ ચમત્કારકથા આવે છે યોગિનીઓના ચમત્કારને ન ગણકારતા પોતાની પ્રતિમા બનાવી કામણપૂર્વક તેને બાળી નાખવાને પ્રવૃત્ત થયેલી બહુરૂપી યોગિની કાલિકાને હરાવી કર્મવીર જયસિંહે માળવાના વિદ્યાપ્રેમી રાજા યશોવર્મા ઉપર ચિરસ્મરણીય વિજય પ્રાપ્ત કર્યો અને અન્તે પદરમા સર્ગમા તે ભગવાન સોમનાથની કૃપાથી સુવર્ણસિદ્ધિ મેળવી "सिद्धराज" બન્યો કેદારનાથના માર્ગને તેણે દુરસ્ત કરાવેલો, શ્રીસ્થળમા રુદ્રમહાલય તથા જૈન ચૈત્ય બધાવેલા, પાટણમા સહસ્રલિંગ તળાવ અને જૈન તથા જૈનેતર મન્દિરો બધાવેલા, સૌરાષ્ટ્રમા સિંહપુર(સિહોર)ની સ્થાપના કરેલી—આ બધી વિગત પણ આ સર્ગમા મળે છે

સોળમા સર્ગથી કુમારપાલની કથા શરૂ થાય છે અને ત્રણ સર્ગમા સપાદલક્ષ (અજમેર)ના આન્નરાજે તેના હાથે ખાધેલી હારનુ મનોહર વર્ણન આપેલુ છે, જ્યારે ઓગણીસમા સર્ગમા કુમારપાલ આન (અર્ણોરાજ)ની પુત્રી જલ્હણાને પાટણમા પરણે છે અને તેનો બ્રાહ્મણ સેનાપતિ કાક—શ્રી મુનશીની નવલકથાઓમા અમર બનેલો મજરીપતિ કાક—અવન્તિના બલ્લાલ પર વિજય પ્રાપ્ત કરે છે સ્વાભાવિક રીતે જ ઉભયપક્ષસ્થ બીજા અનેક રાજાઓનો ઉલ્લેખ અહીં મળે છે

આજે પણ ગુજરાત ઉપર જેની અસર છે તે કુમારપાલની પ્રખ્યાત अमारिघोषणानु વિશમા સર્ગમા વિસ્તૃત વર્ણન આપેલુ છે આમલકૈકાદશી(ફાલ્ગુન શુક્લ ૧૧)ના ધૈષ્ણવ પર્વના દિવસે ત્રણ–ચાર દીન પશુઓને ખાટકીને ત્યા વેચવા ખેંચી જતા એક માણસને જોઈ દયાર્દ્ર બનેલા તે મહારાજાએ મૃષાભિભાષણ, પરદારગમન, જન્તુવધ, માસભક્ષણ અને મદ્યપાનનો નિષેધ ફરમાવ્યો તેટલુ જ નહિ, પણ તેથી જેને નુકસાન થાય તેમ હતુ તેવા બધાને ત્રણ ત્રણ વર્ષ ચાલે તેટલુ ધાન્ય આપ્યુ જેથી પોતાની આજ્ઞાનો કડક અમલ થાય તદુપરાન્ત, એક મધ્યરાત્રે કોઈ સુન્દરીનુ કરુણ રુદન સાભળી રાજા તે તરફ ગયો તો એક વૃક્ષ સાથે પાશ બાધી તે આત્મહત્યાની તૈયારી કરતી હતી પૃચ્છા કરતા જણાયુ કે તે યુવતીના પુત્ર તેમ જ પતિ ગુજરી જવાથી નિયમ મુજબ તેનુ સઘળુ ધન રાજાને જશે અને તેથી તે સાવ નિરાધાર થઈ જતા આત્મહત્યા એ જ તેના માટે એકમાત્ર માર્ગ હતો કૃપાળુ રાજાએ તેને આશ્વાસન આપ્યુ કે "राजाय तेऽर्थं न ग्रहीता ग्रहीता"—"આ રાજા તારુ ધન નહીં લઈ લે, નહીં લઈ લે"—અને વિનાવિલબે અપુત્રમૃતધન પરનો રાજ્યનો હક ઉઠાવી લીધો

આ રીતે મધ્યયુગમા સમાજસુધારણાનો નવો ચીલો પાડનાર અને કેદારપ્રસાદ તથા સોમનાથ મન્દિરનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવી સ્વપ્નાદેશાનુસાર ગૂર્જરપુર–પાટણ–મા કુમારપાલેશ્વરની સ્થાપના કરનાર તેમ જ પાર્શ્વનાથના ચૈત્યો બધાવનાર લોકપ્રિય રાજા કુમારપાલને આ પ્રમાણે આશીર્વાદ આપી સસ્કૃત દ્વ્યાશ્રય કાવ્ય પૂરુ થાય છે

आयुष्मान् भव भूपता २ इ अजय २ ( ) शान्त्या २ सुबुद्धा २ यृपी (२) श्
जिष्णा २ वूर्ब तदे४न्दवे जय चिर चौलुक्यचूडामणे ।
क्ष्मानृण्यीकरणात्प्रवर्तय निज सवत्सर चेत्यृपि—
प्वाघोषत्सु सदा नृप पदविधिर्यद्वत्समर्थोभवत् ॥१०॥

અર્થાત્—"હે રાજા ! તુ આયુષ્માન્ થા હે સુબુદ્ધિ ! શાન્તિમા તુ ઋષિઓથી પણ ચઢી જા હે જિષ્ણુ ! તુ બલિષ્ઠ બન હે ચન્દ્રવશી ! હે ચૌલુક્યચૂડામણિ ! ચિરકાલપર્યન્ત વિજયી થા ! અને પૃથ્વીને

અનુકૂળ બનાવીને પોતાનો માર્ગ કર પ્રવર્તે. —આ પ્રમાણે મણિઓ જ્યારે પારખ્યા કરતા (આધીનબન ઉપ્યાગતા) હતા ત્યારે ગજ (કુમારપાળ) એમ કાર્ય પણ પર હમેશાં ધર્મ-અર્થ—કામ સાથે જ યોજ્યા છે તેમ, સમર્થ—ચતિમચતિરાશો—થયો.

પ્રસ્તુત પ્રશસ્તિકાર કુમારપાળની આ પ્રશસ્તિ ૩૦ પૂરી કરે છે. પ્રથમ પાંચ તથા આ સર્ગના પ્રશ્નોમાં ચાલુક્ય, રાજ તથા પ્રજાની સમૃદ્ધિનું વર્ણન તથા રાજાની ... અને રાજાની ... તેમ જ ... વર્ણન મળે છે. આ સર્ગના ઉત્તરાર્ધમાં કોષના ... ઉપરના ... કરી વગેરે ... ની તેની સત્તા આપેલી છે.

આ સર્ગમાં ... રાજાએ કરેલી સ્તુતિ સુધી ગયેલો કુમારપાળ સ્વપ્નમાં આત્મચિન્તન કરે છે અને અન્તે આખા સર્ગમાં, તેની જિનભક્તિ, ગુરુની ... પ્રશંસા આપે છે.

ઉપરના અવતરણ પરથી ગુજરાતની આણ કેટલા પ્રદેશોમાં વર્તી હતી તેનો ખ્યાલ આવે છે. હેમચન્દ્રાચાર્યની મહાવીરચરિત્ર પ્રશસ્તિ ... ઉપરના સર્ગનો ... કુમારપાળના ગુજરાતની સામ્રાજ્યસીમા આ પ્રમાણે જણાવે છે:

> સ કૌબેરીમાતુરુષ્કમૈન્દ્રીમાત્રિદશાપગમ્ ।
> યામ્યામાવિન્ધ્યમાવાર્ધિ પશ્ચિમાં સાધયિષ્યતિ ॥"

ભાવાર્થ— તે (કુમારપાળ) ઉત્તર દિશાને તુરુષ્ક સુધી, પૂર્વને ગંગા પર્યન્ત, દક્ષિણને વિન્ધ્યાચળ સુધી અને પશ્ચિમ દિશાને સમુદ્ર સુધી સાધશે. અહીં સાધયિષ્યતિ એ ભવિષ્યકાળ વાપરેલો છે તેનું કારણ એ છે કે આ ... ભગવાન મહાવીરના મુખમાં ભવિષ્યવાણીના રૂપમાં મૂક્યો છે.

આ પ્રશસ્તિ અવતરણ પરથી જણાય છે કે એવા કેટલાક પ્રશ્નો છે કે જેના ઉત્તરો તેમ જ ઉકેલો હજુ સિદ્ધ થઈ શક્યા છે અને આ પ્રશસ્તિ જેવા પ્રમાણોના અભાવમાં નિશ્ચિત થયા નથી. તે જ પ્રમાણે બીજા પણ એવા પ્રશ્નો પ્રશસ્તિમાં મળે છે—વિદ્વાન અભ્યાસકો—એને નિશ્ચિત થયો નથી હોય તો.

મહારાજાનો આનકનો સાથેના સંબંધ, તેનો શાકંભરી(અજમેર)ના વિગ્રહરાજને હાથે થયેલો પરાભવ, માળવાના બલ્લાલ અને ભીમને આપેલી હાર, નાગપુર(નાગોર)ના આહ્લાદન-ભાઈને હાથે ભીમદેવનો પરાભવ, ભીમના જ સમયમાં થયેલું ભયંકર ગજનવીનું આક્રમણ, ચાહમાન આનાકનું, માળવા અને સપાદલક્ષના રાજાઓએ કરેલો ભીમનો પરાભવ, અને સિદ્ધરાજના શાસનકાળ દરમ્યાન કુમારપાળની વર્ષોની રખડપટ્ટી— જેવા પ્રસંગોના નિર્દેશ પણ આ પ્રશસ્તિમાં આવતો નથી. જે વસ્તુ પરથી ઉત્કીર્ણ કરે છે તથા જે કુમાર રાજાના પ્રશસ્તિકારથી અજાણ રહ્યા છે તેને સ્વાભાવિક રીતના પ્રસંગોનો સમાવેશ પોતાની કૃતિમાં ન કરવાનો પ્રતિના હેતુ આ મૌનના મૂળમાં હોય તો.

પ્રસ્તુત પ્રશસ્તિકારનો ગુજરાતી અનુવાદ વિ. સં. ૧૨૦૮માં પ્રાચ વર્ષનો અનુવાદ શ્રી મણિલાલ નભુભાઈ દ્વિવેદી એવો વાદ કરે છે કે ગઝનીના સામન્ત આક્રમણની વાત મુસલમાનોએ ઉપજાવી કાઢી પણ હોઈ શકે. ભારતમાં મહેમૂદ ગઝની ના પ્રખ્યાત લેખક ય મુસલમાનોએ પણ એનું અનુમાન કરેલું છે, પરંતુ એની સાથે વાસ્તવનું કોઈ કારણ નથી. વિ. સં. ૧૨૨૫માં કુમારપાળે સોમનાથના પાશુપતાચાર્ય ભાવબૃહસ્પતિની પ્રેરણાથી સોમનાથના મન્દિરનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવ્યો.

તે નિમિત્તે આલેખાયેલી સોમનાથની ભાવબૃહસ્પતિની પ્રશસ્તિમા ભીમદેવે પથ્થરનુ મન્દિર બધાવ્યાનુ સ્પષ્ટ કથન છે પહેલાનુ લાકડાનુ મન્દિર મહમૂદે તોડ્યા પછી આ પથ્થરનુ બંધાવ્યુ હોય તેમ કેમ ન બને ? મહમૂદના સમકાલીન અલ્બેરુની ઉપરાન્ત ૧૪મા શતકના પ્રારભમા થઈ ગયેલા શ્રીજિનપ્રભસૂરિ પણ તેમના વિવિધતીર્થકલ્પમા સોમનાથખડનનો ઉલ્લેખ કરે છે આ વિષયમા માળવાના પ્રખ્યાત કવિ ધનપાલનો પણ ટેકો મળે છે એવુ મુનિશ્રી જિનવિજયજીએ "જૈનસાહિત્યસશોધક"ના ત્રીજા ગ્રન્થમા સિદ્ધ કર્યુ છે તે જ દિવસોમા (૧૧મી સદીના અન્ત અને ૧૨મીના પ્રારભમા) થઈ ગયેલા આ કવિએ સ્વરચિત सत्यपुरमण्डनना श्रीमहावीर–उत्साहमा મહમૂદના પરાક્રમની નોંધ કરી છે, જે સોમનાથ આક્રમણને કલ્પિત માનનારને સચોટ જવાબરૂપ થઈ પડે જુઓ તેનો ત્રીજો જ શ્લોક

> भञ्जेविणु सिरिमाल देसु अनु अणहिल्वाडउ
> चड्डावलि सोरहु भग्गु पुणु देउलवाडउ ।
> सोमेसरु सो तेहि भग्गु जणयणआणदणु
> भग्गु न सिरि सच्चउरि वीरु सिद्धत्थह नदणु ॥

અહીં સ્પષ્ટ રીતે કહ્યુ છે કે સિરિમાલ–શ્રીમાલ–ભિનમાલ, અણહિલવાડ (પાટણ), ચડ્ડાવલિ–ચન્દ્રાવતી (આબુની તળેટીમા આવેલુ), સોરઠ, દેલવાડા અને સોમેસરુ–સોમેશ્વર–શ્રીસોમનાથ ભાગ્યા, ન ભાગ્યુ એક સિરિ સચ્ચઉરિ–શ્રીસત્યપુરી–સાચોર હેમચન્દ્રાચાર્ય જેવા સમર્થ લેખકે આવા મોટા બનાવનો નિર્દેશ પણ કર્યા નથી તે માટે ઉપર કારણ આપ્યુ છે દિલ્હીના રાજા વજ્રદેવે ભીમ અને બીજા રાજાઓનો મદદગાર મેળવી, નાસતા મહમૂદના પાછલા લશ્કરને હરાવેલુ અને થાણેશ્વર વગેરે કબજે કરી લીધેના દ્વયાશ્રયના આઠમા સર્ગના શ્લોક ૪૦થી ૧૨૫ સુધી ભીમે સિન્ધુરાજ હમ્મુકને હરાવેલો તેનુ વિસ્તૃત વર્ણન આપેલુ છે વજ્રદેવના સહાયક અન્ય રાજાઓના તુરુષ્કવિજયનુ કથન ઉત્કીર્ણ લેખોમા મળે છે આથી અનુમાન થાય છે કે દ્વયાશ્રયનું આ વર્ણન તે ઉપરના સમૂહવિજયનુ હશે

રાણકદેવી તથા જસમાના પ્રચલિત પ્રસગો પણ ઉપર દર્શાવેલા કારણે જ નહી આપ્યા હોય છતા માલવાવિજયનું વર્ણન તો છે જ, જેને ઉત્કીર્ણલેખોમાના "अवन्तिनाथ" બિરુદથી ટેકો મળે છે અને સિ રાજના જ વિ સ ૧૧૯૬ના દોહદના લેખના સ્પષ્ટ શબ્દો છે કે

> "श्री जयसिंहदेवोऽस्ति भूपो गूर्जरमण्डले ।
> येन कारागृहे क्षिप्तौ सुराष्ट्रमालवेश्वरौ ॥"

અર્થાત્–"ગૂર્જરમણ્ડલમા શ્રીજયસિંહદેવ રાજા છે જેણે સુરાષ્ટ્ર (સૌરાષ્ટ્ર) તથા માલવાના રાજાઓને કારાગૃહમા નાખ્યા છે"

વળી દ્વયાશ્રયના ૧૫મા સર્ગનો ૯૭મો શ્લોક કહે છે કે સૌરાષ્ટ્રમા શત્રુંજય પર્વત પાસે તેણે સિંહપુર (શિહોર) વસાવ્યુ

> "सोऽत्र सौपन्थ्य साकास्य सौतङ्गमिपुरोपमम ।
> स्थान सिंहपुर चक्रे द्विजाना मौनिचित्तिजित् ॥'

અર્થાત્–"તે મૌનિચિત્તિજિત્ (રાજા)એ અહીં (શત્રુંજય પાસે) સૌપન્થ્ય, સાકાસ્ય તથા સૌતગમિ નગરો જેવા (સમૃદ્ધ) સિંહપુરની સ્થાપના કરી"

આ જ સમયે તેણે સિંહસવત્સર પ્રવર્તાવ્યો હશે

શ્લો. ૧૫. માં ભગવાન સોમનાથનું ગુણગાન છે કે

“ અનૃણ્યમનૃણ્ય સર્વભૂમિભૃત્ સ્વં મત સિદ્ધિરાજ ॥

અર્થાત્– હવે પૃથ્વીને અનૃણી કરવા માટે (ભારત) સુવર્ણવૃષ્ટિ વડે તું (સમસ્ત પૃથ્વીભર) સિદ્ધિરાજ થા

તે જ પ્રમાણે વડનગરપ્રાકારપ્રશસ્તિ (વિ. સં. ૧૨૦૮)નો ૧૧મો શ્લોક પણ કહે છે કે

“ યસ્ય સિદ્ધરસમનૃણીકૃતજગત્ત્રીસમાજસિતકીર્તિ–

ર્વૈરી શ્રીજયસિંહદેવનૃપતિઃ શ્રીસિદ્ધરાજોऽભવત્ ॥”

અર્થાત્– જેણે સિદ્ધરસ વડે સમગ્ર પૃથ્વીને અનૃણ કરી, જેની શુભ્ર કીર્તિ ઘણી છે (પ્રસરી છે) તેવા શ્રીજયસિંહદેવ રાજા પછી શ્રીસિદ્ધરાજ બન્યો

આ રીતે વધારે પ્રચલિત થયેલા તેના 'સિદ્ધરાજ' નામ પાછળ આ રહસ્ય છે

સૌરાષ્ટ્રમાંના માંગરોળનો વિ. સં. ૧૨૦૨નો ઉત્કીર્ણ લેખ સિંહસંવત્ ૩૨ આપે છે. બીજો ભીમનું વિ. સં. ૧૨૬૪નું દાનપત્ર સિંહ સં. ૯૬ આપે છે. આ ગણતરી મુજબ વિ. સં. ૧૧૭૦થી સિંહસંવત્ શરૂ થયો. ઘણા પ્રતિષ્ઠિત વિદ્વાનોનું માનવું છે કે આ સંવતનું પ્રવર્તન સિદ્ધરાજના સૌરાષ્ટ્ર–વિજયની સ્મૃતિમાં થયું હશે

સોમેશ્વર (ઈ. સ. ૧૧૭૫–૧૨૫૨)ની કીર્તિકૌમુદી તેમ જ સમકાલીન વિજયસેનસૂરિના રેવંતગિરિરાસુમાં પણ સિદ્ધરાજના ગિરનાર પરના જિનાલયનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ છે

આશાપલ્લી નામના આશાભીલને જીતી કર્ણદેવે કોચરબ દેવીનું મંદિર, કર્ણસાગર તળાવ અને કર્ણેશ્વર મહાદેવનું મંદિર બંધાવી કર્ણાવતી નગરી વસાવેલ તે હકીકત પણ લેખમાં જડતી નથી. આ કર્ણાવતીમાંથી આજનું અમદાવાદ વિકસ્યું. (વિશેષ ચર્ચા માટે જુઓ સ્વ. રત્નમણિરાવનું 'ગુજરાતનું પાટનગર અમદાવાદ')

શાકમ્ભરી (અજમેર)ના રાજા (અર્ણોરાજ) પરની જયસિંહની જીત વિશેના હેમચન્દ્રના મૌન માટે એક એવો ખુલાસો નજર કરી શકાય કે પાછળથી તેને સિદ્ધરાજે પોતાની પુત્રી કાંચનદેવી લગ્નમાં આપેલી. બીજા વિજયોની માફક શાકમ્ભરીવિજયનું સ્પષ્ટ નિરૂપણ પોતે જાણવું કર્યું નથી. તેથી સ્વ. દુર્ગાશંકર શાસ્ત્રી માને છે કે આ મોટો વિજય નહીં હોય. પણ કીર્તિકૌમુદીમાં તો જ્યાં મૂળરાજે આબુના પરમાર ધંધુકરાજને પરાસ્ત કરેલો તેના અનુસંધાન માટે કોઈ કારણ જણાતું નથી. અને આ એક અકસ્માતનો બનાવ, કેમકે ત્યારથી આબુપ્રદેશ ગુજરાતના શાસન નીચે આવ્યો

વળી વઢવાણ નજીક આવેલા ... કાળક્રમ તો કોઈ સ્થળે આપેલો નથી

ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ આ મોટાં દૂષણ ગણાય. પરંતુ આપણે એ ભૂલવું ન જોઈએ કે હેમચન્દ્રાચાર્યનો હેતુ કેવળ ઐતિહાસિક આલેખનનો નથી પણ વ્યાકરણના ઉદાહરણો સ્પષ્ટ રાખી, તે પ્રમાણેનાં વ્યાકરણ વર્ણનો વગેરે થકી, પોતાના આશ્રયદાતા નૃપતિઓનાં ઉજ્જવળ ચરિત્ર મહાકાવ્ય રચવાનો અને તેમ સાથે તેઓના નીતિવિષયક પ્રસંગોને સાંકળી લેવાનો જ છે. એ પણ નોંધવું જોઈએ કે આ દ્વ્યાશ્રયકાવ્ય, પ્રબંધ ચિંતામણિ તથા રાજ-ચરિતો વગેરે દ્વારા પૂર્વેની હકીકત મેળવવા ઇતિહાસવિદ્ એમ ઇતિહાસકારોએ રજૂ કરેલી વિગતો અતિવિશ્વસનીય છે. અપવાદરૂપે અને અલ્પાંશે તો કાવ્યમાં હોય જ. વિજયનું અનુમાન કરનારો અલ્પાંશ સિદ્ધરાજ જેવો પણ પોતાના વિષે યોગિનીઓ પ્રશસ્તિ આશીર્વાદરૂપ આત્મશ્લાઘાનો પ્રચલિત કરે તે પણ સમજી શકાય તેવી વાત છે. હેમચન્દ્ર જેને

રાક્ષસ કહ્યો છે તે ભિલ્લરાજ બર્બરક તે પછી એક જ સૈકામા "બાબરો ભૂત" બની જાય છે તે સોમેશ્વર (ઈ સ ૧૧૭૯–૧૨૬૨)ની કીર્તિકૌમુદીમાના નીચેના ઉદ્ધરણ પરથી સ્પષ્ટ થશે

"श्मशाने यातुधानेन्द्रं बद्ध्वा बर्बरकाभिधम् ।
सिद्धराजेति राजेन्दुर्यो जज्ञे राजराजिषु ॥" २ ३८.

અર્થાત્–" બર્બરક નામના શ્મશાનમાના મોટા ભૂતને બાધીને તે રાજચન્દ્ર રાજાઓની પક્તિઓમા 'સિદ્ધરાજ' બન્યો "

તામ્રપત્રોમા સિદ્ધરાજને बर्बरकजिष्णु એવુ વિશેષણ લગાડાયેલુ હોવાથી આ પ્રસગ બહુ મોટો ગણાતો હોવો જોઈએ

પોતાના વિ સ ૧૨૫૬ના ભાદ્રપદ અમાસ વાર મગળના પાટણના તામ્રપત્રમા ભીમદેવ બીજો પોતાને "अभिनवसिद्धराज" કહેવરાવે છે આ પછીના પણ કેટલાક તામ્રપત્રોમા આ બિરુદ મળે છે આથી સમજાય છે કે માત્ર ૫૦ જ વર્ષમા જયસિંહ સિદ્ધરાજ ચૌલુક્યવશનો અનુકરણીય આદર્શ રાજા ગણાવા લાગેલો

આ કાવ્યમા વર્ણવેલા મૂળરાજના સૌરાષ્ટ્રવિજય તથા તેના જ શાસનકાળ દરમ્યાન ચામુણ્ડરાજના લાટવિજયને સ્વ૦ દુર્ગાશકર શાસ્ત્રી કલ્પિત માને છે, પરન્તુ સ્વ૦ ર૦ સુ૦ મોદીએ આનો સચોટ ઉત્તર આપેલો છે મૂળરાજ પછી ભીમદેવ સુધી કોઈએ સૌરાષ્ટ્ર પર આક્રમણ કર્યાનુ કથન મળતુ નથી, જ્યારે સોમનાથની ભાવબૃહસ્પતિની પ્રશસ્તિમા પણ ભીમદેવે સોમનાથનુ પથ્થરનુ મન્દિર બધાવ્યાનો સ્પષ્ટ ઉલ્લેખ છે, તે આપણે આગળ જોઈ ગયા તે જ રીતે ચામુણ્ડરાજથી કર્ણદેવ સુધીના કોઈ ગુર્જરેશ્વરે લાટ જીત્યાનુ સૂચન ક્યાય મળતુ નથી, જ્યારે કર્ણનુ વિ સ ૧૧૩૧નુ નવસારીનુ તામ્રપત્ર તેની લાટ પરની સત્તાનું સૂચક છે આથી આ પ્રસગોને સત્ય માનવા પડે છે

ઉપર ઉતારેલા સસ્કૃત દ્વ્યાશ્રયના છેલ્લા શ્લોકમા ઋષિઓ ચૌલુક્યચૂડામણિ રાજા કુમારપાલને પૃથ્વીને અનૃણી કરી સ્વકીય સવત્સર-પ્રવર્તન માટે આદેશ – આશીર્વાદ આપે છે त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितના ૧૦મા પર્વના ૧૨મા સર્ગના ૭૭મા શ્લોકમા શ્રી મહાવીરસ્વામીના મુખમા મૂકેલી ભવિષ્યવાણી પણ કહે છે કે

"दाय दाय द्रविणानि विरचय्याऽनृण जगत् ।
अङ्कयिष्यति मेदिन्या स सवत्सरमात्मन ॥"

અર્થાત્ – " તે (કુમારપાલ) દ્રવ્ય આપી આપીને જગતને ઋણમુક્ત કરીને પૃથ્વી ઉપર નિજ સવત્સર આકશે — પ્રવર્તાવશે "

"શ્રી જૈન સત્યપ્રકાશ"ના ૯૩મા અકમા મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજીએ શત્રુજયની ચોમુખજીની ટૂકના મૂળ મન્દિરના દરવાજાની ડાબી બાજુની એક ધાતુપ્રતિમા ઉપરનો લેખ પ્રકાશિત કરેલો, જેમા "श्रीसिद्धहेमकुमार स ४" આપેલી છે હેમચન્દ્રાચાર્યના પોતાના "अभिधानचिन्तामणि" કોશમા એક સ્થળે (૬ ૧૭૧) 'सवत्'નો અર્થ સમજાવતા કહ્યુ છે કે

"यथा विक्रमसवत् सिद्धहेमकुमारसवत्"

આથી વિશેષ પ્રકાશ આ વિષય પર અદ્યપર્યન્ત પડ્યો નથી, પરન્તુ કુમારપાલની નૂતન સવત્સર પ્રવર્તાવવાની તીવ્ર ઇચ્છા ફલીભૂત થઈ હશે, જેને પરિણામે સિદ્ધરાજ, હેમચન્દ્રાચાર્ય અને કુમારપાલ એ ત્રણે વિભૂતિઓના નામથી અકિત આ સવત્સર શરૂ થયો હશે.

[illegible] નથી. [illegible] અને [illegible] [illegible] નથી [illegible] તેમના [illegible] [illegible] બીજી [illegible] [illegible] અને [illegible] નથી. [illegible] (વિ. સં. ૧૩૬૬) [illegible] છે.

[illegible] છે.

આ [illegible] અને [illegible] નથી [illegible] નથી.

સોલંકી રાજવીઓનો ત્યાગધર્મ

શ્રી ચુનીલાલ વર્ધમાન શાહ

ગુજરાતમા રાજ્ય ચલાવી ગયેલા સોલકી વશના રાજવીઓનો સમય ગુજરાત માટે સર્વ પ્રકારના વિકાસ તથા આબાદીનો સમય હતો ધર્મસસ્કારનુ અને વિશેષે કરીને ત્યાગધર્મનુ મહત્ત્વ ગુજરાતને એ કાળમા વિશેષ સમજાયુ એ વશના કેટલાક રાજવીઓએ તો ત્યાગધર્મને આચરણમા મૂકીને ગુજરાતના લોકજીવન પર જે સુદર છાપ પાડી હતી, તે ઇતિહાસમા સુવર્ણાક્ષરે નોધાયેલી રહેશે

આર્યસસ્કૃતિમા પરાપૂર્વથી માનવજીવનના પ્રેય અને શ્રેયની વિચારણા થતી આવી છે આર્યોએ જે જે ધર્મો સ્થાપ્યા તેમા એ વિચારણા મુખ્યતયા પ્રવર્તતી છે અને તેમાથી જે સપ્રદાયો નીકળ્યા તેઓએ પણ એ જ વિચારણાપૂર્વક પ્રેય તથા શ્રેય પ્રત્યે તરતમ દૃષ્ટિ રાખની છે વૈદિકોની વિચારણાનો જે કાઈ ઇતિહાસ આપડે છે તેમા એક વાર પ્રેયદૃષ્ટિની વિશેષતા દેખાય છે તો બીજી વાર તેમાથી શ્રેયદૃષ્ટિ ઉત્પન્ન થઈ હોય એવુ ય માલૂમ પડે છે વૈદિકોની પૂર્વે શ્રેયદૃષ્ટિ નહોતી એમ કહી શકાય તેમ નથી ભારતમા આવેલા આર્યોમા એની બે શાખા હતી તેના પુરાવા મળે છે પ્રેયદૃષ્ટિમાથી બહુધા ઐશ્વર્યવાદ અને દેવોપાસનાવાદ વિકસ્યા છે અને શ્રેયદૃષ્ટિમાથી આત્મકલ્યાણસાધના અથવા ત્યાગવાદ વિકસ્યો છે એ ત્યાગવાદનુ બીજ જૈન ધર્મમા રહેલુ છે બૌદ્ધ ધર્મમા પણ તે જ છે પૌરાણિક વૈદિક માર્ગમા દેવોપાસનાનુ બીજ રહેલુ છે બેઉના આત્યતિક સ્વરૂપો જ્યારે જ્યારે સમાજના સમધારણમા ગૂચવણ ઉત્પન્ન કરનારા લાગ્યા છે, ત્યારે ત્યારે બેઉનો સમન્વય કરનારા માર્ગો યોજાયા છે વૈદિક ધર્મમા એ સમન્વયને પ્રબોધનાર ઉપનિષદો છે જૈન ધર્મ ત્યાગમાર્ગમા દૃઢ રહ્યો છે, પણ તેના આત્યતિક સ્વરૂપે તેના આરાધકોને ઓછા કરી નાખ્યા છે, અને એવો કાળ આવી ગયો છે કે જ્યારે આત્મકલ્યાણરૂપ શ્રેયની સાથે સસારના તથા સમાજના હિતરૂપ પ્રેયની આરાધનાને વિસારી મૂકવાનુ પાલવશે નહિ

ગુજરાતમા રાજ્ય કરી ગયેલા સોલકી રાજવીઓએ રાજશાસન ચલાવતા છતા ત્યાગધર્મના અવલબનનુ સુદર દૃષ્ટાત પૂરુ પાડ્યુ છે એમ તો મગધમાથી પણ એવા જ દૃષ્ટાતો મળે છે, પણ તે ઐતિહાસિક કરતા પૌરાણિક વિશેષ છે સોલકીવશના રાજવીઓની ત્યાગધર્મની આરાધનાના પુરાવા ઇતિહાસમાથી સારી પેઠે ઉપલબ્ધ થાય છે

એ સોલકી રાજવીઓનો આદિ પુરુષ મૂળરાજ હતો મૂળરાજે ચાવડા વશના પોતાના મામાનુ રાજ્ય પડાવી લીધુ હતું તેનામા જાણે પોતાના પૂર્વજોના પ્રદેશ કાન્યકુબ્જના ઋષિઓના જીવનસસ્કાર ઊતર્યા હોય તેમ તેણે રાજશાસન ચલાવવાની સાથે સસારત્યાગી તાપસો, ઋષિઓ, બ્રહ્મચારીઓની સપર્કસાધના કર્યા કરી હતી તે શૈવધર્મ પાળતો અને જૈન ધર્મને સારુ માન આપતો પ્રજાને સસ્કારદાન કરવાનુ તેનુ મોટામા મોટુ કાર્ય એ હતુ કે તેણે ઉત્તર પ્રદેશમાથી ઋષિઓને—બ્રાહ્મણોને નિમત્રી, તેમને ભૂમિ, ધન અને પશુઓનુ દાન કરી, નાના—મોટા શિવાલયો બધાવી, ગુજરાત-સૌરાષ્ટ્રમા જ્ઞાન સસ્કારની પરબો સ્થાપી હતી એ કાર્ય પાછળ તેણે પુષ્કળ ધન વાપર્યુ હતુ તે કાળના મન્દિરો તથા તાપસોના આશ્રમો સસ્કારધામો તથા ગુરુકુળો સમા હતા મૂળરાજે દાનશાળાઓ સ્થાપીને રાજ્યમા દાનવ્યવસ્થાનો અધિકારી પણ નીમ્યો હતો તેના કેટલાક દાનપત્રો ઉપલબ્ધ થયા છે

મૂળરાજે અનેક પરાક્રમો કરીને રાજ્ય જમાવ્યું હતું. તેમ રાજ્યનું ધન પ્રજાના શ્રેયકાર્યોને માટે વાપરીને ધર્મનિષ્ઠાનું દર્શન પોતાના વંશજોને માટે મૂક્યું હતું. એવું કહે છે કે ૫૫ વર્ષે તેણે રાજ્યનો ત્યાગ કરી, શ્રીસ્થળમાં સરસ્વતી તીરે રહી પ્રભુભક્તિમાં શેષનાં વર્ષો ગાળ્યાં હતાં.

મૂળરાજની પછી ગુર્જરેશ્વરની ગાદી પર જે જે સોલંકી વંશના રાજપુરુષો આવ્યા તેઓમાં ચામુંડરાજની આરાધના કેટલા કાળ સુધી અખંડ સ્વાભાવિક બની હોય તેમ માનું છું. તેની પછી ચામુંડરાજ બેઠો. તે શૈવ ધર્મ પાળતો, છતાં એક જૈન આચાર્યને તેણે ગુરુપદે સ્થાપી તેમના ઉપદેશનો લાભ લીધો હતો. તેણે ગાદીએ બેસી ૧૩ વર્ષ રાજ્ય કરી ત્યાગનો માર્ગ લીધો હતો, એટલે તેના પુત્ર વલ્લભરાજને ગાદી પર બેસાડવામાં આવ્યો હતો. ચામુંડરાજમાં કામવાસના વિશેષ હતી, એટલે પોતાની બહેનના આગ્રહથી તેણે તીર્થયાત્રા માટે પ્રયાણ કર્યું હતું એમ ઇતિહાસ પરથી જણાય છે. રસ્તામાં તેને માળવાના પરમાર રાજાએ તેની અવગણના કરી હતી, તેથી તે પાછો ફર્યો હતો, અને તેના પુત્રોને માળવાનું વેર લેવા પછી તેનો આદેશ આપ્યો હતો. પરંતુ માર્ગમાં જ વલ્લભરાજ મૃત્યુ પામ્યો હતો. તેણે શુક્લતીર્થમાં તપસ્યા કરતાં દેહત્યાગ કર્યો હતો.

ચામુંડરાજની પછી, વલ્લભરાજના મૃત્યુથી, દુર્લભરાજ ગુર્જરેશ્વર બન્યો. તેણે લોકોના લાભ માટે દુર્લભ સરોવર બંધાવ્યું જેને નવો ઘાટ આપી સિદ્ધરાજે સહસ્રલિંગ તળાવ બનાવેલું. દુર્લભરાજે પોતાના ભાઈ નાગરાજના પુત્ર ભીમદેવને રાજસિંહાસન પર સ્થાપિત કરીને સંન્યાસ અંગીકાર કર્યો હતો.

ભીમદેવ પ્રતાપી ગુર્જરેશ્વરોમાંનો એક હતો. તેના સમયમાં મહમૂદ ગઝનીએ તોડેલું સોમનાથનું શિવાલય તેણે ફરી બંધાવ્યું હતું. તેનું ગૌરવ પાછું વાળીને રાજ્યવિસ્તાર કર્યો હતો અને રાજ્યવિસ્તાર પણ કર્યો હતો. ભક્તિભાવમાં, દાનો આપવામાં તેણે દાનનો ઉપયોગ સારી પેઠે કર્યો હતો. અવસ્થા થતાં તેણે વાનપ્રસ્થ આશ્રમનો નિશ્ચય કર્યો અને તે પૂર્વે મોટા પુત્ર ક્ષેમરાજનો રાજ્યાભિષેક કરવાનો તેનો મનોરથ હતો પરંતુ ક્ષેમરાજ તો યુવાન વયથી વૈરાગ્ય ધરાવતો હતો. તેણે રાજ્ય લેવાની ના કહી અને સંન્યાસ લઈ દધિસ્થલી પાસે આશ્રમ સ્થાપી ત્યાં નિવાસ કર્યો. આથી ભીમદેવે બીજા પુત્ર કર્ણદેવનો રાજ્યાભિષેક કરી પોતે વાનપ્રસ્થ ગ્રહણ કર્યું.

કર્ણદેવ ભાગ્યશાળી ગુર્જરેશ્વર હતો. તેણે કર્ણાવતી નગર વસાવ્યું હતું જે હાલનું અમદાવાદ છે. તેણે બાળક નાની વયના પુત્ર જયસિંહને રાજ્યાભિષેક કરી સ્વર્ગગમન કર્યું હતું એમ ઇતિહાસ કહે છે.

સિદ્ધરાજ જયસિંહની નાની વયમાં તેની માતા મીનળદેવીએ રાજ્યનો કારભાર ચલાવ્યો હતો. [illegible] કુમાર એવો પરાક્રમી નીવડ્યો તેથી જ તે સિદ્ધરાજ પણ બન્યો હતો. સિદ્ધહેમ વ્યાકરણ, સહસ્રલિંગ સરોવર અને રુદ્રમહાલય આદિ તેની કીર્તિનાં સ્મારકો છે. પરંતુ કર્ણદેવથી ઊતરી આવેલી રાજવીઓની કુળધર્મની આરાધના સિદ્ધરાજે ન કરી. તે અપુત્ર મરણ પામતાં ક્ષેમરાજનો વંશજ કુમારપાલ ગાદીએ આવ્યો.

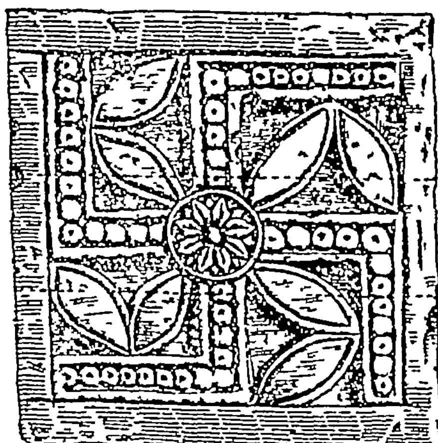
કુમારપાલ શૈવ અને જૈન ધર્મનો ઉપાસક હતો, એમ તેણે કરેલાં દેવાલય ધર્મકાર્યો પરથી જણાય છે. તેણે શત્રુંજયની યાત્રા કરી હતી તેમ સોમનાથની યાત્રા પણ કરી હતી. બંને ધર્મનાં તીર્થસ્થાનોનો તેણે ઉદ્ધાર કર્યો હતો. તેના ઉપર હેમચંદ્રાચાર્યના ઉપદેશનો એટલો પ્રભાવ પડ્યો હતો કે તે નિયમપૂર્વક જૈન ધર્મનો આરાધક રહ્યો હતો એમ માનવું પડે છે. કુમારપાલની ધર્મનિષ્ઠા અનુપમ હતી. તેણે સર્વ ધર્મોના ઉપદેશ લોકોને ધર્મપરાયણ બનાવવા અને નિર્વ્યસની બનાવવામાં સુધી [illegible]

કર્યું હતુ તેણે ધનની, સુખ વિલાસની અને અનેક સસારી વસ્તુઓની આસક્તિ વ્રતગ્રહણ દ્વારા છોડી હતી તે મૃત્યુ સુધી રાજા રહ્યો પરંતુ તેનુ જીવન સયમવડે શ્રેયોમાર્ગનુ આરાધક નીવડ્યુ હતુ એમ જણાઈ આવે છે

કુમારપાળ પછીના સોલકી વશના રાજવીઓમા ત્યાગધર્મનુ આરાધન ઉત્તરોત્તર ઘટતુ ચાલ્યુ હતુ માહોમાહેના સઘર્ષણથી તેઓ ઘસાવા લાગ્યા હતા અને જીવનકલહમા દટાઈ રહેવાથી સોલકી વશની ઊતરતી કળા આવી હતી

રાજા રાજ્ય કરે, યુદ્ધો કરે, હિંસા કરે, પીડન કરે અને રસથી અનેક પ્રકારના સુખો માણે, એવો રાજવી વૃદ્ધ થાય, શક્તિ ઘટે, ઇંદ્રિયો શિથિલ બને, વિલાસની તૃપ્તિ અનુભવે અને પછી પુત્રને રાજ્ય સોંપી વાનપ્રસ્થ થાય, તાપસ બને, કિંવા સન્યાસી બની એકાકી જીવન ગાળે અને છેવટે મૃત્યુ પામે તે શુ બહુ મહત્ત્વની ઘટના છે ? પહેલા પાપ કરવુ અને પછી પાપના પ્રક્ષાલનના સતકાર્યો કરવા એ શુ દભાચરણ નથી ? આવા પ્રશ્નો સોલકી રાજવીઓ પૂરતા ઉપસ્થિત થતા નથી, તે પૂર્વે અને તે પછી થયેલા અનેક રાજવીઓ અને ઇતર વ્યક્તિઓને તે સ્પર્શ છે, કે જેમણે ઉત્તર જીવનમા વાનપ્રસ્થ થવાનુ કે સસાર ત્યજી તપોમય જીવન ગાળવાનુ ઇષ્ટ માન્યુ હતું

ત્યાગ ત્યારે જ ત્યાગ છે કે જ્યારે માનવી સિદ્ધિ-સમૃદ્ધિ સપાદન કરનાર, પરાક્રમી કે વીરત્વશાલી હોય અને એ તરફ આસક્તિ ન રાખતા તેનો ત્યાગ કરવા તત્પર બને ત્યાગનુ એ ઉચ્ચ બિંદુ છે અસમર્થ કે અશક્તિમાનનો ત્યાગ તે ત્યાગના નામને યોગ્ય જ લેખાય, તે નિર્વીર્યત્વ કહેવાય સ્વાભાવિક રીતે રજ તમ-સત્ત્વના સમિશ્રણરૂપ મનુષ્ય જીવનમા પોતાના તેજને સ્ફુરાવવા લાગે છે એ સ્ફુરણા દ્વારા કરેલી સિદ્ધિ કે પ્રાપ્ત કરેલી સમૃદ્ધિ પરની તેની આસક્તિ ત્યારે જ છૂટે છે—ઘટે છે—કે જ્યારે તેનો સત્ત્વગુણ ઉદયમા આવે છે, પ્રિય વસ્તુની પ્રાપ્તિ કરતા પ્રાપ્ત વસ્તુ પ્રત્યેનો રાગ ઘટે છે અને તેનો ત્યાગ કરવામા રસ જાગે છે, એ રીતે તેને શ્રેયસ્નો—આત્મકલ્યાણનો પથ સાપડે છે પૂર્વકાળે જે જે રાજવીઓએ—જૈનો કે જૈનેતરોએ—પરાક્રમો કર્યાં છે અને પછી સસારનો કે સુખસમૃદ્ધિનો ત્યાગ કર્યો છે તે પ્રેય અને શ્રેયનો સમન્વય છે અને આત્મકલ્યાણાર્થે કરાતા એકાત સસારત્યાગ કરતા ઓછો મહત્ત્વનો નથી



યક્ષપૂજાની ઐતિહાસિકતા

શ્રી કનૈયાલાલ ભાઈશંકર દવે

વૈદિક, બૌદ્ધ અને જૈન એ ત્રણે સંપ્રદાયોમાં યક્ષપૂજન સ્વીકારાયું છે. તેની ઐતિહાસિકતા તપાસતાં તે અતિ પ્રાચીનકાળથી ઊતરી આવી હોવાનું જણાય છે. યક્ષો પ્રજાવર્ગોના પરિવારમાં સમાવેશ પામ્યા હોઈ તેમને દેવોના અનુચરો તરીકે કેટલેક સ્થળે ગણાવ્યા છે. દેવતાઓની માફક યક્ષો, ગંધર્વો, અને વિદ્યાધરોના સ્વતંત્ર વર્ગો હોવાનું ધર્મશાસ્ત્રકારોએ માન્યું છે. તેમને દેવોના વર્ગમાં [illegible] કરવામાં આવ્યા છે, તેમના સેવકો તરીકે શાસ્ત્રકારોએ કહ્યા છે. વૈદિક સંપ્રદાયમાં તો વેદથી આરંભી પુરાણો વગેરે ગ્રંથોમાં, તેમના વિવિધ ઉલ્લેખો રજૂ કરતા [illegible] થી યક્ષો, રાક્ષસો અને ગંધર્વોને એક જ કોટિમાં મૂક્યા છે. આથી યક્ષો દેવોથી ઊતરતી કોટિના હતા એમ સ્પષ્ટ જણાય છે. ભગવદ્ગીતામાં પણ યજન્તે સાત્ત્વિકા દેવાન્ યક્ષરક્ષાંસિ રાજસાઃ ॥ એ ઉક્તિ અનુસાર, રાજસી પ્રકૃતિવાળા મનુષ્યો યક્ષો રાક્ષસો વગેરેની ઉપાસના કરતા હોવાનું ભગવાન્ કૃષ્ણે અર્જુનને જણાવ્યું છે.[1]

બૌદ્ધ સંપ્રદાયમાં તો યક્ષો પ્રત્યે લોકો પૂજ્યભાવ રાખતા હોવાના ઉલ્લેખો મળે છે એટલું જ નહિ, પણ કેટલાક યક્ષો બૌદ્ધમતવાદી નહિ હોવાનું સુત્તનિપાતની એક આખ્યાયિકા ઉપરથી જણાય છે. બુદ્ધ ભગવાન જ્યારે આળવક યક્ષના ભવનમાં ગયા ત્યારે તેમણે આળવક યક્ષના પ્રશ્નોનું સમાધાન કરી તેને બૌદ્ધ બનાવ્યો હોવાનું તે પ્રકારે નોંધ્યું છે.[2] અંગુત્તરનિકાય અને [illegible] યક્ષો અને તેના સ્થાનોની વિગતવાર માહિતી મળી આવે છે.[3] સુત્તનિપાતમાં પણ યક્ષોનાં સ્વતંત્ર મંદિરો હોવાના ઉલ્લેખો નોંધાયા છે.[4]

જૈન સંપ્રદાયમાં યક્ષપૂજન પ્રાચીનકાળથી પ્રચારમાં આવી હોવાનું જણાય છે. પ્રત્યેક તીર્થંકરોને સ્વતંત્ર યક્ષો હોવાનું રૂપમંડન, નિર્વાણકલિકા, અને પ્રતિષ્ઠાસારસંગ્રહ વગેરે ગ્રંથોમાં જણાવ્યું છે.[5] આથી જ દરેક તીર્થંકરની પ્રતિમાના પરિકરોમાં યક્ષો અને શાસનદેવીઓની મૂર્તિઓ, ખાસ કરીને [illegible] આવે છે. તીર્થંકરના યક્ષો સિવાય પૂર્ણભદ્ર, મણિભદ્ર, શાલિભદ્ર, સુમનભદ્ર, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] અને [illegible] વગેરે યક્ષોના નામ કેટલાક જૈન ધર્મશાસ્ત્રોમાંથી મળે છે. અંતગડદસામાં મોગ્ગરપાણિ, સુદરિસણ, [illegible], અને [illegible] ના [illegible] નોંધાયા છે, [illegible] મથુરામાં તથા મોગ્ગરપાણિનું જૈન રાજગૃહમાં હોવાનું નોંધ્યું છે. [illegible] આખ્યાયિકા નોંધતાં આ જ પ્રકાર નોંધે છે કે, [illegible] અને જ્યારે જરૂર પડે ત્યારે, તે પોતાના ઉપાસક [illegible] ને પ્રશ્નો પૂછી, તેમનું ભાવિ જણાવતો લોકોને કહેતો હતો

---

1 ભગવદ્ગીતા અ ૧૭ શ્લો
 સુત્તનિપાત આળવક સુત્ત
 અંગુત્તરનિકાય ૧ ૧ ૪ [illegible] પૃ ૮૮
૪ સુત્તનિપાત [illegible]
 નિર્વાણકલિકા [illegible] પૃ ૧ ૫૧
૫ [illegible] પૃ ૧૪
 [illegible] પૃ ૩૧

આચાગગ સૂત્રકારે મથુગમા ભૂતગુહા નામે યક્ષાયતનની નોંધ લેતા, તે આચાર્ય આર્યરક્ષિતે તેમા કેટલોક વખત નિવાસ કર્યો હોવાનુ જણાવ્યુ છે[૮] અતકૃતદશાસૂત્ર દ્વારકા પાસે નદનોદ્યાનમા સુરપ્રિય યક્ષના મદિરની નોંધ લે છે[૯] વઢવાણ પાસે શૂળપાણિયક્ષના ઉપસર્ગની સ્થાપના છે આથી પૂર્વકાળમા અહીં શૂળપાણિયક્ષનુ સ્થાન હશે, એમ તો જરૂર લાગે છે આજે પણ વઢવાણ શહેરની બહાર શૂળપાણિયક્ષની દેરી મોજૂદ છે તેવી જ રીતે શૌરિપુરમા સાગબરયક્ષના મદિરની નોંધ પાક્ષિક સૂત્રકારે આપી છે[૧૦] આનદપુર(હાલનુ વડનગર)ની અદર યક્ષપૂજા સારી રીતે પ્રચલિત હતી, એમ આવશ્યક સૂત્રમા જણાવ્યુ છે[૧૧] ઈ૦ સ૦ ના પાચમા-છઠ્ઠા સૈકામા રચાયેલ, વાચક સઘદાસગણિની વસુદેવહિંડીમાથી સુરૂપ અને સુમનસ યક્ષોની નોંધ મળે છે[૧૨] આ બધા પુરાવાઓ જૈન સપ્રદાયમા યક્ષપૂજાની ઐતિહાસિકતા વ્યક્ત કરતા હોઈ, તેમા જણાવેલા બધા યક્ષો ઉપાસ્યદેવો તરીકે તે કાળે પ્રચલિત હતા કે કેમ, તેનો સ્પષ્ટ જવાબ આપવો મુશ્કેલ છે છતા કેટલાક યક્ષોની ઉપાસના તત્કાલીન સમાજમા વહેતી હતી એમ પ્રાપ્ત ઉલ્લેખો ઉપરથી સમજી શકાય તેમ છે

આ સિવાય ઐહિક કામનાઓ પરિપૂર્ણ કરનાર દેવ તરીકે વધુ માન્ય બનેલ મણિભદ્રયક્ષની ઉપાસના જૈન સપ્રદાયમા સારી રીતે પ્રચાર પામી છે વૈદિક અને બૌદ્ધ સપ્રદાયોમા પણ, મણિભદ્રને યક્ષરાટ્ અર્થાત્ યક્ષોના અધિરાજ તરીકે જણાવતા, તેની ઉપાસના માટે વિધિવિધાનો રજૂ કર્યા છે યક્ષોનો અધિપતિ કુબેર ગણાતો હોવા છતા તેઓનો આદ્યપુરુષ મણિભદ્ર હોવાનુ હિંદુ ધર્મના પુરાણો કહે છે કશ્યપે સારી સૃષ્ટિનુ નવસર્જન કર્યું ત્યારે, ખશા નામની પત્નીથી રજતનાભ નામે પુત્ર થયો આ રજતનાભ મણિભદ્રનો પિતા હોવાનુ વિષ્ણુધર્મોત્તર પુરાણમા જણાવ્યુ છે[૧૩] પુરાણકાર યક્ષગણનો વિસ્તાર મણિભદ્ર અને તેના ભાઈ પૂર્ણભદ્રથી થયો હોવાનુ સૂચવતા તે બધા પુણ્યજન યક્ષો થયા હોવાનુ કહે છે આથી મણિભદ્ર યક્ષગણનો આદિ પૂર્વજ હતો એમ પુરાણોના આધારે જાણવા મળે છે મહાભારત કાળે પણ મણિભદ્રયક્ષની ઉપાસના જાણીતી હતી દમયતી જ્યારે એકલી નિ સહાય દશામા વનમા ભૂલી પડી ત્યારે તેને એક સાર્થવાહનો ભેટો થયો આ સાર્થવાહ દમયતીની વિતક વાર્તા સાભળી તેના પ્રત્યે અનુકપા પ્રદર્શિત કરતા, મણિભદ્રયક્ષ પ્રસન્ન થાઓ, એવો આશીર્વાદ આપે છે[૧૪] મોટે ભાગે સાર્થવાહો વ્યાપારી વૈશ્યો હોય એવી સામાન્ય માન્યતા છે વૈશ્યોમા મણિભદ્રની ઉપાસના શ્રદ્ધેય બની હોવાથી, તે કાળે પણ વ્યાપારીવર્ગમા મણિભદ્ર યક્ષ પ્રત્યે વધુ પૂજ્યભાવ સેવાતો હોવાનુ, અપરોક્ષ રીતે આમાથી સૂચન મળે છે

બૌદ્ધ સપ્રદાયમા કુબેરયક્ષને ઝભલ તરીકે ઓળખવામા આવે છે તેની ઉપાસના માટે સ્વતત્ર વિધિવિધાનો અને અનુષ્ઠાનો બૌદ્ધ તત્રગ્રથોમા જણાવ્યા છે આ ઝભલ અર્થાત્ કુબેરના અનુષ્ઠાનમા મણિભદ્ર

૮ આચારાંગસૂત્ર ચૂર્ણિ પા ૧૩૧

૯ અતકૃત દશાસૂત્ર પા ૧

૧૦ પાક્ષિકસૂત્ર યશોદેવસૂરિની વૃત્તિ પા ૬૭

૧૧ આવશ્યક સૂત્રચૂર્ણિ પા ૩૩૧

૧૨ વસુદેવહિંડી ગુ ભાષાતર ડૉ ભોગીલાલ સાંડેસરા પા ૪૪૧-૧૦૮

૧૩ कश्यपस्य तु या पत्नी खसा नाम्नी स्वयेरिता ।
यस्या पुत्री महात्मानौ कथितौ यक्ष राक्षसौ ॥२॥ विष्णुधर्मोत्तर-पु ख १ अ १३७

૧૪ મહાભારત, વનપર્વ, નલોપાખ્યાન

તથા પૂર્ણભદ્રને કુબેરના અગ્રભાગે બેસાડવાનું આપનભાગમાં જણાવ્યું છે.[૧૫] મણિભદ્ર યક્ષોના આદિપુરુષ હોવા છતાં, તે કુબેરનો અનુચર–સેવક હતો એમ અનેક પુરાણોમાં નોંધ્યું છે. આ પરંપરાને અનુસરી, જૈનધર્મના અનુશાસનમાં મણિભદ્રને તેના સેવક તરીકે સ્થાન મળ્યું હશે એમ માનવાને કારણ મળે છે. એટલું જ નહિ, પણ બૌદ્ધ સાહિત્યમાં, મણિભદ્ર કુબેરના પરિવાર દેવ તરીકે સુપ્રસિદ્ધ હતા એમ સ્પષ્ટ જણાય છે. મણિભદ્રના સ્વતંત્ર મન્દિરો પણ તે કાળે વિદ્યમાન હોવાની નોંધ મળે છે. મહામાયૂરીના કથન મુજબ તેમનો સ્વતંત્ર સ્થાનક તે સમયે પદ્માવતીમાં હતો.[૧૬] સૌથી પ્રાચીન પવાયાથી પ્રાપ્ત મણિભદ્રની એક શિરોભગ્ન પ્રતિમા આજે પણ ગ્વાલિયર મ્યુઝિયમમાં મોજૂદ છે. તેની નીચે બ્રાહ્મી લિપિમાં કોતરેલ લેખના આધારે આ પ્રતિમા શિવનંદીના ગોષ્ઠ વર્ગે પ્રતિષ્ઠિત કરી હોવાનું જાણવા મળે છે.[૧૭] આથી તે ઈ. સ. ના પહેલા સૈકા જેટલી પ્રાચીન હોવાનું વિદ્વાનો એ અનુમાન્યું છે.

જૈન સાહિત્યમાં તીર્થંકરોના યક્ષો સિવાય અન્યત્ર ગ્રંથોમાં મણિભદ્રનું સ્થાન અનન્ય હોવાનું સમજાય છે. ચૈત્યવંદનાઓ પરિપૂર્ણ કરનાર, એક ઉપાસ્ય દેવ તરીકે તેની ઉપાસના માટે અનુષ્ઠાનવિધિઓ પણ રચાયા છે. વાચક સંઘદાસગણિની વસુદેવહિંડીમાં, પ્રદ્યુમ્ન અને શાંબના પૂર્વજન્મની આલોચના કરતાં, તેઓ બન્ને આગલા જન્મમાં મણિભદ્ર અને પૂર્ણભદ્ર નામના શ્રેષ્ઠી હતા એવો ઉલ્લેખ છે.[૧૮] જો કે મણિભદ્રયક્ષ, અહીં પ્રદ્યુમ્નના પૂર્વ જન્મના મણિભદ્ર શ્રેષ્ઠી તરીકે અભિપ્રેત નથી. છતાં મણિભદ્ર અને પૂર્ણભદ્ર નામોનું સામ્ય વિચારતાં જૈન, વૈદિક અને બૌદ્ધ એમ ત્રણે સાહિત્યોમાં મણિભદ્ર એક અગ્ર પુરુષ તરીકે વિખ્યાત બન્યા હોવાનું તેની લોકપ્રિયતા જણાવે છે. જૈનાચાર્યોના દેવતા ઉપાસનામાં આજે પણ મણિભદ્રયક્ષના સ્થાનો જોવામાં આવે છે. તપાગચ્છના તો તેઓ મુખ્ય વીર ગણાતા હોઈ, રચયિતાઓએ મણિભદ્ર યક્ષને તેમને તપાગચ્છ રક્ષક તરીકે નિરૂપ્યા છે.[૧] આમ ભારતની મુખ્ય ધર્મધારાઓમાં સુપ્રસિદ્ધ બનેલ મણિભદ્રયક્ષ, એક વિશિષ્ટ દેવ તરીકે જૈન સમાજમાં ઉપાસ્ય બન્યા હતા એમ સમજાય છે. તેટલું જ નહિ પણ લક્ષ્મીદાતા અને કાર્યસિદ્ધિ આપનાર દેવ તરીકે તેમની ઉપાસના પ્રાચીન સમયમાં ઘણી લોકપ્રિય થઈ હતી એમ ઉલ્લેખો મળે છે.

વિવિધતીર્થકલ્પમાં જિનપ્રભસૂરિએ શત્રુંજય પર્વતનું પાપપવિત્ર માહાત્મ્ય આલેખેલું છે. તેમાં આ તીર્થના રક્ષક કપર્દિયક્ષનો પણ સ્વતંત્ર કલ્પ રચતા, આ યક્ષનું ખાસ સ્થાન હોવાનું સમજાય છે. આ કપર્દિયક્ષની ઉપાસના [illegible] પૂર્વે અહીં એક શરૂઆત કરી હતી.[૧] આ સિવાય ધર્મઘોષસૂરિએ ધર્મસ્તુત નામના શત્રુંજયકલ્પવૃત્તિમાં, કપર્દિયક્ષોત્પત્તિ જણાવતાં તે કેવી રીતે જૈનધર્મીઓની જેમ શત્રુંજય પર્વત ઉપર યક્ષ બન્યો તે જણાવ્યું છે.[૧૧] આ બધા ગ્રંથોમાં તેને મદ્યપહતક, ગામના પટેલ તરીકે વર્ણવ્યા, તે મદ્યપાન વગેરે નિંદ્ય આદતો સેવતો હતો. જેને કોઈ મુનિવરે

---

૧૫ [illegible] ૧, [illegible] પૃ. ૧

૧૬ મહામાયૂરી [illegible] પૃ. ૬

૧૭ [illegible] ૧૯૧૫ [illegible] પૃ. ૨ [illegible]

૧૮ વસુદેવહિંડી [illegible] પૃ. ૧૦૮

૧૯ [illegible] પૃ. ૩૪
વિવિધતીર્થકલ્પ કપર્દિયક્ષકલ્પ

૨૧ [illegible] પૃ. [illegible]

પ્રબોધ આપી ભગવાન જિનેશ્વરનો મહાન ભક્ત બનાવ્યો તે કાળધર્મ પામતા અહીં શેત્રુંજય પર્વત ઉપર યક્ષ થયો અને આ મહાતીર્થના રક્ષક તરીકે[૨૨] સ્થાન પામ્યો આ જ આખ્યાયિકા પુરાતન પ્રબંધ સંગ્રહમા નોંધાઈ છે જેમા તેને કોળી જણાવ્યો છે કાર્પદયક્ષની આખ્યાયિકા ગમે તે હો, પરંતુ પ્રભાવક યક્ષ તરીકે પૂજાતા અને, ભગવાન્ કૃષ્ણ જેવાએ જેની ઉપાસના કરી હોય, તે આવો શુદ્ર આત્મા ત્યા પુજાતો હોવાની સભાવના માટે શકા રહે છે છતા એટલું તો સ્પષ્ટ છે કે કપર્દિયક્ષ પ્રત્યે જૈન સપ્રદાયમા પૂર્વકાળથી પૂજ્યભાવ હતો એટલુ જ નહિ, પણ સઘાધિપતિ મહામાત્ય વસ્તુપાળે આ યક્ષનો પ્રાસાદ શત્રુંજય પર્વત ઉપર બંધાવ્યો હતા પુરાતન પ્રબધસગ્રહમા તેના માટે જણાવ્યુ છે કે, એક વખત શત્રુંજય પર્વત ઉપર વસ્તુપાળે કપર્દિયક્ષનો પ્રાસાદ બંધાવવાનુ શરૂ કર્યું જ્યા જ્યા તેઓ પ્રાસાદ બધાવતા, ત્યા ત્યા તેમને ભૂમિગત–નિધિ–દ્રવ્ય પ્રાપ્ત થતુ તે જ પ્રમાણે આ પ્રસાદનુ કામ શરૂ કરતા, પાષાણો ખોદવા માડ્યા ત્યારે, એક પાષાણશિલા નીચે, મોટો સર્પ લોકોના જોવામા આવ્યો પરતુ મત્રીશ્વરે ત્યા આવી જોયુ તો, તે અમૂલ્ય રત્નમડિત એકાવલી હાર હતો તેમણે બધાના દેખતા તે હાર ઉપાડી લીધો અને કપર્દિયક્ષની અનન્ય ભાવે સ્તુતિ કરતા, નીચે પ્રમાણે શ્લોક ઉચ્ચાર્યો

चिंतामणिं न गणयामि न कल्पयामि, कल्पद्रुम मनसि कामगविं न वीक्ष्ये ॥
ध्यायामि नो निधिमधीनगुणातिरेकमेक कपर्दिनमहर्निशमेव सेवे ॥ १ ॥

ત્યારપછી તેમણે ત્યા કપર્દિયક્ષનો પ્રાસાદ બધાવ્યો[૨૩] આમ જૈન સપ્રદાયમા કપર્દિયક્ષ અતિ પ્રાચીનકાળથી એક પરિવાર દેવ તરીકે પૂજ્ય મનાય છે આ સિવાય શત્રુંજય પર્વત ઉપર મસાલીવાળા દેરાસરની પાસે એક દેરીમા કવડયક્ષનુ સ્થાન છે આનુ મૂળ નામ કડવક હશે પરતુ પાછળથી લોકજીભે કવડ નામ ચડી ગયુ હોય એમ મારુ માનવુ છે આ બધા ગ્રથસ્થ પુરાવાઓ અને પ્રાપ્ત યક્ષ પ્રતિમાઓ ઉપરથી જૈન સપ્રદાયમા યક્ષની ઉપાસના અતિ પ્રાચીનકાળથી ઊતરી આવી હોવાનુ સમજાય છે યક્ષપૂજાનો પ્રચાર જૈન સપ્રદાયમા કોણે અને ક્યારે દાખલ કર્યા, તેની નિશ્ચિત તવારીખ કોઈપણ ગ્રંથમાથી મળી આવતી નથી પરંતુ ભારતમા તો આ પ્રવાહ ઠેઠ પાણિનિના સમયથી ચાલુ હોવાનું જાણવા મળે છે યક્ષોના અધિપતિ કુબેરના મદિરમા શખ, તૂણવ વગેરે વાદ્યો વગાડવાનુ મહાભાષ્યમા પતજલીએ નોંધ્યુ છે[૨૪] ભવભૂતિના માલતીમાધવમા યક્ષોપાસનાના ઉલ્લેખ આવતા હોઈ, તે કાળે યક્ષમદિરો વિદ્યમાન હશે એમ જરૂર લાગે છે અજંટાના ગુફામદિરો તથા સાચી અને ભરહુતના તોરણો, વેદિકાઓ વગેરેમાથી યક્ષયુગલના સખ્યાબધ શિલ્પો મળી આવે છે આ બધા પુરાવાઓ ભારતીય લોકસમાજમા પ્રચલિત યક્ષપૂજાની ઐતિહાસિકતા ઈ સ પૂર્વના કાળ સુધી લઈ જાય છે તે કાળે દેવ તરીકે યક્ષોનુ વ્યક્તિત્વ વધુ પૂજ્યતમ મનાતું હોવાના કારણે, જૈનાચાર્યાએ પણ પાછળથી યક્ષપૂજા અપનાવી હોય એમ લાગે છે કાલિદાસ જેવો કવિ ચક્રવર્તિ મેઘદૂતમા યક્ષને જ નાયક તરીકે કલ્પે છે અર્થાત્ તે સમયમા યક્ષો પ્રત્યે ઊંચી ભાવના અને શ્રદ્ધા તત્કાલીન સમાજમા દૃઢ થઈ હોવાનુ જણાય છે આટલા લાબા વિવેચન ઉપરથી એટલો નિષ્કર્ષ નીકળી શકે છે કે વૈદિક અને બૌદ્ધની માફક જૈન સપ્રદાયમા યક્ષોપાસના અતિ પ્રાચીન કાળથી ઊતરી આવી છે

---

૨૨ પુરાતન પ્રબધ સગ્રહ, ભારતીય વિદ્યાભવન પ્રકાશિત, પા ૧૦૧, કપર્દિયક્ષ જાવડી પ્રબધ

૨૩ વસ્તુપાળ તેજપાળ પ્રબધ, પા ૧૪

૨૪ પાણિનિસૂત્ર પતજલીભાષ્ય, ૨–૨–૩૪

યક્ષપૂજા માટે વૈદિક સાહિત્યમાંથી વિપુલ પ્રમાણમાં પ્રત્યક્ષ સાહિત્ય મળી આવે છે. પરંતુ તેના પ્રાચીન શિલ્પો ખાસ કરીને કોઈ મળી આવ્યા નથી. જ્યારે બૌદ્ધ સાહિત્યના સ્તૂપો અને ચૈત્યોમાંથી પ્રાચીન કેટલાંયે સ્વરૂપો મળી આવ્યા છે. શિલ્પ, સ્થાપત્ય અને મૂર્તિકળાનો સર્વતોમુખી વિકાસ ગુપ્તકાળમાં પૂર્ણ વિકસ્યો હતો, એટલે તે સમયનાં કેટલાંક અન્ય શિલ્પો જોવામાં આવ્યાં છે. ત્યાર પછી મધ્યકાળમાં તો મૂર્તિપૂજાનો પ્રચાર સારી રીતે સમસ્ત ભારતભરમાં ફેલાયો અને યક્ષોના જુદા જુદા સ્થાપી બહાર આવતા સ્વતંત્ર દેવસ્થાનો તરીકે તેમના મંદિરો પણ બનતાં ગયાં. જૈન સાહિત્યમાં પણ યક્ષપૂજાનો પ્રચાર મધ્યકાળમાં પૂર્ણ વિકસ્યો હોવાનું સમજાય છે. ચોવીસે તીર્થંકરોના યક્ષો અને શાસનદેવીઓના રૂપવિધાનો મધ્યકાળમાં નિશ્ચિત થયાં હોવાનું નિર્વાણકલિકા અને બીજા ગ્રંથો ઉપરથી જણાય છે. કપર્દિયક્ષના રૂપવિધાન માટે ધર્માભ્યુદય મહાકાવ્યમાં તેનો નિર્દેશ કર્યો હોઈ, કપર્દિ ચાર હાથ, તે પૈકી હાથમાં પાશ અને અંકુશ ઉપરના બેમાં તથા બીજોરું અને નીચેના બે જમણા બેમાં અનુક્રમે વરદ તથા બીજોરું મૂકવા જણાવ્યું છે.[1] વળી તેમનું વાહન હાથી હોવાનું કહ્યું છે. શત્રુંજયના એ વીશ નામો વિવિધ તીર્થકલ્પમાં આપેલાં હોઈ આ યક્ષના સ્થાન ઉપરથી તેનું કપર્દિવાસ પણ એક નામ થયું છે.[2]

કેટલાક તીર્થંકરોના યક્ષો અને શાસનદેવીઓની નાનીમોટી અનેક પ્રતિમાઓ તેમના પરિકરોમાં મોટે ભાગે કોતરવામાં આવે છે. જ્યારે કેટલેક સ્થળે યક્ષોના સ્વતંત્ર શિલ્પો, મંદિરની બહાર દેવકુલિકામાં કે ગોખલામાં બેસાડવામાં આવ્યા હોય છે. આવી યક્ષપ્રતિમાઓ પૈકી કેટલીક શિરોહી રાજ્યમાંથી, કેટલીક પ્રદર્શનોમાંથી, કેટલી મધ્યપ્રદેશમાં આવેલ દેવગઢના કિલ્લામાંથી, જ્યારે થોડીઘણી ગુજરાત પ્રતિમાઓમાંથી મળી આવી છે. આવી સ્વતંત્ર યક્ષમૂર્તિઓ પૈકી ગોમુખ યક્ષની પ્રતિમા શત્રુંજય ઉપર આદીશ્વરની ટૂંકમાં આવેલ દેરાસરની બહાર મૂકેલી છે. ચક્રેશ્વરી યક્ષિણીની એક પ્રતિમા પાટણમાં સાગરવાડના ઉપાશ્રયમાં તથા શત્રુંજય ઉપર ગોમુખયક્ષની ટૂંકના એક મંદિરમાં છે. શિલ્પ અને મૂર્તિકળાની દૃષ્ટિએ તેનું રૂપવિધાન વિશિષ્ટ પ્રકારના હોવાનું જણાય છે. ગુજરાતની એક મૂર્તિ આબુ ઉપર દેલવાડામાં, લુણવસહિ મંદિરના દરવાજા બહાર એક ગોખલામાંથી મળી છે. જ્યારે માતંગ યક્ષની સુંદર પ્રતિમા ખંભાતના બીજા નગરની દેવકુલિકાની બહાર છે. આ યક્ષની બીજી એક મૂર્તિ શિરોહી રાજ્યના બાભણવાડાની બહાર મહાવીર સ્વામીના મંદિરમાંથી મળી છે. અંબિકાની પ્રતિમા માટે ખંભાતની નગરીના દરવાજા બહાર મહીનદીના કિનારે હોવાનો ઉલ્લેખ મળ્યો છે, પરંતુ હાલમાં તે પ્રતિમા ત્યાં છે કે કેમ તે સંબંધી જાણવા મળ્યું નથી. મયૂર યક્ષની એક પ્રતિમા કુંભારિયાના મંદિરની ભમતિમાં છે. ધરણેન્દ્ર યક્ષની એક મૂર્તિ ગિરનાર પર્વત ઉપર, નેમિનાથના દેરાસરની ભમતીમાં આવેલ અષ્ટાપદ મંદિરમાં હોવાનું જાણવા મળ્યું છે. સર્વાનુભૂતિ યક્ષની સુંદર પ્રતિમા, મધ્યપ્રદેશમાં આવેલ દેવગઢના કિલ્લામાં, એક મંદિરની બહારથી મળી છે. તેનો કાલનિર્ણય અનન્ય હોવાનું જણાય છે. આ સિવાય શિરોહી રાજ્યના વરમાણ ગામમાં આવેલ જૈન મંદિરમાંથી પણ આ યક્ષની બીજી મૂર્તિ મળી આવી છે. જ્યારે યક્ષની નાની પણ આકર્ષક પ્રતિમા આબુ ઉપર લુણવસહિના સભામંડપમાં મૂકેલી છે. ચામર ધારણ કરતી પ્રતિમાનું એ શિલ્પ મથુરાના કંકાલીટીલામાંથી તેમ જ બીજી એક મૂર્તિ દેવગઢના કિલ્લામાં હોવાનું જાણવા મળ્યું છે. પાર્શ્વ યક્ષની એક પ્રતિમા કુંભારિયાના મંદિરના એક દેવકુલિકામાં મૂકેલી છે. જ્યારે બીજી મૂર્તિ શિરોહી રાજ્યના ઝાડોલી ગામની બહાર શિવાલય પાસેનાના

---

૧ ધર્માભ્યુદય મહાકાવ્ય સર્ગ ૧૩–૧૪

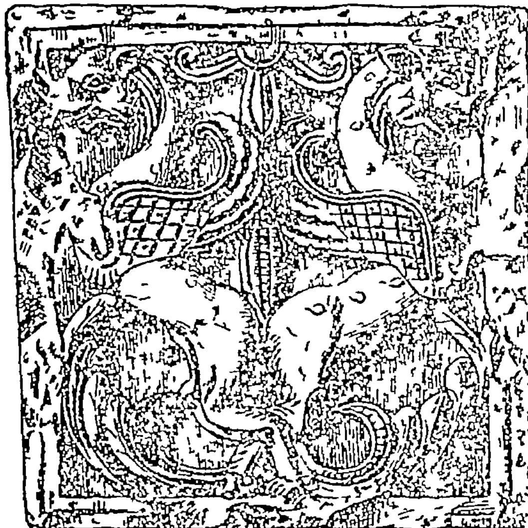
૨ વિ. તી. કલ્પ – શત્રુંજય કલ્પ

મન્દિરમા એક ગોખલામા બેસાડેલી છે ટૂકમા તીર્થંકરોના પરિકરો સિવાય પણ, યક્ષોની કેટલીક સ્વતત્ર પ્રતિમાઓ પ્રાચીન અર્વાચીન મન્દિરોમાથી મળી આવી છે, જે યક્ષપૂજાના પ્રચારની પ્રતીતિ આપે છે આ સપ્રદાયે યક્ષપૂજા અપનાવ્યા છતા, યક્ષોના સ્વતત્ર વિગ્રહો અલ્પસ્વલ્પ મળી આવ્યા છે તેનુ મુખ્ય કારણ તે બધા પરિવાર દેવ તરીકે સપ્રદાયમા સ્વીકાર્ય બન્યા હોવાથી, મૂળ નાયકોના પરિકારોમા જ તેમને સ્થાન આપતા તેમના સ્વતત્ર મન્દિરો, કે વિગ્રહો બનાવવાની પરપરા ઊતરી નહિ હોય એમ સમજાય છે આગળ જણાવેલ યક્ષોની સ્વતત્ર પ્રતિમાઓ પણ, ખાસ કરીને મૂળ નાયકના પરિવાર દેવ તરીકે, અગર કેટલેક સ્થળે તે યક્ષો પ્રત્યે અપૂર્વ શ્રદ્ધાના કારણે તેમની ઉપાસના માટે તેના ઉપાસકોએ મન્દિરમા પધરાવી હશે એમ લાગે છે

યક્ષરાટ્ તરીકે વધુ પ્રસિદ્ધ થયેલ મણિભદ્ર યક્ષની કેટલીક પ્રતિમાઓ ગુજરાત, રાજસ્થાન અને મધ્યપ્રાતમાથી મળી આવી છે આ પૈકી પદ્માવતીથી પ્રાપ્ત ભગ્નશિરવાળી મૂર્તિ ગ્વાલિયરના પ્રદર્શનમા મૂકેલી છે આ સિવાય સિરોહી રાજ્યના લાજ, મઢાર અને માલાણુ ગામોમા, પિંડવાડા તહેસીલના બ્રાહ્મણવાડા તીર્થમા, પાલણપુરથી આઠ ગાઉ દૂર મગરીવાડા ગામમા, વિજાપુર તાલુકાના આગલોડ ગામમા, દીવના એક જૈન મન્દિરમા અને પ્રભાસ પાટણના તપાગચ્છીય ઉપાશ્રયમાથી આ યક્ષની કેટલીક મૂર્તિઓ મળી આવી છે યક્ષોની કેટલીક ધાતુપ્રતિમાઓ પણ જૈન મન્દિરમા કે ઘર મદિરોમાથી મળે છે પાટણના ગોવર્ધનધારી મન્દિરમા યક્ષની એક પ્રાચીન ધાતુપ્રતિમા છે, જે કલાની દૃષ્ટિએ અનુપમ હોવાનુ તેના ભાસ્કર્ય ઉપરથી જણાય છે આ પ્રતિમા વસ્તુપાળના વશજ પેથડના પુત્ર સુહાકે સ ૧૩૫૨મા બનાવી હોવાનો તેની પાછળ લેખ કોતરેલો છે[૨૭] આવી પ્રતિમાઓ જૈન સમાજમા યક્ષોપાસના વધુ લોકપ્રિય બની હોવાની પ્રતીતિ આપે છે

---

૨૭ स १३५२ वर्षे कार्तिक सुद ११ गुरौ सा पेथड सुत सुहाकेन गतिरूपनेन मूर्तिकारापित



મહારાજા જયસિંહ સિદ્ધરાજના ચાંદીના સિક્કા

શ્રી અમૃત પંડ્યા

સુપ્રસિદ્ધ ઇતિહાસકાર શ્રી હેમચન્દ્રરાય પોતાના ગ્રંથ 'ઉત્તર ભારતનો રાજવંશી ઇતિહાસ'માં લખે છે 'ભારતીય ઇતિહાસના પૂર્વ મધ્યકાળમાં રાજ્ય કરી ગયેલા અનેક રાજવંશોના મુકાબલે ગુજરાત સૌરાષ્ટ્રના ચૌલુક્યો (સોલંકી)[1]ના ઇતિહાસ માટે ઐતિહાસિક સામગ્રીની ઊણપ નથી. આ વંશના રાજાઓના સમયના ઉત્કીર્ણ લેખો ગણ્યા ગાંઠ્યા હોય એટલું જ નહિ પણ એથી વધુ મહત્ત્વની વાત તો એ છે કે તારીખો સાથે એમના ઇતિહાસપ્રસંગોનું વર્ણન કરતા અનેક જૈન પ્રબંધો પણ આપણને ઉપલબ્ધ છે' (The Dynastic History of Northern India, Vol. II, Calcutta, 1936, P 933) આ ઉપરાંત આ સોલંકીઓની ઇતિહાસસામગ્રીની એક ઘણી જ મોટી ઊણપ છે તે એ કે [illegible] [illegible] હોય કહીએ તો, અણહિલવાડના ચૌલુક્યોના સિક્કા મળતા નથી એ વાત ઘણી આશ્ચર્યકારક તો ખરી જ; વિશાળ અને સમૃદ્ધ સામ્રાજ્ય ધરાવતા રાજકર્તાઓને તેમનું પોતાનું ચલણ તો અવશ્ય રહ્યું જ હશે (Archaeology of Gujarat, Bombay 1941 P 190)

અણહિલપુરના આ ચૌલુક્યોને તેમનું પોતાનું ચલણ હતું તેની સાક્ષી તેમનું સમકાલીન સાહિત્ય પૂરે છે. શ્રી હેમચન્દ્રાચાર્યકૃત દ્વયાશ્રયમાં આ ચલણના સિક્કા હોવાની નોંધ વિશે શ્રી રામલાલ ચુનીલાલ મોદીએ ધ્યાન ખેંચ્યું હતું (જુઓ દ્વયાશ્રય કાવ્યમાં મધ્યકાલીન ગુજરાતની સામાજિક સ્થિતિ, અમદાવાદ, ૧૯૪૨, પ. ૩૧). શ્રી [illegible] [illegible] એક [illegible] સોલંકીઓના સમયના પ્રચલિત સિક્કાઓને લગતી કેટલીક માહિતી મેં મોતીલાલ ચતુરભાઈએ શોધી કાઢી હતી (J Numismatic Society of India, VIII, 1946, P 138) ન્યુમીસ્મેટિક સોસાયટી ઑફ ઇન્ડિયા (ભારતીય સિક્કાવિદ્યા પરિષદ)ના ગ્વાલિયર ખાતેના ૪૨મા અધિવેશનના પ્રમુખ તરીકે તેમના ભાષણમાં સ્વર્ગસ્થ શ્રી રસુભાઈ [illegible] તાજેતરમાં શોધાયેલ મધ્યકાલીન સિક્કાની ટંકશાળના અધિકારી શ્રી ઠક્કર ફેરૂકૃત દ્રવ્યપરીક્ષા નામના હસ્તગ્રંથમાં કેટલાક સોલંકી રાજાઓના ખાસ સિક્કાઓનું વર્ણન હોવાની વાત જણાવી હતી (Ibid, XIV 1952, P 155) [illegible] સાથે ઉપરના આ સિક્કાઓને લગતી કેટલીક નવી માહિતી જૈન સાહિત્યમાંથી શોધી કાઢી છે (Numismatic Data from Early Jain Literature J of M. S University of Baroda, III, 1, 1954, P 67 તથા મારે ઉપરના જણાવેલી કેટલીક માહિતી)

આ પ્રમાણે સોલંકી રાજ્યકાળને પોતાનું ચલણ હતું એ વાત નિર્વિવાદ છે

1 આ સોલંકીઓ [illegible]

આ હકીકત ઘણા સોલંકીઓના સિક્કા કેમ મળી આવતા નથી તે વાત ભારતીય સિક્કાવિદ્યાનો એક કોયડો છે

ઉત્તરપ્રદેશના ઝાંસી જિલ્લાની ગરૌઠા તહસીલના પંડવાહા ગામ ખાતે ૧૯૦૫મા ગુર્જર-પ્રતિહાર રાજા ભોજદેવ(ઈ ૮૪૦–૮૯૦ લગભગ)ના ચાંદીના સાત સિક્કાઓની સાથે સોનાના અનુક્રમે ૬૫ અને ૬૬ ગ્રેન વજનના તથા ૮૫" અને ૮૦" જેટલા વ્યાસવાળા બે જૂના સિક્કાઓ પણ મળી આવ્યા હતા આ સિક્કાઓપર જૂની નાગરી લિપિ(મધ્યકાલીન)મા 'શ્રીસિદ્ધરાજ' એવુ લખાણ હોવાથી શ્રી આર૦ બર્ન (R Burn) તે ગુજરાતના સોલંકી 'સિદ્ધરાજ'ના હોવાનો અભિપ્રાય વ્યક્ત કર્યો હતો (Numismatic Supplement to J Asiatic Society of Bengal, VII, 1907, Article entitled, 'A New Medieval Gold Coin') આ સિક્કા લખનઉના પ્રાદેશિક સંગ્રહસ્થાનમા મૂકવામા આવ્યા હતા જે હજુ પણ ત્યા જ છે ૧૯૩૬મા આ સિક્કા જાણીતા સિક્કાશાસ્ત્રી રાયબહાદુર શ્રી પ્રયાગદયાલે ફરી તપાસ્યા હતા તેમની આ તપાસની બાબતમા તેમણે ભારતીય પુરાતત્ત્વખાતાના તત્કાલીન ડેપ્યુટી ડાયરેક્ટર જનરલ રાયબહાદુર કાશીનાથ ના૦ દીક્ષિતની સલાહ લઈ શ્રી બર્નના ઉપર્યુક્ત અભિપ્રાયને ટેકો આપતા જણાવ્યુ હતુ "આ બને સિક્કાઓ પર ૧૧–૧૨ની સદીના અક્ષરોમા બંને બાજુએ 'સિદ્ધરાજ' એવુ લખાણ છે આ રાજાના સમકાલીન મહારાજા ગોવિન્દચન્દ્ર (૧૧૧૨–૧૧૬૦)ના સિક્કાઓ સાથે વજન અને કદની દૃષ્ટિએ આ મળતા આવે છે પણ એમનો આકાર પ્રકાર કંઈક જુદી જાતનો છે, કારણ કે એમની પાછળ કોઈ દેવ કે દેવીની આકૃતિ નથી વળી આ સિક્કાઓની ધાતુ જો કે મિશ્રણ વગરનું શુદ્ધ સોનુ જણાય છે, પણ તેમનો અસામાન્ય આકાર અને અક્ષરોની પડેલી છાપની અસ્પષ્ટતા જોતા લાગે છે કે તે ચલણી સિક્કા તરીકે ભાગ્યે જ ઉપયુક્ત રહ્યા હોય માળવાવિજય જેવા કોઈ ખાસ પ્રસંગની યાદગારમા તે પાડ્યા હોય તો કહેવાય નહિ ('Two Gold Coins of Siddharāja Jayasimha', Numismatic Supplement to J Royal Asiatic Society of Bengal, III, 2, 1937, p 117-118)

૧૯૩૩મા વડોદરા ખાતે ઇન્ડિયન ઓરીએન્ટલ કૉન્ફરન્સ (ભારતીય પ્રાચ્યવિદ્યા પરિષદ)નુ સાતમુ અધિવેશન ભરાયેલું તેમાં તે વખતના મુંબઈના પ્રિન્સ ઑફ વેલ્સ મ્યુઝિયમના ક્યુરેટર શ્રી ગિરિજાશંકર વલ્લભજી આચાર્યે ગુજરાતમા નાણાકીય ચલણનો ઇતિહાસ (History of Coinage in India) આ નામનો નિબંધ વાચતા તેમા એક સ્થળે નીચે પ્રમાણે જણાવ્યુ હતુ

> "The 12th and 13th centuries of the Christian era form another obscure period in the history of Gujarat coinage The Solankis and Vaghelas have been described in inscriptions as powerful monarchs ruling over Gujarat and Kathiawad and while they have built numerous wells and temples it is surprising that they never exercised the right of coining money A few tiny copper pieces in Prof Hodiwala's collection with the inscription Śrīmajjayasimha are hesitatingly assigned to Siddharāja Jayasimha but besides those pieces no coin of any of the rulers is available in Gujarat which can with certainty be assigned to any one of them" (Proceedings and Transactions of the Seventh All-India Oriental Conference, Baroda, 1933, P 695)

સ્વ. શ્રી દુર્ગાશંકર કેવળરામ શાસ્ત્રી પોતાના 'ગુજરાતનો મધ્યકાલીન રાજપૂત ઇતિહાસ'ની બીજી આવૃત્તિ (અમદાવાદ, ૧૯૫૩)માં પૃ. ૨૨૪–૨૨૫ પર સિદ્ધરાજના બિરુદો આ પ્રમાણે ક્રમ નીચે પ્રમાણે જણાવે છે :

> બીજી એક વાત, ગુજરાતના મધ્યકાલીન રાજપૂત ઇતિહાસમાં પાટણના કોઈ રાજાએ પોતાના નામના બિરુદ પાડ્યાં હોય એમ જોવામાં નથી એવું મેં લખ્યું છે (ગુજરાતના ઇતિહાસની સામગ્રી નામના નિબંધમાં). મુનિશ્રી જિનવિજયજીએ ઉપર કહેલા અભ્યાસક્રમ સાહિત્ય સભાના આશ્રયના વ્યાખ્યાનમાં આ મતભેદનું કહેલું છે (પૃ. ૫૬) તથા શ્રી ર. ચ. શાનીએ પણ એમ જ કહ્યું છે (બુદ્ધિપ્રકાશ વ્યાખ્યાનમાળા ૧૯૩૪–૩૫, પૃ. ૧ પા. ૫૮) અને શ્રી જિ. ન. આચાર્યે શ્રીમજ્જયસિંહ અજારેણાભ યોગ નામના ક્ષત્ર સિવાય બારમા–તેરમા શતકના ગુજરાતના રાજાઓના બિરુદ મળતા નથી એમ કહેલા બતાવેલ (વડોદરાની ઓરી. કો. ગ્રં. નો રિપોર્ટ ૧૯૩૩ પા. ૬૫) ત્યાં શ્રી આચાર્યે અને શ્રી શાનીએ જ લખ્યું નીચેની માહિતી આપી છે કે ન્યુમિસ્મેટિક સપ્લિમેન્ટ નંબર ૩૭માં શ્રી આર. એ સિદ્ધરાજના એક સોનાના સિક્કાની નોંધ કરી છે જેમાં શ્રીસિદ્ધરાજ આ રીતે શબ્દ છે.

આ પ્રમાણે સોલંકી રાજવંશમાંથી એક માત્ર સિદ્ધરાજ જયસિંહના બિરુદ આપણને મળી આવ્યા છે. એક જ રાજાના આ અને પ્રકારના બિરુદો પર તેના બે જુદાં જુદાં નામો આપેલાં છે તે ખાસ નોંધપાત્ર છે. એટલે કે ચાંદીના સિક્કાઓ પર 'સિદ્ધરાજ' અને હોઈશાળા ત્રાંબાના સિક્કાઓ પર 'જયસિંહ' આ પ્રમાણે નામો મળી આવે છે.

આ રાજાના તેના પોતાના ઉત્કીર્ણ લેખોમાં તેનું બીજું નામ 'જયસિંહ' લખેલું છે. દા. ત. હાલમાં ગુજરાત વિદ્યાસભા અમદાવાદને વાઘેલ ગામેથી મળી આવેલા તેના વિક્રમ સંવત ૧૧૫૬ (ઈ. ૧૦૯૯)ના તામ્રપત્રમાં તે પોતાના પૂર્વજોની નોંધ આપ્યા પછી પોતાના વિષે આ પ્રમાણે જણાવે છે :

૫—શ્રીત્રૈલોક્યમલ્લ શ્રીકર્ણદેવપાદાનુધ્યાતપરમભટ્ટારક મહારાજાધિરાજ

૬—શ્રીજયસિંહદેવ

("Two New Copper Plate Inscriptions of the Chaulukya Dynasty' by Dr H G Shastri in the J Oriental Institute, M S University of Baroda, II, 4, P 369)

આ તામ્રપત્રમાં છેવટની નીચે રાજાએ પોતાની સહી કરી છે તે આલેખન આ પ્રમાણે છે :

શ્રીજયસિંહદેવસ્ય

જયસિંહ સિદ્ધરાજની સહી

ઝાન્સીના સોનાના સિક્કાઓની આકૃતિ અને તેમા આપેલ રાજાનુ નામ આ પ્રમાણે છે



પુ પી મા ઝા ગી પાસે પરવાહા ગામે મળી આવેલા 'સિદ્ધરાજ'ના સોનાના સિક્કા મળ આકાર પ્રમાણે

ઝાન્સીના સિક્કાઓમા ' સિદ્ધરાજ ' નામ જે અક્ષરાવલીમા છે તે અક્ષરાવલી ગુજરાત અને તેની પાડોશના પ્રદેશોમા પ્રચલિત તત્કાલીન અક્ષરાવલી કરતા મરોડમા જરા જુદી પડે છે ત્યારે શુ ઝાન્સીના સિક્કાઓવાળો સિદ્ધરાજ તે ગુજરાતના સિદ્ધરાજ જયસિંહને બદલે મધ્ય કે પૂર્વ હિંદ તરફનો કોઈ બીજો સિદ્ધરાજ હતો ? પણ હકીકત આ છે કે ઇતિહાસકારોને અત્યાર સુધી ગુજરાતના સિદ્ધરાજ સિવાય આ નામનો કોઈ બીજો રાજા રહ્યો હોવાનુ પ્રમાણ હજુ સુધી મળ્યુ નથી (भारतवर्षीय मध्ययुगीन चारित्रकोश, ले चित्राव, पुणे, १९३७, पृ० ८०८–८०९) વળી સિદ્ધરાજ જયસિંહનુ સામ્રાજ્ય ઝાન્સી-(બુંદેલખંડ, પ્રાચીન નામ જેજાકભુક્તિ)ની લગભગ સુધી પ્રસરેલુ હતુ તે એક હકીકત છે

પ્રો૦ હોડીવાલાના સિક્કાસંગ્રહમાના श्रीमज्जयसिंह નામવાળા તાંબાના નાના નાના જે સિક્કાઓનો ઉલ્લેખ શ્રી આચાર્ય કર્યો છે તેમના વિષે કોઈ લેખ કે તેમના ચિત્રો પ્રગટ થયાનું જાણવામા નથી

વલ્લભવિદ્યાનગરના સંસ્થાપક અધ્યક્ષ તથા નવી સ્થપાયલી સરદાર વલ્લભભાઈ યુનિવર્સિટીના ઉપકુલપતિ શ્રી ભાઈલાલભાઈ પટેલ ગુજરાતના ઇતિહાસ તથા તેની સાંસ્કૃતિક ઉન્નતિમા ઊંડો રસ ધરાવે છે અને એના માટે તેઓ હમેશ પ્રયત્નશીલ રહે છે મુંબઈ ગેઝેટિયર ૧૮૯૬મા પ્રગટ થયુ ત્યાર પછીના ૬૦ વર્ષના ગાળામા ગુજરાતના ઇતિહાસને લગતી જે નવી સામગ્રી મળી આવી છે તે ફરી તપાસાય અને તેના આધારે ગુજરાતનો એક બૃહદ્ ઇતિહાસ તૈયાર થાય તે તેમની એક મહત્ત્વાકાંક્ષા છે અને પ્રવીણતા મેળવીને ભારતની પ્રાચીન લિપિઓના વાચનમા ગુજરાતના પ્રાચીન લેખો તેઓ પોતે ફરીથી તપાસી રહ્યા છે ગુજરાતના ઇતિહાસના જે જે પ્રકરણો અંધારામા છે તેમના પર પ્રકાશ પથરાય તેવી ઐતિહાસિક સામગ્રી મેળવવા માટે પણ તેઓ સતત પ્રયત્નશીલ રહે છે સોલંકીઓના સિક્કા મળે તેના માટે તેઓ જ્યા જ્યા જાય છે ત્યા ત્યા આ વિષે તપાસ ચલાવે છે વલ્લભવિદ્યાનગરની કોલેજોમા ભણતા વિદ્યાર્થીઓ તેમના પોતાના ગામમા જે ઐતિહાસિક અવશેષો કે સામગ્રી હોય તેમની માહિતી આપે તેવી સૂચના તેઓએ કરી છે અને તેથી મૂલ્યવાન ઐતિહાસિક માહિતી અવારનવાર મળ્યા કરે છે

વલ્લભવિદ્યાનગરની એક કોલેજમા ભણતા મહેસાણા જિલ્લાના વીજાપુર તાલુકાના પીલવઈ ગામ-(કલોલ–વીજાપુર રેલવેલાઇન પર વીજાપુર આવતા આ સ્ટેશન પહેલા આવે છે અને ખડાયતાઓના વાસ ખડાત મહુડી જવા માટે લોકો અહીં ઊતરે છે)ના શ્રી મોરલીધર મગળદાસ શાહ નામના વિદ્યાર્થી

કેટલાક જૂના સિક્કા શ્રી ભાઈલાલભાઈને ઉખાટા ગામેથી તેમજ ત્યાંના લોકો પાસેથી નાના નાના સિક્કાઓ મળ્યા હતા તેમનો ફોટોગ્રાફ નીચે આપ્યો છે



સિક્કાઓની આગળની બાજુએ રાજાની આકૃતિ છે
ને પાછળ [illegible]



પાછળની બાજુએ [illegible] છે [illegible] શ્રી [illegible] છે [illegible] [illegible] ૧૧-૧૧૫ [illegible] [illegible] છે અને [illegible]

દરેક સિક્કાનો સરેરાશ વજન ૮ ગ્રામ (આ ૧)
દરેક સિક્કાનું સરેરાશ વજન ૭-૮૧૫ મિ

શ્રી આચાર્યે મેળવેલા નાના તાંબાના ગોળાકાર રાજાના આગવા સિક્કા એ જયસિંહ ના હતા તે જ રાજાના આ પ્રાચીન સિક્કા આપણને મળી આવ્યા હોય એમ લાગે છે

આ સિક્કાઓમાંનો જયસિંહ તે ગુજરાતનો જયસિંહ સિદ્ધરાજ હતો કે કોઈ બીજો રાજા હશે તે આપણે જોવા તપાસી લેવું પડે

આપણા દેશના ઇતિહાસમાં જયસિંહ નામના અનેક રાજાઓ થયા છે તેમાંના ઓછામાં ઓછા ૨ જેટલા જયસિંહો તો [illegible] છે એમાંના સિંહ (ઈ ૭૧૦-૭૨૪) કાશ્મીર (૧૧૨૮-૫૨) [illegible] (૧૩૦-૧૧૦) અને [illegible] (૫ ૧૦૧-૬૨, ૧ ૧૮-૧ ૫૩ ૧ ૭૭-૧ ૮૧) ના જયસિંહોને આપણે [illegible] આ રાજાઓ તો ? જૂની નાગરી લિપિ આપણને પ્રસ્તુત સિક્કાઓના લખાણમાં મળી આવી છે તે પ્રચલિત હતી એવો [illegible] તો તેઓ જે પ્રદેશોમાં [illegible] નાગરી લિપિનું પ્રચલન રહ્યું નહોતું, દ ત આન્ધ્ર, કર્ણાટક વગેરે. એટલે આ લિપિનો પુરી તથા પ્રાપ્તિ સ્થાન જોતાં પ્રસ્તુત સિક્કાઓની બાબતમાં આપણે નીચેના જયસિંહોને લક્ષ્યમાં લેવાનું જ [illegible] રહે છે

ચાલુક્ય (સોલંકીઓની [illegible]) જયસિંહદેવ સિદ્ધરાજ (ઈ. ૧૧૦૦-૧૧૮) આ રાજાના [illegible] મળી આવ્યા છે ([illegible] ૬૨૧ના [illegible] તામ્રપત્રો, [illegible] ૧૮ પા ૨૨૪-૨૭ [illegible] ૬૨૮નો [illegible] શિલાલેખ, એપી ઇન્ડિ ૨,૧૭,

૮૦ સ૦ ૯૨૬નો નાગપુર સગ્રહસ્થાનનો લેખ, ઇન્ડિયન એન્ટીક્વરી ૧૮, ૨૧૪–૧૮, અને ડગનએલનો લેખ, એપી ઈ ૫, ૬૦) પણ તેની કારકિર્દી પર તે પ્રકાશ ફેંકતા નથી

માળવા પરમાર જયસિંહ (૧૦૫૧–૧૦૫૯) ભોજનો ઉત્તરાધિકારી તથા ગુજરાતના સોલકી ભીમદેવ પ્રથમનો તેના જીવનના પાછલા ભાગનો સમકાલીન

માળવા પરમાર જયસિહ (૧૦૬૮) જયવર્માનો ઉત્તરાધિકારી તથા ગુજરાતના કર્ણ સોલકી(૧૦૬૪–૧૦૯૮)નો સમકાલીન

માળવા પરમાર જયસિંહ (૧૩૦૮–૧૩૪૨) માળવાનો છેલ્લો પરમાર ઉદયપુર–માળવા ખાતે તેનો વિ૦ સ૦ ૧૩૬૬નો લેખ છે

માળવા જયસિંહ મડપ(માડુ)નો આ ધારની દક્ષિણે માડુ નજીકના કેટલાક વિસ્તારનો નાનો રાજા હતો જેનો ઉલ્લેખ હમીરના બલનાન લેખ(એપી૦ ઈ૦ ૧૯, ૪૬–૫૦)મા મળી આવ્યો છે આ ગુજરાતના વીસલદેવ વાઘેલાનો સમકાલીન હતો

વાગડ (ડુગરપુર–વાસવાડા ક્ષેત્ર) વિ૦ ૧૧૯૫(ઈ૦ ૧૨૫૧)ના વૈદ્યનાથમન્દિરના ઝારોલ ગામના શિલાલેખમા એક **વાગડના જયસિંહ**ની નોંધ મળી આવે છે તે ગુજરાતના ભીમ બીજા (૧૧૭૮–૧૨૪૧)નો સમકાલીન હતો

મેવાડ ઈ૦ ૧૩૦૦ લગભગમા મેવાડમા **જયસિંહ સીસોદિયા** થયો હતો

દક્ષિણ મારવાડ ' જાલોરના માલદેવ સોનગરાનો દીકરો, જે ૧૪મા સૈકાના આરભકાળે થયો હતો

સૌરાષ્ટ્ર 'મડલીક નૃપચરિત' પ્રમાણે જૂનાગઢના ચુડાસમા રાજવશમા ઈ૦ ૧૪૧૫મા **રા'ખેંગાર** પછી એક **જયસિંહ** ગાદીએ બેઠો હતો તેણે ૧૧ વર્ષ રાજ્ય કર્યું હતું (Proc. Indian Hist Congress, 1952, pp 170-174, article by Shri H D Velankar)

ગુજરાત જાણીતો **જયસિંહ સિદ્ધરાજ** (ઈ ૧૦૯૪–૧૧૪૩)

પ્રસ્તુત સિક્કાઓમાનો જયસિંહ ઉપરની યાદીમાનો એકાદ રહ્યો હશે ડાહલ (મધ્યપ્રદેશનો ઉત્તર ભાગ) ગુજરાતથી ઘણે દૂર છે પણ લિપિની દૃષ્ટિએ ડાહલના જયસિંહનો મુદ્દો આપણે વિચારવાનો રહે છે કારણ કે પૂર્વ મધ્યકાળમાં જ્યારે ગુજરાતમા સોલકીઓ અને ડાહલમા હૈહયોનુ રાજ્ય હતુ ત્યારે બને પ્રદેશોના લેખોમા લગભગ સરખા પ્રકારની લિપિ પ્રચલિત હતી માળવા વિષે પણ તેમ જ હતુ પણ આ જયસિંહ હૈહયના જીવનની કશી માહિતી તેના લેખોમાથી મળતી નથી તે આપણે જોઈ ગયા છીએ વળી તેના સિક્કા હજુ તેના પોતાના પ્રદેશમા મળી આવ્યા નથી તો આટલે આવે ગુજરાતમા તો ક્યાથી મળે તે વાત સમજાય તેવી છે તેવી જ રીતે માળવાના જયસિંહોના સિક્કા માળવા કે બીજે ક્યાય મળ્યા નથી મડપનો જયસિંહ ને તેવી જ રીતે વાગડ, મેવાડ અને દક્ષિણ મારવાડ (જાલોર)ના જયસિંહો એટલા બધા નાના રાજાઓ હતા કે તેમણે પોતાના સિક્કા પડાવ્યા હોય એમ ભાગ્યે જ બની શકે તો પણ તેમના સિક્કા તેમના પોતાના પ્રદેશમા ન મળી આવતા છેક ગુજરાતમા મળી આવે તે પણ બનવાજોગ નથી સૌરાષ્ટ્રનો ચુડાસમા રા' જયસિંહ સોલકીઓનો ખડિયો રહ્યો હોવો જોઈએ ને ગુજરાતના સાર્વભૌમ સોલકી જયસિંહે સિક્કા ન પડાવ્યા હોય અને આ જૂનાગઢના રા'એ સિક્કા પડાવ્યા હોય અને તે છેક ગુજરાત સુધી ચાલે તે વાત મનાય તેવી નથી

૧

જયસિંહ ના પ્રસ્તુત સિક્કા તાંબુ અને ચાંદી એમ બે ધાતુઓના મળી આવતાં સૂચન થાય છે કે આ પ્રકારના સિક્કા રૈખિકના નાણાંકીય ધોરણ માટે જ પ્રચારમાં આવ્યા હશે. વળી આ પ્રકારના સિક્કા ગુજરાતમાં જ મળી આવ્યા છે. આ વસ્તુ સૂચન કરે છે કે આ સિક્કા ગુજરાતના જ એક જયસિંહ નામના મોટા રાજાના હોવા જોઈએ. સિક્કાઓ પર શ્રીમજ્જયસિંહ નામ જૂની નાગરી લિપિમાં છે અને તેનો ભ્રષ્ટ અક્ષર જે આકારનો છે તે જેવા કહી શકાય કે આ રાજા ૧ મી ૧૨મા કે ૧૩મા સૈકામાં થયો હોવો જોઈએ. ૧૯૫૪ની નાતાલમાં અમદાવાદ ખાતે ભરાયેલી ભારતીય ઇતિહાસ પરિષદના અધિવેશન પ્રસંગે ભરાયેલા પ્રદર્શનમાં આ સિક્કાઓના મોટા ફોટોગ્રાફ પ્રદર્શનમાં મૂકેલા તે વખતે ગુજરાતના પ્રાચીન જૈન સાહિત્યના પ્રખર વિદ્વાન મુનિ શ્રી પુણ્યવિજયજીએ આ સિક્કાઓના સંબંધમાં ? શ્રી સૂચન છે કે તે જયસિંહ સિદ્ધરાજની સમકાલીન હસ્તપ્રતોમાં શ્રી નો જેવો આકાર મળી આવે છે તેવો જ આકાર પ્રસ્તુત સિક્કાઓમાંના શ્રી નો હોવાનો અભિપ્રાય આપેલો

ભારતીય નિષ્ણાતોના પરિષદના મુખપત્રના હાલમાં પ્રગટ થયેલા તેના અંક(પુ ૧૬ ભા ૨, પા ૨૧૩–૪)ના Miscellanea ખાતામાં કેટલાક સિક્કાઓને વર્ણવી બે નવી શોધોની સંક્ષિપ્ત માહિતી પ્રગટ થઈ છે તેમાં 'The Coins of Jayasimha' આ નીચેના મેં પ્રસ્તુત સિક્કાઓનો ટૂંક પરિચય રજૂ કરતા તે જયસિંહ સિદ્ધરાજના હોવાનું જણાવ્યું છે એની નીચે આ પ્રમાણેની તંત્રીનોંધ આપી છે

"Dr U P Shah has suggested to us that these coins might belong to Jayasimha or Jayatsimha, who for some time usurped the Chaulukyan throne after Ajayapala A copper-plate charter of this ruler was obtained from Kadi, North Gujarat, dated in the year 1280 V S (Indian Antiquary VI, p 196) where we have in the last line Śrimajjayasimhadevasya —Editor

આ રાજાનું એક માત્ર તામ્રપત્ર મળી આવ્યું છે તે પરથી બ્યુલર જેવા વિદ્વાન કે જણાવ્યું છે

"Our grant No 4 was issued by Chaulukya ruler J yantasimha, who describes himself in the following terms This vain-glorious passage is preceded by the usual vamśāvali, beginning with Mūlarāja I, and ending with Bhimadeva II But after naming the latter and giving his titles, and just before the enumeration of Jayantasimha own titles, follow the significant words tadanantaram sthāne, 'after him (Bhima) in (his) place Considering these statements, and the further assertion in the preamble to the grant, that Jayantasimha ruled over the Vardhipathaka and the Gambhūtā pathaka, it is evident that he was usurper who supplanted Bhima for a time As one of Bhima own grants (N 5) is dated in 1283 Vikrama and from Anahilapataka, t follows that Jayantasimha, who dates his grant in 1280 Vikrama, must have been ejected by the rightful owner soon after issuing the grant (Indian Antiquary VI, 1877 P 188)

આ થઈ લગભગ પોણુસો વર્ષ પૂર્વેની વાત આ પછીના સમયમા ગુજરાતના ચૌલુક્ય(સોલંકી) વશના ઇતિહાસની જે કઈ સામગ્રી મળી આવી છે તેના આધારે તૈયાર થયેલ સ્વ૦ શ્રી દુર્ગાશકર કેવળરામ શાસ્ત્રીના 'ગુજરાતનો મધ્યકાલીન રાજપૂત ઇતિહાસ' નામના પુસ્તકની જે ૧૯૫૩મા ખીજી સુધારેલી આવૃત્તિ બહાર પડી છે તેમા આ રાજા વિષે (પા ૪૧૮-૯) નીચે પ્રમાણે જણાવ્યુ છે

"ઈ ૧૨૧૯(વિ ૧૨૭૫)નો ભીમદેવ બીજાનો ભગાણાનો લેખ મળ્યો હોવાની ઉપર નોંધ કરી છે પછી ઈ ૧૨૧૯થી ૧૨૨૪ વચ્ચેના કોઈ પણ વર્ષમા ઉપર કહેલા મુસલમાની હુમલાઓથી તથા પુષ્કળ દાનોથી જેની તિજોરીનુ તળિયુ દેખાઈ ગયુ હતુ તે ભીમદેવના રાજ્યને બળવાન મડલિકોએ તથા મત્રીઓએ દબાવવા માડયુ અને છેવટે જયતસિંહે પાટણની ગાદી પચાવી પાડી આ જયતસિંહ મુખ્ય સોલકી વશનો કોઈ ભાયાત જ હોવો જોઇએ, જો કે કોઈ પ્રબધમા આનુ નામ નથી અને એના લેખમા એનો મુખ્ય વશ સાથે સબધ બતાવ્યો નથી "

આ હકીકત જોતા ડૉ૦ ઉમાકાતભાઈ શાહે મારી માન્યતા વિરુદ્ધ પ્રસ્તુત સિક્કા તે આ જયતસિંહના હોવાની શકયતા દર્શાવી છે તે સૂચવે છે કે તેમના મત પ્રમાણે વર્ષ બે વર્ષ માટે કોઈક ગાદી પચાવી પાડનારને તદ્દન નાના પ્રદેશ પર રાજ્ય કરનાર કોઈક એવો સોલકી ભાયાત કે જેની નોંધ જૈન પ્રબધાદિ તથા અન્ય સમકાલીન સાહિત્યના કર્તાઓએ લેવાનુ ઉચિત માન્યુ નથી, તેના આ સિક્કા હોઈ શકે છે પણ જયસિંહ સિદ્ધરાજ જેવા ભારતવિખ્યાત અને મહાન રાજાના હોઈ શકતા નથી ન્યુમિસ્મેટિક સોસાયટીના જર્નલના તત્રીએ ડૉ૦ શાહના મતવ્ય વિષે જે નોંધ લખી છે તેના પરથી જણાય છે કે ડૉ૦ શાહે પોતાની દલીલમા આ જયતસિંહની તેના તામ્રપત્ર પર श्रीमज्जयसिंह તરીકે તેણે કરેલી સહીનો દાખલો આપ્યો છે પણ જયસિંહ સિદ્ધરાજના તામ્રપત્રો પર પણ તેની 'જયસિંહ' નામની સહી મળી આવે છે તે વાતનો ઉલ્લેખ કર્યો જણાતો નથી બને સહીઓ વચ્ચે અતર આટલું જ છે કે જયસિંહ સિદ્ધરાજની સહીમા श्रीजयसिंहदेवस्य અને જયતસિંહની સહીમા श्रीमज्जयसिंहदेवस्य આ પ્રમાણે લખાણ છે ને પ્રસ્તુત સિક્કાઓ પર श्रीमज्जयसिंह લખાણ છે ને આ પ્રમાણે श्रीमत् શબ્દના કારણે સિક્કાઓનુ લખાણ જયતસિંહની સહીના લખાણ સાથે સામ્ય ધરાવે છે પરતુ આપણે આ હકીકત ધ્યાનમા રાખવાની છે કે કોઈ રાજા પોતાના હાથે પોતાની સહી કરતા આવા વિશેષણો ન લખે સોલકી વશના તામ્રપત્રોમા મૂળરાજથી માડી જ્યા જ્યા રાજાઓની સહીઓ મળી આવી છે ત્યા ત્યા તેમણે ક્યાય श्रीमत् કે બીજા વિશેષણ પોતાને હાથે સહીઓમા લખ્યા નથી, તેમ કરવાનુ કોઈને શોભે પણ નહિ બીજા પ્રદેશોમા આ સમયના આવા અનેક ઉદાહરણો મળી આવ્યા છે કે જ્યા રાજાઓ પોતાની સહીમા श्रीमत् વિશેષણ વાપરતા નથી પણ તેમના સિક્કાઓ તથા તામ્રપત્રાદિમા ઉલ્લેખિત તેમના નામો સાથે આ વિશેષણ વપરાયુ છે

વળી જયતસિંહની સહીની બાબતમા ડૉ૦ ઉમાકાતભાઈએ જે ભાર મૂક્યો છે તે સહી અશુદ્ધ છે તે વાત ઉલ્લેખનીય છે આ રાજા પોતાના તામ્રપત્રમા પોતાનુ નામ સ્પષ્ટપણે 'જયતસિંહ' હોવાનુ જણાવે છે આ તામ્રપત્ર ઉકેલનાર ડૉ૦ બ્યુલર તથા તેમની પછી તે ફરી વાચનાર વિદ્વાનોએ તે श्रीमज्जयसिंहदेवस्य આ પ્રમાણે ઉકેલી છે ડૉ૦ શાહ જણાવે છે તેમ તે સહીનુ લખાણ श्रीमज्जयसिंहदेवस्य નથી આ ઉપરથી લાગે છે કે આ રાજાને પોતાની સહી બરોબર કરતા નહિ આવડતી હોય એટલે તેનાથી તામ્રપત્ર પર સહી કરતા श्रीमज्जयतसिंहदेवस्यને બદલે જેમા બે અક્ષરો (ज्‌ અને न्त) છૂટે તે श्रीमज्जयसिंहदेवस्य લખાઈ ગયુ તામ્રપત્રો પર આવી અશુદ્ધ સહીઓના આવા અનેક દાખલા મળી આવ્યા છે

આ બધા મુદ્દાઓની ચર્ચા પછી એવો નિર્ણય ઉપર આવી શકાય કે પ્રસ્તુત સિક્કાઓ કે જે કોઈ એવા વ્યક્તિ નાં છે કે જેનું શાસન ઉત્તર ગુજરાત (ત્યાં તેના આગળના સિક્કા આ પ્રદેશમાં મળી આવ્યા છે) તથા સૌરાષ્ટ્ર(તેના આગળના સિક્કા આ પ્રદેશમાં મળેલા)માં વ્યાપ્ત હોય તે વ્યક્તિ તે જયસિંહ સિદ્ધરાજ જ હોઈ શકે છે. સોલંકી રાજાઓ સિક્કા પડાવતા તે વાત તેમના સમકાલીન સાહિત્ય પરથી આપણે જાણીએ છીએ.

ભારતીય સિક્કાઓના આલેખનકળાના વિકાસનો અભ્યાસ કરતાં આપણને જણાય છે કે ગુપ્ત રાજાઓએ જે સિક્કા બનાવેલા તેના પ્રકારમાં પછી ધીમે ધીમે ફેરફાર થતો ગયો અને કલચુરિ રાજા ગાંગેયદેવ(૧૦૧૫-૧૦૪૦)ના સમયે સિક્કાઓના આકાર પ્રકારે જે સ્વરૂપ ધારણ કરેલું તે પ્રમાણે આ સિક્કાઓની આગલી બાજુ લક્ષ્મીની આકૃતિ અને પાછલી બાજુ ત્રણ સમાંતર લીટીઓનું લખાણ હોય જેમાં સિક્કા પડાવનાર રાજાનું નામ હોય. આ સિક્કાઓનો પ્રકાર ગાંગેયદેવની શૈલી તરીકે જાણીતો છે અને ઉત્તર હિંદને ત્યાર બાદ જ્યાં જ્યાં ગુર્જરપ્રતિહાર સામ્રાજ્યના પતન પછી જે અનેક રાજ્યો અસ્તિત્વમાં આવેલાં (દા. ત. ચંદેલ, કનોજ, દિલ્હી, ગ્વાલિયર વગેરેના રાજા, તોમર, પરમાર ઇત્યાદિ વંશોના રાજાઓ જેમાં ગુજરાતનું સોલંકી રાજ્ય પણ એક હતું) ત્યાં ત્યાં આ ગાંગેયદેવની શૈલીના સિક્કા પ્રચલિત થયા હતા. આ સિક્કાઓ એમના અંતકાળના પ્રદેશોમાં મુસ્લિમ રાજ્યના આગમન સુધી ચાલુ રહ્યા હતા. જયસિંહના પ્રસ્તુત સિક્કા આ ગાંગેયદેવની શૈલીના જ છે તે તેમના પર ના લખાણની ત્રણ લીટીઓ પરથી જણાય છે. ગાંગેયદેવની શૈલીના સિક્કાઓ પર આગળની બાજુ ક્રમે ક્રમે ઉત્તરકાલના સિક્કાઓની પ્રગતિ રૂપે લક્ષ્મીની આકૃતિ પ્રમાણમાં અસ્પષ્ટ પ્રસ્તુત સિક્કાઓ પર લક્ષ્મીની આકૃતિને બદલે હાથી છે. આપણા દેશના પ્રાચીન સિક્કાઓ પર દેવની આકૃતિના બદલે તેના પ્રતિનિધિ તરીકે તેના વાહનની આકૃતિ મૂકવાનો રિવાજ હતો. પ્રાચીન સિક્કાઓ પર દેવના ઉપયોગ ચિહ્નને બદલે તેના વાહન રૂપે આ આકૃતિ મળી આવે છે તે જાણીતી વાત છે. ગાંગેયદેવની શૈલીના સિક્કા કે જે ૧૧ મીથી ૧૪મી સદી સુધી તત્કાલીન ચૌહાણ, દિલ્હી તથા ગુજરાતના સોલંકીઓના સમકાલીન બીજા રાજાઓએ પોતપોતાના પ્રદેશોમાં વાપરવામાં મૂકેલા હતા તેમના પર શિવને બદલે તેના પ્રતિનિધિ તરીકે પોઠિયાની આકૃતિ મળી આવે છે. તો એવા સંજોગોમાં જયસિંહના પ્રસ્તુત સિક્કાઓ પર જે હાથીનું ચિહ્ન છે તે લક્ષ્મીનું પ્રતીક છે એમ માનવું ઉચિત જ છે. આ રીતે હાથીની આકૃતિ દક્ષિણના કેટલાક સિક્કાઓ પર પણ મળી આવી છે. ખાસ કરીને ઈશાન ભાગે અને એ પર લક્ષ્મીનાં અભિષેક કે તેમને સ્નાન એક હાથી જળ અભિષિક્ત નોંધ મળી આવી છે. એ સોલંકીઓના સિક્કાઓ પર લક્ષ્મીની આકૃતિ રહી હોવાનું જણાવે છે. જયસિંહના પ્રસ્તુત સિક્કાઓ કદમાં નાના છે અને તેમના પર લક્ષ્મીની આકૃતિ સમાઈ શકે તેમ નથી એટલે આવા સિક્કાઓ પર લક્ષ્મીના સ્થાને તેનું વાહન હાથી કે જે તેની સંક્ષિપ્ત આકૃતિને સહેલાઈથી સમાવે તેવા નાના સિક્કામાં સમાઈ શકે તે મૂકી હોય એમ માની શકાય.

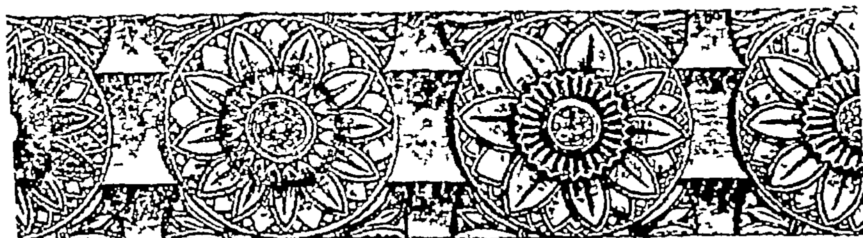
ઉપર જણાવેલા બધા મુદ્દા આપણને આ નિર્ણય પર દોરી જાય છે કે પ્રસ્તુત સિક્કા ગુજરાતના સોલંકી રાજા જયસિંહ સિદ્ધરાજ(૧૦૯૪-૧૧૪૩)ના જ છે. સિદ્ધરાજ માત્ર ગુજરાતનો જ નહિ પણ આખા હિંદના ઇતિહાસમાં મોટો રાજા ગણાયો છે. તેનું મોટું સામ્રાજ્ય હતું એટલું જ નહિ તેના પર આખું ગુજરાતનું ઐતિહાસિક તથા ધાર્મિક સાહિત્ય ખૂબ લખાયું છે. પરંતુ ગુજરાતના આ સાહિત્યમાં પણ તેના સિક્કા વિષે ઘણી ઓછી માહિતી મળે છે. હિંદી ભાષાના કવિ સોમેશ્વર અને પ્રબંધ લખનાર વિદ્વાન શ્રી મેરુતુંગ વગેરે આપણા આ સિદ્ધરાજ વિષે હિંદી આચાર્ય સિદ્ધરાજ

નામના એક ઉચ્ચ કોટિનો કાવ્યગ્રંથ લખ્યો છે જેના વિવેચન પર પણ હિંદીમા સ્વતંત્ર પુસ્તકો લખાઈ ગયા છે આવા મોટા રાજાએ સિક્કાઓ પડાવ્યા હોય તે દેખીતુ જ છે અને આ સિક્કા તાંબુ અને ચાંદી એમ બે ધાતુઓના જ મળી આવ્યા છે રાજાના સોનાના સિક્કા તેના જ હોવાનો નિષ્ણાત સિક્કાશાસ્ત્રીઓએ અભિપ્રાય આપ્યો છે

ગુજરાતમા સોલંકીઓના જમાનામા ગધૈયા (Indo-Sassasian) સિક્કાઓ જ ચાલુ રહેલા આ વાત આ સિક્કાઓની શોધ તથા સમકાલીન સાહિત્યિક નોંધોના આધારે બરોબર લાગતી નથી

આ હકીકત છતા સોલંકીઓના સિક્કાઓ વિરલ સંજોગોમા જ મળી આવે છે તેમના ઉત્તરાધિકારીઓ ગુજરાતના મુસ્લિમ સુલતાનો(૧૪૦૩–૧૫૭૩)ના સિક્કાઓની જેમ તે અવારનવાર ઉપલબ્ધ થતા નથી તેનુ કારણ આ લાગે છે કે અલાઉદ્દીન ખીલજી (૧૨૯૫–૧૩૧૫) તરફથી તેના સેનાપતિ ઉલુઘખાને ૧૨૯૭મા ગુજરાત પર આક્રમણ કરી સોલંકી રાજ્યનો અંત આણ્યો હતો પછી અહીં ખીલજી રાજ્ય સ્થપાયુ હતું અલાઉદ્દીનના રાજ્યમા પ્રજા કચરાયેલી રહે અને તેના રાજ્યની સામે તે માથુ ન ઊંચકી શકે તે માટે તેણે હિંદુ પ્રજા પર અમલ કરવેરા નાખ્યા હતા ખાસ કરીને ઉપરાંત હિંદુઓ પર અનેક વેરાઓ લાદ્યા હતા વળી ખેડૂત પાસેથી તેની ખેતીની ઊપજનો અર્ધોઅર્ધ ભાગ લેવામા આવતો હતો ખેડૂત પાસે માત્ર આવતો પાક વાવવા પૂરતી જ સગવડ રહે કે જેથી તે કર ભરવા પૂરતો જ જીવતો રહી શકે તેટલી હદ સુધી કરવેરાઓ મારફતે તેને આર્થિક દૃષ્ટિએ તદ્દન નીચોવી નાખવામા આવતો પરિણામે કુટુંબ, સમાજ, ધર્મ, ઈ૦ને લગતી જવાબદારીઓ પૂરી કરવા અલાઉદ્દીનના રાજ્યકાળમા ગુજરાતના ખેડૂત, વેપારી તથા અન્ય વર્ગ પાસે જે કાંઈ નાણું, ઘરદાગીના ઈ૦ હતા તે તેમણે બધા કાઢી નાખવા પડ્યા આ રીતે અગાઉના સિક્કા કે બીજી વસ્તુઓના રૂપે ગુજરાતની પ્રજાનુ સોનુ ને ચાંદી દિલ્હી પહોંચ્યા, જ્યા આ બધાનો નાશ કરી નવા સિક્કા વગેરે પાડવામા આવ્યા સોલંકીઓના સિક્કાઓ આમ દિલ્હી ગળાવા માટે પહોંચતા તેની વિગત અલાઉદ્દીનની ટંકશાળના અમલદાર ઠક્કુર ફેરના પુસ્તક 'દ્રવ્યપરીક્ષા' પરથી જાણવા મળે છે

આ છતા જો ગુજરાતને આગળ સોલંકીઓના સિક્કાઓ માટે સારી પેઠે તપાસ ચલાવવામા આવે તો, જેમ આ લેખમા જણાવેલા બે કિસ્સાઓમા તે અચાનક મળી આવ્યા છે તેમ તે અનેક સ્થળે ચોક્કસ મળી આવે



હેમચન્દ્રાચાર્ય એમનુ જીવન અને કવન

[illegible]

ગુજરાતના ઇતિહાસમાં [illegible] અને [illegible] સિદ્ધરાજ [illegible] કુમારપાળ [illegible] ગુજરાતની [illegible] હેમચન્દ્રાચાર્ય [illegible]

[illegible]

હેમચન્દ્રાચાર્યનો જન્મ સંવત ૧૧૪૫માં કાર્તિક સુદિ પૂનમને દિવસે ધંધુકામાં થયો હતો. એમના પિતાનુ નામ ચાચ અને માતાનુ નામ પાહિણી (અથવા પાહિની) હતુ. હેમચન્દ્રાચાર્યનું બાળપણનું નામ ચંગદેવ હતુ. એમ કહેવાય છે કે એક વખત ધંધુકામાં દેવચન્દ્રસૂરિ પધાર્યા ત્યારે પાહિણી એમને વંદન કરવા ગઈ અને પોતે સ્વપ્નમાં એક રત્નચિંતામણિ જેવો [illegible] તેની વાત કરે છે. [illegible] દેવચન્દ્રસૂરિ પાહિણીના [illegible] કરે છે કે તુ એક રત્નચિંતામણિ જેવા

હેમચન્દ્રાચાર્ય એમનું જીવન અને કવન

પ્રા૦ રમણલાલ સી૦ શાહ, એમ એ.

ગુજરાતના ઇતિહાસમાં શૌર્ય, સમૃદ્ધિ અને સંસ્કારિતાની દૃષ્ટિએ મહાન કહી શકાય એવો યુગ તે સોલંકી યુગ. આ યુગમાં મૂળરાજ, ભીમ, કર્ણ, સિદ્ધરાજ, કુમારપાળ એમ એક પછી એક પરાક્રમી, પ્રતાપવાન અને કુશળ રાજાઓ રાજ્ય કરી ગયા અને ગુજરાતની કીર્તિને એમણે દૂર [illegible] કલાત્મક મંદિરો વગેરેથી આ જમાનો ગુજરાતના ઇતિહાસમાં સુવર્ણયુગ તરીકે ઓળખાવા લાગ્યો. આ સુવર્ણયુગને એની જ પરાકાષ્ઠાએ પહોંચાડનાર સિદ્ધરાજ અને કુમારપાળ હતા. અને એ બંને રાજવીઓને મહાન પ્રેરણાદાતા પ્રતિભાસંપન્ન, ગુરુ આચાર્ય હેમચન્દ્રાચાર્ય હતા. જે સ્થાન વિક્રમાદિત્યના રાજ્યમાં કવિ કાલિદાસનું હતું, જે સ્થાન હર્ષના રાજ્યમાં બાણભટ્ટનું હતું તે સ્થાન સિદ્ધરાજ અને કુમારપાળના જમાનામાં હેમચન્દ્રાચાર્યનું હતું. ઇતિહાસમાંથી હેમચન્દ્રાચાર્યને જો આપણે બાદ કરીએ તો એ જમાનું અપૂર્વ અને અસાધારણ તેજ આપણી સામે ઝાંખું થતું. હેમચન્દ્રાચાર્ય ન હોત તો તત્કાલીન ગુજરાતી પ્રજા અને એ જમાનાના ભાષા અને સાહિત્ય આટલાં સમૃદ્ધ ન હોત. હેમચન્દ્રાચાર્યના સમય પહેલાં માળવાના પંડિતો ગુજરાતીઓની ઠેકડી કરતા. સાહિત્ય અને સંસ્કારિતામાં ગુજરાતીઓ શું સમજે એમ કહી ગુજરાતીઓને તુચ્છ લેખવામાં આવતા. તેને બદલે ગુજરાતી પ્રજાને હેમચન્દ્રાચાર્યે ભાષા, સાહિત્ય અને સંસ્કારની દૃષ્ટિએ ગૌરવ અને સન્માન અપાવ્યાં. એમને લીધે એક સમય એવો આવ્યો કે જ્યારે પાટણમાં રહેવું અને પોતાની જાતને ગુજરાતી કહેવડાવવું એ ગૌરવ લેવાની વાત બની. તે સમયના ગુજરાતના સાધુઓ, પંડિતો અને કવિઓ ગુજરાત બહાર પૂજાતા હતા.

હેમચન્દ્રાચાર્યના જીવન વિશે સંસ્કૃત, પ્રાકૃત અને અપભ્રંશ ગ્રંથોમાંથી પુષ્કળ માહિતી મળે છે. પ્રભાચન્દ્રસૂરિના પ્રભાવકચરિત્ર, મેરુતુંગાચાર્યના પ્રબંધચિંતામણિ, રાજશેખરના પ્રબંધકોશ અને જિનમંડન ઉપાધ્યાયના કુમારપાળચરિત્ર નામના ગ્રંથોમાંથી હેમચન્દ્રાચાર્ય વિશે પુષ્કળ માહિતી મળી આવે છે. જેમ નરસિંહ અને મીરાં, તુલસીદાસ અને જ્ઞાનેશ્વર, કબીર અને ચૈતન્ય જેવા સંતોના જીવન વિશે તેમ જ કાલિદાસ અને ભવભૂતિ જેવા કવિઓ કે વિક્રમ અને ભોજ જેવા રાજવીઓ વિશે અનેક દંતકથાઓ પ્રચલિત છે તેમ હેમચન્દ્રાચાર્ય વિશે પણ ઘણી દંતકથાઓ પ્રચલિત છે. આવી પ્રાચીન દંતકથાઓમાં ઐતિહાસિક અને અનૈતિહાસિક અને કેટલીક તો કલ્પિત રીતે જ જોડી કાઢી હોય એવી છે. પરંતુ કે એક પ્રસંગ એક રીતે આપવામાં આવી હોય અને બીજા ગ્રંથમાં બીજી રીતે આપવામાં આવી હોય. હેમચન્દ્રાચાર્યે પોતાના [illegible] આત્મકથાની નોંધ કરી નથી હતી, [illegible] રાજવીને રિઝવવા પોતાની પાસે આવેલો હતો કે ત્યારથી ખૂટતી કડી આ ઉમેરાઈ હતી — એવી એવી દંતકથાઓ ન માની શકાય એવી છે એમ કહી નથી.

હેમચન્દ્રાચાર્યનો જન્મ સંવત ૧૧૪૫માં કારતક સુદિ પૂનમને દિવસે ધંધુકામાં થયો હતો. એમના પિતાનું નામ ચાચ અને માતાનું નામ પાહિણી (અથવા ચાહિણી) હતું. હેમચન્દ્રાચાર્યનું બાળપણનું નામ ચંગદેવ હતું. એમ કહેવાય છે કે એક વખત ધંધુકામાં દેવચન્દ્રસૂરિ પધાર્યા તે સમયે પાહિણી એમને વંદન કરવા જાય છે અને પોતે સ્વપ્નમાં એક રત્નચિંતામણિ જોયો હતો તેની વાત કરે છે. જ્યોતિષના આધારે દેવચન્દ્રસૂરિ પાહિણીના ચહેરાની રેખાઓ પારખીને કહે છે કે તું એક રત્નચિંતામણિ જેવા

પુત્રને જન્મ આપીશ ત્યાર પછી દેવચન્દ્રસૂરિ વિહાર કરતા ચાલ્યા ગયા ફરી કેટલાક વર્ષ જ્યારે દેવચન્દ્રસૂરિ પાછા ધંધુકામા આવ્યા ત્યારે ચાહિણી એમને વદન કરવા ગઈ સાથે પાંચેક વર્ષનો ચગ હતો ચાહિણી જ્યારે વદન કરતી હતી ત્યારે ચગ મહારાજની પાટે ચઢી એમની પાસે બેસી ગયો હતો તે સમયે દેવચન્દ્રસૂરિએ ચાહિણીને પેલા રત્નચિંતામણિની યાદ આપી, અને પુત્ર પોતાને સોંપવા કહ્યુ ચાહિણીનો પતિ તે સમયે બહારગામ વેપારાર્થ ગયો હતો, એટલે એને પૂછ્યા વિના પુત્ર કેવી રીતે આપી શકાય? દેવચન્દ્રસૂરિએ ચાહિણીને ખૂબ સમજાવી અને કહ્યુ કે પતિ બહારગામ છે એ કદાચ કુદરતી સંકેત હશે અને ચાહિણીએ પોતાનો પુત્ર દીક્ષાર્થે દેવચન્દ્રસૂરિને આપી દીધો, અને દેવચન્દ્રસૂરિ વિહાર કરતા ખભાત પહોંચ્યા દરમ્યાન ચાચ બહારગામથી પાછો આવ્યો પુત્રને ન જોતા તુરત ગુસ્સે થઈ, ખાધાપીધા વિના પગપાળો ખભાત આવી પહોંચ્યો અને મેલાઘેલા વેશે ઉદયન મત્રી પાસે જઈ ફરિયાદ કરી ઉદયન મત્રીએ દેવચન્દ્રસૂરિ પાસેથી એનો પુત્ર મગાવી એને પાછો સોંપ્યો, અને પછી સમજાવ્યુ કે 'આ પુત્ર તારી પાસ રાખશો તો બહુ બહુ તો એ ધંધુકાનો નગરશેઠ બનશે, અને દેવચન્દ્રસૂરિને સોંપશો તો એક મહાન આચાર્ય થશે અને આખી દુનિયામા નામ કાઢશે' ઘણુ સમજાવ્યા પછી ચાચે પોતાનો પુત્ર દેવચન્દ્રસૂરિને પાછો સોંપ્યો

ત્યાર પછી નવમે વર્ષે ચગને દીક્ષા આપવામા આવી અને એનુ નામ પાડવામા આવ્યુ સોમચન્દ્ર નાના સોમચન્દ્રે ત્યાર પછી સસ્કૃત, પ્રાકૃત અને અપભ્રશ ભાષાનો અભ્યાસ કર્યો સાથે સાથે વ્યાકરણ, કાવ્યાલકાર, યોગ, ન્યાય, ઇતિહાસ, પુરાણ, તત્ત્વજ્ઞાન વગેરે ભિન્ન ભિન્ન શાખાઓનો પણ ઊંડો અભ્યાસ કર્યા વિદ્યામા પારગત બનતા આ સયમી, અલ્પભાષી, તેજસ્વી યુવાન સાધુને વધુ અભ્યાસાર્થ કાશ્મીર જવાની ઇચ્છા થઈ ગુરુએ એને સમજાવ્યુ કે તારુ સ્થાન ગુજરાતમા છે, ગુજરાત બહાર જવાના સ્વપ્નાં સેવવાની જરૂર નથી ઉત્તરોત્તર ગુરુને પણ પ્રતીતિ થતી જાય છે કે સોમચન્દ્રની દૃષ્ટિનો ઘણો વિકાસ થયો છે, એની પ્રજ્ઞા પરિણત બનવા લાગી છે, એની તેજસ્વિતા વધતી જ ચાલી છે એટલે એમણે પોતાની પાટે આચાર્યપદે સોમચન્દ્રને સ્થાપવાનો નિશ્ચય કર્યો અને વિ સ ૧૧૬૬મા સોમચન્દ્રને એકવીસમે વર્ષે દેવચન્દ્રસૂરિએ ખભાતમા વિધિપૂર્વક આચાર્યપદે સ્થાપ્યા અને એમનુ નામ પાડવામા આવ્યુ હેમચન્દ્ર એ સમયે હેમચન્દ્રાચાર્યની માતા, જેમણે પણ દીક્ષા લીધેલી છે તે હાજર હોય છે માતાપુત્ર બન્ને આ રીતે સાધુજીવનમા એકબીજાને નિહાળી પ્રસન્નતા અનુભવે છે હેમચન્દ્રાચાર્ય પોતાની માતાને એ વખતે પ્રવર્તિનીનું પદ અપાવે છે

અહીંથી હવે હેમચન્દ્રાચાર્યનો કીર્તિકાળ શરૂ થાય છે પાટણમા તે સમયે સિદ્ધરાજ (લોકોમા જાણીતા સધરા જેસગ)નુ રાજ્ય ચાલતુ હતું એ સમયે હેમચન્દ્રાચાર્ય દેવસૂરિ સાથે પાટણમા આવે છે અને બનારસથી આવેલા કુમુદચન્દ્ર સાથે ધર્મચર્ચામા ભાગ લે છે ત્યારથી સિદ્ધરાજને હેમચન્દ્રાચાર્યની પ્રતિભાનો પરિચય થાય છે તે સમયે સિદ્ધરાજની વિદ્વદ્સભામા રાજકવિ તરીકે શ્રીપાલને સ્થાન હતું અને રાજપડિત તરીકે દેવબોધને સ્થાન હતુ, એ બન્નેને એકબીજા પ્રત્યે તેજોદ્વેષ હતો અને ... રાજાને એ બન્નેથી અસતોષ હતો એટલે સિદ્ધરાજે પોતાની વિદ્વદ્સભામાં એ બન્નેને ... હેમચન્દ્રાચાર્યને સ્થાન આપ્યુ

ત્યાર પછી સિદ્ધરાજે માલવા પર ચઢાઈ કરી એમા એને ફત્તેહ મળી માલવાની ... ગુજરાતમા લાવવા સાથે એના માણસો માલવાથી ગાડાના ગાડા ભરી હસ્તપ્રતો પણ ... કસિદ્ધરાજે 'ભોજ વ્યાકરણ'ની પ્રત જોઈ પડિતોને પૂછ્યુ તો ગુજરાતમા ક્યાક 'ભોજ ... ક્યાક કાતત્રનું વ્યાકરણ ચાલતું હતું ગુજરાત પાસે પોતાનુ કહી શકાય એવુ વ્યાકરણ ...

ધામધૂમ છે એમ પંડિતોએ સ્વીકાર્યું અને સિદ્ધરાજે હેમચન્દ્રાચાર્યને એવું વ્યાકરણ રચવાની વિનંતિ કરી. એ માટે કાશ્મીરથી અને બીજા ભિન્ન સ્થળોએથી ભિન્ન ભિન્ન વ્યાકરણોની પ્રતો સિદ્ધરાજે મંગાવી આપી. એનો ઊંડો અને ઝીણો અભ્યાસ કરી હેમચન્દ્રાચાર્યે એક ઉત્તમ વ્યાકરણની રચના કરી. સિદ્ધરાજની વિનંતિથી એ રચાયું માટે એની યાદગીરી રહે એટલા માટે એમણે વ્યાકરણનું નામ આપ્યું 'સિદ્ધહેમ'. આ વ્યાકરણની પંડિતોએ મુક્ત કંઠે પ્રશંસા કરી. સિદ્ધરાજે એની પહેલી હસ્તપ્રત હાથી પર અંબાડીમાં મૂકી નગરમાં ફેરવી અને એનો વરઘોડો કાઢ્યો. ત્યાર પછી વિદ્વત્સભામાં એનું વિધિપૂર્વક પઠન થયું. એ વ્યાકરણની હસ્તપ્રતો તૈયાર કરવા માટે ગુજરાતમાંથી ૩૦૦ જેટલા લહિયાઓને રોકવામાં આવ્યા. હસ્તપ્રતો તૈયાર થતાં હિંદુસ્તાનમાં ઠેર ઠેર મોકલવામાં આવી. એની એક સુંદર હસ્તપ્રત રાજભંડારમાં પણ મૂકવામાં આવી અને ત્યારથી ગુજરાતમાં 'સિદ્ધહેમ' શીખવવાનું શરૂ થયું. કાકલ નામના એક વિદ્વાન પંડિતની પાટણમાં વ્યાકરણ શીખવવા માટે નિમણૂક કરવામાં આવી. આમ સિદ્ધરાજે હેમચન્દ્રાચાર્યના વ્યાકરણનું બહુમાન કર્યું, અને ત્યારથી હેમચન્દ્રાચાર્ય બીજી કૃતિઓની રચના કરવા તરફ પ્રેરાતા ગયા.

સિદ્ધરાજ હેમચન્દ્રાચાર્યની પ્રતિભાથી એટલા બધા પ્રભાવિત થયા કે ત્યારથી હેમચન્દ્રાચાર્યે સિદ્ધરાજના મિત્ર અને માર્ગદર્શકનું સ્થાન લીધું. એને પરિણામે સિદ્ધરાજનો જૈન ધર્મ પ્રત્યેનો અનુરાગ વધ્યો. એને પરિણામે હેમચન્દ્રાચાર્યે સિદ્ધરાજના જીવન અને સોલંકી કુળ વિશે સંસ્કૃતમાં 'દ્વયાશ્રય મહાકાવ્ય' લખ્યું. એને પરિણામે સિદ્ધરાજ હેમચન્દ્રાચાર્ય સાથે જૈન દેરાસરમાં દર્શન કરવા જતા અને હેમચન્દ્રાચાર્ય સિદ્ધરાજ સાથે સોમનાથની યાત્રાએ જતા. ધાર્મિક સહિષ્ણુતા અને અસાંપ્રદાયિકતાના એ જમાનામાં હેમચન્દ્રાચાર્ય ધર્મના સાર્વત્રિક સ્વરૂપની પર હતા, અને એટલે જ સોમનાથના શિવલિંગને ઉદ્દેશીને 'મહેશ્વરો વા નમસ્તસ્મૈ।' એમ કહીને પ્રણામ કરી સ્તુતિ કરવા લાગ્યા હતા. સિદ્ધરાજને સર્વધર્મસમભાવનું માહાત્મ્ય સમજાવનાર પણ હેમચન્દ્રાચાર્ય જ હતા. કોઈ પણ ધર્મ માત્ર પોતે જ સાચો છે એવું મિથ્યાભિમાન ધરાવી ન શકે. દરેક ધર્મમાં કંઈક અંશે સત્ય સમાયેલું છે અને માટે જ સત્યની શોધ માટે પ્રત્યેક ધર્મનો સમભાવપૂર્વક અભ્યાસ કરનાર જ સાચો ધર્મ પામી શકે છે એમ હેમચન્દ્રાચાર્ય માનતા હતા અને એ પ્રમાણે માનતા સિદ્ધરાજને કર્યા હતા.

સિદ્ધરાજને સંતાન ન હોવાથી એની ગાદીએ આવે છે એનો ભત્રીજો કુમારપાળ. અને આથી હેમચન્દ્રાચાર્યના જીવનનો બીજો તબક્કો શરૂ થાય છે. જ્યોતિષના આધારે હેમચન્દ્રાચાર્યને આગાહી ખબર પડી ગઈ હતી કે નહિ તે આપણે જાણતા નથી, પણ એટલું તો નક્કી લાગે છે કે હેમચન્દ્રાચાર્યે કુમારપાળને કેટલીક વાર કૃપા બતાવી, સિદ્ધરાજના માણસો એનું ખૂન કરવા ફરતા હતા ત્યારે ખંભાતમાંથી પૈસાની ઉપાશ્રયમાં તાડપત્રી નીચે સંતાડી દીધા હતા. આ ઉપકાર કુમારપાળ ભૂલ્યા ન હતા. રાજ્યારોહણ પછી સામ્રાજ્યના બધા પર રાજ્ય સ્થિર કરવામાં અને વિસ્તારવામાં ગયાં. ત્યાર પછી કુમારપાળ ૩૦ વર્ષે પોતાના ગુરુ હેમચન્દ્રાચાર્યની આજ્ઞા અનુસાર વર્તવાનું શરૂ કર્યું. હેમચન્દ્રાચાર્યની પ્રેરણા મુજબ પોતાના રાજ્યમાં પશુવધ, જુગાર, શિકાર, માંસાહાર, દારૂ વગેરે પર કૃપા કરી પ્રતિબંધ કરવામાં રાજ્યની તિજોરીને ભારે નુકસાન થવા છતાં અપુત્રિકનું ધન લઈ લેવાનું બંધ કરાવ્યું. જૈન ધર્મ પ્રત્યેના અનુરાગને લીધે ઠેર ઠેર જૈન મંદિરો બંધાવ્યાં અને પરમાર્હતનું બિરુદ લોકો તરફથી મેળવ્યું. સિદ્ધરાજની જેમ કુમારપાળને પણ પુત્ર ન હોવાથી ચિંતામાં એના જીવનમાં એની ચિંતા વધી ગઈ હતી, તે સમયે એના મનનું સમાધાન કરવા માટે હેમચન્દ્રાચાર્યે યોગશાસ્ત્રની રચના કરી.

હેમચન્દ્રાચાર્યનુ આખુ જીવન સતત ઉદ્યોગપરાયણ હતું એકંદરે દીર્ઘાયુષ્ય એમને સાપડ્યુ હતું પોતાનો અવસાન સમય પાસે આવેલો જાણી તેમણે અનશનવ્રત શરૂ કર્યું શિષ્યોને પણ અગાઉથી સૂચના આપી દીધી હતી એમ કરતા સં૦ ૧૨૨૯મા ૮૪ વર્ષની વયે એમનું અવસાન થયુ

સાહિત્યના ક્ષેત્રમા પણ હેમચન્દ્રાચાર્યનુ અર્પણ જેવુતેવુ નથી માત્ર હિંદુસ્તાનની અન્ય ભાષાઓના સાહિત્યમા જ નહિ, વિશ્વસાહિત્યમા જેને મૂકી શકાય એવી સર્વતોમુખી પ્રતિભાવાળા હેમચન્દ્રાચાર્ય હતા એમની કીર્તિ દેશવિદેશના પ્રાચીન ભાષાસાહિત્યના અભ્યાસીઓમા પ્રસરેલી છે આશ્ચર્ય થશે કે અર્વાચીન સમયમા એમના જીવન અને સાહિત્ય ઉપર સૌ પ્રથમ સુંદર સમીક્ષા કરનાર એક જર્મન પડિત ડૉ૦ બુલ્હર છે શ્રી કનૈયાલાલ મુનશીએ એમને યોગ્ય રીતે જ ગુજરાતના મહાન જ્યોતિર્ધર તરીકે ઓળખાવ્યા છે એમની સાહિત્યસેવાનો સુદર, સચોટ અને સક્ષિપ્ત પરિચય સોમપ્રભસૂરિએ એક શ્લોકમા આપ્યો છે

क्लृप्त व्याकरण नव विरचित छन्दो नव द्व्याश्रयाऽलकारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितौ श्री योगशास्त्र नवम् ।
तर्क सजनितो नवो जिनवरादीना चरित्र नव बद्ध येन न केन विधिना मोह कृतो दूरत ॥

અર્થાત્—" નવુ વ્યાકરણ, નવુ છદશાસ્ત્ર, દ્વયાશ્રય મહાકાવ્ય, નવુ અલકારશાસ્ત્ર, નવુ યોગશાસ્ત્ર, નવુ તર્કશાસ્ત્ર અને જિનવરોના નવા ચરિત્ર—આ બધળુ જેમણે રચ્યુ તે હેમચદ્રાચાર્યે લોકોનો મોહ કઈ કઈ રીતે દૂર નથી કર્યો ? "

એટલે કે હેમચન્દ્રાચાર્યે પોતાના સમયમા સાહિત્યના એક પણ ક્ષેત્રમા પોતાનો અમૂલ્ય ફાળો આપવાનો બાકી રાખ્યો નહોતો

એમણે સિદ્ધહેમ–શબ્દાનુશાસન નામના વ્યાકરણની રચના કરી એ વ્યાકરણની એ સમયથી તે અત્યાર સુધી પ્રાકૃત અને અપભ્રશ ભાષાના એક આધારભૂત વ્યાકરણ તરીકે ગણના થાય છે પ્રાકૃત અને અપભ્રશ ભાષાના બધારણ વિષે આપણને હેમચન્દ્રાચાર્યના વ્યાકરણ જેવુ આધારભૂત વ્યાકરણ બીજુ એકે મળતુ નથી, એટલે ભવિષ્યમા પણ વષા સુધી એમનું આ વ્યાકરણ જ આધારગ્રથ તરીકે રહેશે હેમચન્દ્રાચાર્યે આ વ્યાકરણમા—વિશેષત અપભ્રશ ભાષાના વ્યાકરણના નિયમોમા—ઉદાહરણ તરીકે વ્યવહાર, પ્રેમ, શૌર્ય અને શૃગારના જે દૂહાઓ આપ્યા છે તે વ્યાકરણના ઉદાહરણ કરતા ઉત્તમ કવિતા તરીકે વધુ જાણીતા થયા છે એ દૂહાઓ એ જમાનાનો આપણને ખ્યાલ આપે છે અને સાથે સાથે સાધુ હેમચન્દ્રાચાર્ય સાસારિક બાબતોને પણ અલિપ્ત રહી કેટલી ઝીણવટથી નિહાળતા હશે તેનો પણ ખ્યાલ આપે છે

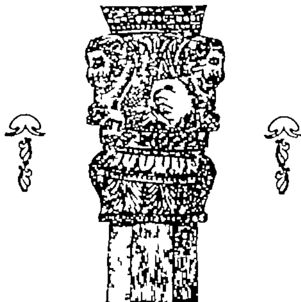
આ ઉપરાત એમણે અનેકાર્થસગ્રહ, અભિધાનચિંતામણિ અને દેશીનામમાલા જેવા શબ્દસગ્રહો તૈયાર કર્યા એ જમાનામા એમણે એક નહિ, પણ ભિન્ન ભિન્ન દૃષ્ટિબિન્દુથી ત્રણ ત્રણ શબ્દકોષ તૈયાર કર્યા સિદ્ધહેમ – શબ્દાનુશાસન પછી એમણે લિંગાનુશાસન, છદાનુશાસન અને કાવ્યાનુશાસન એમ ત્રણ બીજા શાસનોની રચના કરી વ્યાકરણના નિયમના ઉદાહરણ તરીકે પણ રજૂ થઈ શકે એવા શ્લોકની રચના વડે એમણે સસ્કૃત અને પ્રાકૃતમા દ્વયાશ્રય નામનું મહાકાવ્ય લખ્યુ યોગશાસ્ત્ર, મહાવીરચરિત્ર અને પુરાણોની તોલે મૂકી શકાય એવા ત્રિષષ્ટીશલાકાપુરુષચરિત્ર જેવા મહાન ગ્રથો લખ્યા એટલે સાહિત્યના ક્ષેત્રે પણ ભિન્નભિન્ન શાખાઓમા એમણે પોતાનો વિશિષ્ટ ફાળો નોંધાવ્યો હેમચન્દ્રાચાર્ય મહાન વિદ્વાન હતા, મહાન કોષકાર હતા, મહાન કવિ હતા અને મહાન વૈયાકરણી પણ હતા એમની અજોડ પ્રતિભા વ્યાકરણ જેવા શુષ્ક ગણાતા વિષયમા અને કવિતા જેવા

રસિક ગ્રંથના વિષયમાં એક સરખી આસાનીથી વિહરતી. સાહિત્યની સેવા અને ઉપાસનામાં એમણે પોતાની જિંદગીના લગભગ ૬૪ વર્ષો વીતાવ્યાં. એમણે પોતાના સમયમાં સાહિત્યનો એક વિશિષ્ટ યુગ પ્રવર્તાવ્યો એમ કહી શકાય.

હેમચન્દ્રાચાર્ય એક જૈનાચાર્ય અને પ્રખર સાહિત્યકાર તરીકે તો મહાન હતા, પણ એક માનવ તરીકે પણ મહાન હતા. તેઓ અત્યંત ભાવિક, તેજસ્વી અને વિનમ્ર હતા. હૃદયની વિશાળતા અને ઉદારતા તો એમણે દેવબોધ કે વીરાચાર્ય જેવા વિરોધી કે પ્રતિસ્પર્ધીને ઉગારી લીધા હતા. તેઓ સાધુ હતા, છતાં સંસારિક બાબતોમાં રસ લેતા હતા અને તો પણ સંયમના રક્ષણ રાખ્યા વિના તેઓ સામાજિક પ્રવૃત્તિઓને પોતાના સાધુત્વના રક્ષણથી દૂર રાખી દેતા. તેઓ હંમેશાં રાજ્યાશ્રી પર રહ્યા હતા. પોતાના જીવન દરમ્યાન એક નહિ પણ બે રાજાઓને પોતાના વ્યક્તિત્વથી પ્રભાવિત કર્યા હતા અને અનેક કુમાર, રાજકુટુંબના અને સામન્તો પણ પોતાની પ્રભાવ મુજબ તેમની પાસે ધર્મ કરાવી શક્યા હતા. વાણીની સત્તામાં એમના અનુયાયીઓ હતા અને છતાં ક્યાંયે પણ અહંતાની એમણે કદી મહત્તાકાંક્ષા સેવી નહોતી. એમના શિષ્યો તો એમનાં ગુણગાન ગાતાં થાકતા જ નહિ. કહેવાય છે તો નિર્ગ્રન્થનિર્ગ્રન્થીપ્રભાવકકીર્તિ. શ્રીહેમચન્દ્રો ગુરુઃ । જેવી પંક્તિઓ ઉચ્ચારી વર્ષો સુધી આ યુગમાં એમનું સ્મરણ કરતા.

હેમચન્દ્રાચાર્ય માત્ર ગુજરાતના જ નહિ, માત્ર હિંદુસ્તાનના જ નહિ પણ જગતના એક મહાન માનવી હતા એમ નિઃશંક રીતે કહી શકાય.

એવા મહાન જ્યોતિર્ધરને આપણાં વંદન હો!



‘ખુશ્ફહ્મ’ સિદ્ધિચંદ્રગણિકૃત

નેમિનાથ ચતુર્માસકમ્

પ્રા૦ મજુલાલ ર૦ મજમુદાર, એમ એ, એલએલ બી પીએચ ડી,

સિદ્ધિચદ્રગણિ ઉપાધ્યાય એ ભાનુચદ્રના શિષ્ય થાય આ બન્ને ગુરુ શિષ્ય શહેનશાહ અકબરના દરબારમા રહ્યા હતા અને સન્માનિત થયા હતા

ગુરુ ઉપાધ્યાય ભાનુચદ્ર અકબર પાસે સસ્કૃતમા ‘ સૂર્યસહસ્ર નામ ’ બોલતા, એટલે અકબરશાહ તેમના મુખેથી દર રવિવારે સૂર્યના સહસ્ર નામ શ્રવણ કરતા ઇતિહાસનવીસ બદાઉનિ લખે છે કે “બ્રાહ્મણોની માફક સમ્રાટ પણ પ્રાત કાળે પૂર્વ દિશા તરફ મુખ રાખી ઊભા રહેતા અને સૂર્યની આરાધના કરતા, તેમ જ સૂર્યના સહસ્ર નામનો પણ સસ્કૃત ભાષામા જ ઉચ્ચાર કરતા” (બદાઉનિ ૨, ૩૩૨)

આવા પ્રભાવશાળી ગુરુના શિષ્ય સિદ્ધિચદ્રે બાદશાહ અકબરને પ્રસન્ન કર્યા હતા, અને તે ઉપરથી સિદ્ધાચલ પર મન્દિરો બધાવવાનો બાદશાહે જે નિષેધ કર્યો હતો તે તેમની પાસ જ દૂર કરાવ્યો હતો સિદ્ધિચદ્રે ‘ યાવની ’ એટલે ફારસી ભાષાના ઘણા ગ્રથો બાદશાહને જિજ્ઞાસુ જાણી ભણાવ્યા હતા

એક શાતિચદ્ર નામના મુનિએ પણ ‘कृपारसकोश’ નામે સસ્કૃત કાવ્ય રચી અને સભળાવી અકબરશાહ ઉપર ભારે અસર કરી હતી—જેને પરિણામે જીવદયાના પાલનમા તથા ‘જજિયા’ જેવો કર કાઢી નાખવાની બાદશાહે કૃપા કરી હતી આ શાતિચદ્ર ‘ શતાવધાની ’ હતા એક સાથે સો જેટલી વસ્તુઓમા તેઓ ધ્યાન રાખી તેને મગજમા ઠસાવી શકતા તેમની જેમ, ભાનુચદ્રના શિષ્ય સિદ્ધિચદ્ર પણ શતાવધાન કરી શકતા હતા આ સિદ્ધિચદ્રના પ્રયોગો જોઈ, બાદશાહે તેમને ‘ ખુશ્ફહમ ’ની પદવીથી વિભૂષિત કર્યા હતા

કહેવાય છે કે એકવાર તો બાદશાહે બહુ સ્નેહથી એમનો હાથ પકડીને કહ્યુ “ હુ આપને પાચ હજાર ઘોડાના મનસબવાળી મોટી પદવી અને જાગીર આપુ છુ તેનો સ્વીકાર કરી તમે રાજા બનો, અને આ સાધુવેષનો ત્યાગ કરો ” પણ મુનિએ સાધુવેષને બદલ્યો નહિ

બાણભટ્ટની ‘ કાદમ્બરી ’ પર તેના ‘ પૂર્વખડ ’ની ટીકા ગુરુ ભાનુચદ્રે અને ઉત્તરભાગની ટીકા શિષ્ય સિદ્ધિચદ્રે કરેલી છે તેની પુષ્પિકામા તેમણે પોતાનો પરિચય આપ્યો છે તે ખૂબ ઉપયોગી છે.

“इति श्री पातसाहश्री अकब्बर जल्लालदिन सूर्यसहस्रनामाध्यापक, श्रीशत्रुजयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृत विधायक महोपाध्याय श्री भानुचद्रगणिविरचिताया तच्छिष्याष्टोत्तरशतावधान साधकप्रमुदित बादशाह श्री अकब्बरप्रदत्त ‘खुशफहम’पराभिधान श्रीसिद्धिचद्रगणिरचिताया कादम्बरीटीकायामुत्तरखण्डटीका समाप्ता।[1]”

[1] તેમ જ ગુરુશિષ્યે શોધિત ‘ वसतराज ’ ટીકામા આવો ઉલ્લેખ છે, અને ‘ भक्तामरस्तोत्र ’ની ટીકાના પ્રારભમા સિદ્ધિચદ્રે આત્મપરિચય આપ્યો છે

“कर्ता शतावधानाना विजेतोन्मत्तवादिनाम् ।
वेत्ता षड्पिशास्त्राणामध्येता फारसीमपि ॥
अकब्बरसुरत्राणहृदयाम्बुजषट्पद ।
दधान ‘खुशफहमिति’ विरुद शाहिनार्पितम् ॥
तेन वाचकचद्रेण सिद्धिचद्रेण तन्यते ।
भक्तामरस्य माल्लाना वृत्तिर्व्युत्पत्तिहेतवे ॥”

આ ગુણવિજય સિદ્ધિચન્દ્રજી જેવા સંસ્કૃત તથા ફારસીના પંડિત હતા તેવા, લોકભાષા ગુજરાતીના પણ સારા જ્ઞાતા હતા. તેમણે રચેલ એક ચાર ટેક નું ગીત, જેની નકલ શ્રી મોહનલાલ દલીચંદ દેસાઈને પ્રાપ્ત થયું હતું. તેમણે તેની નકલ તેમની પાસેની પ્રતિ ઉપરથી ઉતારીને મને મોકલી હતી ? આ પ્રસંગે પ્રસ્તુતિમાં મૂકવાની તક હું લઉં છું તેનું શ્રેય સ્વ. મોહનલાલભાઈને જ ઘટે છે

આ ગાન ઉપરથી સિદ્ધિચન્દ્રને આપણે ગુજરાતી કવિ તરીકે ઓળખવાનું બની શક્યું છે આ ઉપરાંત આ કવિએ 'કાદમ્બરી કથાનક' નો ગુજરાતી ગદ્ય-સંક્ષેપ પણ તે કાવ્યના જિજ્ઞાસુઓ માટે લખેલો છે ? 'પુરાતત્ત્વ ત્રૈમાસિક' પુસ્તક ૫(૧૯૨૭)માં પ્રગટ થયો છે

'નેમિનાથ ચતુર્માસકમ્' ની રચના કવિના ફારસી ભાષાના અભ્યાસની પણ ઘોતક છે એમાં ચાર માસ(માગશર, ભાદરવો, આસો અને કાર્તિક)માંથી પ્રત્યેક માસ માટે પહેલાં એક શ્લોક અને પછી બીજો હરિગીત એમ બે છંદમાં પ્રાસાદિક રચના તેમણે કરી છે શ્લોક ના ચોથા ચરણનો અંત્ય શબ્દ બીજા છંદના પ્રારંભમાં પુનરાવર્તન પામ્યો છે અને એ રીતે બન્ને છંદને જોડી લઈ સાંકળી ઉપજાવવામાં આવી છે

પિંગળના હરિગીત છંદ—જેમાંથી આપણા ત્યાં 'અજપતિ અને ફારસી બે બન્ને છે—તે હરિગીતમાં કવિએ ફારસી શબ્દો અને ફારસી શબ્દો સાથે પણ ઘણું અનુપ્રાસ યોજ્યા છે આ પૂર્વે ચતુર્માસકો નો એક મધ્યકાલીન પ્રકાર જાણીતો છે[૧] પરંતુ તેની રચના આટલી-જાણીતો વર્ષોથી પ્રાચીન મળી આવી નથી

તેની હસ્તપ્રતોમાં સિદ્ધિચન્દ્રજીની 'ચતુર્માસકમ્' ની રચના પુરોગામી છે અને તેથી વિશેષ પ્રાચીન છે તેનો રચનાકાળ સત્તરમા શતકનો પૂર્વાર્ધ છે તથા એના રચનાર સંબંધી પણ ઐતિહાસિક માહિતી પ્રાપ્ત છે તેવું આ કાવ્ય, ગુજરાતી પદ્યસાહિત્યમાં વિરલ છે

•

માગશર

(શ્લો) માગશુ રિતુ પ્રતિમાભવી, મેરા સીમી અગ્રધાર,
મિત-ભાવક સિદ્ધિચિત્ત બર્ષ, મોર કોઈ મગ્દાર

(હરિગીત) મગ્દાર મગ્દર કોમ મગરૂર, યીન ચમનહ મિરુ વર્ષ
મામન જેવન-જોર-માની, વિરહી રાતુલ વિવવર્ષ
નિશિ અંધારી, નિરધારી, પિયુ-વિરહી પરમ્પી,
પુણ્યાદમ થઈ મિલિ રિગ્બુશ, સુધર્ષ રિતુ માગશી—૧

•

1 [illegible]

(શ્લો) [illegible]
[illegible]

(હરિગીત) [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
—[illegible]—

ભાદરવો

(દૂહો) ભાદવ સર સુભર ભરે, નદીઆ નીર ન અંત,
વનિ વનિ ફૂલી વેલીઆ, ભમર ભણુઈ ભણુણુંત

(હરિગીત) ભણુણુંત ભમરા ભમઈ ભૂતલિ, કરત કેલા કામિણી,
રસરંગ રાતી, લાઈ છાતી, સંગિ લાલ સુહામણી,
વિણુ–નાહ દાહ અગાહ વ્યાપિત નેમિ સમરુ નિજપતિ,
સિદ્ધિચંદ્રકેરા આઉ 'સાહબ',–રટતી એમ રાજીમતિ–૨

✿

આસો

(દૂહો) આસો અંગિ ઉમાહ અતિ, ચંદા–રયણી ચંગ,
નિરમલ જલ ઝૂલઈ નિપટ, લીલા–ગતિ લીલંગ

(હરિગીત) લીલંગ લીલા લહરિ- લુબધા, હંસ ખેલઈ હરખસ્યુ,
દુઃખ નિસિ દુહેલી સુણી, સહેલી ! નયણિ કબ પિય નિરખસ્યુ?
સુખ પ્રીતિ સારી, કાં વિસારી? ચતુર ! નવ ભનકી ચની
સિદ્ધિચંદ્રકે પ્રભુ ચાહિ સનમુખ, રંગ રસિ પૂગે રલી–૩

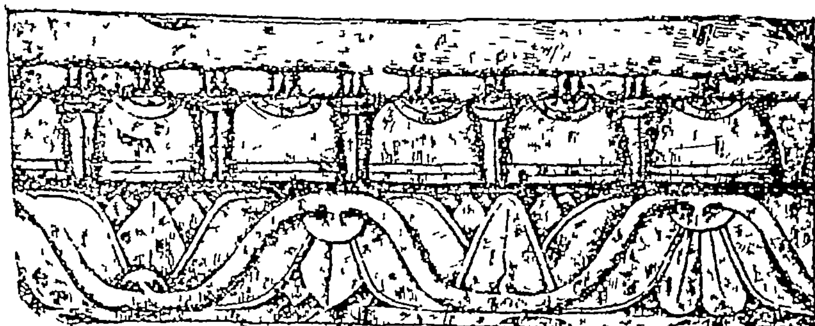
✿

કાર્તિક

(દૂહો) ઉતિગ કાતિગ માસકો, સુભિક્ષ ભયો સબ દેસ,
દંપતી–પર્વ દીપાલિકા, ભાવત પહરઈ ભેખ

(હરિગીત) ભલ ભેખ રેખ બનાઈ ભામિની, સકલ લોક સ-ઉજમા,
આનંદ ગૃહ ગૃહ કરઈ ઉચ્છવ, અંગિ લાવઈ કુમકુમા,
ગિરિ રૈવતાચલ મિલે જગગુરૂ, શીખ રાજુલકું દઈ,
સિદ્ધિચન્દ્રકે પ્રભુસુ, વર–પહિલી, સિદ્ધિપુર સુંદરી લઈ–૪

✿



ભાવલિંગનુ પ્રાધાન્ય

ડૉ૦ ભગવાનદાસ મનસુખભાઈ મહેતા, એમ બી બી એસ

આતમજ્ઞાની શ્રમણ કહાવે, બીજા તો દ્રવ્યલિંગી રે
વસ્તુગતે જે વસ્તુ પ્રકાશે, આનંદઘન મત સંગી રે.

આ ચોવીસમા વીરસ્વામીની સ્તુતિ કરનારા અધ્યાત્મી વીતરાગ મુનીશ્વર મહર્ષિ આનંદઘનજીનુ સુભાષિત વચનામૃત છે :

પરિસમં પાતક પાતક સાધુ સં. અનુકૂલ આચમન ચેત

પાતકનો—પાપનો પાત—નાશ કરે, પાપ—દોષને હણી નાખે એવા સાચા સાધુ પુરુષનો પરિચય થાય તો ચિત્ત અનુકૂલ ભાવના આચમનવાળુ (નૂતતાવાળુ) બને અને પ્રસન્નતાસ્વીની પ્રાપ્તિ થાય. પ્રાપ્ત હોય તેની પાસેથી પ્રાપ્તિ થાય. જીવન્મુક્ત હોય તે દરિદ્ર કેરે. ફૂલમાં હોય તો

પાતક—ઘાતક સાધુનો પરિચય

હવામાં આવે. જેને પ્રસન્નતાસ્વી પ્રાપ્ત હોય અર્થાત્ આત્મપરિણામ પામી હોય એવા પ્રાપ્ત પરિપક્વ આત્મદશાવાળા સત્પુરુષ જ તેની પ્રાપ્તિમા આશ્રય રૂપ સાધુ કોણ ? અને કેવા હોય ? તે વિચારવા યોગ્ય છે. સાધુનો અર્થ પહેલી દ્રવ્યલિંગ પાળવુ કર્યું, એટલે સાધુ બની ગયા એમ નહિ, પણ આત્માર્થ સાધુગુણસંપન્ન હોય તે સાધુ. જેનો આત્મા સાધુતાએ ભૂષિત હોય તે સાધુ. સમ્યગ્ દર્શન—જ્ઞાન—ચારિત્રરૂપ મોક્ષમાર્ગને સમ્યક્પણે સાધે તે સાધુ. જે આત્મજ્ઞાની ને ખરેખરા આત્મજ્ઞાની વીતરાગ હોય તે સાધુ, એ વાત સ્પષ્ટ સમજવા યોગ્ય છે અને આના ભાવલિંગ મુખ્યપણે નિરૂપિત છે. આતમજ્ઞાની શ્રમણ કહાવે, બીજા તો દ્રવ્યલિંગી રે, તેમ જ મુનિશ્વર આતમરામી રે ઇત્યાદિ આનંદઘનજીના આ વચનો પણ આ ઠરાવે છે.

શાસ્ત્રોમાં સાધુ ગુણ—ભાવથી રહિત એવા દ્રવ્યાચાર્ય—દ્રવ્યસાધુ વગેરે તો ખોટા રૂપિયા જેવા છે તેને માનવા તે તો કૂમતે કમ માનવા જેવુ છે અને તે કશું નથી, માટે ભાવાચાર્ય—ભાવસાધુ આદિનુ જ

ભાવસાધુનું જ માન્યપણું નિશ્ચયથી જ સાધુતાનો આદર્શ

માન્યપણુ શાસ્ત્રકારે સમર્થ કર્યું છે. આવશ્યકનિર્યુક્તિમા પણ અને અધ્યાત્મ ગ્રંથો શ્રીભદ્રબાહુ સ્વામીએ અને યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચયમા યોગમાર્ગ પ્રસંગે શ્રીહરિભદ્રસૂરિએ એ જ વાત સ્પષ્ટ કરી છે.[1] નમસ્કાર મંત્રમા પણ પંચ પરમેષ્ઠિ મધ્યે જેને શીર્ષસ્થ સ્થાન આપ્યુ છે તે મુખ્યપણે ભાવાચાર્ય ભાવસાધુને અનુલક્ષીને કહ્યું છે. અધ્યાત્મજ્ઞાનીઓ તો આ અંગે યથાર્થ શાસ્ત્રમા દર્શાવેલ

---

૧ નામાદિભિરપિ ચૈત્ર્યાદિભિર ભાવાચાર્યાદિષુ । — શ્રી યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચય

નિમિત્તેષુ ! ભાવ ભાવ્યોનિષુ ન દ્રવ્યાચાર્યાદિષ્વપ્યેતેષુ,

દૃષ્ટાન્તો ભાવદ્રવ્યરૂપવ્યવહારાત " — શ્રી યોગદૃષ્ટિસમુચ્ચયવૃત્તિ

આ અંગે વિશેષ વિવેચન માટે જુઓ ... (૧ ...) ... સમજાવ્યુ છે

કરી છે કે—૨ 'સાધુને કાલદોષથી હોય તો કવચિત્ અતિ અતિ સૂક્ષ્મ એવો સંજ્વલન કષાયનો ઉદય હોય, બાકી તો કષાય હોય જ નહિ, અને જો હોય તો તે સાધુ જ નથી કારણ કે સર્વ અતિચારો સંજ્વલનના ઉદયથી હોય છે, પણ અનંતાનુબંધી આદિ બાર કષાયના ઉદયથી તો સર્વથા વ્રતભંગ થતો હોવાથી મૂલછેદ્ય પ્રાયશ્ચિત્ત લાગે છે, અર્થાત્ સાધુપણું જ મૂલથી નષ્ટ થાય છે તાત્પર્ય કે લગભગ વીતરાગ જેવી—વીતરાગવત્ દશા જેની હોય તે જ સાધુ છે, અને વીતરાગતા—નિષ્કષાયતા એ જ સાધુતાની કસોટી વા માપદંડ છે '

આમ સ્પષ્ટ શાસ્ત્રસ્થિતિ છતા અજ્ઞ બાલજીવોની દૃષ્ટિ તો પ્રાય લિંગ—બાહ્ય વેષ પ્રત્યે હોય છે, એટલે તે તો મુગ્ધ હોઈ ભોળવાઈ જઈ વેષમા જ સાધુપણુ કલ્પે છે, અને બાહ્યત્યાગી—સાધુવેષધારી પણ આત્મજ્ઞાનથી રહિત એવાઓને ગુરુ કરીને થાપે છે, અથવા આ તો અમારા કુલ સપ્રદાયના આચાર્ય છે, અમારા મા'રાજ છે, એવા મમત્વ ભાવથી પ્રેરાઈ ને પોતાના કુલગુરુનુ મમત્વ—અભિમાન રાખે છે, પણ ભાવયોગી એવા ભાવાચાર્ય, ભાવઉપાધ્યાય, ભાવસાધુનુ જ મુખ્યપણે માન્યપણુ શાસ્ત્રમા કહ્યું છે, તે લક્ષમા રાખતા નથી, તેમ જ બાહ્ય ગ્રથત્યાગ માત્રથી બાહ્યલિંગ સુદર છે એમ નથી કારણ કે કચુક માત્ર ત્યાગથી ભુજગ નિર્વિષ બનતો નથી, એ વસ્તુસ્થિતિનો પણ વિચાર કરતા નથી

બાલજીવોની દ્રવ્યલિંગ-પ્રધાન દૃષ્ટિ

"बाल पश्यति लिङ्ग, मध्यमबुद्धिर्विचारयति वृत्तम् ।
आगमतत्त्व तु बुध परीक्षते सर्वयत्नेन ॥
बाह्य लिङ्गमसार, तत्प्रतिबद्धा न धर्मनिष्पत्ति ।
धारयति कार्यवशतो यस्माच्च विडम्बकोऽप्येतत् ॥
बाह्यग्रन्थत्यागान्न चारु नन्वत्र तदितरस्यापि ।
कञ्चुकमात्रत्यागान्न हि भुजगो निर्विषो भवति ॥" — શ્રીહરિભદ્રસૂરિકૃત ષોડશક

"કૂટ લિંગ જિમ પ્રગટ વિડબક, જાણી નમતા દોષ,
નિદ્ધધસ જાણીને નમતા, તિમ જ કહ્યો તસ પોષ રે જિનજી !"
— શ્રી યશોવિજયજીકૃત સા ત્ર ગાથાસ્તવન

પણ પ્રાજ્ઞ જન તો આગમતત્ત્વનો વિચાર કરે છે, અર્થાત્ આગમાનુસાર, શાસ્ત્રમા કહ્યા પ્રમાણે યથાસૂત્ર આચરણરૂપ તાત્ત્વિક સાધુત્વ છે કે કેમ તેની સમીક્ષા કરે છે, અને જેનામા યથોક્ત આદર્શ નિર્ગ્રંથ શ્રમણપણુ દૃશ્ય થાય તેનો જ સાચા સાધુપણે સ્વીકાર કરે છે કારણ તે વિચારે છે કે—સમ્યગ્ દર્શન—જ્ઞાન—ચારિત્રમય શુદ્ધ મોક્ષમાર્ગની જે નિરતર નિર્મળ સાધના કરતો હોય તે જ સાચો સાધુ છે, બાકી તો વેષધારી છે, જે શુદ્ધ આત્મસ્વરૂપને જાણતો હોય, અનુભવતો હોય, જે આત્મારામી હોય તે જ ભાવમુનિ છે, બાકી તો નામમુનિ છે, જે દેહયાત્રા માત્ર નિર્દોષ વૃત્તિ કરી અપ્રમાદપણે નિર્ગ્રંથ જીવન પાળે છે તે જ ભિક્ષુ છે, બાકી તો પૌરપઘ્ની—બલહરણી

સાચા સાધુ, ભાવ મુનિ, ભિક્ષુ, યતિ, શ્રમણ કોણ?

---

૨ "चरिमाण वि तह णेय सजलणकसायसगा चेव ।
माइट्ठाण पाय असइ पि हु कालदोसेण ॥
सव्वेवि य अइयारा सजलणाण तु उदयओ होति ।
मूलछेज्ज पुण होइ बारसण्ह कसायाण ॥" — શ્રી હરિભદ્રસૂરિકૃત પચાશક

[illegible]

[illegible]

[illegible] (Counterfeit) [illegible]

[illegible]

[illegible]

જ્ઞાની સત્પુરુષોના સનાતન સંપ્રદાયને અનુસરનારા જે સદા અવંચક હોય અને જે સમકિતી પુરુષ સારભૂત એવી સમ્યગ્ ક્રિયાના આચરનારા હોય, તે જ સાચા શ્રમણ છે, તે જ સાચા સાધુ છે, તે જ સાચા મુનિ છે, તે જ સાચા નિર્ગ્રંથ છે, બાકી તો 'દ્રવ્યલિંગી' વેષધારીઓ છે આમ તે જાણતા હોઈ મુખ્યપણે તેવા સાચા ભાવયોગીઓને જ, ભાવાચાર્ય આદિને જ તે માને છે, તેમના આદર-ભક્તિ કરે છે

"આતમજ્ઞાની શ્રમણ કહાવે, બીજા તો દ્રવ્યલિંગી રે,
વસ્તુગતે જે વસ્તુ પ્રકાશે, આનંદઘન મત સંગી રે વાસુપૂજ્ય
આગમધર ગુરુ સમકિતી, કિરિયા સંવર સાર રે,
સંપ્રદાયી અવંચક સદા, શુચિ અનુભવ આધાર રે શાંતિ જિન"
— શ્રી આનંદઘનજી

✿ ✿ ✿ ✿

"આત્મજ્ઞાન સમદર્શિતા, વિચરે ઉદય પ્રયોગ,
અપૂર્વ વાણી પરમશ્રુત, સદ્ગુરુ લક્ષણ યોગ્ય"
આત્મજ્ઞાન ત્યાં મુનિપણું, તે સાચા ગુરુ હોય,
બાકી કુલગુરુ કલ્પના, આત્માર્થી નહીં જોય"
— શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પ્રણીત શ્રી આત્મસિદ્ધિ

✿ ✿ ✿ ✿

"जं संमति पासह, तं मोणंति पासह।" — શ્રી આચારાંગ સૂત્ર

✿ ✿ ✿ ✿

"કારજ સિદ્ધ ભયો તિનકો જિણે,
અંતર મુંડ મુંડાય લિયા રે" — શ્રી ચિદાનંદજી

✿ ✿ ✿ ✿

"ધન્ય તે મુનિવરા રે, જે ચાલે સમ ભાવે,
ભવસાયર લીલાએ ઊતરે, સંયમ કિરિયા નાવે ધન્ય૦
ભોગપંક તજી ઉપર બેઠા, પંકજ પરે જે ન્યારા,
સિંહ પરે જે નિક્રમ શૂરા, ત્રિભુવન જન આધારા ધન્ય૦"
— શ્રી યશોવિજયજી

આવા ભાવસાધુને જ મુખ્યપણે લક્ષગત રાખી અત્રે આનંદઘનજીએ 'પાતક ઘાતક' એવો સૂચક શબ્દપ્રયોગ કર્યો છે 'પાતક ઘાતક' કોણ હોઈ શકે? જેણે પોતે પાપનો ઘાત કર્યો હોય તે જ અન્યના પાપનો ઘાતક હોઈ શકે, પણ પોતાના પાપનો ઘાત નથી કર્યો એવો જે શ્રી ઉત્તરાધ્યયન અને દશવૈકાલિક સૂત્રમાં વર્ણવેલ 'પાપશ્રમણ' હોય તે પાતકઘાતક કેમ હોઈ શકે? એટલે એવા પાપશ્રમણની વાત તો ક્યાંય દૂર રહી! જેણે પાપનો ઘાત-નાશ કર્યો છે એવા નિષ્પાપ પુણ્યાત્મા સાધુ, કલ્યાણસંપન્ન પુણ્યમૂર્તિ સાચા સત્પુરુષ જ પાતકઘાતક હોય આવા સત્પુરુષ દર્શનથી

પાતક ઘાતક સાધુ કેવા હોય?

પણ પાલન [illegible] કર્મનાશની ભાવના હોય છે. એમના દમન કરતાં પણ આત્મા પાવન થઈ જાય એવા તે પરમ પવિત્રાત્મા હોય છે. એમના પવિત્ર આત્મામાંથી કોઈ એવો અદ્ભુત પ્રકાશ પડે છે કે બીજા જીવોને તેમના પર [illegible] તેની અસર [illegible] થઈ જાય છે. આવા અકલ્પનીય, [illegible] પણ પાવન, નિર્મળ, નિર્વિકાર વીતરાગ જેવા જ્ઞાની મહાપુરુષ, એમની અદ્ભુત દર્શનમાત્રથી પણ પાવનકારિણી સમતાદિ પ્રભાવનાથી ભવ્ય મુમુક્ષુ પ્રાણીઓને શીઘ્ર બોધ થઈ જાય છે. [illegible] તેવા મૌન મુનિનું દર્શન પણ [illegible] પાપીઓનાં [illegible] કરતાં [illegible] નિર્ગ્રંથ જેવા આ અદ્ભુત વીતરાગ મુનિનું [illegible] એવું અદ્ભુત હોય છે. [illegible]

શાંતિ સાગર ભર્યા, નીતિ નાગર [illegible]
[illegible] આગર જ્ઞાન ધ્યાની નિર્ગ્રંથ હો
શુદ્ધ બુદ્ધિ [illegible], સુખ [illegible] પ્યારી,
[illegible] ઉપકારી, ધર્મો [illegible] હો
[illegible] રહિત પરમ પુનિત નિત્ય,
સુનહિ [illegible] ચિત્ત, [illegible] હો
[illegible] ધર્મ દાન [illegible]
મુનિ [illegible] આગે મેરે પ્રનામ [illegible] હો.

— શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર

શ્રી સૂત્રકૃતાંગના દ્વિ. શ્રુ. ૨૧ ના ૭૦ મા સૂત્રમાં નિર્ગ્રંથમુનિનું આ પ્રકારે પરમોત્કૃષ્ટ [illegible] બતાવ્યું છે: તે અણગાર ભગવંતો ઈર્યાસમિત, ભાષાસમિત, એષણાસમિત, આદાનભંડમાત્ર-નિક્ષેપણાસમિત, ઉચ્ચારપ્રસ્રવણ[illegible]પરિષ્ઠાપનિકાસમિત, મનસમિત, વચનસમિત, કાયસમિત, મનગુપ્ત, વચનગુપ્ત, કાયગુપ્ત, ગુપ્ત, ગુપ્તેન્દ્રિય, ગુપ્ત બ્રહ્મચારી, અક્રોધ, અમાન, અમાય, અલોભ, શાંત, પ્રશાંત, ઉપશાંત, પરિનિર્વૃત્ત, અનાશ્રવ, અગ્રંથ, છિન્નશોક, નિરુપલેપ, કાંસ્યપાત્ર જેવા મુક્તતોય, શંખ જેવા નિરંજન, જીવ જેવા અપ્રતિહતગતિ, ગગનતલ જેવા નિરાલંબન, વાયુ જેવા અપ્રતિબદ્ધ, શરદ ઋતુના જલ જેવા શુદ્ધહૃદય, પુષ્કરપત્ર જેવા નિર્લેપ, કૂર્મ જેવા ગુપ્તેન્દ્રિય, વિહગ જેવા વિપ્રમુક્ત, ગેંડાના શીંગડા જેવા એકજાત, ભારંડ પક્ષી જેવા અપ્રમત્ત, કુંજર જેવા શૌંડીર (શૂરા), વૃષભ જેવા સ્થિરકાય, સિંહ જેવા દુર્ઘર્ષ, મંદર જેવા અકંપ, સાગર જેવા ગંભીર, ચંદ્ર જેવા સૌમ્ય લેશ્યાવાન, સૂર્ય જેવા દીપ્તતેજ, જાત્યકાંચન જેવા જાતરૂપ, વસુંધરા જેવા સર્વસ્પર્શસહ, ઘૃતહુતાશન જેવા તેજથી જ્વલંત હોય છે. તે ભગવંતોને ક્યાંય પણ પ્રતિબંધ હોતો નથી.

---

૪. [illegible]
[illegible] — શ્રી [illegible]
[illegible]

૫. [illegible]

પરમ ભાવિતાત્મા સાધુચરિત શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પણ નિર્ગ્રંથ દશાનું તેવું જ હૃદયંગમ શબ્દચિત્ર રજૂ કરતું સ્વસંવેદનમય અપૂર્વ ભાવવાહી દિવ્ય સંગીત લલકારી ગયા છે કે

"સર્વ ભાવથી ઔદાસીન્ય વૃત્તિ કરી,
  માત્ર દેહ તે સંયમ હેતુ હોય જો,
અન્ય કારણે અન્ય કશું કલ્પે નહિ,
  દેહે પણ કિંચિત્ મૂર્ચ્છા નવ જોય જો—અપૂર્વ અવસર૦

આત્મસ્થિરતા ત્રણ સંક્ષિપ્ત યોગની,
  મુખ્યપણે તો વર્તે દેહ પર્યંત જો,
ઘોર પરીષહ કે ઉપસર્ગ ભયે કરી,
  આવી શકે નહિ તે સ્થિરતાનો અંત જો—અપૂર્વ અવસર૦

સંયમના હેતુથી યોગ પ્રવર્તના,
  સ્વરૂપ લક્ષે જિન આજ્ઞા આધીન જો,
તે પણ ક્ષણ ક્ષણ ઘટતી જાતી સ્થિતિમાં,
  અંતે થાયે નિજ સ્વરૂપમાં લીન જો—અપૂર્વ અવસર૦

બહુ ઉપસર્ગ કર્તા પ્રત્યે પણ ક્રોધ નહિ,
  વંદે ચક્રી તથાપિ ન મળે માન જો,
દેહ જાય પણ માયા થાય ન રોમમાં,
  લોભ નહિ છો પ્રબળ સિદ્ધિ નિદાન જો—અપૂર્વ અવસર૦" ઇત્યાદિ

—શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી

ભાવલિંગી ભાવસાધુનું જ પ્રાધાન્ય

આવા પરમ નિર્લેપ, પરમ નિર્વિકાર, વીતરાગ જ્ઞાની પવિત્ર પુરુષ જે કોઈ હોય તે જ બાહ્યાભ્યંતર ગ્રંથથી રહિત સાચા ભાવનિર્ગ્રંથ છે, તે જ શાસ્ત્રોક્ત સકલ સાધુગુણથી શોભતા સાધુચરિત સાચા સત્પુરુષ છે, તે જ આત્માના પ્રત્યક્ષ પ્રગટ સત્સ્વરૂપને પ્રાપ્ત થયેલા સાચા સદ્ગુરુ છે, તે જ સર્વ પરભાવ-વિભાવનો સંન્યાસ-ત્યાગ કરનાર આત્મારામી સાચા 'સંન્યાસી'-ધર્મસંન્યાસયોગી છે, તે જ સર્વ પરભાવ-વિભાવ પ્રત્યે અગ્રહણબુદ્ધિરૂપ મૌન ભજનારા સાચા 'મુનિ' છે, તે જ સ્વરૂપવિશ્રાંત શાંતમૂર્તિ સાચા 'સંત' છે, તે જ સહજ આત્મસ્વરૂપ પદનો સાક્ષાત્ યોગ પામેલ સાચા ભાવયોગી છે, તે જ સમભાવભાવિત સાચા ભાવશ્રમણ છે, તે જ યથોક્ત ભાવલિંગસંપન્ન સાચા ભાવસાધુ છે અને તે ભાવલિંગી ભાવસાધુનું જ પ્રાધાન્ય છે હજારો દ્રવ્યલિંગીઓની જમાત એકઠી થતાં પણ જે જનકલ્યાણ કે શાસનઉદ્યોત નથી કરી શકતી, તે આવો એક ભાવલિંગી સાચો આદર્શ ભાવનિર્ગ્રંથ સહજ સ્વભાવે કરી શકે છે,—જેમ એક જ સૂર્ય કે ચંદ્ર વિશ્વમાં પ્રકાશ રેલાવી શકે છે, હજારો ટમટમતા તારાઓ એકત્રપણે પણ તેમ કરી શકતા નથી



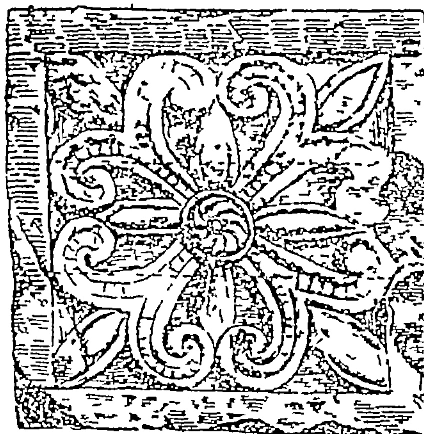
'तत्त्वार्थश्रद्धानम्—सम्यग्दर्शनम्' એટલે શું?

શ્રી 'સંતબાલ'

આધ્યાત્મિક તત્ત્વ ચિંતનમાં ... છે. તેમાં જૈન આગમોનું સુંદર અને સંક્ષિપ્ત દોહન છે. તે ઉમાસ્વાતિ ... તત્ત્વાર્થસૂત્રનું એ સૂત્ર આ છે : 'તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધાનમ્—સમ્યગ્દર્શનમ્' આમાં બોલાતા ... પરની શ્રદ્ધાને અત્રે તત્ત્વ અને તત્ત્વનો અર્થ એ બન્ને પરની શ્રદ્ધાની મુખ્ય વાત છે. તત્ત્વ ભલે ત્રિકાલાબાધિત હોય, પણ તત્ત્વને નિરૂપતા અર્થો વિસ્તાર માગ્યા જ કરે છે. તત્ત્વ ભીતરી વસ્તુ છે જ્યારે અર્થોનો આધાર મોટે ભાગે વ્યવહારના પાસાઓ ઉપર છે ... શરીરરક્ષાને ... દૃષ્ટિએ તો ઠંડીમાં ગરમ કપડાં અર્થ થઈ શકે પણ તાપમાં ગરમ કપડાંનો ત્યાગ એ જ અર્થ થઈ શકે. માનવની એક પ્રકૃતિ એવી ... ફુરતી ... થઈ પડી હોય છે કે અર્થના આગ્રહોને તો ત્રિકાલાબાધિતની જેમ વળગી રહે છે પણ તત્ત્વના આગ્રહોની પરવાહ કરતી નથી. આથી જ જૈનધર્મ જેવો વિશ્વધર્મ જેવા બધા સંકુચિત અને વિવિધ વાડાઓમાં પુરાઈ ગયો છે! જૈનો બોલે છે : કેવળીપ્રણીતધર્મનું શરણ હજો પણ વ્યવહારમાં એકાંતવાદી જ બની જતા હોય છે. નહિ તો જે સમકિતમાં નિશ્ચયવ્યવહારદૃષ્ટિ પ્રધાન છે તે જ સમકિતને નામે પોતપોતાના કદાગ્રહ-મિથ્યાત્વની જેમ કાં ભાજી મરે!

કેવળીપ્રણીતધર્મમાં કેવળી વતી કોઈ એ તો મરુદેવી માતા પણ આવે અને ભરત ચક્રવર્તી પણ આવે. એક હાથીની અંબાડી ઉપર બેઠાંબેઠાં કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરે છે. બીજો આરીસાભવનમાં શરીર શણગાર કરતા કરતા કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરે છે. આ બન્ને કેવળીઓના સાધનો કેવા હતાં? એક તો આશ્રમ તરીકે ગૃહસ્થાશ્રમ અને બીજું વિલાસીભવનની રાજ્યસાહ્યબી. આથી જ જૈનાચાર્યોએ ગાયું : સમ એ જ પ્રધાન વસ્તુ છે અને તે કંઈ બહાર નથી, ભીતરમાં છે. એ ભીતરનો ભરી ભજન કરવા માટે ત્યાગમાર્ગ અંગીકાર કરો અથવા ગૃહસ્થાશ્રમમાં રહો ... ન કરો ... અંતરની ગાંઠ મુખ્યને ભાગે. નહિ તો બહારની બધીની ગાંઠ પણ વધુ બાંધી રહે તે રીતે ત્યાગતા ... માનવી પણ અંતરની ગાંઠ મજબૂત થાય તો ... એવો સર્વજ્ઞ ... ને ... પામે છે ... તે એક દેખો પણ અંતરની ગાંઠ છૂટતા આત્મજ્ઞાનને પણ તરત પછી જાય છે. જે તત્ત્વજ્ઞાન દેખાડ્યું અને ત્રિસ્થર નામ ... મોક્ષ ... કરતી હો ... એ તત્ત્વજ્ઞાન દરરોજ ... કરતા ... માણસને વીતરાગદર્શનમાંથી ... અપતી હો, તે તત્ત્વજ્ઞાન માત્ર ... માનવીઓ માટે કોઈ હો એ વાત કેટલી બેહૂદી છે! ... જૈનમુનિરાજને ... વ્યાખ્યાનમાં તેઓ ... બીજું તો ઠીક વીતરાગને ન ... સમજી શકતો ... જૈન ... મહાવીર ... બીજા ધર્મસંસ્થાપકોનાં નામો ... જૈન ... નમતા નથી ... એમાં તો મુખ્ય ગુરુની પાસે જ તે તે ધર્મસંસ્થાપકનું નામ મુખ્ય છે અને અરિહંતની દૃષ્ટિએ એ ચર્ચાઓથી ગુરુ પાસે મહાવીરનું નામ સૌથી પ્રથમ ... છે ... નામ ... છે ... દૃષ્ટિએ ... ને નમસ્કાર એમ રોજ ... આ ... ને જ કેમ ભૂલી જાય છે? યોગીશ્વર આનંદઘનજીને વારંવાર યાદ કરતા તેઓ ... જિન ... સ્તવન કેમ આચરતા નથી? અને ... તેઓ બીજા ધર્મોની ... સ્વીકાર ઉપર જ ... ધર્મનો વિશ્વધર્મ ... હો તે તત્ત્વ કેમ ભૂલી જાય છે? ... તેમણે ... છે ... પોતે માનેલાં આગમો સિવાય બીજા કોઈ આગમો નથી

અને તે આગમોના પણ પોતે માની લીધેલા અર્થો સિવાય બીજો કોઈ અર્થ નથી તેઓ રોજ વાચે છે ખરા કે દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવમા ભાવ જ મુખ્ય વસ્તુ છે દાન, શીલ, તપ અને ભાવનામા પણ ભાવના જ મુખ્ય વસ્તુ છે છતા આચારમા ભૂલથાપ ખાઈ જાય છે તત્ત્વાર્થમા તત્ત્વ જ નિરપેક્ષ છે અર્થ તો સાપેક્ષ જ છે આથી જ કેવલી ભગવાન જે અનુભવે છે, તે વાણીમા ઉતારી શકતા નથી કેવલીઓની વાણીને ગણધર કેવળીવાણીવત્ ગૂથી શકતા નથી ગણધરો જેમ ગૂથે છે, તેમ વાચકો વાચી શકતા નથી આટલું બધુ સ્પષ્ટ હોવા છતા અક્ષરોના ખોખાને પોતે માની લીધેલા અર્થમા જ ત્રિકાલબાધિત માનીને ચાલનારાઓ માટે ઉજ્જવળ ચારિત્ર્યના ચેપ સિવાય બીજો કોઈ બાહ્ય ઈલાજ જ નથી ઉપર્યુક્ત મુનિરાજના મનમા એમ પણ ભમણા લાગી કે 'સમાજના કે રાષ્ટ્રના કામો તો બંધનરૂપ છે, મોક્ષમાર્ગ જુદો છે ગાંધીજી રાજકીય પુરુષ ખરા, મોક્ષમાર્ગી નહિ' આવું આવુ આ એક જ શા માટે, અનેક મુનિવરો માનતા હોય છે અરિહતોને સિદ્ધો કરતા આગળ મૂકનારા તેઓ માટે અરિહતમા રહેલા વ્યક્તિ અને સમષ્ટિના વિકાસના અવિનાભાવિ સાહચર્યને સમજી શકતા નથી કારણ કે તત્ત્વ પર તેઓ ભાગીતૂટી પણ શ્રદ્ધામા દૃઢ રહી શકે છે, પણ અર્થવિકાસની આખી વ્યવહારુ વાતને જ ભૂલી જાય છે જ્યા શુદ્ધ વ્યવહાર જ સભવિત નથી ત્યા શુદ્ધ નિશ્ચયની વાત ટકે કયા લગી? જૈન સાધુવર્ગ જેવી જ લગભગ ચુસ્ત વૈદિક સન્યાસીવર્ગ અને ભક્તોની પણ આ જ દશા છે બીજી બાજુ જેઓ સમાજસેવા કે રાષ્ટ્રસેવામા પડેલા છે, તેઓ વળી ધર્મના મૌલિક સત્યો તરફ જ બેદરકાર બની જતા હોય છે! આમ એક બાજુ અર્થની શ્રદ્ધા અને બીજી બાજુ તત્ત્વની શ્રદ્ધાને નામે બન્નેના મૂળમા મૌલિક સત્યની ઉપેક્ષા જ આવી જાય છે આથી જ તત્ત્વની ત્રિકાલાબાધિતાને સામે રાખી તે દૃષ્ટિએ થતા અર્થવિકાસને લીધે પળે પળે થતા ફેરફારોને અપનાવવા જ જોઈએ, નહિ તો આત્મજ્ઞાન પોતે જ દૂર ભાગી જશે અને આત્મજ્ઞાનને નામે દભપાખડ, દલબદી તથા બીજા અનર્થો વધી પડશે—જે આજે વધી પડેલા દેખાય છે જ આનો ઉપાય તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધાનની સાચી વ્યાખ્યા સમજી, આચરી, સમાજને આચરાવવાની અનિવાર્ય જરૂરત છે.



મનુષ્ય એકલો નથી

શ્રી દલસુખ માલવણિયા

વૈદિક ઋષિઓએ કે જૈન તત્ત્વજ્ઞાનીઓએ આ સંસારને કે આપણી આ દુનિયાને સર્વથા ત્યાગવાનો ઉપદેશ નથી આપ્યો. તેમને સ્વર્ગની કલ્પના કંઈ ઓછી ગમતી પણ એ સ્વર્ગ માટે ઉપવાસો એવા યોગમાં આસક્ત નહિ, એથી આ દુનિયા રહેવાલાયક જ ન રહે. સ્વર્ગ મેળવવાના પ્રયત્નમાં પણ આ દુનિયાના સુખમય બનાવવા કરવો એ ભેદ રહેલું. ખરી રીતે કહીએ તો તેમનો ભાર પણ બીજા—સ્વર્ગ ઉપર નહિ પણ દુનિયા ઉપર હતો. તેમના સમગ્ર પ્રયત્નનો ભાર આ દુનિયામાં સુખ કેવી રીતે પ્રાપ્ત કરવું એની શોધ કરવામાં છે. તેમને આધ્યાત્મિક કરતાં ભૌતિક સુખ વધારે ગમતું અને તે માટે તેમનો વિશેષ પ્રયત્ન રહેતો. ઉપનિષદના ઋષિઓએ ભૌતિકને બદલે આધ્યાત્મિક સુખ ઉપર ભાર આપ્યો પણ તેમને મતે પણ આ દુનિયાને ત્યાગવાથી જ આધ્યાત્મિક સુખ પ્રાપ્ત થાય છે એમ મનાયું નથી. આત્મા સંન્યાસથી શુદ્ધ ખરી રીતે આ દુનિયાને ત્યાગીને અન્યત્ર આધ્યાત્મિક સુખ મળે ત્યાંનો પ્રશ્ન જ ઊભો નથી. એટલે તેમને પણ પ્રયત્ન આ દુનિયામાં આધ્યાત્મિક સુખની વૃદ્ધિ કેવી રીતે થાય એની શોધ કરવાનો હતો. પરિણામે જેને આપણે સંસાર કહીએ છીએ તે સર્વથા ત્યાજ્ય જ છે એવું મન્તવ્ય તેમનું નથી. એટલે આત્મપ્રાપ્તિ માત્ર સંન્યાસથી જ થાય છે એ મન્તવ્ય તેમણે કદી અપનાવ્યું નથી. સંન્યાસ આત્મપ્રાપ્તિમાં ઉપકારક છે પણ તે જ કારણ છે અને અન્ય નહિ, એમ તેમણે કદી કહ્યું નથી. એટલે જ જનક જેવા રાજાને પણ રાજ્યકારભાર વહન કરવા છતાં આત્મપ્રાપ્તિ થઈ એમ માનવામાં આવ્યું. સારાંશ એ છે કે તત્ત્વજ્ઞાન એ આત્મપ્રાપ્તિમાં કારણ છે. બાહ્ય આચાર કે ક્રિયાકાંડ એ આવશ્યક નથી. જૈન શ્રમણોમાં કહીએ તો તેમનો પ્રયત્ન વિદ્યમાન સંસારને નવું રૂપ આપવાનો છે. સંસાર એનો એ જ છે, પત્ની—પુત્ર—ધન—વૈભવ એ બધું જ એનું એ. પણ તેને જોવાની દૃષ્ટિમાં પરિવર્તન કરવું આવશ્યક છે. એ જો થયું તો બદલી ગયો. મોક્ષ છે અને એ જો ન થયું તો બદલી બેઠા સંસાર છે. આ તેમની દૃષ્ટિ છે. આ દૃષ્ટિનો જ વિકાસ આપણે શ્રીમદ્ભગવદ્ગીતામાં અનાસક્તિયોગ રૂપે જોઈએ. એટલે એમ કહી શકાય કે વૈદિક પરંપરામાં આ લોકને ત્યાગીને પરલોક સુધારવાની વાત નથી, પણ આ લોકને સુધારીને જ પરલોક સુધારી શકાય છે. ખરી રીતે એમ કહેવું જોઈએ કે પરલોક જેવી વસ્તુની ચિન્તા તેમને નથી. પણ વિદ્યમાન જીવન અને ભવિષ્યનું જીવન એમ જીવનમાં ભેદ છે. આજના જીવનથી કોઈ તેને જુદું જતું આવવાનું છે — નહિ. પણ આજે તેની જે અવસ્થા હોય તેથી વધારે સારી અવસ્થા કેમ પ્રાપ્ત કરે એ — જોવાનું છે. એટલે વિદ્યમાનને ત્યાગીને ઉત્તરોત્તર સારો બનવાનો પ્રયત્ન આમાં છે. જે બાબતોની વચ્ચે આપણે રહીએ છીએ એ બાબતોને જ સુધારવાથી—એ બાબતોની દૃષ્ટિને જ ઠીક કરવાથી વધુ લાભ થશે છે. તેથી અળગા થઈને જ સાધના કરી શકાય છે એવો એકાન્ત માર્ગ નથી. બધાની વચ્ચે રહી સાધના કરવી જોઈએ એ જ રાજમાર્ગ છે. આ દૃષ્ટિએ જોઈએ તો વૈદિક ધર્મ માત્ર સંન્યાસ — નહિ, પણ ગૃહસ્થ ધર્મ કે વાનપ્રસ્થના ધર્મને પણ માન્ય રાખ્યો છે. ચાર આશ્રમની અને ચાર વર્ણની વ્યવસ્થા તેમને એટલા જ માટે કરવી પડી છે. તે તેમણે પોતાની દૃષ્ટિએ કરી છે અને તેની પરમ ઉત્કર્ષ ગીતાના સ્વધર્મે નિધનં શ્રેયઃ પરધર્મો ભયાવહઃ એ સિદ્ધાન્તમાં સ્થાપ્યો છે. એટલે કે વર્ણાશ્રમધર્મનું યથાવત્ પાલન એ જ સુખ કે મોક્ષ પ્રાપ્ત કરવાનું સાધન મનાયું. તેમાં પણ વૈદિક

કર્મકાણ્ડની માન્યતાનો પ્રચાર કરનાર મીમાંસકો તો જીવનની અંતિમ ઘડી સુધી પણ વૈદિક શ્રૌતસ્માર્ત કર્તવ્યનું પાલન અનિવાર્ય માને છે અને તેમ કરતાં કરતાં મોક્ષપદની પ્રાપ્તિ થાય છે એમ માને છે. આચાર્ય શંકર વગેરે વેદાન્તીઓને આવો એકાંત ગમ્યો નહિ અને તેમણે સંન્યાસ ઉપર ભાર આપ્યો પણ તેમનો એ ઉપદેશ વૈદિક બહુજન સમાજને કદી સ્પર્શ્યો નથી. વેદાન્તી છતાં જીવનમાં વ્યવહાર તો વર્ણધર્મને અનુકૂળ જ રહેવાનો. શૂદ્ર કદી સંન્યાસી નહિ થવાનો. એવી મર્યાદાથી ઉપર ઉઠનાર વેદાન્તીઓ ક્વચિત જ મળે છે. એ બતાવે છે કે વૈદિક માર્ગનું મુખ્ય ધ્યેય સંન્યાસમાર્ગ નથી. આ જીવનને સર્વથા છોડવાનું નથી પણ આ જીવનને ઉદાત્ત કરવાનું છે. એટલે કે મુખ્ય માર્ગ ગૃહસ્થધર્મનો છે અને તે જ ધર્મનું યથાવત પાલન કરવાથી નિઃશ્રેયસપદની પ્રાપ્તિ પણ સુલભ બને છે.

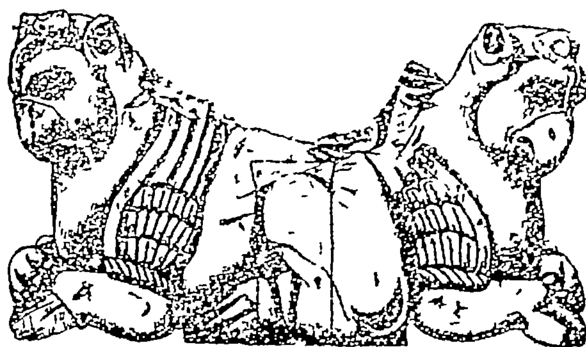
આ માર્ગથી વિરુદ્ધ શ્રમણોનો સંન્યાસમાર્ગ છે. તે એકાશ્રમ સંસ્થા છે. ગૃહસ્થધર્મની વ્યવસ્થા અનિવાર્ય નથી. બ્રહ્મચારી વિના લગ્ને પણ સંન્યાસી થઈને એ માર્ગ અપનાવી શકે છે એટલું જ નહિ, પણ તેમ જો તે કરે તો તે યોગ્ય કર્યું મનાય છે. સંતતિ માટે લગ્ન કે લગ્ન કરી સંતતિનું સર્જન એ આવશ્યક ધર્મ નથી. એટલે શ્રમણમાર્ગમાં સામાજિક કર્તવ્યોની વ્યવસ્થાનો પણ સંભવ નથી. ધર્મ તો મુખ્ય અણગારનો જ છે. અગારધર્મ એ આત્યંતિક અણગારધર્મ હોય તો તો ધર્મ કહેવાય, અન્યથા એ કાંઈ ધર્મકોટિમાં આવે નહિ. અણગારને સહાયરૂપે કે અણગારધર્મની તૈયારીરૂપે અગારધર્મ સંભવે છે પણ એથી સ્વતંત્ર એવો કોઈ અગારધર્મ સંભવી શકે નહિ. એટલે ગૃહસ્થધર્મની સામાજિક વ્યવસ્થા શ્રમણમાર્ગમાં નથી. જે કાંઈ વ્યવસ્થા છે તે ગૃહસ્થ એ સામાજિક પ્રાણી છતાં તે અસામાજિક પ્રાણી કેમ બને તેનો માર્ગ દેખાડવા પૂરતી છે. આથી વૈદિકોની જેમ શ્રમણોની કોઈ સ્મૃતિની રચના આવશ્યક મનાઈ નથી. પરિણામે શ્રમણોના હજાર પ્રયત્ન છતાં શ્રાવકો અર્થાત્ ગૃહસ્થોનો એક એવો સમાજ નથી રચાયો જે સર્વથા વૈદિક ગૃહસ્થ સમાજથી જુદો તરી આવે. સંન્યાસીઓ તો વ્યક્તિધર્મનું અનુસરણ કરતા હોઈ બ્રાહ્મણ સંન્યાસી વર્ગથી શ્રમણ સંન્યાસી વર્ગને જુદો તારવી શકાય છે, પણ ગૃહસ્થોમાં એવી તારવણી કરવાનું કોઈ સાધન નથી. કોઈ અમુક મન્દિરે કે ઉપાશ્રયે જાય એટલા માત્રથી તેને માટે સામાજિક વર્ગ અલગ નથી થઈ જતો પણ તેના સામાજિક રિવાજોમાં જો મૌલિક ભેદ પડતો હોય તો સમાજોમાં ભેદ પડે છે. વૈદિકો તો સંતતિ-ઉત્પાદ ધર્મ ગણે છે એટલે પોતાની સંપત્તિ સંતાનને મળે એવી સામાજિક વ્યવસ્થા કરે એ સમજી શકાય છે પણ શ્રમણોને અનુસરનાર શ્રાવકો સંતતિ ઉત્પન્ન કરવામાં ધર્મ માનતા નથી કે પુત્ર શ્રાદ્ધ કરશે તો પોતાની સદ્ગતિ થશે એમ પણ માનતા નથી છતાં તેમની સંપત્તિમાં તેમના પુત્રોનો જ અધિકાર છે એવું કેમ માને છે? દીક્ષા લેતી વખતે પણ અમુક દાન કરીને શેષ સંપત્તિ પુત્રો માટે જ કેમ રહેવા દે છે? આનો ખુલાસો એ જ છે કે શ્રમણોએ પોતાની દૃષ્ટિએ ગૃહસ્થધર્મની કોઈ સ્મૃતિ રચી જ નથી. કારણ તેમને મતે ગૃહસ્થધર્મ એ ધર્મ જ નથી, ધર્મ તો સંન્યાસધર્મ જ છે. ગૃહસ્થધર્મને ધર્મસંજ્ઞા એ જ અર્થમાં છે કે તેમાં તે અણગાર બનવાની તૈયારી કરે છે. આ દૃષ્ટિએ વિચારતાં સ્મૃતિસંમત હિન્દુ ધર્મના કાયદાકાનૂનો જૈન સમાજે સદા અપનાવ્યા છે. પોતાની સ્વતંત્ર સ્મૃતિઓને આધારે કાયદાકાનૂનો કદી ઇતિહાસમાં બન્યા હોય એવું પ્રમાણ નથી, છતાં પોતે હિન્દુ સમાજથી અળગા છે એવું આજે પોકારીને કહેવું પડે છે તે એટલું જ બતાવે છે. હિન્દુઓ પાસેથી જૈનો અસ્પૃશ્યતા વગેરે શીખ્યા તે હવે જ્યારે હિન્દુઓ પણ એ વસ્તુને છોડવા તૈયાર થયા છે ત્યારે જૈનો પકડી રાખવા માગે છે. આ તો જરા પ્રાસંગિક થયું. પણ મૂળ મુદ્દો તો એ જ છે કે જૈનોએ કે શ્રમણોએ જે પ્રકારે શ્રમણ યા સંન્યાસી સમાજની વ્યવસ્થા કરી છે તે પ્રકારે શ્રાવક સમાજની સ્વતંત્ર વ્યવસ્થા કરી નથી તેનું કારણ તેમની એકાશ્રમ સંસ્થાની માન્યતામાં છે.

આ એકાશ્રમ સંસ્થા એ શ્રમણધર્મની વૈદિકધર્મ કરતાં વિશિષ્ટતા છે. એથી અનેક લાભો થયા છે પણ જ્યારે એની બીજી બાજુનો વિચાર કરીએ છીએ ત્યારે સ્પષ્ટ જણાય છે કે જીવનનું એક અંગ જાણે અપૂર્ણ જ રહી જાય છે. મનુષ્ય એ સામાજિક પ્રાણી છે એવી વ્યાખ્યા માનસશાસ્ત્રીઓ મનુષ્યની કરે છે પણ એ વ્યાખ્યાનો જ વિરોધ શ્રમણધર્મની એકાશ્રમ વ્યવસ્થા સાથે છે. પ્રારંભથી જ તેને એ શીખવવામાં આવે છે કે તું એકલો આવ્યો છે અને એકલો જવાનો છે. તારે વળી માતા શું અને પિતા શું? એ બધા તો સ્વાર્થના સગા છે. સ્વ—જીવ કર્મ નિરાળાં છે અને એને જ કરવું તે સુખી કે દુઃખી થાય છે. તારા કર્મ તું જ ભોગવવાનો છે—તેમાં કોઈ ભાગીદાર થવાનું નથી. આધાર—ભાગ્યમાં એ બાળનું પોષણ કરવા નિમિત્ત તું થયો પણ નથી કર્યો, પણ એ બાળનું ભાગ્ય તો તારે જ ભોગવવાનું. તારી ભાવિ કલ્પનામાં ભાગ ભજવનાર પણ એ તારી પાપની કમાણીમાં તો ભાગ નહિ જ પડાવી શકે. માટે એ સૌને છોડીને સંસારને ત્યાગ કરી દે. સંન્યાસી થઈ જા. તેમાં જ તારો ઉદ્ધાર છે. આનું પરિણામ એ છે કે આપણે એ ભાવના આવે છે કે આ બધા પાપથી ક્યારે છૂટું તે? પહેલી એવી ધાર્મિક સ્થિતિમાં આવે છે તે જ પહેલી વહેલી તકે નીકળી જાય છે અને ત્યાં સંન્યાસી બની જાય છે. પરિણામે આત્મકલ્યાણાર્થે ઉપકાર કરવા પ્રત્યે જવાતા તો આ સૌને સુખકર થવા પ્રત્યે ધ્યાન જતું જ નથી. પરંતુ ભાવે જ નહિ ધ્યાન આપવા છે. સમાજના આધારે જ સમાજની વચ્ચે રહી સંન્યાસધર્મનું પાલન થાય છે તે જ સમાજ વિશે તદ્દન ઉપેક્ષા સેવવામાં આવે છે. પરિણામે જીવનદૃષ્ટિ એકાંગી બની જાય છે.

પ્રારંભમાં જૈન શ્રમણોનો માર્ગ એ એકવિહારી માર્ગ હતો. એ માર્ગની જ પ્રતિષ્ઠા હતી, પણ અનુભવે શીખ્યું કે સમસ્ત રહી સાધના કરવી જ છે એટલે સ્થવિર કલ્પ અને જિનકલ્પ એમ બે. પાછળે એક પ્રકાર આવ્યો કે જિનકલ્પ એટલે કે એકલવિહારનો લોપ થયો. સ્થવિર મુનિઓનો સંઘ થઈ ગયો છે. આ શું બતાવે છે? મનુષ્ય એ સામાજિક પ્રાણી છે અને તે સમાજમાં રહીને જ વિકસી શકે છે. આ ગચ્છસંઘનો ઇતિહાસ કહે છે કે મનુષ્યની એકલતાનો ઉપદેશ ... તે શું સ્વાભાવિક નથી? સંન્યાસમાર્ગ એ વિરલ વ્યક્તિ માટે ભલે યોગ્ય હોય પણ સામાન્ય સમાજ માટે એ યોગ્ય નથી જ. તો પછી બધો જ સંન્યાસમાર્ગ ઉપર ભાર આપવાને બદલે ગૃહસ્થાશ્રમ ઉપર ભાર આપવો એ હિતાવહ છે.

વાસ્તવદૃષ્ટિએ જો કોઈ કર્તવ્ય ન હોય અને કોઈ કર્તવ્ય બાકી રહી શકે તેમ ન હોય તો સંન્યાસીઓનો ધર્મ પણ અનાવશ્યક છે અને પુરસ્કૃતસ્વાદ પણ અનાવશ્યક છે. ભાવિકો કે આચાર્યના હિન્દુ બીજી સેવા કરવામાં જે આધ્યાત્મિક ઉન્નતિમાં બાધા પડતી હોય તો સંઘમાં ... પરસ્પર સેવા કરવામાં આધ્યાત્મિક ઉન્નતિમાં બાધા કેમ નથી પડતી? જે સમાજ આપણને સર્વ પ્રાપ્ત થયો છે તેનું આપણું ઋણ હોય છે. એટલે વસ્તુતઃ એ સમાજની સેવા કરવામાં મનુષ્યની સ્વાભાવિક પ્રવૃત્તિ થાય છે. પણ એ સેવાને ઓળખીને બીજાની જ એ સેવા કરાતી હોય તો પ્રથમ માર્ગ એ જ હોઈ શકે કે મનુષ્ય જે સમાજની સેવા કરતો હોય તે તો કરે જ. ઉપરાંત તે સેવાનું ક્ષેત્ર વ્યાપક બનાવે. આમાં તેનો આધ્યાત્મિક વિકાસ છે. પણ તેને એકની સેવા છોડી બીજાની સેવામાં લગાડવો એ તો અનુચિત છે. સેવા એકના સેવાની વ્યવસ્થા જે કાર્ય આપવામાં આવે છે એ જ કરીને તે અન્યમ કેમ ન કરે? તો પછી તેની નિકટ એક જગત સેવામાંથી નિવૃત્તિને પામે તે શિવ આવે કેવી રીતે? સંન્યાસમાર્ગ એ જ હોઈ શકે કે તે જે કામ કરતો હોય તેમાં જ આધ્યાત્મિકતાનો પુટ દેવાનો પ્રયત્ન કરવો જોઈએ.

મનુષ્યની એ સામાન્ય પ્રવૃત્તિ હોય છે કે તે પોતાના સગાસબધીઓની યથાશક્તિ સેવા કરતો જ હોય છે તેમા તેને એ શિખવવામા આવે કે તારુ કુટુબ તું ઉત્તરોત્તર વિશાળ કરતો જા એક મહોલ્લામા રહેનાર પડોશી ઉપરાન્ત જે બીજા ગામમા રહેનાર સગાસબધીઓ સાથે જે પ્રેમ હોય તો તે પ્રેમનો ઉત્તરોત્તર વિકાસ કરણીય છે અને એ વિકાસ વિશ્વમૈત્રીમા પરિણમાવવાની આવશ્યકતા છે આમ જો કરવામા આવે તો વ્યક્તિની સ્વાર્થી ભાવનાના દોષને બદલે તેની આધ્યાત્મિક પરાર્થ-ભાવનાનો જ વિકાસ થાય છે અને તેમ થતા સ્વાર્થજન્ય દોષનો ઉત્તરોત્તર હ્રાસ થઈ મહાકરુણામા પરિણમે છે આથી પોતાનો તો ઉદ્ધાર છે જ પણ સાથે સાથે જે સમાજમા આપણે રહેતા હોઈએ તેનો પણ ઉદ્ધાર છે એ સમાજ આપણને પછી તુચ્છ નથી લાગતો, છોડવા જેવો નથી લાગતો પણ ઉત્તરોત્તર વિકસિત કરવાની પ્રેરણા કરતો જણાય છે, તેમા જ સ્વપરકલ્યાણ ભાવના વિકસે છે અને એ રીતે ખરી આધ્યાત્મિકતા પણ વિકસે છે આ ક્રમ સ્વાભાવિક છે એ સ્વાભાવિક ક્રમ છોડીને માત્ર સન્યાસ ઉપર ભાર આપવા જતા આપણે બન્ને બગાડ્યા છે જેમાથી સાચા સન્યાસીઓ પાકવાનો સભવ છે એ ભૂમિકા રૂપ શ્રાવક સમાજની ઉન્નતિ થતી નથી ને સન્યાસી સમાજમા જીવનની કૃત્રિમતા વધતી જાય છે આ દોષ જો ટાળવો હોય તો એક જ રસ્તો છે કે માત્ર સાધુસસ્થા ઉપર ભાર આપવો છોડી દઈએ અને જે સમાજ—ગૃહસ્થસમાજ જે આપણને સહજ પ્રાપ્ત છે તેની ઉપેક્ષા ન કરતા તેની જ ઉન્નતિ કરવા વિશેષ પ્રયત્નશીલ થઈએ એવા ઉન્નત સમાજમાથી સહજ ભાવે જે એકલવિહારી બનશે તે તે માર્ગને દિપાવશે અને એકલવિહારી નહિ બને તો પણ સમાજમા સ્વપરકલ્યાણના માર્ગમા લાગ્યા રહ્યા હશે તો પણ એ અનુચિત તો નથી જ



વાદિદેવસૂરિનું જન્મસ્થાન કયું ?

શ્રી ગોકુળભાઈ દોલતરામ ભટ્ટ

મને શ્રી પંડિત બેચરદાસજી દોશીનો 'ગુજરાતી ભાષાની ઉત્ક્રાન્તિ' નામક ગ્રંથ ભેટ રીતે મળ્યો હતો. તેનાં પૃષ્ઠ ૨૨૧ ઉપરના એક લેખ તરફ મારું ધ્યાન વિશેષે કરીને ગયું.

વાદિદેવસૂરિ સંસ્કૃત અને પ્રાકૃત ભાષાના પ્રખર પંડિત હતા, પ્રખર નૈયાયિક અને અદ્ભુત કવિ હતા. શ્રી હરિભદ્રસૂરિની અનેકાન્તજયપતાકા ઉપર ટિપ્પણ રચનાર મુનિ ચંદ્રસૂરિ દેવસૂરિના ગુરુ, પણ મહાપંડિત તપસ્વી અને સુવિહિતાગ્રણી હતા અને વાદિદેવસૂરિના શિષ્યો ભદ્રેશ્વરસૂરિ તથા રત્નપ્રભસૂરિ વગેરે પણ મહાવિદ્વાન હતા. વાદિદેવસૂરિનું જન્મસ્થાન 'મડ્ડાહત' આજનું 'મદુઆ' આબુની આસપાસ ગુજરાત દેશના અષ્ટાદશશતી નામના એક પ્રાંતમાં તે સ્થાન આવેલું છે. સૂરિની જન્મ વિક્રમ સંવત ૧૧૪૩ જાતિ પોરવાડ, પિતા વીરનાગ, માતા જિનદેવી, આચાર્યનું મૂળ નામ પૂર્ણચંદ્ર. મદુઆ ગામમાં મહામારીના ઉપદ્રવ થયો. વીરનાગ પોતાના એ ગામને છોડીને ભરૂચમાં રહેવા આવ્યો.

શ્રીવાદિદેવસૂરિજીની વાક્પટુતા, વિદ્વત્તાની વિભૂતિઓમાં ઉતરવાનો તથા ગુજરાતની સીમાની બહાર કરવાનો હેતુ અહીં નથી. દેવસૂરિજી જેવા વિદ્વાનનું જન્મસ્થાન કયું એની વિચારણા અહીં. મડ્ડાહત તે મદુઆ કે મડાર-મડાર? એનો નિર્ણય અને તે કોઈ ભણી થાય છે તે પંડિત બેચરદાસજી તથા અન્ય વિદ્વાનોની વિચારણા—પુનર્વિચારણા અર્થે તથા સ્થળ તપાસની દૃષ્ટિએ રજૂ કરું છું.

વાદિદેવસૂરિજી પોતાના અદ્વિતીય પ્રમાણનયતત્ત્વાલોકાલંકાર નામના ગ્રંથમાં પ્રમાણ અને નયનું સ્વરૂપ પોતાના કાળ સુધીની ભિન્નભિન્ન માન્યતાના અનુવાદપૂર્વક એ સારી રીતે સ્થાપે છે. આ ગ્રંથના ગુજરાતી અનુવાદક શ્રી માલવણિયા એ સન ૧૯૩૨માં સૂરિજીનો જીવનપરિચય ઉપર પ્રમાણે કરાવતાં પૃ. ૮ ઉપર લખે છે:

વાદિદેવસૂરિ જાતિએ પોરવાડ વણિક હતા. તેઓના જન્મ 'મડ્ડાહત' નામના ગામમાં થયો હતો, જે આજે આબુ પાસે આવેલા મદુઆ તરીકે પ્રસિદ્ધ છે. આ 'મડાર' યા મદુઆ ગામમાં રોગચાળો ફાટી નીકળ્યો અને તેથી પોતાના કુટુંબના રક્ષણ માટે વીરનાગને ભરૂચ અને શ્રી લલિત નગરમાં આવવું પડ્યું.

મડ્ડાહત તે મદુઆ એ પંડિત બેચરદાસજીનું કથન. મડ્ડાહત તે મદુઆ મડાર એ શ્રી વિદ્વાન મુનિ કલ્યાણવિજયજીના મતાનુસાર આજનું મદુઆ સ્થાન છે.

હવે આપણે આ સંબંધી અન્ય ઉપલબ્ધ વિગતોનું અવલોકન કરીએ.

આબુરોડ પાસે ૭ માઈલ દૂર આવેલા મદુઆ સ્થાનનો ઇતિહાસ જાણવો ઘણો જરૂરી છે. મદુઆથી આબુ તરફ જતી પાકી સડક ઉપર આબુરોડથી ૭ માઈલ દૂર છે. તે મુખ્ય (સડક) થી આશરે માઈલ દૂર પશ્ચિમ દિશા તરફ છે. રાજા ની રાણી તેના વૈષ્ણવ મંદિર બંધાવેલું છે. એમાં શ્રીકૃષ્ણ ભગવાનની ૪ ફૂટની ઊભી પ્રતિમા છે.

મન્દિરની બહાર એક કોતરણીવાળો દરવાજો છે. આ કયાડથી લાવવામાં આવ્યો છે. આ સ્થાનનું મૂળ નામ શિલાલેખોમાં ‘ડિલણીગામ’ મળી આવે છે. સંવત ૧૬૦૦થી લખાયેલ તામ્રપત્રોમાં તથા અન્યત્ર ‘મડુઆડ’ તથા ‘મધુસૂદન’ આ નામોનો જ ઉલ્લેખ છે, ક્યાંય પણ આ સ્થાન માટે ‘મદાહૃત, મડાહૃત, મડાહડ’નો ઉલ્લેખ નથી.

‘મડાહડગચ્છકી પરંપરા’ નામક એક હિંદી લેખમાં[1] પુરાતત્ત્વના અભ્યાસી રાજસ્થાનના વિદ્વાન શ્રી અગરચંદજી ભંવરમલજી નાહટા લખે છે:

“મુનિવર જયન્તવિજયજી કે ઉલ્લેખાનુસાર મડાહડગચ્છકા નામકરણ જિસ મડાહડ સ્થાન કે નામસે હુઆ હૈ વહ વર્તમાન મડાર (મઢાર) હૈ, જો કિ સિરોહી સે નૈઋત્યકોણ મેં ૪૦ માઈલ ઔર ડીસાસે ઈશાનકોણ મેં ૨૪ માઈલ હૈ. ભટાણાસે વાયવ્ય કોણ મેં ૭ માઈલ ઔર ખરાડીસે (આબુરોડસે) ૨૬ માઈલ પશ્ચિમમેં હૈ. સિરોહી રાજ્ય કે તહસીલકા યહ ગાંવ હૈ.

“મડાહડ સ્થાન પ્રાચીન હૈ. સુપ્રસિદ્ધ વાદિદેવસૂરિ વહીં કે પોરવાડ વીરનાગકે પુત્ર થે.

“મડારમેં અભી ધર્મનાથ ઔર મહાવીરસ્વામી કે દો મન્દિર હૈં. યહાં પર મેત્રજી ભટ્ટારકા ઉપાસરા ભી હૈ, જો દિગંબરોં કે થે. મણિભદ્રયક્ષકા મન્દિર, જો મડાર દેવીકા મન્દિર ભી કહલાતા હૈ.” (પૃષ્ઠ ૯૬)

સિરોહી મહારાવસાહેબના અંગત મંત્રી શ્રી અચલમલજી મોદી પાસેથી પણ નીચેની ખાસ વિગતો મળી છે:

(૧) સિરોહી શ્રી અજિતનાથ ભગવાન કે મન્દિર મેં એક પાર્શ્વનાથ ભગવાનકી એક તીર્થી હૈ, જિસ પર નિમ્નલિખિત લેખ હૈ:
“સં ૧૧૩૮ માર્ગ૦ શુ૦ ૧૦ ધારાગચ્છે મડાહડ સ્થાને વર્ધમાન શ્રેયાર્થં દેવચંદ્ર સુતેન વણદેવ નકારિત.”

(૨) શ્રી દેવચંદ્ર કે લુણવસહી કે વ્યવસ્થા કે શિલાલેખ મેં ઉક્ત મન્દિર કે વાર્ષિક અઠ્ઠાઈ મહોત્સવ મેં ફાગણ વદિ ૮ કા દિન મડાહડ કે જૈનોં કો મનાના ઐસા ઉલ્લેખ હૈ.

(૩) મડાહડ દેવી કે મન્દિર કે બહાર એક શિલાલેખ હૈ, ઉસકા સંવત ભી ૧૨૮૭ કા હૈ.

(૪) શ્રી મેઘરચિત પ્રાચીન તીર્થમાળા સંગ્રહ પૃ૦ ૫૪ કડી ૧૧ ‘મડાહડી સાડી વડગામ સાચઉ શ્રી વીર પ્રણામ’ (મડાર-મગર, વડગામ વગેરે વગેરે સાડા ગામોનો સમૂહ જે જેને સાડી કહેવાય છે.)

આવી જ રીતના નામપ્રયોગો અન્ય તીર્થમાળાઓમાં છે: નયર મડાડ, મઢાડિ વગેરે.

વ્યુત્પત્તિશાસ્ત્રનો આધાર શોધવા જઈએ તો શું પરિણામ આવે? આપણા પ્રસિદ્ધ પુરાતત્ત્વવિદ મુનિ જિનવિજયજીને પૂછતાં તેમણે—

મદાહૃત–મડાહ–મઢાર–મડાર–મગર,

મદાહૃદ–મદાહૃત–મડાહડ–મડા એ ક્રમ બતાવતાં કાસહૃદ–કાસહૃત–કાસદર–કાયદ્રા, (સિરોહી જિલ્લાનું કાસીંદ્રા) એ દૃષ્ટાંત આપ્યું.

તો પ્રશ્ન ઊઠે છે—મદાહૃતનું મદુઆ કેવી રીતે ફલિત થયું? વળી એ સ્થાને જૈનોની વસતિ હતી કે?

---

૧ અખિલ ભારતવર્ષીય જૈન શ્વેતામ્બર મૂર્તિપૂજક મુનિ સંમેલન સંસ્થાપિત શ્રી જૈન ધર્મસત્યપ્રકાશક સમિતિના માસિક મુખપત્ર ‘શ્રી જૈન સત્યપ્રકાશ’ના ૧૯૫૫ની સાલના ૧૫ ફેબ્રુઆરીના અંકમાં.

'અમારિ' પાલનના બે અપ્રકટ ઐતિહાસિક લેખો

શ્રી નાગકુમાર મકાતી

૧

[illegible] એ [illegible] વચન હો કે અહિંસા પરમો ધર્મ એ તેમ [illegible] વચન છે—આપણને સ્પષ્ટ જણાય છે કે સર્વ કાળમાં સર્વ ધર્મોએ અહિંસા ઉપર જ ભાર મૂક્યો છે. બધાએ પોતાના મર્મ આગળ [illegible] આદર્શ તો અહિંસા નો જ રાખ્યો છે. પણ ભારતીયોમાં અહિંસા નું સ્થાન પહેલું રહ્યું છે. આ મન, કર્મ, વચન અને માનસિક એમ ત્રિવિધ સ્વરૂપે કરી અહિંસાને પાળવું જોઈએ એટલું જ નહિ પણ આમ તેવું બીજા પાસે પળાવવું પણ જોઈએ. [illegible] ધર્મ ગણાતા [illegible] ધર્મમાં પણ અહિંસાનું સ્થાન કદી બીજું આવ્યું નથી.

ભગવાન મહાવીર અને ભગવાન બુદ્ધે [illegible] ઉપર અહિંસા નું પરમધર્મ તરીકે પ્રતિપાદન થયું હતું. [illegible] અહિંસા [illegible] સ્વરૂપે ઘોષણાઓ [illegible] ગુર્જરેશ્વર કુમારપાળે[1] એ બન્ને પુરુષોને પગલે ચાલી અમારિ ઘોષણા પાટણ, મારવાડ, મેવાડ, સુરાષ્ટ્ર, કચ્છ [illegible] અને લાટમાં કરાવી હતી.

એ બુદ્ધ, મહાવીર અને કુમારપાળ [illegible] જેવા [illegible] પછીથી સદીઓ આ અહિંસા ને [illegible] પણ આવ્યા.

આમ પશ્ચિમ હિન્દમાં, ખાસ કરીને અહિંસાનુ પાલન કરવા અને કરાવવા [illegible] ઉપરના શિલાલેખથી [illegible] પ્રયત્નો થયા છે.

૨

આ લેખમાં પ્રાચીન કાળની વાતને [illegible] સંવત ૧૫ [illegible] ઉપરોક્ત [illegible] મંદિરના શિલાલેખનો અને બીજો એક [illegible] ૧૧૨ વર્ષ ઉપર [illegible] આજ્ઞાઓના [illegible] અમારિ ના પ્રતિપાદનમાં [illegible] ઉમેરો કરે છે.

મોગલ બાદશાહો પાસેથી જૈન સાધુઓએ મેળવેલી સનદો અહીં [illegible] છે.

[illegible] કરનાર [illegible] રાજા [illegible] રાજ્યકીર્તિ વર્ણન [illegible] છે. એના રાજ્યમાં [illegible] (સારી, [illegible])ની રચના [illegible] બાર [illegible]—[illegible] નહિ [illegible] સારી રચના માટે [illegible] નગરના રાજ્યમાં માટે [illegible] સાર્થક થયું!

[illegible] મારિ (હિંસા) [illegible] મારી [illegible] નહિ અને એમ એના રાજ્યકાળમાં પ્રજા અહિંસા પાળતી અને પળાવતી હતી એમ જણાઈ આવે છે.

---

૧ હેમચન્દ્રે [illegible] આ પ્રમાણે [illegible] છે:

[illegible] ।

[illegible] ॥

: ૩

જૂનાગઢ ઉપરકોટનો સં. ૧૫૦૭નો શિલાલેખ

સંવત ૧૫૦૭ના માઘ શુદ સપ્તમી દિને ગુરુવારે જૂનાગઢના રા' મંડળિકે બૃહત્ તપાગચ્છના રત્નસિંહસૂરિના પટ્ટાભિષેકના અવસરે, પંચમી, અષ્ટમી, ચતુર્દશી એટલા વિશેષ દિનોમાં સર્વ જીવની 'અમારિ' કરાવી આ પહેલાં એકાદશી અને અમાવાસ્યામાં તેનું પાલન થતું હતું આ સંબંધીનો મોટો શિલાલેખ જૂનાગઢના ઉપરકોટમાં છે

"स्वस्ति श्री संवत १५०७ वर्षे माघसप्तमी दिने गुरुवार श्री राणाजी मेगलदे सुत राउलश्री महिपालदे सुत श्री मंडलिकप्रमुखा सर्वजीवकरुणाकरणतत्परेण औदार्य गांभीर्य चातुर्य शौर्यादि गुणरत्न रत्नसिंहसूरिणा पट्टाभिषेकावसरे स्तंभतीर्थवास्तव्य सा देवासुत हासासुत राजकुलीन समस्तजीवअभयदानकरण कारणेण पंचमी-अष्टमी-चतुर्दशीदिनेषु सर्वजीव अमारि कारिता । राजा नगर सिंहासनोपविष्टेन श्रीमंडलिकराजाधिपेन श्री अमारि प्राग् लिखित स्वहस्तलिखित श्रीकरिसहित समर्थित । पुरापि एकादशीअमावास्ये पाल्यमाने स्त । संप्रति एतेषु पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी अमावास्यादिनेषु राजाधिराज श्रीमंडलिकेण सर्वश्रेय कल्याणकारिणी सर्वदुरितदुरापसर्ग निवारिणी सर्वजीवअमारि कार्यं चिरं विजयता ।"

આ પછીનો આ શિલાલેખનો ગુજરાતી ભાગ, સંવત ૧૫૦૭ના સમયના પ્રચલિત વ્યાવહારિક ગુજરાતી ગદ્યનો કીમતી નમૂનો પૂરો પાડે છે એટલે જેટલું મહત્ત્વ એ ગદ્યના અર્થનું છે તેટલું જ તેના સ્વરૂપનું પણ છે તે ભૂલવા જેવું નથી

સંવત ૧૫૦૭ના રા' મંડળિકના ઉપરના સંસ્કૃત શિલાલેખમાંથી છેલ્લો ગુજરાતી ભાગ તે સમયના પ્રચલિત ગદ્યના દૃષ્ટાંતરૂપ છે સંસ્કૃત લેખનો સાર એ છે કે માંડળિક (ત્રીજો) ગાદીએ બેઠો ત્યારે પાંચમ, આઠમ, એકાદશી, ચતુર્દશી ને અમાવાસ્યાના દિવસોએ કોઈપણ જીવ ન મારવાની 'અમારિ'ની તેણે આજ્ઞા કરી હતી આ આજ્ઞા ઉક્ત ફકરામાં આપી છે પાછળના ભાગમાં મંડલિકના ગુણગાનના શ્લોકો સંસ્કૃતમાં છે

ગુજરાતી ભાગની પંદર પંક્તિઓ આ મુજબ છે

"પ્રથમ શ્રેય ઈ જગતિ જીવ તર્પિવા સહી, બીજા લોક સમસ્તિ જીવ ન વિણાસિવા, લાવકમાર અનિ ચિડીયાર સીંચાણક રહિં વિ આહેડા ન કરિવા, મોર ન મારિવા, બાવર ખાટ તુરક એહે દહાડે જીવ કોઈ ન વિણાસઈ, જિ મારસિ વધનિ મલેસિ, કુંભકાર પંચદિન નીભાડ ન કરઈ, જીકો ઇ દીહિ એણવા આણા ભંગ કરઈ એ હણીઈ, રા' શ્રીમાંડળિક નાથણી આણા સવકણઈ પાલિવી, તેહનઈ ગુણ ઘણા હોસિઈ, જિકો જન ચુકઈ એ દોષની તેહણઈ અમારિ પ્રવર્તાવણહાર શ્રીમંડળિક પ્રભુ કઈ આશાતણા ઈછઈ"

વર્તમાન છાયા (૧) પ્રથમ શ્રેય આ જગતમાં જીવ જરૂર ('સહી') તર્પવા, બીજું (૨) લોક સમસ્તે જીવ ન હણવા, લાવરમાર અને (૩) ચલ્લામાર બાજ માટે ('-હિં') પણ શિકાર ન કરવો મોર (૪) ન મારવા વાવર ખાટ તુરક એ દહાડે કોઈ જીવ (૫) ન હણે જે મારશે, તે વધને પામશે કુંભાર (૬) એ પાંચ દિન નીભાડો ન કરે જે કો એ દિવસે આ પ્રકારની આજ્ઞાનો (૭) ભંગ કરે તે મોતની શિક્ષા પામે રા' શ્રીમંડળિક પૃથ્વીનાથની (૮) આજ્ઞા સહુ કોણે (= સહુ કોએ) પાળવી તેણે (૯) ગુણ ઘણા થશે જે કો જન ચૂકી જાય તેણે, (૧૦) અમારિ પ્રવર્તાવણહાર શ્રી મંડળિક ઇચ્છે છે કે પ્રભુને આશાતના કરવી ૨

૨ જૂનાગઢ કૉલેજના સંસ્કૃતના પ્રોફેસર શ્રી નર્મદાશંકર પુરોહિતે આ આખો લેખ વાંચેલો, તેના ગુજરાતી ભાગનું સંશોધન-સંપાદન-ભાષાંતર દી બા પ્રો કેશવલાલ ધ્રુવે કરેલું તે 'શ્રી ફાર્બસ ગુજરાતી સભા ત્રૈમાસિક' ૧૯૫૨-૫૩ (પ્રગટ તા ૩૧-૬-૫૪)માં પ્રસિદ્ધ, પૃષ્ઠ ૩૭૬, સંસ્કૃત લેખની માહિતી માટે જુઓ 'જૈન સાહિત્યનો સંક્ષિપ્ત ઇતિહાસ' શ્રી મોહનલાલ દેશાઈ કૃત (૧૯૩૩), પૃ ૪૯૫, પાદનોંધ

'અમારિ' પાલનના બે અપ્રકટ ઐતિહાસિક લેખો

શ્રી નાગકુમાર મકાતી

૧

સર્વેષાં ભૂતાનાં એ ગીતાનું વચન હો કે અહિંસા પરમો ધર્મ એ જૈન શાસ્ત્રનું વચન હો—આપણને પ્રત્યક્ષ છે કે સર્વ કાળમાં સર્વ ધર્મોએ અહિંસા ઉપર જ ભાર મૂક્યો છે. મનુષ્યો પોતાના સ્વાર્થ ખાતર હિંસા આચરે પરંતુ આદર્શ તો અહિંસા નો જ રહ્યો છે. પાંચ મહાવ્રતોમાં અહિંસા નું સ્થાન પહેલું રહ્યું છે. આ વ્રત કાયિક, વાચિક અને માનસિક એમ વિવિધ સ્વરૂપે દરેક વ્યક્તિએ પાળવું એટલું જ નહિ પરંતુ શક્ય હોય તેટલું બીજા પાસે પળાવવું પણ જોઈએ. સાર્વભૌમિક ધર્મ ગણાતા વૈદિક ધર્મમાં પણ અહિંસાનું સ્થાન કંઈ ઓછું આવ્યું નથી.

ભગવાન મહાવીર અને ભગવાન બુદ્ધે ઈ.સ. પૂર્વે છઠ્ઠા સૈકામાં પોતાના ઉપદેશ ઉપર અહિંસાનું પરમધર્મ તરીકે પ્રતિપાદન કર્યું હતું. ત્યારબાદ સમયમાં અશોકે અહિંસા અમલ કરાવી સમ્રાટ તરીકે હિન્દુ ધર્મની નવે સ્વરૂપે ઓળખાણ આપી હતી. ત્યારબાદ બારમા સૈકામાં ગુર્જરેશ્વર કુમારપાળે[1] એ સત્ય પુરુષોને પગલે ચાલી અમારિ ઘોષણા ગુજરાત, મારવાડ, મેવાડ, સૌરાષ્ટ્ર, કચ્છ આદિ દેશોમાં અમલમાં કરાવી હતી.

એ બુદ્ધ, મહાવીર અને કુમારપાળ જેવાના અનુયાયીઓએ શીખ્યા વારસા જેવા મહાત્મા ગાંધીજીએ વીસમી સદીમાં આ અહિંસાને વિશ્વવ્યાપી બનાવવા પ્રયત્ન શરૂ કર્યો અને તે ખાતર પ્રાણ પણ આપ્યા.

આમ જીવિત હિંસા, ખાસ કરીને અહિંસાનું પાલન કરવા અને કરાવવા અશોકના ગિરનાર ઉપરના શિલાલેખોથી આરંભી આજ સુધીમાં ઠીક ઠીક પ્રમાણો મળ્યા છે.

૨

આ લેખમાં પ્રાચીન કાળની વાતને બદલે સંવત ૧૫ ના સૈકામાં ... ઉપરના ... શિલાલેખનો અને બીજો એક ... આજથી ૧૧૨ વર્ષ ઉપર ... આપેલા ફરમાનનો પરિચય કરાવવાનો છે, જે અમારિ ના પ્રતિપાદનમાં નવો ઉમેરો કરે છે.

મોગલ બાદશાહો પાસેથી જૈન સાધુઓએ મેળવેલી સનદો આદી જાણીતા છે.

... રાજા ... ની ... વર્ણન ... કરે છે. એના રાજ્યમાં ... (શારી, ...)ની ... 'મારિ' શબ્દ નીકળતો—બાળકોમાં નહિ ... શારી રમતા 'મારિ' ... ઉપરથી સમજાય છે કે ... રાજ્યના 'મારિ' શબ્દ તે સાંભળ્યો!

આમ 'મારિ' (ને) હિંસા ... બોલવાની ... રાજ્યમાં નહિ અને એમ એમના રાજ્યકાળમાં પ્રજા અહિંસા પાળતી અને પળાવતી હતી એમ સ્પષ્ટ સમજાય છે.

---

૧ હેમચન્દ્રે ત્રિષષ્ટિશલાકાપુરુષચરિત્રમાં કુમારપાળના સંબંધે ઉલ્લેખ કર્યો છે

कुमारपालभूपालो ... सर्वतः ।

... ॥

વડનગરની શિલ્પસમૃદ્ધિ

શ્રી રમણલાલ નાગરજી મહેતા

નાગરોનું આદિ નિવાસ સ્થાન વડનગર મહેસાણા જિલ્લાના ખેરાળુ તાલુકામાં આવેલું છે વડનગર શર્મિષ્ઠા તળાવના પશ્ચિમ અને દક્ષિણ કાંઠા પર વસેલું કેન્દ્રિત ત્રિવેગર નગર છે સ્કંદપુરાણાન્તર્ગત નાગરખંડ આ નગરને ખૂબ પ્રાચીન દર્શાવે છે, અને તેના ચમત્કારપુર, નગર, આનંદપુર, આનર્તપુર વગેરે નામો આપે છે, તથા તેની ઉત્પત્તિ માટે અનેક વાતો દર્શાવે છે આ બધી વાતો, વધુ પુરાવા સિવાય પુરવાર થઈ શકે એમ નથી વડનગરના આનંદપુર અને આનર્તપુર વગેરે નામો મૈત્રકો અને ચાલુક્યોના તામ્રપત્રોમાં મળે છે વડનગરનું સૌથી પ્રથમ વર્ણન હ્યુ એન સંગ નામના ચીની મુસાફરે કર્યું છે તેમણે વડનગરને સમૃદ્ધ અને આશરે ત્રણ માઈલના ઘેરાવામાં વિસ્તરેલા નગર તરીકે વર્ણવ્યું છે

હાલમાં વડનગરની પૂર્વ, ઉત્તર અને દક્ષિણ દિશાઓમાં પ્રાચીન ટીંબાઓ છે આ ટીંબાઓમાંથી ઘણીખરી પાછળની વસાહતો તથા બીજા કાળમાં ખોદાયેલા અથવા ગળાયેલા તળાવોને લીધે ઓછેવત્તે અંશે ખોદાઈ ગયેલા છે આ ટીંબાઓમાંથી ઈ૦ સ૦ની શરૂઆતના સૈકાઓમાં વપરાતા માટીના વાસણો, શંખની બંગડીઓ, પ્રાચીન મુદ્રાઓ, મકાનોના પાયા વગેરે મળી આવે છે આ સ્થળો પૈકી આમથેર માતાના સ્થાનક પાસે અને ગૌરીકુંડ પાસે ઉત્ખનન કરતા વડનગરની વસાહત ઈ૦ સ૦ ની શરૂઆતમાં અસ્તિત્વમાં આવી હોય એમ લાગે છે પુરાતત્ત્વની નજરે, લગભગ બે હજાર વર્ષ જૂના આ નગરમાંથી, આમથેર માતા તથા શીતળા માતાના ચાલુક્ય સમય પહેલાના—સોલંકીના મંદિરો સાથે સરખાવી શકાય એવા—સુશોભિત મંદિરો અને પ્રાચીન શિલ્પોના ઘણા નમૂનાઓ મળ્યા છે

વડનગરમાંથી મળતા ઘણાખરા શિલ્પો ગમે ત્યાં, આડાઅવળા, પડેલા છે કેટલાક ત્યાંના મંદિરોમાં પૂજાતા કે અપૂજ પડેલા છે, જ્યારે બીજા કેટલાક કિલ્લાના કોટમાં અથવા તળાવની પાળોમાં જડી દેવામાં આવ્યા છે અહીંથી મળતા ઘણાખરાં શિલ્પો રેતીના પથ્થરોના બનાવેલા છે, જ્યારે થોડા શીસ્ટ (schist) અને શીસ્ટોઝ(schistoize)ના બનાવેલા છે વડનગરના શિલ્પો ઈડર અને ડુંગરપુરની અરવલ્લીની ગિરિમાળામાંથી મળતા પથ્થરોના બનેલા છે

ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ વડનગરના શિલ્પો ત્રણ વિભાગોમાં વહેંચી શકાય એમ છે

(૧) ગુપ્ત અને ગુપ્તકાળ પછીના (ઈ૦ સ૦ ના પાંચમાથી દશમા સૈકા સુધીના)

(૨) ચાલુક્ય સમયના (ઈ૦ સ૦ ના અગિયારથી તેરમા સૈકા સુધીના)

(૩) ચાલુક્ય સમય પછીના ગુજરાતના મધ્યોત્તર કાળના (ઈ૦ સ૦ તેર પછીના)

આ બધા શિલ્પો પથ્થરમાંથી ઉપસાવેલા છે અને તે મોટે ભાગે મંદિરોમાં સુશોભનો માટે વપરાયેલા હોય એમ લાગે છે જ્યારે કેટલાક શિલ્પો પૂજાની મૂર્તિઓ છે

પ્રથમ વિભાગમાં સુંદર કારીગીરીના સુઘડ શિલ્પો છે કંઈક લંબગોળ અથવા ગોળ મુખાકૃતિ, નાટીલું શરીર, મોટા કેશભાર અને આછા પણ સુરેખ આભૂષણોયુક્ત આ શિલ્પો મનોહર છે આ શિલ્પોનું સૌંદર્ય એના કુશળ વિધાન, સપ્રમાણ તંદુરસ્ત અને સૌન્દર્યવાન શરીર તથા સુરેખ નકશીકામમાં છે આ યુગના ઉત્તરકાળમાં ઘણીવાર શરીરના પ્રમાણમાં પગ કંઈક ટૂંકા અને જાડા લાગે છે

૪

વડોદરાની ન સિદ્ધક્ષેત્રની પોળમાં પ્રસિદ્ધ ઝવેરી કુટુંબના સદ્ગૃહસ્થો શ્રીયુત કુમારપાળ વાડીલાલ ઝવેરી તથા શ્રી સ્વ. ઝવેરી એમણે પોતાનો સંગ્રહ પ્રા. મંજુલાલ ર. મજમુદારને આપ્યો. તેમાંથી આ નીચેનો દસ્તાવેજ ઐતિહાસિક તેમ જ સામાજિક દૃષ્ટિએ મૂલ્યવાન જણાવી પ્રા. મજમુદારે પ્રસિદ્ધિમાં મૂકવા માટે આપી દીધો હતો અને તેમણે તે અમને આપીને ખૂબ ઉપકાર કર્યો છે. એમના સૌજન્યથી જ આ લેખ પ્રસિદ્ધ થઈ શકે છે.

વડોદરાનો સંવત ૧૮૪૮નો દસ્તાવેજ

અનાઇરાજ ગાયકવાડનો સિક્કો

સંવત ૧૮૪૮ના શ્રાવણ વદિ ૧૧ વાર ભોમે દીને શ્રી વડોદરાના શેઠ મહાજન સમસ્ત તેમ તથા શહેરને ... પુરની ભાગોળના મહેતર ... તથા જમાદાર ... તથા ... તથા રહીમખાન તથા મહમદ નસીર તથા મીયાંજી કાસમ તથા શાહે મહમદ વગેરે ભાગોળી પંચ સમસ્ત ... અમે સરવે મળીને રાજીખુશી થઈને મહાજનની સાથે ... પુરી વરસ ૧ મધ્યે માસ ૧ શ્રાવણનો જેના દીન ૩ તથા ભાદરવાની ... તથા ભાદરવા સોમવાર ૯૮ તથા પજુસણના દિવસ તે શ્રાવણ સુદ–૧થી તે ભાદરવા સુદ–૧૨ સુધી, તથા આસોની શીવરાત ૧ તથા રામનોમી ૧ એટલા દિવસ અમો ... તથા અમારી ... કરીએ નો ... તથા મહાજનના ... ને ... ૧ ... કરીએ ... ૨૭ ... ને એક પુરા ... કરીએ ને કોઈને ... ન ... પરભાર ... તથા ... એ ૫ ... અમારી ... પાળીએ ને ... અમો સરવે પંચ મળીને રાજીખુશી થઈને મહાજન સમસ્તને લખી આપ્યું છે તથા ... દિવસ, એટલા ... ને દિવસ ૨ ... કરીએ, ... આપના ... પાળીએ

અત્ર ... ૧ ... સાખ

[ભાગોળી પંચ સમસ્ત] [મહાજનની સહીઓ]

એક રે ... દિવસ ... ભાગોળી ... છે

ઉપર ... દિવસોમાં જૈન અને હિંદુ ... મુખ્ય મુખ્ય ... દિવસોનો સમાવેશ થયેલો છે એ ધ્યાન ખેંચનારી બીના છે

વિશેષે આ ... લેખનું સામાજિક મહત્ત્વ ... સમજાય તેવું છે



વડનગરની શિલ્પસમૃદ્ધિ

શ્રી રમણલાલ નાગરજી મહેતા

નાગરોનું આદિ નિવાસસ્થાન વડનગર મહેસાણા જિલ્લાના ખેરાળુ તાલુકામાં આવેલું છે વડનગર શર્મિષ્ઠા તળાવના પશ્ચિમ અને દક્ષિણ કાંઠા પર વસેલું કેન્દ્રિત ત્રિકોણાકાર નગર છે સ્કંદપુરાણાન્તર્ગત નાગરખંડ આ નગરને ખૂબ પ્રાચીન દર્શાવે છે, અને તેના ચમત્કારપુર, નગર, આનંદપુર, આનર્તપુર વગેરે નામો આપે છે, તથા તેની ઉત્પત્તિ માટે અનેક વાતો દર્શાવે છે આ બધી વાતો, વધુ પુરાવા સિવાય પુરવાર થઈ શકે એમ નથી વડનગરના આનંદપુર અને આનર્તપુર વગેરે નામો મૈત્રકો અને ગુર્જરોના તામ્રપત્રોમાં મળે છે વડનગરનું સૌથી પ્રથમ વર્ણન હ્યુએન સંગ નામના ચીની મુસાફરે કર્યું છે તેમણે વડનગરને સમૃદ્ધ અને આશરે ત્રણ માઈલના ઘેરાવામાં વિસ્તરેલા નગર તરીકે વર્ણવ્યું છે

હાલમાં વડનગરની પૂર્વ, ઉત્તર અને દક્ષિણ દિશાઓમાં પ્રાચીન ગભાણો છે આ ગભાણોમાંથી ઘણીખરી પાછળની વસાહતો તથા બીજા કાળમાં ખોદાયેલા અથવા ગળાવાયેલા તળાવોને લીધે છિન્નભિન્ન થઈ ગયેલી છે આ ગભાણોમાંથી ઈ૦ સ૦ની શરૂઆતના સૈકાઓમાં વપરાતા માટીના વાસણો, શંખની બંગડીઓ, પ્રાચીન મુદ્રાઓ, મકાનોના પાયા વગેરે મળી આવે છે આ સ્થળો પૈકી આમથેર માતાના [illegible] પાસે અને ગૌરીકુંડ પાસે ઉત્ખનન કરતાં વડનગરની વસાહત ઈ૦ સ૦ ની શરૂઆતમાં અસ્તિત્વમાં આવી હોય એમ લાગે છે પુરાતત્ત્વની નજરે, લગભગ બે હજાર વર્ષ જૂના આ નગરમાંથી, આમથેર માતા તથા શીતળા માતાના ચાલુક્ય સમય પહેલાના—રોડાના મંદિરો સાથે સરખાવી શકાય એવા—સુશોભિત મંદિરો અને પ્રાચીન શિલ્પોના ઘણા નમૂનાઓ મળ્યા છે

વડનગરમાંથી મળતા ઘણાખરા શિલ્પો ઘસાયેલા, આડાઅવળા, પડેલા છે કેટલાક ત્યાંના મંદિરોમાં પૂજાતા કે અપૂજ પડેલા છે, જ્યારે બીજા કેટલાક કિલ્લાના કોટમાં અથવા તળાવની પાળોમાં જડી દેવામાં આવ્યા છે અહીંથી મળતા ઘણાખરા શિલ્પો રેતીના પથ્થરોના બનાવેલા છે, જ્યારે થોડા શીસ્ટ (schist) અને શીસ્ટોઝ(schistoize)ના બનાવેલા છે વડનગરના શિલ્પો ઈડર અને ડુંગરપુરની આસપાસની ગિરિમાળામાંથી મળતા પથ્થરોના બનેલા છે

ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએ વડનગરના શિલ્પો ત્રણ વિભાગોમાં વહેંચી શકાય એમ છે

(૧) ગુપ્ત અને ગુપ્તકાળ પછીના (ઈ૦ સ૦ ના પાંચમાથી દશમા સૈકા સુધીના)

(૨) ચાલુક્ય સમયના (ઈ૦ સ૦ ના અગિયારથી તેરમા સૈકા સુધીના)

(૩) ચાલુક્ય સમય પછીના ગુજરાતના મધ્યોત્તર કાળના (ઈ૦ સ૦ તેર પછીના)

આ બધા શિલ્પો પથ્થરમાંથી ઉપસાવેલા છે અને તે મોટે ભાગે મંદિરોમાં સુશોભનો માટે વપરાયેલા હોય એમ લાગે છે જ્યારે કેટલાક શિલ્પો પૂજાની મૂર્તિઓ છે

પ્રથમ વિભાગમાં સુંદર કારીગીરીના સુડોળ શિલ્પો છે કંઈક લંબગોળ અથવા ગોળ મુખાકૃતિ, ઘાટીલું શરીર, મોટો કેશભાર અને આછા પણ સુરેખ આભૂષણોયુક્ત આ શિલ્પો મનોહર છે આ શિલ્પોનું સૌંદર્ય એનાં કુશળ વિધાન, સપ્રમાણ તદુરસ્ત અને સૌંદર્યવાન શરીર તથા સુરેખ નકશીકામમાં છે આ યુગના ઉત્તરકાળમાં ઘણીવાર શરીરના પ્રમાણમાં પગ કંઈક ટૂંકા અને જડ લાગે છે

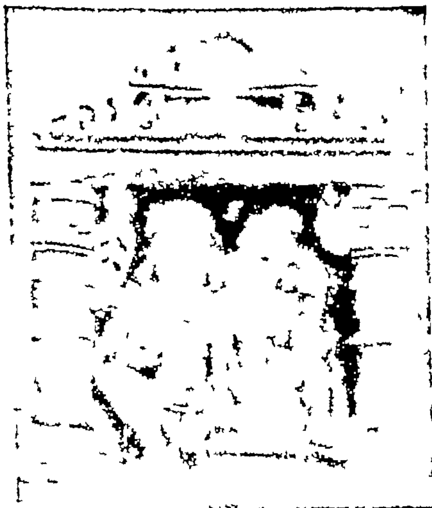
તથા કમર નીચેનો ભાગ નિર્બળ દેખાય છે. આ યુગનાં શિલ્પોમાં રેવતીના પબાસણનું મસ્તક, શિવનું અણઓળખાયેલ શિલ્પ તથા નાગજનવાળી માતાની પ્રતિમા, અમથેરમાતાના મંદિરની ઉત્તર બાજુની શીતપરની મહિલા, કળશ વરાહ, શામળાજી, ગણપતિ, કાર્તિક અને શીતળા માતાના મંદિરની બાજુના શિલ્પો તથા શર્મિષ્ઠા તળાવની પાળોમાં રહેલાં કેટલાંક શિલ્પો છે.

બીજા વિભાગનાં શિલ્પોનું વિધાન પહેલા યુગનાં શિલ્પો જેટલું સુંદર નથી. આ યુગના આકૃતિઓનું પ્રમાણ વધ્યું છે. માનવશરીરના આલેખનમાં પગ પ્રમાણમાં કંઈક ટૂંકા અને પગ પાતળા તથા લાંબા હોય છે અને શરીરનો વળાંક પણ કેટલીક વાર અકુદરતી લાગે એવો હોય છે. આ યુગના ઘણાં શિલ્પો ઓછાંકરેલાં, વિવિધ આકૃતિ ભિન્નતાવાળાં હોય છે પરંતુ આ શિલ્પોમાં ખાસ કરીને નરથરમાં વિગતોની વિવિધતા ખૂબ આવવા છે. આ યુગમાં મોટાં શિલ્પો ઓછાં, ખૂબ આકૃતિઓથી સભર અને જગ્યાસભર ઉપયોગ કરવામાં આવતો હોય એમ લાગે છે. આ યુગની શરૂઆતનાં શિલ્પોમાં આગલા યુગના ઉત્તરકાળની ખૂબ અસર છે. પરંતુ પાછલા ભાગમાં આ યુગના શિલ્પોમાં મધ્યકાલીન લાક્ષણિક તત્ત્વો દેખાય છે અને તેમાં નાની નાની વિગતોને વધુ વિસ્તારવામાં આવે છે. આ શિલ્પની નકશીમાં પણ વિવિધતા છે. આ વિભાગના શિલ્પો વડનગરના તોરણો (નરસિંહ મહેતાની ચોરી), મિયાણીની ભીંત, પાસાકોલ સરવાળ મંદિર તથા ગામમાં ઘણી જગ્યાએ રખાયેલા નજરે પડે છે.

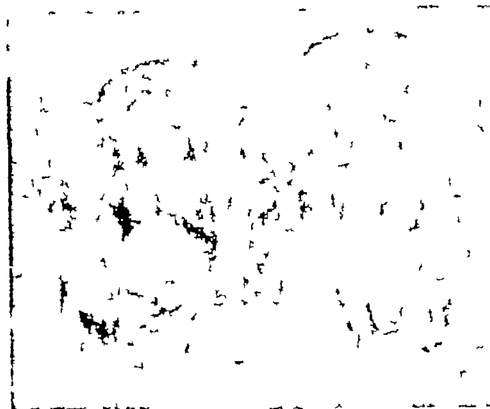
ત્રીજા વિભાગના શિલ્પોમાં બીજા યુગની લાક્ષણિકતા ચાલી આવે છે. પરંતુ આ યુગના શિલ્પો વધુ નિર્જીવ અને ભાવવિહીન લાગે છે. આ યુગની ગોળત્વથી કંઈક નમણી છે અને એમાં આગલા યુગનું વિલાસવૈવિધ્ય નથી. આ યુગમાં પુરાણો અને મહાભારત—રામાયણનાં પાત્રો, અવતારો વગેરેનાં શિલ્પનું મોટું પ્રમાણ જોવામાં આવે છે. નર્તકીઓ, નાગો અને નાગકન્યામાં ગત યુગની અસર અહીં સ્પષ્ટ રીતે દેખાય છે અને આ વિષયમાં ગતયુગના નમૂનાઓની નકલ થઈ હોય એમ લાગે છે. મંદિરના સુશોભનમાં વપરાયેલાં આ શિલ્પોની ઘણી અસર ઓછી લાગે છે પરંતુ મંદિરગત શિલ્પ અનુયુગોની સરખામણીમાં નિર્બળ છે. આ યુગના કેટલાક શિલ્પોમાં મુસલમાન કાળની અસરો દેખાય છે જ્યારે બીજા શિલ્પો ગતયુગના નમૂનો લાગે છે. આ વિભાગના શિલ્પો ખાસ કરીને હાટકેશ્વર અને બીજા પાછળથી બંધાયેલા મંદિરો જોવામાં આવે છે.

વડનગરના શિલ્પોનો અભ્યાસ કરતા લાગે છે કે ગુજરાતની શિલ્પકળા તેના સમગ્ર અવિચ્છિન્ન યુગમાં પ્રતિબિંબિત થઈ. શિલ્પ તે યુગની કળાશૈલીને અનુસરતા હતા. પહેલા વિભાગનાં શિલ્પો સમકાલીન ગુજરાત અને તેની આજુબાજુના પ્રદેશના તે કાળના શિલ્પો સાથે પણ સામ્ય ધરાવે છે. ખાસ કરીને અમથેરમાતા પાસેની શિલ્પપટ્ટિકાના શિલ્પો વડોદરા પાસેથી અકોટામાંથી મળેલા જૈન ધાતુશિલ્પો સાથે સામ્ય ધરાવે છે. આ નિષ્કર્ષની સાથે આબુમાં સમય પહેલાં ગુજરાતમાં મો. સમાન કલાત્મક હતો તેની સાક્ષી આપે છે. આ કલાત્મક શૈલીના જન્મદાતા ઘણો થયો અને આ પ્રદેશમાં વિસ્તર્યો.

બીજા વિભાગના શિલ્પો સાધુ સમયના જૈન અને જૈનેતર શિલ્પની જ શૈલીના છે. ત્રીજા વિભાગના શિલ્પો પણ ગુજરાતની મધ્યોત્તર શિલ્પકળાની શૈલીના સમાન છે. આ યુગમાં ગુજરાતમાં ઘણા સુંદર રાજ્યમાં જૈનોનો પણ મોટો ફાળો હતો. મુસલમાનોના યુગના, તેમજ સંસ્કૃતિઓની આવશ્યકતા પણ કામમાં લાગતી આ આ યુગોની પ્રભુતાને લીધે કંઈક હવેલીઓના આવતને લીધે પારલૌકિક યુગની વાત્સલ્ય કરતી હોય એમ લાગે છે. આ યુગનો કલાકાર દ્વારા અત્યારે કોઈ તત્કાલીન સમાજનાં વર્ગો—મંદિરદેવને પોતાની કલામાં વણી લે છે.



चित्र नं १
युगल शर्मिष्ठा तळावनी पाळ उपर जडेलु शिल्प



चित्र नं २
आमथेरमाताना मंदिरमानु सप्तमातृकानु शिल्प



चित्र नं ३
अरजण-बारीनी उत्तरे भींत परनी शिल्पपट्टिका



चित्र नं ४
ठाकरडावासनी नजीक पडेली
नरवराहनी प्रतिमा

તથા કમર નીચેનો ભાગ નિર્વસ્ત્ર દેખાય છે. આ યુગનાં શિલ્પોમાં દેવીના મસ્તકનું મસ્તક સીધું આભૂષણોભરેલું શિલ્પ તથા નાગ ભગવાની માતાની પ્રતિમા, અરુણાચારી મહાદેવની ઉત્તર બાજુની ભીંતપરની પટ્ટિ ૬, હળધર ૧ ૪૪, ભામાહારક, ગણપતિ, કાર્તિક અને શીતળા માતાનાં મંદિરો અન્ય શિલ્પો તથા સર્જિત તથાગતની પાળોમાં જોવા મળતાં શિલ્પો છે.

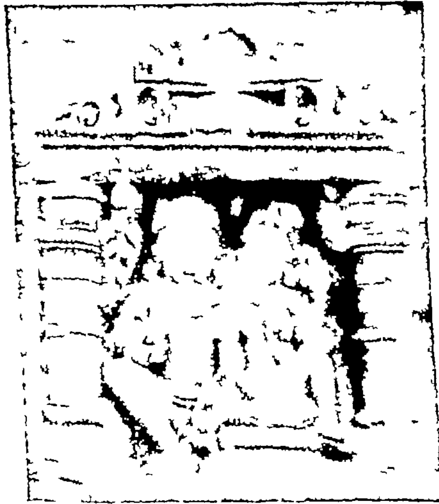
બીજા વિભાગના શિલ્પોનું વિધાન પહેલા યુગનાં શિલ્પો જેટલું સુઘડ નથી. આ યુગનાં આકારોનું પ્રમાણ વધ્યું છે. માનવશરીરના આલેખનમાં પણ પગના પ્રમાણમાં કટિ ટૂંકી અને પગ પાતળા તથા લાંબા હોય છે અને શરીરનો વર્ણ પણ કેટલીક વાર અસુંદરતી લાગે એવો હોય છે. આ યુગના ઘણા શિલ્પો એકસરખા, વિવિધ ભંગિમા વિનાનાં હોય છે. પરંતુ આ શિલ્પોમાં ખાસ કરીને નરથરના શિલ્પોની વિવિધતા ખૂબ આવી છે. આ યુગમાં મોટાં શિલ્પો એકધારાં, ખૂબ આભૂષણોથી મંડિત અને અલંકાર ઉપર ભાર મૂકવામાં આવતા હોય એમ લાગે છે. આ યુગની હરોળનાં શિલ્પોમાં આગલા યુગના ઉત્તરકાળની ખૂબ અસર છે. પરંતુ પાછળના સમયમાં આ યુગના શિલ્પોના પ્રમાણમાં ચાલુક્ય તત્ત્વો દેખાય છે અને તેમાં નાની નાની વિગતોને વધુ વિકસાવવામાં આવે છે. આ વિભાગની નારીઓમાં પણ વિવિધતા છે. આ વિભાગના શિલ્પો વડનગરના તોરણો (નરસિંહ મહેતાની ચોરી), સિદ્ધપુરની ભીંતો, પાલનપુર દરવાજા બહાર તથા ગામમાં પથ્થરો જગ્યાએ રખડતા નજરે પડે છે.

ત્રીજા વિભાગના શિલ્પોમાં બીજા યુગની સમાનતા આવી જાય છે. પરંતુ આ યુગના શિલ્પો વધુ નિર્જીવ અને ભાવવિનાના લાગે છે. આ યુગની કોતરણી કંઈક નબળી છે અને એમાં આગલા યુગનું વિભાગવિભ નથી. આ યુગમાં પુરાણો અને મહાભારત–રામાયણના પાત્રો, અપ્સરા વગેરેના શિલ્પનું વધુ પ્રમાણ જોવામાં આવે છે. નર્તકીઓ, ભાગો અને નાયિકાઓમાં આ યુગની અસર અહીં સ્પષ્ટ રીતે દેખાય છે. અને આ વિભાગમાં અપ્સરાના નમૂનાઓની નામ વધી હોય એમ લાગે છે. નરસિંહના શુભોત્સવ વખતે આ શિલ્પોની ઘણી અસર એકંદર પડી હશે છે. પણ નૃત્યિકા શિલ્પ અપ્સરાઓની સ્વભાવમાં નિર્જીવ છે. આ યુગના કેટલાક શિલ્પોમાં મુસલમાન કાળનાં વલણો દેખાય છે. જ્યારે બીજા શિલ્પો અપ્સરાના વલણો બતાવે છે. આ વિભાગના શિલ્પો ખાસ કરીને ઘટકોષ અને બીજા પાટણની આસપાસના મંદિરો જોવામાં આવે છે.

વડનગરના શિલ્પોનો અભ્યાસ કરતા લાગે છે કે ગુજરાતની શિલ્પકળા તેના ઘણા મૌલિકપણે યુગમાં પ્રતિષ્ઠિત હતી. શિલ્પ જે તે યુગની પ્રણાલીને અનુસરતા હતા. પહેલા વિભાગનાં શિલ્પો સામાન્ય ગુજરાત અને તેની આસપાસના પ્રદેશના તે કાળના શિલ્પો સાથે પણ સામ્ય ધરાવે છે. ખાસ કરીને અરણ્યચારી પાસેની સિદ્ધપુરના શિલ્પો, વડોદરા પાસેથી આકોટામાંથી મળેલાં જૈન તામ્રપ્રતિમાઓ સાથે સામ્ય ધરાવે છે. આ નિરૂપણની સાથે સાચુંય સમય પહેલા ગુજરાતમાં એક પ્રધાન કલાકાર હતો તેની સાક્ષી આપે છે. આ કલાકાર ગુપ્તના જમાનામાં દૂર થયો અને આ પ્રદેશમાં વિકાસ્યો.

બીજા વિભાગના શિલ્પ સાચુંય સમયના જૈન અને જૈનેતર શિલ્પની ... કૃતિઓ છે. ત્રીજા વિભાગના શિલ્પો પણ ગુજરાતની મનોહર શિલ્પકળાની સમૃદ્ધિનાં સાધક છે. આ યુગમાં ગુજરાતમાં આ દૂર દૂરના રાજ્યોના કલાકારો ઘણાં મોટાં કામો હતાં. મુસલમાનોના યુગમાં, તેમજ રાજ્યવિહીનતાની અશાન્તિમાં પણ લગભગ છૂટી આ કલા અપ્સરાઓની પ્રકૃતિને લાવે કંઈક હતાશા સાથે પ્રવેશેલા અત્યંતને લાવે ધાર્મિક પુષ્ટિ વાળના કરતી હોય એમ લાગે છે. આ યુગનો સ્થાપત્ય પરો અભ્યાસી કોઈ તત્કાલીન સમાજના વલણો—પ્રેરકોને પોતાની ભાષામાં વર્ણવી લે છે.

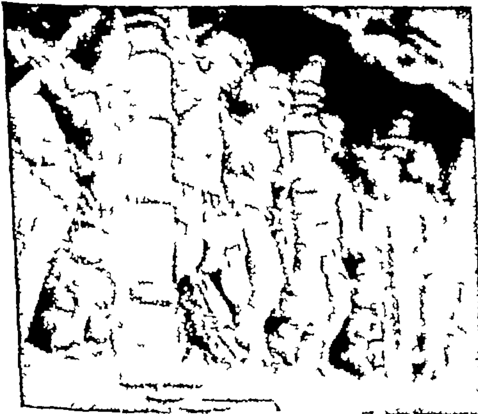
वडनगरनी शिल्पसमृद्धि



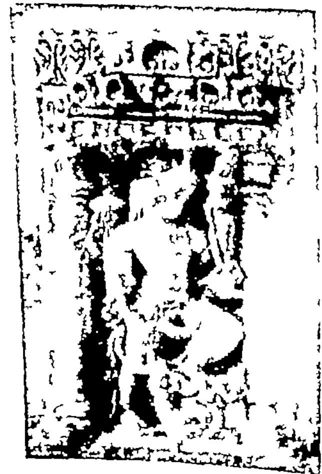
चित्र न १
युगल-शर्मिष्ठा तळावनी पाळ उपर जडेलु शिल्प



चित्र न २
आमथेरमातानां मंदिरमांनु सप्तमातृकानु शिल्प



चित्र न ३
अरजण-बारीनी उत्तरे भींत परनी शिल्पपट्टिका

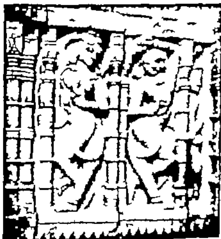


चित्र न ४
ठाकरडावासनी नजीक पडेली
नरवराहनी प्रतिमा



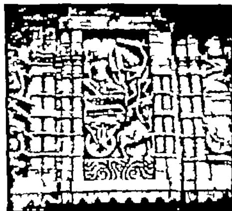
चित्र क्र. ५

[illegible]



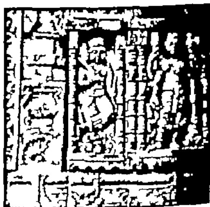
चित्र नं. ६

[illegible]



चित्र नं. ७

[illegible]



चित्र नं. ८

[illegible] (?) [illegible]

ચિત્રપરિચય

ચિત્ર ૧: ઝરૂખામાં બેઠેલા આ યુગલનું શિલ્પ શર્મિષ્ઠા તળાવની પાળના જડી લેવામાં આવ્યું છે આ યુગલમાંના પુરુષે મુકુટ, કુંડળ એકાવલી, બાજુબંધ અને કટિવસ્ત્ર પહેર્યાં છે લલિતાસનમાં ગોળ બેઠક પર બેઠેલા આ પુરુષની હડપચી, નાક તથા આંખો ખંડિત છે તેના ડાબા પગ પર બેઠેલી સ્ત્રીનું મોં તથા છાતીનો ભાગ તૂટી ગયો છે તેનો જમણો હાથ પુરુષના પગ પર છે અને ડાબા હાથમાં અસ્પષ્ટ સાધન પકડેલું છે તેણે પોતાના વાળ ઊંચા લઈને રત્નજડિત પાશથી બાંધ્યા હોય એમ લાગે છે આ કેશગૂંફનની પદ્ધતિ અકોટાની ચામરધારિણી અને અર્જણબારીની શિલ્પપટ્ટિકામાં સ્પષ્ટ દેખાય છે તેણે કાનમાં કુંડળ, ગળામાં એકાવલી અને છાતીપર થઈને પેટપર એક જ રેખામાં લટકતો હાર, હાથમાં બાજુબંધ તથા વલય, કેડે કટિમેખલા અને પગમાં સાંકળાં પહેર્યાં છે તેનું ઉત્તરીય જમણા હાથ પર સ્પષ્ટ દેખાય છે આ શિલ્પના સપ્રમાણ નારીના પગ કંઈક ટૂંકા છે

ઝરૂખાના સ્થંભો, કુંભી અને શીર્ષ ગોળ છે તેની પાસે પલ્લવ દેખાય છે આ સ્થંભો પાટણ, ગલા વગેરે સ્થળોએથી મળતા શિલ્પો પર દેખાય છે છતપર ચિત્ર ગવાક્ષોનું નકશીકામ છે સંપૂર્ણ પીપળપાન આકારના ગવાક્ષોને છેદીને તેનો સુશોભન માટે ઉપયોગ અહીં સાતમી સદી પછી થવા માંડ્યો આ શિલ્પ સમગ્ર દૃષ્ટિએ જોતાં નવમી સદીનું હોય એમ લાગે છે

ચિત્ર ૨ આમથેર માતામાં નવમી સદીના નાના મંદિરો અને કેટલાક શિલ્પો પડેલા છે તે પૈકી સપ્તમાતૃકાના શિલ્પોમાંથી પાર્વતી અને વૈષ્ણવીના શિલ્પોનો આ ફોટો છે આ સુરેખ અંગ, શાંત મુખમુદ્રા, કમ્બુગ્રીવા, સુગોળ શરીર, પીનપયોધર અને ત્રિવલી ઉદરવાળી માતૃકાઓના પગ પ્રમાણમાં જાડ અને ટૂંકા છે આછી એકાવલી, બાજુબંધ જેવા આભરણો અને જુદી જુદી જાતના મુકુટ ધારણ કરનાર આ શિલ્પો આઠમી સદીના હોય એમ લાગે છે

ચિત્ર ૩. અર્જણબારી દરવાજા બહારની શિલ્પપટ્ટિકાના એક ભાગનું આ ચિત્ર છે આખી શિલ્પપટ્ટિકામાં યુગલો અને એકાકી પુરુષ અને સ્ત્રીની પ્રતિમાઓ છે આ શિલ્પમાંની સ્ત્રીઓ વસ્ત્રાભૂષણ અને દેહની દૃષ્ટિએ વડોદરાની ચામરધારિણી સાથે ખૂબ સામ્ય ધરાવે છે અને તે નવમી સદીમાં તૈયાર થયા હોય એમ લાગે છે પાછળથી આ પટ્ટિકા કિલ્લાની દીવાલમાં જડી લેવામાં આવી હશે આ શિલ્પમાંની કેટલાક પુરુષોની પ્રતિમાઓ આવતા યુગની શૈલી દર્શાવે છે

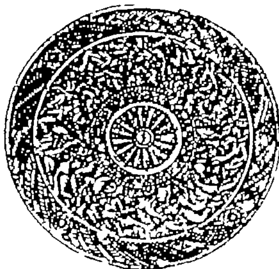
ચિત્ર ૪ અમરથોલ દરવાજાના કોઠાના ઈશાન કોણ પર મોટી નરવરાહની પ્રતિમા છે વરાહનું શરીર સપ્રમાણ છે તેના જમણા હાથ પર પૃથ્વીદેવીની મૂર્તિ છે તેના ડાબા પગ નીચે નાગ દબાવ્યા છે વરાહની આજુબાજુના સ્થંભો છત અને છતપરની ગવાક્ષ, વેલ વગેરેની કોતરણી, આ શિલ્પ દશમી સદીનું હોય એમ દર્શાવે છે

ચિત્ર ૫ ગૌરીકુંડની દીવાલમાં જડી દીધેલું કોઈ રાજ્યવંશીની સવારીનું દૃશ્ય છે સુશોભિત વેગથી દોડતો હાથી, તેની આગળ ઢાળ ભરતો ઘોડેસ્વાર શિકારી એના વિષયથી મનોહર છે આ શિલ્પ જેવાં શિલ્પો આબુ, ડભોઈ અને બીજા ચાલુક્યયુગનાં મન્દિરો પર અનેક જોવામાં આવે છે

ચિત્ર ૬ ધારાશિવના મન્દિરની ભીંત પરની આ નકશી અપ્સરાઓના દેહના વળાંક ખૂબ આકર્ષક છે અને મધ્યકાલીન ખજુરાહો, ઓરિસ્સા અને ગુજરાતમાં દેખાતાં શિલ્પોની જેમ નાચ હોય તેમ લાગે છે તેના ભારે સ્તનો, આગળ આવતી હડપચી, શીઘ્ર નાક વિશાળ મુખાકૃતિ, પ્રલંબ નેત્રો તથા ખાસ કરીને આગળ દેખાતી બીજી બાજુની આંખ મધ્યકાલીન ગુજરાતી ચિત્રકળાનો ખ્યાલ આપે છે એનાં આભૂષણો પ્રમાણમાં ઓછાં છે અને આગલા યુગ જેટલાં સુરેખ નથી આ શિલ્પો શકયુગના અનુકરણ જેવા લાગે છે

ચિત્ર ૭ ધારાશિવના મન્દિરના આ શિલ્પમાં યુદ્ધમાં જતા ઘોડાના રથ બતાવ્યો છે રથના પૈડાં દોરીથી બાંધેલાં છે તેના ઘોડા પ્રમાણમાં નાના અને બરાબર બેઠેલા ન હોય એવા લાગે છે સારથિ બેસવાને બદલે ઊભો હોય અને હાથમાં તલવાર લઈ તે રથ હાંકતો હોય એવો લાગે છે આ યોદ્ધાની પાઘડીના છોગામાં અને સાતમી સદીમાં ઉપયોગમાં આવતી કુટેવનો વધુ ખ્યાલ આપે છે

ચિત્ર ૮ આ શિલ્પ પણ ધારાશિવના મન્દિરનું છે એની ગોળ આખી પૂર્ણ પદ્માસનથી સુશોભિત છે પરંતુ આજુબાજુની નકશી મધ્યોત્તરકાળની છે આના હાથમાં નાગ અને ખડ્ગ ધારણ કરેલા મધ્યે પાર્શ્વનાથો અને અન્યોન્ય પાત્ર ધારણ કરી છે પાર્શ્વની પદ્માવતી(?)ની પ્રતિમાના સ્થાપત્યો પણ આ કાળની છેક મૂળની મૂર્તિ શિલ્પ જેવા છે અને તે પણ છોગાથી ખાસ કશી આકર્ષક નથી



ब्रह्म व्रतेषु व्रतम्

શ્રી મનસુખલાલ તારાચંદ મહેતા

જ્ઞાનમા જેમ કેવળજ્ઞાન અને ધ્યાનમા જેમ શુકલ ધ્યાન સૌથી શ્રેષ્ઠ છે, તેમ તપમા બ્રહ્મચર્ય એ ઉત્તમોત્તમ તપ છે પ્રશ્નવ્યાકરણસૂત્રમા કહ્યું છે કે — स इसी स मुणी स सजए स एव भिक्खू जो सुद्ध चरति ब्रम्चेर। અર્થાત્ જે શુદ્ધ બ્રહ્મચર્યનુ સેવન કરે છે તે જ ખરો ઋષિ છે, તે જ સાચો મુનિ છે, તે જ સાચો સયમી છે, અને તે જ ખરો ભિક્ષુ છે

બ્રહ્મચર્યનો જો વ્યુત્પત્તિથી અર્થ કરવામા આવે તો ब्रह्मणि चरणमिति ब्रह्मचर्यम्। અથાત્ આત્મામા વિચરવુ એનુ નામ 'બ્રહ્મચર્ય' પતજલિ યોગસૂત્રમા બ્રહ્મચર્ય વિષે લખતા કહ્યુ છે કે ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठाया वीर्यलाभ । અર્થાત્ બ્રહ્મચર્યની દૃઢતા થવાથી અદ્ભુત વીરતાની પ્રાપ્તિ થાય છે

બ્રહ્મચર્યના પાલનથી મગજમા ઘણી જ બળવાન શક્તિનો સચય થાય છે, અને તેની ઇચ્છાશક્તિ પણ અસાધારણ રીતે બળવાન થઈ જાય છે બ્રહ્મચર્ય વગર માનસિક અને આધ્યાત્મિક બળ સભવતું જ નથી આપણા મહાન આચાર્યો શ્રીસિદ્ધસેન દિવાકર, શ્રીહરિભદ્રસૂરિજી, શ્રીહેમચદ્રાચાર્યજી, શ્રીયશોવિજયજી સૌ નૈષ્ઠિક બ્રહ્મચારીઓ જ હતા સ્વામી રામતીર્થ, સ્વામી વિવેકાનદ અને મહર્ષિ રમણ જેવા યોગી પુરુષો પોતાના જીવનકાળમા જે મહાન કાર્યો કરી ગયા છે, તે બધાના મૂળમા બ્રહ્મચર્યની જ શક્તિ હતી આચાર્ય શ્રી વિનોબાજી ભાવેએ આ ઉંમરે ભારતમા ભૂમિદાનરૂપી શ્રેષ્ઠ યજ્ઞ શરૂ કરી જગતની પ્રજાને શાતિ અને સેવાનો એક નવો જ માર્ગ બતાવ્યો છે, આ મહાન કાર્યની પાછળ પણ તેમના નૈષ્ઠિક બ્રહ્મચર્યની શક્તિનો કાંઈ ઓછો હિસ્સો નથી

શુદ્ધ બ્રહ્મચર્યનુ પાલન જ્યાસુધી પાચ ઇન્દ્રિયો, ક્રોધ–માન–માયા–લોભ તેમ જ સૌથી દુર્જય એવુ પોતાનુ મન ન જિતાય ત્યા સુધી શક્ય નથી શીલનો અર્થ આપણા શાસ્ત્રોમા માત્ર વીર્યનિરોધરૂપી સ્થૂલ બ્રહ્મચર્ય કરવામા નથી આવ્યો, પરન્તુ મન, વચન અને કાયાએ કરી ઇન્દ્રિયો પર જય મેળવી, તેમની દુષ્પ્રવૃત્તિમાથી મુક્ત થવુ એ જ શીલની શુદ્ધ વ્યાખ્યા છે માત્ર ઇન્દ્રિયોના દમનથી બ્રહ્મચર્ય પાળવુ એ શક્ય નથી મહાત્મા ટૉલ્સ્ટૉયે આ બાબત પર પોતાના વિચારો દર્શાવતા કહ્યુ છે કે 'અન્ય સર્વ સદ્‌ગુણોની પેઠે બ્રહ્મચર્ય પણ પાપ કરવાની અશક્યતા કે અશક્તિ દ્વારા નહિ પણ ઇચ્છાબળે અને શ્રદ્ધા સામર્થ્ય વડે સપાદિત થાય ત્યારે કામનુ છે અકરતિયા ન થવા ખાતર માણસ જાતે જઠરમા રોગ પેદા કરે, અગર લડાઈ ન કરવા ખાતર જાતે પોતાના હાથ બાધે, અથવા અપશબ્દો ન વાપરવા જાતે પોતાની જીભ કાપી નાખે તો તો પાપ કર્યું ન કર્યું સરખુ જ છે ઈશ્વરે માનવીને અત્યારે એ છે એવુ બનાવ્યુ છે, એના વિષયી દેહમા દૈવી આત્માનો સચાર કર્યો છે, તે ઈશ્વરકૃતિને સુધારવા એ દેહને છેદીભેદીને પાગળો બનાવે એટલા માટે નહિ, પણ એ આત્મા એની દૈહિક વિષયવાસનાને તાબે કરે એટલા ખાતર જ'

શુદ્ધ બ્રહ્મચર્યના પાલન માટે માણસ પાસે કોઈ વિશાળ કલ્પના હોવી જોઈએ, અને તેમા જ સદૈવ ચિત્ત અને શરીરને ઓતપ્રોત કરી નાખવા જોઈએ કે જેથી વિષયના સ્મરણને અવકાશ જ ન રહે વિશાળ કલ્પના રાખતાં બ્રહ્મચર્યનું પાલન સહજ બની જાય છે પ્રસિદ્ધ રસાયનશાસ્ત્રી જોન ડૉલ્ટનના વિષે એમ કહેવાય છે કે તેમની વૃદ્ધાવસ્થામા કોઈએ તેમને અવિવાહિત રહેવાનુ કારણ પૂછ્યુ તેના

ત્યાગમાં કોશાને કહ્યું : આ પ્રેમ જ તમે સાચો પ્રકાશ મને શીખવ્યો, બાકી તો મારું જીવન વિલાસમાં અજ્ઞાનમાં કેમ બાળ્યું ગયું તેની મને ખબર જ નથી. બ્રહ્મ [illegible] વિકાસ [illegible] એ. આમ આમ અને બ્રહ્મચર્યના સીધું અને પછી તો વિરાનું સુખ જ એમનું બધુ બની ગયું અને પરિણામે બાર બ્રહ્મચારી બની ગયા. બાર વ્રત બેન્ગેલોને કોઈ પણ વિકાર ક્યાંથી સ્પર્શે? સ્થૂલિભદ્ર બાળ [illegible] મારી એવી ઉત્તરી છે કે તે કોઈ સ્થળની સાથે નથી થતી. આ બધાં દૃષ્ટાંતો, બ્રહ્મચર્યના પાલનમાં વિઘ્નો કરનાર—અને આકર્ષો કેવાં અને કેટલાં આકરાં હોય છે તેની સાક્ષી આપે છે.

આચાર્ય વિજયવલ્લભસૂરિ અમારા આદર્શ બ્રહ્મચર્યની પૂજાની પ્રકાશમાં બ્રહ્મચર્યની મહત્તા, ચારિત્ર અને શક્તિનું આત્મિક વર્ણન કર્યું છે. એટલું જ નહિ પણ બ્રહ્મચર્યના વિકાસ ઉપર જૈન આગમોના મૂળ શ્લોક [illegible] કહેવામાં આવ્યું છે તેનો મુખ્ય સાર પણ આ પૂજાઓમાં વર્ણી બતાવ્યો છે. ભક્તિએ શુદ્ધ, પવિત્ર નિર્મળ બ્રહ્મચર્યનું પાલન કર્યું હોય તેવી જ ભક્તિથી આવી ઉત્તમ પૂજાની રચના થઈ શકે. આ પૂજાઓના પદે પદે અપાર ઝરે છે. કડીએ કડીએ દિવ્ય પ્રકાશ પડે છે અને શુદ્ધ બ્રહ્મચર્ય કેવી શક્તિ [illegible] છે તેનું ભાન થતાં, સહજ પ્રફુલ્લિત બને છે. પાંચ મહાવ્રતોમાં બ્રહ્મચર્યની મહત્તા બતાવતાં પૂજામાં કહેવામાં આવ્યું છે કે :

> આગમ ગણો મેં એક વ્રત અધિક, દીવે સો અધિક સુહિવે
> ઠા આચાર્ય કે, હુવે અધિક, પાંચો અધિક કહીએ.

બ્રહ્મચર્યના વિકાસ કે અન્ય વ્રત અધિક થાય તો પાંચ તે વ્રત અધિક થયું કહેવાય, પરન્તુ બ્રહ્મચર્યના અધિક થવાના કારણે તો પાંચ વ્રત અધિક થાય છે. આ દૃષ્ટિએ પાંચે વ્રતોમાં બ્રહ્મચર્યની મહત્તા સર્વોપરિ છે. આ દર્શન બ્રહ્મચર્યના મહિમાનું દર્શન કરાવ્યું છે. [illegible] બતાવ્યું તરીકે કામ કહેલ છે. [illegible] વેશ્યામાં મન લાગવાથી અબ્રહ્મના અધિક થાય છે. વેશ્યાદિમાં ચિત્ત રાખી વિષય માટે ઘણાં છળપ્રપંચ ક્યારાવાળી હિંસા થાય છે. ચોરીને પૂછે ત્યારે જૂઠાપણાનાં વચન બોલવું પડે છે. વેશ્યાની સાથે [illegible] તેના મુખનું દર્શન કરવું એ ચોરી છે તથા તેનામાં મમતા કરવી એ પરિગ્રહ છે. એટલે બ્રહ્મચર્યના ભંગ સાથે પાંચે વ્રતોનો પણ ભંગ થાય છે.

બ્રહ્મચર્ય સાચી રીતે સ્થાનમાં રહેવું, જેવા જેવા નિમિત્તોથી દૂર રહેવું તેમ જ તત્ત્વ દૃષ્ટિએ બીજું જ્ઞાન બ્રહ્મચર્યના પૂજામાં કહેવામાં આવ્યું છે કે :

> શ્રી પશુ પંડક સેવિત બાના નવ નહીં અનગાર;
> શોભવે ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમ્, આ સમાધિ વિચાર
> નારી કથા વિકથા કહી, વિજ્ઞવર મીઠે બાગ
> આસન બેસે સ્થાન, દ [illegible] પ્રથમ
> બાળાની પશુ કેવી નિરખન, દીવે ચિત્ત વિકાર,
> ઉપયોગ વિના સાંભળી વચ ચાહે, ભાન રહી સંભાર
> સમ્હાર મુનિ વિષ દીનો, દસમે તપ નિરાગ કીજે
> ચરિત્ર માત કે વીનો રે,— બ્રહ્મચારી ધીર વીર.
> [illegible] પાર ઉંડે હુવે રે, મન નાથ ની જોય,
> સૂની સો વરસ તપ્યો રે, બ્રહ્મચારી તજે તેહ રે
> અપવિત્ર મન મેલી, [illegible] [illegible] કામ,
> [illegible] [illegible]

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમા કહ્યુ છે કે બ્રહ્મચર્યના સાધકે સ્ત્રી, પશુ અને નપુસક હોય તેવા સ્થળે રહેવુ નહિ, તેમ જ સ્ત્રીઓની શૃગારવર્ધક કથાઓ પણ કહેવી નહિ ઇન્દ્રિયોનો સ્વભાવ છે કે, સામા આવેલા વિષયને ગ્રહણ કરવો અને વિષયોનો સ્વભાવ છે કે, ઇન્દ્રિયો વડે ગ્રહણ થવુ આખ્ખી લખમણાને, ઇન્દ્રિયોના આવા સ્વભાવના કારણે જ, અજ્ઞાન પશુઓની કામક્રીડા જોતા ચિત્તમા વિકાર ઉત્પન્ન થયો, અને પરિણામે અનત વખત ભવભ્રમણ કરવુ પડ્યુ બ્રહ્મચર્યના સાધકે એટલા માટે જ આવા બધા નિમિત્તોથી દૂર રહેવુ આવશ્યક છે નિમિત્તોની જીવ પર કેટલી બધી અસર થાય છે, તેના સમર્થનમા ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમા સભૂતિ મુનિની વાત કહેવામા આવી છે

સભૂતિ મુનિ પાસે એક વખતે સનતકુમાર ચક્રવર્તી અને તેની રાણી સુનદા વદન કરવા ગયા હતા વદન કરતા સુનદાના મસ્તક પરથી વાળની એક લટ નીચે સરી પડી આ વાળની લટનો સ્પર્શ મુનિરાજને થયો અને પરિણામે તેના ચિત્તમા રાગ ઉત્પન્ન થયો કામદેવ છે તો અગરહિત, પણ તેની શક્તિની પ્રબળતા અગાધ છે તે સ્પર્શના સુખનો અનુભવ થતા સભૂતિ મુનિએ વિચાર કર્યા કે 'અહો ! આ કમળમુખીના વાળનો સ્પર્શ પણ આવુ અદ્ભુત સુખ આપે છે તો પછી તેના શરીરનો સ્પર્શ કેવુ સુખ આપતો હશે ?' ઊર્ધ્વગતિ માટે સાધકે પળે પળે પ્રયત્ન કરવો પડે છે, પણ નીચે પડવામા તો ગતિનો વેગ વિનાપ્રયત્ને વધતો જ રહે છે, એટલે સભૂતિ મુનિએ તો ત્યા જ નિયાણુ બાધ્યુ કે 'મેં આ દુષ્કર તપસ્યા કરી છે તેનુ કાઈ પણ ફળ હોય તો હુ આવતા ભવમા આવી અનેક સ્ત્રીઓનો સ્વામી થાઉં ' પરિણામે સભૂતિ મુનિના જીવે 'બ્રહ્મદત્ત' તરીકે જન્મ ધારણ કર્યો અને બાધેલા નિયાણાને કારણે પુષ્કળ ભોગો ભોગવી સાતમા નરકે જવુ પડ્યુ

સ્ત્રીસગથી બ્રહ્મચારીએ દૂર જ રહેવુ ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર(અધ્યયન-૩૨)મા તો ત્યા સુધી લખ્યુ છે કે 'જેમ બિલાડાના સ્થાનની પાસે ઉંદરોનુ રહેવુ પ્રશસ્ત નથી તેમ સ્ત્રીઓના સ્થાનની પાસે બ્રહ્મચારી પુરુષોનો નિવાસ પણ યોગ્ય નથી ' બ્રહ્મચર્ય સાધક માટે સ્ત્રીસસર્ગના ત્યાગની જરૂરિયાત પર ભાર મૂકી દશવૈકાલિક સૂત્ર(અધ્યયન ૮-૫૬)મા કહેવામા આવ્યુ છે કે

हत्थ पाय पलिच्छिन्न कण्णनास विगप्पिअ ।
अवि वाससय नारि बभयारी विवज्जए ॥

અર્થાત્ જેના હાથ પગ કપાઈ ગયા હોય તથા જેના નાકકાન બેડોળ થઈ ગયા હોય, એવી સો વરસની સ્ત્રીનો પણ બ્રહ્મચર્ય સાધકે સસર્ગ ન કરવો તત્ત્વદૃષ્ટિએ સ્ત્રીના સ્વરૂપનુ વર્ણન કરતા શ્રી યશોવિજયજી મહારાજે જ્ઞાનસારમા કહ્યુ છે કે

बाह्यदृष्टे सुधासारघटिता भाति सुन्दरी ।
तत्त्वदृष्टेस्तु साक्षात् सा विण्मूत्रपिठरोदरी ॥

અર્થાત્ બાહ્યદૃષ્ટિને અમૃતના સાર વડે ઘડેલી સ્ત્રી સુદરી ભાસે છે, ત્યારે તત્ત્વદૃષ્ટિને તો તે સ્ત્રી પ્રત્યક્ષ વિષ્ટા અને મૂત્રની હાડલી જેવી લાગે છે વાસ્તવિક રીતે જોતા તો, સ્ત્રીનુ શરીર કે પુરુષનુ શરીર માત્ર લોહી, રુધિર, માસ, મેદ, હાડકા, મજ્જા, વીર્ય, આતરડાં અને વિષ્ટારૂપ અપવિત્ર પદાર્થોનો ભડાર નથી તો બીજુ શુ છે ? આચાર્ય મહારાજસાહેબે એટલા માટે જ કહ્યુ છે કે 'અપવિત્ર મલ કોઠારી ' તે પછી તરત જ, બીજા અર્ધપદમા 'કલહ કદાગ્રહ ઠામ' એમ લખ્યુ છે છેતરવુ, ક્રૂરપણુ, ચચલતા અને કુશીલપણુ એ સ્ત્રીના સ્વાભાવિક જ દોષો છે, એવી સ્ત્રીમા રતિ કરે એને મૂર્ખ ન કહેવો તો શુ કહેવુ ? આ દોહરાની બીજી પક્તિમાં કહ્યુ છે કે 'ખારા સ્રોત વહે સદા, ચર્મ દતિ જસ નામ ' અર્થાત

દુઃખથી બચવાના આશયથી જ સ્ત્રી શરીરનાં અશુચિકર અંગોમાંથી [illegible] નિરંતર એવ વહ્યા કરે છે. તેથી કરીને આવા શરીરને [illegible] આવ્યું છે. પુરુષના શરીરનું પણ આવું જ છે અને પુરુષ પણ સ્વાર્થી, ક્રૂરતા, અજ્ઞાન અને કુટીલતામાં રસ નથી લેતો એમ નથી જ. શરીર કે તો સ્ત્રી કે પુરુષની વાસના એ મહાદોષને પાત્ર છે.

સ્ત્રી કે પુરુષ માટે તમામ ઇન્દ્રિયો પર એકીસાથે સંયમ કેળવ્યા સિવાય બ્રહ્મચર્યનું પાલન થઈ શકતું નથી, એથી કરીને, બીજી બાબતો જેવી બ્રહ્મચર્યસંબંધી ? આઠ રાખવાનો છે તેનો નિર્દેશ કરતા શાસ્ત્રમાં સ્પષ્ટતાથી આવ્યું છે કે

દૃષ્ટિવિકાર આહાર ન આવે, નિરખ અધિક મૈં મન ન લગાવે
રસના વશ જે ભોજનકારી, તેહ મુનિ દુઃખ પાવે વો ભારી
પાઠક આચરણે મન મન લાગે, છવિ [illegible] બ્રહ્મચારી નાગે,
સબ છપ્પા સુધી અનાચારી, નમન કરત ન ભેદ નરનારી.
આઠ આઠ મરતબા, ભોગ વિવિધ પ્રકાર,
સ બ્રહ્મ અધિક ભમે, હોવે રોગ પ્રકાર.
કામ દીપન ભક્ષણ દૃષ્ટ, અંગ વિભૂષણ તણી,
નાટક ચેટક રાસ સિનેમા, દેખે નહીં બ્રહ્મચારી
સારે કપડે ભાને ભક્ષણ નહિ ધારે

વિલાસમય ખાનપાનો વિષય ઇચ્છાઓમાં સોંપી સ્થાન અને ક્યાંક નિમિત્ત છે. આ વિષયમાં નિયમ મેળવવા માટે એને આહારમાં ત્યાગ લેવું, ઉપવાસ અને ભક્તિની પણ જરૂરત છે. શરીર અને મનને ઉત્તેજિત કરે એવા તીખા તમતમતા તેમ જ સ્વાદિષ્ટ અને રસવાળાં ભોજનનો બ્રહ્મચર્યસાધકે ત્યાગ કરવો જોઈએ, કારણ કે આવાં પ્રકારના ભોજનો શરીરમાં વિકાર ઉત્પન્ન કરે છે.

ઇન્દ્રિયો મારવું અને તારવું શક્તિનો ઉપયોગ કરી શકીએ તેવું કહ્યું છે. રસોની બાબતમાં જેમ આત્માની [illegible] અને બીજી તમામ ઇન્દ્રિયોને મારનારી અને તારનારી, બોલવાને પણ [illegible] બંને કામમાં જ આવનારી એવી જીભને હમેશાં વશમાં રાખવી. અજીતેન્દ્રિય [illegible] ગુરુ ચંચળતા તેમ સેનાધિપતિ એટલે [illegible] ની જેમ નાના મરણ પામે અગર નાસી જાય કે [illegible] તેના તાબામાં આવવું પડે, અને [illegible] વખતે જ બહાર આવે [illegible] સ્પર્શેન્દ્રિયની બાબતમાં પણ આવું જ છે. ઇન્દ્રિયોમાં [illegible] ભાંગનારી, નમાવનારી અને તોફાન મચાવનારી જીભને કાબૂમાં લેવામાં આવે, તો બીજી ઇન્દ્રિયો આપોઆપ તેની પાછળ ચાલવું સ્વીકારે છે. [illegible] પણ [illegible] માન્યતાઓ [illegible] મહત્ત્વપૂર્ણ અને નહિ આવ્યા. [illegible] ઉપયોગમાં [illegible] જ [illegible] છે. [illegible] નથી આવતાં પરંતુ [illegible] સાથે સાથે [illegible] માટે, [illegible] બાનું છે અને રસલોલુપતાને કાબૂમાં લેવી એ તેનું સૌથી પ્રથમ [illegible] છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર (અ. ૩૨ ૧)માં કહેવામાં આવ્યું છે કે

रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥

અર્થાત્ ઘી-દૂધ વગેરે વૃદ્ધિ કરનારા રસો વધારે ન લેવા, કારણ કે જેમ સ્વાદુ ફળવાળા વૃક્ષ ઉપર પક્ષીઓ દોડાદોડ કરી આવે છે તેમ તેના ખાનાર ને [illegible] કામવાસનાઓ દોડી આવે છે. [illegible]

અને જનનેન્દ્રિયને બહેનોની માફક અતિનિકટનો સબધ છે રસની લોલુપતા કામને જાગ્રત કરે છે, એ સૂત્ર બ્રહ્મચર્ય સાધકે નિરતર ધ્યાનમા રાખવાનુ છે જીભમા હાડકુ નથી, પરન્તુ તેમ છતા, એ હાડકા વિનાની જીભલડીમા હાડકાવાળા બીજા અગોનો નાશ કરવાની તો અદ્‌ભુત શક્તિ છે

कामोत्पादकद्रव्यस्य दर्शनात् स्खलति व्रतम्

અર્થાત્ કામને ઉપજાવે એવા દ્રવ્યના દર્શનથી વ્રતભગ થાય છે, એટલા માટે જ આચાર્ય મહારાજશ્રીએ પૂજામા કહ્યુ છે કે બ્રહ્મચારી કદી નાટક, ચેટક, રાસ, સિનેમા જોવા જાય નહિ બ્રહ્મચર્ય સાધક માટે શારીરિક ટાપટીપ, સ્ત્રીનો સસર્ગ અને રસદાર ખાનપાન એ ત્રણે તાલપુટ (હાથમા પકડતા જ તાળવુ ફોડી નાખે તેવુ મહાભયકર) વિષ જેવા હોવાનુ દશવૈકાલિક સૂત્રમા કહેવામા આવ્યુ છે

વિકારોત્તેજક શબ્દોના પઠન કે શ્રવણથી પણ અતરમા ઠરેલા કે સૂતેલા વિકારો જાગ્રત થાય છે, માટે બ્રહ્મચર્યસાધકે કામવાસના જાગે તેવુ વાચન ન કરવુ, એવા શબ્દો ન સાભળવા, એવા સુગન્ધયુક્ત દ્રવ્યોનુ સેવન ન કરવુ, તેમ જ એવુ કોઈ દૃશ્ય ન જોવુ ઇન્દ્રિયોનો ઉપયોગ તો બ્રહ્મચારી અને અબ્રહ્મચારી બને જ કરે છે, પરન્તુ બન્નેના આચારવિચારમા ભારે ભેદ રહે છે મહાત્મા ગાધીએ આ વિષે લખતા કહ્યુ છે કે "બ્રહ્મચર્યનો પ્રયત્ન કરનાર ઘણા નિષ્ફળ જાય છે, કેમકે તેઓ ખાવાપીવામા જોવા ઇત્યાદિમા અબ્રહ્મચારીની જેમ રહેવા માગતા છતા બ્રહ્મચર્યનુ પાલન ઇચ્છે છે આ પ્રયત્ન ઉષ્ણઋતુમા શીતઋતુનો અનુભવ લેવાના પ્રયત્ન જેવો કહેવાય સયમીના અને સ્વચ્છદીના, ભોગીના અને ત્યાગીના, જીવન વચ્ચે ભેદ હોવો જ જોઈએ સામ્ય હોય છે તે તો ઉપરથી દેખીતુ જ ભેદ ચોખ્ખો તરી આવવો જોઈએ આખનો ઉપયોગ બને કરે, પણ બ્રહ્મચારી દેવદર્શન કરે, ભોગી નાટકચેટકમા લીન રહે, બન્ને કાનનો ઉપયોગ કરે, પણ એક ઈશ્વર ભજન સાભળે, બીજો વિલાસી ગીતો સાભળવામા મોજ માણે, એક શરીરરૂપ તીર્થક્ષેત્રને નભાવવા પૂરતુ દેહને ભાડુ આપે, બીજો સ્વાદને ખાતર દેહમા અનેક વસ્તુઓ ભરી તેને દુર્ગંધિત કરી મૂકે આમ બન્નેના આચારવિચારમા ભેદ રહ્યા જ કરે"

જે પૂર્ણ બ્રહ્મચારી છે તેના માટે આ સસારમા કશુ જ અસાધ્ય નથી, બ્રહ્મચર્યનુ બહુમાન કરતા આચાર્યશ્રી પૂજામા કહે છે કે

બ્રહ્મચર્ય શુદ્ધ જેહ, પરમ પૂત તાસ દેહ,
દેવ સેવ કરત નેહ, જય જય જય બ્રહ્મચારી
વીતરાગ સમ જાનિયે, બ્રહ્મચારી નિરાગ,
બ્રહ્મચર્ય તપસે મિલે, મોક્ષ પરમ પદ ધામ
નૂતન શ્રી જિન ચૈત્ય બનાવે, કોટિ નિષ્કદાન કરીને,
હોવે નહિ બ્રહ્મચર્ય બરાબર, આગમ પાઠ ઉચ્ચારીને

માનવીમા ક્રોધ, લોભ, માન, માયા, રાગ, દ્વેષ, ઈર્ષા, મોહ, મમતા, અધીરાઈ, ઝેર, વેર, કામવાસનાઓ, ઇચ્છાઓ, પરનિન્દા, અહકાર, અભિમાન, ક્રૂરતા, નિર્દયતા, અદેખાઈ, ધૂર્તતા, નિર્લજ્જતા, નફટતા, નાલાયકીપણુ, પ્રપંચીપણુ ઇત્યાદિ જોવામા આવે છે, તે બધાના મૂળમા કારણરૂપ અબ્રહ્મચર્ય છે બ્રહ્મચર્યના આચરણથી આ બધા દોષોનો નાશ થાય છે, તેમ જ ક્ષમા, માર્દવતા, નમ્રતા, સરલતા, નિરભિમાનપણું, તપશ્ચર્યા, સયમ, સત્ય, પવિત્રતા, અકિંચનપણાના ગુણો પ્રાપ્ત થઈ શકે છે આચાર્યશ્રીએ તેથી જ ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનો ઉપદેશ આપતા પૂજામાં કહ્યુ છે કે 'દેવો અને દાનવો પણ દુષ્કર એવા બ્રહ્મચર્યના પાળનારને નમસ્કાર કરે છે ' બ્રહ્મચારીની વીતરાગ સાથે સરખામણી કરી છે, એ ઉપરથી

બ્રહ્મચર્યનું માહાત્મ્ય સમજી શકાય છે. માનવી માટે બ્રહ્મચર્ય જેવી કોઈ વિશેષ મોટી સાધના નથી. જૈન ધર્મશાસ્ત્રો પણ કહે છે કે : કામિની અને કાંચન રૂપ [illegible] સર્વ જગત ઘેરાયેલું છે, તેમાં જે મનુષ્ય વિરક્ત છે તે પરમેશ્વર છે.

શાસ્ત્રી [illegible] આચાર્યશ્રીએ પૂછ્યું છે કે, કરોડો સોનામહોરોનું દાન કરી ? કોઈ જિનમંદિર બનાવે તે પણ શુદ્ધ બ્રહ્મચારીની તોલે આવી શકે નહિ, એટલે કે જિનમંદિર બનાવવામાં ? [illegible] છે તે કરતાં બ્રહ્મચર્યનું ફળ અનેકગણું વધી જાય છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં પણ કહેવામાં આવ્યું છે કે મહિને મહિને લાખો ગાયો દેનારના દાન કરતાં, કંઈ ન આપનારનું બ્રહ્મચર્ય શ્રેષ્ઠ છે.

વિશુદ્ધ બ્રહ્મચર્યપાલનની શક્યતા [illegible] સ્ત્રીપુરુષના માટે છે. આ કાર્ય [illegible] પણ પુરુષાર્થ વડે જે સિદ્ધ થઈ શકે છે એની સિદ્ધિ માટે અનેકવાર જ ભોગ [illegible] અને અનેક જન્મોને અંતે આવી સિદ્ધિની પ્રાપ્તિ થાય તો પણ તેથી આપણે નિરાશ થવાનું કારણ નથી. મહાસમર્થ વિચારક અને તત્ત્વચિંતક સંત શ્રી કિશોરલાલ મશરૂવાળાએ બ્રહ્મચર્યસાધનાના માર્ગદર્શનના નિયમોનો [illegible] કરતાં એક સ્થળે લખ્યું છે કે : જેના વંશમાં કેટલીયે પેઢી સુધી એકપત્નીવ્રત તથા એકપતિવ્રત [illegible] હશે, તેમાં જે કેટલીયે પેઢી સુધી બ્રહ્મચર્ય માટે પ્રયત્ન થયો હશે, તેની પેઢીમાં નૈષ્ઠિક બ્રહ્મચારી થશે.

મહાત્મા ટોલ્સ્ટોયના લખાણોની [illegible] જે 'The Relations of the Sexes' ના નામથી તેમના [illegible] પ્રગટ થયેલો છે તેમાં સ્પષ્ટપણે જણાવ્યું છે કે : પ્રકૃતિએ માનવીમાં જેમ પરસ્પરની [illegible] વૃત્તિ જેવી પવિત્રતા અને ચારિત્રવિશુદ્ધિની આધ્યાત્મિક વૃત્તિ પણ રોપી છે. બ્રહ્મચર્ય અને ચારિત્રવિશુદ્ધિ એ એવી ભાવના છે કે એને સિદ્ધ કરવા આપણે [illegible] સર્વકાંઈ ભોગ જ કરવું પડે. જેમ જેમ વિશેષ તમે એ ભાવનાને સિદ્ધ કરશો તેમ તેમ ઉન્નતિની [illegible] વિશેષ પુરુષાર્થ કરશો. પણ [illegible] તો પણ તમારું પોતાનું કલ્યાણ પણ તમે વિશેષ પ્રમાણમાં સાધી શકશો, કેમકે શરીરપરાક્રમને નિયમાધીન [illegible] કરતાં બ્રહ્મચર્યપાલન અને વિશુદ્ધિરક્ષણ કરવાથી મનુષ્ય ઉન્નતિની વિશેષ આરાધના કરી શકે છે.

પ્રાચીન કાળના ઋષિમુનિઓ મનુ, યાજ્ઞવલ્ક્ય, અત્રિ વગેરેના જે [illegible] વિચારો સ્મૃતિઓમાં સમાયેલા છે તેમાં, તેમ જ આપણા ધર્મગ્રંથોમાં સ્ત્રીઓની [illegible] પરત્વે [illegible] એવા અનેક કથનો જોવામાં આવે છે. સ્ત્રીઓ [illegible] સ્વાભાવિક છે તેથી તેનાથી દૂર રહેવું — [illegible] પાર પામવો શક્ય છે પણ પ્રકૃતિથી [illegible] સ્ત્રીઓનો પાર પામવો અશક્ય છે — સ્ત્રી [illegible] નરકનું દ્વાર [illegible] છે [illegible] છે — આ અને આવાં વચનો જોઈને બ્રહ્મચર્યના પાલનનો [illegible] પૂરો થયો છે. આપણા ઋષિમુનિઓએ ગ્રંથોની રચના કરી તે પછી જમાનામાં અનેક ફેરફારો થઈ ગયા છે. માનવી એ વખતે જેવો હતો તેવો જ અત્યારે છે એમ માનવું એ નરી મૂર્ખાઈ છે. [illegible] દેખાય છે તો [illegible] પણ તેમ છતાં [illegible] પ્રસાદ [illegible] થઈ [illegible] છે. તેમ, માનવસ્વભાવ પણ એટલો વિકસિત થઈ રહ્યો છે. જે પૂર્વજન્મના કોઈ યોગભ્રષ્ટ આત્માની વાત બાજુએ રાખીએ તો, માનવી માત્રમાં ભોગવાસનાની વૃત્તિ રહેલી હોય છે. પણ સાથે સાથે, ધર્મભાવના અને ધર્મનિષ્ઠાની પણ ભારે પ્રબળ વૃત્તિ રહેલી હોય છે. [illegible] મહાભારતના યુદ્ધની માફક માનવીની અંદર શુભ અને અશુભ વૃત્તિઓનું નિરંતર યુદ્ધ ચાલ્યા કરતું જ હોય છે. સામાન્ય રીતે આવી વૃત્તિઓનું [illegible] પરિસ્થિતિજન્ય [illegible] [illegible] છે.

ખરુ છે, પરન્તુ આ સ્થિતિ માટે સ્ત્રીજાતિને શા માટે જવાબદાર ગણવામા આવે છે તે સમજી શકાતુ નથી સ્ત્રી પુરુષ પ્રત્યે ધિક્કાર કે દ્વેષની ભાવના સેવે, અગર પુરુષ સ્ત્રી પ્રત્યે ધિક્કાર કે દ્વેષની ભાવના સેવે, તેથી કાઈ આની વાસનાઓમાથી મુક્ત બની શકાતું નથી આવી ભાવનાથી, કદાચ, બાહુ બહુ તો અમુક વખત સુધી વૃત્તિઓ સુપ્ત મનમા દબાયેલી કે સતાયેલી પડી રહે એટલું જ

ઋષિમુનિઓ રચિત સ્મૃતિઓમા તેમ જ અન્ય અનેક કથાઓમા સાધકના માટે બ્રહ્મચર્યપાલનમા સ્ત્રીને કાટારૂપે માનવામા આવી છે એટલું જ નહિ, પણ સ્ત્રી જાતિ પર નિર્લજ્જ પ્રહારો અને હીચકારા હુમલાઓ કરવામા આવ્યા છે સ્ત્રી કેમ જાણે રાક્ષસી હોય અને બ્રહ્મચર્ય સાધકને કેમ જાણે ગળી જવા માટે જ જન્મી હોય, એવી રીતે ચીતરવામા આવી છે

એક દષ્ટિએ તો સ્ત્રીજાતના આવા આવા બેહૂદા વર્ણનો કરી, આપણા ઋષિમુનિઓએ પુરુષજાતની નબળાઈનું માત્ર એક પ્રદર્શન જ કર્યું છે એક વિદ્વાન મહાપુરુષે લખ્યુ છે કે, "It is only imperfection that complains of what is imperfect The more perfect we are, the more gentle and quiet we become towards the defects of others" અર્થાત્ જેઓ માત્ર અપૂર્ણ છે તે જ બીજાઓની અપૂર્ણતા માટે ફરિયાદ કરે છે, જેટલી હદે માનવી પૂર્ણ બને છે, તેટલી હદે બીજાઓના દોષો પ્રત્યે તે વધુ નમ્ર અને શાત બનશે શ્રીસ્થૂલિભદ્રજીના કોશાને ત્યાના ચોમાસાની વાત, અર્જુન અને ઉર્વશીનો પ્રસગ, તેમ જ સુદર્શન શેઠનુ મહારાણી અભયા સાથેનુ વર્તન—આ બધા દાખલાઓમાથી આપણને ખાતરી થવી જોઈએ કે સુદઢ, સબળ અને સશક્ત માનવીને જગતની કોઈ પણ શક્તિ, કોઈ પણ સ્ત્રી કે કોઈ પણ પ્રલોભન ચલાયમાન કરી શકતા નથી જેઓ ચલાયમાન થાય છે, તેમા તેટલા અશે પુરુષત્વની ખામી છે આ દોષનું આરોપણ બીજામા કરવાથી શુ ફાયદો છે? જે સાધકો બ્રહ્મચર્યના માર્ગથી ચ્યુત થઈને પતનના ગાર્ગ ધસરાય છે, અને બચાવમા સજોગો અને સ્ત્રીનો દોષ કાઢે છે, તેઓ ધૂર્ત અને શયતાન છે તેમ જ પુરુષ કહેવરાવવાને લાયક નથી

પુરુષ કરતા સ્ત્રી અનેકગણી કામી છે, એવી અર્થહીન અને બેવકૂફી ભરેલી વાતો કરનારા માટે, માનસશાસ્ત્રી ડૉ મેકડૂગલનો સ્ત્રી સબધેનો અભિપ્રાય જાણવા જેવો છે તેઓ કહે છે કે "સ્ત્રીસ્વભાવ વધારે ભાવનાવશ છે, એના પ્રત્યે જે લાગણી બતાવવામા આવે તેની અસર એના પર પુરુષ પર થાય તે કરતા વધારે થાય છે આનો અર્થ એ થાય કે સ્ત્રીની ભોગેચ્છા સદા રે અતૃપ્ત રહે છે એમ નહિ, પણ સ્ત્રી, સામાન્ય રીતે, સદા રે ભાવની–હેતની ભૂખી રહે છે આથી, એના પ્રત્યે જે દાક્ષિણ્ય બતાવવામા આવે તેનો પડઘો એના અતરમાથી ઊઠયા વિના રહેતો નથી આનુ પરિણામ એના હૃદય પર એટલુ બધુ થાય છે કે એને પોતાના હિતાહિતનુ બહુ ભાન રહેતુ નથી, અને એના પ્રત્યે લાગણી બતાવનારને સતોષ આપવા એ ગમે તે કરવા તૈયાર થઈ જાય છે એ વેગ ક્ષણિક રહે એમ બને, પાછળથી એનો ઉદ્વેગ પહેલા વેગ કરતા યે વધારે બળવાન થાય, પણ તે ક્ષણે એ ભાન ભૂલી જાય છે ધૂર્ત પુરુષ એના આ સ્વભાવનો લાભ ઉઠાવે છે અને એને પોતાનો શિકાર બનાવે છે"

રૂપને નજરે પડતુ રોકી શકાય તેમ નથી, તેથી જ નિર્ગ્રંથને આંખથી મનોહર રૂપ દેખી અગર ન ગમતા રૂપો દેખી તેમા આસક્તિ કે દ્વેષ કરવાની જ્ઞાની મહાત્માઓએ ના પાડી છે, અને આમ છતા, સ્ત્રીથી અલિપ્ત રહી શકાય તે માટે સ્ત્રીની બાબતમા કેવી કેવી દુષ્ટતાભરેલી વાતો કરવામા આવી છે!

આજ સુધી આ રીતે આચરેલા પાપોનું હવે પ્રાયશ્ચિત્ત કરવુ જોઈએ માતા અને પુત્ર વચ્ચેનો પ્રેમ એ નૈસર્ગિક અને જગતમા સૌથી અધિક પવિત્ર છે બ્રહ્મચર્યસાધક જગતની સ્ત્રીમાત્રમા માતાનું

[illegible] ની [illegible] છે. [illegible] ની દૃષ્ટિએ જ નહિ, પણ [illegible] ને [illegible] છે.

આચાર્ય [illegible] અને મનોહર [illegible] કૃતિ છે એવો ઉલ્લેખ [illegible] પુસ્તકમાં આપેલો છે. [illegible] મૂર્તિઓની [illegible] છે [illegible] અને વિવેચન [illegible] આ સ્મારક [illegible] તમામ [illegible] પણ પૂર્ણ ન થાય.

[illegible] ભિન્ન નાની નાની [illegible] અને વસ્તુઓની [illegible] અને [illegible] અને [illegible] છે [illegible] અને [illegible] દૃષ્ટિએ [illegible] અને [illegible] છે. તે [illegible] આચાર્ય [illegible] પુસ્તકની [illegible] ૧૫ [illegible].

આચાર્ય [illegible] એમના [illegible] એમના [illegible] છે તે [illegible] પણ [illegible] એમની [illegible] ઓપરેશન [illegible] અને તે [illegible] દૃષ્ટિએ [illegible] ઓપરેશન [illegible] અને [illegible] એમને એમની [illegible].

[illegible] છે તે [illegible] અને તે [illegible] અને [illegible]

ધર્મ અને સંસ્કૃતિ

મુનિશ્રી કલ્યાણચન્દ્રજી

અખિલ વિશ્વમા સમગ્ર સચરાચર તત્ત્વો પોતપોતાનો ધર્મ બજાવતા રહે છે આ એક અકાટ્ય બધારણ છે એક પણ તત્ત્વ એનાથી બહાર જઈ શકતુ નથી તમામ તત્ત્વોમા જીવતત્ત્વ અગ્રસ્થાને છે આ મતવ્ય સર્વમાન્ય અને શાશ્વત છે કેટલાક જીવોને એનુ લક્ષ હોતુ નથી, અને લક્ષ વિનાની પ્રવૃત્તિનુ પરિણામ બહુધા જીવો જોઈ કે જાણી શકતા નથી અમુક જીવાત્માઓ તો લક્ષ વિના એક ડગ પણ ભરતા નથી એ સમજતા હોય છે કે લક્ષ વિનાની પ્રવૃત્તિનો કશો જ અર્થ નથી લક્ષ સાધ્યા વિનાનુ બાણ જેમ નિષ્ફળ જાય છે તેવી જ રીતે લક્ષ સાધ્યા વિનાની પ્રવૃત્તિ પણ નિરર્થક થાય છે લક્ષને સિદ્ધ કર્યા બાદ બાણ ખાલી ન જાય તેમ લક્ષસિદ્ધિવાળી પ્રવૃત્તિ પણ ફલપ્રદ જ નીવડે છે જાણ્યે કે અજાણ્યે થયેલી કોઈ પણ પ્રવૃત્તિનુ ફળ તો અવશ્ય મળે છે, પરન્તુ સમજણ વિનાની પ્રવૃત્તિના પરિણામનો કશો અર્થ હોતો નથી સમજણપૂર્વકની જ્ઞાનયુક્ત પ્રવૃત્તિનુ પરિણામ જ ખરુ પરિણામ કહી શકાય એટલા માટે જ જ્ઞાની પુરુષો કહી ગયા છે કે જે કંઈ કરવુ તે હમેશા લક્ષપૂર્વક કરવુ કારણ કે લક્ષપૂર્વક કરેલી પ્રવૃત્તિ જ ફળ આપે છે

આજે દરેક મનુષ્ય કંઈ ને કંઈ કરતો જોવામા આવે છે કેટલાક લક્ષનો નિર્ણય કર્યા બાદ જ કાર્ય હાથ પર લે છે અને કેટલાક લક્ષ વિના જ કાર્ય કરવા તત્પર બની જાય છે જે કાર્ય લક્ષ વિના કરવામા આવે છે તે નિરર્થક અથવા બોજારૂપ નીવડે છે જેને કોઈ પણ કાર્ય કરવાની સાચી અભિલાષા હોય તેણે પ્રથમ પોતાના કાર્યની દિશા નક્કી કરી લેવી જોઈએ તેની સાથે સાધ્યને પ્રાપ્ત કરવાનુ જ્ઞાન પણ અવશ્ય હોવુ જોઈએ તથારૂપ જ્ઞાનના અભાવે કોઈ પણ કાર્યની સિદ્ધિ અતિ મુશ્કેલ થઈ પડે છે

સાધ્ય અને સાધનનું યથાર્થ જ્ઞાન જેણે પ્રાપ્ત કર્યું હોય તે જિજ્ઞાસુ જ ધર્મની સાચી આરાધના કરી શકે દુનિયામા જે સત્ય ધર્મ છે તે સાધ્ય છે તેને પ્રાપ્ત કરવાના જે ઉપક્રમો તે સાધન છે આજે કેટલાક એવી માન્યતા ધરાવતા હોય છે કે શાસ્ત્રોમા જે ક્રિયા કરવાનુ બતાવવામા આવેલ છે તે પ્રમાણે કરવુ એનું નામ જ યથાર્થ ધર્મ જ્યારે કેટલાક એમ માનતા હોય છે કે ગુરુના ફરમાન પ્રમાણે વર્તવુ એનુ નામ જ સાચો ધર્મ કોઈની એવી માન્યતા હોય છે કે દયા, દાન, તપશ્ચર્યા, વ્રત-નિયમોનુ પાલન કરવુ, એ જ સત્ય ધર્મ છે અને કેટલાક એ બધી બાબતોને પાપળા જ માનતા હોય છે એ તો સેવાને જ સાચામા સાચો ધર્મ માનતા હોય છે કેટલાક તો એથી પણ આગળ વધીને એમ બોલતા સભળાય છે કે પોતાની બુદ્ધિથી નીતિના માર્ગનો નિર્ણય કરીને તે માર્ગે ચાલ્યા જવુ એ જ ખરો ધર્મ છે કોઈ પોતાની ફરજને જ ધર્મ માને છે કેટલાક કહે છે કે ઘણા માણસો જે માર્ગે ચાલ્યા હોય તે માર્ગ ચાલવુ એ જ ધર્મ કેટલાક સમષ્ટિ ધર્મને જ ધર્મ માને છે, જ્યારે કેટલાક વ્યક્તિગત ધર્મને જ ધર્મ માનતા હોય છે કેટલાક સમગ્ર વિશ્વનો એક જ ધર્મ માને છે, એને જ સત્ય અને સામાન્ય ધર્મ સમજે છે કોઈ દેશકાળને અનુસરવામા જ ધર્મ માને છે કેટલાક પોતાને તત્ત્વવેત્તા માની ધર્મના અનેક પ્રકારો બતાવતા હોય છે આમ ધર્મની વિવિધ માન્યતાઓ વચ્ચે માનવપ્રાણી આજે અટવાઈ રહ્યો છે સૌ કોઈ પોતપોતાની રુચિ અનુસાર ધર્મની વ્યાખ્યા કરતા નજરે પડે છે



આ જ થી એટલું તો અવશ્ય ફલિત થાય છે કે ધર્મતત્ત્વ એ શાશ્વત અને સનાતન છે કે જેનો દેશ, કાળ કે ઉદ્‌ભવ નથી, એમ ધર્મતત્ત્વનો અભાવ હોઈ ધર્મતત્ત્વને એક જ ચોક્કસ રીતે આચારીઓએ કે તાત્ત્વિકોએ બાંધવું એ કે નાની કોઈએ અપનાવવો એમાં આવે છે. કારણ કે ધર્મતત્ત્વ પ્રત્યેક માનવીના અંતઃકરણ સાથે એવી રીતે ઓતપ્રોત થયેલ છે કે તેને અલગ તારવી શકાય એવી શક્યતા નથી.

ઘણી વાર આસ્તિકો અને નાસ્તિકોમાં એકબીજાને ખંડન કરવા માટે તુમુલ યુદ્ધ થયા કરે છે. પરંતુ સ્પષ્ટ રીતે જોતાં બંનેએ જુદી દૃષ્ટિએ પોતાના સિદ્ધાંત નિશ્ચિત કરી રાખ્યા હોય એવું લાગતું નથી. આસ્તિક અને નાસ્તિક એ બેમાંના એકે કદી પણ ભૂલ ભરેલું નાસ્તિક પર્યવસિત હોય એવું નથી. જૈન દર્શન સિવાય બીજાઓએ પરલોકની સત્તા સિદ્ધ કરવા આગ્રહ રાખ્યો છે. ધર્મ એટલે પોતાની ધારણાને કબૂલ કરેલ નથી.

આપણે એ જ તો અવશ્ય સ્વીકારવું જોઈએ કે જુદા જુદા કાળમાં જૈનદર્શન અને ધર્મતત્ત્વ પ્રત્યે વિવિધ રીતે મનુષ્ય પોતાની શક્તિ પ્રમાણે જાણતા સમજતા રહેલા છે. જેના ગુણ સ્વરૂપ અને સ્વભાવ છે તેવા આત્મા એક વા બીજી રીતે શોધ વિના કોઈને જાણવું નથી. પછી ભલે તે હિંદુ હોય કે ખ્રિસ્તી હોય, બૌદ્ધ હોય કે જૈન હોય, મુસ્લીમ હોય કે પારસી હોય, એમ તે હોય. જ્યાં દરેક પોતપોતાના ધર્મને જ મહાન માનેલ છે અને એના અનુયાયીઓ કોઈને ન છે. પરંતુ પોતાની માન્યતા સાચી જ છે અને બીજાની ખોટી છે તેવો નિશ્ચય કરી લેવાની કોઈને પણ છૂટ હોય એવું લાગતું નથી. આમ જ્યાં એટલું તો સ્પષ્ટ છે કે જ્યાં જૈનદર્શનમાં અનાદિકાળ જ અનંત હોય ત્યાં ધર્મતત્ત્વને સ્થાન જ ન હોય. આમ, ધર્મ શબ્દનું તેટલું તો પ્રત્યેક કાળમાં અને પ્રત્યેક ક્ષેત્રમાં પણ જોવામાં આવે છે. દાખલા તરીકે દેશ, કાળ, વસ્તુ, આત્મા, સ્ત્રી, પુત્ર, પિતા, માતા, બંધુ, બહેન આદિ દરેકને પોતાનો ધર્મ હોવાનું જોવાનું બન્યું ઘણુંય છે. કારણ કે ધર્મ શબ્દમાં જ કોઈ અનેરી વ્યાખ્યા રહેલી છે. એવો વિચાર કોઈને પણ આવતું નથી. ચિરંતન વસ્તુને પ્રાપ્ત કરાવનાર ધર્મ છે. બીજી બાજુ સમજ કરાવનાર પણ ધર્મ છે. ને એવી વ્યક્તિ અને સર્વ આત્મા ઘટી જ રહેલ છે.

ધર્મ શબ્દ ધૃ ધાતુ પરથી નીકળેલ છે. એનો અર્થ થાય છે ધારણ કરવું અથવા પકડવું. દુર્ગતિ પ્રત્યેક પ્રાણીને જે ધારણ કરે છે અને પાળે છે એનું નામ જ ધર્મ છે. જેનું જે આચરણ કરે તે આત્મા નિઃશ્રેયસ અને અભ્યુદયને પ્રાપ્ત કરી શકે અને એનું જે ઉલ્લંઘન કરે તે સદા વિનાશને નોતરી લે. આ ધર્મના નામે અનેક ધર્મના અનુયાયીઓમાં ઝઘડો જોવામાં આવે છે. પરંતુ જે એકાંત દૃષ્ટિવાળા હોય છે તે કેવળ પોતાના ધર્મનું જ અભિમાન ધરાવતા રહે છે. એ તો માત્ર અભિનિવેશ છે. મિથ્યા છે. આ અભિનિવેશને કારણે આત્માને આત્મતત્ત્વ સિદ્ધ કરવાની ટેવ છે. એવા મનુષ્યો પોતાના ધર્મ તથા ચરિત્રને તેવા મહાન માનતા હોય. પરંતુ ખરી રીતે તો તે પામર જ છે. ધર્મના નામે સ્વપ્રશંસા પણ તે કરતા હોય છે. અર્થાત્ એકાંતદૃષ્ટિએ તો ધર્મ ધ્યાને રાખે આત્માઓને બાંધે જ તે ગતિ કરી દેતા હોય છે. જેની એકાંત દૃષ્ટિ નષ્ટ થઈ ગઈ હોય અને જેને અનેકાંત દૃષ્ટિ સાંપડેલ હોય, તે જ સાચો માનવ છે. એવા પુરુષો તત્ત્વમાં કે પ્રત્યક્ષમાં ક્યાંય ભેદ જોતા નથી. પ્રત્યેક ધર્મના અનુયાયીઓમાં એ ધર્મતત્ત્વના સ્વરૂપને જુએ છે. એઓ એમ માનતા હોય છે કે ધર્મ, અર્થ, કામ અને મોક્ષ એ ચાર પુરુષાર્થની સિદ્ધિ માટે શાસ્ત્રો છે. અપૂર્ણ અને અલ્પજ્ઞ એવા માનવીએ ધર્મ આચરવા માટે એ ચારે વર્ગની અનિવાર્ય આવશ્યકતા છે એમ એ માનતા હોય છે. ધર્મનો એ સાચો મર્મ છે. એની સિદ્ધિ તો જ માનવીના માટે વર્ગની સાર્થકતા સમાયેલ છે. ધર્મતત્ત્વ વિના એ

ત્રણે વર્ગની કશી મહત્તા નથી આ કારણથી જ ધર્મ એ સર્વગ્રાહી મનાય છે રાજકીય અને સામાજિક વ્યવસ્થા જાળવવા માટે પણ મહાપુરુષો તો ધર્મને જ અગ્રસ્થાન આપે છે કારણ કે ધર્મતત્ત્વ સર્વમાન્ય અને સર્વસામાન્ય છે જે ક્રિયા આપણને પરમ લક્ષ તરફ લઈ જવા સાર્થક બને તે જ સાચો ધર્મ અને જે ક્રિયા એનાથી ઊલટે માર્ગ લઈ જાય તે અધર્મ પ્રત્યેક ધર્મમા આજે વિભિન્નતા જોવામા આવે છે એનુ કારણ એ છે કે પ્રત્યેક મનુષ્યની પ્રકૃતિ અને પ્રવૃત્તિમા ભિન્નતા છે આથી ધર્મના બાહ્ય સ્વરૂપમા દેશ-કાળ અનુસાર પરિવર્તન સ્વાભાવિક છે, પરન્તુ નિશ્ચય સ્વરૂપમા તો કશો જ ફેરફાર થતો નથી જ્ઞાની મહાપુરુષોનો એ સિદ્ધાત છે

કોઈ એમ કહે છે કે ધર્મ અને વ્યવહારને કશો સબધ છે જ નહિ આ કથન વાસ્તવિક નથી અલબત્ત, એમની વચ્ચે સમવાય સબધ નથી જેના વિના જે વસ્તુ કહેવાય નહિ એનુ નામ સમવાય સબધ પરન્તુ જેનો સયોગ સબધ છે તે તો મળે પણ અને અલગ પણ પડે જેનો સયોગ થાય તેનો વિયોગ પણ થાય, એ તો અટલ નિયમ છે ધર્મ અને વ્યવહારનો સયોગસબધ તો પ્રત્યક્ષ જોવામા આવે છે જ્યારે આત્મા નિશ્ચયનયના સ્વરૂપમા રમણ કરે છે અને એમા સ્થિત થાય છે ત્યારે વ્યવહાર સ્વય અલગ પડી જાય છે, ત્યા વ્યવહારની કશી અપેક્ષા રહેતી નથી, પરન્તુ ધર્મતત્ત્વ એનાથી નીચેના થરમા હોય છે ત્યારે તો તેને વ્યવહારનો આશ્રય અવશ્ય લેવો પડે છે કેમકે વ્યવહાર એ નિશ્ચયનયમા જવાના કારણરૂપ છે એ માત્ર નિમિત્ત પૂરતું ઉપાદાન કારણ નથી એ કોઈ ન ભૂલે! વ્યવહારના બે પ્રકાર છે એક સદ્વ્યવહાર, બીજો અસદ્વ્યવહાર સદ્વ્યવહાર એ નિશ્ચય સ્વરૂપની પ્રાપ્તિ કરવામા કારણરૂપ બને છે, અસદ્વ્યવહાર નહિ આજે તો સમાજની પ્રત્યેક પ્રવૃત્તિ અસદ્વ્યવહારને અવલબી રહેલ હોય એમ દેખાય છે આ કઈ ઓછા દુ ખની વાત નથી

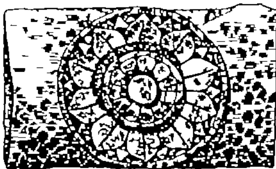
ભારતવર્ષમા તો પરાપૂર્વથી આધ્યાત્મિકતા ચાલી આવે છે માત્ર એટલું જ નહિ પણ એને અગ્રસ્થાન આપવામા આવેલ છે સમાજની પ્રત્યેક પ્રવૃત્તિના મૂળમા આધ્યાત્મની ઝલક દેખાય છે સમાજ, રાજ્ય, કુટુબ, વ્યાપાર વગેરે તમામનુ ચણતર આધ્યાત્મિક ભૂમિ પર થયેલ હોય એમ સમજાય છે પરન્તુ આજના ભારતવાસીઓ પ્રાય પાશ્ચાત્ય સસ્કૃતિનુ પાન કરીને મૂળભૂત વસ્તુને ભૂલતા હોય એવુ દેખાય છે આ કારણથી જ ભારતનુ અધ પતન જોવામા આવે છે પાશ્ચાત્ય સસ્કૃતિના અયોગ્ય અનુકરણે જ આજે આપણને આ દશાએ પહોંચાડ્યા છે પાશ્ચાત્ય પ્રજાના ગુણોનુ અનુકરણ કરવાને બદલે આપણે બીજી બાબતોનું જ અનુકરણ કરીએ છીએ ભારતવાસીઓ પોતાના મૂળભૂત સિદ્ધાતો અને સસ્કારોને ભૂલી જઈ, જડવાદને અપનાવી પોતાનુ વ્યક્તિત્વ ગુમાવી બેઠા છે, પરંતુ સદ્ભાગ્યે આજે ભારતવર્ષ પોતાનું ખોળિયુ પલટાવી રહેલ હોય એમ જણાય છે આ સક્રાન્તિ કાળે પ્રત્યેક ભારતવાસીએ લક્ષમા રાખવુ જોઈએ કે ભારતીય સસ્કૃતિ આધ્યાત્મવાદના પાયા ઉપર અવલબેલી છે માટે એને દૃષ્ટિ સમક્ષ રાખીને જ રાષ્ટ્રનો વિકાસ સાધવાની જરૂર છે જો આ રીતે ભારતની રચના કરવામા આવે તો ભારતવર્ષ જગતનુ એક સર્વોપરી રાષ્ટ્ર બની જાય એમાં શકાને સ્થાન નથી આધ્યાત્મ તત્ત્વને જો આજના રાષ્ટ્રના ઘડવૈયા ભૂલ્યા તો ભવ ભૂલ્યા જેવુ થશે કોઈ પણ દેશની પ્રજા પોતાની ભૂતકાલીન સસ્કૃતિને ભૂલી શકતી નથી એના અનેક દાખલા ઇતિહાસના પટ પર મોજૂદ છે

અમેરિકન પ્રજા આજે ખૂબ ખૂબ આગળ વધેલી ગણાય છે આમ છતા એ પોતાના જડવાદના સસ્કારોને ભૂલી શકતી નથી એ જ પ્રમાણે ભારતવર્ષની પ્રજા પોતાના ચૈતન્યવાદને કદી ભૂલી શકવાની નથી આમ છતા એમા અપવાદ પણ હોય છે વિદેશોમાં પણ આજે કેટલાક ચૈતન્યવાદના ઉપાસકો જોવામા આવે છે ચૈતન્યવાદને સમજવા એ અથાગ પરિશ્રમ પણ ઉઠાવી રહેલા જણાય છે જ્યારે આ

તરફ જોતાં ભારતવાસીઓ આપણને ? સ્વરૂપે જીવવું જોઈએ તે સ્વરૂપે જીવી શકતા નથી. પરંતુ રાષ્ટ્રના નવસર્જકોને આપણી સમસ્યાની ચિંતા રહી છે કે તેઓ ભારતની સંસ્કૃતિના પ્રચારમાં આવશ્યક ફાળો આપી ન શકે! અલબત્ત, દેશકાળને લક્ષમાં રાખીને રાષ્ટ્રાંતરમાં જે ફેરફાર કરવા પડે તે સામે કોઈને વાંધો ન હોય, પરંતુ મૂળભૂત સિદ્ધાંતોને બાજુ પર રાખીને કેવળ જડવાદને જ જો સ્થાન આપવામાં આવશે તો એક દિવસ પસ્તાવાનો પ્રસંગ આવ્યા વિના રહેશે નહિ.

ભારતવાસી સંપૂર્ણ આ બાબતોને લક્ષમાં લઈને જો તેનું પાલન કરે તો જ નૈતિક જીવનને પણ ખ્યાલ સફળ બને. રાષ્ટ્રસેવકની સાથે નૈતિકતા પાલન માટે સંબંધ ધરાવે છે. રાષ્ટ્રના ચારિત્ર્યનો નાશ થવા ન દઈએ! સમાજ જીવન અને નૈતિક જીવન ઉભય એકબીજા પર નિર્ભર છે. નૈતિકતાનું પતન એનું જ નામ સમાજ છે. સામાજિક જીવનનો વિકાસ આખરે નૈતિકતાના જીવન પર રહેલો હોય છે. આજે મનુષ્યોને પાશ્ચાત્ય વિચારોમાં રહેવું પાલવે તેમ નથી. પરંપરાથી ચાલ્યા આવતા શુદ્ધ વિચારો તેમ જ આદર્શો અને વાતાવરણના બંધનો આજે ન કોઈને પણ રુચતા નથી. લાગે છે કે આજનો માનવ માનસ ઉત્તરોત્તર બુદ્ધિ-પ્રધાન બનતું જાય છે. માનવું સમન્વય કરવા તેની એની વિશાળ દષ્ટિ અને બુદ્ધિ મતિ કરી રહેતા હોય એમ સમજાય છે.

આવા સંજોગોમાં સમયે એક વસ્તુ ખાસ લક્ષમાં રાખવાની છે કે ભારતીય જનતાના જીવનમાં વ્યાપી જ રહેલા ધર્મ અને સંસ્કૃતિના તત્ત્વોનો નાશ ન થાય એ દષ્ટિએ જો રાષ્ટ્રના ઘડવૈયાઓ આયોજનને ચલાવવાનું કાર્ય કરશે તો ભારતવર્ષ ફરી એકવાર આખી દુનિયામાં પોતાની સંસ્કૃતિને પ્રકાશમાં લાવવા શક્તિમાન બને.



શ્રીમહાવીર પરમાત્માનું વ્યાપક જીવન

શ્રી ફતેહચંદ ઝવેરભાઈ શાહ

कल्याणपादपाराम श्रुतगंगाहिमाचलम् । विश्वाम्भोजरविं देव वंदे श्रीज्ञातनंदनम् ॥
पान्तु व श्रीमहावीरस्वामिनो देशना गिर । भव्या नामांतरमलप्रक्षालनजलोपमा ॥

શ્રીમદ્ હેમચંદ્રાચાર્ય–પરિશિષ્ટ પર્વ

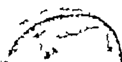
શ્રી વીરપરમાત્માનુ ૨૫૫૩મુ જન્મકલ્યાણક તાજેતરમા જ ચૈત્રશુકલ ત્રયોદશીના મગલમય દિને અખિલ ભારતમા ઊજવાઈ ગયુ મહાન પુરુષોના જન્મદિવસો આપણે માટે લાલ બત્તી જેવા છે આપણને સમયસરની ચેતવણી આપે છે, સાચી દિશાનુ ભાન કરાવે છે, તેમ જ આપણા વર્તમાન જીવન વિષે વિચારવાની તક રજૂ કરે છે કે આપણે અત્યારે ક્યા છીએ, કયા જઈ રહ્યા છીએ અને કયા જવુ જોઈએ? લગભગ ૨૫૫૩ વર્ષ પહેલાનો દિવસ એટલે પ્રાચીન ભૂતકાળનો દિવસ, છતા તે એટલો તેજસ્વી છે કે આપણી આતરદૃષ્ટિને ઉઘાડે છે, સૂર્ય આપણાથી જેટલો દૂર છે તેટલી દૂર બીજી કોઈ ચીજ હોય તો કદાપિ ન દેખાય, પરતુ સૂર્ય એટલો તેજસ્વી છે કે તે એટલો બધો દૂર હોવા છતા સૌથી વધારે દેખાઈ શકે છે, મહાપુરુષોના સ્મરણીય દિવસો એવી જ રીતે તેજસ્વી હોય છે, જે હજારો વર્ષ સુધી લોકોને દેખાય છે એટલુ જ નહિ, પણ તેમાથી આધ્યાત્મિક પ્રેરણાઓ spiritual intuitions મળી રહે છે

પ્રભુ મહાવીરના જીવનના એકેએક આદર્શ એટલા આકર્ષક છે કે તેનો વિચાર માત્ર આશ્ચર્યચકિત બનાવી મૂકે છે એમની અહિંસા આકાશની સમાન વ્યાપક અને સૂક્ષ્મ છે, એમની તપશ્ચર્યા અને સહનશક્તિ અનુપમ છે, એમની ગૃહસ્થ અને સાધુસઘની વ્યવસ્થાપકતા બધારણ મહાન રાજનીતિજ્ઞોને પણ મુગ્ધ કરે એવી છે

પરતુ એનાથી વિશેષ જે વસ્તુ એમના જીવનમા દૃષ્ટિગોચર થાય છે તે એમની સમન્વયશક્તિ છે અગ્નિ અને પાણી જેવી બે વિરોધી વસ્તુઓનો જ્યારે સમન્વય કરવામા આવે છે ત્યારે એન્જિનમા જે શક્તિ ઉત્પન્ન થાય છે તેથી વિશાળ રેલવેગાડી વાયુવેગે દોડી શકે છે, સમન્વયના આધારે જ સસાર ચાલે છે, એથી જ પ્રકૃતિ વિકાસ કરી રહી છે અને જગત્ ઉન્નતિ કરતું ચાલ્યુ છે તેથી જ શ્રી ઉમાસ્વાતિજીએ તત્ત્વાર્થસૂત્રમા 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' એ સૂત્ર મૂકયુ છે

ભગવાન મહાવીરનો સમન્વયવાદ એ જ અનેકાતવાદ, પરતુ આપણે તે ભૂલી જઈ અનેકાંતની ચર્ચામા સમન્વય શોધવાને બદલે ખડનની ભાવનાને વધારે જોર આપ્યુ છે, ગમે તે એક જ નયને પકડી રાખવાને અગે અન્ય નયોનો અપલાપ થવાથી અનેકાત એકાત બની ગયો

પરમાત્મા મહાવીર પાસે કેવલજ્ઞાનરૂપ દીપક હતો તેમાથી ગણધર મહારાજાઓરૂપ અનેક દીપકો પ્રકટ્યા, કેવલજ્ઞાનના બિંદુરૂપ દ્વાદશાગીનુ જ્ઞાન એમણે જગત્ સમક્ષ મૂકયુ, ત્રીજા ભવમા મન–વચન–કાયાની પવિત્રતાથી રોમરાયની વિકસ્વરતાપૂર્વક 'સવિજીવ કરુ શાસન રસી'ની ભાવનાનો જે સકલ્પ વીર્યોલ્લાસપૂર્વક કર્યો હતો તેના પુણ્યાનુબધી પુણ્યથી તીર્થંકરપણું પ્રાપ્ત થતા કેવલજ્ઞાનના સારભૂત



કાલચક્રનીના ચક્ર જગત્ પ્રથમ ધારામાં બે હજારો વર્ષ સુધી અનાદિકાળનો પ્રવાહ છે અને યુક્તિ પણ એમજ માનવામાં પ્રમાણ કરી. ઉપરાક્તરીતે પણ એ સારભૂત સમર્થ કરેલાં આવ્યું છે કે આ જગતના તમામ પદાર્થો અનાદિ હોવા છતાં ઉત્પન્ન થાય છે, નાશ પામે છે પણ સ્વરૂપે અક્ષય રહે છે. આ સિદ્ધાન્ત એમણે જગતે પહેલાં લગભગ ત્રણ કહ્યું.

ભગવાન મહાવીર શ્રીમુખેથી જગત્ બનાવ્યું નથી પણ જગતનું સ્વરૂપ બતાવ્યું છે. આત્મા પોતે જ બ્રહ્મા, વિષ્ણુ અને મહેશ્વર છે. ભાવના કર્મોમાં આવી પોતે જ આહાર શરીરાદિ વગેરે જ પર્યાપ્તિઓ (શક્તિઓ) ઉત્પન્ન કરે છે અને જીવનપર્યંત તે શક્તિઓનું પાલન કરે છે. તેમ જ જીવન પૂરું થયે તે વિસર્જન કરે છે અને નવા જ જન્મમાં એ રીતે ક્રિયા થયા કરે છે. આ વસ્તુસ્થિતિમાં કર્તાપણું અન્ય કોઈનું નથી. આત્મા અને કર્મ બન્નેનો આ પ્રકાર અનાદિકાળથી ચાલ્યો છે, ચાલે છે અને ચાલશે. જગતકર્તા ઈશ્વર જેવી વચ્ચે કોઈ શક્તિ રહેતી નથી. આ તેમનો અટલ સિદ્ધાંત છે.

એમનું તત્ત્વજ્ઞાન નિત્યાનિત્યપણું, એકાનેકપણું, ભિન્નાભિન્નપણું, નિશ્ચય અને વ્યવહાર, દ્રવ્યગુણ પર્યાય, સાત નયો, સપ્તભંગીઓ, છ દ્રવ્યો, પાંચ સમવાયો અને રત્નત્રયરૂપ મોક્ષ વગેરે સૂક્ષ્મ દૃષ્ટિકોણથી ભરપૂર છે. આ કર્મોનું સૂક્ષ્મ સ્વરૂપ બંધ, ઉદય, ઉદીરણા, સત્તા, સંક્રમણ વગેરે અન્ય દર્શનોમાં દૃષ્ટિગોચર થતું નથી.

હવે એ પ્રશ્ન થાય છે કે પરમાત્મા મહાવીર તીર્થંકર કેમ બન્યા? આ અવસર્પિણી કાળમાં ચોવીસ તીર્થંકરો જગતના કલ્યાણ ઉદ્ધાર અર્થે થયા. પછી એમનો આ તીર્થંકરરૂપે જન્મ કેમ થયો? શ્રીમાન હરિભદ્રસૂરિકૃત યોગબિંદુમાં આનું દર્શન છે કે આ સંસારમાં કેટલાક જીવો અને પરમાર્થી સર્વ જીવોનું મન, વચન અને કાયાથી ભલું કરવાની ભાવનાપૂર્વક ઉદ્ધાર કરનાર અને તે માટે શક્તિ પ્રમાણે તાલાવેલીથી આત્મા તીર્થંકર બને છે. ગણધર, સાધુ અને કેટલાક ઉદ્ધાર કરનાર ગણધર બને છે અને માત્ર પોતાનો જ ઉદ્ધાર કરનાર સામાન્ય કેવળી બની શકે છે. શ્રીમદ્ ઉમાસ્વાતિવાચક પણ તત્ત્વાર્થની કારિકામાં 'સ્વહિતમપ્રાર્થ મનઃપ્રીતેષુ' એ શ્લોકદ્વારા અનેક જન્મોના શુભભાવના પરિણામે વિશ્વોદ્ધારક શ્રીમહાવીરના જન્મોનાં વર્ણનો છે. બુદ્ધ માટે પણ કહેવાય છે કે તેમણે બોધિસત્ત્વ તરીકેના પૂર્વ જન્મોમાં પ્રજ્ઞા, ધ્યાન, દાન, શીલ અને ક્ષમા વગેરે દશ પારમિતાઓ સાધી હતી અને પછીથી બુદ્ધ તરીકેનો જન્મ થયો હતો.

આ આત્મા સંયોગવશાત્ કર્મની વિચિત્રતાથી કઈ સ્થિતિએ પહોંચે છે, કેવાં દુઃખ અનુભવે છે, ઉત્ક્રાન્તિના માર્ગમાં આત્મા કેવી રીતે આગળ વધતાં ઉચ્ચ ભૂમિકાએ પહોંચે છે અને પછી કેવા પુરુષાર્થ અને હેતુ અપૂર્વ વીર્ય વડે અપૂર્વ ઉન્નતિના શિખરે પહોંચે છે એ દૃષ્ટાંત શ્રીમહાવીર પ્રભુનું મુખ્ય અને અદ્ભુત છે. નયસારના ભવમાં સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત કરી પછી ઘણી ચઢતી પડતી થઈ, જેમ બીજની ચંદ્રમા પૂર્ણિમા બની જાય છે તેમ આખરે તીર્થંકરપણું પ્રાપ્ત કર્યું. તે જન્મોના ઇતિહાસ એમના જીવનમાંથી માનવ લોક સમજણથી કર્મ અને આત્માની સાધનાને ઉત્તરે આરાધનો ક્રમ છે. કેમકે એમનો પુરુષાર્થ એમને ભગવાન બનાવી ગયો અને સત્તાવીસમા ભવમાં તીર્થંકરપણું પ્રાપ્ત કર્યું. એટલે કર્મો ઉપર વિજય મેળવી સ્વતંત્ર મુક્તિપદ પ્રાપ્ત કર્યું અને આપણને પૂજ્ય બન્યા. સંસારમાં અનેક જીવો જન્મે છે અને મૃત્યુ પામે છે તે તો સામાન્ય ક્રમ છે. તેની ગણતરી હોતી નથી. પરંતુ વિપત્તિના પહાડ તૂટી પડ્યા હોય, મરણાન્ત કષ્ટો, ઉપસર્ગો એક પછી એક આવતા હોય, એક બાજુ ઉન્નતિના શિખરે ચઢી પછી પતનના ખાડામાં પડી રહેવું પડ્યું હોય છતાં ધૈર્યપૂર્વક, આત્મબળપૂર્વક, પુરુષાર્થપૂર્વક આગળ વધે, કોઈની પણ પરવા કર્યા વગર, જે કે ધ્યાની આત્માની અપેક્ષા વગર, આત્મભાન કે

રૌદ્રધ્યાન કર્યા વગર, ઉપસર્ગ કરનાર પાપી વ્યક્તિઓ ઉપર પણ અનુકંપા ચિંતવીને પોતે કરેલા પૂર્વ કર્મોના ફળ સમજી, તેને બહાદુરીથી ભોગવી, ઉન્નત અને દિવ્ય આધ્યાત્મિક જીવન જીવી, સંસારના અનેક પ્રાણીઓનું કલ્યાણ કરી મુક્તિસ્થાનમાં પધાર્યા છે, આવું મહાન અને પ્રભાવશાળી વ્યાપક જીવન વીર પરમાત્માનું છે, આ રીતે પોતાના આત્માનો સંપૂર્ણ વિકાસ સાધી ઉન્નતિના શિખરે ચડનાર આત્માઓ જ મહાપુરુષો અને વિશ્વવંદ્ય બને છે

પરમાત્મા મહાવીરે કહ્યું છે કે મારી પાસે મુક્તિ કે મોક્ષ નામની કોઈ ચીજ નથી કે હુ તમને આપી શકું પણ તમો સમ્યગ્ દર્શન-જ્ઞાન અને ચારિત્રના માર્ગ ચાલવા પ્રયત્ન કરશો, જિનપ્રતિમા અને જિનાગમનું આલંબન લેશો, ગુણદૃષ્ટિ રાખી સમભાવની વૃદ્ધિ કરશો, જ્ઞાન અને ક્રિયા ઉભયની સાધના કરશો, સાત નયોને સાપેક્ષ રાખી, ખંડનાત્મક પ્રવૃત્તિથી દૂર રહી અનેકાતવાદ સ્વીકારશો, અહિંસા, તપ, ત્યાગ અને સંયમમાં પુરુષાર્થ કરશો, શ્રદ્ધાબળ, જ્ઞાનબળ, ચારિત્રબળ, અને ધ્યાનબળનો આત્મામા વિકાસ કરતા રહેશો અને ભવાતર માટે પણ શુભસંસ્કારો લેતા જશો તો અવશ્ય આ અનાદ્યનંત સંસારનો તમારે માટે છેડો આવશે તેમ જ આત્માના અનંત ગુણોનો વિકાસ થતા કર્મથી સ્વતંત્ર રીતે પોતે જ પોતાને મુક્ત કરી શકશે પરમાત્મા મહાવીરે કર્મનો સૂક્ષ્મ સિદ્ધાંત કેવલજ્ઞાનથી તપાસી જે રીતે રજૂ કર્યો છે તે સર્વજ્ઞપણાની સાબિતી છે, આત્મા પોતાથી પર-જડભાવ-વિભાવ પરિણતિમાં પડે ત્યાર પછી રાગ, દ્વેષ, ચાર કષાયો વગેરે વડે શરીર, પુત્ર, પરિવાર, હાટ, હવેલી વગેરેમા મમત્વો વધતા જાય એ રીતે વિષયચક્રમાં આત્મા ગૂંચવાઈ કર્મ બાંધી રહ્યો છે, જ્ઞાનચેતનાની જાગૃતિ વગર કર્મચેતના અને કર્મફળચેતના અનુભવી રહ્યો છે, આ કર્માનુ બંધ, ઉદય, ઉદીરણા સત્તા, સક્રમણ વગેરેનું સૂક્ષ્મ સ્વરૂપ જૈન દર્શનસિવાય અન્ય સ્થળે નથી, અહિંસા, સત્ય, અસ્તેય, બ્રહ્મચર્ય અને અપરિગ્રહ, ચાર અનુયોગો, માર્ગાનુસારીપણું, જિનપૂજન, જીવદયા, ગુણસ્થાનો, ગૃહસ્થના બાર વ્રતો, ઓછામાં ઓછી ગૃહસ્થની સવા વસા દયા, સાધુધર્મની વીસ વસા દયા, દાન, શીલ, તપ અને ભાવ, દ્રવ્યગુણપર્યાય, નવતત્ત્વો વગેરે તત્ત્વજ્ઞાન અને ક્રિયામાર્ગનું ઉચ્ચ બંધારણ—વીર પ્રભુએ વ્યાપક દૃષ્ટિએ આપણી સમક્ષ મૂકેલું છે, એ બંધારણ પ્રમાણે જો મનુષ્ય વર્તે તો ઓછામાં ઓછા ભવે પુણ્યાનુબંધી પુણ્ય ઉપાર્જન કરી અંતે નિર્જરા થતા સર્વ કર્માનો ક્ષય કરી મુક્તિપદ પ્રાપ્ત કરી શકે

પરમાત્મા મહાવીરે જે સિદ્ધાતો આપણી સમક્ષ મૂક્યા છે તે ૨+૨=૪ જેવા ચોક્કસ છે એમણે નવા મૂક્યા નથી પૂર્વના તીર્થંકર સર્વજ્ઞોના પણ એ જ સિદ્ધાતો શાશ્વત છે, સત્ય એક જ હોઈ શકે છે

કાલ, સ્વભાવ, ભવિતવ્યતા, ઉદ્યમ અને કર્મરૂપ પાંચ સમવાયોથી જગત્-સંસાર ચાલ્યા કરે છે, તેમા વચ્ચે કોઈ બીજી વ્યક્તિની જરૂર રહેતી નથી, કર્મ અને આત્માના પુરુષાર્થ બાબતમા એમણે કર્મનું સ્વરૂપ આત્માને અધ પતન કરાવનારુ બતાવીને છેવટે પુરુષાર્થ ઉપર મુખ્યતા મૂકી છે, પુરુષાર્થ કર્યા વગર કર્મનો વિનાશ ન થઈ શકે આપણા આત્મામા ભૂતપૂર્વ કર્માના સામ્રાજ્યને લઈને નિર્બળતાઓ ભરી પડી છે જેથી આપણને કાળનો પરિપાક થયો નથી કર્મનું બળ છે, ભવિતવ્યતા બળવાન છે વગેરે વગેરે નિમિત્તોને આગળ કરીને આપણે આશ્વાસન લઈએ છીએ અને આપણી નિર્બળતા છુપાવીએ છીએ પણ પુરુષાર્થને આગળ કરીએ એટલે ક્રમે ક્રમે કાળ અને ભવિતવ્યતા વગેરે સમવાયો તેમા સમાઈ જાય છે અને આત્મા બળવત્તર બનતા સકળ કર્મોનો ક્ષય કરી શકે છે

શ્રી વીર પરમાત્માના આલંબનથી અનેક આત્માઓ એમની હયાતિમા સંસારસમુદ્રથી તર્યા છે, મેઘકુમાર, ચડકૌશિક સર્પ, અર્જુનમાલી, ચંદનબાલા વગેરે વગેરે એમનું શાસન હજી સાડા અઢાર હજાર વર્ષ લગભગ રહેશે અગિયારે ગણધરો ને વેદવાક્યોનો જૈનદર્શનમા સમન્વય કરી પ્રતિબોધ એમણે

કર્મો આ તેમની અપૂર્વ વિશિષ્ટતા છે તેથી જ શ્રીમદ્ આનંદઘનજીએ 'સુદર્શન જિન અંશ અસ્થિર' રૂપે શ્રીનેમનાથજીના સ્તવનમાં કહ્યું છે

પદાર્થવિજ્ઞાન (Science) તો પરમાત્મા મહાવીરના અનંતજ્ઞાનનો એક વિભાગ છે શ્રીભગવતી સૂત્રમાં આત્મવર્ગણાના પુદ્ગલોને કાર્મણ વર્ણ, ગંધ, રસ અને સ્પર્શ છે તે ગૌતમ સ્વામીજીના પ્રશ્નોનો ઉત્તર પ્રભુ મહાવીરે આપ્યો છે આવું સૂક્ષ્મજ્ઞાન સર્વજ્ઞ સિવાય બીજાને હોઈ શકે નહિ. હજારો વર્ષ પહેલા પરમાત્માએ કહ્યું છે કે શબ્દ એ પુદ્ગલરૂપ છે તે હાલમાં રેડીઓ અને ગ્રામોફોન દ્વારા સિદ્ધ થયું છે તેમ જ વનસ્પતિની ચેતના અને પ્રાણનાં પુરાવા પણ હમેશાંથી આપ્યા છે

પરમાત્મા મહાવીરના આપણે જીવનના સારરૂપે આપણે એમનું આલંબન રહીકરી એમની આજ્ઞા પ્રમાણે વર્તવા પ્રયત્નશીલ થઈએ સમર્પિત થઈ એમના જીવનસિદ્ધાંતોને કર્મમાં ઉતારીએ નવા કેન્દ્રોને નિભાવી આપી જૈન સમાજની ઉન્નતિ માટે એક થઈએ, એમના સિદ્ધાંતો પરદેશમાં ફેલાવા મિશનો મોકલીએ, એમના જીવનનો મહાન મંત્ર—અહિંસાદિક વૈજ્ઞાનિક નૈતિક અને આધ્યાત્મિક રીતિ … સંગઠન, માતૃ-પિતૃ-ભક્તિ, … તીર્થસ્થાપના વગેરે આ પ્રવૃત્તિઓથી સફળ આચાર તૈયાર કરીએ, આપણે આપણી પુરુષાર્થ-પરાક્રમ બતાવીએ, અહિંસા, સંયમ, તપ, સામાયિક બ્રહ્મચર્ય, દાનધર્મ વગેરેમાં પ્રગતિ કરતા રહીએ તો તે સાચો માર્ગ પામી આપણે આપણા આત્માની અનંત શક્તિઓનો વિકાસ કરી એમની માફક અનંત પ્રતિમાથી બની શકીએ એ નિર્વિવાદ સત્ય છે

ભગવાન મહાવીરનો આત્મધર્મ ઉદ્ઘોષણા કરે છે કે કર્તવ્યભાને આગળ સમ્યગ્દર્શન ધારણ કરજો, ઉદાસીનતા, ખેદ, ચિંતા અને ભય કે જે મનોબળને નબળું પાડનાર છે અને આત્માના આનંદને દબાવનાર છે તેમને કદાપિ પેસવા દેશો નહિ, નિરંતર આત્મચિંતન કરજો, કડવામાં મીઠાશ રાખજો, દુઃખમાં સુખ માની લેતા શીખજો, દુઃખોને અજુગતી રીતે વધારો નહિ અને ભવિષ્યના રોદણાં રડો નહિ; તમારા આત્માને દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્રથી ઓતપ્રોત કરી નિશ્ચયબળ (will power) થી તેને દૃઢ રાખી ઉત્તરોત્તર પ્રગતિ કરજો.



નિર્ગ્રંથ સિદ્ધાંતની ઉત્તમતા

ડૉ૦ વલ્લભદાસ નેણસીભાઈ

અનત પ્રકારના શારીરિક માનસિક દુ ખોએ આકુલવ્યાકુલ જીવોને તે દુ ખોથી છૂટવાની બહુ પ્રકારે ઇચ્છા છતા તેમાથી તે મુક્ત થઈ શકતા નથી તેનુ શુ કારણ? એવો પ્રશ્ન અનેક જીવોને ઉત્પન્ન થયા કરે પણ તેનુ યથાર્થ સમાધાન કોઈ વિરલ જીવને જ પ્રાપ્ત થાય છે જ્યા સુધી દુ ખનુ મૂળ કારણ યથાર્થપણે જાણવામા ન આવ્યુ હોય ત્યા સુધી તે ટાળવાને માટે ગમે તેવો પ્રયત્ન કરવામા આવે તો પણ દુ ખનો ક્ષય થઈ શકે નહિ અને ગમે તેટલી અરુચિ, અપ્રિયતા અને અભાવ તે દુ ખ પ્રત્યે હોય છતા એને અનુભવ્યા જ કરવુ પડે અવાસ્તવિક ઉપાયથી તે દુ ખ મટાડવાનો પ્રયત્ન કરવામા આવે, અને તે પ્રયત્ન ન સહન થઈ શકે એટલા પરિશ્રમપૂર્વક કર્યા હોય છતા તે દુ ખ ન મટવાથી દુ ખ મટાડવા ઇચ્છતા મુમુક્ષુને અત્યત વ્યામોહ થઈ આવે છે અથવા થયા કરે છે કે આનુ શુ કારણ? આ દુ ખ ટળતુ કેમ નથી? કોઈ પણ પ્રકારે મારે તે દુ ખની પ્રાપ્તિ ઇચ્છિત નહિ છતા, સ્વપ્ને ય પણ તેના પ્રત્યે કઈ પણ વૃત્તિ નહિ છતા, તેની પ્રાપ્તિ થયા કરે છે અને હુ જે જે પ્રયત્નો કરુ છુ તે તે બધા નિષ્ફળ થઈ દુ ખ અનુભવ્યા જ કરુ છુ એનુ શુ કારણ?

શુ એ દુ ખ કોઈને મટતુ જ નહિ હોય? દુ ખી થવુ એ જ જીવનો સ્વભાવ હશે? શુ કોઈ એક જગતકર્તા ઈશ્વર હશે તેણે આમ જ કરવુ યોગ્ય ગણ્યુ હશે? શુ ભવિતવ્યને આધીન એ વાત હશે? અથવા કોઈક મારા કરેલા આગલા અપરાધોનુ ફળ હશે? વગેરે અનેક પ્રકારના વિકલ્પો જે જીવો મનસહિત દેહધારી છે તે કર્યા કરે છે, અને જે જીવો મનરહિત છે તે અવ્યક્તપણે દુ ખનો અનુભવ કરે છે અને અવ્યક્તપણે તે દુ ખ મટે એવી ઇચ્છા રાખ્યા કરે છે

આ જગતને વિષે પ્રાણીમાત્રની વ્યક્ત અથવા અવ્યક્ત ઇચ્છા પણ એ જ છે કે કોઈ પણ પ્રકારે મને દુ ખ ન હો અને સર્વથા સુખ હો પ્રયત્ન પણ એ જ અર્થે છતા તે દુ ખ શા માટે મટતુ નથી એવો પ્રશ્ન ઘણા ઘણા વિચારવાનોને પણ ભૂતકાળે ઉત્પન્ન થયો હતો, વર્તમાનકાળે પણ થાય છે અને ભવિષ્યકાળે પણ થશે તે અનત અનત વિચારવાનોમાથી અનત વિચારવાનો તેના યથાર્થ સમાધાનને પામ્યા અને દુ ખથી મુક્ત થયા વર્તમાનકાળે પણ જે જે વિચારવાનો યથાર્થ સમાધાન પામે છે તે પણ તથારૂપ ફળને પામે છે અને ભવિષ્યકાળે પણ જે જે વિચારવાનો યથાર્થ સમાધાન પામશે, તે તે તથારૂપ ફળને પામશે એમા સશય નથી

શરીરનુ દુ ખ માત્ર ઔષધ કરવાથી મટી જતુ હોત, મનનુ દુ ખ ધનાદિ મળવાથી મટી જતુ હોત અને બાહ્ય સસર્ગ સબધનુ દુ ખ મનને કઈ અસર ઉપજાવી શકતુ નહોત તો દુ ખ મટવા માટે જે જે પ્રયત્ન કરવામા આવે છે તે તે સર્વ સફળ થાત પણ જ્યારે તેમ બનતુ જોવામા ન આવ્યુ ત્યારે જ વિચારવાનોને પ્રશ્ન ઉત્પન્ન થયો કે દુ ખ મટવા માટે બીજો જ ઉપાય હોવો જોઈએ આ જે કરવામા આવે છે તે ઉપાય અયથાર્થ છે અને બધો શ્રમ વૃથા છે, માટે તે દુ ખનુ મૂળ કારણ જો યથાર્થ જાણવામા આવે અને તે જ પ્રમાણે ઉપાય કરવામા આવે તો દુ ખ મટે, નહિ તો નહિ જ મટે

જે વિચારવાનો દુ ખનુ યથાર્થ મૂળ કારણ વિચારવા ઊઠ્યા, તેમા પણ કોઈક જ તેનું યથાર્થ સમાધાન પામ્યા અને ઘણા યથાર્થ સમાધાન નહિ પામતા છતા મતિવ્યામોહાદિ કારણથી યથાર્થ સમાધાન પામ્યા

છીએ એમ માનતા શીખ્યા અને તે પ્રમાણે ઉપદેશ કરતા શીખ્યા. ઘણા લોકો જ્યાં તેને અનુસરવા લાગ્યા [illegible] તેમાં આવે છે તેની ઉત્પત્તિનું કારણ એ જ છે.

ધર્મથી દુઃખ મટે એમ માનનારા વિચારકોની માન્યતા થઈ. પણ ધર્મનું સ્વરૂપ સમજવામાં અજ્ઞાનતા [illegible] ઘણા તફાવત પડ્યો. ઘણા તો પોતાના મૂળ સિદ્ધાંતથી ખસી ગયા અને ઘણા તો તે વિષયમાં અતિ ભારથી અનેક પ્રકારે નાસ્તિકાદિ પરિણામોને પામ્યા.

સર્વ દુઃખના આત્યંતિક અભાવ અને પરમ અવ્યાબાધ સુખની પ્રાપ્તિ એ જ મોક્ષ છે અને તે [illegible] સહિત છે. વીતરાગ સ્વભાવ તેનો સ્વરૂપ છે. તે સન્માર્ગનો આ પ્રમાણે સંક્ષેપ છે.

સમ્યગ્દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન અને સમ્યક્ચારિત્રની એકતા તે મોક્ષમાર્ગ છે. સર્વજ્ઞ [illegible] આત્માદિ તત્ત્વોની સમ્યક્ પ્રતીતિ થવી તે સમ્યગ્દર્શન છે. તત્ત્વનો બોધ થવો તે સમ્યગ્જ્ઞાન છે. ઉપાદેય તત્ત્વનો અભ્યાસ થવો તે સમ્યક્ચારિત્ર છે. શુદ્ધ આત્મપદ સ્વરૂપ એવાં વીતરાગપદમાં સ્થિતિ થવી તે એ ત્રણેની એકતા છે. સર્વજ્ઞદેવ, નિર્ગ્રંથગુરુ અને સર્વજ્ઞોપદિષ્ટ ધર્મની પ્રતીતિથી તત્ત્વપ્રતીતિ પ્રાપ્ત થાય છે.

સર્વ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, સર્વ મોહ અને સર્વ વીર્યાદિ અંતરાયના ક્ષય થવાથી આત્માને સહજ વીતરાગ સ્વભાવ પ્રગટે છે. નિર્ગ્રંથના અભ્યાસનો ઉત્તરોત્તર ક્રમ તેનો માર્ગ છે. તેનું રહસ્ય સર્વજ્ઞોપદિષ્ટ ધર્મ છે.

• • •

સમ્યગ્દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન અને સમ્યક્ચારિત્રમાં સમ્યગ્દર્શનની મુખ્યતા ઘણે સ્થળે તે વીતરાગોએ કહી છે. જો કે સમ્યગ્જ્ઞાનથી સમ્યગ્દર્શનનું પણ ઓળખાણ થાય છે તો પણ સમ્યગ્દર્શનની પ્રાપ્તિ વગરનું જ્ઞાન સંસાર એટલે દુઃખના હેતુરૂપે હોવાથી સમ્યગ્દર્શનનું મુખ્યપણું ગ્રહણ કર્યું છે.

જેમ જેમ સમ્યગ્દર્શન શુદ્ધ થતું જાય છે તેમ તેમ સમ્યક્ચારિત્ર પ્રત્યે વીર્ય ઉલ્લસતું જાય છે અને ક્રમે કરીને સમ્યક્ચારિત્રની પ્રાપ્તિ થવાનો વખત આવે છે, જેથી આત્મામાં સ્થિર સ્વભાવ સિદ્ધ થતો જાય છે. અને ક્રમે કરીને પૂર્ણ સ્થિર સ્વભાવ પ્રગટે છે, અને આત્મા નિજ અવસ્થામાં લીન થઈ સર્વ કર્મોથી રહિત થવાથી એક શુદ્ધ આત્મસ્વભાવરૂપ મોક્ષમાં પરમ અવ્યાબાધ સુખના અનુભવ સમુદ્રમાં સ્થિર થાય છે.

સમ્યગ્જ્ઞાનની પ્રાપ્તિથી જેમ જ્ઞાન સમ્યક્ સ્વભાવને પામે છે એ સમ્યગ્જ્ઞાનનો પરમ ઉપકાર છે. તેમ સમ્યગ્દર્શન ક્રમે કરી શુદ્ધ થતું થતું પૂર્ણ સ્થિર સ્વભાવ સમ્યક્ચારિત્રને પ્રાપ્ત થાય તેને અર્થે સમ્યગ્જ્ઞાનના બળથી તેને ખરેખરી આવશ્યકતા છે. તે સમ્યગ્જ્ઞાનપ્રાપ્તિનો ઉપાય વીતરાગશ્રુત અને તે શ્રુતતત્ત્વોપદેષ્ટા મહાત્મા છે.

---

૧ [illegible] સમ્યક્ [illegible] (ઉપદેશ [illegible])

[illegible] (શ્રીમદ્ [illegible])

વીતરાગશ્રુતના પરમ રહસ્યને પ્રાપ્ત થયેલા અસંગ અને પરમકારુણ્યશીલ મહાત્માનો યોગ પ્રાપ્ત થવો અતિ દુર્લભ છે. મહત્ પુણ્યયોગના યોગથી જ તે યોગ પ્રાપ્ત થાય છે એમાં સંશય નથી. કહ્યું છે કે 'તહારૂવાણં સમણાણં—'

તે બધાનું મહાત્માઓના પ્રવર્તન તે પરમપુરુષ આ પ્રમાણે કહ્યા છે.

અત્યંત દશાના ચિહ્ન તે મહાત્માઓના પ્રવર્તનથી નિર્ણિત કરી શકાય, જો કે પ્રવૃત્તિમાં ઘણા અજ્ઞાન જીવોના વિરોધ પ્રાયે રહ્યા છે. કોઈ એક શુદ્ધ મતિમાન આત્માને તેવી આપાતરમ્યાની પરીક્ષા આવે છે.

○ ○ ○

યદ્યપિ તેવા મહાત્મા પુરુષનો કવચિત્ યોગ બને છે, તો પણ શુદ્ધ મતિમાન મુમુક્ષુ હોય તો તે અપૂર્વ ગુણને તેવા મહાત્માના સમાગમના પ્રાપ્ત કરી શકે છે. જેવા મહાત્મા પુરુષના વચન પ્રતાપથી મહત્તમ આ મહાત્મા પોતાનું રાજ્યપાટ છોડી લોકન વનમાં તપશ્ચર્યા કરવાને ચાલી નીકળતા હતા, તેવા મહાત્મા પુરુષના યોગથી અપૂર્વ ગુણ કેમ પ્રાપ્ત ન થાય?

આ દુષમકાળમાં પણ કવચિત્ તેવા મહાત્માનો યોગ બની આવે છે, કેમકે તેવા અપ્રતિબંધ વિહારી હોય છે. ત્યારે તેવા પુરુષના નિરંતર સહવાસ રહી શકે તેમ ન બની શકે, તો જેથી મુમુક્ષુ જીવ સર્વ દુઃખ નાશ કરવાના અનન્ય કારણોને પામવાનું ઉપકારી થાય? તેનો માર્ગ આ પ્રમાણે ભગવાન જિને પ્રકાશ્યો છે.

નિત્ય તેવા સમાગમમાં આજ્ઞાધીનપણે વર્તવું જોઈએ, અને તે માટે બાહ્યાભ્યંતર પરિગ્રહાદિ ત્યાગ જ યોગ્ય છે.

જેઓ સર્વથા તેવો ત્યાગ કરવાને સમર્થ નથી, તેમણે આ પ્રમાણે સમાગમપૂર્વક કરવું યોગ્ય છે તેનું સ્વરૂપ આ પ્રમાણે ઉપદેશ્યું છે.

તે મહાત્માપુરુષના ગુણાતિશયપણાથી, સમ્યક્ચારિત્રથી, પરમજ્ઞાનથી, પરમશાંતિથી, પરમનિવૃત્તિથી મુમુક્ષુ જીવની અશુભ વૃત્તિઓ પરાવર્તન થઈ શુભસ્વભાવને પામી સ્વરૂપ પ્રત્યે વળતી જાય છે.

તે પુરુષના વચનો આગમસ્વરૂપ છે, તો પણ વારંવાર પોતાથી વચનયોગની પ્રવૃત્તિ ન થાય તેથી, તથા નિરંતર સમાગમનો યોગ ન બને તેથી, તથા તે વચનોનું સ્મરણ તાદૃશ સ્મરણમાં ન રહે તેથી, તેમ જ કેટલાક ભાવોનું સ્વરૂપ જાણવામાં પરિવર્તનની જરૂર હોય છે તેથી, અને અનુપ્રેક્ષાનું બળ વૃદ્ધિ પામવાને અર્થ વીતરાગશ્રુત વીતરાગનાઆજ્ઞા એક બળવાન ઉપકારી સાધન છે, જો કે તેવા મહાત્મા પુરુષ દ્વારા જ પ્રથમ તેનું રહસ્ય જાણવું જોઈએ, પછી વિશુદ્ધ દૃષ્ટિ થયે મહાત્માના સમાગમના અંતરાયમાં પણ તે શ્રુત બળવાન ઉપકાર કરે છે, અથવા જ્યાં કેવળ તેવા મહાત્માઓનો યોગ બની જ શકતો નથી ત્યાં પણ વિશુદ્ધ દૃષ્ટિવાનને વીતરાગશ્રુત પરમોપકારી છે અને તે જ અર્થ થઈને મહત્પુરુષોએ એક શ્લોકથી માંડી દ્વાદશાંગપર્યંત રચના કરી છે.

○ ○ ○

કાળના દોષથી અપાર શ્રુતસાગરનો ઘણો ભાગ વિસર્જન થતો ગયો અને બિંદુમાત્ર અથવા અલ્પમાત્ર વર્તમાનમાં વિદ્યમાન છે.

ઘણા સ્થળો વિસર્જન થવાથી, ઘણા સ્થળોમાં સ્થૂળનિરૂપણ રહ્યું હોવાથી નિર્ગ્રંથભગવાનના તે શ્રુતનો પૂર્ણ લાભ વર્તમાન મનુષ્યોને આ ક્ષેત્રે પ્રાપ્ત થતો નથી.

ઊભી એમ માનવા લાગ્યા અને તે પ્રમાણે ઉપદેશ કરવા લાગ્યા. ઘણા લોકો તરત તેને અનુસરવા પણ લાગ્યા. વર્તમાનમાં જુદા જુદા ધર્મમત જોવામાં આવે છે તેની ઉત્પત્તિનું કારણ એ જ છે.

ધર્મથી દુઃખ નાશ એમ ઘણાખરા વિચારવાનોની માન્યતા થઈ, પણ ધર્મનું સ્વરૂપ[1] સમજવામાં એકબીજામાં ઘણો તફાવત પડ્યો. ઘણા તો પોતાનો મૂળ વિષય ભૂલી ગયા અને ઘણા તો તે વિષયમાં મતિ ચાલવાથી અનેક પ્રકારે નાસ્તિકાદિ પરિણામોને પામ્યા.

સર્વ દુઃખનો આત્યંતિક અભાવ અને પરમ અવ્યાબાધ સુખની પ્રાપ્તિ એ જ મોક્ષ છે અને તે જ પરમહિત છે. વીતરાગ સન્માર્ગ તેનો સદુપાય છે. તે સન્માર્ગનો આ પ્રમાણે સંક્ષેપ છે.

સમ્યગ્દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન અને સમ્યક્ચારિત્રની એકતા તે મોક્ષમાર્ગ છે. સર્વજ્ઞના જ્ઞાનમાં ભાસમાન તત્ત્વોની સમ્યક્ પ્રતીતિ થવી તે સમ્યગ્દર્શન છે. તત્ત્વનો બોધ થવો તે સમ્યગ્જ્ઞાન છે. ઉપાદેય તત્ત્વનો અભ્યાસ થવો તે સમ્યક્ચારિત્ર છે. શુદ્ધ આત્મપદ સ્વરૂપ એવાં વીતરાગપદમાં સ્થિતિ થવી તે એ ત્રણેની એકતા છે. સર્વજ્ઞદેવ, નિર્ગ્રંથગુરુ અને સર્વજ્ઞોપદિષ્ટ ધર્મની પ્રતીતિથી તત્ત્વપ્રતીતિ પ્રાપ્ત થાય છે.

સર્વ જ્ઞાનાવરણ, સર્વ દર્શનાવરણ, સર્વ મોહ અને સર્વ વીર્યાદિ અંતરાયના ક્ષય થવાથી આત્માને સર્વજ્ઞ વીતરાગ સ્વભાવ પ્રગટે છે. નિર્ગ્રંથપદના અભ્યાસનો ઉત્તરોત્તર ક્રમ તેનો માર્ગ છે. તેનું રહસ્ય સર્વજ્ઞોપદિષ્ટ ધર્મ છે.

* * *

સમ્યગ્દર્શન, સમ્યગ્જ્ઞાન અને સમ્યક્ચારિત્રમાં સમ્યગ્દર્શનની મુખ્યતા ઘણે સ્થળે તે વીતરાગોએ કહી છે. જો કે સમ્યગ્જ્ઞાનથી જ સમ્યગ્દર્શનનું પણ ઓળખાણ થાય છે, તો પણ સમ્યગ્દર્શનની પ્રાપ્તિ વગરનું જ્ઞાન બંધ એટલે દુઃખના હેતુરૂપે હોવાથી સમ્યગ્દર્શનનું મુખ્યપણું ગ્રહણ કર્યું છે.

જેમ જેમ સમ્યગ્દર્શન શુદ્ધ થતું જાય છે, તેમ તેમ સમ્યક્ચારિત્ર પ્રત્યે વીર્ય ઉલ્લસતું જાય છે અને ક્રમે કરીને સમ્યક્ચારિત્રની પ્રાપ્તિ થવાનો વખત આવે છે, જેથી આત્મામાં સ્થિર સ્વભાવ સિદ્ધ થતો જાય છે, અને ક્રમે કરીને પૂર્ણ સ્થિર સ્વભાવ પ્રગટે છે, અને આત્મા નિજપદમાં લીન થઈ સર્વ કર્મકલંકથી રહિત થવાથી એક શુદ્ધ આત્મસ્વભાવરૂપ મોક્ષમાં પરમ અવ્યાબાધ સુખના અનુભવસમુદ્રમાં સ્થિત થાય છે.

સમ્યગ્દર્શનની પ્રાપ્તિથી જેમ જ્ઞાન સમ્યક્સ્વભાવને પામે છે એ સમ્યગ્દર્શનનો પરમ ઉપકાર છે, તેમ સમ્યગ્દર્શન ક્રમે કરી શુદ્ધ થતું જઈ પૂર્ણ સ્થિર સ્વભાવરૂપ સમ્યક્ચારિત્રને પ્રાપ્ત થાય તેને અર્થે સમ્યગ્જ્ઞાનના બળથી તેને ખરેખરી આવશ્યકતા છે. તે સમ્યગ્જ્ઞાનપ્રાપ્તિનો ઉપાય વીતરાગશ્રુત અને તે શ્રુતતત્ત્વોપદેષ્ટા મહાત્મા છે.

---

૧ [illegible] ધર્મ [illegible] ધર્મ, [illegible] જ્ઞાન, દર્શન અને [illegible] સમ્યગ્જ્ઞાન, સમ્યગ્દર્શન, સમ્યક્ચારિત્ર [illegible] ધર્મ [illegible] (શ્રીમદ્ [illegible])

ધર્મ [illegible] (શ્રીમદ્ [illegible])

જૈન જાતકોના ચિત્રપ્રસંગોવાળી કલ્પસૂત્રની સુવર્ણાક્ષરી પ્રત

શ્રી સારાભાઈ મણિલાલ નવાબ

કલ્પસૂત્રની હસ્તપ્રતોમા સગ્રહાયેલી કળાલક્ષ્મીનુ દિગ્દર્શન કરાવવા જૈનચિત્રકલ્પદ્રુમ, જૈનચિત્રકલ્પલતા, ચિત્રકલ્પસૂત્ર, પવિત્ર કલ્પસૂત્ર, અષ્ટાન્હિકા–કલ્પસુબોધિકા વગેરે મારા પ્રકાશનો દ્વારા યથાશક્તિ પ્રયત્ન મેં કરેલો છે

જૈન મત્રીઓ તથા જૈન શ્રીમાનોએ જેવી રીતે શિલ્પસ્થાપત્ય કલાને ઉત્તેજન આપેલુ છે, તેવી જ રીતે જૈન ધર્મના ધાર્મિક ગ્રથોમા ચિત્રો ચીતરાવીને ચિત્રકલાને પણ ઉત્તેજન આપેલું છે આ વાત કલારસિકોના ધ્યાન બહાર તો નથી જ

અત્યારસુધી કલ્પસૂત્રની સેંકડો સચિત્ર હસ્તપ્રતોનુ મેં નિરીક્ષણ કર્યુ છે, તેમા અમદાવાદના જૈન ગ્રથભડારો પૈકીની બે સુવર્ણાક્ષરી કલ્પસૂત્રની હસ્તપ્રતો વિશિષ્ટ પ્રકારની છે

૧ અમદાવાદના દેવસાના પાડામા આવેલા શ્રીદયાવિમલજી શાસ્ત્રસગ્રહની હસ્તપ્રત કે જેમા સગીતશાસ્ત્રના ગ્રામ, સ્વર, મૂર્છના અને તાલ વગેરે તથા આકાશચારી, પાદચારી, ભોમચારી, દેવચારી તથા નૃત્યના હસ્તલક્ષણો વગેરેને લગતા નાટ્યશાસ્ત્રના લગભગ ત્રણસો ચિત્રપ્રસગો આપવામા આવેલા છે[1] આ પ્રમાણે સગીત અને નાટ્યશાસ્ત્રના ચિત્રપ્રસગો ઉપરાત આ પ્રતની કિનારોમા જુદી જુદી જાતની વેલબુટ્ટીઓ, અભિનયભર્યા પ્રાણીઓ, સિંહ, હાથી, બળદ, મોર વગેરે પશુ-પક્ષીઓના વિવિધ ચિત્રો તથા કલ્પસૂત્રને લગતા વિવિધ ચિત્ર–પ્રસગો બીજી કોઈ પણ હસ્તપ્રતમા જોવામા આવેલ નથી વળી આ પ્રતમા પશ્ચિમ ભારતની ચિત્રકલા સાથે સાથે ઈરાની ચિત્રકલા પણ જોવા મળે છે, જે તેની ખાસ લાક્ષણિકતા છે

૨ અમદાવાદની સામળાની પોળમા આવેલા શ્રીપાર્શ્વચન્દ્રગચ્છના ઉપાશ્રયમા આવેલા શ્રી ભ્રાતૃચન્દ્રસૂરિશ્વરજી જ્ઞાનભડારમા આવેલી સવત ૧૫૧૬મા પાટણ શહેરમા લખાયેલી સુવર્ણાક્ષરી હસ્તપ્રતમા જૈનોના ચોવીસ તીર્થંકરો પૈકી ૧ શ્રીઋષભદેવ, ૨૨ શ્રીનેમિનાથજી, ૨૩ શ્રીપાર્શ્વનાથજી તથા ૨૪ શ્રીમહાવીર સ્વામીજીના પૂર્વભવો તથા આ ચારે તીર્થંકરોના મુખ્ય જીવનપ્રસગો, પ્રતના પાનાઓની ઉપરનીચેની કિનારોમા તથા બને બાજુના હાસિયાઓમા ચીતરેલા છે

આ લેખમા પ્રસ્તુત સામળાની પોળના ઉપાશ્રયની પ્રતનો પરિચય આપવાનુ મેં યોગ્ય ધાર્યુ છે

કલ્પસૂત્રની આ સુવર્ણાક્ષરી પ્રત ઉપરોક્ત ભડારની પોથી ન ૨૮મા આવેલી છે આ પ્રતમા કુલ પાના ૧૧૮ કલ્પસૂત્રના છે અને ૧૦ પાના કાલકકથાના છે કલ્પસૂત્રમા ચિત્રસખ્યા ૪૪ છે અને કાલકકથામા ચિત્ર ૧ છે પ્રતના અતે આ પ્રમાણે પુષ્પિકાઓ છે

કલ્પસૂત્રના અતે सवत् १५१६ वर्षे श्रावण सुदि पचमी सोमे म० वाछाकेन शुभमूयात् ।

કાલકકથાના અતે संवत् १५१६ वर्षे श्रावण सुदि पचमी सोमे श्रीपत्तने श्रीधर्मघोषगच्छे श्रीपद्माणंदसूरि वि० मसीबाई पूनाई कल्पपुस्तिका लिखापित ॥ छ ॥

---

૧ આ બધા ચિત્રપ્રસગો તેના વિસ્તૃત પરિચય સાથે મારા તરફથી હવે પછી પ્રસિદ્ધ કરવામા આવનાર છે

ઘણા મતમતાંતર તેિ ઉત્પન્ન થવાનો હેતુ પણ એ / છે અને તેથી જ નિર્મળ આત્મતત્ત્વ અભ્યાસી મહાત્માઓની અલ્પતા થઈ.

મુનિ ભગવંત રહ્યા ત્યાં, મતાંતર ઘણા ત્યાં, સમાધાનના કેટલાક સાધનો પરોક્ષ થયાં, મહાન પુરુષોનું અભિવત્વ થયું, હે આર્યજનો ! સમ્યગ્દર્શન, શ્રુતનું રહસ્ય એવો પરમપદનો પંથ, આત્માનુભવના હેતુ સમ્યક્ચારિત્ર અને વિશુદ્ધ આત્મધ્યાન આજે પણ વિદ્યમાન છે એ પરમ હર્ષનું કારણ છે.

વર્તમાનકાળનું નામ દુષમકાળ છે. તેથી દુઃખે કરીને—ઘણા અંતરાયથી, પ્રતિકૂળતાથી, સાધનનું દુર્લભપણું હોવાથી મોક્ષમાર્ગની પ્રાપ્તિ થાય છે. પણ વર્તમાનમાં મોક્ષમાર્ગનો વિચ્છેદ છે એમ ચિંતવવું જોઈતું નથી.

• • •

જે અન્ય સ્થળો રહ્યાં તેને એકાંતવાદને નામે મતાંતર આચાર્યો કહે છે. ભિન્નતરો તેમાં મહાન નહિ થતા એમ કહે છે ?

વિચારતાં કે મતામતની દૃષ્ટિએ તેમાં અને કેટલા ભિન્ન ભિન્ન પ્રકારની [illegible] જોવામાં આવે છે. [illegible] દૃષ્ટિએ જોતાં તેના જુદા જ કારણો જોવામાં આવે છે.

સિવાયના ઘણા સ્થળો તો આત્મોત્પન્ન જેવા છે. પ્રયોજન જેવા છે તે પણ પરોક્ષ છે.

• • •

દિગંબર અને શ્વેતાંબર એવા બે ભેદ જિનદર્શનમાં મુખ્ય છે. મતદૃષ્ટિથી તેમાં મોટું અંતર જોવામાં આવે છે. તત્ત્વદૃષ્ટિથી તેવો વિશેષ ભેદ જિનદર્શનમાં મુખ્યપણે પરોક્ષ છે. જે પ્રત્યક્ષ કાર્યભૂત થઈ શકે તેમ છે તેમાં તેવો ભેદ નથી. માટે બન્ને સંપ્રદાયમાં ઉત્પન્ન થતા ગુણવાન પુરુષો સમ્યગ્દૃષ્ટિથી જુએ છે અને જેમ તત્ત્વપ્રતીતિનો અંતરાય ઓછો થાય તેમ પ્રવર્તે છે.

• • •

શ્રીમાન વર્ધમાનજિન વર્તમાનકાળના ચરમ તીર્થંકરદેવની શિક્ષાથી હાલ મોક્ષમાર્ગનું અસ્તિત્વ વર્તે છે. તેમના આ ઉપકારને સુવિહિત પુરુષો વારંવાર આશ્ચર્યમય દેખે છે.

• • •

જે ધર્મ સંસાર પરિક્ષીણ કરવામાં સર્વથી ઉત્તમ હોય અને નિજસ્વભાવમાં સ્થિતિ કરાવવાને બળવાન હોય તે જ ઉત્તમ અને તે જ બળવાન છે. (શ્રીમદ્ [illegible])

સાંપ્રતિક આલોકમાં શ્રીમદ્નું સાચું [illegible] ન આપણે ન સમજી શક્યા પણ આપણા આત્માથી અને આત્મશ્રી પુરુષને ઓળખવામાં [illegible] જૈનદર્શનની ગુણગ્રાહકદૃષ્ટિ [illegible] છે [illegible] આવી દૃષ્ટિ આપણે સૌ પણ [illegible] પણ જે આવી દૃષ્ટિ કેળવશે અને શ્રીમદ્ની આત્મસાધના સમજવા પ્રયત્ન કરશે એ જરૂર ધર્મલાભ મેળવશે.



મધ્ય હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં માહેશ્વરી, મધ્ય ભાગમાં તથા નીચેના ભાગમાં ચાર હાથવાળો એક-એક દેવ ચીતરેલો છે

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં અગ્નિદેવી છે, મધ્ય ભાગમાં મોર છે અને નીચેના ભાગમાં નૈગમેષિન ચીતરેલા છે

પાનાની મધ્યમાં પ્રભુ શ્રીમહાવીરના સ્વપ્ન કથાનકનું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે

૪ પ્રતના પાના ૩નો પ્રથમ ભાગ ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુના પિતા શ્રીઋષભદત્ત બ્રાહ્મણનું ઘર ચીતરેલું છે મધ્ય ભાગમાં ઋષભદત્ત બ્રાહ્મણ તથા દેવાનંદા બ્રાહ્મણી (પ્રભુ મહાવીરના પિતા તથા માતા) બેઠેલા છે નીચેના ભાગમાં વહેતી નદીની પાસેથી હાથમાં લાકડી પકડીને પસાર થતા એક પુરુષ ચીતરેલો છે

મધ્ય હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં સિંહ અને સૂર્ય ચીતરેલા છે નીચેના ભાગમાં હાથમાં દર્પણ પકડીને ત્રિશલા માતા બેઠેલા છે તેમની આગળ એક પરિચારિકા ઊભેલી છે

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં સિદ્ધાર્થ ક્ષત્રિય અને સ્થાપનાચાર્ય છે બીજા ભાગમાં સ્થાપનાચાર્ય અને [illegible] છે ત્રીજા ભાગમાં સિદ્ધાર્થ અને ત્રિશલા છે ચોથા ભાગમાં ઋષભદત્ત અને દેવાનંદા બેઠેલા છે

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે એક મોર, દૂધ ભરેલા બે મટકાઓ (?), ખભે પીળું કપડું લઈને જતા એક બ્રાહ્મણ, બે ચામર વીંઝતા પુરુષો, નૃત્ય કરતી તરુણ સ્ત્રીઓ તથા જુદા જુદા વાદ્યો વગાડતી બીજી તરુણ સ્ત્રીઓ ચીતરેલી છે

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે બે ઘોડા, એક હાથી, હાથમાં પૂજનની સામગ્રી લઈને બેઠેલા ચાર પુરુષો, હાથમાં ઢાલ તથા તલવાર પકડીને ચાલતા બે સૈનિકો અને છેવટે એક હંસપક્ષી ચીતરેલ છે

પાનાની મધ્યમાં પ્રભુ શ્રીમહાવીરના સ્વપ્ન કથાનકનું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે

૫ પ્રતનું પાનું ૩ પાનાના આંકવાળી બાજુ ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં ચામર પકડીને ઊભેલી સ્ત્રી છે નીચેના ભાગમાં હાથમાં વીણા પકડીને ઊભેલી એક સ્ત્રી છે

મધ્ય હાંસિયામાં સુંદર ફૂલોનો એક છોડ ચીતરેલો છે

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પણ ચામર પકડીને ઊભેલી એક સ્ત્રી છે નીચેના ભાગમાં એક હાથમાં વીણા તથા બીજા હાથમાં ફૂલ પકડીને ઊભેલી સ્ત્રી છે

પાનાની મધ્યમાં દેવાનંદા ચૌદ સ્વપ્ન જુએ છે, તેનું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે

૬ પ્રતના પાના ૪૪નો પ્રથમ ભાગ ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના પ્રથમ ભવ નયસારનો પ્રસંગ તથા ઉપરની કિનારમાં તેઓશ્રીના બીજાથી સાતમા ભવ સુધીના ચિત્ર-પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે

મધ્ય હાંસિયામાં ભૂમિતિની સુંદર ચિત્રાકૃતિઓ ચીતરેલી છે

જમણી બાજુના હાંસિયામાં પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના આઠમા ભવથી અગિયારમા ભવ સુધીના પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે

નીચેની કિનારમાં જમણી બાજુથી ડાબી બાજુ તરફ અનુક્રમે પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના બારમા ભવથી સત્તરમા ભવ સુધીના પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે

આ પ્રતમાં નીચે પ્રમાણેનાં ૪૪ ચિત્રો છે

૧ મહાવીરપ્રભુનું ચ્યવન, ૨ ગૌતમસ્વામીજી ૩ દેવાનંદાનાં ચૌદ સ્વપ્ન, ૪ ઇન્દ્રસભા, ૫ શક્રસ્તવ, ૬ હરિણૈગમેષી, ૭ ગર્ભાપહાર ૮ ગર્ભસંક્રમણ, ૯ ત્રિશલાનાં ચૌદ સ્વપ્ન, ૧૦ ગજ(?) ૧૧ સિદ્ધાર્થનું સ્નાન, ૧૨ સિદ્ધાર્થ અને ત્રિશલા, ૧૩ સ્વપ્નપાઠકો ૧૪ ગર્ભ નહિ ફરકવાથી ત્રિશલાનો શોક ૧૫ ગર્ભ ફરકવાથી ત્રિશલાનો આનંદ, ૧૬ પ્રભુ શ્રીમહાવીરનો જન્મ, ૧૭ જન્માભિષેક, ૧૮ આમલકી ક્રીડા(?), ૧૯ નિશાળગમણું, ૨૦ સાંવત્સરીદાન, ૨૧ શિબિકા પાલખી, ૨૨ પંચમુષ્ટિલોચ, ૨૩ પ્રભુ મહાવીરનું સમવસરણ, ૨૪ મહાવીર નિર્વાણ, ૨૫ પાર્શ્વચ્યવન, ૨૬ પાર્શ્વપ્રભુના પૂર્વભવો–ચિતારમાં, ૨૭ પાર્શ્વ જન્મ, ૨૮ પાર્શ્વપ્રભુનું સાંવત્સરીદાન તથા પાર્શ્વપ્રભુનો લોચ, ૨૯ પાર્શ્વપ્રભુને ઉપસર્ગ, ૩૦ પાર્શ્વપ્રભુનું સમવસરણ અને નિર્વાણ, ૩૧ શ્રીનેમિનાથનો જન્મ, ૩૨ શ્રીનેમિનાથનું સાંવત્સરીદાન અને પંચમુષ્ટિલોચ, ૩૩ શ્રીનેમિનાથની જાન, ૩૪ શ્રીનેમિનાથનું સમવસરણ અને નિર્વાણ, ૩૫ ૨૦ તીર્થંકરો, ૩૬ ૧૦ તીર્થંકરો ૩૭ શ્રીઋષભદેવનું ચ્યવન, ૩૮ શ્રીઋષભદેવનો જન્મ, ૩૯ શ્રીઋષભદેવનું સાંવત્સરીદાન તથા પંચમુષ્ટિલોચ, ૪૦ શ્રીઋષભદેવનું સમવસરણ અને નિર્વાણ, ૪૧ અગિયાર ગણધરો, ૪૨ આર્યસ્થૂલિભદ્ર અને કોશા, ૪૩ ચતુર્વિધ સંઘ અને ૪૪ ચતુર્વિધ સંઘ.

ઉપરોક્ત ૪૪ ચિત્રો ઉપરાંત આ પ્રતની કિનારો તથા હાંસિયાઓમાં નીચે પ્રમાણેનાં ચાર તીર્થંકરોના પૂર્વભવોના તથા તીર્થંકરોના જીવનના પ્રસંગો ચીતરાયેલાં છે

૧ પ્રતનું પાનું ૧ પાનાની ડાબી બાજુના હાંસિયામાં ઉપરના ભાગમાં વાજિંત્ર વગાડતી એક કિન્નરી ચીતરેલી છે મધ્ય ભાગમાં એક હાથીસવાર હાથમાં કળશ લઈને પ્રભુમહાવીરની ભક્તિ કરવા જતો દેખાય છે નીચેના ભાગમાં એક દેવી પ્રભુભક્તિની ઉત્સુકતા દર્શાવતું નૃત્ય કરે છે

મધ્ય હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં ચીતરેલો રાજા પ્રભુની સ્તુતિ કરે છે નીચેના ભાગમાં પોતાના હાથમાં કમળ રાખીને ઊભા રહેલા એક સ્ત્રી (શ્રાવિકા) પ્રભુની ભક્તિ કરતી ચીતરેલી છે.

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં વાજિંત્ર વગાડતો એક કિન્નર ચીતરેલો છે મધ્ય ભાગમાં એક હાથીસવાર પ્રભુની ભક્તિ કરવા જતો દેખાય છે નીચેના ભાગમાં પ્રભુની ભક્તિ કરતી દેવી ચીતરેલી છે

૨ પ્રતનું પાનું ૨ પ્રથમ બાજુ ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં એક પુરુષ બેઠેલો છે મધ્ય ભાગમાં એક સ્ત્રી બેઠેલી છે નીચેના ભાગમાં બન્ને હાથે ફૂલની માળા પકડીને ઊભેલી એક સ્ત્રી છે

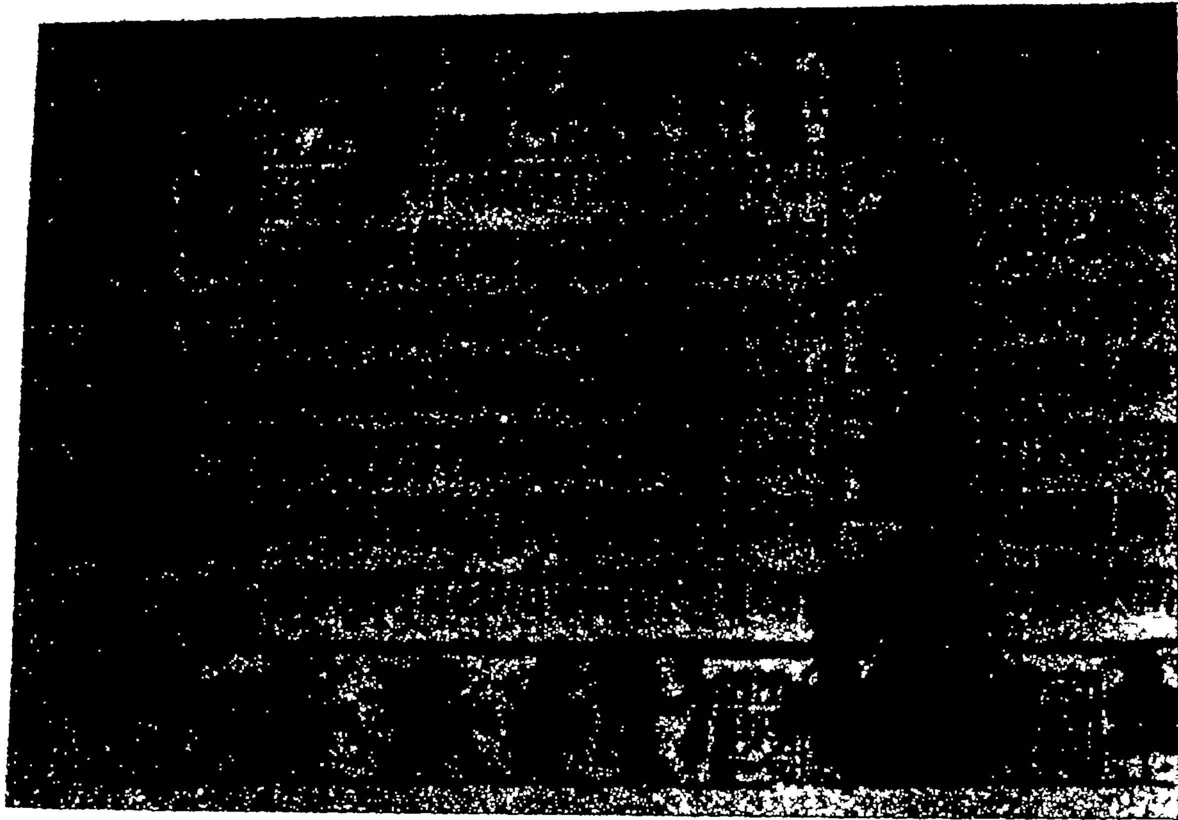
મધ્ય ભાગના હાંસિયામાં સુંદર ભૌમિતિક ચિત્રાકૃતિઓ રજૂ કરેલી છે

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં એક સ્ત્રી પોતાના જમણા હાથમાં પોતાના માથાના વાળની લટ પકડીને ઊભેલી છે તેના વાળમાંથી ટપકતું પાણી નીચે ઊભેલા હંસના મુખમાં પડે છે મધ્ય ભાગમાં બે હંસલો ચીતરેલા છે નીચેના ભાગમાં એક માણસ ઘોડાને દોરીને ચાલતો દેખાય છે

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે ત્રણ સ્ત્રીઓ નૃત્ય કરતી અને ત્રણ પુરુષો જુદાં જુદાં વાજાં વગાડતા દેખાય છે તથા બે પુરુષો બેઠેલા છે

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે બે ઘોડા, બે હાથી અને બે પુરુષો ચીતરેલા છે પાનાની મધ્યમાં પ્રભુ મહાવીરના પાંચે કલ્યાણકો ઉપાધ્યાયજીની નાટકમાં પ્રભુનું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે

૩ પ્રતનું પાનું ૨ પાનાના આગળની બાજુ ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પરમેષ્ઠિ(?), મધ્ય ભાગમાં પદ્માવતી અને નીચેના ભાગમાં દેવી સરસ્વતી ચીતરેલા છે



चित्र १. श्री नेमिनाथजीनो जन्म अने तेओश्रीना जीवननी मुख्य मुख्य घटनाओना चित्रप्रसगो

જમણી બાજુના હાંસિયાની મધ્ય ભાગમાં તથા નીચેના ભાગમાં પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના નયસારના તથા મરીચિકુમારના ભવની રજૂઆત કરેલી છે

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના વીસ, ચોવીસ અને પચીસમા ભવની રજૂઆત કરેલી છે

છવ્વીસમા ભવની રજૂઆત ઉપરની કિનારમાં ૮ ચાર ગ્રહોની સાથે એક માણસ ચીતરીને કરેલી છે

પાનાની મધ્યમાં પ્રભુ શ્રી મહાવીરસ્વામીના જન્મ સમયે જગતમાં કેવું વાતાવરણ થઈ રહ્યું તેનું વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે

૭ પ્રતના પાના ૪૪નો આકૃતિઓ ભાગ : જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુ મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના ચોવીસમા ભવની, મધ્ય ભાગમાં પચીસમા ભવ અને નીચેના ભાગમાં છવ્વીસમા ભવની રજૂઆત કરેલી છે

મધ્ય હાંસિયામાં મુનિની સુંદર આકૃતિ ચીતરેલી છે

ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુ મહાવીરને સાધુ અવસ્થામાં અને કાનમાં ખીલા ઠોકીને ગોવાળિયાએ કરેલા ઉપસર્ગનો પ્રસંગ અને નીચેના ભાગમાં પ્રભુ મહાવીરના પગની પાસે ખીર રાંધતા ગોવાળિયાના પ્રસંગની રજૂઆત કરેલી છે

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે એક બેઠેલો પુરુષ, સાધુને આહાર આપતી એક સ્ત્રી, સિદ્ધાર્થ અને ત્રિશલા તથા બને હાથની અંજલિ જોડીને બેઠેલા બે પુરુષો તથા બે સ્ત્રીઓની રજૂઆત ચિત્રકારે કરેલી છે

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે ઊભેલા બે ઘોડાઓ તથા બે હાથીઓ ચીતરેલા છે

આ પાનાની મધ્યમાં પણ પ્રભુ મહાવીરના જન્મને લગતું જ વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલું છે

૮ પ્રતના પાના ૬૦નો પ્રથમ ભાગ : જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં આરતિ મંગળની રજૂઆત કરેલી છે. મધ્ય ભાગમાં પ્રભુશ્રી પાર્શ્વનાથના પૂર્વભવો પૈકીના પ્રથમ ભવના મરુભૂતિનો પ્રસંગ છે. નીચેના ભાગમાં પૂર્વભવો પૈકીના બીજા ભવનો પ્રસંગ ચીતરેલો છે

ઉપરની કિનારમાં પ્રભુશ્રી પાર્શ્વનાથના પૂર્વભવો પૈકીના પ્રથમ ભવની રજૂઆત સુંદર રીતે કરેલી છે

ડાબી બાજુના હાંસિયામાં પ્રભુશ્રી પાર્શ્વનાથના પૂર્વભવો પૈકીના બીજા, ત્રીજા અને ચોથા ભવના ચિત્ર-પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે

નીચેની કિનારમાં પ્રભુશ્રી પાર્શ્વનાથના પાંચમા, છઠ્ઠા અને સાતમા ભવના ચિત્ર-પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે

૯ પ્રતના પાના ૬૦ના આકૃતિઓ ભાગ : જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમાં પ્રભુ શ્રી પાર્શ્વનાથના દશમા ભવના માતાપિતા અશ્વસેન રાજા તથા વામાદેવી રાણીની રજૂઆત કરેલી છે. મધ્ય ભાગમાં પૂર્વભવો પૈકીના નવમા ભવના દેવવિમાનની તથા નીચેના ભાગમાં કમઠ તાપસના ઉપસર્ગ વખતે બળેલા પ્રસંગની રજૂઆત ચિત્રકારે કરેલી છે

મધ્ય હાંસિયામાં સુંદર ચિત્રાકૃતિઓ ચીતરેલી છે

चित्र १. श्री नेमिनाथजीनो जन्म अने तेओश्रीना जीवननी मुख्य मुख्य घटनाओना चित्रप्रसंगो

જમણી બાજુના હાંસિયાની મધ્ય ભાગ આકારમાં તથા ઓરસ્થીલીમાં ભવની રજૂઆત

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે પ્રભુ મધ્ય ભવની રજૂઆત કરેલી છે

બાકીમાં પૂર્વભવની રજૂઆત ઉપર કરેલી છે

પાનાની મધ્યમાં પ્રભુ શ્રી મહાવીરસ્વ સોનાની શાહીથી લખેલ છે

૭ પ્રતના પાના ૪નો આકાશો મહાવીરના પૂર્વભવો પૈકીના ચોવીસમા અને છવ્વીસમા ભવની રજૂઆત કરેલી છે

મધ્ય હાંસિયામાં ચક્રવર્તિની મૂર્તિ –

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગને ચોથાઈભાગે કરેલા ઉપરનો પ્ર રોપેલ ચોથાઈભાગના પ્રસંગની રજૂઆત કરે

ઉપરની કિનારમાં અનુક્રમે એક મેં મિત્રના તથા અને હાથની આકૃતિ જેવી કરેલી છે

નીચેની કિનારમાં અનુક્રમે ઉલ્લેખ

આ પાનાની મધ્યમાં પણ પ્રભુ મ

૮ પ્રતના પાના ૧૦નો પ્રથમ ભાગ રજૂઆત કરેલી છે. મધ્ય ભાગમાં પ્રભુ પ્રથમ છે. નીચેના ભાગમાં પૂર્વભવો પૈકી

ઉપરની કિનારમાં પ્રભુશ્રી પાર્શ્વનાથ

જમણી બાજુના હાંસિયામાં પ્રભુ ભવના મિત્ર પ્રસંગો રજૂ કરેલા છે

નીચેની કિનારમાં પ્રભુશ્રી પાર્શ્વ રજૂ કરેલા છે

૯ પ્રતના પાના ૧૦નો અર્ધભાગો શ્રી પાર્શ્વનાથના ત્રીજાના ભવના ભાગાદિ મધ્ય ભાગમાં પૂર્વભવો પૈકીના ત્રણ ભવ ઉપર લખેલા પ્રસંગની રજૂઆત કિનારે ક

મધ્ય હાંસિયામાં મુખ્ય શિલ્પાકૃતિઓ અ

જમણી બાજુના હાસિયાના ઉપરના ભાગમા પચાગ્નિ તપ તપતો કમઠ તાપસ અને તેની બાજુમા જ લાકડુ ચીરીને બળતો સર્પ કાઢતો શ્રીપાર્શ્વકુમારનો સેવક ઊભેલો છે મધ્ય ભાગમા હાથી ઉપર બેસીને શ્રીપાર્શ્વકુમાર તથા રાણી પ્રભાવતી વારાણસી નગરી તરફ જતા દેખાય છે નીચેના ભાગમા ઝાડી બતાવીને વારાણસી નગરીની બહારનુ ઉદ્યાન રજૂ કરેલુ છે

ઉપરની કિનારમા એક બેઠેલો પુરુષ અને ૭ હસપક્ષીઓની હાર ચીતરેલી છે નીચેની કિનારમા એક કેસરીસિંહ તથા વેલબુટ્ટાની સુદર કલાકૃતિ રજૂ કરેલી છે

પાના ૬૭ની બને બાજુએ પ્રભુ શ્રીપાર્શ્વનાથના ચ્યવન અને જન્મકલ્યાણકને લગતુ વર્ણન સોનાની શાહીથી લખેલુ છે

૧૦ પ્રતના પાના ૭૩નો પ્રથમ ભાગ ડાબી બાજુના હાસિયામા ઉપરના ભાગમા પ્રભુ શ્રીનેમિનાથજીના પૂર્વભવો પૈકીના પ્રથમ ભવના, મધ્ય ભાગમા બીજા ભવના અને નીચેના ભાગમા ત્રીજા ભવના ચિત્ર–પ્રસગો રજૂ કરેલા છે

મધ્ય હાસિયાના ઉપરના ભાગમા પૂર્વભવો પૈકીના ચોથા ભવના અને મધ્ય ભાગ તથા નીચેના ભાગમા પાચમા ભવના ચિત્ર–પ્રસગો રજૂ કરેલા છે

જમણી બાજુના હાસિયાના ઉપરના ભાગમા છટ્ઠા ભવના, મધ્ય ભાગમા સાતમા ભવના અને નીચેના ભાગમા આઠમા ભવના ચિત્ર–પ્રસગો રજૂ કરેલા છે

ઉપરની કિનારમા અનુક્રમે ચાર હાથી અને પાચ કેસરીસિંહની રજૂઆત ચિત્રકારે કરેલી છે

નીચેની કિનારમા અનુક્રમે ગૃહસ્થ યુગલ, યશોમતી રાણીની બને બાજુની એકેક પરિચારિકા, એક દપતી યુગલ, એક સ્ત્રી તથા એક પુરુષ બેઠેલા છે

પાનાની મધ્યમા સોનાની શાહીથી પ્રભુશ્રી નેમિનાથજીના જન્મનુ વર્ણન લખેલુ છે

૧૧ પ્રતના પાના ૭૩નો આકવાળો ભાગ આ પાનામા શ્રીનેમિનાથજીના તીર્થંકરના ભવના મુખ્ય મુખ્ય જીવન–પ્રસગો રજૂ કરેલા છે (જુઓ ચિત્ર ન ૧)

ડાબી બાજુના હાસિયાના ઉપરના ભાગમા શ્રીનેમિકુમારે લબાવેલા હાથને વાળવા જતા વાસુદેવ શ્રીકૃષ્ણ લટકી રહેલા દેખાય છે હાસિયાના મધ્ય ભાગમા શ્રીનેમિકુમાર શ્રીકૃષ્ણની આયુધશાળામા જઈ ને શખ ફૂકતા દેખાય છે હાસિયાના નીચેના ભાગમા એક ઘોડેસવાર જતો દેખાય છે

મધ્ય હાસિયાના ઉપરના ભાગમા લગ્નની ચોરી રજૂ કરેલી છે મધ્ય ભાગમા પરણવા આવતા નેમિકુમારની રાહ જોતી રાજુલ રાજકુમારી બેઠેલી છે નીચેના ભાગમા શ્રીનેમિકુમાર કૃષ્ણ વાસુદેવની રાણીઓ સાથે જલક્રીડા કરતા દેખાય છે

જમણી બાજુના હાસિયાના ઉપરના ભાગમા શ્રીકૃષ્ણ વાસુદેવ તથા ઇદ્ર બેઠેલા છે મધ્ય ભાગમા શ્રીનેમિકુમાર સારગ ધનુષ્ય વાળતા દેખાય છે નીચેના ભાગમા વાસુદેવનાં આયુધો ચીતરેલા છે

ઉપરની કિનારમા અનુક્રમે રથ પાછો વાળતા અને રથમા બેસીને જતા શ્રીનેમિકુમાર દેખાય છે રથની આગળ બે શરણાઈઓ વગાડનારા તથા એક પુરુષ ઊભેલો છે તેની આગળ લગ્નની ચોરી છે ચોરીની બાજુમા પક્ષીઓ તથા પશુઓ પોકાર પાડતા દેખાય છે

નીચેની કિનારમા અનુક્રમે બે પદાતિ સૈનિકો, બે સ્ત્રીઓ, પાણીની વાવ તથા એક વૃક્ષ [illegible]

[illegible] ાની મધ્યમાં [illegible] શ્રીનેમિનાથજીના જીવનનુ વર્ણન લખેલુ છે



चित्र २. श्री ऋषभदेवनो जन्म अने तेओश्रीना जीवननी मुख्य मुख्य घटनाओना चित्रप्रसंगो

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમા રાજકુમારી સરસ્વતી એક પરિચારિકા સાથે વૃક્ષ નીચે ઊભેલી છે મધ્ય ભાગમા ગર્દભિલ્લ રાજા ઘોડા પર બેસીને જતો દેખાય છે નીચેના ભાગમા એક સ્ત્રીની રજૂઆત કરેલી છે

ઉપરની કિનારમા અનુક્રમે ૭ સ્ત્રીઓ, એક દંપતી યુગલ, એક પુરુષ, એક પુરુષ અને એક ભૂમિતિની આકૃતિ ચીતરેલી છે

નીચેની કિનારમા બે પુરુષો, એક વૃક્ષ, ચાર સ્ત્રીઓ, એક પુરુષ, એક સ્ત્રી, એક પુરુષ અને એક સ્ત્રી બેઠેલા છે

પાનાની મધ્યમા "श्री वीर वाक्यानुमत सुपर्व" થી શરૂ થતી 'કાલકકથા'[૨] સોનાની શાહીથી લખેલી છે

૧૫ કાલકકથાના પાના એકનો આકવાળો ભાગ

ડાબી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમા દર્પણકન્યા તથા નીચેના ભાગમા શુકકન્યા હાથમા પોપટ લઈ ને ઊભેલી છે

મધ્ય હાંસિયામા સુંદર કલ્પનાકૃતિ ચીતરેલી છે

જમણી બાજુના હાંસિયાના ઉપરના ભાગમા શુકકન્યા ઊભેલી છે અને નીચેના ભાગમા ચામરકન્યા હાથમા ચામર પકડીને ઊભેલી છે

ઉપર અને નીચેની કિનારમા સુંદર કલ્પનાકૃતિઓ છે

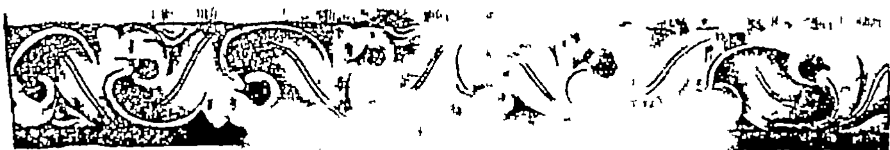
ઉપરોક્ત ૧થી ૧૫ પાનાઓ મારા તરફથી ઈ૦ સ૦ ૧૯૫૪મા 'કલ્પસૂત્રના સોનેરી પાનાઓ તથા ચિત્રો'ના નામથી માત્ર સવાસો નકલોની મર્યાદિત આવૃત્તિમા હૂબહૂ સોનેરી શાહીમા છપાવવામા આવેલી હતી, જે લગભગ અપ્રાપ્ય થવાની તૈયારીમા છે

વળી દરેક માણસ તે કૃતિ મેળવી શકે નહિ અને આવી સુંદર કલાકૃતિવાળી હસ્તપ્રત તરફ કલારસિકોનુ ધ્યાન ખેંચવાની એકમાત્ર મહેચ્છાથી આ નાનો લેખ લખવા હુ ઉદ્યુક્ત થયો છુ, અને આશા રાખુ છુ કે આ લેખ વાચીને જૈન ભાઈઓ તથા આ લેખ વાચનાર કલારસિકોને અમદાવાદ આવવાનો પ્રસગ બને ત્યારે ઉપરોક્ત બને સુવર્ણાક્ષરી હસ્તપ્રતોની અંદર સગ્રહાયેલી કળાલક્ષ્મીનુ દર્શન કરે

પ્રાતે, આ સામળાની પોળવાળી હસ્તપ્રતની મને સૌથી પ્રથમ જાણ કરવા માટે વિદ્વદ્વર્ય ગુરુદેવ શ્રીપુણ્યવિજયજીનો અને શ્રીપાર્શ્વચદ્રગચ્છના ઉપાશ્રયે તે વખતે બિરાજતા પૂજ્ય શ્રીવૃદ્ધિચદ્રજીનો આભાર માનવાની આ તક લઉં છુ

---

૨ કાલિકાચાર્ય સબધી જુદા જુદા જૈનાચાર્યોએ રચેલી ૩૬ કાલકકથાઓ ૮૮ ચિત્રો સાથે 'કાલકકથાસગ્રહ' નામના ગ્રથમાં મારા તરફથી પ્રસિદ્ધ થયેલ છે



ચિત્ર–પરિચય

૧ : કેટલાક પ્રાચીન જૈન શિલ્પો

ચિત્ર નં. ૧ રાજગૃહી વૈભારગિરિ ઉપરની ગુપ્તકાલીન પ્રતિમા આ પ્રતિમા ઉપર [illegible]

[illegible]

ચિત્ર નં. ૨ રાજગૃહીની સોનભંડાર ગુફામાંના [illegible] મૂર્તિ આ પ્રતિમાની [illegible]

[illegible]

ચિત્ર નં. ૩ [illegible] પ્રતિષ્ઠિત [illegible] ધાતુપ્રતિમા [illegible]



चित्र नं १ राजगृही वैभारगिरि उपरनी गुप्तकालीन नेमिनाथ-प्रतिमा
Image of Nemirātha, Vaibhāragiri, Rājgir c. 5th century A D

फोटोग्राफ आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिआ]

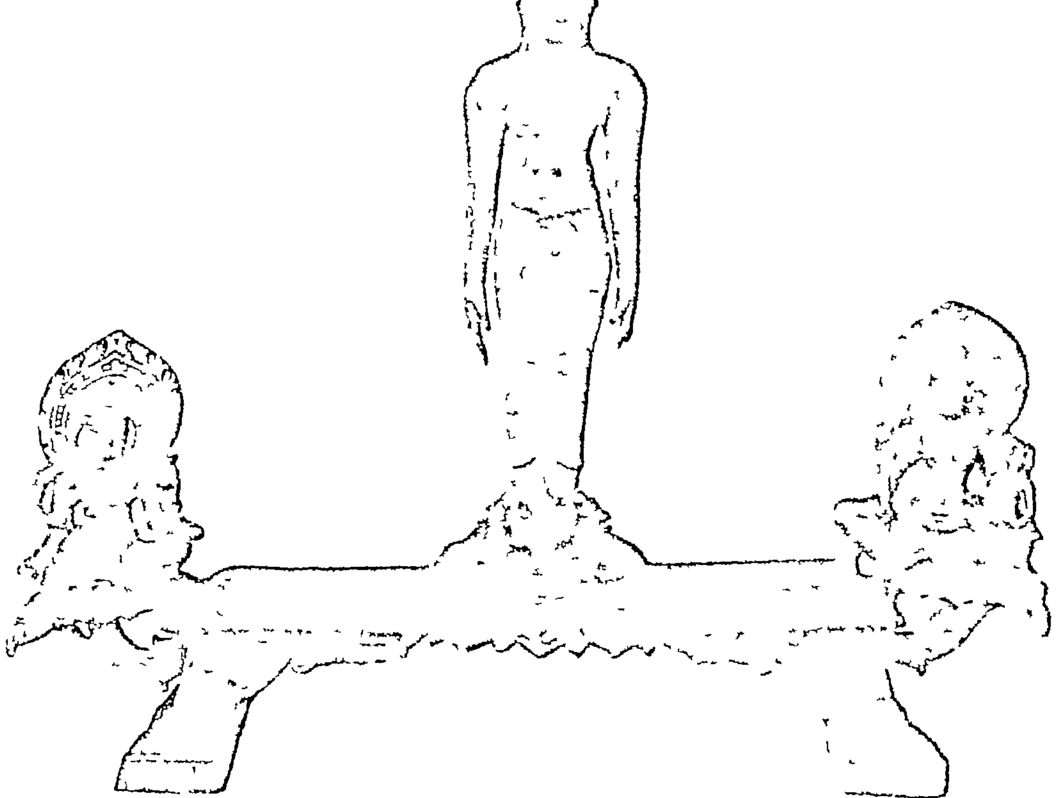


चित्र नं. ९ [illegible]

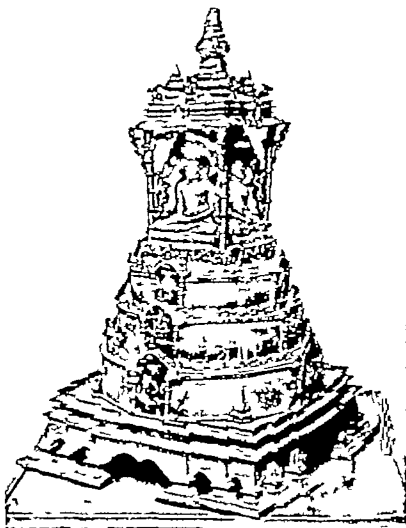
[illegible]

Quadruple Image of Sambhavnatha, Sonbhandar cave, Rajgir
7th–8th Century

[illegible]



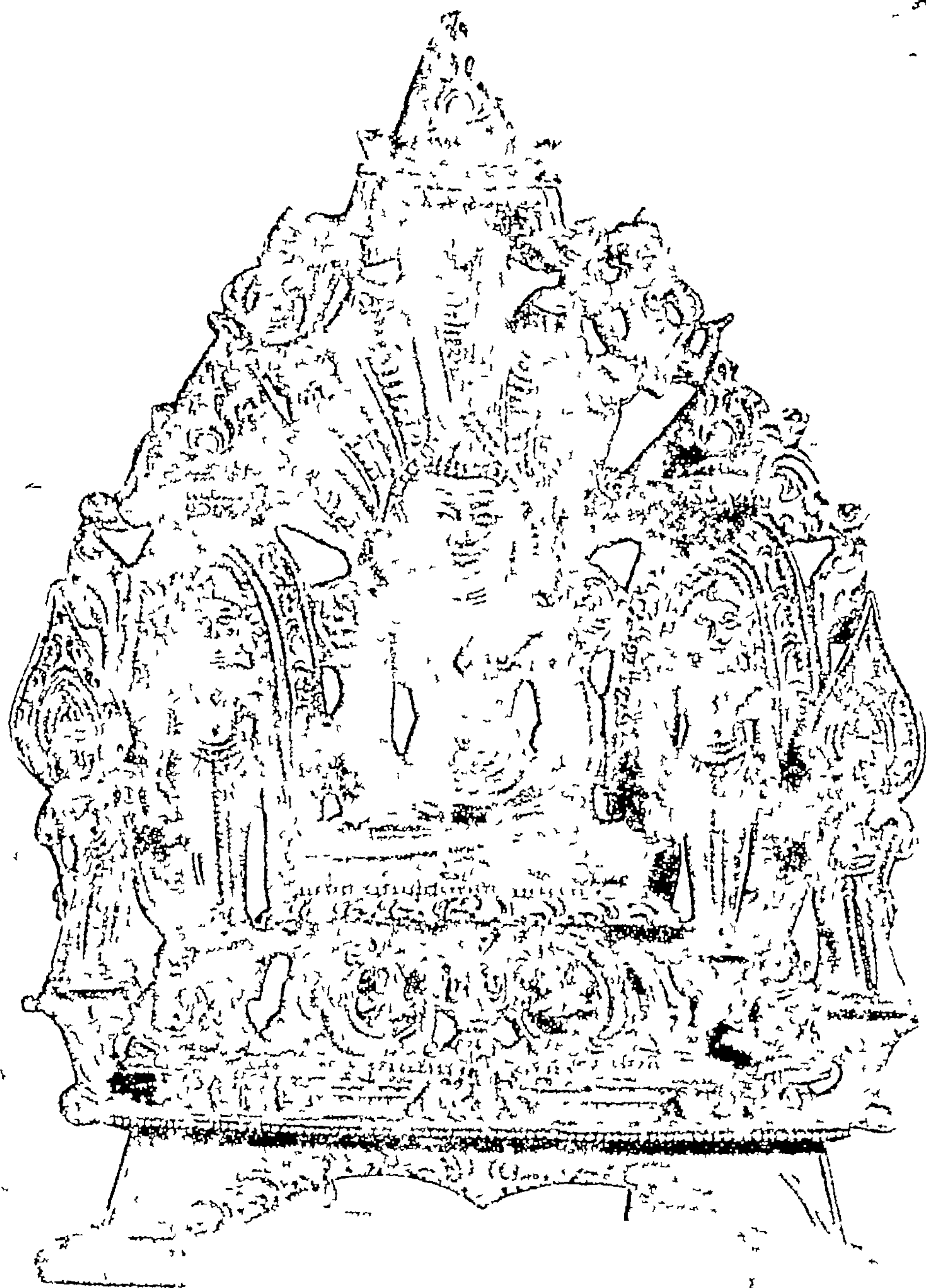
चित्र नं ३ ई स ५२०-५५० आसपासनी श्रीजिनभद्र वाचनाचार्य प्रतिष्ठित श्रीऋषभदेवनी धातुप्रतिमा
Rsabhanatha from Akota Bronze c. 520-550 A.D. Installed by Sri Jinabhadra Vacanacarya
(Jinabhadra Gani Ksamasramana)



[illegible]

Bronze Sculpture of S ma asarana (1053 AD) (Now in J na Bhir Sur)

[illegible]]



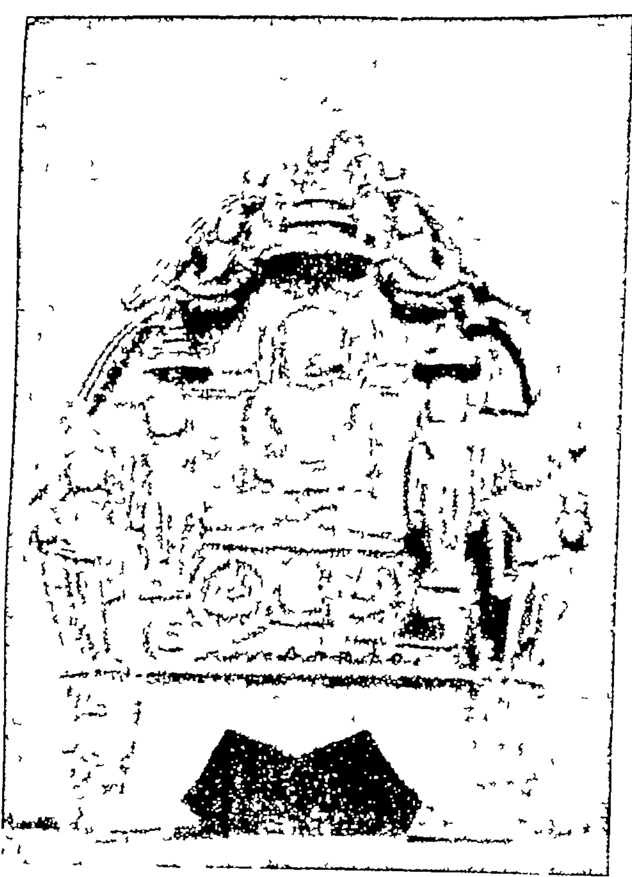
चित्र न • : लील्वादेवा पासेथी मळेली प्राचीन पश्चिम भारतीय कलानी धातुप्रतिमा,—श्रीपार्श्वनाथजीनी त्रितीर्थी
Pārsvanātha Tri Tirthi found near Lilvadeva V S 1093

[महात्मा च्यवनमना सौजन्यथी]



[illegible]

Back of Parsvanatha Tri-Tirthi showing Inscription bearing Samvat Year 1083



चित्र न ७-८ वडोदराना दादापार्श्वजीना दहेरासरमानी विक्रमना अगियारमा सैकाना उत्तरार्द्धनी त्रितीर्थिक धातुप्रतिमा
Tri-Tirthi in the Dadā Pārsvanātha Temple Baroda Back showing inscription (c 11th Century A.D)

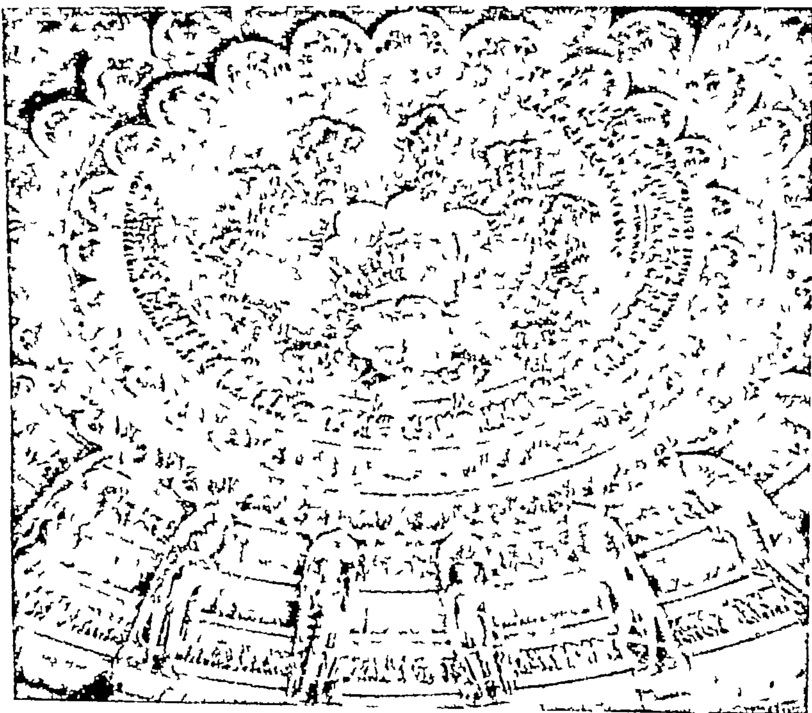
फोटो डॉ उमाकान्त प्रे शाह]



चित्र नं. [illegible] [illegible] [illegible]
Adinā[illegible] Chow[illegible] and [illegible] in 1094-96 A.D. (P[illegible])

चित्र नं. १ महामात्य [illegible] तथा अनुपमादेवी
T[illegible]jpāla and Anupamadevi in Lun Vasahi (Ābu)

पाँ [illegible] [illegible] के [illegible]]



चित्र नं ११-१२ आबु विमलवसही अने लूणवसहीना रंगमंडपनी छत

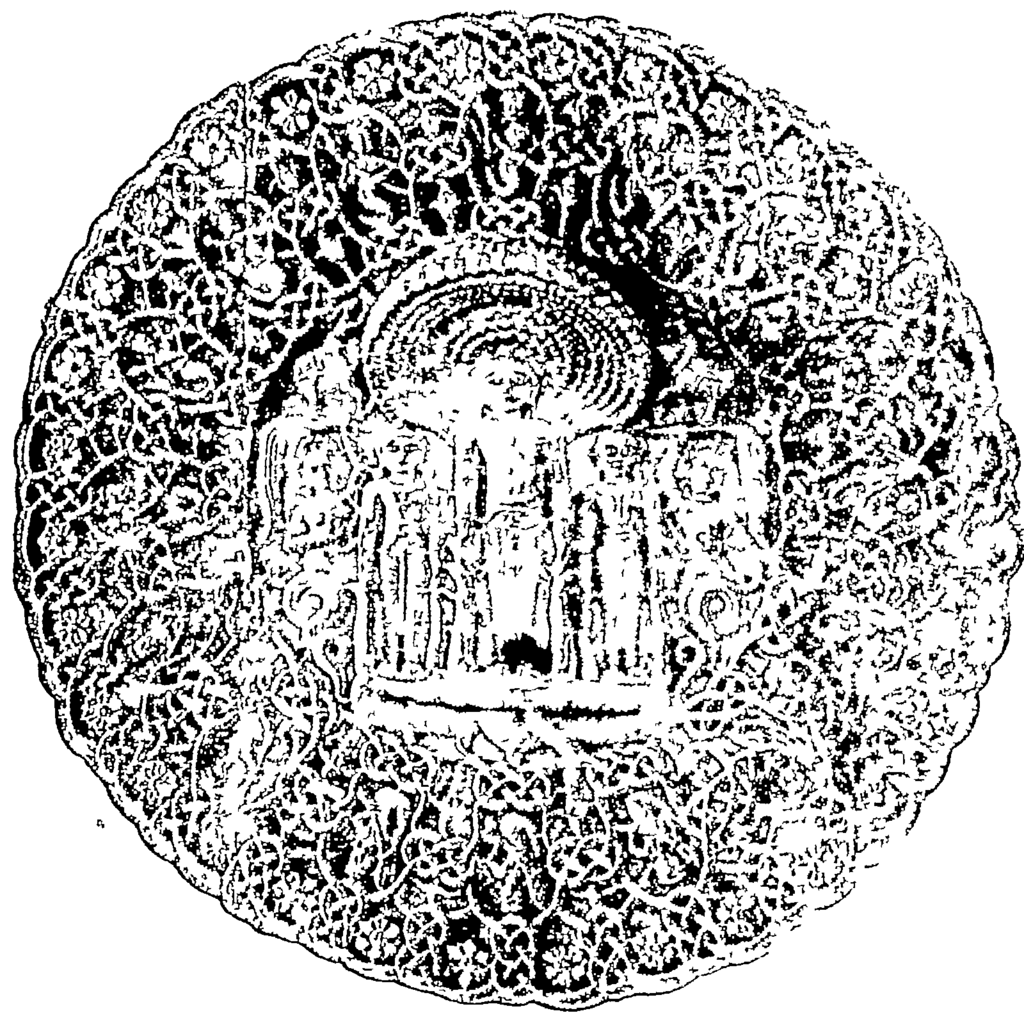
No 11 Richly carved come with famous lotus pendent Vimala Vasahi
No 12 Ornamental pendent and arch Luna Vasahi (Ābu)

फोटो श्री जगन महेता]



[illegible] Adina ba Chovisi installed in 1084 [illegible] A D (Prodwada)

[illegible] Tejpala and Anupamadevi in Luna Vasahi (Abu)



चित्र न १४ राणकपुरनो सहस्रफणा पार्श्वनाथनो पाषाणपट

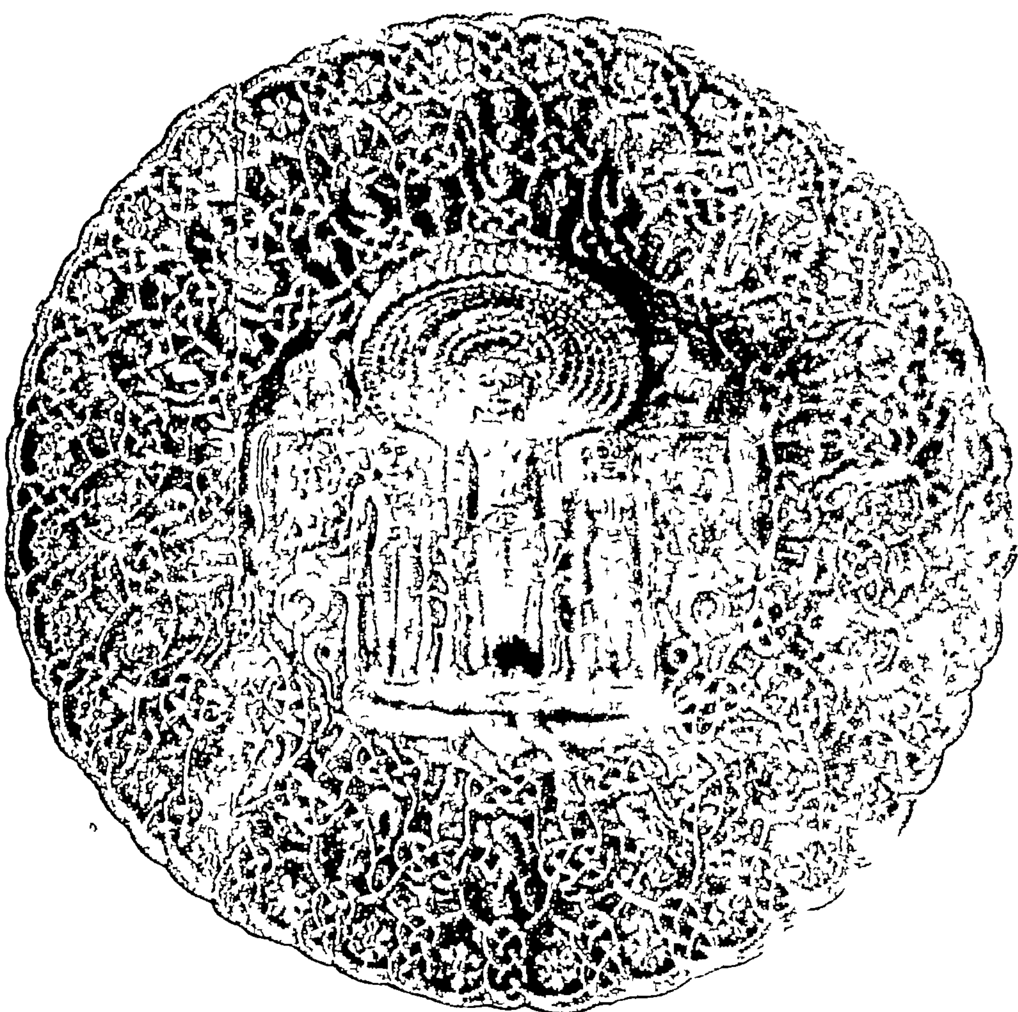
Dexterously carved image of Pārsvanātha with a canopy of a thousand snake hoods
Rānakpur, 19th Century

फोटो श्री आर भारद्वाज]

[illegible]

Relief plaque f m ing Luna Vasahi (Abu) showing part Dvk Mt G nar and Sama na
13th [illegible]

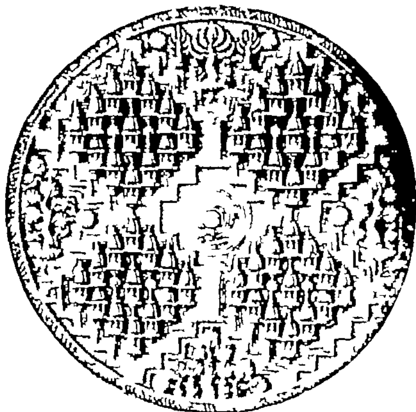
[illegible]



चित्र न १४ राणकपुरनो सहस्रफणा पार्श्वनाथनो पाषाणपट

Dexterously carved image of Pārśvanātha with a canopy of a thousand snake hoods
Rānakpur, 19th Century

फोटा श्री आर भारद्वाज]



चित्र नं. १५ राणकपुरच्या चौमुखजी मन्दिरात पाषाणावर कोरलेला नन्दीश्वर द्वीपाचे
[illegible] पट

Marble plaque of Nandaswardwipa Ranakpur 15th Century

फोटो डा. उमाकान्त प्र. शाह]

જૈન સત્યપ્રકાશ, વર્ષ ૧૭, અંક ૪માં આ પ્રતિમાની વિગતવાર ચર્ચા કરી આ લેખકે બતાવ્યું છે તેમ આ પ્રતિમાના સ્થાપક શ્રીજિનભદ્રવાચનાચાર્યને શ્રીજિનભદ્રગણિ ક્ષમાશ્રમણ તરીકે ઓળખવાને કોઈજ હરકત નથી. પ્રતિમાનો સમય ઈ. સ. ૫૨૫-૫૪૦ આસપાસ મૂકી શકાય તેમ છે, જે સમયમાં મહાન આગમિક આચાર્ય વિશેષાવશ્યક-ભાષ્યકાર શ્રીજિનભદ્રગણિ ક્ષમાશ્રમણ થઈ ગયા.

ગુજરાત(ગુજરાતી)ની પોતાની પ્રસ્તાવનામાં મારા ઉપરના મન્તવ્યને શ્રી દલસુખભાઈ માલવણિયાએ વધુ કારણો દર્શાવી સમર્થન આપ્યું છે. કળાની દૃષ્ટિએ આ પ્રતિમા અંગે નવું વિવેચન આ લેખકના ટૂંકમાં પ્રસિદ્ધ થનાર પુસ્તક The Art of Akota Bronzesમાં આવશે.

ચિત્ર નં. ૪: ધાતુનું સમવસરણ. આ એક સુંદર એવું નાનું ધાતુનું સમવસરણ છે, જે લગભગ બત્રીસ ઈંચ ઊંચું છે. ત્રણે ગઢ તેના દરવાજા સાથે બનાવ્યા છે અને ઉપરના ભાગમાં ચૌમુખજી બિરાજે છે. સમવસરણની નીચેની ધારે એક ઘસાયેલો લેખ છે, જે પૂરો વંચાતો નથી. તેમાં નકામાં સં. ૧૧૧૪ કે ૧૧૫૯ છે. સંવતનો છેલ્લો આંક ૧૫૯ નથી એટલે આ સમવસરણ ઈ. સ. ૧૦૫૩-૧૦૬૩ની વચ્ચે ભરાયું—પ્રતિષ્ઠિત થયું ગણી શકાય.

હાલમાં સૂરતમાં વડા ચૌટાના એક દહેરાસરમાં આ દ્રવ્ય સમવસરણ છે. કહે છે કે માળવાના કોઈ ગામમાંથી લાવી તેને અહીં પધરાવ્યું છે. કળાની દૃષ્ટિએ એ તત્કાલીન ગુજરાતી કળાનું જ છે. તે સમયની ગુજરાત અને મારવાડની જૈન પ્રતિમાઓ એકસરખી કળાશૈલીની બનતી હતી.

નીચે લેખ અને સંવત હોવાથી ગુજરાતની ધાતુ-શિલ્પ-કલાનો આ બહુ અગત્યનો નમૂનો છે, જેથી એની પૂરી સાચવણી રાખવી ઘટે છે. ચૌમુખજીવાળો ભાગ છૂટો કરી ઉતારી શકાય છે.

ચિત્ર નં. ૫-૬. લીલવાદેવા પાસેથી મળેલી ધાતુપ્રતિમા. આ ધાતુપ્રતિમા ઝાલોદ તાલુકામાં લીલવાદેવા પાસેથી મળેલી સાત પ્રતિમાઓમાંની એક છે. આ પ્રતિમાની પાછળ લેખ છે (ચિત્ર ૬) તે આ પ્રમાણે છે: ॐ संवत १०९३ — श्री नागेन्द्रकुले श्रीसिद्धसेन दिवाकराचार्य(र्य) (गच्छे) माइकया करापित्त ज्जिनत्रय

આ પ્રતિમા શ્રીપાર્શ્વનાથજીની ત્રિતીર્થી છે. આ પ્રતિમા પ્રાચીન પશ્ચિમ ભારતીય કળાના અંતિમ સમયની છે અને એમાં ગુર્જરોની કળા દૃષ્ટિગોચર થાય છે. લીલવાદેવાની વધુ પ્રતિમાઓ માટે જુઓ Bulletin of the Baroda Museum, Vol. IX.

ચિત્ર નં. ૭-૮. વડોદરાના દાદાપાર્શ્વનાથજીના દહેરાસરમાંની ધાતુપ્રતિમા. વડોદરાના દાદાપાર્શ્વનાથજીના પ્રાચીન દહેરાસરમાં આ ધાતુપ્રતિમા છે. પાછળનો ભાગ લેખ સહિત છાપ્યો છે, જ્યારે ચિત્ર ૮માં આગળનો દર્શનીય ભાગ છે. પ્રતિમા ઘસાઈ ગયેલ છે. લેખ આ પ્રમાણે છે: श्री नागेंद्रकुले श्रीगुणसेनसूरिसंताने चक्रेश्वरी श्राविकया कारितेय

લિપિ જોતા આ લેખ વિક્રમના અગિયારમા સૈકાના ઉત્તરાર્ધમાં મૂકી શકાય તેમ છે.

પ્રતિમા ત્રિતીર્થિક છે. મોટા પદ્મ ઉપર ભગવાન બિરાજે છે પણ પદ્મપ્રભુ નથી. વાસ્તવમાં આવી રચના પ્રાચીન મૂર્તિઓમાં તીર્થંકર પ્રતિમાઓના આસનોમાં આવે છે.

ઈ. સ. ૧૯૩૮ કે ઈ. સ. ૧૯૩૯માં હું પૂ. શ્રી પ્રતિભાવિજયજી મહારાજશ્રીના દર્શનાર્થે પાલણપુર ગયો ત્યારે મને એઓશ્રીએ જણાવેલું કે વડોદરાના રાજમહેલ – લક્ષ્મીવિલાસ પેલેસના પાયા ખોદતાં એક ધાતુપ્રતિમા મળી હતી તે રાજ્યના ભંડારખાતામાં છે. ત્યારે તેઓશ્રી ફોટો પણ નજરોનજર જોઈ શકો તેમ નહોતું પણ મારું અનુમાન એ છે કે એ પ્રતિમા તે આ હશે.

પ્રાચીન અકોટા રાજમહેલથી બહુ દૂર નથી. અકોટાની મળેલી જૈન પ્રતિમાઓનો અભ્યાસ કરતાં લાગે છે કે આ પ્રતિમાને છઠ્ઠા ઈ. સ. ના અગિયારમા સૈકાની મૂકવામાં કોઈ ભૂલ થવા સંભવ નથી.

ચિત્ર નં. ૯ આદિનાથજી ચોવીસી. આદિનાથજીની ચોવીસીનું આ ચિત્ર છે. વચમાં ધ્યાનસ્થ શ્રી ઋષભદેવજી છે. પીઠ ઉપર જમણી બાજુએ ગોમુખયક્ષ છે, જ્યારે ડાબી બાજુએ અંબિકાદેવી છે. સિંહાસનની વચમાં આદિજિન છે. ધર્મચક્રની નીચે, પીઠના મધ્ય ભાગે કઈ આકૃતિ છે તે સમજાતું નથી. ચોવીસીની રચના સુંદર તોરણરૂપે કરેલી છે અને બે બાજુના સ્તંભો ઉપર નાના શિખરો છે. આ પ્રતિમાની પાછળ લેખ છે તે આ પ્રમાણે છે: સંવત ૧૧૫૧ [illegible] (ક) [illegible] (ખ) (ગ) [illegible](ઘ)[illegible] ।

આમ આ ધાતુપ્રતિમા સં. ૧૧૫૧ = ઈ. સ. ૧૦૯૪-૯૫માં ભરાઈ હતી. એ પ્રતિમા ઉપર લેખ તેમ જ તેનો ઘડામણનો સમય આપેલો હોવાથી કલાની દૃષ્ટિએ આ પ્રતિમાનો અભ્યાસ ઉપયોગી થઈ પડે છે. ઉપરાંત આમાં ધ્યાનમાં રાખવા જેવું એ છે કે ગોમુખયક્ષ હોવા છતાં યક્ષી તરીકે ચક્રેશ્વરીને બદલે અંબિકા જ હજુ ચાલુ રહે છે.

આ પ્રતિમા શિરોહી રાજ્યમાં આવેલા વસંતગઢમાંથી મળી હતી અને હાલ પિંડવાડાના જૈન મંદિરમાં મૂકેલ છે. વધુ વિવેચન માટે જુઓ લલિત-કલા, અંક પહેલો.

ચિત્ર નં. ૧૦ મહામાત્ય તેજપાલ તથા અનુપમાદેવી. ગુજરાતના વિખ્યાત મંત્રીશ્વરો વસ્તુપાલ-તેજપાલ પૈકી લૂણવસહી મંદિર બંધાવનાર મહામાત્ય તેજપાલ તથા તેમના પત્ની શ્રી અનુપમાદેવીની આ સુંદર શિલ્પાકૃતિઓ છે. આબુમાં લૂણવસહીની હસ્તિશાળામાં આ શિલ્પ છે. શિલ્પમાં તત્કાલીન વેશભૂષાનો સુંદર ખ્યાલ આવે છે. અનુપમાદેવીના વસ્ત્રની ભાત પણ જાણવા જેવી છે. આ શિલ્પ લૂણવસહી બંધાઈ તે સમયનું જ છે.

ચિત્ર નં. ૧૧-૧૨ વિમલવસહી અને લૂણવસહીના રંગમંડપની છત. આબુના વિશ્વવિખ્યાત વિમલવસહી અને લૂણવસહીના રંગમંડપની છતની કોતરણીની બારીકાઈ, સુંદરતા અને ભવ્યતાનો ખ્યાલ આવી શકે છે. વિમલવસહી રંગમંડપ છતના મધ્યમ ભાગમાં સોળ વિદ્યાદેવીઓની સુંદર ઊભી મૂર્તિઓ છે. આ રંગમંડપની છત પદ્મશિલા(કાચલા ગુંબજ)ને લીધે પ્રખ્યાત છે. તે ઉપરાંત મનુષ્ય જીવનના અનેક પ્રસંગોની સુંદર રજૂઆત કરેલ છે. આ રંગમંડપ કુમારપાલના મંત્રીશ્વર પૃથ્વીપાલે વિ. સં. ૧૨૦૪-૦૬(ઈ. સ. ૧૧૪૮-૫૦)માં કરાવ્યો હતો. લૂણવસહીનું બીજું ચિત્ર ગભારા, ગુંબજ અને છતની અદ્ભુત કોતરણીની રજૂઆત કરે છે. આ રંગમંડપ ગુજરાતના મહામંત્રી તેજપાલે કરાવ્યો હતો.

ચિત્ર નં. ૧૩: દ્વારિકા નગરી તથા સમવસરણ : આબુના લુણવસહીની દેરી નં ૯ના બીજા ગુમ્મજની છતમાં દ્વારિકા નગરી, ગિરનાર પર્વત અને સમવસરણનો ભાવ છે તેની વચ્ચે સમવસરણ છે સાધુ-સાધ્વી અને શ્રાવક-શ્રાવિકાઓ વગેરે મૂળનાયક શ્રીનેમિનાથજી ભગવાનના દર્શન માટે જતા જણાય છે એક ખૂણામાં સમુદ્ર, ખાડી, જળચર જીવો, વહાણો, જંગલ અને મન્દિરો છે આ દેખાવ દ્વારિકા નગરીના બજારનો છે એક બાજુ ખૂણામાં એક પર્વત ઉપર ચાર શિખરબંધ મન્દિરો, નાની દેરીઓ, વૃક્ષો અને બહાર ભગવાન કાઉસ્સગ્ગ ધ્યાને ઊભા છે આ ગિરનાર પર્વતનો ભાવ છે

ચિત્ર નં. ૧૪: સહસ્રફણા પાર્શ્વનાથનો પાષાણપટ . ત્રૈલોક્ય દીપિકા યાને ધરણવિહાર નામે પ્રસિદ્ધ નલિની ગુલ્મના કળાકૌશલ્યના આદર્શ નમૂનારૂપ મન્દિર શ્રી ધરણાશાહે પંદરમા સૈકામાં બંધાવેલ છે રાણકપુરના આ જિન પ્રાસાદમાં એક મોટો સહસ્રફણા પાર્શ્વનાથનો પટ છે સૂર્યની આકૃતિ વચ્ચે નાગિણીઓ સાથેનું આ એક પ્રકારનું સયોજિત ચિત્ર નાગના જુદા જુદા નાગપાશથી અલંકૃત થયેલ મનોહર દૃશ્ય રજૂ કરે છે આ પટ વિ સં ૧૯૦૩મા પ્રતિષ્ઠિત થયેલ છે તેની કારીગીરી જોતા લાગે છે કે વિક્રમ સંવત ઓગણીસમી સદીના અંત સુધી પણ ગુજરાત-મારવાડમાં શિલ્પકળાની સારી પરંપરા જળવાઈ હતી આવો સહસ્રફણા પાર્શ્વનાથ પાષાણપટ ભારતમાં બીજે ક્યાંય નથી

ચિત્ર નં. ૧૫: પાષાણ પર કોતરેલ નન્દીશ્વર દ્વીપ આ નન્દીશ્વર દ્વીપની રચના દેખાડતું પાષાણ ઉપર કોતરેલું શિલ્પ છે, જે નન્દીશ્વર દ્વીપના પટના નામથી ઓળખાય છે આ પટ ઘણો મોટો છે અને ધરણાશાહના બંધાવેલા રાણકપુરના ચૌમુખજીના વિખ્યાત મન્દિરમાં છે

વાસ્તવમાં આમાં નન્દીશ્વર દ્વીપના બાવન જિનાલય જ રજૂ કરવાનો પ્રયત્ન થયો છે દ્વીપના વર્ણન મુજબ એની ભૌગોલિક રચના બતાવી નથી એટલે ‘નન્દીશ્વર દ્વીપ બાવન જિનાલય પટ’ કહી શકાય આ પટ બનાવવામાં કળાકારે સુન્દર કારીગીરી બતાવી છે

ડૉ૦ ઉમાકાન્ત પ્રેમાનંદ શાહ



૨ : જૈન સાધ્વીજીઓની સભ્ય પાષાણ પ્રતિમાઓ

જૈન શિલ્પકળાઓમાં પ્રાચીનકાળમાં આચાર્યો—સાધુઓ—સાધ્વીઓનાં સ્મારકો તરીકે સ્તૂપો અને પાદુકાઓને સ્થાન હતું. પાછળથી તેમાં મૂર્તિશિલ્પની પ્રથાએ પ્રવેશ કર્યો અને પરિણામે ભારતના જુદા જુદા વિભાગમાં જૈન શ્રમણોની મૂર્તિઓ—ભલે ના જ સંખ્યામાં પણ—જોવા મળે છે એ જાણીતી બાબત છે. પણ જૈન આર્યા—સાધ્વીજીનાં મૂર્તિશિલ્પો કદાચિત જ અસ્તિત્વ ધરાવતાં હોઈ તે બાબત લગભગ અદ્યાપિ અપ્રકાશિત જેવી જ રહી છે. અહીંયાં પણ સાધ્વીની મૂર્તિઓ ઓછે ભાગે જ પ્રથમ વાર જ પ્રકાશિત થાય છે. સાધ્વી-શિલ્પનો પ્રારંભ ક્યારે થયો તેનો ચોક્કસ નિર્ણય નથી થયો. પણ નં. એકની મૂર્તિ ૧૩મી સદીના પ્રારંભકાળની હોઈ, સંભવ છે કે તે અગાઉના સમયથી આ પ્રવૃત્તિ શરૂ થઈ હોય. જૈન ધર્મના બંધારણ મુજબ સાધ્વીજીનું સ્થાન સાધુ પછી બીજે જ નંબરે હોઈ, આ મૂર્તિ દ્વારા જૈનધર્મની દૃષ્ટિએ બેઉના સમાનતાની પ્રતીતિ કરાવવાનો હેતુ પણ હોય તો સાધ્વી મૂર્તિની પ્રતિમાનું વિધાન પંદરમી સદીમાં રચાયેલા એ આચારદિનકર ગ્રંથના ૧૩મા અધિકારમાં છે. આથી શ્રમણ-શ્રમણીના શિલ્પવિષયક ક્ષેત્રમાં ખાસ પ્રકાશ પાડવાની તકેદારી અભ્યાસીઓને જરૂર ભરી.

•

ચિત્ર નં. ૧ જૈન આર્યા—સાધ્વીજીની આરસપાષાણની ઊભી મૂર્તિ. કુશળ શિલ્પીએ તેમના હાથમાં સંઘટ્ટનના પ્રતીકરૂપ રજોહરણ—ઓઘો, મુહપત્તિ—મુખવસ્ત્રિકા આપી બે હાથ જોડી નમસ્કાર કરતી બતાવી છે. એમાં કોણીઓથી વળેલી અને હાથ જોડવાની મુદ્રા દ્વારા નમવાનો જે ભાવ સૂચિત કર્યો છે તેથી અને મુખાકૃતિને પ્રસન્ન બતાવી, મુખારવિંદ ઉપર અપૂર્વ શાંતિ, વિનીતભાવ અને વાત્સલ્યપૂર્ણ તેજસ્વિતાનું જે દર્શન કરાવ્યું છે તેથી મૂર્તિ રમ્ય અને દર્શનીય બની ગઈ છે. મૂર્તિ નિહાળતાં સાધ્વીજીની સ્વસ્ફુરિત સાત્ત્વિક આત્માને સહજ દર્શન થાય છે.

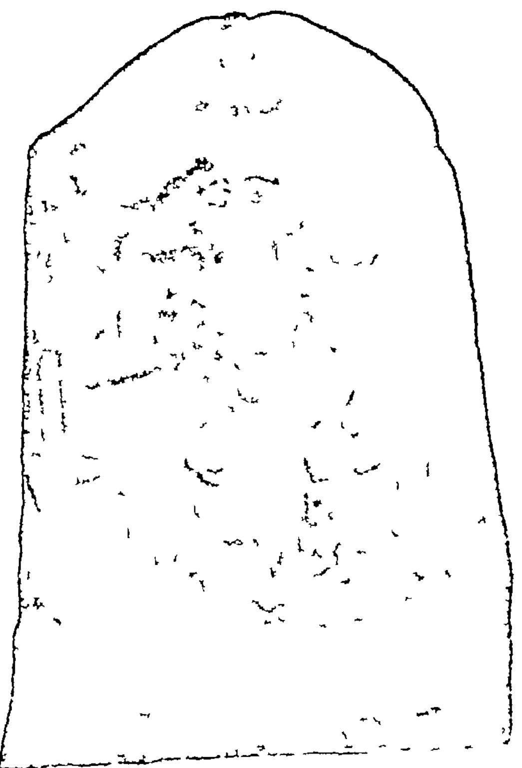
મૂર્તિમાં મસ્તકથી પગ સુધી વસ્ત્રપરિધાન અને વસ્ત્ર ઉપર કેડની કંદોરા નાભિને ચારેય આકારે જૈન સાધ્વીજીની વેશભૂષાનું વાસ્તવિક દર્શન કરાવ્યું છે. પગની બંને બાજુએ બ ઉપાસિકાઓ છે.

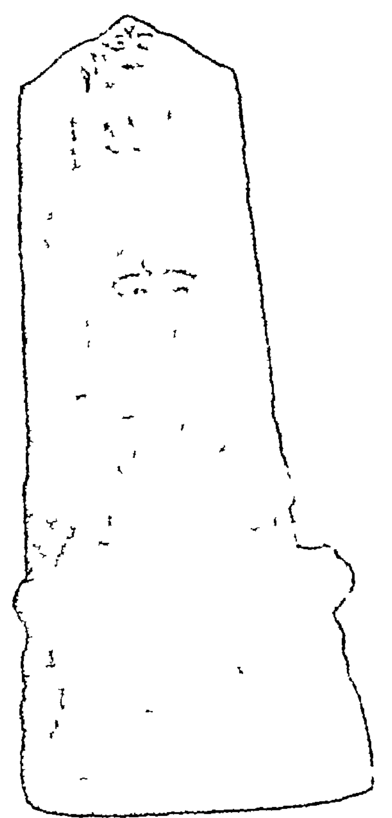
મૂર્તિની નીચેના ભાગમાં સં. ૧૨૬૧ શ્રી મહાકુમ વપરિવાર છે. આ પ્રભાવેનો તૂટો લેખ છે. આ લેખમાં સાધ્વીજીનું નામ અંકિત નથી. આ મૂર્તિ આ પરિસર સંગ્રહાલયના સંગ્રહમાં છે.

ચિત્ર નં. ૨ જૈન સાધ્વીજીની શ્વેત સંગેમરમરના પાષાણમાં કોતરી કાઢેલી બેઠી મૂર્તિ. આ મૂર્તિ સરસ છે. પ્રસન્ન ને મધુર મુદ્રા જેવો ભાવ આપતી આસન ઉપર સ્થિત છે. જમણા હાથમાં મુખવસ્ત્રિકા છે. જમણો હાથ ખંડિત થઈ ગયો છે. તે ભાગ તેનો જોડેલો ભાગ ખાલી પર દેખાય છે તે ઉપરથી લાગે છે કે શિલ્પીએ હાથમાં માળા આપી હોય. તેમનું રજોહરણ—ઓઘો પ્રાચીનકાળમાં શ્રમણોની મૂર્તિઓમાં જે રીતે બતાવાતું તે રીતે અહીં પણ મસ્તકના પાછળના ભાગમાં બતાવેલ છે.

મૂર્તિમાં પરિધાનો તરીકે કુશળ શિલ્પીએ કુલ ચાર રૂપાકૃતિઓ બતાવી છે. આ ચારે પાત્રો સાધ્વી નહિ પણ સરસ શ્રાવિકાઓ છે. પણ કુળોએ શ્રમણી—શ્રમણી બાજુની એક એક

जैन साध्वीजीओनी पाषाण-प्रतिमाओ





चित्र नं १
सं १२०५नी साध्वीजीनी प्रतिमा

चित्र नं २
वि. सं. १२००नी साध्वीजीनी प्रतिमा
[पाटण अष्टापदजीना मन्दिरमांथी]

चित्र नं ३
वि. सं. १२०८नी साध्वीजीनी प्रतिमा
[मातरना मन्दिरमांथी]

૨ : જૈન સાધ્વીજીઓની બે પાષાણ પ્રતિમાઓ

જૈન શિલ્પગ્રંથોમાં પ્રાચીનકાળમાં આચાર્યો–સાધુઓ–સાધ્વીઓનાં સ્મારક તરીકે સ્તૂપો અને પાદુકાઓને સ્થાન હતું. પણ ત્યારથી તેમાં મૂર્તિશિલ્પની પ્રથાએ પ્રવેશ કર્યો અને પરિણામે [illegible] ગુપ્ત યુગ પછી શિલ્પમાં જૈન શ્રમણોની મૂર્તિઓ—અને અલ્પ પ્રમાણમાં પણ—જોવા મળે છે જે નોંધપાત્ર બાબત છે. પણ જૈન આર્યા–સાધ્વીજીનાં મૂર્તિશિલ્પો કદાચ જ અસ્તિત્વ ધરાવતાં હોય તે બાબત [illegible] અપ્રકાશિત જેવી [illegible] રહી છે. અહીંયાં બે સાધ્વીની મૂર્તિઓ એક સાથે જ પ્રથમ વાર જ પ્રકાશિત થાય છે. સાધ્વી-શિલ્પનો પ્રારંભ ક્યારે થયો તેનો [illegible] નિર્ણય નથી થયો પણ [illegible] મૂર્તિ ૧૩મી સદીના [illegible] હોઈ, સમય [illegible] છે. તે ભારતના [illegible] આ પ્રાપ્તિ [illegible] હોય. જૈન [illegible] સાધ્વીજીનું સ્થાન [illegible] હોય, આ પ્રાપ્તિ ઇતિહાસની દૃષ્ટિએ [illegible] પ્રતીતિ કરાવવાનો હેતુ પણ હોય શકે. આવી મૂર્તિની પ્રતિમાનું [illegible] [illegible] પ્રતિમા ૧૩મા [illegible] છે [illegible] શિલ્પવિશારદ [illegible] [illegible] [illegible].



ચિત્ર નં. ૧ જૈન આર્યા–સાધ્વીજીની આરસપાષાણની ઊભી મૂર્તિ. પ્રથમ શિલ્પીએ તેમના [illegible] [illegible] રજોહરણ–ઓઘો, મુહપત્તિ–મુખવસ્ત્રિકા [illegible] [illegible] નમસ્કાર કરતી બતાવી છે. [illegible] અને હાથ [illegible] [illegible] છે તેથી, અને મુખાકૃતિને [illegible] બતાવી, મુખ [illegible] ઉપર [illegible] શાંતિ, વિનીતભાવ અને વાત્સલ્યપૂર્ણ [illegible] છે તેથી મૂર્તિ [illegible] અને [illegible] છે. મૂર્તિ [illegible] [illegible] [illegible] થાય છે.

મૂર્તિના [illegible] સુધી [illegible] અને [illegible] ઉપરની [illegible] [illegible] જૈન સાધ્વીજીની વેશભૂષાનું વાસ્તવિક [illegible] છે. [illegible] અને [illegible] બે ઉપાધિઓ છે.

મૂર્તિની નીચેના ભાગમાં સં. ૧૨ [illegible] [illegible] છે. આ [illegible] લેખ છે. આ લેખમાં સાધ્વીજીનું નામ [illegible] નથી. આ મૂર્તિ આ [illegible] [illegible] છે.

ચિત્ર નં. ૨ જૈન સાધ્વીજીની [illegible] પાષાણમાં કોરેલી [illegible] બેઠી મૂર્તિ. આ મૂર્તિ [illegible] છે. [illegible] [illegible] [illegible] આસન ઉપર સ્થિત છે. [illegible] મુખવસ્ત્રિકા છે. [illegible] હાથ [illegible] છે. તે [illegible] [illegible] [illegible] છે તે [illegible] છે કે શિલ્પીએ [illegible] [illegible] હોય. તેમનું રજોહરણ–ઓઘો પ્રાચીનકાળમાં શ્રમણોની મૂર્તિઓમાં [illegible] જે રીતે [illegible] તે રીતે [illegible] પણ [illegible] [illegible] [illegible] છે.

મૂર્તિના [illegible] તરીકે [illegible] શિલ્પીએ [illegible] [illegible] [illegible] છે. આ [illegible] નથી [illegible] [illegible] છે. પણ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

આકૃતિ ખંડિત થઈ ગઈ છે છતાં એમ લાગે છે કે ચારિત્રને ઉજ્જ્વળ કરી ને કઈ કાર્યરત બનાવી સેવા અને ઉપાસનાનો એક ભાવનાશીલ આદર્શ રજૂ કર્યા છે એમાં જે બે આકૃતિઓ અખંડ દેખાય છે તેમાં એક ઊભી ને બીજી બેઠી છે ઊભી આકૃતિ ઊભવાના કોઈ સાધન ઉપર ઊભા રહીને પોતાના પૂજ્ય સાધ્વીજીની વાસક્ષેપથી પૂજા કરતી હોય તેમ લાગે છે શિલ્પીએ તેની ઊભવાની પદ્ધતિ ખૂબ જ આકર્ષક અને વિનયભાવભરી બતાવી છે મુખ ઉપર પૂજા અને ભક્તિનો ઊંડો ભાવ વ્યક્ત કર્યો છે તેને સવસ્ત્ર બનાવી મૂર્તિમા ઉત્તરીય વસ્ત્ર જે ખૂબીથી નાખ્યુ છે તે શિલ્પકળાના ગૌરવમા સવિશેષ ઉમેરો કરે છે એ કૃતિ કોઈ અગ્રણી ભક્તશ્રાવિકાની સંભવે છે સાધ્વી મૂર્તિના પલાંઠી વાળેલા ડાબા પગ નીચે, ઘૂંટણિયે પડેલી જે ઉપાસિકા બતાવી છે તેના મુખ ઉપર શિલ્પીએ આત્મભક્તિભાવ અને પ્રસન્નતાનુ મનોરમ દૃશ્ય બતાવ્યુ છે મૂર્તિ ઉપર તીર્થંકરની એક પ્રતિમા પણ ઉપસાવી કાઢી છે

આ શિલ્પનુ સમગ્ર દર્શન એટલુ આકર્ષક અને ભાવનાશીલ છે કે જેથી આપણે પ્રાપ્ય સાધ્વીમૂર્તિ શિલ્પમા આને સર્વશ્રેષ્ઠ તરીકે સહેજે બિરદાવી શકીએ

પણ ખેદની વાત એટલી જ કે કળા અને સૌંદર્યના જ્ઞાનરસથી અનભિજ્ઞ અને શ્રાદ્ધ એવા વહીવટદારોએ તે મૂર્તિ ઉપર પ્રમાણથી વધુ મોટા અને મેળ વિનાના બાધા જેવા ચક્ષુઓ, મોટી ભ્રમરો, નવે અંગે તદ્દન બિનજરૂરી મોટા ચાંદા જેવા ટીકાઓ ચોંટાડી મૂર્તિની સુંદરતા અને ભવ્યતામા ભારે ઊણપ આણવા સાથે કદ્રૂપતાના દર્શન કરાવ્યા છે

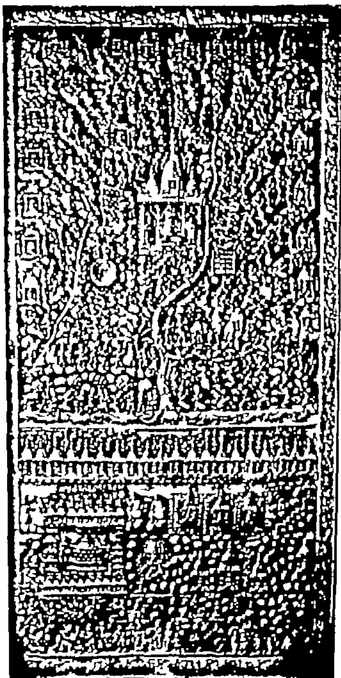
મૂર્તિ નીચે — वि स १२५५ कार्तिक वदि ११ बुधे देमतिगणीनी मूर्ति [ ] ॥ આ પ્રમાણે લેખ કોતરેલો છે આ મૂર્તિ ગુજરાત-પાટણના અષ્ટાપદજીના મંદિરમા છે

ચિત્ર નં. ૩ આરસપાષાણની સાધ્વીજીની મૂર્તિ : સાધ્વીજીની આ મૂર્તિ પોતાના મસ્તક ઉપર રહેલી સ્વઆરાધ્ય જિન પ્રતિમાને નમસ્કાર કરવા ભદ્રાસન પર પ્રવચન(?)મુદ્રાએ હાથ જોડીને બેઠેલા હોય તેવો ભાવ રજૂ કરે છે તેઓ સવસ્ત્ર છે તેમની ડાબી બાજુએ દીક્ષિત અવસ્થા સૂચક અને અહિંસા ધર્મના પ્રતીક સમાન રજોહરણ—ઓઘો દેખાય છે, જેની દાંડી હાથના કાંડા ઉપર થઈ ને કેડ ઉદર ભાગને સ્પર્શતી છે ડાબા હાથની કોણી નીચે લટકતો વસ્ત્રનો છેડો દેખાય છે આનુ શિલ્પકામ સ્થૂલ પદ્ધતિનું ગ્રામીણ ઢબના મિશ્રણવાળુ છે આમા પણ વહીવટદારોએ નવાંગે ટીકાઓ નિરર્થક ચોડ્યા છે

જનતાની અજ્ઞાનતાને કારણે માતર તીર્થની આ મૂર્તિ "શ્રી ગૌતમસ્વામીજીએ ભગવાન મહાવીરને મસ્તક ઉપર ધારણ કર્યા છે" એ રીતે જ વર્ષોથી ઓળખાતી ને પૂજાતી હતી પણ બે વરસ પર માતર જવાનુ થતા આ ભ્રમ દૂર કરાવ્યો અને એ પ્રતિમાજીને બાજુમાથી ઉઠાવી સન્મુખ પધરાવવા સૂચન કર્યું હતું તેની નીચેના શિલાલેખમા वि स १२९८નો ઉલ્લેખ છે ને आर्यपद्मसिरि એવુ નામ છે સમયના અભાવે ને લેખની વધુ અસ્પષ્ટતાના કારણે સંપૂર્ણ લેખ લઈ શકાયો નથી આ મૂર્તિ ગુજરાતના ખેડા પાસેના માતર તીર્થની છે

ઉપરની ત્રણેય મૂર્તિઓ એક જ સૈકાની અને વળી આદિ, મધ્ય અને અન્તના ભાગની છે

મુનિશ્રી યશોવિજયજી



मथुरा जैन अभिलेखमें एक सुन्दर आयागपट

આકૃતિ ખંડિત થઈ ગઈ છે છતા એમ લાગે છે કે ચારેયને કળાકારે કંઈ ને કંઈ કાર્યરત બનાવી સેવા અને ઉપાસનાનો એક ભાવવાહી આદર્શ રજૂ કર્યા છે એમા જે બે આકૃતિઓ અખડ દેખાય છે તેમા એક ઊભી ને બીજી બેઠી છે ઊભી આકૃતિ ઊભવાના કોઈ સાધન ઉપર ઊભા રહીને પોતાના પૂજ્ય સાધ્વીજીની વાસક્ષેપથી પૂજા કરતી હોય તેમ લાગે છે શિલ્પીએ તેની ઊભવાની પદ્ધતિ ખૂબ જ આકર્ષક અને વિનયભાવભરી બતાવી છે મુખ ઉપર પૂજા અને ભક્તિનો ઊંડો ભાવ વ્યક્ત કર્યો છે તેને સવસ્ત્ર બનાવી મૂર્તિમા ઉત્તરીય વસ્ત્ર જે ખૂબીથી નાખ્યુ છે તે શિલ્પકળાના ગૌરવમા સવિશેષ ઉમેરો કરે છે એ કૃતિ કોઈ અગ્રણી ભક્તશ્રાવિકાની સંભવે છે સાધ્વી મૂર્તિના પલાઠી વાળેલા ડાબા પગ નીચે, ઘૂટણિયે પડેલી જે ઉપાસિકા બનાવી છે તેના મુખ ઉપર શિલ્પીએ આતરભક્તિભાવ અને પ્રસન્નતાનુ મનોરમ દૃશ્ય બતાવ્યુ છે મૂર્તિ ઉપર તીર્થંકરની એક પ્રતિમા પણ ઉપસાવી કાઢી છે

આ શિલ્પનુ સમગ્ર દર્શન એટલુ આકર્ષક અને ભાવવાહી છે કે જેથી આપણે પ્રાપ્ય સાધ્વીમૂર્તિ શિલ્પમા આને સર્વશ્રેષ્ઠ તરીકે સહેજે બિરદાવી શકીએ

પણ ખેદની વાત એટલી જ કે કળા અને સૌંદર્યના જ્ઞાનરસથી અનભિજ્ઞ અને શુષ્ક એવા વહીવટદારોએ તે મૂર્તિ ઉપર પ્રમાણથી વધુ મોટા અને મેળ વિનાના બાઘા જેવા ચક્ષુઓ, મોટી ભ્રમરો, નવે અગે તદ્દન બિનજરૂરી મોટા ચાદા જેવા ટીકાઓ ચોટાડી મૂર્તિની સુદરતા અને ભવ્યતામા ભારે ઊણપ આણવા સાથે કદરૂપતાના દર્શન કરાવ્યા છે

મૂર્તિ નીચે — वि स १२५५ कातिक वदि ११ बुधे देमतिगणीनी मूर्ति [ ] ॥ આ પ્રમાણે લેખ કોતરેલો છે આ મૂર્તિ ગુજરાત-પાટણના અષ્ટાપદજીના મદિરમા છે

ચિત્ર નં. ૩ આરસપાષાણની સાધ્વીજીની મૂર્તિ સાધ્વીજીની આ મૂર્તિ પોતાના મસ્તક ઉપર રહેલી સ્વઆરાધ્ય જિન પ્રતિમાને નમસ્કાર કરવા ભદ્રાસન પર પ્રવચન(?)મુદ્રાએ હાથ જોડીને બેઠેલા હોય તેનો ભાવ રજૂ કરે છે તેઓ સવસ્ત્ર છે તેમની ડાબી બાજુએ દીક્ષિત અવસ્થા સૂચક અને અહિંસા ધર્મના પ્રતીક સમાન રજોહરણ—ઓઘો દેખાય છે, જેની દાડી હાથના કાડા ઉપર થઈ ને ઠેઠ ઉદર ભાગને સ્પર્શતી છે ડાબા હાથની કોણી નીચે લટકતો વસ્ત્રનો છેડો દેખાય છે આનું શિલ્પકામ સ્થૂલ પદ્ધતિનુ ગ્રામીણ ઢબના મિશ્રણવાળુ છે આમા પણ વહીવટદારોએ નવાંગે ટીકાઓ નિરર્થક ચોડ્યા છે

જનતાની અજ્ઞાનતાને કારણે માતર તીર્થની આ મૂર્તિ "શ્રી ગૌતમસ્વામીજીએ ભગવાન મહાવીરને મસ્તક ઉપર ધારણ કર્યા છે" એ રીતે જ વર્ષોથી ઓળખાતી ને પૂજાતી હતી પણ બે વરસ પર મારુ ત્યા જવાનું થતા આ ભ્રમ દૂર કરાવ્યો અને એ પ્રતિમાજીને બાજુમાથી ઉઠાવી સન્મુખ પધરાવવા સૂચન કર્યું હતુ તેની નીચેના શિલાલેખમા वि स १२९८નો ઉલ્લેખ છે ને आर्यपद्मसिरि એવુ નામ છે સમયના અભાવે ને લેખની વધુ અસ્પષ્ટતાના કારણે સપૂર્ણ લેખ લઈ શકાયો નથી આ મૂર્તિ ગુજરાતના ખેડા પાસેના માતર તીર્થની છે

ઉપરની ત્રણેય મૂર્તિઓ એક જ સૈકાની અને વળી આદિ, મધ્ય અને અન્તના ભાગની છે

મુનિશ્રી યશોવિજયજી

૩ : પાટણના જૈન મંદિરમાંનો એક સુંદર કાષ્ઠપટ

પાટણના ઝવેરીવાડા પાડામાં નેમનાથ આવેલ બે જૈન મંદિરો પૈકીના એકમાં આ કાષ્ઠપટ મંદિરની જમણી બાજુની ભીંતમાં સુરક્ષિતપણે જડી દીધેલ છે. સમસ્ત ગુજરાતમાં આ પ્રકારનો મોટો તીર્થપટ આને ગણી શકાય.

પ્રાચીનકાળે શાશ્વતાથી મંદિરો થતાં તેની પરંપરારૂપે આ કાષ્ઠશિલ્પની કૃતિમાં ઉપલા ભાગમાં વર્તમાન ચોવીશીના વીસ તીર્થંકરોની નિર્વાણભૂમિરૂપે સમેતશિખર તીર્થ અને ડુંગરના ભાગ તીર્થંકર ભગવાન મહાવીરની નિર્વાણભૂમિ તરીકે પાવાપુરી તીર્થ વગેરેનું કોતરકામ થયેલ છે.

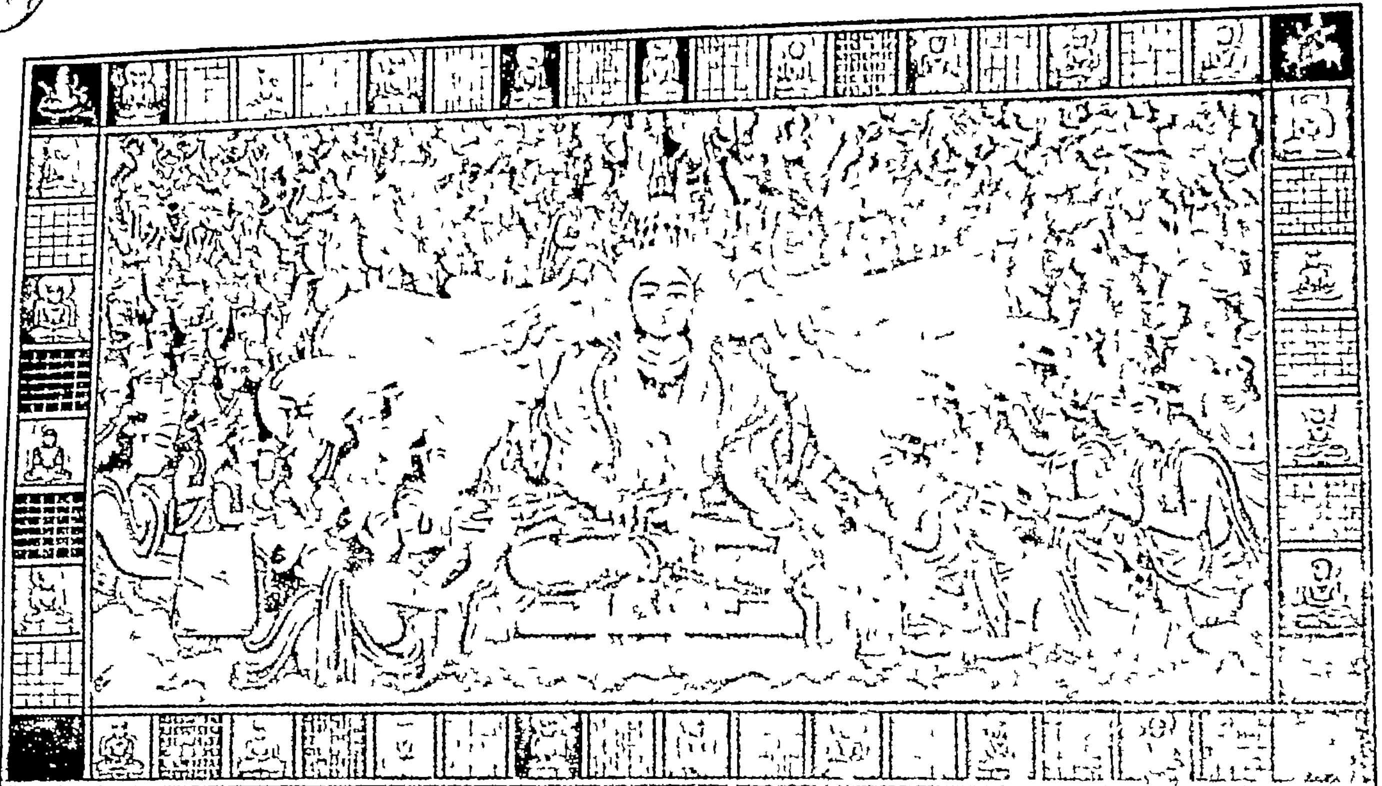
સમેતશિખરનું શિલ્પીએ મનોહર શિલ્પમાં કરેલી વીસ દેરીઓ ઉપરની વીસ દેવકુલિકાઓ—દેરીઓ તેમની મૂર્તિઓ સાથે સુવિધપૂર્વક શોભી રહી છે. વચમાં ત્રણ શિખરોથી સુશોભિત ભગવાન પાર્શ્વનાથની પ્રતિમાથી અદ્ભુત અતિભવ્ય જિનમંદિર સુંદર ને સ્પષ્ટ કોતરકામથી બતાવ્યું છે.

ઉપરાંત પ્રસ્તુત પટમાં પહાડો, જળાશયો, નદી, વાવ, સરોવરો, કૂવા, વૃક્ષો, વનરાજીઓ, ધ્યાન ને તપ કરતા અનેક મુનિ—આર્યિકાઓ ને સાથે અલૌકિકતા આપતાં પ્રાણીઓની તાદૃશ ને રમ્ય આકૃતિઓથી કાષ્ઠપટને ભરપૂર બનાવ્યો છે.

નીચેના ભાગમાં અષ્ટાપદ પર્વત 'ચત્તારિ-અટ્ઠ-દસ-દોય' ના નિયમ મુજબ ચોવીસ તીર્થંકરોની રત્નની સિંહાસનથી રૈ પ્રતિમાઓથી શોભે છે. આ મંદિરના મધ્ય ભાગે આદીશ્વર ભગવાનની નિર્વાણભૂમિ ઉપર ભરતચક્રવર્તીના ભવન મુજબ મંદિરને ચારે બાજુ અદ્ભુત રીતે સ્તૂપરચના બનાવી છે અને ઉપરના ભાગે અને બાજુએ આભરણની તરીકે ધ્વજો પણ બતાવ્યા છે. આમ પ્રાચીનકાળની મૂળ પ્રથા અહીં નજરોનજર દેખાય છે. આ મંદિરની જમણી બાજુ તલાટીના ભાગમાં ઉત્તમ રાયણ અને તેની ડાબી બાજુ તેમની જ પગલી મૂકીને ભગવાન આદિનાથ અભિનંદન કરતાં બતાવ્યાં છે. વળી મંદિરના નીચેના ભાગે ધર્મ નગરીને, તેના કિલ્લાના આધારે ચૈત્યસ્થાનો બતાવીને પાડ્યા તે ધ્યાન ખેંચે એવું છે. ઉપરના ભાગે આચાર્ય—નિગ્રંથાચાર્ય મુનિઓ યાત્રા કરવા આવતા દેખાય છે. નીચે સ્વર્ગપતિ ઇન્દ્ર તીર્થંકરની આરતી ઉતારી રહ્યા જણાય છે. આજુબાજુ જુદાં જુદાં આસનો ઉપર બેઠેલ તપ ને ધ્યાન કરી રહેલા ઋષિમુનિઓ બતાવ્યા છે. ઉપરના ભાગે વીસ વિહરમાન જિનની દેરીઓ અને અન્ય તીર્થમંદિરો બતાવ્યા હોય તેમ જણાય છે.

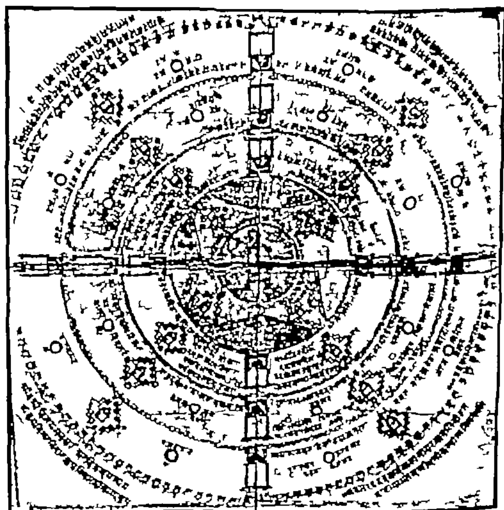
આ તીર્થંકર ગુજરાતના કાષ્ઠશિલ્પના નમૂનારૂપ ગણ્યું છે. તેનું માપ આશરે ૩૯"×૭ છે અને સમય આશરે ૧૭–૧૮મી સદીની વચ્ચેનો ગણી શકાય. શ્રીયશોવિજયજીની પ્રતિમા પ્રસંગે તેનું મને પ્રથમ જ દર્શન થયું હતું.

મુનિશ્રી યશોવિજયજી



श्रमण भगवान महावीरनो मेरूपर्वत उपर जन्माभिषेक

सौधर्मेन्द्र भगवानने खोळामां लइने बेठा छे वृषभरूपधारी इन्द्रो देवगण अभिषेकोत्सव उजवी रह्या छे धार्मिक चित्रो द्वारा कळाने उत्तेजन आपवानी जैन साधुओनी परंपरा घणा सैकाओथी जोवा मळे छे. आजे पण जैन श्रमणो सर्वमान्य पवित्र कल्पसूत्रचित्रोनु सर्जन करावे छे आ चित्र पू. मुनिवर श्रीयशोविजयजी महाराजना संग्रह पैकीनु जयपुरी कळानु प्रतीक छे



[illegible]
[illegible]

૪ : ઐતિહાસિક વસ્ત્રપટ

ન્યાયાચાર્ય ઉપાધ્યાય શ્રીયશોવિજયજી મહારાજના જીવનકાળની વિચારણામા અભૂતપૂર્વ પ્રકાશ પાડતો વિ સ ૧૬૬૩મા ચીતરાયેલો આ ઐતિહાસિક વસ્ત્રપટ જૈન ધર્મની માન્યતા મુજબ રોગયેલા મેરુપર્વતનો છે મેરુપર્વતને ફરતી જે પુષ્પિકા છે એ અતિમૂલ્યવતી હોવાને કારણે પ્રથમ જ પ્રકાશમા મૂકયો છે

આ વસ્ત્રપટ વિ સ ૧૬૬૩મા ઉ ગુજરાતમા કનોડા-ગાભૂ પાસે આવેલા कणसागर ગામમા ચીતરાયેલો છે તેના આલેખક જૈન શાસનના અદ્ભુત જ્યોતિર્ધર પ્રકાણ્ડ વિદ્વાન, સર્વદર્શનવિજ્ઞ, સેંકડો ગ્રથોના રચયિતા, ન્યાયાચાર્ય, ન્યાયવિશારદ મહોપાધ્યાય ૧૦૦૮ શ્રીમદ્ યશોવિજયજી મહારાજના ગુરુદેવ પૂજ્યશ્રી નયવિજયજી મહારાજ છે અને તેમણે પોતે જ પટમા गणिजसविजययोग्य લખીને સ્વશિષ્ય શ્રી યશોવિજયજી ગણિ માટે જ તૈયાર કર્યા છે તેમ સ્પષ્ટ કર્યું છે ઉપાધ્યાયજીનો જીવનકાળ નક્કી કરવા માટે એક અમૂલ્ય ઐતિહાસિક દસ્તાવેજ જેવો આ પટ બની ગયો છે

પૂ ઉપાધ્યાયજીની જન્મ, દીક્ષા, વડીદીક્ષા, પદપ્રાપ્તિ કે અવસાન અગેની આધારભૂત તિથિ મળતી નથી માત્ર સવતો ને તે પણ જન્મની, વડીદીક્ષા, પદપ્રાપ્તિ ને સ્વર્ગગમનની "સુજસવેલી"મા માત્ર મળે છે લઘુદીક્ષાની તો સાલ પણ નહિ

એમા વડીદીક્ષાની સાલ ૧૬૮૯ નોંધી છે તેથી દીક્ષા વચ્ચે થોડા મહિનાનુ અતર હોવુ જોઈએ

બીજી બાજુ આ પટની પુષ્પિકામા તો ૧૬૬૩ની સાલ વખતે ઉપાધ્યાયજીને गणि તરીકે ઓળખાવ્યા છે આ પુષ્પિકાના પુરાવાના આધારે પચાસેક વર્ષથી જે વિદ્વાનો તેમનો જીવનકાળ લગભગ ૧૦૦ વર્ષનો છે એવુ કહેતા આવ્યા છે તેને સમર્થન મળે છે *

મુનિશ્રી યશોવિજયજી

---

* આ પટ પૂ આચાર્યશ્રી વિજયધર્મસૂરિજી મહારાજના શિષ્ય મુનિશ્રી યશોવિજયજી મહારાજને સ ૨૦૦૯ માં અમદાવાદ મુકામે અર્પણ થયો હતો પટનુ માપ ૧૦"×૧૦" છે આ પટ મુનિશ્રી યશોવિજયજી મહારાજના સગ્રહમાં છે — સપાદકો

સુપાસનાહચરિયની હસ્તલિખિત પોથીમાંનાં રંગીન ચિત્રો

મુનીશ્રી પુણ્યવિજયજી

શ્રી લક્ષ્મણગણિવિરચિત પ્રાકૃત સુપાસનાહચરિયની હસ્તલિખિત પ્રાચીન પ્રતિમાંથી પસંદ કરેલાં ૭ સુંદરતમ ચિત્રો આ સંગ્રહ મધ્યમાં આપવામાં આવ્યાં છે. આ પ્રતિ, પાટણના શ્રીહેમચન્દ્રાચાર્ય જૈન જ્ઞાનમંદિરમાં રાખેલા તપાગચ્છીય જૈન સંઘની માલિકીના સંઘવીપાડા તપાગચ્છીય જૈન જ્ઞાનભંડારની છે. આ આખી પોથીમાં શ્રી સુપાર્શ્વનાથચરિત્રમાંના વિવિધ પ્રસંગોને રજૂ કરતાં બધાં મળીને ૩૭ ચિત્રો છે જે પૈકી ૨૧થી ૩૬ સુધીનાં ચિત્રો પ્રતિના માર્જીનને બાદ કરીને આખા પાનામાં આલેખાયેલાં છે અને બાકીનાં ચિત્રો પાનાના મધ્યમાં કે બીજા ભાગમાં આલેખાયેલાં છે. દરેક ચિત્રની બાજુમાં ચિત્રનો ક્રમાંક અને તેનો પરિચય આપવામાં આવ્યો છે, જેનો ક્રમવાર ઉતારો આ ચિત્રપરિચયમાં આપવામાં આવશે. પ્રતિમાંનાં ૨, ૪૩ અને ૭૭૨ એ ત્રણ પાનાં ખોવાઈ જવાને કારણે કે ફાટી જવાને કારણે નવાં લખાયેલાં છે અને તેમાં ચિત્રો પણ આલેખવામાં આવ્યાં છે, જે પણ ચિત્રકળાને શોભાવે એવાં નથી. આ કારણસર પ્રતિના ક્રમાંક ૨, ૩, ૧૫, ૧૬ અને ૩૧ એમ પાંચ ચિત્રો નવીન છે, જ્યારે બાકીનાં બધાં જ ચિત્રો પ્રાચીન અને બરાબર સુવ્યવસ્થિત રીતે સચવાયેલાં છે. આખી પ્રતિ વચમાં કંસારીઓએ ખાધેલી છતાં તે આજ સુધી જે રીતે સચવાયેલી છે એ રીતે સચવાશે તો હજુ બીજી બેચાર સદીઓ સુધી પ્રતિને કે ચિત્રોને આંચ આવે તેમ નથી.

આ પ્રતિનો નંબર ૧૫ ૬૯ છે અને તેની પત્રસંખ્યા ૪૪૩ છે. પ્રતિની લંબાઈ પહોળાઈ ૧૩૧ × ૪ા ઈંચની છે. પાનાની દરેક બાજુ પર ચાર લીટીઓ અને દરેક લીટીમાં ૩૨થી ૩૮ અક્ષરો લખેલા છે. પ્રતિની લિપિ સુંદર અને સચિત્ર સુંદર પોથીમાં શોભે તેવી છે. પ્રતિ વિક્રમ સંવત્ ૧૪૮૮માં લખાયેલી છે. તેના અંતમાં નીચે પ્રમાણે લેખનસમયાદિને જણાવતી પુષ્પિકા છે:

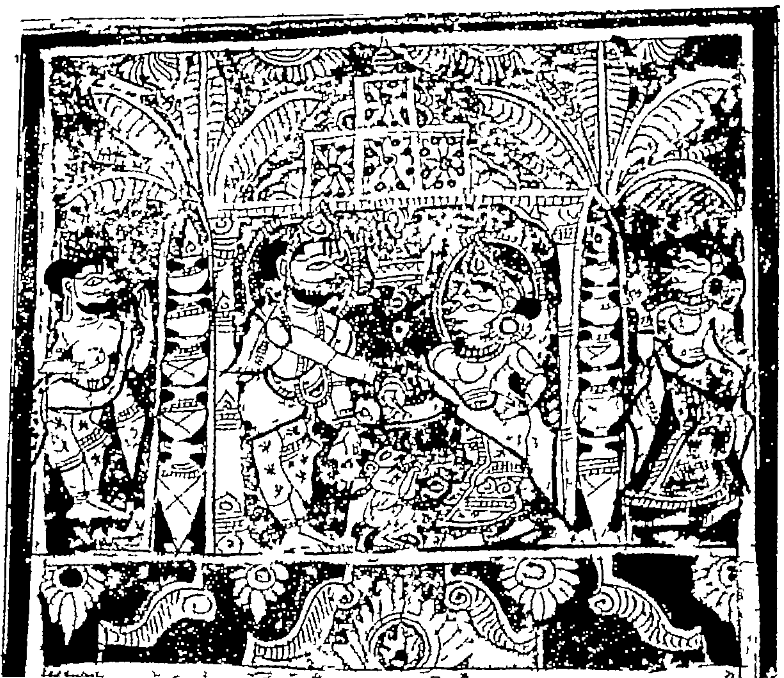
संवत् १४८८ वर्षे । शाके १३५३ प्रवर्तमाने । ज्येष्ठ वदि १ शुक्रे धनिष्ठानक्षत्रे । मेदपाटदेशे । देवकुलपाटके । राणाश्रीमोकलराज्ये । श्रीमत्तपागच्छे । भट्टारक श्रीसोमसुन्दरसूरिपरिवारसुन्दर पं. मानचन्द्रस शिष्यलेशेन । मुनि । हीरानंदेन लिलिखिरे ।

नन्दे मुनौ मुवे वर्षे १४८८ ज्येष्ठमासे सितेतरे ।
एकस्य तेजसमान पुष्पस्य सम्पुष्टकम् ॥ १ ॥
मद-मुनि-मेद-पाटे वर्षे श्रीविक्रमस्य लोकविदे ।
अलिखत् सुपार्श्वचरितं हीरानन्दो मुनीशोऽयम् ॥ २ ॥

આ પુષ્પિકામાં જણાવવામાં આવ્યું છે કે વિ. સં. ૧૪૮૮માં મેવાડ દેશના દેલવાડા—દેવકુલપાટકમાં રાણા શ્રીમોકલના રાજ્યમાં તપાગચ્છનાયક ભટ્ટારક આચાર્યશ્રી સોમસુંદરસૂરિના શિષ્ય માનચંદ્રના શિષ્ય હીરાનંદે આ પ્રતિ લખી છે.



←चित्र न १ वासभवनमा पृथ्वीमाता साथे भगवान् श्रीसुपार्श्वनाथ



चित्र नं २ सोमा राजकुमारी साथे भगवाननुं पाणिग्रहण

चित्र न. ३ सहस्राम्रवन उद्यानमा भगवाननी दीक्षा.



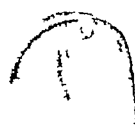
चित्र ५ श्रीसुपार्श्वनाथ भगवाननी मोक्षप्राप्ति

પ્રતિની પુષ્પિકામાં એ જણાવવામાં નથી આવ્યું કે પ્રતિમાંના ચિત્રો હીરાણંદમુનિએ પોતે આલેખેલા છે કે કોઈ નિષ્ણાત ચિત્રકારે આલેખેલા છે. ભગવત હીરાણંદના આલેખેલા ચિત્રો નહિ હોય છતાં એ પ્રશ્ન સામાન્ય રીતે આ [illegible]નો જ ગણાય.

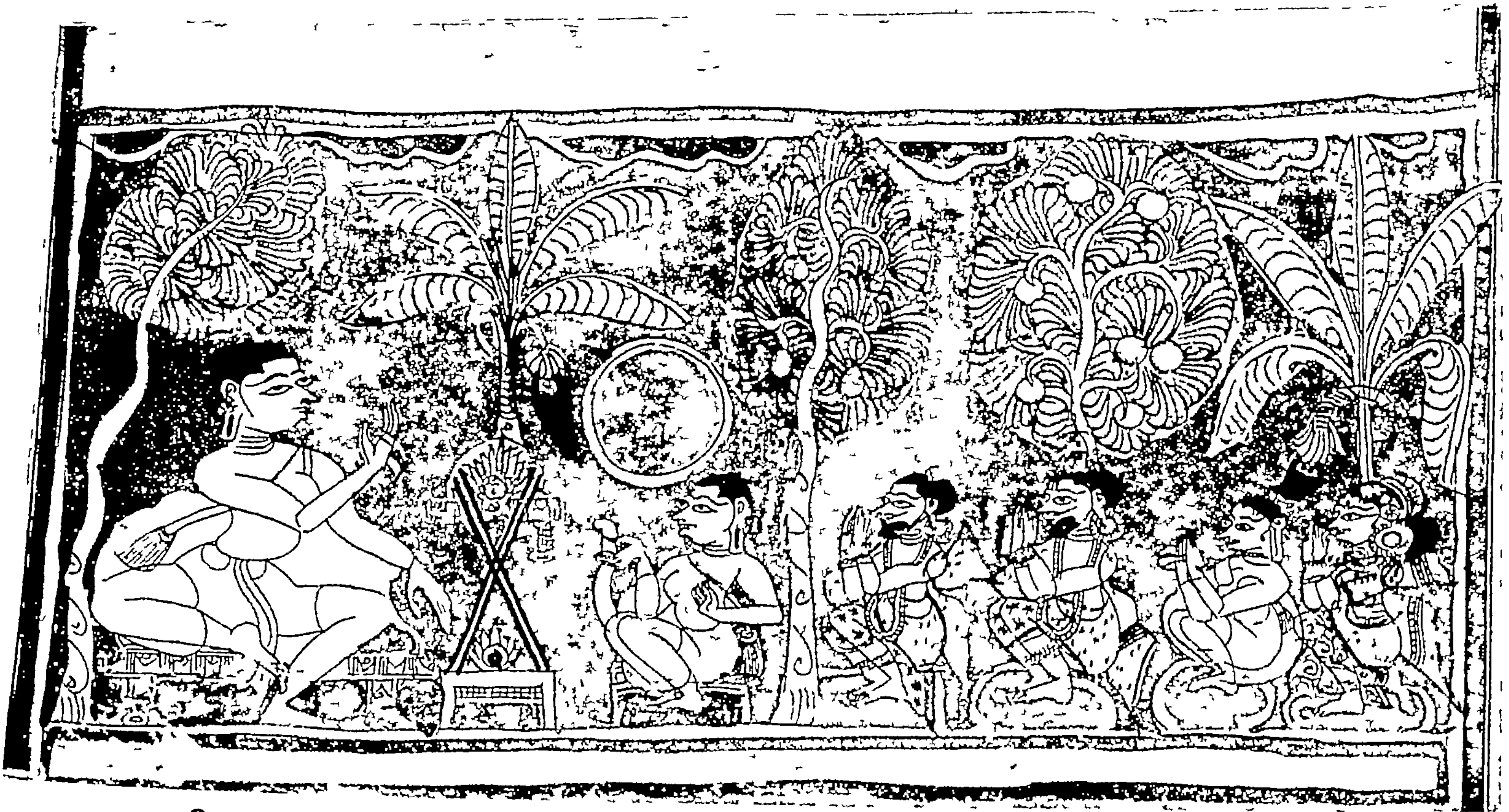
ચિત્રોની લંબાઈ પહોળાઈ વધારેમાં વધારે ૮।×૪॥। ઈંચની છે અને ઓછામાં ઓછી ૨।×૪॥। ઈંચ છે. મોટા ભાગના ચિત્રો ૩।×૪॥। ઈંચના છે. કોઈ કોઈ ચિત્ર ૪॥×૪॥। ઈંચનાં પણ છે. ચિત્રોમાં લાલ, લીલો, પીળો, આસમાની, ગુલાબી, કાળો, સફેદ, સોનેરી અને રૂપેરી એમ નવ રંગનો ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છે. રંગોની બનાવટ અને મિશ્રણો અતિશ્રેષ્ઠ હોઈ પ્રતિ પ્રાચીન અને તે સાથે જીર્ણ થવા છતાં રંગોની ચમક અને તેનું સૌંદર્ય આજે પણ આપણને આકર્ષે છે. આપણે ત્યાં પ્રાચીન કાળથી ઘણા ઘણા રંગોનું નિર્માણ અને તેનો ઉપયોગ થતો હતો, જેનું ભાન આપણને પ્રાચીન ગ્રંથોમાંના ચિત્રો અને પ્રાચીન ચિત્રકૃતિઓના દર્શનથી થાય છે. આ રંગો મુખ્યત્વે વનસ્પતિ, માટી અને ધાતુઓમાંથી બનતા હતા. જેને લગતા ઘણા ઘણા ઉલ્લેખો આપણને પ્રાચીન ગ્રંથોમાં અને ખાસ કરીને શિલ્પવિષયક પ્રાચીન પાનાઓમાંથી મળી આવે છે. આમાંના કેટલાક ઉલ્લેખોની નોંધ મેં ભાઈ સારાભાઈ નવાબ સંપાદિત "ચિત્રકલ્પદ્રુમ"માંના મારા 'ભારતીય જૈન શ્રમણસંસ્કૃતિ અને જૈન લેખનકળા' નામના અતિવિસ્તૃત લેખમાં આપી છે. તે પછી આને લગતા બીજા કેટલાય ઉલ્લેખો મળી આવ્યા છે. આથી ચિત્રકળા આદિ માટે ઉપયોગી રંગો બનાવવાની કુશળતા આપણે ત્યાં કેટલી અને કેવી હતી તેનો આપણને ખ્યાલ આવી શકે છે.

પ્રાચીન ચિત્રકળાના નિર્માણ સામે આજની કેટલીક વિવિધ માન્યતા, કલ્પના અને તર્ક-આક્ષેપો હોવા છતાં આ ચિત્રોના નિર્માણમાં એક વિશિષ્ટ પરંપરા હતી, એમાં તો જરાય શંકાને સ્થાન નથી. એ નિર્માણ પાછળના કેટલાક ખ્યાલો વીસરાઈ જવાને લીધે એ ટીકાસ્પદ બને, એ કોઈ ખાસ વસ્તુ ન ગણાય. એટલે પ્રસ્તુત ચિત્રોનું નિરીક્ષણ કરનારે અમુક વિશિષ્ટ દૃષ્ટિએ તેનું અવલોકન કરવું જોઈએ. આ ચિત્રો આપણા પ્રાચીન રીતરિવાજો, સંસ્કૃતિ, વેષવિભૂષા આદિ અનેક બાબતો ઉપર વિશિષ્ટ પ્રકાશ પાડે છે, એ એક ખાસ ધ્યાનમાં રાખવા જેવી વસ્તુ છે. આટલું ટૂંકમાં જણાવ્યા પછી હવે પ્રતિમાં જે ક્રમે ચિત્રો અને તેનો પરિચય નોંધાયેલો છે તેનો ઉતારો આ નીચે આપવામાં આવે છે.

पत्र–पृष्ठ	चित्रांक	चित्रपरिचय
१–२	१	श्रीसुपार्श्वजिन
२–१	२	श्रीसरस्वती देवी
२–२	३	गुरुमूर्त्ति
२२–२	४	प्रथम भव । मध्यमउवरिम ग्रैवेके भोग्य
२५–१	५	भाद्रपद वद्यष्टमी सुमिनानि पश्यति
२५–२	६	गजादि चतुर्दश सुमिनानि १४
२७–१	७	राजा श्रीसुपइट्ठ । राज्ञो सुपिनानि कथयति राज्ञी ।
२८–१	८	चारणमुनि सुमिणफल विचारयति । राजा सुपइट्ठ सुणति ।



पत्र-पृष्ठ	चित्रांक	चित्रपरिचय
–१	५	राग श्रीराग रागिनी लसनपाटरानाम्
२ –		रानी पुष्पमिदेवी मङ्गा पौष उत्तरंग हाथी । सुपर्णाञ्जन
१८–१ सार्थ बाबूए		सुर्पगिरी इत्र स्नात्र करोति
१८–२ अपनी साबूए	१	नृप स्नात्रसंग मानायणेन वाञ्न तुल्य
८ –१ सार्थ बाबूए	११	रानी धनमनार
८ –२ अपनी साबूए	१४	राग श्रीसुरस पुत्रस्तन मरायर्थे आगत
८१–२ सार्थ बाबूए		
८ –२ अपनी बाबूए	१	
०–१		श्रीसुपार्श्व पाणिग्रहण मध्य वामा वहित
–	८	राग श्रीसुपार्श्व सुर्सरात्र अर्सित पर्व्वानि प्रतिपुत्र
१ –	१	तत्पर्यन्तरा दीक्षा गृह्णाति ग्यारान जन्तु मुक्ति १
१ –		स्याद्वादु पस्माद पत्यति । महिदु पत्यास्पति । महिष्यादे सुपर्श्व पत्न दिय । देव महोत्सव
१८–२ सार्थ बाबूए		रत्नस्थान उत्सव निर्मित कृत्वा पासु १
१८–२ अपनी बाबूए		समोसरणु
१८–	१	समवसरण । भगवान कल्याण वस्तु क २४ । सोमा नाम्ना भार्या पुत्रसहित बन्दनयात्रा
१ –	४	श्रीसुपार्श्वजिन समवसरण । चित्र और बत्तम सुलसि
१–		सोमा नाम पत्नी दीक्षा दीक्षा । पञ्चविंशतिरे स्थापिता । अनेक मनुष्या दीक्षा गृह्णन्ति देवलाप्रतिमुद्रा
–	२४	श्रीनरवाहनपुरवासिनः राग श्रीनिर्वाण मनिसुत । दीक्षा गृहीता ।
७१–१	२	श्रीसुपार्श्व देवता कुसुम । पात्रपात्रमर राणा पत्न निरति । सम्मत्तधारि शरीवर शरणधारि व्याख्यान
७१–२	८	कुसुमाकर उपाध्याय पञ्चसमान पक्षपति
१११–१	१९.	नलिनावेदी श्रीसुपुत्र । श्रीमत्कुमरमित्र । करणालिङ्ग रूप । श्रीमत्कुमर चित्र लिखति । श्रीमत्कुमर रूप । तत्र इत्व । तन्न गृह्णाति । कृष्णपुत्रस्यो मातारो भवति भीम । महिमान्ता देवी बन्धनाद्य



चित्र नं ४ श्रीसुपार्श्वनाथ स्वामिना प्रथम विन्न गणधरनु घनमां आगमन अने पर्षदा समक्ष धर्मोपदेश.

पत्र–पृष्ठ	चित्रांक	चित्रपरिचय
२६६–२	३०	**उपर**—सहकारतले श्रुतज्ञानिन मुनिं कीरी नमस्करोति **नीचे**—रिपुमर्दनराजाग्रे शुक शुकी सवाद कुर्वेति
३३२–२	३१	आखा पानामा चित्र छे **डावी वाजू**—राजश्चरणे श्मशानभूमिकाया वेताला नमति **जमणी वाजू**—वेताल धाविवि नधरूपा
३३३–२	३२	आखा पानामा चित्र छे **डावी वाजू**—राजा सभायामुपविष्ट । वेताल छत्र धरति **जमणी वाजू**—वेताला नृत्य कुर्वेति । एक तुलाहस्तो नृत्यति वृद्धरूप
३८६–१	३३	आखा पानामा चित्र छे **डावी वाजू**—राजा सभाया उपविष्ट । विक्रमराजा **जमणी वाजू**—आकाशात् खेटक-खड्गधारी वेताल उत्तरित । वेताल युद्ध करोति राजपुरुषै सार्धम्
३८७–१	३४	आखा पानामा चित्र छे **डावी वाजू**—शखकुमर वेताल प्रति धावित । राजान प्रति वदति पादौ लगित्वा **जमणी वाजू**—वेतालरूप युध्यमानम् । अत्र वनमध्ये सूरय संति केचित् । दृष्टा कुमरेण । बाहुभ्या मिलापक कुर्वेति द्वौ पुरुषौ
४३९–१	३५	वनमध्ये गणधर समागत । दिन्नगणधर
४४०–२	३६	आखा पानामा चित्र छे **डावी वाजू**—श्रीसुपार्श्वजिन शैलेशीध्यानमाश्रित सम्मेतशिखरोपरि **वचमा**—देवा मृतकविमानमुत्पाटयति । तीर्थंकरस्य उत्सव **जमणी वाजू**—श्रीसुपार्श्वजिनदेवस्य देवा अगसस्कार कुर्वेति सम्मेतशैलोपरि
४४१–१	३७	श्रीसुपार्श्वजिना मुक्तिं प्राप्ता

આ ઉતારો સુપાસનાહચરિયની હસ્તલિખિત પ્રતિમા ચિત્રોની બાજુમાં જે ચિત્ર–પરિચય આદિ લખેલ છે તેનો અક્ષરશ મૂળમા છે તેવો આપવામા આવ્યો છે એ શુદ્ધ સસ્કૃત ભાષામા નથી પણ મિશ્રિત ભાષામા છે છતા એ પરિચય સસ્કૃતપ્રધાન ભાષામા છે એ સ્પષ્ટ દેખાય છે પ્રસ્તુત સ્મારક ગ્રથમા ઉપર નોંધેલા ૩૭ ચિત્રોમાથી પસદ કરીને સુંદર ૭ ચિત્રો છાપવામા આવ્યા છે

પ્રથમ ચિત્ર પ્રતિમા ૧૩મુ છે, જેમા ભગવાન્ શ્રીસુપાર્શ્વનાથની માતા પોતાના પુત્રને લઈને પારણામા બેઠા છે અને પુત્રને રમાડી રહ્યા છે



બીજું ચિત્ર પ્રતિમાં ૧૭મું છે. જેમાં મુનિ [illegible] કોશા નામની રાજનર્તકીને [illegible] રહ્યા છે એ પ્રસંગનું દર્શન છે. એટલે એમાં મોરીની અને હસ્તિ[illegible]નો પ્રસંગ દેખાડવામાં આવ્યો છે.

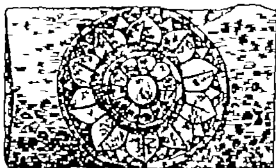
ત્રીજું ચિત્ર પ્રતિમા ૧૯મું છે. જેમાં ભગવાનના દીક્ષાપ્રસંગનું દર્શન છે. એટલે ભગવાનને કેશલુંચન કરતા બતાવવામાં આવ્યા છે. આ ચિત્રમાં રંગોને અતિસુંદર રીતે મીલાવવામાં આવ્યા છે. તેથી ચિત્ર આકર્ષક બને છે.

ચોથું ચિત્ર પ્રતિમા ૨૫મું છે. એમાં શ્રીપાર્શ્વનાથસ્વામીના મુખ્ય ગણધર, જેમનું નામ [illegible] છે તે વનમાં [illegible] ઉપદેશ કરી રહ્યા છે. આ ચિત્રમાં સ્ત્રીનું [illegible] આલેખન અને [illegible]ને [illegible] ચિત્રિત આકર્ષક ચિત્ર દોરવામાં આવ્યું છે.

પાંચમું ચિત્ર પ્રતિમાં ૩૬મું છે ને તે ભગવાનના નિર્વાણ-કલ્યાણકને લગતા ઉપસ્થિત પ્રસંગને લગતું છે. આ ચિત્રને ચિત્રકારે ત્રણ વિભાગમાં આલેખ્યું છે. પ્રથમ વિભાગમાં ભગવાન [illegible] ગિરિ ઉપર ધ્યાન—અંતિમ સમાધિ લે છે એ દેખાય છે. વચલા ચિત્રમાં ભગવાનના દેહને ચિતામાં પધરાવી દેવતાઓને નિર્વાણ-મહોત્સવ ઉજવતા બતાવ્યા છે અને છેલ્લા ચિત્રમાં ભગવાનના દેહનો અંતિમ સંસ્કાર થતો દેખાય છે. અગ્નિની જ્વાળાઓની વચમાં બળતા ભગવાનના દેહનું દર્શન આબેહૂબ રીતે આલેખવામાં આવ્યું છે.

છઠ્ઠું ચિત્ર પ્રતિમા ૩૭મું એટલે અંતિમ ચિત્ર છે. એમાં ભગવાન શ્રીપાર્શ્વનાથસ્વામીને સિદ્ધિપદમાં પ્રાપ્ત થયાનું આલેખન છે.

આમ આ બધાને સંકલિત છ ચિત્રો આ સ્મારક ગ્રંથમાં આપવામાં આવ્યા છે. જે પ્રાચીન ગુજરાત ચિત્રકળાના અપૂર્વ નમૂનારૂપ છે અને રસ ક્ષમતાની શોભાનું અનેરો પ્રતીક છે.

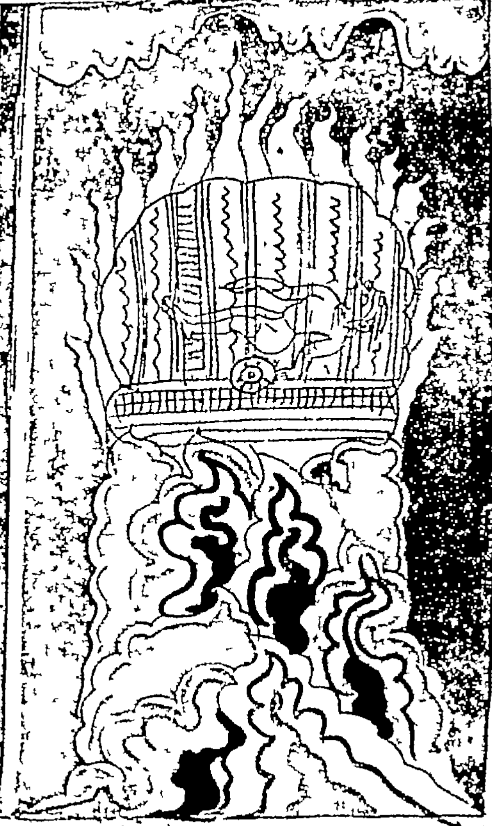




१



२



३

चित्र ६ भगवान् श्रीसुपार्श्वनाथ स्वामीनुं निर्वाणकल्याणक

१ सातमा तीर्थंकर श्रीसुपार्श्वनाथ भगवाननुं समेतशिखर गिरि उपर कायोत्सर्ग मुद्रामा निर्वाण
२ भगवान् श्रीसुपार्श्वनाथ स्वामिना देहने शिबिकामां पधरावी देवोए उजवेली निर्वाणयात्रा.
३ समेतशिखर गिरि उपर भगवानना देहनो अग्निसंस्कार.

શ્રીયશોવિજયોપાધ્યાય અને તેમણે લખેલી હાથપોથી

નયચક્ર

મુનિશ્રી પુણ્યવિજયજી

જૈન શ્રીસઘ પાસે આજે જે જ્ઞાનસગ્રહો અને તેમા જે વિશાળ ગ્રથરાશિ વિદ્યમાન છે તે આજે એના વિશિષ્ટ ગૌરવની વસ્તુ છે અને ભલભલાને પણ આશ્ચર્ય ઉત્પન્ન કરે તેના અને તેટલા વિશાળ છે હજારોની સખ્યામા વિનાશના મુખમા જવા છતાય આજે જૈન મુનિવરો અને જૈન ગૃહસ્થ શ્રીસઘોની નિશ્રામા જે ગ્રથસગ્રહો છે તેની ડરતા ડરતા પણ સખ્યા કલ્પવામા આવે તો તે પણ લગભગ પદરથી વીસ લાખ જેટલી છે આ બધા જ્ઞાનભડારોમા માત્ર જૈન ગ્રથો જ છે તેમ નથી પણ તેમા ભારતીય જૈન જૈનેતર વિધવિધ પ્રકારના સમગ્ર સાહિત્યનો સગ્રહ છે કોઈ એવી સાહિત્યની દિશા ભાગ્યે જ હશે જેને લગતા ગ્રથો આ સગ્રહોમા ન હોય આ ગ્રથસગ્રહોની મહત્તા જ એ છે કે તે માત્ર સાપ્રદાયિક ગ્રથોની સીમામા જ વિરમી જતી નથી, પણ તેમા વૈવિધ્યપૂર્ણ ભારતીય વિશાળ સાહિત્યરાશિ છે જૈનેતર સપ્રદાયના એવા સૈંકડો ગ્રથો આ સગ્રહોમાથી મળી આવ્યા છે જેની પ્રાપ્તિ તે તે સપ્રદાયના સગ્રહોમાથી પણ નથી થઈ હજુ તો બધા જૈન જ્ઞાનસગ્રહોનુ સપૂર્ણપણે અવલોકન થયુ જ નથી તે છતાં તેની વિવિધતા અને વિશાળતા વિદ્વજ્જગતને દગ કરી દે તેવી પુરવાર થઈ છે, પરંતુ જ્યારે આ સમગ્ર જ્ઞાનભડારોનુ અવલોકન વ્યવસ્થિત રીતે કરવામા આવશે ત્યારે તેમાથી એવો સાહિત્યરાશિ પ્રાપ્ત થશે કે જગત મુગ્ધ બની જશે, એવી આ એક નક્કર વાત છે જૈન મુનિવરો અને જૈન શ્રીસઘોની આજે એ અનિવાર્ય ફરજ છે કે પોતપોતાના અધીનમા રહેલા જ્ઞાનભડારોનુ સમગ્રભાવે સૂક્ષ્મ અવલોકન કરે આટલું પ્રાસગિક જણાવ્યા પછી આજે પ્રસ્તુત સ્મારકગ્રથમાં નયચક્ર ગ્રથના આદિ અતના પાનાંઓનુ જે પ્રતિબિંબચિત્ર આપવામા આવ્યુ છે તેનો પરિચય અહીં કરાવવામા આવે છે

નયચક્ર ગ્રથ જેને द्वादशारनयचक्रના નામથી પણ ઓળખવામા આવે છે એ મૂળ ગ્રથ આચાર્ય શ્રીમલ્લવાદિવિરચિત છે જૈન દાર્શનિક આચાર્યો અને જૈન પ્રજા આ આચાર્યને “વાદી” તરીકે ઓળખે છે આચાર્ય શ્રીહેમચદ્રે સિદ્ધહેમ વ્યાકરણમા उत्कृष्टेऽनूपेन સૂત્રમા अनु मल्लवादिन तार्किका, तस्मादन्ये हीना એમ મલ્લવાદી આચાર્ય માટે જણાવ્યુ છે

જૈન દાર્શનિક ક્ષેત્રમા સન્મતિતર્ક અને નયચક્ર એ બે ગ્રથનું સ્થાન ઘણુ ગૌરવવતુ છે આ બન્નેય ગ્રથોનુ સશોધન અને સપાદન એ પ૦ શ્રીસુખલાલજીના જીવનનુ મુખ્ય ધ્યેય હતું, પરંતુ સન્મતિતર્ક ગ્રથનું સશોધન અને સપાદન પં૦ શ્રીબેચરદાસ દોસીના સહકારથી કર્યા પછી નયચક્ર ગ્રથના સશોધન અને સપાદનની વાત કેટલાક સયોગોને લીધે ત્યા જ વિરમી ગઈ ત્યાર પછી એ ગ્રથનું સશોધન અને પ્રકાશન ગાયકવાડ ઓરિએન્ટલ સિરિઝ વતી પૂજ્યપાદ શ્રીઅમરવિજયજી મહારાજના વિદ્વાન્ શિષ્ય મુનિશ્રી ચતુરવિજયજીએ હાથમા લીધુ તેનો પ્રથમ ભાગ બહાર પડે તે પહેલા આ આખા ગ્રથનુ સશોધન અને સપાદન સ્વકૃત અવચૂરિ સાથે પૂજ્ય આચાર્ય મહારાજ શ્રીવિજયલબ્ધિસૂરિજીએ સ્વતત્ર રીતે કરવા માંડયું પરંતુ જ્યારથી નયચક્રગ્રથનું સશોધન અટકયુ હતું ત્યારથી એ ગ્રથનું વિશિષ્ટ સશોધન અને સપાદન થાય એ વાત મારા હૃદયમા વસી જ હતી, પ્રસગે પ્રસગે એ વિષે વિચાર પણ કરવામા આવતો જ

सिंहवादिगणि क्षमाश्रमण कृत नयचक्र टीका
उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजना हस्ताक्षरमां

હતો, પરંતુ જ્યાં સુધી એ ગ્રંથના વિશિષ્ટ સંશોધનને હાથમાં લઈ ભાર સમભાવપૂર્વક ઝીલનાર વિદ્વાન કે વિદ્વાનો ન મળ્યા ત્યાં સુધી તે વિષે હું કશું કરી શક્યો નહિ. તેમ છતાં પં. શ્રીસુખલાલજીના કહેવાથી મને મુનિવર શ્રીજંબૂવિજયજી અને તેમની ગ્રન્થાદિક સુયોગ્યતાનો પરિચય મળી ગયો હતો. એટલે તેમની હું શોધ કરતો જ હતો કે એ મહાનુભાવ ક્યાં છે અને કોના પરિવારના છે? સાંજ જ ભાગ્યબળે મેઘ વરસી પડે તેવી રીતે અચાનક મને પૂજ્ય મુનિવર શ્રીજંબૂવિજયજીનો એક પત્ર આવ્યો કે હવેથી અમે બે સ્થાને રહું છું ત્યાં મળ્યો. મેં એ પત્રમાં આવેલી જ્ઞાનગંગાને વધાવી લીધી અને નયચક્ર મહાશાસ્ત્રના સંશોધન અને સંપાદનનો ભાર તેમના ઉપર નાખ્યો અને તે સાથે તેને લગતી દરેક જાતની સામગ્રી પૂરી પાડવાની જવાબદારી મારી અલ્પસ્વલ્પ શક્તિ અનુસાર મેં પણ સ્વીકારી.

ગાયકવાડ ઓરિએન્ટલ સિરિઝ અને પૂજ્યપાદ આચાર્ય મ. શ્રીવિજયલબ્ધિસૂરિજી મહારાજ તરફથી આ ગ્રન્થનું કાર્ય શરૂ હોવા છતાં આ નવીન પ્રવૃત્તિ આદરવાના મૂળમાં ખાસ બે કારણ છે કે પ્રસ્તુત મહાન્ ગ્રન્થના સંશોધન અને સંપાદન અંગેની આજે જે એક વિશિષ્ટ પદ્ધતિ છે અને સંશોધન કરવા જે સમગ્ર આવશ્યક જોઈએ તેમ જ તે સાથે આજે ઉપલબ્ધમાન નાના સામગ્રીનો જે રીતે ઉપયોગ થવો જોઈએ એ, એમાંથી એક પણ કરી શકે તેવી શક્યતા તેમાં ન હતી. એ જ કારણસર આજે મહાનયચક્ર અને મહાપ્રમાણભૂત આ કાર્ય હાથ ધરવામાં આવ્યું છે. આ ગ્રન્થના સંશોધન માટે જેટલી અને જેવી વિપુલ અને મહત્ત્વની અલભ્ય-દુર્લભ સામગ્રીનો ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છે તેની નોંધ લેવાનું આ સ્થાન નથી, એટલે એ વાતને અહીં જતી કરીને માત્ર એ બધી સામગ્રીમાં ઉપર પ્રમાણ મળ્યાં તેવી જે અંતિમ સામગ્રી પ્રાપ્ત થઈ છે તેનો આ સ્થળે ઉલ્લેખ કરવામાં આવે છે.

પ્રસ્તુત નયચક્ર, કે જે ભાવનગરની શ્રી જૈન આત્માનંદ સભા તરફથી પ્રકાશિત થશે, તેના સંશોધન માટે અમે જે અનેક પ્રાચીન પ્રતિઓ એકત્ર કરી હતી તેમાં ખંભાતના ખરતરગચ્છીય આચાર્ય યતિવર શ્રીચિદાનંદજી મહારાજના સંગ્રહની અને પૂજ્યપાદ આચાર્ય મહારાજ શ્રીવિજયનેમિસૂરિજી મહારાજના સંગ્રહની પ્રતિઓ પણ સામેલ છે. એ પ્રતિઓના અંતમાં જે પુષ્પિકા છે તે જોતાં ખાતરી થઈ હતી કે દ્વાદશારનયચક્ર ગ્રંથની એક પ્રતિ પૂજ્યપાદ ન્યાયવિશારદ ન્યાયાચાર્ય મહોપાધ્યાય શ્રીયશોવિજયજી મહારાજ અને તેમના સહકારી મુનિવરોએ મળીને લખી હતી. આજે અસ્તિત્વ ધરાવતી નયચક્રની પ્રાચીન-અર્વાચીન હસ્તપોથીઓમાંથી ખાસ ભાવનગર શ્રીસંઘના જ્ઞાનભંડારની પ્રતિને બાદ કરતાં બાકીની બધી જ પ્રતિઓ એ, ઉપાધ્યાયજીએ લખેલી પ્રતિની જ નકલો છે. આ બધી નકલો લેખકોના દોષથી એટલી બધી દૂર અને વિકૃત થઈ ગઈ છે કે જેથી આ ગ્રંથના સંશોધનમાં ઘણી જ અગવડો ઊભી થાય. આ સ્થિતિમાં પ્રસ્તુત ગ્રંથના સંશોધનમાં પ્રામાણિકતા લાવવા માટે ઉપાધ્યાયજી મહારાજે લખેલી મૂળ પ્રતિને શોધી કાઢવા માટે હું સતત પ્રયત્નશીલ હતો. પણ તે પ્રતિ ક્યાંયથી હાથમાં ન જ આવી.

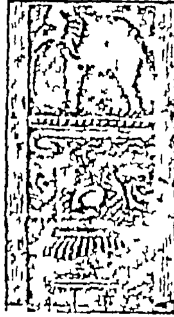
પરંતુ જૈન શ્રીસંઘના ભાગ્યે, પ્રસ્તુત ગ્રંથના રસિક વિદ્વાનોના ભાગ્યે કે પ્રસ્તુત ગ્રંથના સંશોધન પાછળ રાતદિવસ અપાર પરિશ્રમ સેવનાર મુનિવર શ્રીજંબૂવિજયજીના ભાગ્યે મહાભાગ્યોદયનું અજબ થયું કે— જેની ખાસ ખબર પૂજ્યપાદશ્રી વિજયવલ્લભસૂરિજી વર્તના અને સફળ બની ગઈ. જૈન—પૂજ્યપાદશ્રી ૧૦૮ શ્રીશાન્તમૂર્તિ શ્રીજયંતવિજયજી મહારાજના શિષ્ય પન્યાસ મુનિવર શ્રીરમણીકવિજયજીએ આ વર્ષે વૈશાખના પ્રારંભે ઉપાધ્યાયના પન્યાસજી મહારાજ શ્રીઉમેદવિજયજી મહારાજના જ્ઞાનભંડારને જોવાનો ઉદ્યમ તેમના શિષ્ય શ્રીકીર્તિવિજયજીની હાજરીથી કર્યો. આ ઉદ્યમથી એ જ્ઞાનભંડારનું અવલોકન કરતાં પં. શ્રીરમણીકવિજયજીના હાથમાં શ્રીયશોવિજયજી મહારાજના સ્વ હસ્તે લખેલ પ્રતિ તેમના

सिंहवादिगणि क्षमाश्रमण कृत नयचक्र टीका

उपा याय श्रीयशोविजयजी महाराजना हस्ताक्षरमा

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

: श्रद्धांजलि अने जीवन :



हिन्दी विभाग

सपादक

प्रो. पृथ्वीराज जैन, एम ए, शास्त्री

આ પુષ્પિકામાં એમ જણાવવામાં આવ્યું છે કે— પ્રસ્તુત હસ્તપોથી પત્રરૂપે વિ. સં. ૧૭૧ માં લખી છે. એ લખતા પહેલાં ઉપાધ્યાય શ્રીયશોવિજયજી મહારાજે આ આખો ગ્રંથ પત્રરૂપે વાંચી લીધો હતો અને ત્યાર પછી શ્રીનયવિજયજી મહારાજ, શ્રી લાભવિજય ગણિ, શ્રીજીતવિજયજી મહારાજ, શ્રીકીર્તિરત્ન ગણી, શ્રીતત્ત્વવિજય ગણિ, શ્રીરવિવિજય ગણિ અને ખુદ શ્રીયશોવિજયજી મહારાજ એમ સાત મુનિવરોએ મળીને ૧૮ [illegible] પ્રભુ આ મહાગ્રંથ [illegible] પાટણમાં—ચાર દિવસમાં [illegible] પોથી લખી છે—નકલ કરી છે.

આ ગ્રંથની નકલ કરવા માટે આટલી બધી ઉતાવળ કરવી પડી એ એક નવાઈ જેવી વાત છે; પણ એની પાછળ આ ગ્રંથની વિરલ પ્રતિ હશે તેમને આપી દેવાની ઉતાવળ હશે કે શું?—એ એક કોયડો જ છે. બાકી આ ગ્રંથ કેટલા મહત્ત્વનો અને જૈન દર્શનના વાદગ્રંથ અને જૈન ન્યાયના અભ્યાસ માટે ઉપયોગી છે! એની પ્રતીતિ આપણને એ વાતથી જ થાય છે કે શ્રીયશોવિજયજી જેવાએ આ ગ્રંથની નકલ કરવાનું કાર્ય હાથ ધર્યું.

પ્રસ્તુત પ્રતિને લખવામાં જે સાત મુનિવરોએ ભાગ લીધો છે તેમના અક્ષરો અલગ પારખવાનું સહેલું નથી. આ લખાણમાંથી આપણે માત્ર શ્રીયશોવિજયજી મહારાજ અને તેમના ગુરુ શ્રીનયવિજયજીના હસ્તાક્ષરોને જ ઓળખી શકીએ. તેમ જોઈએ તો આ ગ્રંથમાં પત્ર ૧થી ૪૪, પત્રથી ૭૧, ૨૫૧થી ૫૫ અને ૨૬૨થી ૬૪ એમ કુલ ૭૩ પાનાં શ્રીયશોવિજયજીએ લખેલાં છે. એમાં પણ કેટલાંક પત્રો [illegible] થી ૪૮ [illegible] જેટલો ભાગ લખ્યો છે. શ્રીયશોવિજયજી મહારાજ જેવા વિદ્વાન જાતે આટલું લખવાનું કામ હાથ ધરે, એ એમની જ્ઞાનોપાસના [illegible] સૂચવે છે અને એ આ ગ્રંથની ઉપયોગિતા આપણને સ્પષ્ટ કરે તેવી દલીલ છે.

પ્રસ્તુત પ્રતિમાં કુલ ૩૦૬ પાનાં છે. તેમાં પંક્તિઓમાં લખાણનો કોઈ ખાસ મેળ નથી. કોઈ પાનામાં ૧૩ પંક્તિઓ લખી છે તો કોઈમાં ૧૩થી ઓછી નથી અને ૨૧થી વધારે નથી. પ્રતિની લંબાઈ પહોળાઈ ૧૦ x ૪½ ઇંચની છે. ૩૦૬મા પાનામાંની અંતિમ ૭ લીટીઓ પ્રસ્તુત પુષ્પિકા શ્રીયશોવિજયજી મહારાજે લખેલી છે.

આગમ પ્રભાકર મુનિજી આ ગ્રંથને [illegible] માને છે. આજે આપણને નયચક્ર ગ્રંથની પ્રાચીન-અર્વાચીન પોથીઓ મળે છે અને શ્રીયશોવિજયજી મહારાજના હાથની જે પોથી મળી આવી છે તે માત્ર નયચક્ર ઉપર આચાર્ય શ્રીસિંહસૂરિ-ગણિ-ક્ષમાશ્રમણે રચેલી ટીકારૂપ જ છે. આચાર્ય શ્રીમલ્લવાદીના મૂળ નયચક્રની [illegible] છે કે આચાર્ય શ્રીમલ્લવાદિસૂરિ એ પ્રાચીન ગ્રંથની નકલ આજે ક્યાંય જોવામાં નથી આવતી. આ ગ્રંથની વ્યાખ્યાને આધારે [illegible] જોવામાં જ નહિ પણ આપણા વિદ્વાનોના મુખે [illegible] આ ગ્રંથ [illegible] અને [illegible].

जागृति के देवदूत श्री वल्लभ

श्री रामकुमार जैन बी ए, बी टी, न्यायतीर्थ, स्नातक

किस पल जग में तुम आये थे जीवन का ले सन्देश नया।
मृतकों को जीवन दे डाला, शास्त्रों का दे उपदेश नया॥
शुभ उदय बड़ोदा नगरी का, आनन्दगुरु पद-रज लेकर।
वल्लभ संज्ञा सार्थक कर दी, भक्तों को भक्ति दान देकर॥
कुछ जादू था या टोना था या इन्द्रजाल का सपना था।
क्यों हमसे नाता तोड़ चले, जब हमको समझा अपना था॥

२

तुम फूल सदृश कोमल लेकिन काँटों में मुसकाना सीखा।
वैराग्य सिन्धु का खारा जल, अमृत कर बरसाना सीखा॥
बीजापुर और बिनौली में, विघ्नों में हरषाना सीखा।
गुजरांवाला में यत्न पड़ा, समता को अपनाना सीखा॥
कवि आप, संगीतज्ञ सजे, पर पूरा भेद नहीं पाया।
तुम माया रहित ब्रह्मचारी, पर भक्तों पर डाली माया॥

३

गुरुकुल, कॉलेज बना डाले, स्वर्गीय गुरु प्रण पूर्ण किया।
संयमी, मदन को मद न रहा, शिव बन उसका मद चूर्ण किया॥
इतने प्रचण्ड!, कैसे कवि ने वचनों में सुधा भरी पाई।
है सत्य, कठिन भूधर से ही सुरसरी निकलती है आई॥
सकलंक सदैव मयंक रहा, तुम निष्कलंक निष्पंक रहे।
श्रीसंघभूप! हे सूरीश्वर! ध्रुववीर रहे निःशंक रहे॥

४

युगवीर आत्माराम गुरु, तुम युवक वीर पद के धारी।
पञ्जाबकेसरी, तपधारी, कलिकालकल्पतरु सुखकारी॥
बहुसंख्य विशेषण देकर भी, महिमा न पूर्ण हो पायेगी।
जनता सर्वस्व मान करके, मुनिपुंगव! तव गुण गायेगी॥
पंजाब सत्य ब्रजमण्डल है, तुम श्याम हमारे मनहारी।
तुम बिछुड़ गए पर मन से हैं सब भक्त तुम्हीं पर बलिहारी॥

५

तुम मेघ पुष्करावर्त बने, भू पर बरसे और चले गये।
पर एक समुद्र[1] दिया हमको जिसके हैं रत्न अपार नये॥
उपकार आपका हे वल्लभ! क्या जगती कभी भुलायेगी?
जब याद आपकी आयेगी, वह हमको बहुत रुलायेगी॥
हे भक्तवृन्द! सब एक साथ मिल "श्री वल्लभ जय जयति" कहो।
हे जागृति के नवदेवदूत! तुम इतिहासों में अमर रहो॥

---

[1] वर्तमान आचार्य श्री श्री १००८ श्री विजयसमुद्रसूरि—संपादक

प्यार से भी वंचित होना पड़ा। बालक छगन ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से जिनदेव का स्मरण करती हुई माता से प्रश्न किया कि वह उसे इस असार सागर में किस के सहारे छोड़कर विदा हो रही है। माता के पास एक ही सहानुभूतिपूर्ण उत्तर था और वह था 'जिनदेव की शरण।' ये शब्द अपने गर्भ में बालक के भावी जीवन का बीज निहित किए हुए थे और भविष्य में वस्तुतः इस बालक ने इसी बीज को संवर्धित, पल्लवित, प्रफुल्लित और फलित करते हुए जिनदेव के शासन की सेवा में अपने प्राणों की आहुति दी।

बालक की आत्मा जिनदेव की सच्ची खोज के लिए लालायित हो उठी। १५ वर्ष की अवस्था में उसे एक महान क्रांतिकारी जैन मुनि के व्याख्यानरूपी अमृत के पान का अवसर मिला, जिस का एक एक शब्द उसके हृदय में आसन जमा कर बैठ गया। जादू भरी वाणी ने छगन को ऐसे जकड़ा कि सारा हाल श्रोतागणों से खाली हो गया, परन्तु वह दीवार के सहारे मानो उसी का अंग बन कर बैठा रहा। गुरुवर श्री आत्मारामजी ने मन में विचार किया कि कोई दुःखी और साधनहीन नवयुवक किसी अभाव की पूर्ति की याचना करने बैठा है। परन्तु जब बालक ने गम्भीरता व दृढ़ता से उत्तर दिया कि उसे तो आत्मकल्याण-रूपी धन की आवश्यकता है तो दूरदर्शी महात्मा तत्काल ही जान गए कि इस के अन्तःकरण में सच्चे वैराग्य की ज्योति प्रकाशमान है जिस की सुनहरी किरणें समाज, देश और विश्व का हित करने वाली हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि छगन के मन की सन्यास भावना महाकवि तुलसी के अनुसार 'नारी मुई घर संपति नासी, मूड़ मुड़ाय भए सन्यासी' के आधार पर न थी। इस की पृष्ठभूमि में अनेक पूर्वजन्मों की साधना व संचित संस्कार सहायक रहे थे। उन्हें केवल अनुकूल निमित्त कारणों की आवश्यकता थी ताकि आत्मनिहित अंकुर प्रगट हो कर फलफूल सके। उस काल में गुरु आत्म से बढ़ कर पथप्रदर्शक निमित्त कारण कौन मिल सकता था?

फलतः कई बाधाओं को पार करते हुए और अपने पथ पर दृढ़ रहते हुए उस बालक छगन ने गुरु आत्म के वरद कर-कमलों से वि० सं० १९४४ में राधनपुर में श्रीहर्षविजय का शिष्य बन कर जिनदीक्षा अङ्गीकार की। साधु अवस्था में इन का नाम 'वल्लभविजय' रख गया और वस्तुतः वे स्वपर कल्याण द्वारा सच्ची विजय प्राप्त कर समस्त लोक के 'वल्लभ'-प्रिय बन गए।

दीक्षा लेते ही उन्हों ने अपनी सारी शक्ति भगवान् महावीर के काल के साधुओं के समान श्रुताराधना में लगा दी। भगीरथ परिश्रम, नैष्ठिक विनय और तन्मयता से विविध शास्त्रों व साहित्य के अंगों का अध्ययन किया। वि० सं० १९५३ में आचार्य श्री आत्मारामजी का स्वर्गवास हुआ। उन्हों ने अंतिम समय में आपको बुला कर यह सन्देश दिया कि पंजाब में लगाए गए धर्म के पौधे की सार संभाल रखते हुए जगह जगह शिक्षा प्रचार के लिए सरस्वतीमन्दिरों की स्थापना करवाने में किसी प्रकार कोई कमी न रखना।

गुरु के इस आदेश को शिरोधार्य कर मुनि वल्लभ कार्यक्षेत्र में कूद पड़े। उन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पादविहार करते हुए सत्य और अहिंसा की ज्योति का लोगों को दर्शन कराया, जैनधर्म व जैनसमाज पर होनेवाले आक्रमणों से संघ की रक्षा की, देश में शिक्षणसंस्थाओं का जाल बिछा दिया। उन का सन्मान दिनानुदिन बढ़ने लगा और वे शीघ्र ही अपनी योग्यता व सेवा-भावना से संघ के हृदयसम्राट् बन गए। संघ ने अपनी कृतज्ञता का प्रकाश करने के लिए लाहौर में उन्हें वि० सं० १९८१ में 'आचार्य' की पदवी से विभूषित किया।

अपनी साधना को जारी रखते हुए और समाज के नेतृत्व के महान् उत्तरदायित्व को पूर्ण तत्परता से निभाते हुए आप लोककल्याण की प्रवृत्तियों में व्यस्त रहे। बाधाएँ और कठिनाइयां चीन की दीवार बन

युगवीर आचार्य श्रीविजयवल्लभ : जीवनज्योति

डा. पृथ्वीराज जैन, एम. ए., शास्त्री

आ मानस्यार येन महतैव [illegible]।
स्थितप्रज्ञम [illegible] लोक[illegible]॥

किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के केवल [illegible] शरीर, रूपरेखा या आकृति ही उसके परिचय के लिए पर्याप्त नहीं होता। उसका वास्तविक स्वरूप तो अन्तरङ्ग से ही ज्ञात हुआ करता है। जैन धर्म तथा समाज [illegible] का ज्ञान भी हमें जैन समाज में प्रचलित रीतिरिवाज या क्रियाकाण्ड के द्वारा नहीं हो सकता। उसका [illegible] और मौलिक सिद्धान्त हैं [illegible] निहित हैं [illegible] व्यावहारिक रूप [illegible] के अनुरूप उपस्थित करने में [illegible] रहे हैं। [illegible] त्यागी [illegible] और सेवाभावी भिक्षु व भिक्षुणियों का स्थान एक विशेष महत्त्व रखता है। जैन धर्म के अनुसार इस संसार में वे पदार्थ ही वस्तुतः [illegible] के समान [illegible] अथवा पूज्य हैं [illegible] गुण धारी [illegible]। जैन तीर्थंकरों ने [illegible] के लिए यह व्यवस्था की थी कि वे [illegible] देशकाल [illegible] में [illegible]। यही कारण है कि जैन धर्म के [illegible] त्यागी [illegible] की [illegible] इसीलिये [illegible] आध्यात्मिक [illegible] का [illegible] है। इस अनुराग और त्यागी समाज का [illegible] अपनी [illegible] से समलङ्कृत किया है। वर्तमान युग में भी एक ऐसे ही पावन [illegible] के प्रारम्भ में [illegible] हुआ। उनका [illegible] १६ वीं [illegible] आचार्य श्री [illegible] सूरि (श्री आत्मारामजी) [illegible] अन्तिम [illegible] तक, [illegible] की [illegible] समाज [illegible] उन्नति की [illegible] रहे।

[illegible] में [illegible] के पवित्र [illegible] निर्मल [illegible] सदा [illegible] है। [illegible] नहीं सकता। इन गुणों ने [illegible] का [illegible] जाता है। इस [illegible] श्री [illegible] के पावन जीवन की [illegible] कि उन्होंने [illegible] को [illegible] पूर्ति [illegible] कर दिया।

श्री [illegible] १९२ [illegible] थे, मानो उस दिन की [illegible] में [illegible] करते हुए और [illegible] का [illegible] ने [illegible] श्री [illegible] बना था। [illegible] के रूप में प्रकट हुए। [illegible] न दे सके। [illegible] में ही [illegible] था। और [illegible] ही [illegible] के

प्यार से भी वञ्चित होना पड़ा। बालक छगन ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से जिनदेव का स्मरण करती हुई माता से प्रश्न किया कि वह उसे इस संसार सागर में किस के सहारे छोड़कर विदा हो रही है। माता के पास एक ही सहानुभूतिपूर्ण उत्तर था और वह था 'जिनदेव की शरण।' ये शब्द अपने गर्भ में बालक के भावी जीवन का बीज निहित किए हुए थे और भविष्य में वस्तुतः इस बालक ने इसी बीज को संवर्धित, पल्लवित, प्रफुल्लित और फलित करते हुए जिनदेव के शासन की सेवा में अपने प्राणों की आहुति दी।

बालक की आत्मा जिनदेव की सच्ची खोज के लिए लालायित हो उठी। १५ वर्ष की अवस्था में उसे एक महान् क्रांतिकारी जैन मुनि के व्याख्यानरूपी अमृत के पान का अवसर मिला, जिस का एक एक शब्द उसके हृदय में आसन जमा कर बैठ गया। जादू भरी वाणी ने छगन को ऐसे जकड़ा कि सारा हाल श्रोतागणों से खाली हो गया, परन्तु वह दीवार के सहारे मानो उसी का अंग बन कर बैठा रहा। गुरुवर श्री आत्मारामजी ने मन में विचार किया कि कोई दुःखी और साधनहीन नवयुवक किसी अभाव की पूर्ति की याचना करने बैठा है। परन्तु जब बालक ने गम्भीरता व दृढ़ता से उत्तर दिया कि उसे तो आत्मकल्याण-रूपी धन की आवश्यकता है तो दूरदर्शी महात्मा तत्काल ही जान गए कि उस के अन्तःकरण में सच्चे वैराग्य की ज्योति प्रकाशमान है जिस की सुनहरी किरणें समाज, देश और विश्व का हित करने वाली हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि छगन के मन की सन्यास भावना महाकवि तुलसी के अनुसार 'नारी मुई घर संपति नासी, मूड़ मुड़ाय भए सन्यासी' के आधार पर न थी। उस की पृष्ठभूमि में अनेक पूर्वजन्मों की साधना व संचित संस्कार लहरा रहे थे। उन्हें केवल अनुकूल निमित्त कारणों की आवश्यकता थी ताकि आत्मस्थित अंकुर प्रगट हो कर फलफूल सकें। उस काल में गुरु आत्म से बढ़ कर पथप्रदर्शक निमित्त कारण कौन मिल सकता था?

फलतः कई बाधाओं को पार करते हुए और अपने पथ पर दृढ़ रहते हुए उस बालक छगन ने गुरु आत्म के वरद कर-कमलों से वि० सं० १९४४ में राधनपुर में श्रीहर्षविजय का शिष्य बन कर जिनदीक्षा अङ्गीकार की। साधु अवस्था में इन का नाम 'वल्लभविजय' रख गया और वस्तुतः वे स्वपर कल्याण द्वारा सच्ची विजय प्राप्त कर समस्त लोक के 'वल्लभ'-प्रिय-बन गए।

दीक्षा लेते ही उन्हों ने अपनी सारी शक्ति भगवान् महावीर के काल के साधुओं के समान श्रुताराधना में लगा दी। भगीरथ परिश्रम, नैष्ठिक विनय और तन्मयता से विविध शास्त्रों व साहित्य के अंगों का अध्ययन किया। वि० सं० १९५३ में आचार्य श्री आत्मारामजी का स्वर्गवास हुआ। उन्हों ने अंतिम समय में आपको बुला कर यह सन्देश दिया कि पञ्जाब में लगाए गए धर्म के पौधे की सार सभाल रखते हुए जगह जगह शिक्षा प्रचार के लिए सरस्वतीमन्दिरों की स्थापना करवाने में किसी प्रकार कोई कमी न रखना।

गुरु के इस आदेश को शिरोधार्य कर मुनि वल्लभ कार्यक्षेत्र में कूद पड़े। उन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पादविहार करते हुए सत्य और अहिंसा की ज्योति का लोगों को दर्शन कराया, जैनधर्म व जैनसमाज पर होनेवाले आक्रमणों से संघ की रक्षा की, देश में शिक्षणसंस्थाओं का जाल बिछा दिया। उन का सन्मान दिनानुदिन बढ़ने लगा और वे शीघ्र ही अपनी योग्यता व सेवा-भावना से संघ के हृदयसम्राट् बन गए। संघ ने अपनी कृतज्ञता का प्रकाश करने के लिए लाहौर में उन्हें वि० सं० १९८१ में 'आचार्य' की पदवी से विभूषित किया।

अपनी साधना को जारी रखते हुए और समाज के नेतृत्व के महान् उत्तरदायित्व को पूर्ण तत्परता से निभाते हुए आप लोककल्याण की प्रवृत्तियों में व्यस्त रहे। बाधाएँ और कठिनाइयां चीन की दीवार बन

कर इन्हें मनमोहित करती थी परन्तु स्वर्गीय गुरुदेव की आशीर्वाद और उन के मिशन की पूर्ति की निष्ठा के सम्मुख इतर न चली थी। वृद्धावस्था को भी पराजित कर आप अपने मार्ग पर बढ़ रहे। दि० २ ११ में बम्बई में चतुर्मास का वास करते हुए आप ने इस भौतिक देह का स्वयं का समन्वय की प्राप्ति की और भावी पीढ़ी के लिए अपनी अनवरत संयमा का प्रतीक पार्थिव का अन्त शरीर छोड़ गए।

आप की स्मशान यात्रा का दृश्य बम्बई नगर के इतिहास में अपना अद्वितीय स्थान सुरक्षित कर गया है। सारी जनता में उनके प्रति अगाध भक्ति थी, जिनमें की सहस्र में लाख जलूस में सम्मिलित हुए, जन की मानो बाढ़ आ गई। पुलिस के सिपाही गुलाल से रंजित हो गए, सभी दल, सम्प्रदाय और मैत्रीक ने शोक सभा में भाग लेकर श्रद्धा के पुष्प अर्पित किए और समस्त समाज आदर उत्तम श्रद्धांजलि में इस के निष्ठ समान्य बहुत का देखकर विनम्र हुआ हो गया। उन का समस्त जीवन अनवरत मानव सेवा का जीवन है अतः उन के चरित्र की विशेषताओं और कार्यों का यहां सिंहावलोकन अत्यावश्यक है।

चरित्र की विशेषताएँ

आचार्य श्री विजयवल्लभ म नम्रता, स्नेह और वात्सल्य भाव की पराकाष्ठा थी। अपने नाम अथवा मान का मोह अथवा इच्छा भी न कर सका था। उन्होंने जितनी भी संस्थाएँ स्थापित कीं अथवा जन-भवनों की स्थापना करवाई उन सब में भगवान् अथवा गुरुदेव के नाम को ही अमर किया। उनकी नम्रता और समान तथा प्रतिष्ठा की भावना के अभाव का इस से पता कर अनुमान क्या हो सकता है कि गौरव व वात्सल्य में भीतर एक स्तर से उन्हें शासनस्तम्भ की पदवी देने के लिए उत्सुक है और वे महाराज ८ वर्ष की आयु में इस पद का सर्वोच्च धर्म देते हुए भी सब से विनम्र विनती करते हैं कि मुझे पद नहीं, काम दो।'

ई० सन् १९४७ में आपका चातुर्मास बीकानेर में था। उन दिनों यहां भगवान् की रथयात्रा का मार्ग शहर के संकुचित मार्गों में विभाजित था और कभी कभी हिन्दुओं के मन्दिर की आरती व मुसलमानों की मस्जिद के सामने बाजा बजाने की समस्या के कारण दंगाफसाद का भी भय बना रहता था। आपने इस गम्भीर समस्या का स्वयं जाकर के सुलझा दिया। आपके सामने एक प्रस्ताव यह रखा गया कि आपकी उपस्थिति में रथ यात्रा सभी स्थानों में घूम सकेगी, परन्तु हमेशा के लिए व्यवस्था मत कीजिए। आपने उत्तर दिया, मेरी उपस्थिति में आप चाहे पुरानी परम्परा पर ही स्थिर रहें परन्तु मेरे जाने के बाद हमेशा के लिए भगवान् की रथयात्रा का मार्ग निर्णय स्वीकार कर लीजिए। प्रतिष्ठा के मोह का ऐसा अभाव बहुत कम देखने में आता है। आपकी इस शान्ति स्थापना की भावना रंग लाई और रथयात्रा सदा के लिए तय हो गई। आप की मनोभावना सदैव यही रहती थी कि गुरु के नाम व मार्ग में अपना व्यक्तित्व लुप्त हो जाए।

महाराजश्री, विनय विद्वान् व गुणग्राहकता में एक स्थान पर कहा है कि "जब मैं यदि कम का जीवन हो तो हजार वर्ष भी बुरे नहीं।" जो लोग गुरु महाराज को एक पंथ या सम्प्रदायविशेष का ही गुरु मानते हैं वे इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते कि उनमें असाम्प्रदायिक संकुचित वृत्ति का अभाव था। वे अपनी मान्यताओं पर सम्यक् विश्वास रखते थे, उनका प्रचार भी करते थे, परन्तु उन में विरोध की भावना नहीं थी। जैन धर्म के स्याद्वाद व *महात्मा गांधी* के सर्व धर्म समभाव से वे प्रभावित थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक स्थानकवासी व अजैन छात्रों की भी सहायता की है। शिक्षा आन्दोलन व हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए भी उन्होंने आर्थिक सहायता दिलाई थी। दिगम्बर जैन मन्दिरों में भी वे आदरपूर्वक

कैवल्य के पूजन का महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

जाते थे और प्रश्न किए जाने पर कहते थे कि प्रतिमा तो तीर्थंकर की ही है। उनके श्रद्धालु भक्तों में इसी कारण सहस्रों अजैन भी हैं। अन्य संप्रदायों के साधु भी उनके प्रति विनयभक्ति रखते थे। यही कारण है कि आप के स्वर्गवास पर श्री गणपति शंकर देसाई ने कहा था, "मैं छाती ठोक कर कह सकता हूं कि वे केवल जैनों के आचार्य नहीं थे, परन्तु सब लोगों ने उन्हें जगत्गुरु के रूप में अपनाया था। उन के कार्यों ने जैनत्व को विकसित करते हुए मानवपट को भी देदीप्यमान किया है।"

उनके चरित्र की एक महान् विशेषता यह थी कि वे जिन-शासन पर कोई संकट या आक्रमण सहन नहीं कर पाते थे और उसके निराकरण के लिए सर धड़ की बाजी लगाने में भी संकोच नहीं करते थे। गुजरांवाला में एक शास्त्रार्थ के लिए उन्होंने चालीस चालीस मील का प्रतिदिन विहार किया था और वह भी ज्येष्ठ आषाढ की कड़कती धूप में। देश के विभाजन के समय आपने पाकिस्तान से अकेले आने से इन्कार कर दिया था और कहा था कि जबतक श्रीसंघ का एक भी बच्चा वहां रह जाता है, मैं उसे निराधार छोड़ कर जाना अधर्म समझता हूं। जिन समाजोपकारी प्रवृत्तियों को आप समाज के लिए अमोघ मार्ग समझते थे, उन की सफलता के लिए अभिग्रह लेने से भी पीछे नहीं हटते थे। गुरुकुल की स्थापना और मध्यम वर्ग के उत्कर्ष के लिए पांच लाख के कोष के निमित्त आप के कठिन अभिग्रह सभी के स्मृतिपट पर अंकित हैं।

आप का व्याख्यान सुनने वाले या जिज्ञासा दृष्टि से आप से शंकाओं का समाधान करनेवाले यह भलीभांति जानते हैं कि आप की विद्वत्ता गम्भीर और अगाध थी। उनके उत्तरों में स्थिरप्रज्ञता, उदारता, निष्पक्षता और ज्ञान की गहनता की पूरी पूरी छाप हुआ करती थी। उत्तरों में एक विशेषता यह रहती थी कि वे प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा, योग्यता व परिस्थिति के अनुसार हुआ करते थे। एक बार मैंने अपने एक भाषण में कहा कि "मूर्तिपूजा आत्मकल्याण का एक साधन मात्र है।" इस पर कुछ रूढ़िचुस्त भक्तों ने मेरे सामने ही आचार्यश्री जी के पास मेरे 'मिथ्यात्व' की शिकायत की। आचार्यश्री जी ने बड़े प्रेम, युक्ति और प्रमाण से मेरी बात का समर्थन ऐसे ढंग से किया कि दोनों पक्ष अत्यंत संतुष्ट हुए। गुजरांवाला में एक अजैन सुशिक्षित विद्वान् ने आप के दर्शनों व वार्तालाप से कृतार्थ हो मुझे बताया कि सुना था और पढ़ा था कि महात्माओं की शान्त अन्तरात्मा से शांति के परमाणु निकल कर सब को प्रभावित करते हैं, किन्तु इसका प्रत्यक्ष अनुभव आज पहली बार इस महात्मा के दर्शनों के समय हुआ।

जैनों के सभी सम्प्रदायों को एक संगठन में लाने के लिए आप के हृदय में सच्ची तड़प थी। आप ने यह भी घोषणा की थी कि "यदि सभी संप्रदाय एक होते हों तो मैं अपना आचार्य पद छोड़ने के लिए भी प्रस्तुत हूं।" डाक्टर Felix Valyi ने Times of India (22-6-1955) में अपने एक लेख 'Jainism at the Cross Roads' में लिखा है —"आधुनिक समय के सबसे महान् जैन गुरु स्वर्गीय श्री विजयवल्लभसूरि जिन का कुछ मास पूर्व बम्बई में स्वर्गवास हुआ, मेरी जानकारी में एक ही ऐसे जैन साधु थे जिन्हों ने सांप्रदायिकता का अंत करने का प्रयास किया। उन्होंने सभी जैनों से प्रेरणा की कि वे 'दिगम्बर' और 'श्वेताम्बर' विशेषणों को छोड़ कर 'जैन' का सरल नाम ग्रहण करें ताकि गृहस्थों में नई जागृति का श्रीगणेश हो सके।"

आप के तप, त्याग, आदर्श चरित्र व धर्मोपदेश की प्रभावशाली शैली से देश के राजनैतिक नेता भी प्रभावित हुए थे। अम्बाले में आप का भाषण सुनकर स्वर्गीय पं० मोतीलाल नहरू ने हमेशा के लिए तम्बाकू का उपयोग छोड़ दिया था। महामना स्व० श्री मदनमोहन मालवीय ने भी आप के दर्शनों से अपने को कृतकृत्य माना था। बीसियों राजे महाराजे व नवाब आप के अनन्य भक्त थे।

पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि कठोराचारी महान् तपस्वी जैन आचार्य श्री विजयवल्लभ मे साधु होते हुए भी विनोद मधुर हास्य का अभाव न था। कभी-कभी अन्य उपस्थित भी हास्य मधुरता से मुग्ध हो जाया करते थे। एक बार आप गंगानगर (बीकानेर राज्य) में विराजमान थे और वहाँ के श्रीसंघ ने मुझे व्याख्यान के लिए निमंत्रित किया था। जब मैं वहाँ पहुँचा तो उस समय आचार्यश्रीजी के पास कुछ प्रतिष्ठित सज्जन व विद्वान् पण्डित बैठे थे। मैंने विधिपूर्वक वन्दना कर व्याख्यान पूछा। भलीभाँति जानते व पहचानते हुए भी मुस्कुराते हुए पूछा— कौन? मन मन में विस्मित होते हुए कहा — विधि पूर्वीराज। इतने पर कहने लगे — अरे, तुम तो पृथ्वी का राज छोड़ मानिक एक में रमे व भी नहीं। और है तपस्वी पुत्र से सबसे सुविधि रहती है। सभी उपस्थित जन खिलखिला कर हँस पड़े और गुरुदेव से ही मेरा और परिचय पूछा।

जन के नियम व मन दृढ़तापूर्वक कठोर थे परन्तु यह निश्चय है कि उनका हृदय पुष्प की पंखुड़ी से भी अधिक कोमल था। दुःखी, निराश्रित व साधनहीन मानव को देख कर उनका हृदय द्रवित हो उठता था। गरीब छात्रों के लिए सम्पन्न व्यक्तियों से प्रेरणा देकर उन्हें स्थिर सहयोग दिलाते थे— प. मदनमोहन मालवीय व गुरुदेव विजयवल्लभ। शिक्षा की भावना में किसी को भी कठिनाई न पड़ने देते। उन के भेंट स्वरूपी मोतियों को निर्धन छात्र व और वे मोती उस व्यक्ति के लिए समर्पित मोती बन जाते थे क्योंकि गुरुदेव की प्रेरणा से सम्पन्न व्यक्ति उनकी सहायता करने का वचन देते थे। यहाँ तक कि कभी मौन के समय में भी दुःखी मानवजाति की सहायता के लिए वे कई बार प्रयत्न किया करते थे।

आचार्यश्री जी ने स्वदेशी प्रेम भी पूर्णतः धारण कर लिया था। असहयोग आन्दोलन के समय से ही आप ने शुद्ध खादी का उपयोग शुरू किया और सरकार की धार्मिक व सामाजिक कार्यों में सहायता करते रहे।

वे समन्वय, सद्भावना और एकता के समर्थक रहे हैं। उन्होंने सत्य को मान्य मानकर उसका विरोध नहीं किया, प्रत्युत साधुता व व्यवहार का सुमधुर समन्वय किया। वे एक विरल कर्मयोगी थे। जो लोग उनके चारित्र पर यह आक्षेप करते हैं कि उन्होंने साधु होकर प्रवृत्तिमय धर्म को स्वीकार किया, वे भूल जाते हैं कि स्वार्थरहित लोककल्याण की प्रवृत्तियों का समर्थन भगवान् महावीर के जीवन चरित्र में भी मिलता है और वे स्वयं भी करते हैं। जैनधर्म की अपेक्षा से आवश्यक प्रवृत्तियाँ जैनधर्म के प्रतिकूल नहीं। प. सुखलालजी ने ठीक ही लिखा है:— कोई भी आवश्यक व विवेकयुक्त प्रवृत्ति धर्म्य तथा जैनी हो सकती है।

रचनात्मक कार्य

आचार्यश्री जी की जीवन घटनाओं और चारित्र की विशेषताओं से एक निष्कर्ष यह निकलता है कि वे मुख होते हुए भी मुक्ति के परिपथ में दृढ़ों ने समाज में और दृढ़ होते हुए भी हृदय के प्रेम सत्य और कर्मशक्ति से जनसमुदाय को भी प्रभावित कर देते थे। वे केवल ज्ञान और आत्मोद्धार तप की आराधना करनेवाले तथा अपनी दैनिक प्रवृत्तियों को मुख्य क्रियाकांड या उपासना की सीमा तक ही सीमित रखनेवाले नहीं थे, अपितु समाज को वास्तविक प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करना चाहते थे। उन्होंने अनुभव किया था कि समाज का उत्थान मात्र उपदेश से नहीं होगा और न केवल उपाश्रय में बैठकर व्याख्यान देने से ही। जब तक रचनात्मक कार्य न होगा, समाज में जागृति भी नहीं आ सकती। इसी उच्च ध्येय से वे पंजाब से लेकर देवकुलपाटक तक रचनात्मक कार्य से धारण व संघ की सेवा करते रहे।

उनके रचनात्मक कार्यों में जैन शिक्षा प्रचार, जीर्णोद्धार, कुरीतिनिवारण और समाज में नवीन जागृति व स्फूर्ति उत्पन्न करने वाला कार्य शिक्षा का प्रचार है। उनका यह [illegible] गुरुदेव श्री आत्मारामजी के अन्तिम आदेश [illegible] हुआ। [illegible] कि आधुनिक काल में शिक्षा की उपेक्षा कर समाज [illegible] और समाज के [illegible] के बिना न धर्म का प्रचार भी [illegible] है। अतः उन्होंने भिन्नभिन्न प्रान्तों में [illegible] शिक्षण संस्थाओं [illegible] को भी नया प्रोत्साहन प्रदान किया। उन्हीं का [illegible] है कि आज सैकड़ों जैन नवयुवक उच्चशिक्षा प्राप्त कर चुके हैं और प्राप्त कर रहे हैं। गुरुदेव के द्वारा स्थापित श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई, श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल गुजरांवाला (पाकिस्तान), श्री आत्मानन्द जैन कालेज अम्बाला शहर व [illegible], [illegible] जैन विद्यालय [illegible] व अनेक पाठशालाएं, गुरुकुल, विद्यालय, कन्याशालाएँ आदि जैन समाज के गौरव व स्वाभिमान के प्रतीक हैं।

बम्बई के एक विद्वान ने [illegible] (The [illegible] Survey of Jain Community) में आंकड़ों के आधार पर सिद्ध किया है कि जैन समाज में शिक्षा की अभिवृद्धि पारसियों व [illegible] को छोड़ कर सबसे अधिक है। मानना होगा कि इसका श्रेय गुरुदेव की साधना को है।

गुरुदेव ने एक बार एक [illegible] का उद्घाटन करते हुए ये उद्गार प्रकट किये थे "मेरे मन में एक भावना है, यह भावना न जाए, तब तक [illegible] रहता है। समाज में शिक्षा की भावना [illegible] होवे, उसका प्रचार हो, ऐसा उद्यम करो।" हमारे अनेक [illegible] विहार व व्याख्यान का कार्य करते हैं, परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में कोई विरला ही ध्यान देते हैं। श्री विजयवल्लभ तो बड़े में बड़े जैन विश्वविद्यालय का स्वप्न लेकर चल रहे थे। दुर्भाग्यवश [illegible] वह स्वप्न साकार न हुआ। फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में उनकी सेवाएँ अनुपम रहेंगी। जैन साधुओं में इस दिशा में इतनी तत्परता [illegible] शायद किसी ने नहीं दिखाई।

शिक्षा प्रचार के अतिरिक्त आचार्य श्री जी ने नवीन मन्दिर निर्माण, जीर्णोद्धार, साहित्यप्रकाशन आदि की ओर भी ध्यान दिया। अन्तिम दिनों में वे देश विदेश में भिन्नभिन्न भाषाओं द्वारा धर्मप्रचार की योजना पर विचारविनिमय किया करते थे। [illegible] लेखक से भी इस विषय में कुछ बातचीत हुई थी। उन की भावना इतनी व्यापक थी कि वे चाहते थे कि किसी प्रकार जैनसाधु भी विदेश में धर्म प्रचारार्थ जा सकें।

एक और विशेष बात की ओर भी गुरुदेव ने हमारा ध्यान दिलाया। [illegible] के चक्र से शोषित और पीड़ित मध्यमवर्ग का उद्धार, असहाय विधवाओं की [illegible] और बेकार भाइयों को रोजगार देने के साधन। श्री आत्मारामजी के भी इस विषय में [illegible] विचार थे। वे कहा करते थे कि गरीब सधर्मी भाइयों की सहायता न कर केवल लड्डू [illegible] खिलाना साधर्मी वात्सल्य नहीं, [illegible] है। ये दोनों दिव्य आत्माएँ मानती थीं कि सातक्षेत्रों में श्रावक श्राविका ही मुख्य आधारभूत स्तम्भ हैं। वे शायद इस युग में पहले जैन साधु हैं जिन्होंने [illegible] को Freedom from Want—दरिद्रता से मुक्ति—दिलाने की धनवानों को प्रेरणा दी हो। श्रावक श्राविका रूप की आवश्यकताओं की उपेक्षा मानो सभी क्षेत्रों की सार सँभाल की उपेक्षा है। इसी लिए गुरुवल्लभ ने इस उद्देश्य के लिए विशेष निधि की अपील की और कान्फ्रेंस के द्वारा इस कार्य को गति प्रदान की।

श्री आत्माराम जी व श्री विजयवल्लभ जी की सेवाओं से भारत ही क्या, विश्व उपकृत है। परन्तु पंजाब जैन श्रीसंघ तो हर दृष्टि से अपने अस्तित्व के लिए इन का ऋणी है। इन के रचनात्मक कार्यों का

का विशेष केन्द्र रहा है और अन्य प्रान्तों में इसे सफल करने में पूर्ण सहयोग दिया है। सच तो यह है कि भारत व भारत की ऐसी दिव्य आत्मायें हैं जिन्होंने पचास वर्ष की पिछली तीन पीढ़ियों को बताया कि जैन धर्म का गौरवपूर्ण इतिहास कुछ आगमों तक ही सीमित नहीं है। भव्य मूर्तियां अलंकारिक प्रतिमाएँ, शिल्पमय मन्दिर, महान् परम पवित्र तीर्थ भावनोत्पादक मीनारें, स्तम्भ, मूर्ति आदि भी इस के कीर्ति कलेवर का महोत्थान करते हैं। पचास वर्ष इतना विशेष उपकार करता है। आज हम जैनधर्म के महान् सागर के तट पर बिखरी हुई सीपियों को सब समझ रहे थे इसलिए उस शिल्पकार का स्मरण कर इस अमृत या नवनीत का दर्शन कराया। यह है उनके महान् कार्य का दिग्दर्शन जैसा महत्त्व।

उपसंहार

मैं समझता हूँ कि यदि हमारी संस्कृति के अन्य अतीत व गिरि अनुपलब्ध भी रहते तो भी गुरु वल्लभ जैसे महात्मा मिलकर उस महत्त्वपूर्ण व लोकोपकारी सर्वोत्तम सिद्धान्त पर आश्रित संस्कृति का यौगिक परिचय देने के लिए पर्याप्त थे। जिस व्यक्ति का अपना कोई स्वार्थ नहीं था, नहीं, परमार्थ ही महान् ध्येय है और जो साधुत्व के नियमों का पालन करता हुआ भी समाजकल्याणकारी प्रवृत्तियों का प्रोत्साहन देने के लिए जीवन भर कटिबद्ध रहा उसके प्रति कौन सहृदय व्यक्ति नतमस्तक न होगा! उन में ज्ञानी का मस्तिष्क था कवि का हृदय था और निष्काम कर्मयोगी की क्रियाशक्ति थी। उन्होंने सभी धर्म नीति मर्म धर्म व कर्तव्य समझ कर पूरी निष्ठा से लिए। संस्कृत के एक कवि ने कहा है:

> वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
> करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥

जब ऐसे महात्मा दिव्यात्मा हैं तो उनके उपकृत व्यक्ति या समाज उनका कितना सम्मान करे, थोड़ा है। वे उनके ऋण से उऋण नहीं हो सकते और न ही उनके गगनव्यापक अनन्त गुणों का सीमित शब्दों में वर्णन कर सकते हैं। यह प्रयत्न केवल उन के व्यक्तित्व की एक झांकी दिखाने के लिए पत्र पुष्प फलं तोयम् की भांति अल्पतम वस्तु है। हम सब का आदर्श जीवन सन्मार्ग पर अग्रसित हो सकता रहे इसी हेतु यह प्रयत्न किया गया है।

पंजाब केसरी का पंचामृत

श्री ऋषभदासजी जैन

किसी भी हरे भरे सुन्दर उद्यान या उपवन म हम प्रवेश करते हैं तो स्वाभाविक रूप से हमारी दृष्टि उसमें रहे हुए अनेक प्रकार के फले फूले, शीतल, छायादार वृक्षों के पुञ्ज तथा रग विरगी, पुष्पों से शोभायमान लताओं और मनोरञ्जक वल्लियों की तरफ जाती है, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन किया जावे तो यही अनुभव होगा कि उस सारी सुन्दरता का आधार उस फलद्रुम भूमि के अन्त स्थल में रहे हुए जल की पुष्कलता पर है। उसी तरह से दिव्य दृष्टि से देखा जावे तो यही अनुभव होता है कि हमारे लौकिक या लोकोत्तर जीवन की सकल सुखसमृद्धि एव ऐश्वर्य का मूल केवल धर्म पर निर्भर है। इसी लिये शास्त्रकार महर्षियों का मन्तव्य है कि किसी भी जीव को धर्मप्राप्ति कराने जैसा ससार में कोई उपकार नहीं। कदाचित् चक्रवर्ती अपनी छ खण्ड की ऋद्धि सिद्धि दान में दे देवे, तो भी वह जीव को धर्माभिमुख करने वाले की तुलना नहीं कर सकता। वैसे तो मातापिता को अत्यत उपकारी माना जाता है— परन्तु धर्मदाता के उपकार के सामने उनका उपकार भी समुद्र मे बिन्दुमात्र है। क्योंकि मातापिता जीव के केवल जन्मदाता हैं, परन्तु जन्म प्राप्त होने से उसे जीवन के संग्राम में उतरना पड़ता है और उसे सग्राम में विजय प्राप्ति की विद्या का पुष्टावलम्बन न मिले तो जीवन की हार मानकर चिन्तामणि रत्न समान अमूल्य मानव जन्म निरर्थक गवाना पड़ता है और तत्फलस्वरूप ससार के कारागृह मे अनत काल तक उसे भटकते हुए अनेक दु ख सहन करने पड़ते हैं।

जीवन मे विजय प्राप्त करने की विद्या को ही धर्म कहते हैं जिसके द्वारा हम सकल दु ख से मुक्त हो सकते हैं। इसलिये आर्यावर्त जैसी आध्यात्मिक भूमि आज भी "सा विद्या या विमुक्तये" की ध्वनि से गूज रही है। जैसे वृक्ष के जड़, तना और शाखा आदि प्रधान अङ्ग हैं वैसे ही धर्म के सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र आदि अङ्ग हैं। जैसे जड़ बिना वृक्ष नहीं टिक सकता उसी तरह से सम्यग् दर्शन बिना धर्म नहीं टिक सकता। गुजराती में कहावत है कि "अेकडा विनाना मींडानी किंमत नथी" उसी तरह सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चारित्र का मूल्य नहीं। पूज्यवर उपाध्यायजी महाराज श्रीयशोविजयजी श्रीनवपदपूजा ढाल में फरमाते हैं—

जे विण नाण प्रमाण न होवे चारित्र तरु न विफलियो,
सुख निर्वाण न जे विण लहिये, समकितदर्शन बलियो।

शास्त्र मे सम्यग्दर्शन को धर्मवृक्ष का मूल, मोक्ष नगर का द्वार, भवसमुद्र का पुल और सकल गुण का भाजन आदि उपमाएँ दी हैं। पूज्यवर उपाध्यायजी महाराज ने यहा तक लिखा है कि—

"समकित दायक गुरुतणो पच्चुवयार न थाय,
भव कोडा कोडे करी करता सर्व उपाय"

अर्थात् करोडा जन्म तक सर्व उपाय करने से भी समकित दाता के उपकार का बदला देना दुष्कर है। यह अमूल्य आप्तवचन बार बार मेरी स्मृति में आता रहता था। इसलिये जिस महाभाग्य ने लोक वल्लभ बनने में अपने पवित्र जीवन का सदुपयोग करके वल्लभ नाम सार्थक किया है, ऐसे स्वनामधन्य पूज्यवर आचार्य भगवान् की सेवा में कुछ कुछ समयातर से उपस्थित होता रहता था, क्योंकि मुझे और मेरे

सारे कुटुम्बी जनों को धर्मानुरागी बनने का सौभाग्य प्राप्त होना उन्हीं के पुण्यप्रताप का ही फल है। तत्पश्चात् बाद सं. १९ वर्ष पूर्व मेरे पूज्य पिताजी और भ्राताजी आदि ने पूज्यवर आचार्य महाराज के उपदेश से ही बीकानेर मन्दिरों का लेकर श्री केसरियाजी तीर्थ की यात्रा निकाली थी जिसमें स्वयं आचार्य महाराज मय शिष्य परिवार पधारे थे महीने साथ में ही थे और उस यात्रा काल में उन्हीं के उपदेश का सार धर्मानुरागी बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ था और जैन शासन की अनुपम महिमा का ध्यान हमें तो तब ही से उनके सद्भाव मिला करता था।

मन पर उन महान सन्त पुरुषों के लिए विशाल श्रद्धा के भाव उनके स्वास्थ्य सम्बन्धी कुछ चिन्ताजनक समाचार सुनने में आये। उन स्वामी की अन्तिम सेवा करने की लालसा लगी और ... ... —सदा ऐसा होता है बात मन्त्र मिलता ही है—उस समय के ग्रामान्तर में वहाँ पहुँचा। वहाँ पहुँच सेवा करने पर ज्ञात हुआ कि पूज्यवर के स्वास्थ्य में सुधार हो रहा है और पास से पधार कर अन्तिम वैयावच्च भी पुण्यपूर्वक निभा लिये गये हैं इसलिये मैंने भी वापिस अपना स्थान का निश्चय किया। लेकिन विधि के विधानमें में उनकी अंतिम इच्छानुसार उस में सम्मिलित होने का विचार था उन स्वामी का और विश्राम करता था। तत्पश्चात् एक पीछे एक सामाजिक व धार्मिक कार्य सम्भव आते ही गये और पूज्यवर आचार्य महाराज का मुझे स्मरण के लिये संकेत होता ही गया और मेरे विधि धारणा स्थगित होता गया और आने जाने के विचार में ही और दो, तीन दिन व्यतीत हो गए। अन्तिम दिन उनकी निश्रा में ईसाईनिवास में पौषध लिया और प्रतिक्रमण करते हुए समाज-कल्याण की सूचि का आदेश पूज्यवर ने स्वयं श्रीमुख से सुना दिया। तत्पश्चात् बाहर के तौर पर उनके साथ अन्तिम प्रतिक्रमण करने का और उनकी निश्रा में पौषध करने का शुभ ही सौभाग्य प्राप्त हुआ।

उन दिनों में मेरा सौभाग्य केवल मात्र ईसाईनिवास में ही होने से समय समय में पूज्यवर के साथ सामाजिक सामाजिक एवं धार्मिक विविध विषयों पर वार्तालाप करना रहता था और अनेक मर्मस्पर्शी बातें करते थे। एक रोज मैंने पूछा कि पूज्यवर में जैन समाज के सभी प्रधान प्रश्न में ... मेरा उत्तर सुन्दर था। इतिहास इसका साक्षी है परन्तु आज हमारी स्थिति इतनी नीचे गिर गई है कि आज हम विश्वास की दृष्टि से देखते हैं और हमारे समाज में भी धर्मशिक्षा, स्वधर्मी वात्सल्य और निःस्वार्थता दिन प्रतिदिन घटती जा रही है। इसलिये कौनसे ऐसे उपाय हैं जिससे हमारी सामाजिक उन्नति शीघ्र हो और साथ साथ ही धर्म पर अमल शक्य बने। पूज्यवर ने इसके समाधान में सुन्दर शैली से प्रतिपादन करते हुए ऐसे अनुपम पांच विषय बताये जिन पर मनन करने से मुझे यह निश्चय हो गया कि वास्तव में ये हमारी उन्नति के सर्वोत्तम उपाय हैं। वे पांच उपाय ये हैं—(१) सेवा, (२) स्वावलम्बन, (३) संगठन, (४) शिक्षा (५) साहित्य।

मैं वर्ष के बम्बई नगर की विगत चौमासा में पूज्यवर के प्रति सच्ची अन्तिम श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने पुनः बम्बई पहुँचा तब इतिहास मन्दिर में जैन समाज की का संरक्षण और पोषण करनेवाली प्रसिद्ध संस्था "जैन विद्वत गोष्ठी" ने कार्यवाही में तथा बम्बई के स्थानिक संघ ने पूज्यवर आचार्य महाराज की अन्तिम सेवा में यह कार्य प्रारम्भ हुआ उसके सुनाने के लिये कहा। तब उन विषयों के बारे में मैंने उपर्युक्त पांचों विषयों पर सुन्दर रूप से विवेचन करके सुनाया। सभी उपस्थितों ने वे पांच उपाय इतने पसन्द आये कि वे इन्हें "पांच मेरुओं का पंचामृत" नाम से सम्बोधित करने लगे। बम्बई में बहुतों ने इस ग्रन्थ द्वारा वहीं भी जैन समाज ने भी यही पंचामृत पान करने की जिज्ञासा प्रकट की अतएव वे पाठक उक्त ग्रन्थ की जगत पवित्र सिद्ध हुए हैं इसलिये इस समय इस स्मारक ग्रन्थ में उसी पंचामृत पर कुछ लिखने

की भावना हुई। वैसे तो मेरी इच्छा अंग्रेजी में The Glory and Antiquity of Jainism पर लेख लिखने की थी परन्तु हमारी संस्था के सचालक तथा नगर के मुख्य सज्जनों का आग्रह था कि गतकाल के ऐतिहासिक गौरव के गीत गाने की अपेक्षा आज हमारी उन्नति के साधक पचामृत रूप पू० आचार्य भगवत के अंतिम सदेश पर ही लिखना विशेष उपयोगी है। इसी लिये मैं सबकी प्रेरणा से उसी पर दो शब्द लिख रहा हूँ।

सेवा

सेवा ही मानव जीवन का सार है। आगम, उपनिषद्, पुराण, कुरान एव बाईबल आदि जितने भी संसार में धर्मशास्त्र हैं सब ही सेवा धर्म का ही समर्थन करते हुए नजर आते हैं। "सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य." यह जैसी पूर्व की ध्वनि है वैसी ही उसकी प्रतिध्वनि पश्चिम में व्यापक है कि There is no greater religion than service अर्थात् 'सेवा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।'

"परोपकाराय फलन्ति वृक्षा परोपकाराय दुहन्ति गाव ।
परोपकाराय वहन्ति नद्य परोपकाराय सता विभूतय ॥"

सूर्य, चद्र, सितारे, जल, तेज, वायु एव वनस्पति आदि सारे पदार्थ परोपकार अर्थात् सेवा के लिये प्रवृत्ति करते हुए नजर आ रहे हैं और आधुनिक विज्ञान भी इस बात की पुष्टि कर रहा है कि Every action has got reaction—प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य है—इसलिये यह निश्चय है कि दूसरों को सुख देकर ही हम सुख ले सकते हैं, दूसरे को दु ख देकर सुख की आशा रखना भयकर भुजग के मुख से अमृत की आशा रखने के समान है। उदाहरणार्थ अगर हम वृक्ष के मीठे फल खाने की आशा रखते हैं तो उससे पहिले हमें उसके मूल में अमृतजल का सिंचन करना ही पड़ेगा। अगर गौरस के सेवन से हम अपना स्वास्थ्य सुन्दर बनाना चाहते हैं तो गौपालन का सर्वोत्तम तरीका अपनाना ही पड़ेगा। अगर हम अपने पैरों को सुरक्षित रखना चाहते हैं तो मार्ग को निष्कटक बनाने के लिये परिश्रम उठाना ही पड़ेगा। कहावत है कि As you sow so you reap—जैसा बोवेंगे वैसा काटेंगे। हमारे पूज्य धर्माचार्यों ने इस विधि के ध्रुव सिद्धात को यथार्थ रूप में ध्यान में रखकर जीवन में सेवा एव परोपकार पर बहुत ही भार दिया है। योगशास्त्र में श्रावकों को लोकप्रिय होने के लिये श्री हेमचन्द्राचार्य ने आदेश दिया है। उसी तरह से श्री हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु में लोकवल्लभ बनने का उल्लेख किया है। लोकप्रिय एव लोकवल्लभ बनने के लिए स्वार्थत्याग और सेवा उपासना को आदर देना ही पडेगा।

प्राचीन काल में जैन समाज की प्रतिष्ठा इतनी बढी चढ़ी थी, इसका खास कारण सेवा और परोपकार था। सारी समाज को महाजन और श्रेष्ठ (शेठ) का पद प्राप्त था, इतना ही नहीं परन्तु यवनों के शासन में भी उनकी भाषा के मुताबिक सर्वोपरि पद "शाह" का खिताब जैन समाज को प्राप्त था। इसी जैन समाज के सुपुत्र जगडुशाह, भामाशाह, पेथड़शाह, समराशाह, खेमादराणी, वस्तुपाल, तेजपाल, विमलशाह आदि नररत्नों की अमर कहानियां आज भी भारत के इतिहास में गाई जा रही हैं। वह भी एक समय था कि नगर की शोभा जैन समाज पर निर्भर थी और प्रत्येक नगर में प्राय नगरशेठ के आदर्श स्थान पर जैन ही अधिष्ठित होता था और सारी जैन समाज के लोग नगर के मुखिया निर्यामक एव सूत्रधार समझे जाते थे। हमें चाहिए कि चाहे देश या विदेश में, प्रान्त या नगर में या ग्राम में जहाँ कहीं भी हम रहते हों, चाहे उद्योग, व्यवसाय या अमलदारी के लिये स्थायी या अस्थायी रूप से निवास करते हों, वहाँ की प्रजा के हित के लिये अपने तन मन और धन का विवेकपूर्वक भोग देना चाहिए और भ्रातृभाव और वात्सल्यभाव इतना बढ़ाना चाहिए कि हम प्रजा के प्राण बन जावें अर्थात् उनके सुखदु ख में सम्पूर्ण सहयोग और

सहानुभूति रखनी चाहिए ताकि हमारी तरफ प्रजा के हृदय में प्रेम पैदा होवे। इस प्रकार की प्रवृत्ति से हम केवल अपने समाज की ही प्रतिष्ठा बढ़ा सकेंगे, यही बात नहीं परन्तु जैन शासन की सच्ची मार्गप्रभावना भी कर सकेंगे। प्रजा में जैनधर्म के आदर्श सिद्धान्तों की तरफ स्वाभाविक आकर्षण पैदा होगा और उनका अनुसरण करने की उनकी रुचि बढ़ती जायगी। इस लिये सेवा ही समाजोन्नति का प्रथम उपाय है।

स्वावलम्बन

चाहे व्यक्ति हो समाज हो या देश हो अपनी उन्नति की साधना में स्वावलम्बन नितान्त आवश्यक है। जब तक हम स्वाश्रयी न बनेंगे तब तक जीवन आकुल व्याकुल बना रहेगा और बिना निराकुलता के जीवन का विकास हो नहीं सकता। इसलिये जहाँ तक बने वहाँ तक आवश्यकतायें कम करते जाना चाहिये और जितनी आवश्यकतायें अनिवार्य हैं उनकी पूर्ति अपने प्रयास करने का प्रयत्न करना चाहिए। समाज के लिये भी यही बात है कि अपनी उन्नति के लिये कार्यालय गुरुकुल अनाथालय विद्यालय व पाठशालायें आदि जितनी भी संस्थायें की जरूरत है उनकी पूर्ति के लिये समाज में इस प्रकार के मनुष्यों को तैयार करना चाहिए। हम हमारी पेढ़ी, गुरुकुल, या धर्मस्थान आदि के रक्षण के लिये दूसरों के भरोसे रहना अथवा अन्य की गरज करना या मुंह ताकना पड़े इससे ज्यादा क्या भूल हो सकती है। आज हमारे समाज को विकट परिस्थिति का कटु अनुभव करना पड़ता है उसका कारण यही है कि हम स्वावलम्बी नहीं हैं। अर्थात् विशाल व्यापार के और किसी क्षेत्र में हम लोग जैसी चाहिए वैसी प्रगति साधते नहीं इस लिये इस स्वतन्त्र भारत के सुन्दर समय में भी हमारी आवाज कोई सुनता नहीं। उलटे हमारे सामाजिक व धार्मिक अधिकारों पर भी स्थानों में अत्याचार हो रहा है परन्तु किसको कहें। हम यदि जीवन के उपयोगी सब ही क्षेत्रों में आगे बढ़े हुए होवें तो अपनी अहिंसा प्रधान जैन संस्कृति को सर्वत्र व्यापक बना उससे शान्ति का सन्देश सारे विश्व को सुना सकते। आज में व्यक्तों को [illegible] मन से [illegible] चाहिये ऐसा [illegible] है। इस अमूल्य सिद्धान्त को तब ही चरितार्थ कर सकते हैं जब कि हम अपना जीवन को स्वावलम्बी बनावें। इसलिये स्वावलम्बन को समाजोन्नति का अमूल्य उपाय मानना कोई अत्युक्ति नहीं है।

संगठन

यह भी समस्या है कि एक एक धागे को मिला कर जब रस्सा बनाया जाता है तब हाथी भी उसके बन्धन के सामने अपने बल का उपयोग नहीं कर सकता। आज हमारे समाज में न धन की कमी है न संपत्ति की, परन्तु आपस में संगठन न होने से लाखों रुपये खर्च करते हुए भी हम अपने धर्म का प्रभाव पैदा नहीं सकते। हमारी वर्तमान परिस्थिति पर एक सुन्दर दृष्टान्त याद आता है। कुछ जैन यात्री प्रवास में निकले हुए थे। रास्ते में दुर्भिक्ष के समय जल की तकलीफ रहता था और पानी के लिये कोई उपाय था नहीं। आखिर वे एक सूखी नदी पर पहुंचे। तब एक अनुभवी ने कहा कि सब एक छोटी कुदाल खोदो तो अभी पानी निकल आयगा। परन्तु आपस में संगठन था नहीं इसलिये सब के सब अलग कुदाल खोदने बैठ गये। किसीने दो हाथ किसीने तीन और किसीने चार हाथ खोदा और सभी किसी से भी निकला नहीं और थक गये। उनको प्यासे ही रहना पड़ा यदि उन्होंने मिलकर एक कुदाल खोदी होती तो उनकी प्यास बुझती। ई० स० १८९३ के शिकागो (अमेरिका) की (Parliament of Religions) सर्वधर्मपरिषद् में जैन धर्म के प्रतिनिधि श्रीमान् वीरचन्द राघवजी गान्धी गये थे। हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द गये थे। दोनों की प्रशंसा अमेरिका में खूब हुई और उनके व्याख्यानों का अपूर्व प्रभाव वहां की प्रजा पर पड़ा। परन्तु हमारे समाज में संगठन न होने से

कारण सुचारु रूप से अपना कार्य आगे नहीं बढा सके और स्वामी विवेकानद ने जो रामकृष्ण मिशन (Ramkrishnaa Mission) स्थापित किया उसको आगे व्यवस्थित ढग से चलाते गये। आज सारे संसार मे उनका प्रचार जारी है और देश देश मे उसकी शाखाए चला रही हैं और विदेशी लोग भी सन्यासी बन कर उनके मिशन का काम आगे बढा रहे हैं। हमारे पूर्वाचार्यों ने तो ससार को सगठित करने के लिये सुदर से सुदर स्याद्वाद् न्याय का निर्माण किया, जिसको विदेशी विद्वान् Unifying force ससार की सगठनशक्ति-कहते हैं। उसके अनुयायी आपस में सगठन नहीं साध सकते तो संसार को क्या संगठन का सबक सिखा सकेंगे और क्या जगत् के कदाग्रह और क्लेश का अन्त कर सकेंगे। यह तो ऐसी बात है कि जिस बीमारी का जो डाक्टर स्वय शिकार बना है उसके शर्तिया इलाज का वह विज्ञापन कर रहा है। इसलिये हमें स्याद्वाद या नयवाद की विशालता और सुन्दरता समझ कर आपस में सगठन साधना चाहिये।

शिक्षा

जैसे यत्रवाद के युग में चाहे प्रकाश करना है, चाहे पखा चलाना है, चाहे टेलीफोन से बात करना है या किसी भी प्रकार मशीन को चलाना है तो बिजली का उपयोग करना आवश्यक समझा जाता है। वैसे ही चाहे सामाजिक, व्यावहारिक, अथवा धार्मिक प्रगति साधना है तो शिक्षा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। आज आधुनिक शिक्षा से लोग घबराते हैं और कहते हैं कि शिक्षा से सस्कृति का नाश होता है। परन्तु मै तो उसको वैसी ही भ्राति मानता हू जैसे कि बिजली जला देती है इसलिये बिजली के उपयोग से दूर रहना चाहिये। इस तरह से यत्रवादी घबराए होते तो सारे ससार में यत्रवाद का साम्राज्य स्थापित नहीं कर पाते। जिस काल में जिस प्रकार की शिक्षा प्रचलित हो, उसको प्राप्त किए बिना हम अपना हित साध ही नहीं सकते। बौद्धों तथा वेदान्तियों ने अपना प्रचार ससार के कोने कोने में फैलाया, इसका कारण यही है कि उनके प्रचारक आधुनिक शिक्षा मे आगे बढे हुए थे। आज काँग्रेस ने अग्रेजी शासन का सामना करके स्वराज्य कैसे लिया? इसीलिए न कि हमारे नेता आजकी प्रचलित शिक्षा मे निष्णात बने हुए थे। दर असल शिक्षा का बुरा असर जो हमे अपनी सस्कृति पर नज़र आता है, उसका कारण तो यह है कि हम अपनी सस्कृति-रक्षण के पाये पर शिक्षा के साधन खडे नहीं करते हैं। आज हमारे कितने ही शिक्षालय खुले हुए नजर आते हैं परन्तु आदर्श शिक्षकालय दो चार भी देखने में नहीं आते। अगर हम शिक्षक ही सस्कृति के उपासक तैयार नहीं करते और सस्कृतिघातक शिक्षकों के द्वारा हम अपने बालकों को शिक्षा दिलाते हैं तब सुन्दर परिणाम कैसे आ सकता है? बनाना है गोली और मशीन है टीकडी की तब भला टीकडी (Tablet) की मशीन में गोली कैसे बनेगी। हमारी संस्कृति को लक्ष्य मे रख कर शिक्षा के केन्द्र खोले नहीं जाते और न शिक्षक खास संस्कृति पोषक शिक्षा देनेवाले तैयार किये जाते हैं। शिक्षा को दोष देना और उससे दूर रहना समाज की उन्नति मे बाधा पहुँचाना है, इसलिये शिक्षा से न घबराते हुए उसके लिये सुन्दर आयोजन करके, आदर्श शिक्षालय और शिक्षकालय स्थापित करके, आदर्श शिक्षकों की जीवनभरण पोषण की चिन्ता से मुक्त करके उनके द्वारा शिक्षा का प्रचार करना समाजोन्नति के लिये अत्यत लाभकारी है।

साहित्य

जितना प्रचार हम प्रवचन, व्याख्यान या सभाषण से कर सकते हैं, उससे हजार गुणा ज्यादा काम साहित्य के द्वारा हो सकता है। जो लोग आज अपने धर्म या सस्कृति का प्रचार कर रहे हैं वे सब भिन्न भिन्न भाषाओं में साहित्य प्रकाशन द्वारा ही कर रहे हैं और उसमें सफल होते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

कृष्ण, राम, बुद्ध और क्राईस्ट के जीवन चरित्र की पुस्तकें सैकड़ों भाषाओं में संसार के कोने कोने में बटी जा रही हैं और हम बात तो ऐसे करते हैं कि प्रतिवर्ष हम श्रीमन्भगवान् महावीर स्वामी का जन्म महोत्सव मनाते हैं तब बड़े बड़े मन्त्री लोगों को, न्यायाधीशों को और राजाधिकारियों को निमन्त्रित करते हैं, परन्तु जब वे भगवान् के आदर्श जीवन और उनके प्रमुख सिद्धान्तों की रूपरेखा (Outlines) दर्शानेवाली कोई पुस्तक या निबन्ध अपने देखने के लिये या पढ़ने के लिये मांगते हैं, तब एक संयोजक दूसरे संयोजक का मुंह ताकने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता। मतलब यह है कि आधुनिक ढंग से प्रचलित भाषा में एक सुन्दर और सारगर्भित पुस्तक बाहर के आये हुए विद्वान् लोगों को देने के लिये हमारे पास तैयार होने ऐसा देखने में बहुत कम आता है। बड़े खेद की बात है कि हमारी समाज प्रतिष्ठा, उपधानादि उत्सवों में लाखों खर्च कर देता है परन्तु इस तरफ क्यों ध्यान नहीं देता? जब बौद्ध धर्म वालों ने Light of Asia—एशिया ज्योति—नाम की पुस्तक एक महान् विद्वान् द्वारा तैयार करवाई, उन्हीं दिनों में हमने भी एक अनुपम ग्रन्थ महावीर का जीवनचरित्र प्रकाशन करने में कुछ लाख खर्च कर दिये होते तो आज महावीर भगवान् के प्रति भी प्रजा में सर्वत्र पूज्यभाव रहता और जगत् में जैसे बुद्ध को घर घर विद्वान् लोग जानते पहचानते हैं वैसे भगवान् महावीर का पवित्र नाम भी सबके मुंह पर लाते। हर एक धर्म समन्वेषित होने में ही मानता है। कोई भी समन्वेषित नहीं हो, तो केवल धर्म बाकी है। जैन धर्म ने तो स्थान स्थान पर शास्त्रों में द्रव्य क्षेत्र काल और भाव पर जोर दिया है। शायद ही किसी दूसरे धर्म ने इतना जोर द्रव्य क्षेत्र काल भाव पर दिया हो। परन्तु आज उस तरफ न तो हमारा लक्ष्य है और न उसका अनुमान है। इसलिये जैन साहित्य संसार का एक सर्वोत्तम साहित्य होते हुए भी जगत् में उसे वाजिब जैसा उचित स्थान प्राप्त नहीं। इसलिये आज सौम्य ही प्रकार की प्रचलित भाषाओं में जैन धर्म के तत्त्व को समझानेवाले छोटे बड़े निबन्ध पुस्तिकायें, सचित्र पुस्तकों का प्रकाशन करना हमारी उन्नति का अपूर्व साधन है।

भारत की एक महान् विभूति

महता श्री शिखरचन्द्र कोचर, बी ए, एल् एल्. बी, आर जे एस्
साहित्य-शिरोमणि, साहित्याचार्य

प्रात स्मरणीय जैनाचार्य श्रीमद्विजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज केवल जैन-समाज की ही नहीं, अपितु अखिल भारतवर्ष की एक महान् विभूति थे। संवत् १६४४ में केवल सत्रह वर्ष की अल्पायु में आपने समस्त सासारिक सुख वैभव को तिलाजलि देकर स्वनाम-धन्य सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्रीमद्विजयानदसूरीश्वरजी (अपर नाम श्रीआत्मारामजी) महाराज से भागवती दीक्षा के कठोर व्रत अगीकार किए। तत्पश्चात् अनवरत सड़सठ वर्ष के सुदीर्घ कालपर्यंत आपने तथा आपके आदेशानुसार आपके विशाल शिष्य-समुदाय ने लोक-हित के हेतु जो अनेकानेक सत्कार्य किए, यदि उनका वर्णन किया जाय तो एक सुविशाल ग्रन्थ का निर्माण करना पड़े। सक्षेप में आप अनेक राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक एव नाना-विध लोक-मगलकारी संस्थाओं के प्राण, अनेक जिन-मदिरों एव मूर्त्तियों के प्रतिष्ठापक, अगणित देवालयों एव तीर्थों के जीर्णोद्धारक एव व्यवस्थापक, अनेक मनीषियों, विद्वानों, लेखकों एव कलाकारों के आश्रय दाता, सहस्रों मनुष्यों को कुमार्ग से दूर हटा कर सन्मार्ग पर चलानेवाले, लाखों मनुष्यों को सद्धर्मामृत का पान करानेवाले, अत्यत मधुरभाषी परतु स्पष्टवक्ता, जैन एव जैनेतर दर्शनों के मार्मिक विद्वान्, निष्पक्ष समालोचक, अनेक भारतीय भाषाओं के ज्ञाता, सस्कृत एव प्राकृत तथा अन्यान्य प्राचीन भारतीय भाषाओं के प्रकाड पडित, जैन-शास्त्रों में पारगत, सुललित छद एव कोमल कातपदावलियुक्त श्रुति-मधुर तथा मनोहर काव्य-रचना करने में सिद्ध-हस्त, उत्तम सगीतज्ञ, अपनी पीयूषवर्षिणी वाणीद्वारा श्रोता-गण को मन्त्र-मुग्ध करने में निष्णात, अनेक अभिमानी वादी-गण का गर्व खर्व करने वाले विद्वान्, अनेक नेताओं, सम्मान्य पुरुषों तथा राजा महाराजाओं द्वारा पूजित, जन-साधारण द्वारा पूर्णरूपेण समादृत, गम्भीर विचारक, प्रखर द्रष्टा, सौम्याकृति, नवनीतोपमकोमलहृदय होते हुए भी कर्त्तव्य-पालन में वज्र-सम कठोर, पर-दु ख भजन म लवलीन, अहर्निश परोपकार-परायण, अहिंसा एव सत्य के अनन्य पुजारी, शाति के देवदूत, श्रेष्ठ समाज-सुधारक एव लोक सेवक, उग्र तपस्वी, महान् योगी, श्रेष्ठ आचार्य, अत्यत तेजस्वी एव प्रभावशाली, उच्च कोटि के शिक्षा शास्त्री, परम देश-भक्त एव राष्ट्र-कर्मी, अगणित जीवों के जीवन-दाता, घोर परिषहों एव उपसर्गों में भी अविचलित धैर्य धारण करनेवाले, अत्यत मेधावी एव मनस्वी, पृथ्वी के समान सहन शील एव सागर के समान गभीर, क्षमा श्रमण, जिन शासनोद्धारक, नाना-विद्या-निधान, सकल सद्गुण-समलकृत महापुरुष थे।

आपने अपने जीवन-काल मे जितना महान् कार्य किया, उतना अनेक संस्थाए मिलकर भी कठिनता से कर पातीं। आपका जीवन अत्यत आदर्श, सरल एव नियमित था। आप अपने बहुमूल्य समय का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाते थे और सदैव लोक-हित-साधन तथा आत्मोन्नति के कार्यों में व्यस्त रहते थे। आप धर्म, समाज एव राष्ट्र के हितके लिए अपना जीवन बलिदान करने मे भी किंचिन्मात्र सकोच नहीं करते थे। आपकी विचार-सरणि अत्यत परिष्कृत एव परिमार्जित तथा तात्त्विक दृष्टि अत्यत प्रखर थी, जिससे आप कठिन से कठिन समस्याओं का समाधान अत्यत सरलतापूर्वक कर लेते थे। आपके प्रभावशाली व्यक्तित्व, सुमधुर वक्तृत्व, सौजन्यतापूर्ण एव सौहार्द-पूर्ण व्यवहार, निष्कलक जीवन, अगाध पाडित्य एव

सहानुभूति से ओत-प्रोत हृदय के कारण सर्व साधारण के हृदयस्थल पर आपकी अमिट छाप अंकित हो जाती थी। आपका कट्टर से कट्टर विरोधी भी आपके समक्ष आनेपर सम्मोह-वश नतमस्तक हो जाता था और आपका परमभक्त बन जाता था। आपके संपर्क में जो भी व्यक्ति आता था वह आपकी सौम्यदृष्टि का दर्शन करके तथा आपकी सुधावर्षिणी वाणी का पान करके पूर्णतया तृप्त हो जाता था और आपके सामीप्य से दूर जाने पर उसके मन में आपके दर्शन लाभ एवं उपदेश श्रवण की उत्कट अभिलाषा बारबार उत्पन्न होती रहती थी।

आपका रहन सहन और खान पान अत्यन्त सीधा-सादा और जैन मुनि के लिए आदर्श था। जैन धर्मों में आपका स्थान निर्विवादरूप से सर्वोपरि था। जैन समाज ही नहीं अपितु समस्त जैनेतर समाज में भी आपकी प्रतिष्ठा असाधारण थी। आप जहाँ भी जाते वहीं जनता का समुद्र उमड़ पड़ता था और प्रत्येक जाति अथवा सम्प्रदाय के लोग आपके सदुपदेशों से लाभान्वित होते थे। इतने महान् प्रभावशाली युगवीर आचार्य होते हुए भी आपको अभिमान छू तक नहीं गया था। आप अपने आपको एक साधारण जैन-मुनि अथवा जनता का सेवक ही समझते थे। आपकी दया-दाक्षिण्य, विनय शीलता, सरल-सज्जनता, शान्त वृत्ति एवं समन्वय-भावना अत्यन्त मर्म स्पर्शी थी। आपकी गुरु भक्ति एवं निर्लोभवृत्ति इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि आपने अपने अनवरत परिश्रमद्वारा संस्थापित समस्त संस्थाओं का नाम करण अपने पूज्य गुरुदेव के नाम पर अथवा अन्य नाम पर किया। धनाकांक्षा एवं यश-कामना तथा पद-लिप्सा से आप कोसों दूर रहते थे। आप सादा जीवन एवं उच्च विचार (Plain living and high thinking) के मूर्तिमान उदाहरण थे।

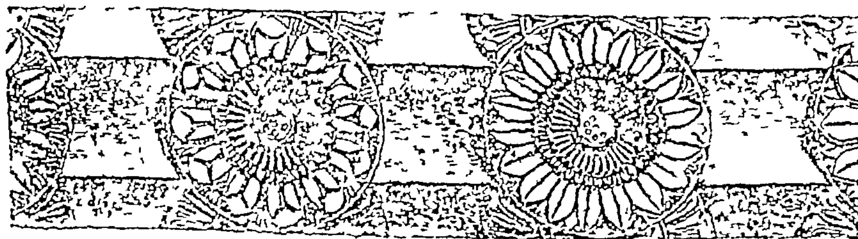
समाज की जड़ों को खोखला बनाने वाले दहेज, बाल-विवाह, कन्या-विक्रय, दुर्व्यसन, आलस्य, अप-व्यय, बेकारी आदि समस्त बुराइयों का उन्मूलन कर समाज को सुशिक्षित, सुसंगठित, सुसंस्कृत, समृद्ध, सशक्त एवं स्वावलम्बी बनाने में आपने जो योगदान दिया, वह सब विदित है। जैन धर्म के समस्त सम्प्रदायों में सामंजस्य स्थापन एवं एकता-स्थापन के लिए आपका परिश्रम बेजोड़ सिद्ध हुआ, जिसका मधुर फल सर्वत्र दृष्टि गोचर हो रहा है।

अपनी जर्जर अस्थि-चर्मावशिष्ट देह यष्टि को लिए हुए, अदम्य उत्साह के साथ लोकहितकारी कार्यों का निर्वाह पूर्वक सम्पन्न करते हुए आप गाँव गाँव और घर घर में सत्य, अहिंसा एवं विश्व मैत्री का मंगलोच्चार करते हुए निरन्तर, नंगे पैर, पैदल घूमते रहते थे। सर्दी, गर्मी, धूप, प्यास तथा अन्यान्य कठोर अपमान असुविधाओं और विरोधियों तथा स्वार्थियों के कुचक्रों की ओर से सर्वथा उदासीन रह कर, एक योगी रूप से युक्त आप अपने कर्तव्य पथ पर निर्लिप्त भाव से अग्रसर होते रहते थे और अपने शिष्य समुदाय को भी सत्कर्म प्रेरित करते थे। वृद्धावस्था तथा रोग का भार होने के कारण आपका शरीर जीर्ण शीर्ण हो गया था, किन्तु आपके आत्मिक तेज की वृद्धि उत्तरोत्तर होती जाती थी। आपका योग दुर्बल के बल को भी मात करता था। आत्मध्यान की ओर निश्चिन्त ध्यान में रह कर, अपने सुख और दुःख से निरपेक्ष अविचल मन एवं अनवरत परिश्रम द्वारा आपने लोक हित के लिए जो कल्याणकारी एवं उद्धारक प्रयत्न किए हैं, वे इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित किए जाने योग्य हैं। पंजाब, राजस्थान एवं गुजरात के जैन समाज की जो आपने महान् सेवा की है वह तो कभी भुलाई नहीं जा सकती। आपके स्थापित किए हुए अनेकानेक विद्यालय, गुरुकुल, कालेज तथा अन्यान्य संस्थाएं जैनसमाज व राष्ट्र को आपकी अनुपम देन हैं। जैन समाज व भारत देश आपके ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकेगा। आपने प्रत्येक नर-नारी को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरणा दी और व्यवस्था की। प्राचीन जैन ग्रंथ भण्डारों की

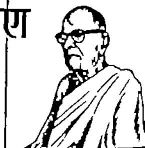
सुव्यवस्था एव उत्तमोत्तम ग्रन्थ प्रकाशन के लिए व्यवस्था की। लोक-हित के जिस कार्य में आपने हाथ डाला, उसे उत्तम रूप से पूर्ण किया, जिस संस्था पर आपकी कृपा दृष्टि हुई, उस संस्था में नव जीवन सचार कर दिया। आपके सदुपदेशों के कारण सहस्त्रों मनुष्यों में काया पलट हो गया, और उन्होंने दुर्लभ नर-तन प्राप्त करने का वास्तविक लाभ उठाया।

यद्यपि आप एक सम्प्रदाय के आचार्य थे, परन्तु आपमें साम्प्रदायिक सकीर्णता का सर्वथा अभाव था। आप प्रत्येक धर्म एव सम्प्रदाय के अनुयायी का यथोचित सत्कार करते थे और उसकी शकाओं का समाधान अपनी विलक्षण तर्क शैली द्वारा किया करते थे। आपके उज्ज्वल चारित्र, उदार स्वभाव एव अलौकिक प्रतिभा के कारण आपका सम्मान प्रत्येक क्षेत्र में होता था, और प्रत्येक सम्प्रदाय अथवा समुदाय के नेता आप से परामर्श करने एव पथ प्रदर्शन के लिए मिलते रहते थे। आपमें देश भक्ति की भावना पूर्ण रूप से भरी हुई थी और आपका प्रत्येक कार्य्य देश-हित का विशाल दृष्टि-कोण लिए हुए होता था। आप सदैव शुद्ध खादी पहनते, और जनता को भी सदैव खादी पहनने का उपदेश करते थे। देश-हित के प्रत्येक कार्य में आप सदैव अग्रणी रहते थे, और आपके सदुपदेशों में देश-भक्ति की पावन धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती थी।

यद्यपि आपकी नश्वर देह आज हमारे बीच में नहीं है, और आपके निधन के कारण आज हम सब अपने आपको अनाथ-सा अनुभव कर रहे हैं, तथापि आपकी आदर्श जीवनी, आपके सदुपदेश, आपके दिव्य भक्तिपूर्ण काव्य और आपके अगणित कार्य-कलाप एक महान् प्रकाशस्तम्भ के समान हमारे तमसावृत मानस पटल के अज्ञानान्धकार को विदीर्ण कर सुमार्ग-प्रदर्शन के लिए प्रस्तुत हैं, और सदैव प्रस्तुत रहेंगे। आपकी पुनीत स्मृति में आपका भक्त-समुदाय पार्थिव स्मारक बनवा रहा है और भविष्य में भी बनवाएगा, तथापि आपके सर्वोत्तम स्मारक तो आपके निःस्वार्थ कार्यकलाप ही हैं। आपका वास्तविक स्मारक तो तब बनेगा जब हम आपके छोड़े हुए अपूर्ण कार्य की पूर्ति में कटिबद्ध होकर उसकी पूर्णाहुति में योग दान देंगे। शासन देव से प्रार्थना है कि वे हमें इन महान् युग वीर आचार्य के प्रदर्शित मार्ग पर अविचलित रूप से चलने की सुबुद्धि एव शक्ति प्रदान करें, जिससे कि हम स्वतन्त्र भारत के सुयोग्य नागरिक कहलाने की योग्यता प्राप्त कर, स्व-एव पर-हित-साधन में समर्थ हो सकें।



चातुर्मास स्थलादि का विवरण



आचार्यश्री विजयवल्लभसूरि

चातुर्मास स्थल वि.सं. १९४३–२०१०

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

लेख-संग्रह : हिन्दी विभाग



सपादक :

प्रो पृथ्वीराज जैन, एम् ए, शास्त्री







श्रमण-बेलगोलमा चन्द्रगिरि अने इन्द्रगिरिनी वच्चे, ई स. [illegible] ९८३ आसपास प्रतिष्ठित, गोम्मटेश्वर (बाहुबली)नी महाकाय प्रतिमा—एकज शिलामांथी [illegible] आशरे [illegible] फुट [illegible] ऊंच छे

नवीन फलीसीता]

जैन पुराण-कथा का लाक्षणिक स्वरूप

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन

सबसे पहले पुराण कथा के प्रकृत स्वरूप और उसके मनोवैज्ञानिक उद्गम पर प्रकाश डाल देना जरूरी है।

मनुष्य अपने वास्तविक रूप से तुष्ट नहीं। उसे अनादि काल से उच्चतर और सम्पूर्णतर जीवन की खोज रही है। इस खोज ने इन्द्रियगम्य वस्तु जगत् की सीमा भी लांघी है, और मनुष्य ने लोकोत्तर और दिव्य के सपने भी देखे हैं। सपने ही नहीं देखे, अपने उन सपनों को अपने रक्तांशों में जीवित कर, अपने ही मांस में से उसने प्रकाश की उन मूर्तियों को जीवन्त भी किया है। जब जब मनुष्य के स्वप्न के उस 'परम सुन्दर' ने रूप ग्रहण किया, वह अपने सर्वांगीण ऐश्वर्य की अनेक लीलाओं को मानवीय मन पर बहुत गहरा अंकित कर गया। उस परम पुरुष या परम नारी का जो स्थूल व्यक्तीकरण होता है, वह अपने आप में ही समाप्त नहीं है। उस लीला में एक अधिक गहरा और सूक्ष्म सत्य होता है, जो अरूप होता है। चर्मचक्षु की पकड़ में वह नहीं आता, पर बोध के द्वारा वह उस काल के मनुष्यों की अनुभूति में रम जाता है। यह अनुभूति मानवी रक्त में समाविष्ट होकर पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रमित होती रहती है। विकास के नव-नवीन उन्मेषों और सपनों से मनुष्य उस अनुभूति को सघनतर और विपुलतर बनाता जाता है, नाना काव्यों और कला कृतियों में उसे संजोता है और अन्ततः वही अनुभूति श्रेष्ठतर और उच्चतर मानवों के रूप में आविर्भूत होकर हमें आगामी देवत्व का आभास दे जाती है। हमारे वैज्ञानिक युग के 'सुपर मन' की कल्पना के मूल में भी उत्तरोत्तर विकास की यही अजस्र चेतना काम कर रही है।

मनुष्य के भीतर अपार ऐश्वर्य की सम्भावनाएं दिन और रात हिलोरें ले रही हैं। उन्हें वह एक वास्तविक और सीमित घटना के वर्णन के रूप में नहीं आंक सकता, क्योंकि वह देश काल की बाधा से मुक्त असीम भूमा का परिणमन है। इसीसे उस अनन्त सौन्दर्य को व्यक्त होने के लिये कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। सर्वकाल और सर्वदेश में उसी एक प्राण-पुरुष की सत्ता व्याप्त है। इसीसे मनुष्य का मन सब जगह समान रूप से काम करता है और यही कारण है कि जहां भी और जब भी किसी लोकोत्तर, दिव्यसत्ता ने जन्म लिया है, तो उसने सर्वत्र मानवी मन पर अपनी असाधारणता की प्रायः एक-सी छाप डाली है। इस तरह मनुष्य के स्वप्न के विगत, आगत और अनागत आदर्श पुरुषों की कथाओं को एक लाक्षणिक रूप-सा मिल गया है।

कल्प पुरुष के इसी लाक्षणिक रूप को भिन्न भिन्न देश-काल के लोगों ने और उनके कवि-मनीषियों ने नाना रंगों के प्रकाश-सूत्रों में बांधा है। स्वप्न-पुरुष और स्वप्न नारी की इस कल्पना प्राण कथा को ही हम पुराण-कथा कह सकते हैं। निरे वास्तव के तथ्य से ऊपर उठ कर कथा जब भी भाव कल्पना के दिव्य लोक में चली गयी है, तभी वह पुराण कथा बन गयी है। अपने मन की सारी उद्दीप्त आशा, कांक्षा और कामना से अभिषिक्त कर मनुष्य की अनेक पीढ़ियां उसी कल्प-पुरुष की कथा के नव नवीन और महत्तर रूपों को दुहराती गयी हैं। मनुष्य की कथा जब भी प्रकट सामान्य के धरातल से उठकर सम्भाव्य

असाधारण के स्वप्न जगत् में चली गयी है उसी पर पुराण कथा दी गयी है। इसीलिए प्रायः वे कथाएं स्वर्ग प्रतीक और दृष्टान्त के रूप में ही पाई जाती हैं। वे मात्र वास्तविक घटना की कथा नहीं कहतीं, वे तो छिपा करके ही जीवन के कई निगूढ़ तथ्यों पर अनेक रंगों का प्रकाश डाल देती हैं।

जैन पुराणों में भी इस प्रकार पुरुष यानी मनुष्य के परम काम्य आदर्श की कथा को ही तात्विक रूप प्राप्त हुआ है। जैन धर्म में इस परम पुरुष को शलाका पुरुष कहा गया है। उनके स्वरूप, सामर्थ्य, लीला और चरम प्राप्ति की भिन्न भिन्न कोटियों के अनुसार उनकी अलग अलग तात्विक मर्यादाएं स्थापित कर दी गयी हैं।

जैन कवि मनीषियों ने अपने आदर्श की चूड़ा पर तीर्थंकर की प्रतिष्ठा की है। तीर्थंकर का व्यक्तित्व होता है जिसमें सारे लौकिक और अलौकिक ऐश्वर्य एक साथ समाहित होते हैं। लौकिक दृष्टि से वह असाधारण रूप वीर्य, शौर्य, विक्रम प्रताप और सौन्दर्य का स्वामी माना जाता है। उसकी जन्म-लग्न का पता ही निरूपण और सर्वांग वर्णन शास्त्रों में मिलता है। आदि से अन्त तक उसका रूप का कसौटी पर विशेष मानव उसके गुण पर और पाप में विराजता रहता है। आयुष्य के समान ही वह अनिवार्य रहता है और काल भी उसकी देह का नाश नहीं कर सकता। इसीसे उसे चरम शरीरी कहा गया है। वह लोक का सर्वोपरि आदित्य पुरुष यानी सूर्य्य होता है जिसमें सारे तत्वों का सारभूत तेज, रस और शक्ति समाई रहती है। किसी पूर्वजन्म में निश्चित प्रकार के तपश्चरण की कामना करने से वह तीर्थंकर प्रकृति बांधता है। इसीसे जब वह तीर्थंकर होकर पैदा होता है तो लोक में अभूतपूर्व अभ्युदय प्रकट होता है। प्राणिमात्र के प्रति एक अभूतपूर्व सुख से व्याप्त हो जाते हैं। समकालीन धरती पर नहीं लोक और परलोक की सारी विभूतियों का प्रसाधक, विधाता और नेता होता है।

आदि से अन्त तक तीर्थंकर की जीवन-लीला बड़ी रम्य और रोचक है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव कवि की कल्पना का सारभूत मधु और तेजस् इस रूप में साकार हुआ है। वह मानवों और देवों की महत्वाकांक्षा का चरम रूप है। तीर्थंकर के गर्भ में आने के छह महीने पहले से रत्नों की वृष्टि होने लगती है। आस-पास के प्रदेशों में निरन्तर रत्न वर्षा होती है। आंगन के कल्पवृक्षों से फल बरसते हैं, गंधोदक की वृष्टि होती है और आकाश में दुन्दुभियों के घोष के साथ देव जय जयकार करते हैं। पृथ्वी उसके भीतर के अपूर्व रस से उर्वरता को नव-नवीन वनस्पतियों से भर देती है। तीर्थंकर जिस रात गर्भ में आते हैं उस रात उनकी माता ऐरावत हाथी, वृषभ, सिंह आदि के सोलह[1] स्वप्न देखती है जो उस आगामी परम पुरुष की अनेक विभूतियों के प्रतीक होते हैं। तीर्थंकर के जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है। देवलोक और मर्त्यलोक में अनेक आश्चर्य घटित होते हैं। तभी स्वर्गों के इन्द्र अपनी देवांगनाओं सहित अन्तरिक्ष को विभिन्न वाद्यों से गुंजित करते हुए, लोक में प्रभु के जन्म का उत्सव मनाने आते हैं। फिर इन्द्राणी के द्वारा शिशु भगवान् को मेरु पर्वत पर ले जाकर उन्हें पाण्डुक शिला पर विराजमान किया जाता है। फिर देवगणों द्वारा लाये हुए क्षीर-सागर के जल के एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक किया जाता है। कई दिनों तक इन्द्राणियाँ और देवियाँ प्रभु की माता की सेवा में नियुक्त रहती हैं। इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों के चरितों में उनका कुमार-काल और राज्यकाल की विविध घटनाएं वर्णित होती हैं।

---

१ कुछ लोगों की कल्पना के अनुसार चौदह। —लेखक

दीर्घ समय तक विपुल सुख भोग के साथ राज्य करते-करते किसी एक दिन अचानक सांसारिक क्षण भंगुरता पर उसकी दृष्टि अटक जाती है। सारा ऐहिक सुख-भोग उसकी दृष्टि में विनाशी और हेय जान पड़ता है। देह, महल और संसार के बन्धन उसे असह्य हो उठते हैं। सब कुछ त्याग कर वह चल पड़ने को उद्यत हो जाता है, तभी लोकान्तिक देव आकर उसकी इस मांगलिक चित्त-वेदना का अभिनन्दन कर, उसके वैराग्य का संकीर्तन करते हैं। जब वह नरसिंह महाभिनिष्क्रमण के लिए उद्यत होता है, उस समय संसार की सारी विभूतियां हाहाकार कर उठती हैं कि हाय, उनका एकमेव समर्थ भोक्ता भी उन्हें त्याग कर चला जा रहा है, और उसे बांध कर पकड़ रखने की शक्ति उनमें नहीं है।

इन्द्र आकर बड़े समारोह से प्रभु का दीक्षा कल्याणक करता है। वह मानव-पुत्र निर्वसन[1] दिगम्बर होकर प्रकृति की विजय-यात्रा पर निकल पड़ता है। महाविकट कान्तारों और पर्वत-प्रदेशों में वह दीर्घकाल तक मौन समाधि में लीन हो रहता है। अनायास एक दिन कैवल्य के प्रकाश से उसकी आत्मा आरपार निर्मल हो उठती है। तीनों काल और तीनों लोक के सारे परिणमन उसके चेतन में हाथ की रेखाओं से झलक उठते हैं। तब निर्जन की कन्दरा को त्याग कर लोक पुरुष अपना पाया हुआ प्रकाश निखिल चराचर के प्राणों तक पहुंचाने के लिये लोक में लौट आता है। इन्द्र और देवगण उसके आसपास विशाल समवशरण की रचना करते हैं। तीर्थंकर की यह धर्मसभा देश देशान्तरों में विहार करती है। आगे आगे धर्मचक्र चलता है, दिशाएं नव युगोदय और नवीन परिणमन के प्रकाश से भर जाती हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप लोक में अनेक कल्याणकारी परिवर्तन होते हैं। प्रभु की अजस्र वाणी से प्राणिमात्र के परम कल्याण का उपदेश निरन्तर बरसता रहता है। लोक में उस समय अपूर्व मंगल और आनन्द व्याप्त हो जाता है। जीवों के वैर मात्सर्य, दुःख विषाद मानो एकबारगी ही लुप्त हो जाते हैं। इस तरह अनेक वर्ष दूर-दूर देशों में विहार करके धर्म का चक्र-वर्तन करते हुए अनायास एक दिन किसी ज्योतिर्मय क्षण में प्रभु का परिनिर्वाण हो जाता है। ऐसी भव्य और दिव्य है तीर्थंकर की जीवन कथा।

लोक का दूसरा प्रतापी शलाका पुरुष होता है चक्रवर्ती। चक्रवर्ती के जन्म के साथ ही उसके महाप्रासाद में उसकी नियोगिनी चौदह ऋद्धियों और सिद्धियों के देनेवाले चौदह रत्न प्रकट होते हैं। इन्हीं रत्नों में से चक्रवर्ती की सारी आधिभौतिक और दैवी विभूतियां प्रकट होती हैं। वह पूर्व निदान से ही षट्खण्ड पृथ्वी के विजेता होने का नियोग लेकर जन्म लेता है। पृथ्वी के नाना खण्डों में जहां पीड़क असुरों और शोषक राजाओं के अत्याचारों से लोक-जन पीड़ित होते हैं, उन सब का निर्दलन कर, धरती पर परम सुख, शान्ति, कल्याण और समता का धर्म शासन स्थापित करने के लिये ही चक्रवर्ती अवतरित होता है। जब चक्री दिग्विजय के लिये जाता है, तो उसका चक्र-रत्न आगे आगे चलता हुआ उसका पथ संधान करता है। यह चक्र एकबारगी ही धर्म और उसकी स्थापक कल्याणी शक्ति का प्रतीक होता है। जब ससागरा पृथ्वी के छः खण्डों को जीतकर चक्री अपनी विजय के शिखर पर गर्वोन्नत खड़ा होता है, तभी वृषभाचल पर्वत पर अपनी विजय का मुद्रालेख अंकित करने जाता है। पर वहां जाकर देखता है कि विजय के उस शिलास्तम्भ पर उससे पहले ऐसे असंख्य चक्री अपनी विजय की हस्तलिपि आंक गये हैं और उस शिला पर नाम लिखने की जगह नहीं है। उसी क्षण चक्री का विजयाभिमान चूर्ण हो जाता है। वह अकिंचन भाव से किसी पिछले चक्री का नाम मिटा, अपने हस्ताक्षर कर देता है और समभाव लेकर अपने राज-नगर को लौट जाता है। तब अपनी सारी शक्ति और विभूति प्रजा के कल्याण के लिये उत्सर्ग कर देता है और

---

१ श्वेताम्बरों के अनुसार वह देवदूष्य वस्त्र ग्रहण करता है। —संपादक

भगवान्न्य के रूप-प्रसंग में कही गयी है उन्हीं का पुनरुक्त कथा हो गयी है। इसीसे प्रायः वे प्रकार रस, प्रतीक और सादृश्य के रूप में ही पाई जाती हैं। वे मात्र वास्तविक मनुष्य की कथा नहीं कहतीं, वे तो किन्तु कहीं ही जीवन के कई विशुद्ध तत्त्वों पर अनेक रूपों का प्रकाश डाल देती हैं।

जैन पुराणों में भी इस तरह पुरुष यानी मनुष्य के परम काम्य आदर्शों की कथा को ही वास्तविक रूप प्राप्त हुआ है। जैनों के यहाँ इन परम पुरुषों को शलाका पुरुष कहा गया है। उनमें त्याग, सामर्थ्य, लीला और परम प्राप्ति की भिन्न भिन्न कोटियों के अनुसार उनकी अलग अलग शास्त्रीय मर्यादाएं स्थापित कर दी गयी हैं।

जैन कवि मनीषियों ने अपने आदर्श की चूड़ा पर तीर्थंकर की प्रतिष्ठा की है। तीर्थंकर वह व्यक्तित्व होता है जिसमें सारे लौकिक और अलौकिक ऐश्वर्य एक साथ प्रकाशित होते हैं। जैन दृष्टि से वह अपराजेय बल, वीर्य, शौर्य, विक्रम, प्रताप और सौन्दर्य का स्वामी माना जाता है। उसकी जन्म-कथा [illegible] ही विराट् और शासन प्रवर्तन शास्त्रों में मिलता है। आदि से अन्त तक [illegible] उसके मुख पर और वाणी में विराजता रहता है। मनुष्य ने ममत्व से वह अपरिचित रहता है और तब कभी भी उसकी देह का नाश नहीं कर सकता। इसीलिए उसे चरम शरीरी कहा गया है। वह लोक का सर्वोत्तम आदर्श पुरुष यानी पूर्ण होता है जिसमें सारे कला का सारभूत तेज, रस और शक्ति समाये रहती है। किसी पूर्वजन्म में निखिल चराचर के कल्याण की कामना करने से वह तीर्थंकर प्रकृति बाँधता है। इसीलिए जब वह तीर्थंकर होकर पैदा होता है तो लोक में सर्वतोमुखी अभ्युदय प्रकट होता है। प्राणिमात्र के प्रति एक अनिर्वचनीय सुख से व्याप्त हो जाते हैं। तत्कालीन धरती पर वही लोक और परलोक की सारी सिद्धियों का प्रतापक, विधाता और नेता होता है।

आदि से अन्त तक तीर्थंकर की जीवन-लीला बड़ी काव्यमय और रोचक है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव कवि की कल्पना का सारभूत मधु और तेज़ उस रूपक में साकार हुआ है। वह मानवों और देवों की महत्वाकांक्षा का चरम रूप है। तीर्थंकर के गर्भ में आने के छह महीने पहले से रत्नों की वृष्टि होने लगती है। आस-पास के प्रदेशों में निरन्तर रत्न वर्षा होती है। नन्दन के वसन्त वृक्षों से पुष्प बरसते हैं। गन्धोदक की वृष्टि होती है और आकाश में दुन्दुभि के घोष के साथ देव जय जयकार करते हैं। पृथ्वी उसके भीतर के अपूर्व रस से सब नवीन सर्जन से भर देती है। तीर्थंकर जिस रात गर्भ में आते हैं उस रात उनकी माता हाथी, वृषभ, सिंह आदि के सोलह[1] स्वप्न देखती है, जो उस भावी परम पुरुष की अनेक विभूतियों के प्रतीक होते हैं। तीर्थंकर के जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है। देवलोक और मर्त्यलोक में अनेक आश्चर्य घटित होते हैं। तभी स्वर्ग के इन्द्र अपनी देवांगनाओं सहित ऐरावत को विविध शृंगार से सुसज्जित करते हुए लोक में प्रभु के जन्म का उत्सव मनाने आते हैं। बड़े समारोह से शिशु भगवान् को मेरु पर्वत पर ले जाकर उन्हें पाण्डुक शिला पर सिंहासन दिया जाता है और देवांगनाओं द्वारा लाये हुए क्षीर सागर के जल के एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक किया जाता है। वहीं [illegible] और [illegible] प्रभु की सेवा में नियुक्त रहती है। इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों के प्रसंगों में उनके कुमार-काल और राज्यकाल की विविध कथाएं वर्णित होती हैं।

---

१ कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार चौदह। —सम्पादक

दीर्घ समय तक विपुल सुख भोग के साथ राज्य करते-करते किसी एक दिन अचानक सासारिक क्षण-भगुरता पर उसकी दृष्टि अटक जाती है। सारा ऐहिक सुख-भोग उसकी दृष्टि मे विनाशी और हेय जान पड़ता है। देह, महल और ससार के बन्धन उसे असह्य हो उठते हैं। सब कुछ त्याग कर वह चल पड़ने को उद्यत हो जाता है, तभी लोकान्तिक देव आकर उसकी इस मागलिक चित्त-वेदना का अभिनन्दन कर, उसके वैराग्य का सकीर्तन करते हैं। जब वह नरसिंह महाभिनिष्क्रमण के लिए उद्यत होता है, उस समय ससार की सारी विभूतिया हाहाकार कर उठती हैं कि हाय, उनका एकमेव समर्थ भोक्ता भी उन्हें त्याग कर चला जा रहा है, और उसे बाध कर पकड़ रखने की शक्ति उनमे नहीं है।

इन्द्र आकर बड़े समारोह से प्रभु का दीक्षा-कल्याणक करता है। वह मानव-पुत्र निर्वसन[1] दिगम्बर होकर प्रकृति की विजय-यात्रा पर निकल पड़ता है। महाविकट कान्तारों और पर्वत-प्रदेशों मे वह दीर्घकाल तक मौन समाधि मे लीन हो रहता है। अनायास एक दिन कैवल्य के प्रकाश से उसकी आत्मा आरपार निर्मल हो उठती है। तीनों काल और तीना लोक के सारे परिणमन उसके चेतन में हाथ की रेखाओं से झलक उठते हैं। तब निर्जन की कन्दरा को त्याग कर लोक पुरुष अपना पाया हुआ प्रकाश निखिल चराचर के प्राणो तक पहुचाने के लिये लोक मे लौट आता है। इन्द्र और देवगण उसके आसपास विशाल समव-शरण की रचना करते हैं। तीर्थंकर की यह धर्मसभा देश देशान्तरो म विहार करती है। आगे आगे धर्मचक्र चलता है, दिशाए नव युगोदय और नवीन परिणमन के प्रकाश से भर जाती हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप लोक म अनेक कल्याणकारी परिवर्तन होते हैं। प्रभु की अजस्र वाणी से प्राणिमात्र के परम कल्याण का उपदेश निरन्तर बहता रहता है। लोक में उस समय अपूर्व मगल और आनन्द व्याप्त हो जाता है। जीवो के वैर मात्सर्य, दु ख विषाद मानो एकबारगी ही लुप्त हो जाते हैं। इस तरह अनेक वर्ष दूर दूर देशो मे विहार करके धर्म का चक्र वर्तन करते हुए अनायास एक दिन किसी ज्योतिर्मय क्षण मे प्रभु का परिनिर्वाण हो जाता है। ऐसी भव्य और दिव्य है तीर्थंकर की जीवन कथा।

लोक का दूसरा प्रतापी शलाका पुरुष होता है चक्रवर्ती। चक्रवर्ती के जन्म के साथ ही उसके महाप्रासाद मे उसकी नियोगिनी चौदह ऋद्धिया और सिद्धियों के देनेवाले चौदह रत्न प्रकट होते हैं। इन्हीं रत्नो मे से चक्रवर्ती की सारी आधिभौतिक और दैवी विभूतिया प्रकट होती हैं। वह पूर्व निदान से ही षट् खड पृथ्वी के विजेता होने का नियोग लेकर जन्म लेता है। पृथ्वी के नाना खडों में जहा पीड़क असुरों और शोषक राजाओं के अत्याचारो से लोक-जन पीड़ित होते हैं, उन सब का निर्दलन कर, धरती पर परम सुख, शान्ति, कल्याण और समता का धर्म शासन स्थापित करने के लिये ही चक्रवर्ती अवतरित होता है। जब चक्री दिग्विजय के लिये जाता है, तो उसका चक्र-रत्न आगे आगे चलता हुआ उसका पथ-संधान करता है। यह चक्र एकबारगी ही धर्म और उसकी स्थापक कल्याणी शक्ति का प्रतीक होता है। जबससागरा पृथ्वी के छ खडों को जीतकर चक्री अपनी विजय के शिखर पर गर्वोन्नत खड़ा होता है, तभी वृषभाचल पर्वत पर अपनी विजय का मुद्रालेख अंकित करने जाता है। पर वहा जाकर देखता है कि विजय के उस शिलास्तम्भ पर उससे पहले ऐसे असख्य चक्री अपनी विजय की हस्तलिपि आक गये हैं और उस शिला पर नाम लिखने की जगह नहीं है। उसी क्षण चक्री का विजयाभिमान चूर्ण हो जाता है। वह आकिंचन भाव से किसी पिछले चक्री का नाम मिटा, अपने हस्ताक्षर कर देता है और समभाव लेकर अपने राज-नगर को लौट जाता है। तब अपनी सारी शक्ति और विभूति प्रजा के कल्याण के लिये उत्सर्ग कर देता है और

---

१ श्वेताम्बरों के अनुसार वह देवदूष्य वस्त्र ग्रहण करता है। —सपादक

में अप्रमत्त भाव से वह धर्म शासन का उपपालन करता है। इस रूप में वह ही लाक्षणिक रूप से मौलिक सत्ता के अन्तिम बिन्दु को परम कल्याण के छोर में अंकित कर दिया गया है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत ऐसे ही चक्रवर्ती थे जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

इस तरह नारायण प्रतिनारायण बलभद्र कामदेव आदि परम्परा की कई कोटियां हुई हैं और उनके जुदा-जुदा विवरण हैं।

जैन मान्यता के अनुसार श्रीकृष्ण नारायण थे। वे नियोग से ही तीन खण्ड पृथ्वी के अधीश्वर अर्धचक्री थे। पूर्वभवों से ठीक आगे धर्म ध्यान एवं तप करने से वे नारायण में जन्म लेते हैं। नारायण महानतम कर्म पुरुष होता है। वह लोक में लौकिक शौर्य, प्रताप और ऐश्वर्य का अकेला प्रभु होता है। उसकी लीला में कौतुक, कौतूहल, शौर्य, सम्मान और प्रताप का सामंजस्य होता है। लीला पुरुषोत्तम कृष्ण के व्यक्तित्व में इन वृत्तियों का अद्भुत एकत्र सामंजस्य रहा है। जिनके नियोग के उपलक्ष्य उस कर्म पुरुष के निवास-स्थान को भूत करने के लिये समुद्र में देवों ने द्वारिका रची थी।

कृष्ण के चचेरे भाई तीर्थंकर नेमिनाथ को कैवल्य प्राप्त होने पर उन्होंने अपने समवसरण में यह भविष्यवाणी की थी कि यादव पुत्र द्वैपायन के हाथों ही द्वारिका का दहन होगा और अपने ही भाई जरत्कुमार के हाथों कृष्ण की मृत्यु होगी। कृष्ण अनेक यादवों की प्रवृत्ति देखी हो चली थी उस समय। कुमार द्वैपायन उसी समय दीक्षा लेकर वहां से चल दिये और जरत्कुमार भी इस पातक से बचने के लिये दूर देशान्तरों में चले गये। पर उस संसार को सम्भव के सारे निमित्त बनते गए और तीर्थंकर की वाणी सत्य हुई। यादवों के हाथों ही मदिरा पीड़ित ने द्वैपायन का अपमान किया। ऐसे थे उस लीला देवी की लीला। द्वारिका-दहन और यदुकुल के नाश के बाद कृष्ण बलराम मथुरा की ओर चले हुए एक जंगल में सोये विश्राम ले रहे थे, भाई बलराम उनके लिये जल लेने गये थे। उसी जंगल में निर्वासन लेकर भटकता जरत्कुमार उधर आ निकला। हरि के पग-तल की पद्मिका किसी पशु की आंख जान उसने तीर चलाया। वह नारायण के पग-तल की अमर मणि को बेध गया। जिनसे पृथ्वी का अधिकांश प्रभु अन्तिम क्षण में भाई को क्षमा कर इसी जन्म भव किसी आगामी भव के लिये तीर्थंकर प्रकृति बांध कर उन्होंने देह त्याग कर गया।

कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामकुमार थे। कामकुमार जन्म से ही कामदेव का रूप लेकर अवतरित होता है और परम शरीरी अजातपु, तथा स्वभाव से चरमशरीरी होता है। वह स्वभाव से ही कुतूहल लीलाप्रिय, कौतुकी और साहसी होता है। वह सौन्दर्य मानव की सर्वोत्तम कल्पना का हमारे समक्ष मूर्तिमान रूप है। प्रद्युम्न भी कामकुमार ही थे। प्रद्युम्न को शिशु-काल में ही पूर्वभव के बैरी ने उठा एक भयंकर शिला के नीचे दबा कर मार देना चाहा था, पर चरम शरीरी कामदेव अवध्य था। उसका बाल न बांका हो सका मृत्यु के उसे भी बस छीनता ही रहा। शिशु प्रद्युम्न अपनी मां रुक्मिणी के पास से उठाकर विमान में से नीचे जंगल में आ गिरे थे। पर्वत की शिला टूक टूक हो गई पर प्रद्युम्न का बाल बांका न हो सका। बल्कि कुतूहल तथा कैशोर्य पान दया।

प्रद्युम्न ने अपने पूर्व निर्वेद में नगर कर्मस्थली त्याग विद्रोह में कई देश देशान्तरों में भ्रमण कर अपनी शक्ति, प्रतिभा, शौर्य और पौरुष से अनेक सिद्धियां और विद्याओं का लाभ किया था। उसकी पुष्प मित्र के मोहक रूप और अपने साहस के मधुर रंग से उस साहस और कल्पना पराक्रम से

अनगिनती कुल-कन्याओं और लोक की श्रेष्ठ सुन्दरियों के हृदय जीते थे। यही हाल कृष्ण के पिता वसुदेव का भी था। उनके एक-एक नयन-विक्षेप पर सारे जनपद का रमणीत्व पागल और मूर्च्छित हो जाता था। ऐसी निराली थी इन हरि-वंशियों की वंशजात मोहिनी।

इन शलाका पुरुषों के दिग्विजय, देशाटन, समुद्र-यात्रा, साहसिक वाणिज्य व्यवसाय और अन्तत ब्रह्म-साधना की बड़ी ही सार्थक और लाक्षणिक कथाओं से जैन पुराण ओत-प्रोत हैं। वस्तु और घटना मात्र को देखनेवाली स्थूल ऐतिहासिक दृष्टि को इन कथाओं में शायद ही कुछ मिल सके। इनके मर्म को समझने के लिये पंडित जवाहरलाल जैसा मानव इतिहास का पारगामी कवि द्रष्टा चाहिये। पंडित जी ने अपनी 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में कहा है कि 'पुराण, दंतकथा और कल्प-कथा को वास्तविक घटना के रूप में न देखकर यदि हम उन्हें गहरे सत्यों के वाहक रूपकों के रूप में देखें तो इनमें अनादिकालीन मानव सृष्टि का अनन्त ऐश्वर्य कोष हमें प्राप्त हो सकेगा।"

जैन वाङ्मय में ऐसे रस, शक्ति, तप और प्रकाश के संश्लिष्ट रूपकों की अपार सम्पत्ति पड़ी है। जिज्ञासुओं और सर्जकों को आमंत्रण है कि वे उन चिंतामणियों की आभा से अपनी दृष्टि को पारस बनायें।



पालि-भाषा के बौद्ध ग्रन्थों में जैन धर्म

डा. गुलाबचन्द्र चौधरी एम. ए. पीएच. डी.

भगवान् बुद्ध ने अपने सारे उपदेश जिस जनभाषा में दिये थे उसका नाम मागधी था। मागधी में बुद्धवचनों या उक्तियों का परिरक्षण या परिवहन कहा गया है। कालान्तर में इसी परिरक्षण परिवहन से पालि शब्द निकला जिसका अर्थ भाषा के साथ लगाने पर होता है बुद्धवचनों की भाषा। बौद्ध ग्रन्थ संस्कृत में भी लिखे गये हैं पर बुद्धवचनों का प्रतिनिधित्व करनेवाली भाषा पालिभाषा ही है।

जिस तरह बुद्ध ने जनभाषा में उपदेश दिया था उसी तरह भगवान् महावीर ने भी अपने उपदेश तत्कालीन जनभाषा अर्धमागधी में दिये थे। दोनों भाषाएं मगध में बोली जानेवाली मागधी के ही रूप हैं। दोनों सम्प्रदायों के नेताओं ने एक ही क्षेत्र में विहार कर अपने उपदेश दिये इसलिए उन दोनों के आगम ग्रन्थों में भाषा, भाव, शैली एवं दर्शन आदि के साम्य को देखकर इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि दोनों महापुरुष—महावीर और बुद्ध—समकालीन थे। पालि ग्रन्थों के दर्शन से हम यह भी मालूम होता है कि ये दोनों महात्मा कभी कभी एक ही नगर, एक ही गांव और एक ही मुहल्ले में विहार करते थे पर इस बात का उल्लेख किसी भी सम्प्रदाय के ग्रन्थ में नहीं मिलता कि दोनों महापुरुषों ने अपने मतभेदों पर आपस में वार्तालाप या वाद किया हो। हां इस बात की सूचना अवश्य मिलती है कि इन दोनों के शिष्य तथा अनुयायिगण प्रायः एक दूसरे के पास आते-जाते तथा वार्तालाप व वादविवाद करते थे।

यों तो पालि ग्रन्थों के पढ़ने से यह स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् बुद्ध ने तथा उनके समकालीन शिष्यों ने जैन सम्प्रदाय की अनेकों बातों को अपनी आंखों से देखा था। इन ग्रन्थों के ऐसे वर्णनों से हम जैनों के इतिहास, उनके दार्शनिक सिद्धान्त और आचार-विचार सम्बन्धी मान्यताओं का बहुत कुछ परिचय होता है। इन पंक्तियों द्वारा उक्त बातों को दिखलाने का किञ्चित् प्रयत्न किया जायगा।

इतिहास

पालि ग्रन्थों में जैन सम्प्रदाय का नाम निगण्ठ निगन्थ एवं निगण्ठ आता है जिसे हम प्राकृत में णिग्गंठ तथा संस्कृत में निर्ग्रन्थ नाम से कहते हैं। उक्त सम्प्रदाय के प्रचारक महात्मा का नाम नातपुत्त व नाटपुत्त रूप से मिलता है जिसे हम प्राकृत में नायपुत्त या णायपुत्त तथा संस्कृत में ज्ञातृपुत्र नाम से कहते हैं। इस तरह निगण्ठ सम्प्रदाय के नातपुत्त को एक साथ ही निगण्ठनातपुत्त कहा गया है। निगण्ठ का अर्थ पालि ग्रन्थों में अपरिग्रही है जिसका आशय है अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित। पर नातपुत्त शब्द की व्युत्पत्ति का ज्ञान उक्त ग्रन्थों से नहीं होता। हां, जैन ग्रन्थों की सहायता से हम यह जानते हैं कि महावीर क्षत्रियों की एक शाखा ज्ञातृ=नात=नाय में उत्पन्न हुए थे और जिस तरह बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध को शाक्य वंश में उत्पन्न होने के कारण शाक्यपुत्र कहा गया है उसी तरह महावीर को नातपुत्र। सामञ्ञफल आदि कुछ सुत्तों में महावीर को अग्गिवेसन (अग्निवैश्यायन) नाम से सम्बोधित किया गया है पर जैन ग्रन्थों के देखने से यह मालूम होता है कि यह सब गलत है। महावीर का गोत्र काश्यप था पर उनके एक प्रमुख शिष्य सुधर्मा का गोत्र अवश्य अग्निवैश्यायन था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पालि ग्रन्थों के संकलनकाल में संकलनकर्ताओं द्वारा यह विपर्यय कर दिया गया है।

पालि सूत्रों में जैन धर्म के अनुयायियों का निगण्ठपुत्त, निगण्ठ तथा निगण्ठसावक शब्द से उल्लेख किया गया है। उस सम्प्रदाय के महिलावर्ग के लिए भी निगण्ठी[1] शब्द आया है।

कतिपय बौद्ध सूत्रों में बुद्धकालीन छह अन्य तैर्थिकों का परम्परागत ढग से वर्णन मिलता है। उसमे नातपुत्त का नाम भी शामिल किया गया है। उन सब के नाम के साथ निम्नलिखित विशेषण लगाये जाते हैं "सघी चेव गणी च, गणाचरियो, ञातो, यसस्वी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयो अनुप्पत्तो[2]" अर्थात् संघस्वामी, गणाध्यक्ष, गणाचार्य, ज्ञानी, यशस्वी, तीर्थंकर, बहुत लोगों से संमानित, अनुभवी, चिरकाल का साधु, वयोवृद्ध। इनमें 'अद्धगतो' और वयो अनुपत्तो, इन दो विशेषणों से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अन्य तैर्थिकों के समान महावीर भी बुद्ध से आयु में बडे थे और उस समय तक काफी वृद्ध थे। साथ ही उनका यह अनुमान है कि दीघनिकाय के संगीति पर्याय एव पासादिक सुत्तों व मज्झिमनिकाय के सामगामसुत्त के कथनानुसार महावीर का निर्वाण भी बुद्ध से पहले हुआ था, पर इस संबध में इतना ही कहना है कि जर्मन विद्वान् प्रो याकोबी ने यह सिद्ध कर दिया है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण के पीछे हुआ है। उन के मतानुसार वज्जि-लिच्छिवियों का अजातशत्रु कुणिक के साथ जो युद्ध हुआ था वह बुद्ध के निर्वाण के बाद और महावीर के जीवनकाल में हुआ था। यद्यपि वज्जि और लिच्छिवी गणा का वर्णन दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों म मिलता है पर तथोक्त युद्ध का वर्णन केवल जैनागमों में ही मिलता है, बौद्धागमों मे नहीं[3]। इतना ही नहीं, इन दोनों महापुरुषों की आयु को देखने से यह मालूम होता है कि महावीर बुद्ध से आयु मे छोटे थे। बुद्ध निर्वाण के समय ८० वर्ष के थे जबकि महावीर ७२ वप के।

साथ ही एक और बात यह है कि महावीर द्वारा स्वतत्र रूप से धर्मोपदेश प्रारम्भ करने के पहले ही बुद्ध ने अपना धर्ममार्ग स्थापित करना शुरू कर दिया था। जो हो, पर उक्त अनेक विशेषणों मे अन्त के दो विशेषण—अद्धगतो वयो अनुप्पत्तो—पालिसूत्रों मे भी सन्देह की दृष्टि से देखे गये हैं और आश्चर्य है कि कुछ सूत्रों—महासकुलदायी (म नि) तथा सभियसुत्त (सुत्तनिपात)—मे ये दो विशेषण नहीं पाये जाते। निगण्ठ नातपुत्तके साथ अन्य विशेषणा का समर्थन जैन आगमा से भलीभांति होता है। उपालि सुत्त के निगण्ठ, निगण्ठी शब्द से मालूम होता है कि महावीर के सघ मे स्त्रियों की भी प्रव्रज्या होती थी।

भगवान् महावीर के निर्वाण को सूचित करने वाले कतिपय तथोक्त पालिसूत्रों मे लिखा है कि "जिस समय निगण्ठ नातपुत्त की मृत्यु पावा मे हुई थी, उस समय निगण्ठों मे फूट होने लगी थी, दो पक्ष हो गये थे एक दूसरे को वचन रूपी बाणों से वेधने लगे, मानो निगण्ठों मे वध (युद्ध) हो रहा था, निगण्ठ नातपुत्त के जो श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य थे, वे भी निगण्ठ के वैसे दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अप्रतिष्ठित, आश्रयरहित धर्म में अन्यमनस्क हो खिन्न और विरक्त हो रहे थे[4]।" इस वर्णन से यह मालूम होता है कि महावीर की मृत्यु पावा मे हुई थी तथा उनके बाद ही संघभेद होने लगा था। इस कथन मे भगवान् महावीर का निर्वाण पावा मे होना तो जैनागमों से समर्थित है। यह पावा जैन-बौद्ध आगमों के अनुसार मल्लों की पावा थी जो कि वर्तमान गोरखपुर जिले में अनुमानित है। पर संघभेद की बात उस प्रारम्भिक काल मे जैन ग्रन्थों से समर्थित नहीं होती। जैन मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के दो

---

१ मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त।

२ दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त।

३ वीरसवत् और जैन कालगणना, भारतीय विद्या, सिंघीस्मारक, पृष्ठ १७७।

४ दीघनिकाय, सगीतिपर्याय एव पासादिक सुत्त, मज्झिमनिकाय, सामगामसुत्त।

बातों को लेकर कुछ कारणों से मतभेद हुआ था। ऐसा मालूम होता है कि महावीर के निर्वाण की घटना के समान ही यह घटना उक्त सूत्रों में या तो निश्चित रूप से जोड़ दी गई या पिटकों के संकलन काल में श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय की परम्परा को पीछे से निश्चित रूप में ला दिया गया। उक्त कथन में पालि पिटकों का ओदातवसना विशेषण सूचित करता है कि श्वेताम्बर साधुओं को गृहस्थ के रूप में समझ लिया गया है पर इस उल्लेख से इतना तो मानना पड़ेगा कि पालि ग्रन्थ जैनों के संभेद से परिचित थे, चाहे वह पहले हुआ हो या पीछे।

पालि ग्रन्थों से यह भी सूचित होता है कि भगवान महावीर और उनके अनुयायियों के विहार क्षेत्र अंग, मगध, काशी, कोशल तथा वज्जि, लिच्छवि एवं मल्लों के गणराज्य थे। राजगृह, नालन्दा, वैशाली, पावा और श्रावस्ती में जैन लोग प्रधान रूप से रहते थे तथा वैशाली के लिच्छवि जैन धर्म के प्रबल समर्थक थे।

मज्झिमनिकाय और अंगुत्तर निकाय के कतिपय सूत्रों में लिखा है कि "निगण्ठ लोग महावीर को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अपरिमित ज्ञान एवं दर्शन से युक्त, चलते फिरते, खड़े रहते, सोते, जागते अपरिशेष ज्ञानदर्शन से युक्त मानते थे "। यह कथन जैनागमों से समर्थित है और जैन मान्यता इस के अनुरूप है। यहां अपरिशेष ज्ञानदर्शन जैनागमों के केवलज्ञान और केवलदर्शन को सूचित करता है। सर्वज्ञता के सम्बन्ध में आनन्द का यह मत था कि वे न तो स्वयं सर्वज्ञ होने का दावा करते थे और न दूसरों को ही ऐसा मानते थे। सन्दकसुत्त में उनके शिष्य आनन्द ने सर्वज्ञता का इस प्रकार परिहास किया है : एक शास्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अशेष ज्ञानदर्शन वाला होने का दावा करता है, वो भी यह सूने घर में जाता है, वहां भिक्षा भी नहीं पाता, कुक्कुर भी काट खाता है, सर्वज्ञ होने पर भी स्त्री पुरुषों के नाम गोत्र पूछता है, ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है। आप सर्वज्ञ होकर यह क्यों पूछते हैं, तब वो कहता है कि सूने घर में जाना विहित था इसलिए गये, भिक्षा मिलनी नियति न थी, इसलिए न मिली, कुक्कुर का काटना निश्चित था इसलिए उसने काटा आदि। यह आलोचना हमें सूचित करती है कि उस समय तथोक्त सर्वज्ञता की मान्यता के साथ साथ उसकी कड़ी आलोचना भी होने लगी थी।

दर्शन

भगवान् महावीर की दार्शनिकता की पृष्ठभूमि क्रियावाद (कर्मवाद) था। विनयपिटक के महावग्ग ग्रन्थ में सिंहसेनापति के प्रसंग में तथा अंगुत्तर निकाय में निगण्ठनाथपुत्त को किरियवाद (क्रियावाद) नाम से कहा गया है। इस वाद का भाव है "सुख दुक्ख सयं कतं " अर्थात् सुखदुःख का कर्ता जीव स्वयं है। धम्मपद में यही बात यों कही गई है [illegible] " अर्थात् जीव स्वयं किये गये सुख दुःख का कर्ता एवं भोक्ता है इसके सुखदुःख का विधाता और कोई नहीं। निगण्ठों की इस विशिष्ट मान्यता को मज्झिम निकाय के देवदहसुत्त में अच्छी तरह रखा गया है : यह पुरुष पुद्गल जो कुछ भी सुख दुःख या अदुःख असुख अनुभव करता है वह सब पहले (पूर्व भव) किये गये कर्मों के कारण ही। इन पुराने कर्मों का तपस्या द्वारा अन्त करने से तथा नये कर्मों को न करने से भविष्य में निरास्रव [illegible]

---

१ चूल दुक्खक्खन्धसुत्त, चूळसकुलुदायिसुत्त, अंगुत्तरनिकाय III पृ ७४ IV पृ ४२ ।

२ मज्झिमनिकाय ७६ ।

३ महावग्ग ६। १ २ ६ ।

अंगुत्तर निकाय भाग १ ४४ ।

४ १ ११ II ।

अनाश्रव होता है। विपाक रहित होने से कर्मक्षय, कर्मक्षय से दुःखक्षय और दुःखक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षय से सभी दुःख जीर्ण हो जाते हैं।"

यहां भगवान् महावीर ने आध्यात्मिक शुद्धि के लिए तपस्या का प्रतिपादन किया। इस दृष्टिकोण से निर्ग्रन्थ साधु कठोर तपश्चरण करते हैं। पर बुद्ध ने इस तपस्या की आलोचना करते हुए कहा है कि तुम्हारी साधना या तपोमार्ग व्यर्थ है, यदि तुम यह नहीं जानते कि हम कैसे थे कैसे हैं, कौन कौन से पाप किये हैं, कितने पाप नष्ट हो गये, कितने और नष्ट होने हैं, कब इनसे छुटकारा मिल जायगा[1] आदि। निर्ग्रन्थ तपस्या की ऐसी ही आलोचनाएं पाली ग्रन्थों में कई स्थानों में देखने में आती हैं। परन्तु इन आलोचनाओं में, मालूम होता है, बुद्ध ने निर्ग्रन्थ तपस्या की अन्तरात्मा की आलोचना न कर केवल उसके उग्र बाह्य रूप की ही आलोचना की है। निर्ग्रन्थ परम्परा की मान्यता है कि कायक्लेश या तपस्या चित्त के मलों को हटाकर आध्यात्मिक शुद्धि के लिए है। यदि उससे यह काम नहीं होता तो वह व्यर्थ है। इस दृष्टि से बुद्ध की आलोचना और जैन मान्यता में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रह जाता।

भग० महावीर ने क्रियावाद की स्थापना में यह घोषित किया कि इस संसार में प्राणियों का जीवन अंशत भाग्य (पूर्वजन्मकृत कर्मों) पर और कुछ मानवीय प्रयत्नों (इहजन्मकृत) पर निर्भर है। इस तरह नियतानियत (नियतानियत) सिद्धान्त की स्थापना कर तत्कालीन अन्य क्रियावादियों से अपना स्पष्ट मतभेद प्रकट किया। उन्होंने बतलाया कि पूर्वजन्मकृत कर्मों के अधीन हो हमने कैसे भवभ्रमण किया और कैसे अब कर रहे हैं। भग० बुद्ध भी क्रियावादी थे पर उनका सिद्धान्त था कि हम हेतु प्रभव हैं और हेतुओं (प्रतीत्य समुत्पाद) के कारण चक्कर काट रहे हैं।[2]

इन दोनों क्रियावादियों के मतभेद को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि महावीर अन्तरंग और बहिरंग दोनों शक्तियों को मानकर चलते हैं, बुद्ध केवल अन्तरंग शक्ति अर्थात् मन (मनोपुब्बंगमा धम्मा) पर चलते हैं। एक ने बहिरंग काय कर्म (दण्ड) वचन-कर्म (दण्ड) और अन्तरंग मन कर्म (दण्ड) को बन्धन रूप से प्रतिपादित किया है तो दूसरे ने केवल अन्तरंग मन को ही अनर्थकर बतलाया है। मज्झिमनिकाय के उपालिसुत्त में यही चर्चा उठाई गई है कि निगण्ठ नातपुत्त काय, वचन और मन रूप से तीन दण्ड मानते हैं जब कि बुद्ध ने काय, वचन और मन को तीन कर्म माना है, पर इन दोनों के मतों की उक्तसूत्र में आलोचना करते हुए यह दिखलाया गया है कि महावीर कायदण्ड को महापापवाला मानते हैं जब कि बुद्ध मन कर्म को। इस प्रसंग में दण्ड और कर्म का एक ही अर्थ समझना चाहिये, परन्तु महावीर के मत में कायदण्ड को ही सबकुछ बतलाकर उसे गलत ढंग से उपस्थित किया गया है। उपालिसूत्र में यदि हम बुद्ध और उपालि के बीच हुए सम्वाद को सद्धर्मरीति से पढ़ें, तो महावीर की मान्यता का यथार्थ रूप समझ सकते हैं "बुद्ध 'चतुर्याम संवर से संवृत निगण्ठ आते जाते बहुत छोटे छोटे प्राणिसमुदाय को मारता है। हे गृहपति! निगण्ठनातपुत्त इनका क्या फल बतलाते हैं।" उपालि "भन्ते, अनजान (असचेतनिक) को निगण्ठनातपुत्त महादोष नहीं मानते, जानकर किये गये कर्म को ही पाप मानते हैं।," इस संवाद से यह निष्कर्ष निकालना सरल है कि मन पूर्वक (जानकर) किया गया कर्म ही पापकर है।

महावीर का यह सिद्धान्त कि मन कर्म और कायकर्म दोनों समान रूप से पापजनक हैं, मज्झिमनिकाय के महासच्चकसुत्त से भलीभान्ति समर्थित होता है। उक्तसूत्र में निगण्ठपुत्त सच्चक आजीवक और बुद्ध के मत की आलोचना करते हुए कहता है कि आजीवक तो कायिक भावना में तत्पर हो विचरता है, चित्त

१ मज्झिमनिकाय, चूळदुक्खक्खन्ध एवं देवदहसुत्त।

२ महावग्ग, सारिपुत्त मोग्गलान प्रव्रज्या।

की भावना से नहीं बाद कुछ चित्त की भावना से बना रहता है क्योंकि भावना से नहीं। उक्त आलोचना से महावीर के मत का निष्कर्ष निकालना कोई कठिन नहीं। महावीर के मत में कायभावना पि होति चित्तभावना पि होति अर्थात् काय और मन दोनों की भावना से मुक्ति मिल सकती है न कि केवल काय या केवल मन की भावना से। इसी तरह पाप भी दोनों के संयोग से होगा।

इससे अब हम यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि मन और काय की दुःखात्मक क्रिया पर नियन्त्रण करने के लिए महावीर ने तपस्या के आधार को कायमनोनिग्रहात्मक बनाया और मनोनिग्रह तथा कायक्लेश को अपने धर्म में महत्त्व दिया। उनका कहना था कि: पुरुष जिन दुःखदुःखों का अनुभव करता है वह सब पूर्वजन्म में किये कर्मों के कारण ही। उन्हें कड़वी दुष्कर तपस्या से नष्ट करो और जो अब यहां वचन मन को संवृत कर कर्म करोगे तो भविष्य में पाप न होंगे। इस तरह पुराने कर्मों का तपस्या से अन्त करने पर और नवीन कर्मों को न करने से भविष्य में आस्रव न होगा और आस्रव न होने से कर्मों का क्षय और कर्मों के क्षय होने से दुःखों का नाश तथा दुःखों के नाश से वेदना का नाश और वेदना के नाश से सब दुःख जीर्ण हो जायेंगे।[1] उनका दूसरा कथन था कि: पूर्वजन्म में किये गये पापकर्म यदि अविपक्व वाले होंगे तो उनके कारण दुःख वेदनीय आस्रव आते रहेंगे जिसका जन्मान्तर में फल मिलेगा।[2] उनका उपदेश था कि सुख से सुख नहीं पाया जा सकता, दुःख से ही सुख मिल सकता है। यदि सुख से सुख मिल जाए तो राजा श्रेणिक भी उसे पा सकता है।[3]

पालि के सुत्तों में महावीर के क्रियावाद के अतिरिक्त उनके ज्ञानवाद का भी थोड़ा संकेत मिलता है। संयुत्तनिकाय के चित्तसुत्त में अपना अभिमत प्रकट करते हुए महावीर ने कहा है कि: "सद्धाय खो गहपति ञाणं एव पणीततरं" अर्थात् श्रद्धा से बढ़कर ज्ञान है। यह कथन जैन ग्रन्थों से मिलता है। जैन दर्शन में ज्ञान को स्वपरप्रकाशक माना गया है और उसे सम्यग्ज्ञान प्रमाण के रूप में भी स्वीकृत किया है।

आचारमार्ग

पालि ग्रन्थों से हम जैन श्रावकों एवं मुनियों के आचारविषयक नियमों की भी थोड़ी बहुत जानकारी होती है। इन वर्णनों से मालूम होता है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के नियमों का एक व्यवस्थित रूप था जिसका पालन उस समय एक विशिष्ट वर्ग के लोग करते थे। इतना ही नहीं भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्वप्राप्ति के पहले जिन तपस्या मार्गों और नियमों का पालन कर स्वयं किया था उनमें कुछ ऐसे थे जो निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में तब प्रचलित थे और आज भी पालन किये जाते हैं। उदाहरण के लिए मज्झिमनिकाय के महासीहनाद को ही लें। इस सुत्त में अचेलक सम्प्रदाय के रूप में जैन मुनियों के कुछ आचारों का वर्णन मिलता है। यद्यपि पालि ग्रन्थों में अचेलक (वस्त्ररहित) का अर्थ आजीवक सम्प्रदाय ही लिया गया है पर जैनागमों को देखने से मालूम होता है कि अचेलक निर्ग्रन्थसम्प्रदाय में भी थे। स्वयं महावीर वस्त्ररहित (नग्न) थे। आजीवक भी नग्न रहते थे। प्रो. जकोबी ने पालि ग्रन्थों में वर्णित आजीवकों के आचारों से जैनाचारों की समानता तथा जैनागमों में वर्णित महावीर और आजीवक नेता मक्खली गोशाल का ६ वर्षों तक निरन्तर साहचर्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि आजीवक और निर्ग्रन्थ आपस में एक दूसरे से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। जैनों की मान्यता है कि भग. महावीर के पहले जैन परम्परा के प्रतिष्ठापक भग. पार्श्वनाथ हो चुके हैं

१ चूलदुक्खक्खन्धसुत्त।

२ अंगुत्तरनिकाय, चतुक्कनिपात १९५ सुत्त।

३ चूलदुक्खक्खन्धसुत्त।

जिनके चलाये आचारविचार के नियम उस समय आजीवकों, निर्ग्रन्थों और बुद्ध के सामने थे। जो हो, पर महासीहनाद और महासच्चक सूत्रों में अचेलकों के नाम से जिन आचारों का वर्णन किया गया है वे ही आचार आचारांग, दशवैकालिक आदि सूत्रों में निर्ग्रन्थों के आचार के रूप में वर्णित हैं। उन सूत्रों में उनका वर्णन संक्षेप में यों है "अचेलक रहना, मुक्ताचार होना (स्नान, दातुन नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना), हाथ चाटकर खाना, आइये भदन्त! खड़े रहिये भदन्त! ऐसा कोई कहे तो उसे सुना अनसुना कर देना, सामने लाकर दी हुई भिक्षा का, अपने उद्देश्य से बनाई हुई भिक्षा का और दिये गये निमन्त्रण का अस्वीकार, जिस बर्तन में रसोई पकी हो, उसमें सीधी दी गई भिक्षा का तथा खल आदि में से दी गई भिक्षा का अस्वीकार, भोजन करते हुए दो में से उठकर एक के द्वारा दी जाने वाली भिक्षा का, गर्भिणी स्त्री के द्वारा दी हुई भिक्षा का और पुरुषों के साथ एकान्त में स्थित स्त्री के द्वारा दी जाने वाली भिक्षा का अस्वीकार,
कभी एक घर से एक कौर, कभी दो घर से दो कौर आदि भिक्षा लेना, तो कभी एक उपवास, कभी दो उपवास आदि करते हुए पन्द्रह उपवास करना, दाढ़ी मूछों का लुंचन करना, खड़े होकर और उकडू आसन पर बैठकर तप करना, स्नान का सर्वथा त्याग करके शरीर पर मल धारण करना, इतनी सावधानी से जाना आना कि जल के या अन्य किसी सूक्ष्म जन्तु का घात न हो, कड़ी ठंड में खड़े रहना आदि आदि।"

तपस्या जैन साधु जीवन का मुख्य अंग था। उसके कारण जैनमुनि दीघतपस्सी जैसा नाम भी पाते थे। वे लोग तपस्या का आचरण प्रायः खड़े होकर (उब्भट्ठको), आसन छोड़कर (आसन पटिक्खित्तो) करते थे। वह तपस्या बड़ी दुष्कर, तीव्र (तिप्पा) एवं कड़वी (कटुका) होती थी।[1]

चतुर्यामसंवर दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में निगण्ठनाथपुत्त को चतुर्यामसंवर से संवृत लिखा है। वहां चतुर्याम संवर का अर्थ दिया गया है—सब प्रकार के पानी से संवृत (सब्बवारिवारितो) सभी पापों से निवृत (सब्बवारियुत्तो) सभी पापों की शुद्धि होने से संवृत (सब्बवारि धुतो) सभी पाप हानि से सुख अनुभव करने वाला—सब्बवारि फुट्ठो। पालि का यह चतुर्याम संवर हमें जैनागमों के चाउज्जाम (चतुर्याम) की याद दिलाता है जिसका अर्थ होता है चार व्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह। इन चतुर्यामों को, जैनागमों के अनुसार, उपदेश देने वाले भग० पार्श्वनाथ थे जो कि भग० महावीर से २५० वर्ष पहले हुए थे। महावीर ने इन चार यामों में एक और याम-ब्रह्मचर्यव्रत-मिलाकर पञ्चयाम अर्थात् पञ्चमहाव्रतों की स्थापना की। पर उक्त पालि सूत्र में चतुर्याम संवर का जो अर्थ दिया गया है वह एकदम भ्रान्त एवं अस्पष्ट है। निर्ग्रन्थ परम्परा के यथार्थ चतुर्याम संवर से भग० बुद्ध या उनकी समकालीन शिष्यमण्डली अच्छी तरह परिचित न रही हो सो बात नहीं। मज्झिम निकाय के चूलसकुलदायि एवं संयुत्तनिकाय के गामिणि संयुत्त के आठवें सूत्र से मालूम होता है कि प्राणातिपात (हिंसा), अदिन्नादान (चोरी), कामेसु मिच्छाचार (अब्रह्मचर्य), मुसावाद (असत्य) से विरक्त होनेका उपदेश भगवान् महावीर सदा देते थे। तथापि इन सूत्रों में उन बातों का चतुर्यामसंवर नाम से उल्लेख नहीं किया गया। बौद्धपरम्परा में निर्ग्रन्थपरम्परा के इन चतुर्याम या पञ्चयामों का एक रूपान्तर पञ्चशील एवं दशशील के रूप में प्रतिपादन किया गया है तथा वे उक्त नाम से ही वहां समझे गये हैं। महावीर और बुद्ध के समय के चतुर्याम संवर को बौद्धभिक्षु जानते अवश्य थे पर पीछे उसके अर्थसूचक तत्त्वों का अपने ग्रन्थों में नामान्तर देख जैन परम्परा के अर्थ को भूल गये। मालूम होता है कि पीछे जब पालिपिटकों का संकलन हुआ तो उस समय चतुर्याम संवर का अर्थ देने की आवश्यकता पड़ी और किसी बौद्ध भिक्षु ने अपनी कल्पना से उक्त अर्थ की योजना कर दी। जो हो, पर चतुर्याम का ठीक अर्थ वहां नहीं दिया गया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि महावीर की अहिंसा की

---

१ मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्धसुत्त

की भावना में नहीं, अगर कुछ चित्त की भावना में रहता है वाचिक भावना में नहीं। उक्त व्याख्यान से महावीर के मत का निष्कर्ष निकालना कोई कठिन नहीं। महावीर के मत में शरीर किये होंगे, जिसका कि पाप होगा अर्थात् काय और मन दोनों की भावना से मुक्ति मिल सकती है न कि केवल काय या केवल मन की भावना से। इसी तरह पाप भी दोनों के संयोग से होगा।

इससे अब हम यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि मन और काय की हलचल/क्रिया पर नियन्त्रण करने के लिए महावीर ने तपस्या के आचार को अमनोविज्ञानात्मक कायक्लेश और मनोसंवर तथा कायक्लेश को अपने धर्म में महत्त्व दिया। उनका कहना था कि : पुरुष जिन दुःखों का अनुभव करता है वह सब पूर्वजन्म में किये कर्मों के कारण ही, उन्हें कड़वी दुष्कर तपस्या से नष्ट करो और जो अब काय वचन मन को संवृत कर कर्म करोगे तो भविष्य में पाप न होंगे। इस तरह पुराने कर्मों का तपस्या से अन्त करने पर और नवीन कर्मों को न करने से भविष्य में आस्रव न होगा और आस्रव न होने से कर्मों का क्षय और कर्मों के क्षय होने से दुःखों का नाश तथा दुःखों के नाश से वेदना का नाश और वेदना के नाश से सब पार उत्तीर्ण हो जायेंगे। उनका दूसरा कथन था कि : पूर्व जन्ममें किये कर्म फलमें यदि अविसंवादित्व वाले होंगे तो उनके कारण दुःख वेदनीय आस्रव बाद रहेंगे जिनका जन्मान्तर में फल मिलेगा। उनका उपदेश था कि सुख से सुख नहीं पाया जा सकता, दुःख से ही सुख मिल सकता है। यदि सुख से सुख मिल सके तो राजा बिम्बिसार भी उसे पा सकता है।[1]

पालि के सुत्तों से महावीर के क्रियावाद के अतिरिक्त उनके ज्ञानवाद का भी थोड़ा संकेत मिलता है। अङ्गुत्तरनिकाय के निगण्ठसुत्त में अपना अभिमत प्रकट करते हुए महावीर ने कहा है कि : "[illegible]" अर्थात् प्रज्ञा से बढ़कर नहीं ज्ञान है। यह कथन जैन ग्रन्थ से मिलता है। जैन दर्शन में ज्ञान को स्वप्रकाशक माना गया है और इसे सम्यग्ज्ञान प्रमाण के रूप में भी स्वीकृत किया है।

आचारमार्ग

पालि ग्रन्थों से हमें जैन श्रावकों एवं मुनियों के आचारविषयक नियमों की भी थोड़ी बहुत जानकारी होती है। इन वर्णनों से मालूम होता है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के नियमों का एक व्यवस्थित रूप था जिसका पालन सब श्रमण एवं गृहस्थ वर्ग के लोग करते थे। इतना ही नहीं स्वयं बुद्ध ने बुद्धत्वप्राप्ति के पहले जिन तपस्या मार्गों और नियमों का पालन कर स्वयं किया था उनमें कुछ ऐसे थे जो निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में सब प्रचलित थे और आज भी पालन किये जाते हैं। उदाहरण के लिए मज्झिमनिकाय के महासीहनाद को ही लें। इस सुत्त में अचेलक सम्प्रदाय के रूप में जैन मुनियों के कुछ आचारों का वर्णन मिलता है। यद्यपि पालि ग्रन्थों में अचेलक (वस्त्ररहित) का अर्थ आजीवक सम्प्रदाय ही लिया गया है पर जैनागमों को देखने से मालूम होता है कि अचेलक निर्ग्रन्थसम्प्रदाय में भी थे। स्वयं महावीर वस्त्ररहित (नग्न) थे। आजीवक भी नग्न रहते थे। प्रो. याकोबी ने पालि ग्रन्थों में वर्णित आजीवकों के आचारों से जैनाचार की समानता तथा जैनागमों में वर्णित महावीर और आजीवक नेता मक्खली गोशाल का ६ वर्ष तक निरन्तर सम्पर्क देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि आजीवक और निर्ग्रन्थ आपस में एक दूसरे से काफी प्रभावित हुए हैं। जैनों की मान्यता है कि भग. महावीर के पहले जैन परम्परा के प्रतिष्ठापक भग. पार्श्वनाथ हो चुके हैं

---

१ चूळदुक्खक्खन्धसुत्त।

२ अङ्गुत्तरनिकाय, चतुक्कनिपात ११६ सुत्त।

३ चूळदुक्खक्खन्धसुत्त।

पिप्पल गच्छ गुर्वावलि

श्री भवरलालजी नाहटा

मध्यकालीन जैन इतिहास के साधनो मे पट्टावलियों–गुर्वावलियो आदि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्म के प्रचारक आचार्यों की परपरा अनेक शाखाओं मे विभक्त हो गई। फलत जैन गच्छों की सख्या सौ से अधिक पाई जाती है। पिप्पलगच्छ उन्हीं में से एक है जिसके आचार्यों की नामावलि सम्बन्धी कई रचनाऍ गुरु स्तुति, गुरु विवाहलउ, गुरु नु धूल, गुरु माल, आदि पाई जाती हैं। इस गच्छ की पट्टावलि विस्तार से प्राप्त नहीं हुई, अत जैसा चाहिए इस गच्छ का इतिवृत्त प्राप्त नहीं होता और न ही प्राप्त रचनाओ मे आचार्यों का समय आदि ही दिया हुआ है। मैं ये रचनाऍ कुछ वर्ष पूर्व एक प्रति से नक्ल कर के लाया था। वे कई वर्षों के पश्चात् यहाँ प्रकाशित की जा रही हैं।

प्राप्त प्रतिमा-लेखों से स्पष्ट है कि ये रचनाऍ पिप्पल गच्छ की त्रिभविया शाखा से सम्बन्धित हैं। इस गच्छ की तालध्वजी आदि अन्य शाखाऍ भी थीं, पर उनकी पट्टावलियॉ प्राप्त नहीं हैं। प्रतिमा लेखों आदि से कुछ आचार्यो के नामों का ही पता चलता है। सस्कृत गुरु स्तुति से विदित होता है कि यह गच्छ चतुर्दशी को पाक्षिक पर्व मानता था।

वृहद्गच्छ (वड गच्छ) की पट्टावलि से स्पष्ट है कि पिप्पल गच्छ वास्तव मे उसकी एक शाखा है। जिस प्रकार उद्योतनसूरि ने वडवृक्ष के नीचे आठ आचार्यों को आचार्यपद दिया और उनकी सतति वड-गच्छीय कहलाई, इसी प्रकार शातिसूरि ने भी सिद्ध श्रावक कारित नेमिनाथ चैत्य में आठ शिष्यों को आचार्यपद दिया था। सभवत पिप्पलक स्थान या पीपल वृक्ष के कारण इस गच्छ का नाम पिप्पलक या पीपलिया गच्छ पड़ा। खरतर गच्छ मे भी इसी नाम की एक शाखा जिनवर्द्धनसूरि से चली। वह मालवे के किसी पीपलिया स्थान विशेष से सम्बन्धित प्रतीत होती है। पिप्पल गच्छ का उसी स्थान से सम्बन्ध है या नहीं, यह अन्वेषणीय है।

इस गच्छ के प्रभावक आचार्य शातिसूरि हुए। सस्कृत गुरु स्तुति के अनुसार चक्रेश्वरी देवी से आप पूजित थे और पृथ्वीचद्र चरित आपने बनाया। जैसलमेर भडार की सूची के अनुसार प्रस्तुत पृथ्वीचद्र चरित की वीर स १६३१ वि स ११६१ मे मुनिचद्र के लिये रचना हुई। ग्रथ परिमाण ७५०० श्लोकों का है। प्राकृत भाषा म यह रचा गया और इसकी १६० पत्रों की ताड़पत्रीय प्रति स १२२५ में पाटण में लिखित जैसलमेर भडार म प्राप्त है।

> "इगतीसाहिय सोलस सएहिं वासाण निव्वुए वीरे।
> कत्तिय चरम तिहीए कित्तियरिक्खे परिसमत्त ॥
> जो सव्वदेव मुणिपुगव दिक्खिएहिं साहित्तक्क समएसु सुसिक्खिएहि ॥
> संपाविओ वर पय सिरिचंदसूरि पूजहिं पक्खमुवगम्म गुणेसु भूरि ॥
> सवेग कुनिवा(या)ण एय सिरि सतिसूरिणा तेण।
> वज्जरिय वरचरिय मुणिचंदविणेय वयणाओ ॥"

उपर्युक्त प्रशस्ति मे स्पष्ट है कि शातिसूरि को सर्वदेवसूरि ने दीक्षित किया था और उन्होंने साहित्य,

अप्रमत्तावस्था की दृष्टि में रखकर ही अनुयोग का परिपालन में उक्त अर्थ प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार के पानी के स्वरूप का सीधा अर्थ यह है कि जैन लोग उसे पानी में जीव मानते हैं और उसका प्रासुक बनाकर ही उपयोग करते हैं। जैन मुनि अप्रासुक उष्णपानी नहीं ले सकते। इस आचरण से पाली ग्रन्थ अच्छीतरह परिचित हैं। उपासकदशा में स्पष्ट लिखा है महावीर शीतोदकपरिवर्जित (ठण्डे पानी का त्यागी) उष्णोदक परिभोगी (उष्ण जल लेने वाले) थे।

जैन श्रावकों के कुछ व्रत

अंगुत्तर निकाय के तृतीय निपात के ७० वें सूत्र में निग्गण्ठोपोसथ नाम से जो वर्णन किया गया है उससे हम जैन श्रावक के दिग्व्रत और पौषध व्रतों का परिचय मिलता है। उक्त सूत्र में भगवान् बुद्ध ने विशाखा नाम की उपासिका के लिए गोपालक उपोसथ और निग्गण्ठ उपोसथ का परिहार करते हुए, आर्य उपोसथ का उपदेश दिया है। निग्गण्ठ उपोसथ का वर्णन इस प्रकार है: हे विशाखे! श्रमणों की एक जाति है जिसे निग्गण्ठ कहते हैं। वे लोग अपने श्रावकों को बुलाकर कहते हैं कि "प्रत्येक दिशा में इतने योजन से आगे जो प्राणी हैं उनका दण्ड—हिंसा व्यापार—छोड़ो। ऐसे विशाखे! वे निर्ग्रन्थ श्रावक अमुक अमुक योजन के बाहर न जाने का निश्चय करते हैं और उसमें योजन के बाहर प्राणियों की हिंसा का त्याग करते हैं तथा साथ ही वे मर्यादित योजन के भीतर आने वाले प्राणियों की हिंसा का त्याग नहीं करते इससे वे प्राणातिपात से नहीं बचते हैं।"

भगवान् बुद्ध के इन वचनों में जैन श्रावकों के १२ व्रतों में से प्रथम गुणव्रत—दिग्व्रत—को पहिचानना कठिन नहीं है। दिग्व्रत का अर्थ है पूर्व उत्तर दक्षिण पश्चिम की दिशाओं में योजनों का प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओं में न जाना। इससे श्रावक अपनी अपनी इच्छा नाम के गुण की वृद्धि करता है।

इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि वे लोग उपोसथ के दिन (अष्टम उपोसथे) श्रावकों से इस तरह कहते हैं कि "हे श्रावको! तुम सब वस्त्रों का त्याग कर ऐसा कहो कि मैं किसी का नहीं हूँ और मेरा कोई नहीं है इत्यादि। पर यह कहने वाले यह निश्चय रूप से जानते हैं कि अमुक मेरे मातापिता हैं, अमुक मेरा पुत्र, स्त्री, स्वामी एवं दास है। पर वे इस तरह जानते हुए भी मन में कहते हैं कि मैं किसी का नहीं हूं और मेरा कोई नहीं है तो वे अवश्य झूठ बोलते हैं।"

इन शब्दों में जैन श्रावक के बारह व्रतों में से द्वितीय शिक्षाव्रत—पौषध—का स्वरूप मिलता है। जैन ग्रंथों में यह पौषधव्रत उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार से कहा गया है। उत्तम पौषध वह है जिसमें जैन श्रावक चार प्रकार के आहार का त्याग कर मर्यादित समय के लिए वस्त्र अलंकार, कुसुम से सम्बन्ध आदि का त्याग कर देता है। मध्यम उपोसथ में बाकी विधि पूर्ववत् ही रहती है पर श्रावक स्वादिम खाद्यान्न ग्रहण करता है। जघन्य पौषध में आहार भी ग्रहण करता है। इस जघन्य उपोसथ को हम उस प्रसंग में ही परिहार के रूप से वर्णन किये गये गोपालक उपोसथ के रूप में पहचान सकते हैं: "हे विशाखे! जैसे शाम को ग्वाले गायों को चराकर उनके मालिकों को वापस सौंपते हैं तब कहते हैं कि आज अमुक जगह में गायें चरीं, अमुक जगह में पानी पिया और कल अमुक अमुक स्थान में चरेंगी और पानी पियेंगी आदि। वैसे ही जो लोग उपोसथ लेकर खानपान की चर्चा करते हैं कि आज हमने अमुक खाद्य, अमुक पेय और अमुक स्वादिम लिये, अमुक कल करेंगे, ऐसी चर्चा करने वालों का उपोसथ गोपालक उपोसथ है।"

इस तरह बौद्ध ग्रन्थों में लिखी हुई सामग्री को जैन ग्रन्थों से तुलना कर तत्कालीन जैन धर्म का रूप अच्छी तरह जाना जा सकता है।

पिप्पल गच्छ गुर्वावलि

श्री भवरलालजी नाहटा

मध्यकालीन जैन इतिहास के साधना मे पट्टावलियों-गुर्वावलियो आदि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनधर्म के प्रचारक आचार्यों की परपरा अनेक शाखाओं मे विभक्त हो गई। फलत जैन गच्छों की संख्या सौ से अधिक पाई जाती है। पिप्पलगच्छ उन्हीं मे से एक है जिसके आचार्यों की नामावलि सम्बन्धी कई रचनाएँ गुरु स्तुति, गुरु विवाहलउ, गुरु गुधूल, गुरु माल, आदि पाई जाती हैं। इस गच्छ की पट्टावलि विस्तार से प्राप्त नहीं हुई, अत जैसा चाहिए इस गच्छ का इतिवृत्त प्राप्त नहीं होता और न ही प्राप्त रचनाओं मे आचार्यों का समय आदि ही दिया हुआ है। मै ये रचनाएँ कुछ वर्ष पूर्व एक प्रति से नकल कर के लाया था। वे कइ वर्षों के पश्चात् यहाँ प्रकाशित की जा रही हैं।

प्राप्त प्रतिमा-लेखों से स्पष्ट है कि ये रचनाएँ पिप्पल गच्छ की त्रिभविया शाखा से सम्बन्धित हैं। इस गच्छ की तालध्वजी आदि अन्य शाखाएँ भी थीं, पर उनकी पट्टावलियाँ प्राप्त नहीं हैं। प्रतिमा लेखों आदि से कुछ आचार्यो के नामों का ही पता चलता है। सस्कृत गुरु स्तुति से विदित होता है कि यह गच्छ चतुर्दशी को पाक्षिक पर्व मानता था।

बृहद्गच्छ (वड गच्छ) की पट्टावलि से स्पष्ट है कि पिप्पल गच्छ वास्तव मे उसकी एक शाखा है। जिस प्रकार उद्योतनसूरि ने वडवृक्ष के नीचे आठ आचार्यों को आचार्यपद दिया और उनकी सतति वड-गच्छीय कहलाई, इसी प्रकार शातिसूरि ने भी सिद्ध श्रावक कारित नेमिनाथ चैत्य मे आठ शिष्यों को आचार्यपद दिया था। संभवत पिप्पलक स्थान या पीपल वृक्ष के कारण इस गच्छ का नाम पिप्पलक या पीपलिया गच्छ पड़ा। खरतर गच्छ म भी इसी नाम की एक शाखा जिनवर्द्धनसूरि से चली। वह मालवे के किसी पीपलिया स्थान विशेष से सम्बन्धित प्रतीत होती है। पिप्पल गच्छ का उसी स्थान से सम्बन्ध है या नहीं, यह अन्वेषणीय है।

इस गच्छ के प्रभावक आचार्य शातिसूरि हुए। सस्कृत गुरु स्तुति के अनुसार चक्रेश्वरी देवी से आप पूजित थे और पृथ्वीचद्र चरित आपने बनाया। जैसलमेर भडार की सूची के अनुसार प्रस्तुत पृथ्वीचद्र चरित की वीर स १६३१ वि स ११६१ मे मुनिचद्र के लिये रचना हुई। ग्रथ परिमाण ७५०० श्लोकों का है। प्राकृत भाषा म यह रचा गया और इसकी १६० पत्रा की ताड़पत्रीय प्रति सं १२२५ में पाटण म लिखित जैसलमेर भडार म प्राप्त है।

> "इगतीसाहिय सोलस सएहिं वासाण निव्वुए वीरे।
> कत्तिय चरम तिहीए नित्तियरिक्खे परिसमत्त ॥
> जो सव्वदेव मुणिपुगव दिक्खिएहिं साहित्ततक्क समएसु सुसिक्खिएहिं ॥
> सपाविओ वर पय सिरिचिदसूरि पूजहिं पवरसमुवगम्म गुणेसु भूरि ॥
> संवेग वुनिया(या)ण एय सिरि सतिसूरिणा तेण।
> नवरिय वरचरिय मुणिचन्दविणेय वयणाओ ॥"

उपर्युक्त प्रशस्ति मे स्पष्ट है कि शातिसूरि को सर्वदेवसूरि ने दीक्षित किया था और उन्होंने साहित्य,

तर्क एवं दर्शनशास्त्र उन्हीं से सीखा था। आचार्यपद श्री सर्वदेवसूरि से प्राप्त हुआ। शिष्य मुनिचन्द्र शिष्य के कथन से इस चरित्र की रचना की गई। ये शान्तिसूरि द्वारा आचार्यपद पर स्थापित आठ आचार्यों से भिन्न थे। गुरु स्तुति में उन आठ आचार्यों के नाम ये हैं—१ महेन्द्रसूरि, २ विमलचन्द्रसूरि, ३ देवेन्द्रसूरि, ४ पद्मदेवसूरि, ५ पूर्णचन्द्रसूरि, ६ जयदेवसूरि ७ हेमप्रभसूरि और ८ जिनेश्वरसूरि। शान्तिसूरि के सम्बन्ध में १७ वीं शताब्दि के दो उल्लेख मिलते हैं जिनके अनुसार आपने सात सौ श्रीमाली कुटुम्बों को श्रीमालनगर में प्रतिबोध दिया था।

पिप्पलगच्छी गुरु भला, श्री शांतिसूरि सुजान।
प्रतिबोधिया कुल सातसैं, श्रीमालपुर मंडाण।
(सं १६७२ विरपुर में राजसागररचित वस्तुपाल रास)

पुण्यसागर रचित अम्बा कुमारी चौपाई में भी सं १६८९ में रची गई शान्तिसूरि के सम्बन्ध में निम्नोक्त विवरण दिया है।

पीपल गच्छ गुरु गच्छपति शांतिसूरि गणधार।
चउरासी पच्चासी भगती करइ बार बार॥
श्री शान्तिसूरि प्रतिबोध श्रीमाली कोडि समेत।
कुटुम्ब श्रीमाली सात सय आगमे गुरु देत॥
भोज कुमारी राय मन चौसठ भाव विशाल।
सज्जन जिन शोभावित वादी विरुद वेताल॥
जिन गच्छ पीपल थापीउ बारह शाखा विस्तार।
सरस पट्ट प्रतिष्ठित उपर हुई गुण धार॥
ते गच्छ दीपई दीपतु, नगर साचोर मझारि।
वीर जिनेसरतु जिहां, तीर्थ प्रगट उदार॥

उपर्युक्त प्रकरण में वादी वेताल शान्तिसूरि को पिप्पल गच्छ स्थापक शान्तिसूरि से अभिन्न माना है जो विचारणीय है। वादी वेताल शान्तिसूरि से थारापद्र गच्छ प्रसिद्ध हुआ। प्रभावकचरित्र के अनुसार सं. १०९६ में वादी वेताल शान्तिसूरि का स्वर्गवास हो गया था और उनके गुरु का नाम विजयसिंहसूरि था। एक ही नाम वाले समकालीन आचार्यों के सम्बन्ध में भूल या भ्रान्ति होना सहज है। कुछ बातें एक दूसरे के लिये आसानी से लग जाती हैं। श्री मोहनलाल देसाई ने भी अपने "जैन साहित्यनो इतिहास" पृष्ठ १९१ में महावीर जैन विद्यालय द्वारा सम्पादित वादी वेताल शान्तिसूरि को पिप्पलगच्छ का स्थापक व पर्याप्त लघुवृत्ति का रचयिता माना है। दोनों आचार्यों के समय पर विचार करते हुए यह बात नहीं प्रतीत होता। पृथ्वीचन्द्र चरित्र सं ११६१ की रचना है। इधर वादी वेताल शान्तिसूरि का स्वर्गवास सं. १०९६ में ही हुआ था। अतः दोनों एक नहीं हो सकते। प्रभावक चरित्र पर्यालोचन से वादी वेताल शान्तिसूरि रचित उत्तराध्ययन टीका और जिनदत्त सूरि टिप्पण का उल्लेख है पर पाटण भंडार सूची के पृष्ठ ८ के अनुसार जिनदत्त सूरि टिप्पण के रचयिता शान्तिसूरि पूर्णतल्ल गच्छ के थे। यथा—

श्री शान्तिसूरिरिह श्रीमति पूर्णतल्ले (गच्छे) गच्छे बभौ महिमवान् करुणालयेषु
देवानन्द निर्मित कृपा विपुल प्रदिष्टया सर्वमिदं गुरु निर्मित भो।

प्रभावकचरित्र में शांतिसूरि के ३२ शिष्य बतलाये हैं और उन्होंने मुनिचंद्रसूरि को पाटण में प्रमाण-शास्त्र का अभ्यास कराया था, यह लिखा है। उपर्युक्त पृथ्वीचंद्र चरित भी मुनिचंद्र के कथन से रचा गया था। यदि वादी वेताल शांतिसूरि का स्वर्गवास १०९६ में हो गया तो वादी देवसूरि के गुरु मुनिचन्द्र सूरि का उनसे पढ़ना विचारणीय हो जाता है। वादिदेवसूरि के प्रबन्ध के अनुसार उनका स्वर्गवास संवत् ११७८ में हुआ था।

वादी वेताल के गुरु का नाम विजयसिंहसूरि था। तब पिप्पल गच्छ के स्थापक शांतिसूरि के शिष्य का नाम विजयसिंहसूरि था। इनकी श्राद्ध प्रतिक्रमण चूर्णी सं ११८३ में रचित है। उसकी प्रशस्ति में सर्वदेवसूरि और श्री नेमचंद्रसूरि के शिष्य के रूप में शांतिसूरि का उल्लेख है। यथा—

श्री सव्वएव सिरी नेमचन्द नामधेया मुनीसरा गुणिणो
होत्था तत्थ पसत्था तेसिं सीसा महामइणो
जे पसमस निरखण मुहही दक्खिन्न वारि वारस्स
कव्व रयणाण गेहण, नाणी सामिणो अमियनाणी
सिरिय संति मुणिंदा तेसिं सीसेण मह मइणोवि
आयरिय विजयसिंहेण, विरइया एस चुन्नीत्ति।

१ अजनारास की प्रशस्ति के अनुसार पिप्पलगच्छ की स्थापना सं ११२२ में हुई थी, यह समय विचारणीय है।

२ विजयसिंह सूरि—इनसे रचित श्राद्ध प्रतिक्रमणचूर्णा का उल्लेख ऊपर किया गया है। यह ४५१० श्लोक परिमाण की है। सं ११८३ के चैत्र में इसकी रचना हुई। सं १४६३ के लेख के अनुसार आपने सं० १२०८ में डीडला के मूलनायक की प्रतिष्ठा की थी।

३ देवभद्रसूरि, ४ धर्मघोषसूरि, ५ शीलभद्रसूरि, ६ पूर्णदेवसूरि—इनका विशेष वृत्तांत ज्ञात नहीं है।

७ विजयसेनसूरि—गुरु माला में इनको "पासदेव पट्ट उद्धरण" लिखा है।

८ धर्मदेवसूरि—इन्होंने गोहिलवाड़ के राजा सारंगदेव को देवी के प्रसाद से उसके तीन पूर्वजन्म बतलाए, इससे त्रिभविया नामक शाखा प्रसिद्ध हुई। थाराउद्र में धूघल को राना बनाया व तीन भव बतला के प्रतिबोधित किया। धूघल ने सरस्वती मंडप बनाया था।

९ धर्मचंद्रसूरि—इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति पर संवत् १३७१ का लेख प्रकाशित है। इन्होंने मोख राजा को संघपति बनाया।

१० धर्मरत्नसूरि—इनका विशेष वृत्तांत अज्ञात है।

११ धर्मतिलकसूरि—इनके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा लेख सं १४३७ का मिलता है।

१२ धर्मसिंहसूरि—इनके उपदेश से गूंदिय नगर में जैन मंदिर बना।

१३ धर्मप्रभसूरि—ये थिरराज की पत्नी सिरिया देवी के पुत्र थे। पाल्ह और पेथ सौदागर ने इनकी आचार्यपद स्थापना का उत्सव किया। इन्होंने सं १४४७ में चंद्रप्रभ मंदिर की प्रतिष्ठा की। गोहिलवाड़ के राजा सारंगदेव के राज्य व ठाकुर साधु के प्रति राज्य में चंद्रप्रभ मंदिर में मंत्री हेमा ने वीर प्रभु का जन्मोत्सव किया, इस उल्लेख वाली एक रचना प्राप्त हुई है। मंत्री हेमा द्वारा कल्पसूत्र चढवाने का भी

उल्लेख है। गुरी नगर में जिन निवारण का प्रतिरोध करके धारक बनाये। आपके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा लेख सं ४ १ तक के प्रकाशित हैं।

१४ धर्मघोषसूरि—इनके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के लेख सं ४८८–८०– ०–१५ १ के प्रकाशित हैं।

१५ धर्मवल्लभसूरि—आपके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के लेख सं १५१०–९१–१ के प्रकाशित हैं। आपके शिष्य विमलप्रभसूरि के पट्टधर सोमसुन्दरसूरि के शिष्य धर्मसागर रचित प्रबन्ध एवं सं १५४० मिरपुर और सं १५०१ पेठ गुरी तीर्थ मिरपुर में रचित ग्रन्थ हैं।

१६ धर्मसुन्दरसूरि—इनके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा लेख सं १५ १ के प्रकाशित हैं।

गुरुपट्टि में यहाँ तक की आचार्यों की नामावलि मिलती है। अब अन्य साधनों के आधार से अन्य आचार्य आदि का परिचय दिया जा रहा है।

१७ धर्मतिलकसूरि—इनसे प्रतिष्ठित प्रतिमा का लेख सं १५८ का प्रकाशित है। संभव है वे धर्मवल्लभसूरि के पट्टधर हों।

१८. धर्महंससूरि—आपके प्रतिष्ठित से लिखित सं १६७ की प्रति का पुष्पिकालेख जैन प्रशस्ति संग्रह में प्रकाशित है। इनके समकालीन पिप्पल गच्छ के अन्य आचार्य लक्ष्मीसागर का उल्लेख सं १५१९ की प्रशस्ति में मिलता है। इन लक्ष्मीसागरसूरि के समय में ही पुण्यसागर ने नवकार एवं सं १५०७ एवं प्रतिमा एवं सं १६८ में रची।

पिप्पलगच्छ की इस त्रिभविया शाखा का प्रभाव थरोद और मिरपुर में अधिक रहा ऐसा प्रतीत होता है। संभव है यहीं के भंडारों में कुछ अधिक सामग्री—प्रशस्ति व इस गच्छ के रचित ग्रन्थ प्राप्त हों।

अब इस गच्छ की अन्य शाखाओं के कुछ आचार्यों के उल्लेख प्राप्त हुए हैं जिन्हें यहाँ दिया जा रहा है।

१ धीरदेवसूरि—इनका प्रशस्ति लेख सं १४१४ का प्राप्त है। आपके शिष्य वीरप्रभसूरि के उल्लेख सं १४५४ १४११ १४६६ के प्राप्त हैं। इनके शिष्य "हीरानन्दसूरि" अच्छे कवि थे। इनके रचित विद्याविलास पवाडो सं १४८५ वस्तुपालतेजपालरास सं १४९४ कलिकालरास जम्बूस्वामीविवाहलो कलिकालरास सं १४८६, स्थूलिभद्र बारहमासा प्राप्त हैं। आबू के सं १ १ के लेख में वीरप्रभ के साथ हीरानन्द का उल्लेख है। सम्भव ये हीरानन्द आप ही हों।

२ गुणरत्नसूरि—इनके प्रतिमा लेख सं. १ ११ १७ के प्राप्त हैं। इनके समय में शालिभद्रसूरि के पट्टधर व शालिभद्राचार्य कथा की रचना करवाई। प्रतिमा लेखों से आपकी शाखा का नाम तालध्वजि व आपके पट्टधर गुणसमुद्रसूरि [लि. सं १ २४ २८ २९] होने का पता चलता है। गुणसमुद्रसूरि के पट्टधर शान्तिसूरि का सं १५४९ का लेख प्रकाशित है।

इनके अतिरिक्त और भी कई आचार्यों के नाम प्रतिमालेखों में मिलते हैं पर उनकी गुरुपरम्परा आदि का पता न मिलने के कारण यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया है। मध्य गच्छ शताब्दि में यह प्रभावशाली रहा है। स्वतंत्र इस गच्छ का विशेष है। अपने अन्य आचार्यों के समय का ही पता चलता है। ही मिल सकता है।

१७ वीं शताब्दि तक इस गच्छ के आचार्यों एवं विद्वानों के उल्लेख मिलते हैं। इसके पश्चात् इस गच्छ के आचार्य एवं यतिगण कब तक कौन कौन हुए, इसके जानने के लिये कोई भी साधन प्राप्त नहीं है।

इस गच्छ के विद्वानों के रचित ग्रंथ बहुत ही थोड़े हैं। जिन चार पांच ग्रंथकारों का पता चला, उनका निर्देश ऊपर किया ही जा चुका है। इतने दीर्घ काल में इतने आचार्य व मुनिगण हुए हैं। उनका साहित्य अवश्य ही कुछ विशेष रूप से मिलना चाहिए था संभव है वह इस गच्छ के उपासकों के ज्ञानभंडारों में पड़ा हो। तथा उन ग्रंथों की प्रतिलिपियों का प्रचार अधिक न हो पाया जिससे ये रचनाएँ अज्ञात ही रह गई।

पिप्पल गच्छ गुरुस्तुति

जज्ञे वीरजिनात्सुधर्म्मगणभृत् तस्माच्च जम्बूस्ततः ।
सख्यातेषु गतेषु सूरिषु भुवि श्रीवज्रशाखाभवत् ॥

तस्यां चन्द्रकुलं मुनीन्द्रविपुलं तस्मिन् बृहद्गच्छता ।
तत्राभूद्यशसः प्रशस्तिकुकुभुश्रीसर्वदेवप्रभु ॥ १ ॥

श्रीनेमिचन्द्राभिधसूरिरस्मात् क्रमे जगद्वेश्चचकोरचन्द्र ।
चारित्रलक्ष्मीललितांगहारः प्रीणपापोरुशुभानुसार ॥ २ ॥

वादीन्द्र कविपुङ्गवैकतिलकः सत्कीर्तिलीलाधर ।
श्रीइक्ष्वीडदशे रसज्जनमहो चारित्रचूडामणि ॥ ३ ॥

नेयादुन्नतभाग्न स भगवान् श्रीशांतिसूरिप्रभु ।
पृथ्वीचंद्रचरित्रसप्रमकरो यो विश्वदत्तोत्सव ॥ ४ ॥

श्रीमन्महेन्द्रो विजयाख्यसिंहो देवेन्द्रचंद्रः शुचिपद्मदेव ।
श्रीपूर्णचन्द्रो जयदेवसूरि हेमप्रभो नाम जिनेश्वरस्य ॥ ४ ॥

सिद्धश्रावककारिते निरुपमे श्रीनेमिचैत्ये पुरा ।
पूज्यैरष्टगुणा निजपदे संस्थापयाञ्चक्रिरे ॥
श्रीमत्पिप्पलगच्छनायक तया विज्ञाय होराचल ।
विख्याता भुवि शांतिसूरिगुरव कुर्वन्तु वो मंगलम् ॥ ५ ॥

चक्रेश्वरी यस्य पुपोष पूजा सिद्धो भवद् यस्य गिरा नमस्य ।
श्रीवृक्षगच्छाम्बरसत्सवित्रि श्रीशांतिसूरि सुगुरुर्बभूव ॥ ६ ॥

तदनु मदनुहता शासनो द्योतकारी, जयति विजयसिंहसूरि भूरिप्रतिष्ठ ।
सकलकलिविघात संयमासिप्रहारैरकृतसुकृतपात्र भव्य कोकैकभानु ॥ ७ ॥

तत्पट्टपंकेरुहराजहंस श्रीदेवभद्रो गुणभद्रराज ।
उवास य सज्जनमानसेषु निर्दूषणखेलितशुद्धपक्ष ॥ ८ ॥

तदनन्तर निर्ज्जितमोहमल्ल श्रीधर्मघोष सुगुरुर्गरीयान् ।
संसारपूरेण तु नीयमान रक्ष यो धार्म्मिकलोकमेक ॥ ९ ॥

सच्चन्द्रसूर्याविव तस्य पट्टे बभूवतुर्द्वौर्जयतौ गणेशौ ।
श्रीशीलभद्र प्रथम प्रवीण सूरिस्ततः श्रीपर पूर्णदेव ॥ १० ॥

विजयसेनगुरुस्तस्मान्नेतार शिष्या प्रभुपादसमप्रभः ।
निरवद्यधर्मसिद्धून् समस्त रिपवगार शिवार्थिमयन् ॥ ११ ॥

महान् च रत्नसेनस्य प्रभोर्विजयैनमपदन्यू ।
मोहनगमकृतमग्नोग्रः श्रीधर्मदेवो जयप्रद्योतः ॥ १२ ॥

तत गुरो श्रुतम् यहः मनुईदीपप्रतिष्ठाश्च ।
समयनिवासविनाशनेशी श्रीधर्मचन्द्रो महाप्रभावी ॥ १३ ॥

तत्पट्टपिन्द्रगुरुः श्रीधर्मरत्नगुरुप्रकाशिन ।
महर्नि पत्रमिरेन पट्टी पत्रन्नरत विमलप्रभु ॥ १४ ॥

गुरु पुष्पां मुनिमण्डलात् शिवारपे च पट्टी समीरान् ।
तत्त्वनिष्ठ मधुवरगमाण लब्धिर्विशाला परिस्पन्दी स्मन् ॥ ॥

इति श्री गुरुस्तुति समाप्त ॥

२

पीपल गच्छ गुरु विवाहलु

पाव पिविवि पत्ताउ गीड, वधिवित्ति पव आविन मन । निरु मन तुम्ह इम मनोरि ।
पीपल गच्छि सकृति, वरवनि नवगुर भरि रग्गवीइ ए ॥ १ ॥

तारन गरु सुगरि भरीव, निरु मसार धर्मदेवसूरि । निरु मन तुम्ह
शोभ नरा धर्मचन्द्रसूरि, धनवनि नीपन मोपन वरि । निरु मन तुम्ह
मनु महातिम भान हुए, तत तेम तपेव धर्मरत्नसूरि । निरु मन तुम्ह
धर्मतिलकसूरि गुणविलसो, निरुपम मोहिनी वचन रसाल । निरु मन तुम्ह
ज्ञानमन्त्र पुरि धर्म सिंघसूरि, सूरिपमवरि मलय मयादिन । निरु मन तुम्ह
विराव विरिकरपनिपुन नायर तहि अमान परिवलि । निरु मन तुम्ह
पावर देव शीशमान, ठनि पाप्पीरि धर्ममसूरि । निरु मन तुम्ह
लकिमालार भीधप लहिनो देव नायमम महीपरासि । निरु मन तुम्ह
महीन विमरिव गुरु स्मरु, जिम मन वञ्छित पामव ननर्मिरि । निरु मन तुम्ह

॥ इति गुरु वीवाहलु समाप्त ॥

३

गुरुहु धम

स्वामिवि तावति वीनाड् प्रतमपि देवीन दर दवि निपुणमति ।
मान उस्त विवि, तग्ग पत्तचर भवि, मविव मोहिम मनिस्त सुखद ए ॥
वनि सुखद मनिस्त मविमन माहिम, मवि विवि निरक्ते ।
विवरव तार्विवार छवा तवे माद्द मनिस्ते ।
नम तव मन रत एमि रतना पच्छभारवी वव स्वी
दिक्षिविविवि दवीविवि विवि भारतीति तू प्सार स्वामिनी ॥ स्वर ॥ १ ॥

पीपलगच्छ गुरु गरुअओ गणधर, श्रीय**धर्मदेव**सूरि हुआ प्रवर।
त्रिभुवन सुद्धि जस गुरिजगि भाणीउ, दाखीउ प्रगट प्रमाण पहु॥
पहु प्रगट दाखिय मन्त्र भाखिय, राउ **सारग** दे तणो।
अनेकि नेकि प्रमाण पयडी, भणू केता गुण घणा।
श्रीधर्म्मचद्रह चद्रयम जगि, मोहतिमर विहडणो।
तस पाटि **धम्मह**सूरि **रयणह**, गच्छ **पीपल** मडणो॥ पीपल० ॥ २॥

य(जि?)णवर प्रणीत पयासीय, धम्म **धर्मतिलक**सूरि सूरिवर।
तस तणइ अनक्रमि श्रीय **धर्मसिंघ** सूरि तासपाटि श्री**धर्मप्रभ**सूरि।
तस पाटि **धर्मप्रभ**सूरि, गुरु वर टामि **गूदी** सोहए।
अवव बध जन सयल, सावद तीह प्रति पडिबोह ए।
गरुय गुर पन्नत तत्तह, भाय भाण निरतरो।
कस्तूरि अगर कपूर चदनि, धुन खेवइ यणवरो॥ यणवर० ॥ ३॥

जयवतु यण शासणि सोहए, मोहए मणउ भवियण तणाए।
सकल कला सपन्न सुहजि सुन्दर, मदिर महिमानिधान नर॥
नरनिपुण सुदर महिम मदिर, चतुर गुर दया पुरो।
विवेक विनय विचार वक्ता, न कोइ समवडि नरवरो॥
संगति सुगनधि शोक नासइ, घणउ बहु गुणवतओ।
कमित्त मत प्रति सूरि सद्गुरु, तेजि तपि जयवतउ॥ जयवतु० ॥ ४॥

॥ इति गुरु नु धुल समाप्त ॥ छ ॥

४

पीप्पल गच्छ गुर्वावलि-गुरहमाल

वीरजिणेसर पाय, समरीय सरसति सामिणीय।
नरणि, सुगुरुवर राय, **पीपल** गच्छ अलकरण॥ १॥

चद्र गच्छि सुविसाल, **सतिसूरि** गुरु वरणीए।
निम्मल कीति माल, जगि सचराचर लहलइ ए॥ २॥

बोलइ बाल गोपाल, **मातिसूरि** जसु पयडु जग।
जीतउ दूसम कालु, **विजयसह** सूरि तासु पटे॥ ३॥

धर्मविजयु जणि कीधु, दूसम दल बलु निरजिणीउ।
विजयसिंह सूरि लीधु, सुजस सबहु जगि सासनउ॥ ४॥

तासपटि देव **भद्र**, सूरि राउ प्रससीए
गच्छउ गुणहसमुद्र, मानमहानमि आगलउ॥ ५॥

धर्मघोष सूरि पउ, परम भाग प्रकास करै।
मा सब्बी गुरु पाय, एयामउ मविय पण मनि ॥ ६ ॥

मणिचंदु मिवहर मणु, मणिचंदु धम्म मस मिवउ।
धम्मघोष सूरि धम्मु, पडु धनु मही मयमि मचाउ ॥ ७ ॥

तसु पटि धवल ममावु सीलसमुद्र चौपौ रयणु।
मनस मयमिय माव पूर्वदेवसूरि मरवीए ॥ ८ ॥

विजयसेन सूरि वाणि पासदेव वर उवएस।
महिमा मम मभावि महिमावलि महिमगायउ ॥ ९ ॥

पडु पडु धर्मदेव सूरि, सारंग प्रतिबोधिउ।
धम्मसार सिद्ध सूरि, सुखगुरु सिद्ध सिद्ध सयमीए ॥ १० ॥

सिरि मम सारंग रम्म, वैराग्यसिरि गुरि गहीय।
पूयसत कम मिरुजस, पडिबोहो सिरि मम कपिण ॥ ११ ॥

पूयसत सवि सीसु धारावले पर नयरे।
उसिम वसी पड सीसु सरसति महपु मनसिउ ॥ १२ ॥

बोहम गुरु मिरुगु धर्मदेव सूरि मनसरिउ।
तसुपटि मनम मनाउ, धर्मचंद्र सूरि गुरु एमहु ॥ १३ ॥

ममय महा मम माव दीक्षा दूरमि सिरसिरपीठ।
परम रतन सूरि मनगु, मम्म गुरुवर मनसरिउ ॥ १४ ॥

धर्म तिलक सूरि सीह, पीठमह मवकर महमपउ।
मोह ममय मम वीर सोमउ दीक्षा वाहुमछे ॥ १५ ॥

धरमसिंह सूरि सीसु, सिरम ममामय वाधि करय।
वरम वाय सुरि वीर, तारर वीर वनिता गुणिवंत ॥ १६ ॥

तसुपटि महिपति मसु, धर्मप्रभसूरि गुरु गरुओ गुणिद।
वामम वार ममाय सम्य पउ वनमहु वसे ॥ १७ ॥

गुरुमिउ वाणि रणहु धर्मसागर सूरि गुरु नमो।
मामिरि वणि तिणहु, वणि वनमय वापि ए ॥ १८ ॥

पन पत्रा वीर माम तरुण गुरु गुरु सरिर ए।
पार म वाया वम, धर्मसागर सूरि धर्म मिये ॥ १९ ॥

महिमाउल भवन, श्री धर्मरत्न सूरि ऋषि वणपि ए
सन तथा भाव, कलानिधि वर वनकउ ए ॥ २० ॥

गुरु नव रमण सिरिका गुरु माल महिमा हुयउ।
हम्मुसी मोर मव मर सगुर दीक्षा वरउ ॥ २१ ॥

वीर जन्मोत्सव में

जिणवर जन्मि करइ सोमाइ, तइ नइ गायइ देवि अग्राई।
पीपल गच्छ परधान सुणीजइ, श्री धर्म्मप्रभ सूरि प्रणमीजइ ॥ ५ ॥

देसाहिव्व अनि साहस धीरो, श्री सारगदेव गुण गम्भीरो।
कल्पनचावइ साहसधीरो, हेमु मत्री अति सविचारो ॥ ६ ॥

५

वीरजन्माभिषेक

सौधर्म्मवासी वरदो विमान द्वात्रिंशलक्षाधिप समाना।
सौधर्म्मनामा हरिराजगाम श्रीवीरजन्मोत्सवकर्तुकाम ॥ १ ॥

अपूर्वसम्मद पूर्व दिक्पति पूर्वदिग्मुख।
स्नानसिंहासन भेजे शक्र कोटीरतुप्रभु ॥ २ ॥

अहो भविक लोको! धर्म्म प्रभावको द्वादशाव्रतपालकु सावधानतया समाकर्ण्यता 'अहो भविक लोक पुण्य प्रभावकु! सावधान थिका सामलु। हु सौधर्म्मइ देवलोकि। सौधर्म्मवतसि विमानि बत्रीस लाख विमान तणइ परिवारि अनेकि देव देवांगना तेहे परवर्यु हुतु। ईणइ भरतक्षेत्रि मध्यम खडि **गोहिलवाडि** देसि राजि श्री **सारगदेव** तणइ राजि। ठाकुर साधु तणइ प्रतिगजि आठमा तीर्थंकर श्री **चन्द्रप्रभस्वामि** तणइ भुवनि। श्री **धर्म्मप्रभसूरि** तणइ कल्पि वाच्यमानि मत्रीश्वर **हेमा** तणइ उपरोधि चरम तीर्थंकर श्री **महावीर** तणु जन्म जाणी महोच्छव करिवा आव्या छउ ॥ छ ॥

ईशानवासी वर इन्द्रराजश्चतुर्भुज, शूलधृतौ करौ च।
वृषेण आन्रो वृषवाहनश्च देवै कृत पुष्पकमास्थितोऽह ॥ १ ॥

इहातरे घोषनिनादबोधितो धृतो विमानैरिह चागतोऽह।
संख्येय लक्ष्यै किल अष्टविंशतै समागतो वीरमहोत्सवेन ॥ २ ॥

ईशानकल्पादुत्तीर्य तिर्यग् दक्षिणवर्त्मना।
एत्य नदीश्वर दक्षैशाना रतिकरे गिरौ ॥ ३ ॥

अहो श्रावका पुण्यप्रभावका सकलकल्याणकारका सावधानतया श्रूयता। अहमीशानदेवलोक तउ अष्टाविंशति विमान लक्षैरिह वीरमहोत्सवेन गुदिकाया समागतो वर्त्तामहे ॥ अहो श्रावकु पुण्यप्रभावकु सकल कल्याणकारक सावधान थिका सांभलु। हु ईशान देवलोक तु अठावीस लाख विमान तणउ अधिपति स्वामी। शूलपाणी वृषभवाहन हुतउ। महाघोषा घटा तणइ निनादि करी। पुष्पकविमानरूढ ईशान कल्पतु दक्षिण दिशिई ऊतरी नंदीश्वर तणइ मामि आवी **गुहिलवाडि** देसि राज श्री **सारगदेव** तणइ राजि ॥ १ ॥ छ ॥

सनत्कुमाराधिपति सुरेन्द्र समागतो जन्ममहोत्सवाय।
महद्यभक्तयाभिरमार सयुत सुरासुरै कांचनचूलिकायां ॥ १ ॥

धर्मघोष सूरि पउ, परम मम्म मनाव करे।
मा ठठी गुरु पय, पद्मम मत्तिय एक मनि ॥ ६ ॥

मणिचन्द्र जिनचंद्र वन्दु, मणिचन्द्र संजम मन विमल।
धम्मघोष सूरि वन्दु, वनु वनु मही मंडलि मण्डउ ॥ ७ ॥

तसु पवि सवल समाजु, सीलभद्र सूरिहि रयणु।
मनरु भवसिय मात्त पूर्णदेवसूरि करवीय ॥ ८ ॥

विजयसेन सूरि जाणि पासदेव पट उद्धरण।
महिमा मान समाधि महिमावलि महिमानणउ ॥ ९ ॥

वनु वनु धर्मदेव सूरि, सारंग ए प्रतिबोधित।
उग्गमसर निउ सूरि, गुरगुर निउ निउ पयसीय ॥ १० ॥

जिनि मन सारंग पय, देवाणंदि गुरि करीय।
पूर्णद मा जिनराज, पटिमेहीं जिनि मन पदीय ॥ ११ ॥

पूर्णद पाणि गीतु पापाभ्रे जर मरे।
इविम मणि कर लीधु, सरसति मरसु दाखीव ॥ १२ ॥

सोजम गुरु मिथु धर्मसूर सूरि प्रभावरिउ।
तसुपरि गयण मयकु, धर्मचन्द्र सूरि गुरु रयणु ॥ १३ ॥

मनय मघ मम मान लीला पूरमि निरभिमान।
धरम रतन सूरि वन्दु धम्म गुरुवर प्रभावरिउ ॥ १४ ॥

धर्म तिलक सूरि धीर, पीपल पच्चम महमाउ।
मोह मयण मद चीर कीरउ लीला मानुकले ॥ १५ ॥

धरमसिंह सूरि दीठु, जिनम महम्मा मति करय।
परम भाव गुरि लीउ, सारर धीर गहिरा गुणिहिं ॥ १६ ॥

तसुपरि महिमनि मणु, धर्मप्रभसूरि गुरु मयमो पुनि।
माम्म वृ प्रमाण मन पउ वसन्त वमे ॥ १७ ॥

गुणनिधि पावि रयणु, धर्म्मेश्वर सूरि गुरु पन्थे।
नामिहिं नमि निमाहु, धीर मसंता धपीर ए ॥ १८ ॥

यम पया धीर मन गरुय गुरु गुरु मवीर ए।
पर म सामर मन धर्मसागर सूरि धर्म निवे ॥ १९ ॥

महिमानड मगर श्री धर्मवल्लभ सूरि मनि धपीर ए
मन उपाउ ममर, धम्मारविंद मर उपमउ ए ॥ २० ॥

गुरु मय रयण निर्मल गुरु मल मणिमय पुराउ।
हम्मूली मोह मन मन मधुर लीला करउ ॥ २१ ॥

संस्कृति निर्माता युगादिदेव

श्री शातिलाल खेमचद शाह, बी ए

भारतीय सस्कृति मे भगवान् ऋषभदेव का स्थान अनोखा है। जगल में मगल कर मानव को उन्होंने मानवता की सभ्यता प्रदान की। पशुसमाजवत् विषयसुख और पेट पालने मे ही अपने को कृतार्थ मानने वाले मानव को आत्मा के अमर खजाने का पता उन्हाने बताया। संस्कृति की उन्होंने एक ऐसी मजबूत नीव डाली कि उस पर युगयुग तक सभ्यता का प्रासाद खड़ा हो सका। केवल तत्त्वज्ञान की ही सुधा उन्होंने नहीं बरसाई, प्रत्युत व्यवहार को भी उन्होंने प्रधानता दी। व्यवहार की सपूर्ण उपेक्षा कर कोरे निश्चय की बातें करनेवाला को यह भलीभाति समझना चाहिए कि निश्चय को सपूर्णतया समझनेवाले एक महान् मानव ने ही व्यवहार का निर्माण किया है।

सब धर्मों की जड़ तो एक ही है, हर पन्थ उसकी एक एक डाली है। यह जड़ है ऋषभदेव। दुनिया के सारे धर्म, कर्म, व्यवहार, ज्ञान, ध्यान, रीति, नीति के वे निर्माता हैं। उन्हे अपनाकर हम अलग अलग नाम देते हैं, किन्तु वस्तु तो वही है।

वैदिक लोग विष्णु के चौबीस अवतार मानते हैं। उनमे आठवाँ क्रम ऋषभदेव का ही है। इस आठवें अवतार मे उन्होंने परमहस का मार्ग बताया। उनके पिता का नाम नाभि राजा और माता का नाम मरुदेवी लिखा है। भागवत के पचम स्कध मे बड़े विस्तार के साथ ऋषभदेव का जीवन है। ऋषभदेव का उपदेश भी हमे तीर्थंकरों के उपदेश-सा मालूम होगा। रजोगुणी लोगों को मोक्षमार्ग बताने के लिये यह अवतार है। नगरपुराण के भवावतार नामक चौदहवें शतक में कहा है।

> कुलादिबीज सर्वेषा, प्रथमो विमलवाहन ।
> चक्षुष्मान् च यशस्वी चाऽभिचद्रोऽथ प्रसेनजित्।
> मरुदेवश्च, नाभिश्च, भग्ने कुलसत्तमा ।
> अष्टमो मरुदेव्या तु नाभेर्जात उरुक्रम ॥

भागवतपुराण में सात कुलकरो के स्थानपर सात अवतार की कल्पना कर आठवें अवतार के रूप मे ऋषभदेव को माना है।

जगल में मगल

जगल में रहनेवाले, पेड़ पौधोंपर जीवन बसर करने वाले मानव को असि, मसि और कृषि का महत्त्व समझाकर सभ्यता के मार्गपर लानेवाले ऋषभदेव हैं। कृषिप्रधान भारतवर्ष के उद्धार का मार्ग उन्होंने उस काल मे समझाया जब नैसर्गिक कामपूर्ति और उदरभरण के सिवाय आदमी कुछ सोच ही नहीं सकता था।

दिन ब दिन पेड़ घटने लगे। फलो पर निर्वाह होना मुश्किल मालूम होने लगा। जगली पशुओं के कारण जीवन में सरक्षण न था। युगल पैदा होता था जिसमे बाल और बालिका होते थे। जवानी में वही पति पत्नी बन सतान पैदा करते थे। ये ऋषभदेव थे कि जिन्होंने प्रथम लग्नविधि का निर्माण किया। लग्न

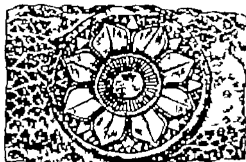
मनागागामि प[illegible] हुआ चैत्यवर मोः।
तनभुमारः सुमनो निगरगणः प्रभ पुरः॥ २॥

मद मरिच लाभ सम्यक्त्वगापत्र हाचना पनमः तारपनाय शुम्य। मदो! पुरुषमय भगदु वास्थान पिय गम्पिड। दुमर लाय निमान वनुद भगिनी स्वामी कर्मीर देव देवी क्त चरिते चरितेउ दुमउ दिर मपूरीत रवित मनादि मणिमयी माहिमयादि देवि गम श्री सर्वकाम रमा गति॥ ॥ छ॥

मारमोर्थिनी सुगसुगमा धमरता सरम्य।
सवनधरित सभिन सुगन्धु धौरो [illegible] र्दः॥

इत्य श्रीगमतीमन प लिलिना रत्ना हरि धरत्न।
श्रीरत्नारित नाम वनगरन देवे निमान भिः॥ १॥

मादेमान निमान सर्वसुगो महर्द्धिभिः।
श्री रत्नाभ्य निमानेन प्रभो गन्तव्यनगनम॥ ॥



संस्कृति निर्माता युगादिदेव

श्री शान्तिलाल खेमचन्द शाह, बी ए

भारतीय संस्कृति म भगवान ऋषभदेव का स्थान अनोखा है। जगल मे मगल कर मानव को उन्होंने मानवता की सभ्यता प्रदान की। पशुसमाकुल निरंकुश और पेट पालने मे ही अपने को कृतार्थ मानने वाले मानव को आत्मा के अमर खजाने का पता उन्होंने बताया। संस्कृति की उन्होंने एक ऐसी मजबूत नींव डाली कि उस पर युगयुग तक सभ्यता का प्रासाद खड़ा हो सका। केवल तत्त्वज्ञान की ही सुधा उन्होंने नहीं चखाई, प्रत्युत व्यवहार को भी उन्होंने प्रधानता दी। व्यवहार की संपूर्ण उपेक्षा कर कोरे निश्चय की बातें करनेवालों को यह भलीभांति समझना चाहिए कि निश्चय को संपूर्णतया समझनेवाले एक महान् मानव ने ही व्यवहार का निर्माण किया है।

सब धर्मों की जड़ तो एक ही है, हर पन्थ उसकी एक एक डाली है। यह जड़ है ऋषभदेव। दुनिया के सारे धर्म, कर्म, व्यवहार, ज्ञान, ध्यान, रीति, नीति के वे निर्माता हैं। उन्हें अपनाकर हम अलग अलग नाम देते हैं, किन्तु वस्तु तो वही है।

वैदिक लोग विष्णु के चौबीस अवतार मानते हैं। उनमें आठवाँ जन्म ऋषभदेव का ही है। इस आठवें अवतार में उन्होंने परमहंस का मार्ग बताया। उनके पिता का नाम नाभि राजा और माता का नाम मरुदेवी लिखा है। भागवत के पंचम स्कंध में बड़े विस्तार के साथ ऋषभदेव का जीवन है। ऋषभदेव का उपदेश भी हम तीर्थंकरों के उपदेश-सा मालूम होगा। रजोगुणी लोगों को मोक्षमार्ग बताने के लिये यह अवतार है। नगरपुराण के भवावतार नामक चौदहवें शतक म कहा है।

> कुलादिबीज सर्वेषा, प्रथमो विमलवाहन ।
> चक्षुष्मान् च यशस्वी चाऽभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित।
> मरुदेवश्च, नाभिश्च, भरते कुलसत्तमा ।
> अष्टमो मरुदेव्या तु नाभेर्जात उरुक्रम ॥

भागवतपुराण मे सात कुलकरों के स्थानपर सात अवतार की कल्पना कर आठवें अवतार के रूप म ऋषभदेव को माना है।

जगल में मगल

जगल म रहनेवाले, पेड़ पौधोंपर जीवन बसर करने वाले मानव को असि, मसि और कृषि का महत्त्व समझाकर सभ्यता के मार्गपर लानेवाले ऋषभदेव हैं। कृषिप्रधान भारतवर्ष के उद्धार का मार्ग उन्होंने उस काल म समझाया जब नैसर्गिक कामपूर्ति और उदरभरण के सिवाय आदमी कुछ सोच ही नहीं सकता था।

दिन ब दिन पेड़ घटने लगे। फलों पर निर्वाह होना मुश्किल मालूम होने लगा। जगली पशुओं के कारण जीवन में संरक्षण न था। युगल पैदा होता था जिसमें बालक और बालिका होते थे। जवानी में वही पति पत्नी बन संतान पैदा करते थे। वे ऋषभदेव थे कि जिन्होंने प्रथम लग्नविधि का निर्माण किया। लग्न

अर्थात् विषय वासना का नियमन ही नहीं किन्तु सब प्राणी दो जीवों की परस्पर सम्बन्ध के निमित्त समर्पण की भावना। विवाह प्रथा का प्रारंभ तभी से हुआ।

खेती का महत्त्व बैल पर निर्भर है। ऋषभदेव ने हल चला कर जनता को श्रम का महत्त्व समझाया। बैलों को नष्ट होने से बचाया। इसीसे समस्त लोगों ने उन्हें वृषभदेव—ऋषभदेव—के नाम से पुकारा।

जब यौगलिक संस्कृति की परंपरा टूटने लगी तब विश्रृंखलता पैदा हुई। जनता ने अपनी इच्छा से अपने लिये ऋषभदेव को राजा चुना। राज्य व्यवस्था आदि संपूर्ण प्रजा का सेवक बनता है यह सब प्रथम देश में सिद्ध की। 'हा' कार 'मा' कार और 'धिक्' कार की नीति का अंकुश जब जनता पर न रहने के कारण दण्डनीति द्वारा उन्होंने लोगों के दुष्कर्मों का दमन किया। कुम्भकार, लुहार, चित्रकार, जुलाहा, और हज्जाम इन पाँच कारीगरों की सृष्टि की। पुरुषों की ७२ कलायें, स्त्रियों की ६४ कलायें और ब्राह्मी प्रमुख १८ लिपियाँ उन्होंने प्रचारित कीं।

इस प्रकार जब लोग सुख चैनसे जिन्दगी बसर करने में समर्थ हुए, तब उन्होंने आत्मज्ञान की ओर जनता को खींचा। उनके पुत्रों में सबसे बड़ा भरत था और अन्य ९९ पुत्र थे। ब्राह्मी और सुन्दरी ये दो कन्यायें थी। राज्यभार उन्हें सौंपकर वे मुनि बने। मुनि बनने के लिये आसक्ति छोड़ना जरूरी है इसलिये उन्होंने "वर्षीदान" दिया। एक वर्ष तक याचकों को इच्छित वस्तुओं का महान् दान देने के पश्चात् वे मुनि बने। जिनके ही साथ चार हजार उनके साथ मुनि बने। मुनि के महान् तप तथा नियमों के पालन में उन्हें एक वर्ष तक शुद्ध आहार न मिल सका। अन्त में वैशाख शुदि ३ के दिन उनके प्रपौत्र श्रेयांसकुमार ने हस्तिनापुर में उन्हें इक्षुरस देकर पारणा करवाया। पूर्णज्ञान का साक्षात्कार होने पर उपदेशकरण में जब वे विचरण करते हो उपदेश देते थे तब चारों ओर के लोगों को वे हमारे और तुम्हारे ही कैसे लगे हैं, ऐसा प्रतीत होता था। इससे ही चतुर्मुखी ब्रह्म के रूप में लोग उन्हें मानने लगे। अष्टापद पर्वत के ऊपर उनका निर्वाण हुआ। यह वही पहाड़ है जिसे लोग कैलाश भी कहते हैं। उसके ऊपर निर्मित ऋषभदेव के स्मारक की रक्षा के लिये भरत चक्रवर्ती ने आठ सीढ़ियाँ बनवाईं, इसलिये उसे अष्टापद कहते हैं।

भारत के बहुत से देशों के नाम ऋषभ देव के पुत्रों के नाम पर से ही हैं।

ऋषभदेव प्राचीन तीर्थंकर थे इसी लिये आदम के नाम से आदि पुरुष को लोग पहचानते हैं।

सूर्यवंश की उत्पत्ति इन्हींसे है—

ऋषभदेव
|
भरत
|
सूर्ययश

चंद्रवंश की उत्पत्ति भी इन्हींसे—

ऋषभदेव
|
बाहुबली
|
चंद्रयश

तापसों की उत्पत्ति

जब ऋषभदेव को एक वर्ष तक शुद्ध आहार न मिला तब उनके साथ के दीक्षित सामंतादिकों ने कंद, फलादि पर निर्वाह करना शुरू किया, वहीं से ही तापसों की परंपरा चली।

ब्राह्मणों की उत्पत्ति

भरत राजा ने चक्रवर्ती बनने के लिये भाइयों पर आक्रमण किया। भाई ऋषभदेव के पास गये। योगीश्वर के पास वे भी योगी बने। पश्चात्ताप कर भरत भाइयों से क्षमा मांगने और उनको अन्नपान देने गया। "साधु को नहीं लिये बना हुआ अन्न और राजपिंड त्याज्य है" यह ऋषभदेवजी से सुनकर उसने सुश्रावकों को (शुद्ध आचार विचारवान् धर्मी लोगों को) जिमाना शुरू किया। वे हमेशा भरत को आशीर्वाद से सावधान करते "जितो भवान्। वर्धते भयं। तस्मात् मा हन, मा हन।" 'मा हन' का उपदेश देनेवाले ये माहन या ब्राह्मण बने। इनके लिए इतर शब्द वुड्ढसावगा भी अनुयोग द्वार में है।

यज्ञोपवीत की उत्पत्ति

यज्ञभोजनालय में भोजन करनेवालों की संख्या दिन ब दिन बढ़ने लगी, तब भरत राजा ने काकिणी रत्न से 'दर्शन-ज्ञान-चरित्र' ये रत्नत्रयी की निशानी के रूप में तीन रेखाएँ की। काकिणी रत्न के अभाव में सूर्ययशा ने सोने की, बाद में चंद्रयशा ने रूपे की जनेऊ करवाई जो आज तक भी चलती है।

वेदों की उत्पत्ति

आर्य ब्राह्मणों ने ऋषभदेव की वाणी को गूँथकर चार वेदों की रचना की—१ संसार दर्शन, २ संस्थापरामर्श, ३ तत्त्वावबोध, ४ विद्याप्रबोध। कालानुक्रम से ८ वें तीर्थंकर के बाद जीवहिंसा से युक्त नये वेदों की रचना की गई।

अग्निहोत्री और अग्निपूजा

"अग्निमुखा वै देवा." यह श्रुति ऋषभदेव के निर्वाण के बाद प्रचलित हुई, कारण उनकी चिता को अग्नि लगाने का सम्मान अग्निकुमार देव को मिला। इस वक्त उस चिता में से अग्नि लेनेवाले ब्राह्मण अग्निहोत्री कहलाये। उस अग्नि को कायम रखकर उसे पूजने लगे। अग्निपूजा का यही रहस्य है।

सांख्यमत

ऋषभदेव
|
भरत
|
मरीचि त्रिदंडी (संन्यासी बना हुआ)

मरीचि के शिष्य—कपिलमुनि
कपिलमुनि के शिष्य—आसुरी
आसुरी के शिष्य—शास (सांख्य मत के स्थापक)

अर्थात् निरत वासना का निग्रहन ही नहीं किन्तु साथ वाली ही बहिनों की परस्पर दाम्पत्य के निमित्त समर्पित भी मानना। विवाह प्रथा का प्रारंभ तभी से हुआ।

खेती का महत्व बैल पर निर्भर है। ऋषभदेव ने बल पर हल रख कर जनता को वृषभ का महत्व समझाया। बैलों को नाथ देने से बचाया। इसीसे कृतज्ञ लोगों ने उन्हें वृषभदेव—ऋषभदेव—के नाम से पहचाना।

जब लोगोंमें ईर्ष्याओं की परम्परा बढ़ने लगी, तब निरर्थकमूलक बनी हुयी जनता ने अपनी इच्छा से उनके लिये ऋषभदेव को राजा चुना। राज्य व्यवस्था आदि पूर्वोक्त प्रथा का श्रेय जाता है यह सब ऋषभ देव ने सिद्ध की। 'हा' कार 'मा' कार और 'धिक्' कार की नीतिका अंकुश जब जनता पर न रहने के कारण राजसत्ता द्वारा उन्होंने लोगों के दुष्कर्मों का दमन किया। कुम्भकार, लुहार, चित्रकार, जुलाहा, और नापित इन पाँच कारीगरों की सृष्टि की। पुरुषों की ७२ कलायें, स्त्रियों की ६४ कलायें और ब्राह्मी प्रमुख १८ लिपियाँ उन्होंने प्रचलित कीं।

इस प्रकार जब लोग सुख चैनसे जिंदगी बसर करने में समर्थ हुए, तब उन्होंने आत्मकल्याण की ओर जनता को खींचा। उनके पुत्रों में सबसे बड़ा भरत था और अन्य ९ पुत्र थे। ब्राह्मी और सुंदरी ये दो कन्याएँ थी। राजपाट छोड़कर वे मुनि बने। मुनि बनने के लिये आत्मिक योग्यता जरूरी है इसलिये उन्होंने "वर्षीदान" दिया। एक वर्ष तक याचकों को इच्छा परिमाणमें महान् दान देने के पश्चात् वे मुनि बने। जिनके ही साथ चार हजार उनके साथ मुनि बने। मुनि के महान् तप कठिन नियमों के पालनमें उन्हें एक वर्ष तक शुद्ध आहार न मिल सका। अन्त में वैशाख सुदि ३ के दिन उनके प्रपौत्र श्रेयांसकुमार ने हस्तिनापुर में उन्हें इक्षुरस देकर पारणा कराया। पूर्णज्ञान का साक्षात्कार पाने पर समोवसरण में बैठ कर उपदेश देते थे तब चारों ओर के लोगों को वे हमारी ओर मुख कर ही बैठे हैं, ऐसा प्रतीत होता था। इससे ही चतुर्मुखी ब्रह्म के रूप में लोग उन्हें मानने लगे। अष्टापद पर्वत के ऊपर उनका निर्वाण हुआ। यह वही पहाड़ है जिसे लोग कैलाश भी कहते हैं। उसके ऊपर निर्मित ऋषभदेव के स्मारक की रक्षा के लिये भरत चक्रवर्ती ने आठ सीढ़ियाँ बनवाईं इसलिये इसे अष्टापद कहते हैं।

भारत के बहुत से देशों के नाम ऋषभ देव के पुत्रों के नाम पर से ही हैं।

ऋषभदेव आदिम तीर्थंकर थे, इसी लिये 'आदम' के नाम से आदि पुरुष को लोग पहचानते हैं।

सूर्यवंश की उत्पत्ति इसीसे है—

ऋषभदेव
|
भरत
|
सूर्ययशा

चंद्रवंश की उत्पत्ति भी इसीसे—

ऋषभदेव
|
बाहुबली
|
चंद्रयशा

स्याद्वाद पर कुछ आक्षेप और उनका परिहार

श्री मोहनलाल मेहता, एम ए, शास्त्राचार्य

स्याद्वाद के वास्तविक अर्थ की उपेक्षा कर बड़े बड़े दार्शनिक भी उस पर मिथ्या आरोप लगाने से नहीं चूके। उन्होंने अज्ञानवश ऐसा किया या जानकर, यह कहना कठिन है। कैसे भी किया हो, किन्तु किया अवश्य। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को पागलों का प्रलाप कहा और जैनों को निर्लज्ज बताया[1]। शान्तरक्षित ने भी यही बात कही। स्याद्वाद जो कि सत और असत, एक और अनेक, भेद और अभेद, सामान्य और विशेष जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वों को मिलाता है, पागल व्यक्ति की बौखलाहट है[2]। इसी प्रकार शंकराचार्य ने भी स्याद्वाद पर पागलपन का आरोप लगाया। एक ही वस्तु उष्ण और शीत नहीं हो सकता। भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता, यथार्थता और अयथार्थता, सत् और असत् अन्धकार और प्रकाश की तरह एक ही काल में एक ही वस्तु में नहीं रह सकते[3]। इस प्रकार के अनेक आरोप स्याद्वाद पर लगाए गए हैं। अब तक जितने आरोप लगाए गए हैं अथवा लगाए जा सकते हैं, इस लेख में उन सब का एक एक करके निराकरण करने का प्रयत्न किया जाएगा।

१ विधि और निषेध परस्पर विरोधी धर्म हैं। जिस प्रकार एक ही वस्तु नील और अनील दोनों नहीं हो सकती क्योंकि नीलत्व और अनीलत्व विरोधी वर्ण हैं, उसी प्रकार विधि और निषेध परस्पर विरोधी होने के कारण एक ही वस्तु में नहीं रह सकते। इसलिए यह कहना विरोधात्मक है कि एक ही वस्तु भिन्न भी है और अभिन्न भी है, सत् भी है और असत् भी है, वाच्य भी है और अवाच्य भी है। जो भिन्न है वह अभिन्न कैसे हो सकती है और जो अभिन्न है वह भिन्न कैसे हो सकती है? जो एक है वह एक ही है, जो अनेक है वह अनेक ही है। इसी प्रकार अन्य धर्म भी पारस्परिक विरोध सहन नहीं कर सकते। स्याद्वाद इस प्रकार के विरोधी धर्मों का एकत्र समर्थन करता है, इसलिए वह सदोष है।

यह दोषारोपण मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थ अनुभव के आधार पर इसी प्रकार का सिद्ध होता है। एक दृष्टि से वह नित्य प्रतीत होता है और दूसरी दृष्टि से अनित्य। एक दृष्टि से एक मालूम होता है और दूसरी दृष्टि से अनेक। स्याद्वाद यह नहीं कहता कि जो नित्यता है वही अनित्यता है, या जो एकता है वही अनेकता है। नित्यता और अनित्यता, एकता और अनेकता आदि धर्म परस्परविरोधी हैं, यह सत्य है। किन्तु उनका विरोध अपनी दृष्टि से है, वस्तु की दृष्टि से नहीं। वस्तु तो दोनों को ही आश्रय देती है। दोनों की सत्ता से ही वस्तु का स्वरूप पूर्ण होता है। एक के भी अभाव में पदार्थ अधूरा है। जब एक वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य मालूम होती है तो उसमें विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है। विरोध वहां होता है जहां विरोध की प्रतीति हो। विरोध की प्रतीति के अभाव में भी विरोध की कल्पना करना सत्य को चुनौती देना है। जैन ही नहीं, बौद्ध भी चित्रज्ञान में विरोध नहीं मानते। जब एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास हो सकता है और उस ज्ञान में विरोध नहीं होता तो एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्मों की सत्ता

---

१ प्रमाणवार्तिक १, १८२ १८[illegible]

२ तत्त्वसंग्रह ३११-३२७

३ शारीरकभाष्य २ २ ३३

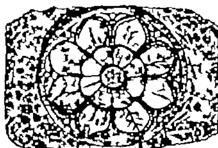
इस्लाम में मूर्तिपूजा

हजरत पैगम्बर के जीवन में हम पढ़ते हैं कि काबा के मंदिर में ३६० मूर्तियाँ पूजी जाती थीं। मुसलमान कहते हैं कि मूर्तिपूजा जैनियों से प्रचलित है। ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली तक्षशिला के राजा थे। ऋषभदेव ने उस तरफ विहार किया हुआ है। इस्लाम शांति का पर्यायवाची है। अरबस्तान का सिद्धशिला के रूप में जैन हमेशा मानते हैं। मक्काशरीफ के किसी देश में तीर्थंकर की मान्यता है।

महादेव

महादेव की मान्यता के बारे में तथा स्वरूप व चरित्र के बारे में जो पुराणों में वर्णन है उनका समन्वय करना बड़ा कठिन है। महेश्वर की उत्पत्ति भी विस्मय पैदा करती है। क्या ऋषभदेव को महादेव के रूप में तो नहीं माना गया? इस पर महादेवजी कैसे हैं इसमें भी मतभेद यही अर्थ तो नहीं अभिप्रेत होगा? आचार्य मानतुंग जैसे ही कहते हैं—

> बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्।
> त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्॥
> धाताऽसि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्।
> व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि॥



स्याद्वाद पर कुछ आक्षेप और उनका परिहार

श्री मोहनलाल मेहता, एम ए. शास्त्राचार्य

स्याद्वाद के वास्तविक अर्थ की उपेक्षा कर बड़े बड़े दार्शनिक भी उस पर मिथ्या आरोप लगाने से नहीं चूके। उन्होंने अज्ञानवश ऐसा किया या जानकर, यह कहना कठिन है। कैसे भी किया हो, किन्तु किया अवश्य। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को पागलों का प्रलाप कहा और जैनों को निर्लज्ज बताया[1]। शान्तरक्षित ने भी यही बात कही। स्याद्वाद जो कि सत और असत, एक और अनेक, भेद और अभेद, सामान्य और विशेष जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वों को मिलाता है, पागल व्यक्ति की बौखलाहट है[2]। इसी प्रकार शंकराचार्य ने भी स्याद्वाद पर पागलपन का आरोप लगाया। एक ही श्वास उष्ण और शीत नहीं हो सकता। भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता, यथार्थता और अयथार्थता, सत् और असत् अन्धकार और प्रकाश की तरह एक ही काल मे एक ही वस्तु मे नहीं रह सकते[3]। इस प्रकार के अनेक आरोप स्याद्वाद पर लगाए गए हैं। अब तक जितने आरोप लगाये गए हैं अथवा लगाए जा सकते हैं, इस लेख मे उन सब का एक एक करके निराकरण करने का प्रयत्न किया जाएगा।

१ विधि और निषेध परस्पर विरोधी धर्म है। जिस प्रकार एक ही वस्तु नील और अनील दोनो नहीं हो सकती क्योंकि नीलत्व और अनीलत्व विरोधी वर्ण है, उसी प्रकार विधि और निषेध परस्पर विरोधी होने के कारण एक ही वस्तु में नहीं रह सकते। इसलिए यह कहना विरोधात्मक है कि एक ही वस्तु भिन्न भी है और अभिन्न भी है, सत् भी है और असत् भी है, वाच्य भी है और अवाच्य भी है। जो भिन्न है वह अभिन्न कैसे हो सकती है और जो अभिन्न है वह भिन्न कैसे हो सकती है? जो एक है वह एक ही है, जो अनेक है वह अनेक ही है। इसी प्रकार अन्य धर्म भी पारस्परिक विरोध सहन नहीं कर सकते। स्याद्वाद इस प्रकार के विरोधी धर्म का एकत्र समर्थन करता है, इसलिए वह सदोष है।

यह दोषारोपण मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थ अनुभव के आधार पर इसी प्रकार का सिद्ध होता है। एक दृष्टि से वह नित्य प्रतीत होता है और दूसरी दृष्टि से अनित्य। एक दृष्टि से एक मालूम होता है और दूसरी दृष्टि से अनेक। स्याद्वाद यह नहीं कहता कि जो नित्यता है वही अनित्यता है, या जो एकता है वही अनेकता है। नित्यता और अनित्यता, एकता और अनेकता आदि धर्म परस्परविरोधी हैं, यह सत्य है। किन्तु उनका विरोध अपनी दृष्टि से है, वस्तु की दृष्टि से नहीं। वस्तु तो दोनों को ही आश्रय देती है। दोनो की सत्ता से ही वस्तु का स्वरूप पूर्ण होता है। एक के भी अभाव मे पदार्थ अधूरा है। जब एक वस्तु द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य मालूम होती है तो उसमें विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है। विरोध वहा होता है जहा विरोध की प्रतीति हो। विरोध की प्रतीति के अभाव मे भी विरोध की कल्पना करना सत्य को चुनौती देना है। जैन ही नहीं, बौद्ध भी चित्रज्ञान मे विरोध नहीं मानते। जब एक ही ज्ञान मे चित्रवर्णों का प्रतिभास हो सकता है और उस ज्ञान मे विरोध नहीं होता तो एक ही पदार्थ मे दो विरोधी धर्मों की सत्ता

---

१ प्रमाणवार्तिक १, १८२ १८०

२ तत्त्वसंग्रह ३११–३२७

३ शारीरकभाष्य २ २ ३३

मानने में क्या हानि है ? नैयायिक चित्रवर्ण को तथ्य मानते ही हैं। एक ही वस्तु में कम्पन और निष्कम्प हो सकता है एक ही वस्तु रक्त और अरक्त हो सकता है एक ही वस्तु निहित और अनिहित हो सकता है। ऐसी दशा में एक ही पदार्थ में भेद और अभेद नित्यता और अनित्यता और एकता और अनेकता की तरह सभी विरोधी धर्मों क्यों है यह समझ में नहीं आता। इसलिए स्याद्वाद पर यह आक्षेप लगाना कि यह परस्पर विरोधी धर्मों को एकत्र आश्रय देता है मिथ्या है। स्याद्वाद प्रतीति को यथार्थ मान कर ही आगे बढ़ता है। प्रतीति में जैसा प्रतिभास होता है और जिसका दूसरी प्रतीति से खण्डन भी नहीं होता, वही निर्बाध अर्थ है—अव्यभिचारी है—अविरोधी है।

२. यदि वस्तु भेद और अभेद उभयात्मक है तो भेद का आश्रय भिन्न होगा और अभेद का आश्रय उससे भिन्न। ऐसी दशा में वस्तु की एकरूपता समाप्त हो जायगी, एक ही वस्तु द्विरूप हो जायगी।

यह दोष भी निराधार है। भेद और अभेद का भिन्न भिन्न आश्रय मानने की कोई आवश्यकता नहीं। जो वस्तु भेदात्मक है वही वस्तु अभेदात्मक है। उसका जो परिवर्तन धर्म है वह भेद की प्रतीति का कारण है। उसका जो ध्रौव्य धर्म है वह अभेद की प्रतीति का कारण है। ये दोनों धर्म अखण्ड वस्तु के धर्म हैं। ऐसा कहना ठीक नहीं कि वस्तु का एक अंश भेद या परिवर्तनधर्म वाला है और दूसरा अंश अभेद या ध्रौव्यधर्मयुक्त है। वस्तु के टुकड़े टुकड़े करके अनेक धर्मों की सत्ता स्वीकार करना स्याद्वाद को इष्ट नहीं। जब हम वस्तु को उत्पाद और विनाशशील कहते हैं तब हमारा तात्पर्य एक ही वस्तु से होता है। वही वस्तु उत्पादशाली होती है और वही विनाशशाली। यह नहीं कि उसका एक हिस्सा उत्पादधर्म वाला है और दूसरा हिस्सा विनाशधर्म वाला है। वस्तु के दो अलग अलग विभाग करके भेद और अभेदरूप से भिन्न भिन्न धर्मों के लिये दो भिन्न भिन्न आश्रयों की कल्पना करना स्याद्वाद की मर्यादा के बाहर है। वह तो एकरूप वस्तु को ही अनेकधर्मयुक्त मानता है।

३. वह धर्म जिसमें भेद की कल्पना की जाती है और वह धर्म जिसमें अभेद स्वीकार किया जाता है—इन दोनों में क्या सम्बन्ध होगा ? दोनों परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न ? भिन्न मानने पर पुनः यह प्रश्न उठता है कि वह भेद जिसमें रहता है उससे वह भिन्न है या अभिन्न ? इस प्रकार अनवस्था का सामना करना पड़ेगा। अभिन्न मानने पर भी यही दोष आता है। वह अभेद जिसमें रहेगा वह उससे भिन्न या है अभिन्न ? दोनों अवस्थाओं में पुनः सम्बन्ध का प्रश्न खड़ा होता है। इस प्रकार किसी भी अवस्था में अनवस्था से मुक्ति नहीं मिल सकती।

अनवस्था के नाम पर यह दोष भी स्याद्वाद के सिर पर नहीं मढ़ा जा सकता। जैन दर्शन यह नहीं मानता कि भेद अलग है और यह भेद जिसमें रहता है वह धर्म अलग है। इसी प्रकार जैन दर्शन यह भी नहीं मानता कि अभेद भिन्न है और अभेद जिसमें रहता है वह धर्म उससे भिन्न है। वस्तु के परिवर्तनशील स्वभाव को ही भेद कहते हैं और उसके अपरिवर्तनशील स्वभाव का नाम ही अभेद है। भेद नामक कोई पदार्थ बाहर से सम्बन्धित होता हो और उसके सम्बन्ध से वस्तु में भेद की उत्पत्ति होती हो, ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार अभेद भी कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जो किसी सम्बन्ध से वस्तु में रहता हो। वस्तु स्वयं ही भेदाभेदात्मक है। ऐसी दशा में इस प्रकार के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। जब सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं है तब अनवस्था दोष की कल्पना व्यर्थ सिद्ध है यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

४. जहाँ भेद है वहीं अभेद है और जहाँ अभेद है वहीं भेद है। भेद और अभेद

का भिन्न भिन्न आश्रय न होने से दोनों एकरूप हो जाएंगे। भेद और अभेद की एकरूपता का अर्थ होगा संकर दोष।

स्याद्वाद को संकर दोष का सामना तब करना पड़ता जब भेद अभेद हो जाता या अभेद भेद हो जाता। आश्रय एक होने का अर्थ यह नहीं होता कि आश्रित भी एक हो जाए। एक ही आश्रय में अनेक आश्रित रह सकते हैं। एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास होता है (बौद्ध), फिर भी सब वर्ण एक नहीं हो जाते। एक ही वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों रहते हैं (नैयायिक-वैशेषिक), फिर भी सामान्य और विशेष एक नहीं हो जाते। भेद और अभेद का आश्रय एक ही पदार्थ है किन्तु वे दोनों एक नहीं हैं। यदि वे एक होते तो एक ही की प्रतीति होती, दोनों की नहीं। जब दोनों की भिन्न भिन्न रूप में प्रतीति होती है तब उन्हें एकरूप कैसे कहा जा सकता है?

५. जहा भेद है वहा अभेद भी है और जहा अभेद है वहा भेद भी है। दूसरे शब्दों में जो भिन्न है वह अभिन्न भी है और जो अभिन्न है वह भिन्न भी है। भेद और अभेद दोनों परस्पर बदले जा सकते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि स्याद्वाद को व्यतिकर दोष का सामना करना पड़ेगा।

जिस प्रकार संकर दोष स्याद्वाद पर नहीं लगाया जा सकता उसी प्रकार व्यतिकर दोष भी स्याद्वाद का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। दोनों धर्म स्वतन्त्ररूप से वस्तु में रहते हैं और उनकी प्रतीति उभयरूप से होती है। ऐसी दशा में व्यतिकर दोष की कोई सम्भावना नहीं रहती। जब भेद की प्रतीति स्वतन्त्र है और अभेद की स्वतन्त्र, तब भेद और अभेद के परिवर्तन की आवश्यकता ही क्या है? ऐसी स्थिति में व्यतिकर दोष का कोई अर्थ नहीं। भेद का भेद रूप से ग्रहण करना और अभेद का अभेद रूप से ग्रहण—यही स्याद्वाद का अर्थ है। वहां व्यतिकर जैसी कोई चीज ही नहीं है।

६ तत्त्व के भेदाभेदात्मक होने से किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं हो सकेगा। जहा किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं होगा वहा संशय उत्पन्न होगा और जहा संशय होगा वहा तत्त्व का ज्ञान ही नहीं हो सकता।

यह दोष भी व्यर्थ है। भेदाभेदात्मक तत्त्व का भेदाभेदात्मक ज्ञान होना संशय नहीं है। संशय तो वहा होता है जहा यह निर्णय न हो कि तत्त्व भेदात्मक है या अभेदात्मक है या भेद और अभेद उभयात्मक है? जब यह निर्णय हो रहा है कि तत्त्व भेद और अभेद उभयात्मक है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी निश्चित धर्म का निर्णय नहीं होगा। जहा निश्चित धर्म का निर्णय है वहा संशय पैदा नहीं हो सकता। जहां संशय नहीं, वहां तत्त्वज्ञान होने में कोई बाधा ही नहीं। इसलिए संशयाश्रित जितने भी दोष हैं, स्याद्वाद के लिए सब निरर्थक हैं।

७ स्याद्वाद एकान्तवाद के बिना नहीं रह सकता। स्याद्वाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु या धर्म सापेक्ष है। सापेक्ष धर्मों के मूल में जबतक कोई ऐसा तत्त्व न हो जो सब धर्मों को एकसूत्र में बाध सके तब तक वे धर्म टिक ही नहीं सकते। उन को एकता के सूत्र में बाधने वाला कोई न कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए जो स्वयं निरपेक्ष हो। ऐसे निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता मानने पर स्याद्वाद का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, खण्डित हो जाता है।

स्याद्वाद जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही देखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। सब

पदार्थों व धर्मों में एकता है इसे स्याद्वाद मानता है। भिन्न भिन्न वस्तुओं में अभेद मानना भी स्याद्वाद को अभीष्ट है। स्याद्वाद यह नहीं कहता कि अनेक धर्मों में एकता नहीं है। विभिन्न वस्तुओं को एक सूत्र में बांधने वाला अभेदात्मक ज्ञान अवश्य है किन्तु ऐसे ज्ञान को मानने का यह अर्थ नहीं कि स्याद्वाद एकान्तवाद हो गया। स्याद्वाद एकान्तवाद का इतना ही भेद का खंडन करता—अनेकता का तिरस्कार करता। अनेकता में एकता मानना स्याद्वाद को प्रिय है किन्तु अनेकता का निषेध करके एकता को स्वीकार करना उसकी मर्यादा के बाहर है। सर्वमेकं सदविशेषात् अर्थात् सब एक है क्योंकि सब सत् है—इस सिद्धान्त को मानने के लिए स्याद्वाद तैयार है किन्तु अनेकता का निषेध करके नहीं अपितु उसे स्वीकार करके। एकान्तवाद अनेकता का निषेध करता है—अनेकता को अयथार्थ मानता है—भेद का खण्डन करता है जब कि अनेकान्तवाद एकता के साथ साथ अनेकता को भी यथार्थ मानता है। एकतामूलक यह तत्त्व एकान्तरूप से निरपेक्ष है यह नहीं कहा जा सकता। एकता अनेकता के बिना नहीं रह सकती और अनेकता एकता के अभाव में नहीं रह सकती। एकता और अनेकता परस्पर इसी प्रकार मिली हुई हैं कि एक को दूसरी से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में एकता को सर्वथा निरपेक्ष कहना युक्तियुक्त नहीं। एकता अनेकताश्रित है और अनेकता एकताश्रित है। दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखती हैं। एकता के बिना अनेकता का काम नहीं चल सकता और अनेकता के बिना एकता कुछ नहीं कर सकती। तत्त्व एकता और अनेकता दोनों का मिलाजुला रूप है। उसे न तो एकान्तरूप से एक कह सकते हैं और न एकान्ततः अनेक। इसलिए स्याद्वाद को एकता के वास्तविक मानने पर भी एकान्तवाद या निरपेक्षवाद का भय नहीं।

८. यदि प्रत्येक वस्तु कथंचित् यथार्थ है और कथंचित् अयथार्थ तो स्याद्वाद स्वयं भी कथंचित् सत्य होगा और कथंचित् मिथ्या। ऐसी स्थिति में स्याद्वाद से ही तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो सकता है, यह कैसे कहा जा सकता है?

स्याद्वाद तत्त्व का विश्लेषण करने की एक दृष्टि है। अनेकान्तात्मक तत्त्व को अनेकान्तात्मक दृष्टि से देखने का नाम ही स्याद्वाद है। जो वस्तु जिस रूप से यथार्थ है उसे उसी रूप में यथार्थ मानना और इतर रूप में अयथार्थ मानना स्याद्वाद है। स्याद्वाद स्वयं भी यदि किसी रूप में अयथार्थ या मिथ्या है तो वैसा मानने में कोई हर्ज नहीं। यदि हम एकान्तवादी दृष्टिकोण को और उससे स्याद्वाद की ओर देखें तो वह भी मिथ्या प्रतीत होगा। अनेकान्त दृष्टि से देखने पर स्याद्वाद सत्य प्रतीत होगा। दोनों दृष्टियों को सामने रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि स्याद्वाद कथंचित् मिथ्या है अर्थात् एकान्तदृष्टि की अपेक्षा से मिथ्या है और कथंचित् सत्य है अर्थात् अनेकान्तदृष्टि की अपेक्षा से सत्य है। जिसका जिस दृष्टि से जैसा प्रतिपादन हो सकता है उसका उस दृष्टि से वैसा प्रतिपादन करने के लिए स्याद्वाद तैयार है। इसमें उसका कुछ नहीं बिगड़ता। जब हम यह कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है तो हम यह भी कह सकते हैं कि स्याद्वाद स्वरूप से अर्थात् अनेकान्तरूप से सत् है—यथार्थ है और पररूप से असत् एकान्तरूप से असत् है—अयथार्थ है। इसका यह कथन भी स्याद्वाद ही है। दूसरे शब्दों में स्याद्वाद को कथंचित् यथार्थ और कथंचित् अयथार्थ कहना भी स्याद्वाद ही है।

९. सप्तभंगी के अन्त के तीन भंग व्यर्थ हैं क्योंकि वे केवल दो भंगों के योग से बनते हैं। इस प्रकार योग से ही संख्या बढ़ाना हो तो सात क्या अनन्त भंग बन सकते हैं।

मूलतः एक धर्म को लेकर दो पक्ष बनते हैं—विधि और निषेध। प्रत्येक धर्म का या तो विधान होगा या प्रतिषेध। ये दोनों भंग मुख्य हैं। बाकी के भंग विवक्षाभेद से बनते हैं। तीसरा और चौथा दोनों भंग भी स्वतंत्र नहीं हैं। विधि और निषेध की क्रम से विवक्षा होने पर तीसरा भंग बनता है और युगपत् विवक्षा

होने पर चौथा भङ्ग बनता है। इसी प्रकार विधि की और युगपद् विधि और निषेध की विवक्षा होने पर पाचवां भङ्ग बनता है। आगे के भङ्गों का भी यही क्रम है। यह ठीक है कि जैन आचार्यों ने सात भङ्गों पर ही जोर दिया और सात भङ्ग ही क्यो होते हैं, कम या अधिक क्यों नहीं होते, इसे सिद्ध करने के लिए अनेक हेतु भी दिए, किन्तु जैन दर्शन की मौलिक समस्या सात की नहीं, दो की है। बौद्ध दर्शन और वेदान्त मे जिन चार कोटियों पर भार दिया जाता है वे भी सप्तभङ्गी की तरह ही हैं। उनमे भी मूलरूप मे दो ही कोटिया हैं। तीसरी और चौथी कोटि मे मौलिकता नहीं है। कोई यह कह सकता है कि दो भङ्गों को भी मुख्य क्यों माना जाय, एक ही भङ्ग मुख्य है। यह ठीक नहीं। वस्तु न तो सर्वथा सत् या विध्यात्मक हो सकती है और न सर्वथा असत् या निषेधात्मक। विधि और निषेध दोनो रूपों मे वस्तु की पूर्णता रही हुई है। न तो विधि निषेध से बलवान् है और न निषेध विधि से शक्तिशाली है। दोनो समानरूप से वस्तु की यथार्थता के प्रति कारण हैं। वस्तु का पूर्णरूप देखने के लिए दोनों पक्षों की सत्ता मानना आवश्यक है। इसलिए पहले के दो भङ्ग मुख्य हैं। हा, यदि कोई ऐसा कथन हो जिसमे विधि और निषेध का समानरूप से प्रतिनिधित्व हो—दोनो मे से किसी का भी निषेध न हो तो उसको मुख्य मानने मे जैन दर्शन को कोई एतराज नहीं। वस्तु का विश्लेषण करने पर प्रथम दो भङ्ग अवश्य स्वीकृत करने पड़ते हैं।

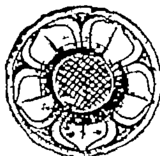
१० स्याद्वाद को मानने वाले केवलज्ञान की सत्ता में विश्वास नहीं रख सकते क्योंकि केवलज्ञान एकान्तरूप से पूर्ण होता है। उसकी उत्पत्ति के लिए वाद में किसी की अपेक्षा नहीं रहती।

स्याद्वाद और केवलज्ञान मे तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। केवली वस्तु को जिस रूप से जानेगा, स्याद्वादी भी उसे उसी रूप से जानेगा। अन्तर यह है कि केवली जिस तत्त्व को साक्षात् जानेगा—प्रत्यक्ष ज्ञान से जानेगा, स्याद्वादी छद्मस्थ उसे परोक्षरूप से जानेगा—श्रुतज्ञान के आधार से जानेगा। केवलज्ञान पूर्ण होता है इसका अर्थ यही है कि वह साक्षात् आत्मा से होता है और उस ज्ञान मे किसी प्रकार की बाधा की सम्भावना नहीं है। पूर्णता का यह अर्थ नहीं कि वह एकान्तवादी हो गया। तत्त्व को तो वह सापेक्ष—अनेकान्तात्मक रूप मे ही देखेगा। इतना ही नहीं, उसमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों धर्म रहते हैं। काल जैसे किसी भी पदार्थ मे परिवर्तन करता है, वैसे ही केवलज्ञान मे भी परिवर्तन करता है। जैन दर्शन केवलज्ञान को कूटस्थ नित्य नहीं मानता। किसी वस्तु की भूत, वर्तमान और अनागत—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जो अवस्था आज अनागत है वह कल वर्तमान होती है। जो आज वर्तमान है वह कल भूत में परिणत होती है। केवलज्ञान आज की तीन प्रकार की अवस्थाओं को आज की दृष्टि से जानता है। कल का जानना आज से भिन्न हो जाएगा क्योंकि आज जो वर्तमान है वह भूत होगा और आज जो अनागत है कल वह वतमान होगा। यह ठीक है कि केवली तीनो कालो को जानता है किन्तु जिस पर्याय को उसने कल भविष्यत् रूप से जाना था उसे आज वर्तमान रूप से जान सकता है। इस प्रकार काल भेद से केवली के ज्ञान मे भी भेद आता रहता है। वस्तु की अवस्था के परिवर्तन के साथ साथ ज्ञान की अवस्था भी बदलती रहती है। इसलिए केवलज्ञान भी कथञ्चित् अनित्य है और कथञ्चित् नित्य। स्याद्वाद और केवलज्ञान म विरोध की कोई सम्भावना नहीं।

भगवान् महावीर ने केवलज्ञान होने के पहले चित्रविचित्र पख वाले एक बड़े पुस्कोकिल को स्वप्न म देखा। इस स्वप्न का विश्लेषण करने पर स्याद्वाद फलित हुआ। पुस्कोकिल के चित्रविचित्र पख अनेकान्त वाद के प्रतीक हैं। जिस प्रकार जैन दर्शन मे वस्तु की अनेकरूपता की स्थापना स्याद्वाद के आधार पर की

वहाँ उसी प्रकार वैदिक दर्शन में विभज्यवाद के नाम पर इसी प्रकार का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। किन्तु उचित मात्रा में पानी और हवा न मिलने के कारण वह मुरझा गया और अन्त में नष्ट हो गया। स्याद्वाद को समय-समय पर उपयुक्त सामग्री मिलती रही जिस से यह आज दिन तक कायम रहता रहा। भेदाभेदवाद, सदसद्वाद, नित्यानित्यवाद, निर्वचनीयानिर्वचनीयवाद, एकानेकवाद, वस्तुत्वावस्तुत्ववाद आदि जितने भी दार्शनिक वाद हैं उन का आधार स्याद्वाद है। जैन दर्शन के आचार्यों ने इस सिद्धान्त की स्थापना का सुनिश्चित प्रयत्न किया। आगमों में भी इसका काफी विकास दिखाई देता है।

जैन दर्शन में स्याद्वाद का इतना अधिक महत्त्व है कि आज स्याद्वाद जैन दर्शन का पर्याय बन गया है। जैन दर्शन का अर्थ स्याद्वाद के रूप में लिया जाता है। जहां जैन दर्शन का नाम आता है अन्य सिद्धान्त एक ओर रह जाते हैं और स्याद्वाद या अनेकान्तवाद याद आ जाता है। वास्तव में स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है। जैन आचार्यों के सारे दार्शनिक चिन्तन का आधार स्याद्वाद है।



जैन साधना का इच्छायोग

कविरत्न श्रद्धेय श्री अमरचन्द्रजी महाराज

जैन धर्म की साधना इच्छा योग की साधना है—सहज योग की साधना है। जिस साधना में बलप्रयोग हो, वह साधना निर्जीव बन जाती है। साधना के महापथ पर अग्रसर होने वाला साधक अपनी शक्ति के अनुरूप ही प्रगति कर सकता है। साधना की जाती है, लादी नहीं जा सकती।

संसार में जैन धर्म अहिंसा का, शान्ति का, प्रेम का और मैत्री का अमर सन्देश लेकर आया है। उस का विश्वास प्रेम में है, तलवार में नहीं। उसका धर्म आध्यात्मिकता में है, भौतिकता में नहीं। साधना का मौलिक आधार यहाँ भावना है, श्रद्धा है। आग्रह और बलात्कार को यहाँ प्रवेश नहीं है। जब साधक जाग उठे, तभी से उस का सवेरा समझा जाता है। सूर्यरश्मियों के संस्पर्श से कमल खिल उठते हैं। शिष्य के प्रसुप्त मानस को गुरु जाग्रत करता है, चलना उसका अपना काम है।

आगम वाङ्मय का गंभीरता से परिशीलन करनेवाले मनीषी इस तथ्य को भली भांति जानते हैं कि परम प्रभु महावीर प्रत्येक साधक को एक ही मूलमन्त्र देते हैं, कि 'जहा सुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंध करेह" देव वल्लभ मनुष्य! जिस में तुझे सुख हो, जिस में तुझे शान्ति हो, उसी साधना में तू रम जा। परन्तु एक शर्त जरूर है,—"जिस कल्याण पथ पर चलने का तू निश्चय कर चुका है, उस पर चलने में विलम्ब मत कर, प्रमाद न कर।"

इस का तात्पर्य इतना ही है, कि जैन धर्म की साधना के मूल में किसी प्रकार का बलप्रयोग नहीं है, बलात्कार से यहाँ साधना नहीं कराई जाती है। साधक अपने आप में स्वतन्त्र है। उस पर किसी प्रकार का आग्रह और दबाव नहीं है। भय और प्रलोभन को भी यहाँ अवकाश नहीं है। सहज भाव से जो हो सके, वही सच्ची साधना है। आत्म-कल्याण की भावना लेकर आनेवाले साधकों में वे भी थे जो अपने जीवन की सन्ध्या में लड़खड़ाते चल रहे थे वे भी थे, जो अपने जीवन के वसन्त में अठखेली कर चल रहे थे, और वे भी थे जो अपने गुलाबी जीवन में अभी प्रवेश ही कर पाए थे। किन्तु भगवान् ने सब को इच्छा-योग की ही देशना दी—"जहासुहं देवाणुप्पिया ।" जितना चल सकते हो चलो, बढ सकते हो, बढो।

अतिमुक्तकुमार आया, तो कहा—आ तू भी चल। मेघकुमार आया, तो कहा—आ और चला चल। इन्द्रभूति आया और हरिकेशी आया—सब को बढ़े चलो की अमृतमयी प्रेरणा दी। चन्दन बाला आई तो उस का भी स्वागत। राह सब की एक है, परन्तु गति में सब के अन्तर है। कोई तीव्र गति से चला, कोई मन्द गति से। गति सब में हो। मन्दता और तीव्रता शक्ति पर आधारित है, यही इच्छायोग है, यही इच्छाधर्म है, यही सहजयोग की साधना है।

गाथापति आनन्द आया। कहा—भंते! श्रमण बन सकने की क्षमता मुझमें नहीं है। महाप्रभु ने अमृतमयी वाणी में कहा—"जहा सुहं ।" श्रमण न सही, श्रावक ही बनो। सम्राट् श्रेणिक आया। कहा—भंते! मैं श्रावक भी नहीं बन सकता। यहाँ पर भी वही इच्छायोग आया—"जहा सुहं ।" श्रावक नहीं बन सकते, तो सम्यग्दृष्टि ही बनो। जितनी शक्ति है, उतना ही चलो। महामेघ बरसता है और जितना पात्र होता है, वैसा और उतना ही जल प्राप्त हो जाता है।

जैन धर्म एक विशाल और विराट धर्म है। वह मनुष्य की आत्मा को साथ लेकर चलता है। वह किसी पर बलात्कार नहीं करता। साधना में मुख्य तत्त्व सहज भाव और अन्तःकरण की स्फूर्ति है। अपनी इच्छा से और सहज स्फूर्ति से जो तप किया जाता है वस्तुतः वही सच्चा धर्म है। ऐसा धर्ममंगल माना जाता है।

जैन धर्म में किसी भी साधक से यह नहीं पूछा जाता कि तू ने कितना किया है? वहाँ तो यही पूछा जाता है कि तू ने कैसे किया है? सामायिक पौषध या उपवास करते समय तू शुभ संकल्पों में, शुद्ध भावों के प्रवाह में बहता रहा है या नहीं? यदि तेरे अन्तर में शान्ति नहीं रही, तो वह क्रिया केवल क्लेश उत्पन्न करेगी—उससे धर्म नहीं होगा। क्योंकि "यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।"

जैन धर्म की साधना का दूसरा पहलू यह है कि मनुष्य अपनी शक्ति का गोपन कभी न करे। जितनी शक्ति है उस को छुपाने की चेष्टा मत करो। शक्ति का दुरुपयोग करना यदि पाप है तो उसका उपयोग न करना भी पापों का पाप है—महापाप है। अपनी शक्ति के अनुरूप जप तप और त्याग जितना कर सकते हो, अवश्य ही करो। एक आचार्य के शब्दों में इस पर मनन ही होगा—

"जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तस्स सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं॥"

जिस सत्कर्म को तुम कर सकते हो उसे अवश्य करो। जिस को करने की शक्ति न हो, उस पर श्रद्धा रखो, करने की भावना रखो। अपनी शक्ति न होने के क्षोभ को कभी न भूलो।"

आचारांग में साधकों को लक्ष्य कर के कहा गया है—"जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिया।" साधको! तुम साधना के जिस महामार्ग पर आ पहुँचे हो अपनी इच्छा से—उस पर श्रद्धा के साथ चलन करो। श्रावक हो, तो श्रावक धर्म का और श्रमण हो तो श्रमण धर्म का श्रद्धा और निष्ठा के साथ पालन करो। साधना के पथ पर दुर्बल मन से कभी मत चलो। सदा मन को तेजस्वी रखो। स्फूर्ति और उत्साह रखो। कितना चले हो, इस की ओर ध्यान मत दो। देखना यह है कि कैसा चले हो। चित्त-मुनि ने चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त से कहा था—"राजन्, तुम भोगत्याग धारण नहीं कर सकते, कोई चिन्ता की बात नहीं। तुम श्रावक भी नहीं बन सकते न सही। परन्तु, इतना तो करो कि अनार्य कर्म मत करो। आर्य हो तो आर्य कर्म ही करो।

इस से बढ़कर इच्छायोग और क्या होगा! इस से अधिक उदार और सहज साधना और क्या होगी! जैन धर्म का यह इच्छा योग मानव समाज के कल्याण के लिए सदा खुला रहता है। इस में प्रवेश करने के लिए धन वैभव और प्रभुत्व की आवश्यकता नहीं है। देश जाति और कुल का बन्धन भी नहीं है। आवश्यकता है केवल अपने शोधित शुद्ध मन को जगाने की, और अपनी शक्ति को तोल लेने की।

आज के अशान्त मानव को जब कभी शान्ति और सुख की आवश्यकता होगी, तो उसे इस सहज धर्म-इच्छायोग की साधना करनी ही होगी।

विश्वशान्ति का एक मात्र उपाय—

भगवान् महावीर का अपरिग्रहवाद

श्री नरेन्द्रकुमार भानावत, 'साहित्यरत्न'

मनुष्य की अन्तिम मजिल की अगर कोई कसौटी है तो वह है शांति चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र में हम इसे मुक्ति कह कर पुकारें, चाहे दार्शनिक वेश में हम उसे वीतराग भावना कहें। इसी शाति की शोध मे मनुष्य युग युग से जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहा है। लेकिन आज २० वीं शताब्दि में शाति का क्षेत्र व्यापक एव जटिल हो गया है। आज व्यक्तिगत शाति के महत्त्व से भी अधिक महत्त्व समष्टिगत शाति (विश्वशाति) का है। इस सामूहिक शाति की प्राप्ति के लिए मानव ने अनेक साधन ढूढ निकाले। विभिन्न वादों के विवादों का प्रतिवाद भी उसने किया। मार्क्सवाद की विचार धारा में भी वह बहा। लेकिन अबतक उसे शाति नहीं मिल पाई है। इसका मूल कारण है आर्थिक वैषम्य। आज के विज्ञान से लदे भौतिकवादी युग में रोटी-रोजी-शिक्षा दीक्षा के जितने भी साधन हैं उन पर मानवसमाज के इने गिने व्यक्तियों के उस वर्ग ने कब्जा कर लिया जो कि निर्दयी एव स्वार्थी बनकर अपने धन के नशे मे मदमाता है। दूसरी ओर अधिकाश ऐसे व्यक्तियों का वर्ग है जो गरीबी मे पल रहा है। धन और श्रम के इस भयानक अन्तर और विरोध ने मानव के बीच मे दीवाल खड़ी कर दी है। इसी विषमता का चित्रण प्रगतिशील कवि श्री रामधारीसिह 'दिनकर' की इन पक्तियों मे देखिये—

"श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
मा की हड्डी से चिपक ठिठुर—जाड़ों की रात विताते हैं॥
युवती की लज्जा वसन वेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक तब तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥"

एक ओर ऐसा वर्ग है जो पेट और पीठ एक किये दाने दाने के लिए तरसता है तो दूसरी ओर चादी की चटनी से वेष्टित ऐसे पकवान हैं जिन्हें खाकर लोग बीमार हो जाते हैं। एक ओर रहने के लिए—सर्दी, गर्मी, पावस से अपनी रक्षा करने के लिए, टूटा छप्पर तक नसीब नहीं तो दूसरी ओर वे बड़ी बड़ी अट्टालिकाए हैं जिनमे भूत बोला करते हैं। इसी भेद भाव को मिटाने के लिए नवीन नवीन विचारो को लेकर विचारकों ने नये नये वादों की सृष्टि की है। लेकिन जितने भी वाद वर्तमान म प्रचलित हैं सभी अधूरे हैं। किसी मे रक्तपात है तो किसी मे स्वार्थभाव। किसी मे अव्यवहारिकता है तो किसी मे कोरा खयालीपुलाव। लेकिन एक ऐसा साधन और हल (वाद) है जिस को आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व क्रातदर्शी भगवान् महावीर ने मनोमन्थन कर अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा प्रतिपादित किया था। वह है "सव्वे जीवावि इच्छन्ति जीविउ न मरिज्जउ" सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सभी सुख चाहते हैं, दु ख कोई नहीं चाहता। इस पावन एव पुनीत भावना का जन्म और विकास अगर मानव-हृदय में हो सकता है तो वह भगवान् महावीर के अनोखे एव व्यावहारिक अपरिग्रह वाद के सिद्धान्त के बल पर।

अपरिग्रह का वर्णन जगत् के सम्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थों मे पाया जाता है। लेकिन जैनधर्म में इसे

विशेष महत्त्व देकर इसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने कहा है "मूर्च्छापरिग्रहः"—अर्थात्—परिग्रह का अर्थ मूर्च्छाभाव—सांसारिक भौतिक पदार्थों में ममत्व या लिप्तता की भावना। किसी भी पदार्थ के प्रति ममत्व की भावना नहीं रखना यह अपरिग्रह है। आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु का संग्रह करना जहाँ एक ओर समाज के प्रति अन्याय है वहाँ दूसरी ओर आत्मा की अवनति का पतन है। अतः तेरे मेरे के भेदभाव को छोड़कर, संग्रह वृत्ति का त्याग कर, अपरिग्रह-प्रवृत्ति का अवलम्बन लेकर आज विश्व में जो द्वन्द्व और तनाव है उसे शान्तिमय तरीके से कम करने की प्रेरणा हमें अपरिग्रहवाद से लेनी है। जिनके पास पैसा नहीं है वे अगर यह समझते हों कि हम अपरिग्रही हैं तो वे भूल करते हैं। अपरिग्रही भावना का सम्बन्ध बाह्य धनदौलत से न होकर हृदय की भावना से है। अतः धनवानों को यह नहीं सोचना चाहिए कि हम अपरिग्रही बन ही नहीं सकते। भगवान् महावीर की तो मान्यता है कि अगर एक भिखारी के पास केवल तन ढकने का एक पुराना चिथड़ा है लेकिन अगर उस चिथड़े के प्रति भी उसका मूर्च्छाभाव है तो वह भिखारी उस धनपति से ज्यादा परिग्रही है जिसके पास करोड़ों की सम्पत्ति है पर उसे वह अपनी नहीं समझता और जो मूर्च्छाभाव से मुक्त है। अपरिग्रही भावना के विकसित होने पर ही धनपति का क्रूर हृदय भी करुणा से पिघल जाता है। दान और दया की वाहिनी बह बह चलती हुई बह उठती है जिससे प्रेम और सहयोगमूलक व्यवहार बढ़ते और समाज में आश्वासन पर लहलहाती मानवता निर्भय एवं निश्चिन्त हो शान्ति की सांस लेने लगती है।

भगवान् महावीर ने गृहस्थों के बारह व्रत बतलाये हैं। अगर हम सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो स्पष्ट है कि उनके मूल में अहिंसामय आर्थिक समता स्थापित करने की भावना निहित है। गृहस्थी को मर्यादित और नियमित बनाने की प्रेरणा है। मर्यादित जीवन में कभी अतिरेक और अतिक्रमण के अभाव में न तो स्वयं में अशान्ति होती है और न दूसरों को अशान्त करने की भावना उत्पन्न हो सकती है।

बारह व्रत

( ) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत	(२) स्थूल मृषावाद विरमण व्रत।
(३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत	(४) स्थूल अब्रह्मचर्य विरमण व्रत।
(५) स्थूल परिग्रह विरमण व्रत	(६) दिग्व्रत।
( ) देश व्रत	(८) अनर्थदण्ड विरमण व्रत।
(९) सामायिक व्रत	( ) देशावकाशिक व्रत।
( ) पौषध व्रत	(१२) अतिथि संविभाग व्रत।

उपर्युक्त बारह व्रतों में प्रथम के पांच व्रतों में 'स्थूल' शब्द इसलिये रखा गया है कि गृहस्थी हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का पूर्णतया त्याग नहीं कर सकता। अतः उसके लिए स्थूल दृष्टि से त्याग करने का विधान है। आर्थिक दृष्टि से इनका महत्त्व मनुष्य को मर्यादित बनाने और उसे संग्रहशील न बनाने में है। प्रथम चार व्रतों में हम यहाँ तक ही कहें कि हिंसा, झूठ, चोरी और अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिए। अपरिग्रह का तात्पर्य है कि मनुष्य आवश्यकता से अधिक संग्रह न करे। अधिक संग्रह की प्रवृत्ति में ही आज मानव समुदाय की अशान्ति छिपी हुई है। इसलिए भगवान् महावीर का कथन है कि प्रत्येक गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं का निर्धारण कर यह निश्चय करे कि मुझे इससे अधिक द्रव्य नहीं रखना। अगर अधिक द्रव्य हो जाय तो उसे जनता जनार्दन की सेवा में लगा देना है। ऐसा करने से दूसरे गरीब लोग उसका उपयोग कर जीवन को सुखी बना सकेंगे। इससे लोभवृत्ति कम होगी। द्रव्यप्राप्ति की दौड़धूप कम होगी और मैं इसे कैसे प्राप्त करूँ। इस व्रत में केवल द्रव्य की ही मर्यादा नहीं होती बल्कि धनधान्य आदि प्रकार

की सम्पत्ति का आवश्यकतानुसार परिमाण करना पड़ता है। हमारे सामने आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों का आदर्श विद्यमान है जिन्होंने इन व्रतों को ग्रहण कर शांति की स्थापना की। इस परिग्रहपरिमाण की पुष्टि के लिए ही छठा, सातवा और आठवा व्रत हैं। अर्थात् गृहस्थ यह प्रतिज्ञा करे कि मुझे प्रत्येक दिशा मे अमुक से अधिक सीमा में व्यापार के लिए नहीं जाना है। इससे विषम भोगों की, वैलासिक जीवन की, प्रतिस्पर्द्धा की लालसा न बढ़ेगी। प्रतिदिन मनुष्य के उपयोग में आनेवाली प्रत्येक वस्तु की भी गृहस्थ मर्यादा करे। ऐसे पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—

(१) भोग्य—जो वस्तु एक बार उपयोग में आने के बाद दूसरी बार न भोगी जाय—
जैसे—अन्न, जल, विलेपन आदि।

(२) उपभोग्य—जो वस्तु एक से अधिक बार उपयोग मे आती हो—
जैसे—मकान, कपड़ा, गहना आदि।

इन सारी चीज़ो की प्रात उठकर गृहस्थ मर्यादा करे कि अमुक वस्तु मुझे दिन मे कितनी बार और कितने परिमाण मे काम मे लानी है।

अन्तिम चार व्रतों का विधान भी आध्यात्मिक बल उत्पन्न करने एव अपरिग्रहवृत्ति बढ़ाने के निमित्त है। बहु आरभी एव परिग्रही नरक का भागीदार होता है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र म कहा है "बह्वारम्भ परिग्रहत्व नारकस्यायुष" अत हमे परिग्रह का त्याग कर अपरिग्रह की ओर झुकना चाहिये क्योंकि "अल्पारम्भपरिग्रहत्व मानुषस्य" यह मनुष्य आयु प्रदान करता है।

आज दुनिया दो शक्तियों (Power blocks) मे बटी हुई है।

(१) पूजीवादी दल—जिसका नेतृत्व अमेरिका कर रहा है।

(२) साम्यवादी दल—जिसका नेतृत्व रूस कर रहा है।

दोनों अपने अपने स्वार्थ के लिये लड़ रहे हैं और विश्व के तमाम राष्ट्रों को युद्धाग्नि मे घसीटने का प्रयत्न कर रहे हैं। अगर एक सच्चे गृहस्थ की तरह ये राष्ट्र भी भगवान् महावीर के सिद्धान्तों—परिग्रह-परिमाणव्रत—को ग्रहण कर आवश्यकता से अधिक संगृहीत वस्तु का दान उन राष्ट्रों को कर दें जिनको इनकी जरूरत हो तो मैं दावे के साथ कह सकता हू कि विश्व म शांति स्थापित हो जायगी। पिछले दो महायुद्ध हुए जिनका मूल कारण भी यही परिग्रहवृत्ति थी। महावीर का देश भारत आज नये स्वर मे उसी सिद्धान्त का प्रचार सर्वोदय, पचशील, शांतिमय सहअस्तित्व (Peaceful co-existence) के रूप मे कर रहा है। अगर प्रत्येक राष्ट्र छठे व्रत के अनुसार प्रत्येक दिशा मे अपनी अपनी मर्यादानुसार भूमि का परिमाण करले तो यह युद्धलिप्सा मिट जाय, यह एटमबाजी समाप्त हो जाय, ये प्रलय के बादल प्रणय की बूँदों मे बदल जायँ। गाधीजी के सुशिष्य विनोबाजी इसी भावना से प्रेरित होकर भूदान आन्दोलन कर रहे हैं जिसके अन्तर्गत सम्पत्तिदान, बुद्धिदान, कूपदान, साधनदान और श्रमदान का सूत्र पाल कर अपरिग्रह की भावना का विकास कर रहे हैं और उन्हें काफी सफलता मिली है तथा मिलती जा रही है। प्रगतिशील कवि 'दिनकर' ने 'कुरुक्षेत्र' मे लिखा है—

"शांति नहीं तब तक जब तक,
सुख-भाग न नर का सम हो।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो॥"

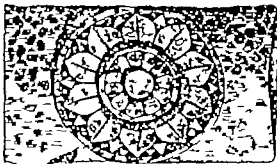
यह मान्यता स्वीकार करने में न तो रिक्त मार्क्सवाद ही सहायक हो सकता है और न कोरा आदर्शवाद। अगर इस प्रकार का वातावरण कोई बना सकता है तो वह महावीर का अपरिग्रहवाद जिसका प्रत्यक्ष एवं व्यावहारिक रूप भगवान महावीर ने अपने जीवन में त्यागमूर्ति, करुणामयी तथा क्रियाशील प्रेममयी वर्तमान में देख सकता है। इस अहिंसा एवं अपरिग्रह के द्वारा जो शान्ति स्थापित होगी वह तलवार के बल पर स्थापित होने वाली न तो सिकन्दर महान् की शान्ति होगी, न जिनपिपासी हिटलर बैनी-टोलिन की शान्ति वह तो ऐसी शान्ति होगी जिसके लिए "दिनकर" लिखते हैं—

ऐसी शान्ति राज्य करती है
तन पर नहीं हृदय पर।
नर के ऊंचे विश्वासों पर,
श्रद्धा भक्ति प्रणय पर॥"

अंग्रेजी में एक लेखक ने लिखा है कि "The less I have the more I am" अर्थात् हमारे पास जितना कम परिग्रह होगा, उतने ही हम महान् होंगे। कुबेर जैसी दौलत के पाने से, दौलत को लूटने से कोई महान् नहीं बनता। महान् बनता है त्याग से अपरिग्रह और अस्तेय से। अगर हम सोने को भी छिपा लिया कर, ममत्व भाव रखकर, धरती में गाड़ रखेंगे तो वह मिट्टी बन जायगा। तालाब के पानी की तरह हम अगर धन-दौलत को गन्दी कर उसका समुचित उपयोग न करेंगे तो वह सड़ जायेगी। शेक्सपियर ने इसी बात को कुछ इन शब्दों में लिखना अच्छा कहा है।

Sweetest things turn sourest by their deeds,
Lilies that fester smell far worse than weeds

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम "Eat drink and be merry" जैसे भौतिक सिद्धान्त को छोड़कर "Live and let live" को आचरण में उतार अपरिग्रहवाद का झण्डा लेकर विश्वशान्ति के पथिक बनें, फिर सच्ची शान्ति हमारे पैर चूमेगी।



संजय का विक्षेपवाद और स्याद्वाद

पं० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा इतः पूर्व डॉ॰ हर्मन जैकोबी आदि ने स्याद्वाद या सप्तभंगी की उत्पत्ति को संजयवेलट्ठिपुत्त के मत से बताने का प्रयत्न किया है। राहुलजी ने दर्शनदिग्दर्शन में लिखा है कि—'आधुनिक जैनदर्शन का आधार स्याद्वाद है, जो मालूम होता है संजयवेलट्ठिपुत्त के चार अंगवाले अनेकान्त-वाद को लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है। संजय ने तत्त्वों (परलोक, देवता) के बारे में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहने से इनकार करते हुए उस इनकार को चार प्रकार से कहा है—

१ 'है?' नहीं कह सकता। २ 'नहीं है?' नहीं कह सकता। ३ 'है भी और नहीं भी?' नहीं कह सकता। ४ 'न है और न नहीं है?' नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनों के सात प्रकार के स्याद्वाद से—

१ 'है?' हो सकता है (स्यादस्ति)। २ 'नहीं है?' नहीं भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)। ३ 'है भी और नहीं भी?' है भी और नहीं भी हो सकता (स्यादस्ति च नास्ति च)।

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं (—वक्तव्य) हैं? इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं—

४ स्यात् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता है? नहीं, स्याद् अ-वक्तव्य है।

५ 'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, स्यादस्ति अवक्तव्य है।

६ 'स्यान्नास्ति' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, 'स्यात् नास्ति' अवक्तव्य है।

७ 'स्यादस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है। दोनों के मिलाने से मालूम होगा कि जैनों ने संजय के पहले वाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भंगियाँ बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को जोड़कर स्यात्सदसत् भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की। इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (स्यात्) की स्थापना न करना जो कि संजय का वाद था, उसीको संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर जैनों ने अपना लिया और उस के चतुर्भङ्गी न्याय को सप्तभंगी में परिणत कर दिया।' दर्शनदिग्दर्शन पृ० ४९६

राहुलजी ने उक्त सन्दर्भ में सप्तभंगी और स्याद्वाद के रहस्य को न समझकर केवल शब्दसाम्य देख कर एक नये मत की सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है जैसे कि चोर से जज यह पूछे कि—'क्या तुमने यह कार्य किया है?' चोर कहे कि 'इससे आपको क्या?' या 'मैं जानता होऊँ तो कहूँ?' फिर जज अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध कर दे कि 'चोर ने यह कार्य किया है', तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जज का फैसला चोरके बयान से निकला है।

'संजयवेलट्ठिपुत्त के दर्शन का विवेचन स्वयं राहुलजी ने (दर्शनदिग्दर्शन पृ० ४९१) इन शब्दों में किया है—'यदि आप पूछें—'क्या परलोक है?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको

---

१ इसके मत का विस्तृत वर्णन दीघनिकाय सामञ्ञ फलसुत्त में है। यह विक्षेपवादी था। 'अमराविक्षेपवाद' रूप से भी इस का मत प्रसिद्ध था।

बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।

संजय के परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्ति के सम्बन्ध में ये विचार साफ अविषय अज्ञान या अनिश्चयवाद के हैं। वह स्पष्ट कहता है कि "यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।" वह संशयालु नहीं घोर अनिश्चयवादी था। इसलिये उसका दर्शन राहुलजी के शब्दों में "मानव की सहजबुद्धि को भ्रम में नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चयकर भ्रान्त धारणाओं की पुष्टि ही करना चाहता है।" वह अज्ञानिक था।

बुद्ध और संजय

स्वयं बुद्ध ने १ लोक नित्य है २ अनित्य है ३ नित्य अनित्य है ४ न नित्य न अनित्य है ५ लोक अन्तवान् है ६ नहीं है ७ है भी नहीं भी ८ न है न नहीं है ९ मरने के बाद तथागत होते हैं, १० नहीं होते ११ होते हैं नहीं होते १२ न होते हैं न नहीं होते १३ जीव शरीर से भिन्न है १४ जीव शरीर से भिन्न नहीं है। (माध्यमिक वृत्ति पृ ४४६) इन चौदह वस्तुओं को अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकाय (२।२१) में इनकी संख्या दस है। इनमें आदि के दो प्रश्नों में तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिनाया है। इनके अव्याकृत होने का कारण बुद्ध ने बताया है कि—इनके बारे में कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्या के लिये उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद, निरोध, शान्ति, परमज्ञान या निर्वाण के लिये आवश्यक है। तात्पर्य यह कि बुद्ध की दृष्टि में इनका जानना मुमुक्षु के लिये आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दों में बुद्ध भी संजय की तरह इनके बारे में कुछ कहकर मानव की सहज बुद्धि को भ्रम में नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्त धारणाओं की सृष्टि ही करना चाहते थे। हाँ, संजय जब अपनी अज्ञानता और अनिश्चय को साफ साफ शब्दों में कह देता है कि यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, तब बुद्ध अपने न जानने का उल्लेख न करके उस प्रश्न को शिष्यों के लिये अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। आज तक यह प्रश्न दार्शनिकों के सामने ज्यों का त्यों है कि बुद्ध की अव्याकृतता और संजय के अनिश्चयवाद में क्या अन्तर है, खासकर चित्त की निर्णयभूमि में। सिवाय इसके कि संजय फक्कड़ की तरह खरा मानकर खरी खरी बात कह देता है और बुद्ध कुशल बड़े आदमियों की शालीनता का निर्वाह करते हैं।

बुद्ध और संजय ही क्या उस समय के वातावरण में आत्मा, लोक, परलोक और मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में सत्, असत्, उभय और अनुभय या अवक्तव्य ये चार कोटियाँ गूँजती थीं। जिस प्रकार आज का राजनैतिक प्रश्न मजदूर और मालिक, शोष्य और शोषक के द्वन्द्व की छाया में ही सामने आता है उसी प्रकार उस समय के आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थविषयक प्रश्न चतुष्कोटि में ही पूछे जाते थे। वेद और उपनिषद् में इस चतुष्कोटि के दर्शन बराबर होते हैं। यह विश्व सत् से हुआ या असत् से? यह सत् है या असत् या उभय या अनिर्वचनीय? ये प्रश्न जब शास्त्रों में चर्चित रहे हैं तब राहुलजी का स्याद्वाद के विषय में यह फतवा दे देना कि— संजय के प्रश्नों के शब्दों से या उसकी चतुर्भङ्गी को तोड़ मरोड़ कर सप्तभंगी बनी —कहाँ तक उचित है इसका वे स्वयं विचार करें।

बुद्ध के समकालीन जो अन्य पाँच तीर्थिक थे उनमें निग्गंठ नाथपुत्त वर्धमान महावीर की सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में प्रसिद्धि थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नहीं यह इस समय की चर्चा का विषय नहीं है पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक अवश्य थे और किसी भी प्रश्न को संजय की तरह अनिश्चय या विक्षेप कोटि में डालने वाले नहीं थे, और न शिष्यों की सहज जिज्ञासा को अनुपयोगिता के भयानक चक्कर में डुबा

देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि—संघ के पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्व का ठीक निर्णय नहीं कर लेते तब तक उन में बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघ के भिक्षुओं के सामने अपनी बौद्धिक दीनता के कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उनके जीवन और आचार पर आये बिना नहीं रहेगा। वे अपने शिष्यों को पर्दबन्द पद्मिनियों की तरह जगत् के स्वरूप विचार की बाह्य हवा से अपरिचित नहीं रखना चाहते थे। किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक मानव अपनी सहज जिज्ञासा और मनन शक्ति को वस्तु के यथार्थ स्वरूप के विचार की ओर लगावे। न उन्हें बुद्ध की तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्मा के सम्बन्ध में 'हाँ' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियों की तरह लोग नित्यत्व की ओर झुक जायँगे और 'नहीं है' कहने से उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाक की तरह नास्तिकता का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः इस प्रश्न को अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। महावीर चाहते थे कि मौजूदा तर्कों और संशयों का समाधान वस्तुस्थिति के आधार से होना ही चाहिये। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूप का अनुभव कर बताया कि जगत् का प्रत्येक सत् अनन्त धर्मात्मक है और प्रतिक्षण परिणामी है। हमारा ज्ञानलव (दृष्टि) उसे एक एक अंश से जानकर भी अपने में पूर्णता का मिथ्याभिमान कर बैठता है। अतः हमें सावधानी से वस्तु के विराट् अनेकान्तात्मक स्वरूप का विचार करना चाहिये। अनेकान्त दृष्टि से तत्त्व का विचार करने पर न तो शाश्वतवाद का भय है और न उच्छेदवाद का। पर्याय की दृष्टि से आत्मा उच्छिन्न होकर भी अपनी अनाद्यनन्त धारा की दृष्टि से अविच्छिन्न है, शाश्वत है। इसी दृष्टि से हम लोक के शाश्वत अशाश्वत आदि प्रश्नों को भी देखें।

(१) क्या लोक शाश्वत है ? हाँ, लोक शाश्वत है—द्रव्यों की संख्या की दृष्टि से। इसमें जितने सत् अनादि से हैं उनमें से एक भी सत् कम नहीं हो सकता और न उसमें किसी नये 'सत्' की वृद्धि ही हो सकती है, न एक सत् दूसरे में विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब इसके अंगभूत एक भी द्रव्य का लोप हो जाय या सब समाप्त हो जायँ। निर्वाण अवस्था में भी आत्मा की निरास्रव चित्सन्तति अपने शुद्ध रूप में बराबर चालू रहती है, दीपक की तरह बुझ नहीं जाती यानी समूल समाप्त नहीं हो जाती।

(२) क्या लोक अशाश्वत है ? हाँ, लोक अशाश्वत है द्रव्यों के प्रतिक्षणभावी परिणमनों की दृष्टि से। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपने उत्पाद विनाश और ध्रौव्यात्मक परिणामी स्वभाव के कारण सदृश या विसदृश परिणमन करता रहता है। कोई भी पर्याय दो क्षण नहीं ठहरती। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी अनेक सदृश परिणमनों का अवलोकन मात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोगवियोगों की दृष्टि से विचार कीजिए तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

(३) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप है ? हाँ, क्रमशः उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से विचार करने पर लोक शाश्वत भी है (द्रव्य दृष्टि से) और अशाश्वत भी है (पर्याय दृष्टि से)। दोनों दृष्टिकोणों को क्रमशः प्रयुक्त करने पर और उन दोनों पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर जगत् उभयरूप भी प्रतिभासित होता है।

(४) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप नहीं है ? आखिर उसका पूर्ण रूप क्या है ? हाँ, लोक का पूर्ण रूप वचनों के अगोचर है, अवक्तव्य है। कोई ऐसा शब्द नहीं जो एक साथ लोक के शाश्वत और अशाश्वत दोनों स्वरूपों को तथा उसमें विद्यमान अन्य अनन्त धर्मों को युगपत् कह सके। अतः शब्द के असामर्थ्य के कारण जगत् का पूर्ण रूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपण में आप देखेंगे कि वस्तु का पूर्णरूप वचनों के अगोचर है — अवक्तव्य है। चौथा उत्तर वस्तु के पूर्ण रूप को युगपत् न कह सकने की दृष्टि से है। पर वही वस्तु शाश्वत कहा जाता है द्रव्य दृष्टि से और अशाश्वत कहा जाता है पर्याय दृष्टि से। इस तरह मूलतः चौथा, पहला और दूसरा ये तीन प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपता का प्रश्न तो प्रथम और द्वितीय का सम्मेलनरूप है। अब आप विचार करें कि जब संजय ने लोक के शाश्वत और अशाश्वत आदि के बारे में स्पष्ट कहा है कि यदि मैं जानता होऊं तो बताऊं और बुद्ध ने कह दिया कि इनके चक्कर में न पड़ो इनका जानना उपयोगी नहीं है, वे अव्याकृत हैं तब महावीर ने इन प्रश्नों का वस्तुस्थिति के अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्यों की जिज्ञासा का समाधान कर उनको बौद्धिक दीनता से त्राण दिया। इन प्रश्नों का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रश्न	संजय	बुद्ध	महावीर
१ क्या लोक शाश्वत है?	मैं जानता होऊं तो बताऊं? (अनिश्चय, विक्षेप, अज्ञान)	इसका जानना अनुपयोगी है (अव्याकरणीय, अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्य दृष्टि से शाश्वत है। इसके किसी भी द्रव्य का सर्वथा नाश नहीं हो सकता न किसी असत् से नये सत् का उत्पाद ही संभव है।
२ क्या लोक अशाश्वत है?	"	"	हाँ, लोक अपने प्रतिक्षणभावी परिवर्तनों की दृष्टि से अशाश्वत है। कोई भी पर्याय दो क्षण ठहरने वाली नहीं है।
३ क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है?			हाँ, [illegible] दोनों दृष्टियों से क्रमशः विचार करने पर शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।
४ क्या लोक दोनों रूप नहीं है अनुभय है?	मैं जानता होऊं तो बताऊं	अव्याकृत	हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोक के परिपूर्ण स्वरूप को एक साथ समग्रभाव से कह सके अतः पूर्ण रूप से वस्तु अनुभय है अवक्तव्य है।

१ बुद्ध के अव्याकृत [illegible]
[illegible]

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नों का समाधान नहीं करते, उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर उनसे पिंड छुड़ा लेते हैं, महावीर उन्हीं का वास्तविक और युक्तिसंगत समाधान करते हैं। इस पर भी राहुलजी यह कहने का साहस करते हैं कि 'संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर संजय के वाद को ही जैनियों ने अपना लिया।' यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि 'भारत में रही परतन्त्रता को परतन्त्रता विधायक अंग्रेजों के चले जाने पर भारतीयों ने उसे अपरतन्त्रता (स्वतन्त्रता) के रूप में अपना लिया, क्योंकि अपरतन्त्रता में भी 'परतन्त्रता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही।' या 'हिंसा को ही बुद्ध और महावीर ने उसके अनुयायियों के लुप्त होने पर 'अहिंसा' के रूप से अपना लिया है, क्योंकि अहिंसा में भी 'हिंसा' ये दो अक्षर हैं ही।' जितना परतन्त्रता का अपरतन्त्रता से और हिंसा का अहिंसा से भेद है, उतना ही संजय के अनिश्चय या अज्ञानवाद से स्याद्वाद का अन्तर है। ये तो तीन और छह की तरह परस्पर विमुख हैं। स्याद्वाद संजय के अज्ञान और अनिश्चय का ही तो उच्छेद करता है, साथ ही साथ तत्त्व में जो विपर्यय और संशय हैं उनका भी समूल नाश कर देता है। यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि—आप (पृ ४८४ में) अनिश्चिततावादियों की सूची में संजय के साथ निग्गठनाथपुत्त (महावीर) का नाम भी लिख जाते हैं तथा (पृ० ४९१ में) संजय को अनेकान्तवादी भी। क्या इसे धर्मकीर्ति के शब्दों में 'धिग् व्यापकं तमः' नहीं कह सकते?

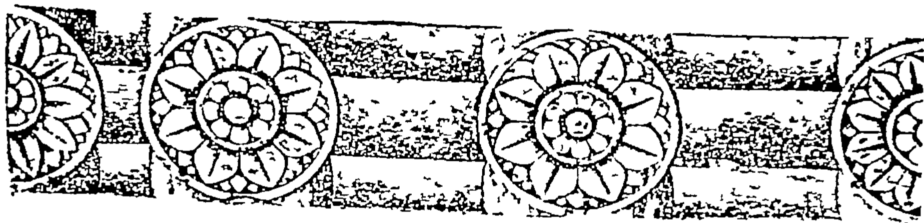
'स्यात् का' अर्थ शायद, संभव या कदाचित् नहीं।

'स्यात्' शब्द के प्रयोग से साधारणतया लोगों को संशय, अनिश्चय और संभावना का भ्रम होता है। पर यह तो भाषा की पुरानी शैली है उस प्रसंग की जहाँ एक वाद का स्थापन नहीं किया जाता। एकाधिक भेद या विकल्प की सूचना जहाँ करना होती है वहाँ 'सिया' (स्यात्) पद का प्रयोग भाषा की विशिष्ट शैली का एक रूप रहा है। जैसा कि मज्झिमनिकाय के महाराहुलोवाद सुत्त के अवतरण से विदित होता है। इसमें तेजोधातु के दोनों सुनिश्चित भेदों की सूचना 'सिया' शब्द देता है न कि उन भेदों का अनिश्चय संशय या सम्भावना व्यक्त करता है। इसी तरह 'स्यादस्ति' के साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द 'अस्ति' की स्थिति को निश्चित अपेक्षा से दृढ़ तो करता ही है साथ ही साथ अस्ति से भिन्न और भी अनेक धर्म वस्तु में हैं, पर वे इस समय गौण हैं, इस सापेक्ष स्थिति को भी बताता है।

राहुलजी ने दर्शनदिग्दर्शन में सप्तभंगी के पाँचवें, छठे और सातवें भंग को जिस अशोभन तरीके से तोड़ा मरोड़ा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और साहस है। जब वे दर्शन को व्यापक नई और वैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहते हैं तो किसी भी दर्शन की समीक्षा उसके ठीक स्वरूप को समझकर ही करनी चाहिये।

वे अवक्तव्य नामक धर्म को, जो कि 'अस्ति' आदि के साथ स्वतन्त्र भाव से द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर अ-वक्तव्य करके उसका संजय के 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और संजय के घोर अनिश्चयवाद को ही अनेकान्तवाद कह डालते हैं! किमाश्चर्यमतः परम्!!

१ "कतमा च राहुल आपो धातु? आपो धातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा॥" —मज्झिमनिकाय



श्री आत्मारामजी तथा ईसाई मिशनरी

प्रो० पृथ्वीराज जैन एम० ए०, शास्त्री

पुर्तगाल निवासी वास्को डि गामा ने आशा अन्तरीप का चक्कर लगाते हुए भारत पहुंचने का नया समुद्री मार्ग खोज निकाला और उस का जहाज २१ मई १४९८ ई० को मालाबार तट पर कालीकट के पास आकर ठहरा। वहां के राजा जमोरिन ने उस का साथियों सहित स्वागत किया और उन्हें वहां रहने तथा व्यापार करने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार युरोपियन भारत में आने लगे। वे ईसाई धर्म के मानने वाले थे। धीरे धीरे दूसरी युरोपीय जातियां भी भारत में आईं और उन्हों ने अपनी व्यापारिक कोठियों की स्थापना की। परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्हों ने अपनी राजनैतिक सत्ता भी स्थापित की और कई नगरों पर अधिकार कर लिया। पुर्तगालियों में धर्म की कट्टरता अधिक थी। वे प्रजा को जबर्दस्ती ईसाई बना लेना अपना कर्तव्य समझते थे। यद्यपि युरोपीय लोगों का १५ ई० के लगभग नए मार्ग से भारत में आगमन शुरू हो गया था और वे अपने धर्म प्रचार के काम को भी उत्साहपूर्वक करते थे, तथापि १८ ई० तक भारत में इस धर्म का प्रचार अधिक न हो सका। जनता इन पर विश्वास न रखती थी। यह नया धर्म यहां के संस्कारों के अनुकूल भी न था। अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनैतिक सत्ता १७५७ ई० की प्लासी की लड़ाई के बाद उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और दूसरी जातियां इस क्षेत्र में हट गईं। प्रारम्भ में कम्पनी सरकार धर्म के विषय में हस्तक्षेप करने से संकोच करती थी। उसे अपने व्यापारिक हितों की चिन्ता अधिक थी। कम्पनी सरकार ने कुछ ऐसे नियम भी बनाए थे जिन के अनुसार कोई कर्मचारी न तो भारतीय धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप कर सकता था और न ही बाहर से कोई धर्मप्रचारक के लिए आ सकता था।

कम्पनी की पहली व्यापारिक कोठी सूरत में सम्राट् जहांगीर की इजाजत से १६११ ई० में खुली। धीरे धीरे उन्हों ने मुगल सम्राटों को प्रसन्न कर व्यापार के लिए कई सुविधाएं प्राप्त कर लीं। किन्तु शुरू में अंग्रेज व्यापारियों का सदाचार और व्यवहार अत्यन्त गिरा हुआ था। घोखा और बेईमानी इन की व्यापारिक नीति के मुख्य सिद्धान्त थे। उन के व्यवहार को देख कर भारतवासी ईसाई धर्म को भी कुछ समझने लगे। एक लेखक ने लिखा है "भारतवासी ईसाई धर्म को बहुत गिरी हुई चीज समझा करते थे। सूरत में लोगों के मुंह से इस प्रकार के वाक्य प्रायः सुनने में आते थे कि ईसाई धर्म शैतान का धर्म है। ईसाई बहुत शराब पीते हैं। ईसाई बहुत बदमाशी करते हैं और बहुत मारपीट करते हैं। दूसरों को बहुत गालियां देते हैं। टेरी साहिब ने इस बात को स्वीकार किया है कि भारतवासी स्वयं बड़े सच्चे और ईमानदार थे और अपने तमाम वादों को पूरा करने में पक्के थे। किन्तु यदि कोई भारतीय व्यापारी अपने माल की कुछ कीमत बताता था और उस कीमत से बहुत कम दे देने के लिये उस से कहा जाता था तो वह प्रायः उत्तर देता था— क्या तुम मुझे ईसाई समझते हो, जो मैं तुम्हें धोखा देना चाहता हूं।"

१ ब्रीटिश्स ने जो इस बात के भी प्रमाण दिखलाए हैं कि ईसाई मतप्रचारक पैसा की नागरिक सम्बन्धियों से ही दक्षिण भारत में आए थे।

२ प० सुन्दरलाल भारत में अंग्रेजी राज—पृ० १ १६

संभव है इस प्रकार के अपयश और अपमान से भयभीत हो कर ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियो ने धर्म के विषय में मौन रहने की नीति हितकर समझी हो। किन्तु १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ म ही इस नीति मे परिवर्तन हो गया।

मार्किस वेल्सली भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त होने के बाद १७९८ ई० म कलकत्ते पहुचा। वह महान् ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के स्वर्ण स्वप्न ले कर भारत मे आया था। वह इंग्लैंड में ही इस विषय पर मनन व अध्ययन करता रहा था तथा प्रधान मन्त्री पिट से इस सम्बन्ध मे कई दिन तक विचारविनिमय भी होता रहा था। शुद्ध राजनैतिक उद्देश्य के अतिरिक्त उस की यह भी उत्कट अभिलाषा थी कि भारत म लोगों से ईसाई धर्म का प्रचार शुरू किया जाए। "उस ने आते ही ईसाई धर्म के अनुसार अंग्रेजी इलाके के अन्दर रविवार की छुट्टी का मनाया जाना जारी किया। उस दिन समाचार पत्रों का छपना भी कानून् बन्द कर दिया गया। कलकत्ते के फोर्ट विलियम म उस ने एक कालेज की स्थापना की। इस कालेज का एक उद्देश्य विदेशी सरकार के लिए सरकारी नौकर तय्यार करना था। वेल्सली के जीवनचरित्र का रचयिता आर आर पीयर्स साफ लिखता है कि यह कालेज भारतवासियों में ईसाई धर्म को फैलाने का भी मुख्य साधन था। इस के द्वारा भारत की सात भिन्न भिन्न भाषाओं मे इंजील का अनुवाद करा कर उस का भारतवासियों मे प्रचार कराया गया। उस की इस ईसाई धर्मनिष्ठा के लिए अंग्रेज़ इतिहास लेखक प्राय उस की प्रशसा करते हैं[1]।"

इस प्रकार अब ईस्ट इंडिया कम्पनी साम्राज्य विस्तार के साथ साथ ईसाई धर्म का प्रचार भी उत्साहपूर्वक करने लगी। १८१३ ई० के चार्टर म यह स्पष्ट कर दिया गया कि कम्पनी भारत मे धर्म और सदाचार की शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक समझती है तथा इस लोककल्याण के कार्य के लिए लोग कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों में जा सकेंगे। ईसाई धर्म की अनेक पुस्तकों का विविध भारतीय भाषाओं मे अनुवाद कराया गया। भिन्न भिन्न विषयों पर ईसाई मिशनरी सोसाइटियों ने पाठ्यपुस्तके भी तय्यार करवाईं। ईसाई धर्म के प्रचार के लिए पानी की तरह रुपया बहाया जाने लगा। जगह जगह प्रारंभिक पाठशालाए, अनाथालय, औषधालय आदि खोले गए और भारतीय समाज की सामाजिक बुराइयों से पूरा पूरा लाभ उठाया गया। धार्मिक पुस्तके मुफ्त बाटी गईं। भारत के धर्मों पर अनेक आक्षेप कर उन्हें हेय बताया गया। फलस्वरूप बहुत से भारतीय ईसाई बन गए। १८५७ ई० मे भारत में जो प्रथम सशस्त्र स्वतन्त्रता युद्ध प्रारंभ हुआ, उस का एक मुख्य कारण भारतवासियों को ईसाई बनाने की आकांक्षा और भारतीय सैनिकों म इसाई मत का प्रचार था। इस अशान्ति से पहले कई अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ समझते थे कि भारतीयों के ईसाई हो जाने मे ही अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थिरता का आधार है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अध्यक्ष मिस्टर मैङ्गल्स ने विप्लव से कुछ समय पहले १८५७ ई० मे ही पार्लियामेंट में कहा था, "परमात्मा ने भारत का विशाल साम्राज्य इङ्गलिस्तान को इसलिए सौंपा है ताकि हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह का विजयी झंडा फहराने लगे। हम मे से हरेक को पूरी शक्ति इस काम मे लगा देनी चाहिये ताकि समस्त भारत को ईसाई बनाने के महान् कार्य मे देश भर के अन्दर कहीं पर भी किसी कारण ज़रा भी ढील न होने पाये[2]।"

प्राय उसी समय एक अन्य अंग्रेज़ विद्वान् कैनेडी ने लिखा था, "हम पर कुछ भी आपत्तिया क्यों

---

१ प सुदरलाल भारत में अंग्रेजी राज—पृष्ठ ४३७

२ प सुदरलाल भारत में अंग्रेजी राज—पृष्ठ १२७०

श्री आत्मारामजी तथा ईसाई मिशनरी

डा. पृथ्वीराज जैन एम्. ए., शास्त्री

पुर्तगाल निवासी वास्को डि गामा ने अफ्रीका अन्तरीप का चक्कर लगाते हुए भारत पहुंचने का नया समुद्री मार्ग खोज निकाला और उस का जहाज ११ मई १४९८ ई. को मालाबार तट पर कालीकट के पास आकर रुका। वहां के राजा जमोरिन ने उन का नाविकों सहित स्वागत किया और उन्हें वहां रहने तथा व्यापार करने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार युरोपियन भारत में आने लगे। वे ईसाई धर्म के मानने वाले थे। धीरे धीरे दूसरी युरोपीय जातियां भी भारत में आईं और उन्हों ने अपनी व्यापारिक कोठियों की स्थापना की। परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्हों ने अपनी राजनैतिक सत्ता भी स्थापित की और कई नगरों पर अधिकार कर लिया। पुर्तगालियों में धर्म की कट्टरता अधिक थी। वे भारत को ईसाई बना लेना अपना कर्तव्य समझते थे। यद्यपि युरोपीय लोगों का १५ ई. के लगभग नए मार्ग से भारत में आगमन शुरु हो गया था और वे अपने धर्म प्रचार के काम को भी उत्साहपूर्वक करते थे, तथापि १८ ई. तक भारत में इस धर्म का प्रचार अधिक न हो सका। अंग्रेज इस पर विशेष ध्यान न रखते थे। यह नया धर्म यहां के वातावरण के अनुकूल भी न था। अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी की राजनैतिक सत्ता १७५७ ई. की प्लासी की लड़ाई के बाद उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और दूसरी जातियां इस देश में हार गईं। प्रारम्भ में कम्पनी सरकार धर्म के विषय में हस्तक्षेप करने से संकोच करती थी। उसे अपने व्यापारिक हितों की चिन्ता अधिक थी। कम्पनी सरकार ने कुछ ऐसे नियम भी बनाए थे जिन के अनुसार कोई कर्मचारी न तो भारतीय धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप कर सकता था और न ही बाहर से कोई धर्मप्रचार के लिए आ सकता था।

अंग्रेजों की पहली व्यापारिक कोठी सूरत में सम्राट जहांगीर की इजाजत से १६११ ई. में खुली। धीरे धीरे उन्हों ने मुगल सम्राटों को प्रसन्न कर व्यापार के लिए कई सुविधायें प्राप्त कर लीं। किन्तु इस में अंग्रेज व्यापारियों का दुराचार और व्यवहार अत्यन्त गिरा हुआ था। धोखा और बेईमानी इन की व्यापारिक नीति के मुख्य सिद्धान्त थे। उन के व्यवहार को देख कर भारतवासी ईसाई धर्म को भी बुरा समझने लगे। एक लेखक ने लिखा है भारतवासी ईसाई धर्म को बहुत गिरी हुई चीज ख्याल करते थे। सूरत में लोगों के मुख से इस प्रकार के अपमान जनक शब्द सुनने में आते थे कि ईसाई धर्म शैतान का धर्म है। ईसाई बहुत शराब पीते हैं। ईसाई बहुत बदमाशी करते हैं और बहुत मारपीट करते हैं। दूसरों को बहुत गालियां देते हैं। टेरी साहिब ने इस बात को स्वीकार किया है कि भारतवासी स्वयं बड़े सच्चे और ईमानदार थे और अपने तमाम कामों को पूरा करने में पक्के थे। किन्तु यदि कोई भारतीय व्यापारी अपने माल की कुछ कीमत बताता था और उस कीमत से बहुत कम दे लेने के लिये उस से कहा जाता था तो वह प्रायः उत्तर देता था— क्या तुम मुझे ईसाई समझते हो, जो मैं तुम्हें धोखा देता फिरूंगा!

---

१. इतिहास में तो इस बात के भी प्रमाण विद्यमान हैं कि ईसाई प्रचारक ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही दक्षिण भारत में आए थे।

२. ए. युसुफअली — भारत में अंग्रेजी राज—पृष्ठ १ १६.

उपदेशक ने उत्तर दिया, 'जब तुम मरोगे, तब तुम्हें दंड मिलेगा।' तब उस आदमी ने प्रत्युत्तर दिया, 'ऐसे ही जब तुम मरोगे तब तुम्हें भी मेरे देवता दंड देंगे'[१]।

उपर्युक्त वर्णन उस पृष्ठ भूमि का है जिसे सन्मुख रखते हुए हमारे १६ वीं शताब्दी के सुधारकों को कार्य करना था। भारत का सौभाग्य है कि उसे ऐसे नररत्न प्राप्त हुए जिन्हों ने भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा कर हमारी राष्ट्रीय भावना को पुष्ट किया। श्री आत्माराम जी ईसाई मिशनरियों की युक्तियों, प्रचार के ढंगों और उनके उद्देश्यों से सुपरिचित थे। वे इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे कि "कितने ही ईसाई जन प्रमाण और युक्ति के ज्ञान के अभाव में और अपने पथ के चलाने वाले ईसा मसीह के अनुराग से अपने ही स्वीकृत धर्म को सत्य मानते हैं और कितने ही आर्यावर्त के रहने वाला को जिन की बुद्धि सत्य धर्म में पूरी निपुण नहीं है, अपने मत का उपदेश करते हैं।[२]" श्री आत्माराम जी ने उन कारणों का विश्लेषण किया था जिन के आधार पर भारतीय युवक धड़ाधड़ ईसाई बन रहे थे। उन्हों ने लिखा है, "निर्धन धन के लोभ से, कवारे व रंडे विवाह के लोभ से, कुछ खानपान संबंधी स्वतन्त्रता के लोभ से, कुछ हिन्दुओं के देवों व उन की मूर्तियों की अटपटी रीति भांति देखने से ईसाइ होते जाते हैं।"[३] एक और स्थान पर वे इसी विषय की चर्चा करते हुए लिखते हैं, "युरोपियन लोकों ने हिन्दुस्थान में ईसाई मत का उपदेश करना शुरु किया है। उपदेश से, धन से, स्त्री देने से, लोगों को अपने मत में बेपटिज्म देके मिलाते है।"[४]

भारतीय युवकों को ईसाई होने से बचाने के लिए हमारे तत्कालीन सुधारकों ने बड़े साहस व कौशल से काम किया। श्री आत्माराम जी भी स्वय इस कार्यक्षेत्र में काम करते रहे। गुजराती भाषा में एक पादरी ने एक पुस्तक लिखी थी जिस के द्वारा जैन धर्म के विषय में भ्रांतिया फैलाई गई थीं। आप ने उस के उत्तर में एक खोजपूर्ण पुस्तक लिखी जिस का नाम था 'ईसाई मत समीक्षा'। आप ने ब्रह्मसमाज और आर्य समाज द्वारा इस विषय में किए गए कार्य को भी स्वीकार किया है। आप ने लिखा है, "ईसा के मत में बहुत अंग्रेज़ी फारसी के पढ़ने वाले लोक हैं। वे कदाग्रह से लोकों से मत की बाबत झगड़ते फिरते हैं। परन्तु ब्रह्मसमाजियों ने और दयानन्द जी ने कितनेक हिन्दुओं को ईसाई होने से रोका है[५]।"

श्री आत्माराम जी अंग्रेज़ी पढेलिखे युवकों से प्राय कहा करते थे, "होश में आओ। तुम कौन हो और किधर जा रहे हो? तुम्हारे पूर्वजों का चरित्र तुम्हारे लिए प्रकाशमान दीपक के समान है। उन के महान् कार्यों को पढो। तब तुम्हें ज्ञात होगा कि पूर्व ने पश्चिम को अपने प्रकाश से किस प्रकार लाभ पहुचाया है। तुम्हें पूर्व की ओर देखना चाहिए जहा से सूर्य देवता अपना प्रकाश डालता है, न कि पश्चिम की ओर जिधर वह अस्त होता है। ईसाई मिशनरियों की चिकनीचुपड़ी बातों में मत आओ। वे तुम्हारे धर्म को अपमानित कर रहे हैं और तुम्हारी सभ्यता का परिहास कर रहे हैं। उन के मिथ्या प्रचार से बचने के लिए धर्म उपदेश सुनो और अपनी धार्मिक पुस्तकों को ध्यानपूर्वक पढ़ो।[६]"

---

१ The World's Parliament of Religions, vol ii, p 975

२ ईसाई मत समीक्षा—पृ. २

३ ईसाई मत समीक्षा—पृ २ ३

४ अज्ञानतिमिर भास्कर—पृ २६७

५ अज्ञानतिमिर भास्कर—पृ २६८

६ ला० बाबूराम आत्मचरित्र (उर्दू) पृ ११२

न जाय, जब तक भारत में हमारा साम्राज्य कायम है तब तक हम यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारा मुख्य कार्य उस देश में ईसाई मत को फैलाना है। जब तक कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक सारा हिन्दुस्तान ईसा के मत को ग्रहण न कर ले और हिन्दू व इस्लाम धर्मों की निन्दा न करने लगे तब तक हमें पूरे बल, अधिकार व शक्ति से लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिये ।"[1]

सन् १८०६ ई. में वेल्लोर में सैनिकों का जो विद्रोह हुआ था, उस का कारण भी भारत के तत्कालीन गवर्नर विलियम बैंटिंक का सेना में ईसाई मत के प्रचार का प्रयत्न था। उस ने पूर्वोक्त नामक एक मार्शमैन पादरी को आठ हजार रुपए नकद दे कर भारतवासियों के धार्मिक और सामाजिक जीवन पर एक पुस्तक लिखवाई जिस में अनेक झूठी बातों का संग्रह था। सरकारी खर्च पर इंग्लैंड में इस पुस्तक का खूब प्रचार कराया गया। जब यह पादरी भारत वापिस गया, तो ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उसे एक विशेष आजीवन पेंशन दी। ईसाई प्रचारकों को सब सुविधाएं दी जाती थीं। सरकारी कर्मचारी उन का काम सुगम कर देते थे। सैनिकों को यह आज्ञा दी गई कि वे वर्दी पहने हुए अपने माथे पर तिलक आदि धार्मिक चिह्न न लगाएं, दाढ़ियां मुंडा दें और सब एक तरह की बनी हुई मूंछें रखें। बैंटिंक १८३१ ई. में गवर्नर जनरल बना। उस समय यह कानून बना कि जो भारतवासी ईसाई हो जायेंगे, उन का पैतृक सम्पत्ति पर पूर्ववत् अधिकार बना रहेगा। लार्ड बैंटिंक ने लाखों रुपए ईसाई मत प्रचारकों में बांटे थे। सरकारी खजाने से मिशनों को बड़े बड़े वेतन मिलते और उच्च अधिकारी यथासम्भव कर्मचारियों पर ईसाई होने के लिए अनुचित दबाव डालते। पंजाब पर अधिकार हो जाने के बाद यह कोशिश की गई कि पंजाब में शिक्षा का सारा काम ईसाई पादरियों को सौंप दिया जाए। सेना में ईसाई धर्मप्रचार विशेष उत्साह से किया जाता था। धर्म परिवर्तन करने वाले सैनिकों को तत्काल उन्नत पद दे दिया जाता था।

१८५७ ई. के भारतीय महासमर के बाद अंग्रेज कूटनीतिज्ञ इस बात का विशेष अनुभव करने लगे कि भारतवासियों के हृदय से राष्ट्रीयता के रोड़े मूल से समाप्त कर दिए जाएं ताकि अंग्रेजी साम्राज्य की नींव सुदृढ़ रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो उपाय सोचे गए—भारत में ईसाई मत का प्रचार और अंग्रेजी शिक्षा दीक्षा। यद्यपि महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में यह वचन दिया था कि अंग्रेजी सरकार धर्म के विषय में पक्षपात या हस्तक्षेप न करेगी, तथापि एक वर्ष के बाद ही इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री ने पादरियों के एक शिष्टमंडल से कहा "समस्त भारत में पूरब से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक ईसाई मत के फैलाने में जहां तक हो सके मदद देना न केवल हमारा कर्तव्य है अपितु इसी में हमारा लाभ है ।"[2]

ईसाई पादरी भारत के भोलेभाले अनपढ़ लोगों में किस चालाकी से अपने धर्म का प्रचार किया करते थे, इसका कुछ वर्णन स्वामी विवेकानन्द जी ने सर्वधर्म परिषद् शिकागो के अपने भाषण में किया था। उन्होंने कहा "मैं जब बालक था तब मुझे याद है कि भारतवर्ष में एक ईसाई किसी भीड़ में अपने धर्म का उपदेश कर रहा था। दूसरी मीठी बातों के साथ उस ने अपने श्रोताओं से पूछा यदि मैं तुम्हारे देवता की मूर्ति को लाठी मारूं तो वह मेरा क्या बिगाड़ सकता है। इस पर एक श्रोता ने झट उस से प्रश्न किया, यदि मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दूं तो वह मेरा क्या कर सकता है। ईसाई

---

१. पं. सुन्दरलाल : भारत में अंग्रेजी राज—पृ० ११ १

२. Encyclopaedia Britannica vol. viii, page 624 th edition.

३. पं. सुन्दरलाल : भारत में अंग्रेजी राज—पृ० ११६

उपदेशक ने उत्तर दिया, 'जब तुम मरोगे, तब तुम्हें दंड मिलेगा।' तब उस आदमी ने प्रत्युत्तर दिया, 'ऐसे ही जब तुम मरोगे तब तुम्हें भी मेरे देवता दंड देंगे'[१]।

उपर्युक्त वर्णन उस पृष्ठ भूमि का है जिसे सन्मुख रखते हुए हमारे १९ वीं शताब्दी के सुधारकों को कार्य करना था। भारत का सौभाग्य है कि उसे ऐसे नररत्न प्राप्त हुए जिन्हों ने भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा कर हमारी राष्ट्रीय भावना को पुष्ट किया। श्री आत्माराम जी ईसाई मिशनरियों की युक्तियों, प्रचार के ढंगों और उनके उद्देश्यों से सुपरिचित थे। वे इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे कि "कितने ही ईसाई उन प्रमाण और युक्ति के ज्ञान के अभाव में और अपने पथ के चलाने वाले ईसा मसीह के अनुराग से अपने ही स्वीकृत धर्म को सत्य मानते हैं और कितने ही आर्यावर्त के रहने वालों को जिन की बुद्धि सत्य धर्म में पूरी निपुण नहीं है, अपने मत का उपदेश करते हैं।[२]" श्री आत्माराम जी ने उन कारणों का विश्लेषण किया था जिन के आधार पर भारतीय युवक धड़ाधड़ ईसाई बन रहे थे। उन्हों ने लिखा है, "निर्धन धन के लोभ से, कवारे व रंडे विवाह के लोभ से, कुछ खानपान सबंधी स्वतन्त्रता के लोभ से, कुछ हिन्दुओं के देवों व उन की मूर्तियों की अटपटी रीति भांति देखने से ईसाई होते जाते हैं।"[३] एक और स्थान पर वे इसी विषय की चर्चा करते हुए लिखते हैं, "युरोपियन लोकों ने हिन्दुस्थान में ईसाई मत का उपदेश करना शुरु किया हैं। उपदेश से, धन से, स्त्री देने से, लोगों को अपने मत में बेपटिज्म देके मिलाते है।"[४]

भारतीय युवकों को ईसाई होने से बचाने के लिए हमारे तत्कालीन सुधारकों ने बड़े साहस व कौशल से काम किया। श्री आत्माराम जी भी स्वयं इस कार्यक्षेत्र में काम करते रहे। गुजराती भाषा में एक पादरी ने एक पुस्तक लिखी थी जिस के द्वारा जैन धर्म के विषय में भ्रांतियां फैलाई गई थीं। आप ने उस के उत्तर में एक खोजपूर्ण पुस्तक लिखी जिस का नाम था 'ईसाई मत समीक्षा'। आप ने ब्रह्मसमाज और आर्य समाज द्वारा इस विषय में किए गए कार्य को भी स्वीकार किया है। आप ने लिखा है, "ईसा के मत में बहुत अंग्रेज़ी फारसी के पढ़ने वाले लोक हैं। वे कदाग्रह से लोकों से मत की बाबत झगड़ते फिरते हैं। परन्तु ब्रह्मसमाजियों ने और दयानन्द जी ने कितनेक हिन्दुओं को ईसाई होने से रोका है[५]।"

श्री आत्माराम जी अंग्रेज़ी पढ़ेलिखे युवकों से प्रायः कहा करते थे, "होश में आओ। तुम कौन हो और किधर जा रहे हो? तुम्हारे पूर्वजों का चरित्र तुम्हारे लिए प्रकाशमान दीपक के समान है। उन के महान् कार्यों को पढ़ो। तब तुम्हें ज्ञात होगा कि पूर्व ने पश्चिम को अपने प्रकाश से किस प्रकार लाभ पहुंचाया है। तुम्हें पूर्व की ओर देखना चाहिए जहां से सूर्य देवता अपना प्रकाश डालता है, न कि पश्चिम की ओर जिधर वह अस्त होता है। ईसाई मिशनरियों की चिकनीचुपड़ी बातों में मत आओ। वे तुम्हारे धर्म को अपमानित कर रहे हैं और तुम्हारी सभ्यता का परिहास कर रहे हैं। उन के मिथ्या प्रचार से बचने के लिए धर्म उपदेश सुनो और अपनी धार्मिक पुस्तकों को ध्यानपूर्वक पढ़ो।[६]"

---

१ The World's Parliament of Religions, vol ii, p 975

२ ईसाई मत समीक्षा—पृ २

३ ईसाई मत समीक्षा—पृ २ ३

४ अज्ञानतिमिर भास्कर—पृ २६७

५ अज्ञानतिमिर भास्कर—पृ २६८

६ ला० बाबूराम आत्मचरित्र (उर्दू) पृ ११२

अहमदाबाद के एक सेठ दलपत भाई की एक धनिक वैष्णव से मित्रता थी। उन का बड़ा लड़का ग्रैजुएट था और पाश्चात्य सभ्यता के कुसंस्कारों से प्रभावित हो कर पादरियों की चाल में आ गया था। कुसंगति ने उस में शराब व मांस की बुरी आदत भी डाल दी थी। उसे आचार से पतित देख कर माता पिता बहुत व्यथित हुए। उन्हों ने सेठ दलपत भाई को अपनी व्यथा सुनाई। सेठजी ने श्री आत्माराम जी के विषय में उन्हें बताया और कहा कि किसी प्रकार लड़के को इन के पास ले जाओ। वे अपने पुत्र को आप के पास ले आए। कुछ मिनटों के उपदेश ने ही ऐसा चमत्कारी प्रभाव डाला कि वह लड़का कुसंगति से हमेशा के लिए बच गया।

वि. सं. १९४२ के चातुर्मास के बाद अहमदाबाद से सेठ दलपतभाई का श्री आत्मारामजी के नाम एक पत्र आया था। उस पत्र में सेठ जी ने लिखा था कि कुछ कुलीन और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवक पादरियों के बहकाने से ईसाई होने वाले हैं। आप शीघ्र अहमदाबाद पधारने की कृपा करें। पत्र मिलते ही आप [illegible] से विहार कर अहमदाबाद पहुंचे और ईसाई मिशनरियों की चालों पर एक जन सभा में व्याख्यान दिया। आप ने उस व्याख्यान में यह सिद्ध किया कि ईसाई मत में जितनी खूबियाँ हैं वे सब जैन धर्म से ली गई हैं। आप ने बाइबल के कई उद्धरण जनता के सामने रखे जिन का जन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। आप ने उन्हें बताया कि पादरी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण भारतीय धार्मिक साहित्य को समझने में असमर्थ हैं और कपोलकल्पना कर हंसी उड़ाते हैं। बाइबल में कई ऐसी कल्पनाओं का उल्लेख है जो सम्भव नहीं। जो लोग शीशे के मकानों में रहते हैं उन्हें दूसरों पर पत्थर नहीं फेंकने चाहिएँ। समझदार लोगों को ईसाई बनने से पहले अपने साहित्य और इतिहास की उन के साहित्य व इतिहास से तुलना अवश्य करनी चाहिए, तब उन्हें सचाई का ज्ञान होगा। आप के इन परामर्शों का बहुत प्रभाव पड़ा और कई नवयुवक ईसाई होने से बच गए।

इस प्रकार श्री आत्माराम जी ने इस बात का अनथक परिश्रम किया कि भारतीय युवक विवेक खोकर ईसाई मिशनरियों के झूठे जाल में न फंसें। यदि उन्हें अध्ययन द्वारा ईसाई धर्म अच्छा प्रतीत होता है तो उन का कर्तव्य है कि वे पहले अपने धर्मशास्त्रों का निष्पक्षपूर्वक अध्ययन अवश्य कर लें ताकि ठीक ठीक तुलना हो सके और वे सचाई के ज्ञान से अनभिज्ञ न रहें। श्री आत्माराम जी ने तत्कालीन धर्म सुधारकों के समान भारतीय धर्म, दर्शन तथा इतिहास पर पश्चिम से होने वाले आक्रमणों का डट कर सामना किया और सच्ची भारतीय संस्कृति व प्रकृति का चित्र विश्व के सामने रखा।

यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि ईसाई मिशनरियों ने स्वातंत्र्य के पश्चात भी भारतीय लोगों को ईसाई बनाने का काम फिर भी जारी रखा। महात्मा गांधी भी इन के कामों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। उन्हों ने एक बार लिखा था— विदेशी मिशनरियों के विषय में मेरे विचार किसी से छिपे नहीं हैं। मैंने कई बार मिशनरियों के सामने अपने विचार प्रकट किए हैं। यदि विदेशी मिशनरी शिक्षा और चिकित्सासम्बन्धी सहायता जैसे मानवीय सहानुभूति के कामों तक अपनी प्रवृत्ति को सीमित करने के स्थान पर उन्हें दूसरों का धर्म बदलने के लिए काम में लाएंगे तो मैं दृढ़तापूर्वक उन्हें कहूँगा कि वे चले जाएँ। हरेक जाति अपने धर्म को दूसरे धर्म के समान अच्छा समझती है। भारत की जनता के धर्म निश्चयपूर्वक उन के लिये पर्याप्त हैं। भारत को एक धर्म की अपेक्षा दूसरे धर्म की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं।" इसी लेख में उन्हों ने आगे यह भी लिखा था, "धर्म एक व्यक्तिगत निजी

१ आत्मचरित (उर्दू) पृ १११

२ Young India, April 3, 91

है। उस का सम्बन्ध हृदय से है। क्योंकि एक डाक्टर ने जो अपने आप को ईसाई कहता है, मेरे किसी रोग की चिकित्सा कर दी तो उस का अर्थ यह क्यों हो कि डाक्टर मुझे अपने प्रभाव के अधीन देख कर मुझ से धर्म परिवर्तन की आशा रखे? क्या रोगी का स्वस्थ हो जाना और उस के परिणाम से सन्तुष्ट होना ही काफी नहीं? फिर यदि मैं ईसाइयों के किसी स्कूल में पढ़ता हू तो मुझपर ईसाइयत की शिक्षा क्यों ठोसी जाए? मैं धर्म परिवर्तन के विरुद्ध नहीं। किन्तु उस के वर्तमान ढग के विरुद्ध हू। आजतक धर्मपरिवर्तन एक धन्धा बना रहा है। मुझे याद है कि मैंने एक मिशनरी की रिपोर्ट पढ़ी थी। उस में उस ने बताया था कि एक व्यक्ति का धर्म बदलने पर कितने रुपए का खर्च होता है। यह रिपोर्ट पेश करने के बाद उस ने 'भावी फसल' के लिए बजट पेश किया था।"

खेद की बात तो यह है कि भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी इस सम्बन्ध में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। २२ और २३ एप्रिल १९५३ ई० को केन्द्रीय लोक सभा में जो बहस हुई और भारत के गृहमन्त्री ने जो विज्ञप्ति दी, उस से यह सुस्पष्ट है कि ईसाई मिशनरी अब भी पुरानी चालों से काम ले कर लोगों को बहका रहे हैं। इस बहस से कुछ दिन पहले हमारे प्रधानमन्त्री प० नेहरू ने आसाम की आदिम जातियों के प्रदेश मे भ्रमण किया था। उन्हें पता चला कि विदेशी ईसाई मिशनरी समाज सेवा की आड़ ले कर सरकार के विरुद्ध विषैला राजनैतिक प्रचार कर रहे हैं। उन्हों ने इसकी निन्दा की। उस के बाद तत्कालीन गृहमन्त्री डॉक्टर कैलाशनाथ कटजू ने कठोर शब्दों में उन्हीं प्रवृत्तियों का वर्णन किया। यही दशा उड़ीसा, मध्यप्रदेश और बिहार के कुछ प्रदेशों में है। विदेशी ईसाई मिशनरी उन स्थानों में स्कूल और औषधालय खोलने का नाम ले कर जाते हैं। लेकिन इस परदे के पीछे वे दूसरे धर्मों पर कीचड़ उछालते हैं। और वहा के निवासियों का धर्म परिवर्तित करने की कोशिश करते हैं। इसके अतिरिक्त राजनैतिक दृष्टि से नयी दलबन्दी का प्रयत्न भी करते रहते हैं। केन्द्रीय सरकार का ध्यान इस ओर गया है और आशा है कि राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द तथा श्री आत्मारामजी द्वारा प्रारभ किए गए कार्य का शीघ्र ही मधुर परिणाम होगा तथा समाज सेवा के कामों को अपने धर्मप्रचार की सीढ़ी न बनाया जाएगा।

(लेखक के श्री आत्मारामजी के एक खोजपूर्ण अप्रकाशित जीवनचरित्र से)



अहमदाबाद के एक सेठ दलपत भाई की एक धनिक वैष्णव से मित्रता थी। उस का बड़ा लड़का मैट्रिक था और पश्चिमीय सभ्यता के कुसंस्कार से प्रभावित हो कर पादरियों की चाल में आ गया था। कुसंगति ने उस में मदिरा व मांस की बुरी आदत भी डाल दी थी। उसे ईसाई होते देख कर माता पिता बहुत व्यथित हुए। उन्हों ने सेठ दलपत भाई को अपनी व्यथा सुनाई। सेठजी ने श्री आत्मारामजी के विषय में उन्हें बताया और कहा कि किसी प्रकार लड़के को इन के पास ले जाओ। वे अपने पुत्र को आप के पास ले आए। कुछ मिनटों के उपदेश ने ही ऐसा चमत्कारी प्रभाव डाला कि वह लड़का कुसंगति से हमेशा के लिए बच गया।

वि स १९४२ के सूरत के चातुर्मास के बाद अहमदाबाद से सेठ दलपतभाई का श्री आत्मारामजी के नाम एक पत्र आया था। उस पत्र में सेठ जी ने लिखा था कि कुछ कुलीन और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवक पादरियों के बहकाने से ईसाई होने वाले हैं। आप शीघ्र अहमदाबाद पधारने की कृपा करें। पत्र मिलते ही आप सूरत से विहार कर अहमदाबाद पहुंचे और ईसाई मिशनरियों की चालों पर एक सार्वजनिक सभा में व्याख्यान दिया। आप ने उस व्याख्यान में यह सिद्ध किया कि ईसाई मत में जितनी खूबियां हैं, वे सब जैन धर्म से ली गई हैं। आप ने बाइबल के कई उद्धरण जनता के सामने रखे जिन का सब पर बड़ा प्रभाव पड़ा। आप ने उन्हें बताया कि अपनी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण भारतीय धार्मिक साहित्य को समझने में असमर्थ हैं और उपेक्षावृत्ति धारण कर रहे हैं। बाइबल में कई ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो सम्भव नहीं। जो लोग शीशे के मकानों में रहते हैं उन्हें दूसरों पर पत्थर नहीं फैंकने चाहिऐं। समझदार लोगों को ईसाई बनने से पहले अपने साहित्य और इतिहास की उन के साहित्य व इतिहास से तुलना अवश्य करनी चाहिए, तब उन्हें सच्चाई का ज्ञान होगा। आप के इस परामर्श का बहुत प्रभाव पड़ा और कई नवयुवक ईसाई होने से बच गए।

इस प्रकार श्री आत्मारामजी ने इस बात का अनथक परिश्रम किया कि भारतीय युवक विवेक खोकर ईसाई मिशनरियों के भूठे जाल में न फंसें। यदि उन्हें अध्ययन द्वारा ईसाई धर्म अच्छा प्रतीत होता है तो उन का कर्तव्य है कि वे पहले अपने धर्मशास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन अवश्य कर लें ताकि ठीक ठीक तुलना हो सके और वे सच्चाई के ज्ञान से अनभिज्ञ न रहें। श्री आत्मारामजी ने तत्कालीन अन्य सुधारकों के समान भारतीय धर्म, दर्शन तथा इतिहास पर पश्चिम से होने वाले आक्रमणों का डट कर सामना किया और सच्ची भारतीय सभ्यता व संस्कृति का चित्र विश्व के सामने रखा।

यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि ईसाई मिशनरियों ने स्वतन्त्रता के पहले भारतीय लोगों को ईसाई बनाने का काम फिर भी जारी रखा। महात्मा गांधी भी इस के कामों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। उन्हों ने एक बार लिखा था—"विदेशी मिशनरियों के विषय में मेरे विचार किसी से छिपे नहीं हैं। मैंने कई बार मिशनरियों के सामने अपने विचार प्रकट किए हैं। यदि विदेशी मिशनरी शिक्षा और चिकित्सासम्बन्धी सहायता जैसे मानवीय सहानुभूति के कामों तक अपनी प्रवृत्ति को सीमित करने के स्थान पर उन्हें दूसरों का धर्म छुड़ाने के लिए काम में लाएंगे तो मैं दृढ़तापूर्वक उन्हें कहूंगा कि वे चले जाएं। हरेक व्यक्ति अपने धर्म को दूसरे धर्म के समान अच्छा समझता है। भारत की जनता के धर्म निश्चयपूर्वक उन के लिये पर्याप्त हैं। भारत को एक धर्म की अपेक्षा दूसरे धर्म की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं।" इसी लेख में उन्हों ने आगे जा कर लिखा था, "धर्म एक व्यक्तिगत विषय

१ कल्याणवीर (गु०) पृ १११
२ Young India, April 23, 19

विचार और वाणी की तरह शरीर से भी कोई ऐसी बात नहीं होने देता कि जिससे किसी का अकल्याण या अहित हो। उसकी प्रत्येक क्रिया अत्यंत सावधानीपूर्वक होती है। उसके द्वारा जो भी काम होते हैं उनसे दूसरों का अनिष्ट तो होता ही नहीं, भलाई ही सकती है।

इस तरह वह अपने आपको सत्प्रवृत्ति में लगाता है, पर उसकी किसी भी शुभ क्रिया में आसक्ति नहीं होती। सहज शुभ प्रवृत्ति रहती है। इन शुभ प्रवृत्तियों को जैन धर्म में 'दश धर्म' कहा जाता है।

क्षमादि दश धर्म

जिनके साथ अच्छे संबंध हों, उनके साथ अच्छा बर्ताव करने में खास अड़चन नहीं आती। पर जब कोई कष्ट दे, अपमान करे, या क्रोध के कारण उपस्थित करे तब भी अपनी वृत्तियों को उत्तेजित न होने दे और आत्मभाव रखे, यह क्षमा है। कोई चाहे जितने चिढ़ाने के कारण पैदा करे तो भी अपने को उत्तेजित न होने दे, यह उत्तम क्षमा है। अपने पर हमने कितना काबू पाया है, इसकी कसौटी क्षमा ही है।

क्षमा धर्म के पालन में अहंकार बाधक बनता है। संसार के झगड़ों में अधिकांश अहंकार के कारण पैदा होते हैं। अपनी बात के लिए हजारों नहीं पर लाखों के प्राण गए और बड़े बड़े युद्ध हुए। इसलिए साधक बाहरी और भीतरी अहंकार को त्याग कर नम्रता धारण करे, मृदुता का व्यवहार करे। मनुष्य अहंकार करे भी तो किस बात का? देह संसार की शक्ति के सामने अत्यंत तुच्छ है। शक्ति, बुद्धि, विद्या, धन सभी इतने अल्प और क्षणिक हैं कि कोई भी विवेकी पुरुष उनका अहंकार कर नहीं सकता। यही कारण है कि सच्चे ज्ञानी सदा नम्र होते हैं।

किंतु सरलता के अभाव में नम्रता दंभ भी बन सकती है। इसलिए मन, वचन और काया के सभी व्यवहारों में एकता लाने के लिए आर्जव या सरलता आवश्यक है। जैसे विचार हों वैसे कहे और करे, यही साधना में उपयोगी है।

कोई अपने को चाहे जितनी सत्प्रवृत्ति में लगावे पर जबतक सत्प्रवृत्ति में भी आसक्ति रहेगी तबतक साधक विकास नहीं कर सकता। सत्प्रवृत्तियां भी अनासक्ति के अभाव में बोझरूप या बंधन का कारण बन जाती हैं। इसलिए ज्ञानियों ने कहा है अच्छे काम करो और उन्हें भूल जाओ। साधक अनासक्त, फलाशा-रहित और निर्लेप वृत्तिवाला बने, इसेही शौच कहा गया है।

साधना में तबतक प्रगति नहीं हो सकती जबतक साधना का हेतु स्पष्ट नहीं। साधना के पीछे दृष्टि तो सत्य की खोज है। सत्य बोलने से भी वह अधिक व्यापक है। सत्य में सच बोलना तो विदित है ही पर बोलने में भी वह सत्य, हितकर और इष्ट हो। जब कभी एक का सत्य दूसरे से भिन्न प्रतीत होता हो तो सोचना चाहिए कि वह भेद क्यों है। दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न करना चाहिए। समग्र दृष्टिकोण से यदि विचार न किया जाय तो हमारे समझे हुए सत्य के अपूर्ण रहने की संभावना रहती है, इसलिए सत्य का खोजी प्रयत्नशील और उदार होगा। उसमें धीरज होगी। वह शीघ्रता में न तो निर्णय करेगा और न अपना निर्णय दूसरे पर लादने का प्रयत्न ही करेगा। सत्य दूसरों की आजादी में दखल नहीं देता। भिन्न भिन्न विचारधाराओं के बावजूद भी दूसरों के प्रति आत्मीयता और प्रेमभाव रह सकता है। साधक अपने विचारों के प्रति दृढ़ता रखकर भी दूसरों के प्रति उदारता रख सकता है।

पर इस तरह के सत्य का पालन बिना संयम के असंभव है। इसीलिए साधक के लिए संयम आवश्यक माना गया है। अपने किसी भी प्रकार के आचरण से दूसरों को कष्ट न पहुंचे। इंद्रियों और मन के अधीन-

जैन दृष्टि से साधना मार्ग

श्री ऋषभदासजी

आत्मा पर आवरण के कारण शरीर के प्रति आसक्ति आ जाती है और मनुष्य शारीरिक सुखों के लिए प्रयत्न करने लगता है। शारीरिक सुखों के लिए दूसरों को कष्ट पहुंचाता है। वह भूल जाता है कि सभी जीव समान हैं और दुःख किसीको भी प्रिय नहीं है। आत्मा में अनन्त गुण भरे हुए हैं, पर वह आवरणों के कारण सुप्त रहता है। इसलिए कर्मों के आवरण दूर करना साधना का उद्देश है।

हमारी स्वार्थ—प्रेम ही दुःख का कारण है। दूसरे को दुःख देकर चैन नहीं लेता। उससे दुःख ही मिलता है। पर जब आत्मा के आवरण दूर हो जाते हैं तब आत्मा शुद्ध पवित्र और निर्मल बनती है। आत्मचेतना प्रकट होनेपर शारीरिक सुखदुःख का असर नहीं होता।

कर्मों के मुख्य आवरण हट जाने पर भी शरीर को शेष आयु भोगनी पड़ती है। जबतक शरीर रहता है नाम से पुकारा जाता है और वेदना भी होती है। लेकिन इन आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों का आवरण हट जाने से उनका असर नहीं होता। इसी कारण से फिर से बंध नहीं हो सकता। मानव जीवन का ध्येय है उसके प्रति समभाव रखकर उसके मेल का प्रयत्न करना केवल कल्पना ही नहीं उसका उदय करने में लग जाना। यह पूर्ण विकास है और इससे एक व्यक्ति सिद्ध हो जाता है। वह व्यक्ति समष्टि में लीन हो जाता है। वह जो कर्म करता है उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती। वह सदा सचेत रहता है इसलिए बंध का कारण नहीं बनता। उसमें आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना का पूरा विकास हो जाता है।

आत्मा पर आवरण डालने वाले कर्मों का ज्ञानियों ने इस प्रकार वर्णन किया है। ज्ञान और दर्शन को ढकने वाले, मोहनीय और अन्तराय। इन कर्मों के आवरण से आत्मस्वरूप को भूलकर मनुष्य भटकता है। सत्य की पहिचान नहीं कर सकता। वह यह भी नहीं समझता कि उसे अपने श्रेय के लिए क्या करना चाहिए, और ज्ञान भी होता है तो वह वैसा आचरण नहीं कर पाता। इसलिए कर्मों के आवरण दूर करना और नये कर्म आने न देना यह साधना है।

मन वचन और शरीर की शुद्धि से ऐकाग्र साधना के लिए आवश्यक है। मन कभी स्थिर नहीं रहता वह किसी न किसी विषय में लगा ही रहता है। साधक दूसरे के अहित के चिंतन का त्याग करता है। जो उसका अहित करता है वह उसकी भी भलाई ही चाहता है। वह जानता है कि कोई भी उसका अहित कर्मवश ही करता है। अज्ञानी पर तो दया ही करना चाहिए। वह तो अपना अहित करनेवाले को उपकारी मानता है क्योंकि कर्मों के आवरण या बंध के हटने में उसे मदद मिलती है। यह समभाव शुद्धि आने पर ही होता है।

यदि मन स्वार्थ या अन्य किसी कारण से दूसरे का अहित सोचता है तो वह उसके निरोध का प्रयत्न करता है। वह जानता है कि बुराई प्रथम मन पर सवार होती है फिर उससे वैसे बुरे काम होते हैं। इसलिए सावधान होकर मन को बुरे विचारों से रोकता है।

विचारों की तरह वह वाणी का भी संयम रखता है। दूसरे का मनस्ताप या क्षोभ हो, ऐसी भाषा वह नहीं बोलता। उसकी भाषा सत्य, परिमित, हितकर व मीठी होती है। उसका प्रयत्न रहता है कि उसके बोलने से किसी का क्षोभ न हो, किसी का मन न दुखे।

धर्मोत्तर टिप्पण के कर्ता मल्लवादी

श्री० दलसुखभाई मालवणिया

न्यायबिन्दु आचार्य धर्मकीर्ति की कृति है। उसकी टीका आचार्य धर्मोत्तर ने लिखी है। अत एव उस टीका का नाम भी धर्मोत्तर हो गया है। इस धर्मोत्तर अर्थात् न्यायबिन्दु टीका के अनेक टिप्पण हैं। उनमें एक आचार्य मल्लवादी की कृति है, यह बात पाटन और जैसलमेर के भण्डारों की सूची को देखने से स्पष्ट होती है। प्रोफेसर चिरवासुकी को न्यायबिन्दु टीका के टिप्पण की एक अधूरी प्रति मिली। उसके आधार पर उन्हों ने 'न्यायबिन्दु टीका टिप्पणी' के नाम से एक पुस्तक रशिया की प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थमाला में प्रकाशित की और वह आचार्य मल्लवादी कृत है ऐसा भी उन्हों ने उक्त ग्रन्थ में लिखा। किन्तु बाद में उनको मालूम हुआ कि यह कृति मल्लवादी की नहीं है। अत एव उन्होंने अपने भ्रम का निराकरण अपने 'बुद्धिस्ट लोजिक' नामक ग्रन्थ में कर दिया। आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी की कृपा से मल्लवादीकृत टिप्पण की प्रतिलिपि मेरे पास आ गई है और उसे उक्त मुद्रित टिप्पण के साथ मिलान करने पर यह अत्यन्त स्पष्ट हो गया है कि वे दोनों भिन्न हैं।

प्रश्न यह है कि मल्लवादी आचार्य कब हुए और कहाँ हुए? जैन परंपरा में एक मल्लवादी नयचक्र के कर्ता रूप से प्रसिद्ध हैं। उन्हीं मल्लवादी को डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इस टिप्पण का कर्ता माना है। किन्तु नयचक्र के कर्ता मल्लवादी का परंपरामान्य समय वीर संवत् ८८४ है। उस का मेल धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर के समय से न होने के कारण डा० विद्याभूषण ने उक्त संवत् को वीरसंवत् न मानकर उसके शक या विक्रम संवत् होने की संभावना की है। तदनुसार मल्लवादी का समय ई० ८२७ या ई० ७६२ माना है।[1]

वस्तुत देखा जाय तो आचार्य मल्लवादी जिन्हों ने नयचक्र लिखा है, इस टिप्पण के कर्ता हैं ही नहीं। डा० विद्याभूषण ने नयचक्र ग्रन्थ देखा नहीं था। अन्यथा वे किसी दूसरे ही मल्लवादी की कल्पना करते। नयचक्र के कर्ता मल्लवादी का समय नहीं बदलते। नयचक्र में प्रसिद्ध दार्शनिक दिङ्नाग का तो उल्लेख है, किन्तु उनके बाद के धर्मकीर्ति आदि किसी दार्शनिक का नाम तो क्या, उनके मत का भी निर्देश नहीं है। वैदिक दार्शनिक कुमारिल का मत भी उसमें निर्दिष्ट नहीं है। भर्तृहरि का उल्लेख है किन्तु ये भर्तृहरि इत्सिगनिर्दिष्ट भर्तृहरि नहीं, अपि तु दूसरे ही हैं जिनका समय कुमारिल (ई० ५५० आसपास) से भी पहले है[2]। अत एव नयचक्र के कर्ता मल्लवादी से भिन्न ही मल्लवादी न्यायबिन्दु टीका के टिप्पणकार हैं।

डा० अल्टेकर ने एपिग्राफिका इण्डिका में[3] गुजरात के राष्ट्रकूट राजा कर्क सुवर्ण का एक ताम्रपत्र संपादित किया है। उनका अनुमान है कि इस ताम्रपत्र में निर्दिष्ट मल्लवादी न्यायबिन्दुटीका के टिप्पणकार हैं। ताम्रपत्र शक संवत् ७४३ में लिखा गया है और उसमें मूलसंघ सेन आम्नाय में होनेवाले अपराजितसूरि का उल्लेख है। अपराजितसूरि की गुरुपरंपरा उस ताम्रपत्र में दी हुई है। अपराजित के गुरु सुमति थे और सुमति के गुरु मल्लवादी थे। अपराजित यदि शक संवत् ७४३ अर्थात् ई० ८२१ में विद्यमान थे तो उनके

१ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक, पृ० १९५

२ श्लोकवार्तिक तात्पर्य टीका की प्रस्तावना, पृ० १७

३ वॉल्यूम २१, पृ० १३३

इन शारीरिक सुखों के पीछे लगने से आत्मविकास असंभव है। इसीलिए साधक के जीवन में संयम आवश्यक है।

संयम का पालन करनेवाले के जीवन में त्याग का बहुत महत्त्व है। जो अपने जीवन को विरक्तिमय बनाना चाहे उसके लिए संयम—व्रत—नियम का महत्त्व है। बुरी बातों का त्याग और अच्छी बातों का स्वीकार ये निरन्तर बहुत लाभकारक होता है।

परन्तु त्याग बिना संतोष के संभव नहीं। इसलिए अकिंचन वृत्ति को अपनाना आवश्यक है। यह परिग्रह की मर्यादा के बिना आ नहीं सकती। सभी संत कहते हैं कि लोभ सभी गुणों का नाश करनेवाला होता है। निर्लोभ अकिंचन वृत्ति के बिना हो नहीं सकता।

परिग्रह मर्यादा या अकिंचन वृत्ति ब्रह्मचर्य में लीन बने बिना संभव नहीं। आत्मा में मग्न होने पर आनन्द पाने की दशा हासिल हो सकती है। तभी बाह्य परिग्रह का त्याग संभव है। क्योंकि बिना आनन्द के या सुख के कोई रह नहीं सकता। प्रश्न है यह सुख भौतिक—बाह्य—वस्तुओं से प्राप्त करें या आत्मा से। अनुभवियों का कहना है कि भौतिक सुख से आत्मिक सुख बेहतर और अधिक टिकनेवाला होता है। इसलिए उसे प्राप्त करने का प्रयत्न हो। आत्मरमण ही सच्चा ब्रह्मचर्य है।

जैन साधना में तप का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। शरीर को वश कर अपने अधीन बनाना और चित्त को निर्मल बनाना तप का उद्देश है। तप का अर्थ शरीरदमन नहीं। वही तप साधना में उपयोगी होता है जिससे शरीर और मन की प्रसन्नता बढ़े। तप के दो भेद हैं: बाह्य और आभ्यन्तर। अनशन, ऊनोदरता, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश बाह्य में तथा प्रायश्चित्त, विनय, सेवा परिचर्या, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान आभ्यन्तर तप में हैं।

जब साधक आत्मरत बनकर निर्मल चित्त बनकर साधना करता है तो वह अपने लक्ष्य तक पहुंचता है। साधक यथाशक्ति प्रयत्न करे यही जैन दर्शन की अपेक्षा है।



प्राचीन भारत में देश की अेकता

डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल, एम ए, पीएच् डी, डी लिट्

भौगोलिक एकता राष्ट्रीय एकता का मूल आधार है और राष्ट्रीय एकता उसका आवश्यक फल है। पुराणों के भुवन कोश नामक अध्यायों में सप्तद्वीपी भूगोल का वर्णन मिलता है। मेरु को केन्द्र में मानकर उसके उत्तर में उत्तर कुरु, पूर्व में भद्राश्व, दक्षिण में भारतवर्ष और पश्चिम में केतुमाल इन चार वर्षों की कल्पना की गई है। इन चारों का सम्मिलित नाम जम्बूद्वीप था। अर्वाचीन भूगोल के अनुसार मेरु पामीर के ऊचे पठार की सज्ञा है जो पृथ्वी रूपी कमल के केन्द्र मे कर्णिका के समान स्थित है।[1] उत्तर कुरु साइबेरिया और भद्राश्व चीन है। केतुमाल पामीर के पश्चिम मे फैला हुआ वह प्रदेश है जिसमें चक्षु-वक्षु या वर्तमान औक्सस नदी बहती है। मेरु के दक्षिण की ओर स्थित हिमालय और दक्षिणी समुद्र के बीच का भूप्रदेश पुराणों के अनुसार एक भौगोलिक इकाई मानी जाती थी। उसी की संज्ञा भारतवर्ष थी। जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, भुवनकोश के लेखक भारतवर्ष की उत्तरी और दक्षिणी सीमाओं के विषय में निश्चित और स्पष्ट उल्लेख करते हैं। उत्तर में जहा तक गगा के उत्तरी स्रोत या शाखा नदिया हैं और दक्षिण में समुद्र तट पर जहा कन्याकुमारी है वहा तक भारत की सीमाए है। इसके पूर्व की सीमा पर किरात जाति के लोग बसे थे जिन्हें आजकल की भाषा मे मौन-ख्मेर कहा जाता है। भारत के पश्चिम मे यवन अर्थात् यूनानी बसे हुए थे[2]।

यवनों से यहा तात्पर्य बाल्हीक (आधुनिक बल्ख, प्राचीन बैक्ट्रिया) के यूनानी राजाओ से है जिन्होंने तीसरी शती ई पू के मध्य भाग मे मौर्य साम्राज्य के निर्बल होनेपर यवन राज्य की वहीं नींव डाली थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के भौगोलिक विस्तार की यह कल्पना शुग काल से पूर्व ही स्थिर हो चुकी थी। पाली साहित्य के दीघनिकाय ग्रथ मे भारत की भौगोलिक और राजनैतिक एकता का बहुत ही सुन्दर उल्लेख मिलता है—

"तो कौन है जो उत्तर में आयताकार और दक्षिण में शकटमुख के समान सकीर्ण इस महापृथ्वी को सात बराबर भागों में बाट सकता है? महागोविन्द को छोड़ कर भला और दूसरा कौन ऐसा करने में समर्थ है? कलिग मे दन्तपुर, अश्मक में पोतन, अवन्ति मे माहिष्मती, सौवीर मे रोरुक, विदेह में मिथिला, अग में चम्पा, और काशी मे वाराणसी इन्हें महागोविन्द ने बसाया[3]।"

---

१ जम्बूद्वीप समस्तानामेतेषां मध्य सस्थित । तस्यापि मेरुमैत्रेयमध्ये कनकपर्वत ।
भूपद्मस्यास्य शैलोऽसौ कर्णिकाकारसस्थित ॥ विष्णुपुराण २/२६,१० ।

२ आयतो ह्याकुमारिक्यादागगाप्रभवाच्च वै । पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवना स्मृता ॥ वायु ४५।८१-८२। "आयतस्तु कुमारीतो गगाया प्रवहावधि ।" भारतवर्ष की यह भौगोलिक परिभाषा थी।

३ को नु खो भो पहोति इम महापठविं उत्तरेन आयत दक्खिणेन सकटमुख सत्तधासम सुविभत्त विभजितु ति।
तत्र सुद मज्झे रेणुस्स रञ्ञो जनपदो होति । दन्तपुर कलिंगानं अस्सकान च पोतन ।
माहिस्सती अवन्तीन सोवीरान च रोरुक । मिथिला च विदेहान चम्पा अगेसु मापिता ।
वाराणसी च कासीन एते गोविन्दमापिता ति ॥ (दीघनिकाय, महागोविन्दसुत्त)

दादागुरु मल्लवादी के समय के साथ धर्मोत्तर के समय (ई ७) का कोई विरोध नहीं हो सकता। अतएव नयचक्रकार मल्लवादी के समय को बदलने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसी दूसरे मल्लवादी ने यह टिप्पण बनाया हो यह संभव है।

किंतु तत्त्वसंग्रह में सुमति नामक एक दिगम्बर आचार्य के मत का खण्डन किया गया है। यदि वे ही सुमति प्रस्तुत मल्लवादी के शिष्य हों तो तत्त्वसंग्रह के समय के साथ संगति करना आवश्यक है। तत्त्वसंग्रह के व्याख्याता कमलशील का समय ई ७ ५–७९२ के बीच डॉ. भट्टाचार्य ने स्थिर किया है। उक्त तत्त्वसंग्रह में सुमति शिष्य अकलंकदेव की विद्यमानता ८२१ ई में सिद्ध होती है। डा. भट्टाचार्य ने सुमति का समय ई ७२ के आसपास होने का अनुमान किया है। किंतु ऐसा मानने पर गुरु और शिष्य के बीच १ वर्षों का अन्तर हो जाता है। अतएव सुमति का समय ई ७२ के आसपास मानना गया तो पूर्वोक्त असंगति होती नहीं। शान्तरक्षित ने तिब्बत जाने के पूर्व तत्त्वसंग्रह की रचना की है। अतएव वह ई ७४६ के पहले रचा गया होगा। क्यों कि शान्तरक्षित ने तिब्बत जा कर ई ७४९ में सम्ये विहार की स्थापना की है ऐसा उल्लेख मिलता है। अतएव हम मान सकते हैं कि तत्त्वसंग्रह ई ७४ के आसपास रचा गया होगा। सुमति को भी यदि शान्तरक्षित का समवयस्क मान लें तो उनकी भी उत्तरावधि ७६२ ई तक जा सकती है। ऐसी स्थिति में उनके शिष्य अकलंक की सत्ता ई ८२१ में असम्भव नहीं रहती। इन सब परिस्थिति का विचार करके सुमति के गुरु मल्लवादी की सत्ता ई ० –७५ के बीच मानी जा सकती है।

न्यायबिन्दु के मल्लवादीकृत टिप्पण में धर्मोत्तर के पूर्ववर्ती टीकाकारों के मतों का उल्लेख तो मिलता है किन्तु धर्मोत्तर के बाद के उनके अनुयायी टीकाकारों के मतों का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसे कई अनुयायी टीकाकारों के मतों का उल्लेख अन्य टिप्पणों में है जब कि मल्लवादी के टिप्पण में नहीं है। यह भी इस बात को सिद्ध करता है कि धर्मोत्तर और मल्लवादी के बीच समय का अधिक अन्तर नहीं है। अत एव मल्लवादी का समय ई ७५ के बीच माना जा सकता है। इसमें धर्मोत्तर और शान्तरक्षित दोनों के समय के साथ संगति है।

धर्मोत्तर के समय के विषय में देखो मेरी धर्मोत्तर प्रदीप की प्रस्तावना पृ ५१

१ तत्त्वसंग्रह टीका पृ १७४ १ २ १७९ का ४६९

१ तत्त्वसंग्रह प्रस्तावना पृ ९१



के आर्थिक, सास्कृतिक, भाषा और विद्या सम्बन्धी पहलुओं से हरी-भरी बनी रहती थी। जिस प्रकार यूनान देश में वहा की सस्कृति की धात्रिया "सिटी-स्टेट्स" या पौर राज्य थे ठीक उसी प्रकार भारतवर्ष के जनपद भी सास्कृतिक और राजनैतिक इकाइयों के रूप मे स्थानीय विश्वजनता की माताए थी।

किन्तु जनपदों की इस विविध शृखला को एकत्र मिलाकर किसी महान् राजनैतिक सगठन का आदर्श भी वैदिक काल से मिलने लगता है। इस सम्बन्ध मे प्रत्येक राजा की ऐन्द्र महाभिषेक (राज्यासन पर आसीन होने के अभिषेक) के समय पढ़ी जाने वाली प्रतिज्ञा को हम नहीं भुला सकते। इसमे कहा है :—

"जो ब्राह्मण पुरोहित यह इच्छा करे कि अभिषिक्त होने वाला क्षत्रिय सब विजयों को जीते, सब लोकों को प्राप्त करे, सब राजाओं में श्रेष्ठता प्राप्त करे, एव साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, इन विभिन्न प्रकारो से अभिषिक्त होकर परम स्थिति प्राप्त करे, चारों दिशाओं के अन्त तक पहुच कर आयुपर्यन्त सार्वभौम बने, और समुद्रपर्यन्त पृथिवी का एकराट् बने, उस क्षत्रिय को इस ऐन्द्र महाभिषेक की शपथ दिलाकर राज्य मे उसका अभिषेक करना चाहिए।"[1] इस प्रतिज्ञा में हम उन अनेक शब्दों की गूज सुनते हैं जिनसे भारत का राजनैतिक इतिहास आन्दोलित हुआ है। भारतीय इतिहास म जितने राजाओं का अभिषेक वैदिक पद्धति से हुआ सबके लिये इसी प्रतिज्ञा का उच्चारण हुआ होगा। देश की भौगोलिक एकता को इसमें स्पष्ट राजनैतिक एकता के साथ मिलाया गया है। समन्तपर्यायी सार्वभौम और समुद्रपर्यन्त पृथिवी का एकराट् ये दोनो आदर्श देशव्यापी राजनैतिक चेतना के सूचक हैं। इसी से प्रेरित होकर शकुन्तला ने कहा था —

'हे दुष्यत' मेरा यह पुत्र शैलराज हिमवन्त का शिरोभूषण धारण करने वाली इस चतुरन्त पृथिवी का पालने करने वाला बनेगा।' हम पहले कह चुके हैं कि भरत का अजित चक्र लोक मे गूजता हुआ सब राजाओं को अपने वश मे लाकर समस्त पृथ्वी पर फैल गया। इसके कारण भरत सार्वभौम चक्रवर्ती कहलाए।[2] भरत से आरम्भ होकर यह परम्परा और ये आदर्श और भी कितने ही राजाओं मे अवतीर्ण हुए।

ऊपर लिखी हुई कई राज्यप्रणालियां मे परस्पर भेद थे। "सार्वभौम" शब्द सर्वभूमि या महापृथिवी के राज्य की ओर सकेत करता है। सार्वभौम राजा को चक्रवर्ती भी कहा जाता था। जिसके रथचक्र के लिये अपने जनपद से बाहर कोई रुकावट न हो उसे चक्रवर्ती कहा गया जान पड़ता है। पीछे उस बढ़े हुए राजनैतिक सीमाविस्तार या भूभाग के लिये चक्र शब्द का प्रयोग होने लगा। सार्वभौम पद्धति में यह आवश्यक था कि राजा दूसरे राजाओं के साथ युद्ध करके या तो उन्हें अपना वशवर्ती बना ले और या बलपूर्वक उनका राज्य अपने राज्य में मिला ले। यही भरत ने किया था, और कालान्तर में समुद्रगुप्त ने भी इसी नीति का अवलम्बन किया। आरम्भिक अवस्था मे प्राय प्रत्येक देश मे भूमि अनेक जनपदीय राजाओं में बंटी हुई होती है, उनमें से प्रत्येक की अपनी स्वतत्र सत्ता रहती थी। उनके बीच मे कोई एक शक्तिशाली राजा उठ खड़ा होता, और भरत के समान ही सबके ऊपर अपना चक्र स्थापित करके उस राजनैतिक

---

[1] स य इच्छेदेववित्क्षत्रियमय सर्वा जितीर्जयेताय सर्वाल्लोकान्विन्देताय सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत साम्राज्य भौज्य स्वाराज्य वैराज्य पारमेष्ठ्य राज्य महाराज्यमाधिपत्यमय समतपर्यायी स्यात्सार्वभौम सार्वायुष आ अन्तादापरार्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति तमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रिय शापयित्वा अभिषिंचेत। (ऐतरेय ब्राह्मण, ८।१५)

[2] तस्य तत्प्रथित चक्र प्रावर्तत महात्मन, भास्वर दिव्य अजित लोकसन्नादन महत्। स विजित्य महीपालां-श्चकार वशवर्तिन, स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौम प्रतापवान् (आदि० ६६।४५-४७)।

इस उल्लेख में ये बातें महत्त्वपूर्ण हैं। यहां समस्त भारतवर्ष के लिये महापृथिवी शब्द का प्रयोग हुआ है। प्राचीन भारतवर्ष की राजनैतिक परिभाषा में किसी राजा के अपने जनपद के राज्य विस्तार को पृथ्वी कहते थे जिस कारण राजा पार्थिव कहलाता था। एक एक जनपद का स्वामी राजा वहां का पार्थिव होता था। किन्तु एक जनपद की सीमा से आगे बढ़ कर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के लिये महापृथिवी शब्द का प्रयोग होने लगा था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में महापृथिवी के लिये ही सर्वभूमि शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] सर्वभूमि के राजा को सार्वभौम कहते थे। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र (१।१।१) के अनुसार सार्वभौम राजा को ही अश्वमेध करने का अधिकार था। जो सार्वभौम होता था वही चक्रवर्ती कहलाता था। महाभारत के अनुसार ही [illegible] भरत अश्वमेधों के करने से सार्वभौम चक्रवर्ती हुआ।

बौद्धनिकाय में दूसरा महत्त्वपूर्ण उल्लेख महापृथिवी या भारतवर्ष की भौतिक आकृति के सम्बन्ध में है। अब तक इसके तीन प्रकार मिले हैं: कूर्म संस्थान, कार्मुक संस्थान और शकटमुख संस्थान। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में भारतवर्ष के संस्थान (अं० कन्फिगुरेशन) को कूर्म की आकृति जैसा कहा है। उस कूर्म संस्थान के नौ भेद किए हैं, अर्थात् १ मध्य भाग २ पूर्व दिशा में फैला हुआ मुख ३ दक्षिण पूर्व दिशा में अगला पैर ४ दाहिनी कुक्षि ५ दक्षिण पश्चिम का पिछला पैर ६ पुच्छ या पूंछ का भाग ७ उत्तर पश्चिम का पिछला पैर ८ बाईं ओर की उत्तरी कुक्षि और ९ पूर्व उत्तर दिशा का अगला पैर। इस कूर्म संस्थान के प्रत्येक भाग में जो जनपद या देश हैं उनके नाम भी अलग अलग गिनाए गए हैं।

भारतवर्ष के संस्थान की दूसरी कल्पना पुराणों के भुवनकोश नामक अध्यायों में मिलती है। वहां इस भूमि को कार्मुक या धनुषाकृति कहा गया है। दक्षिण का घूमा हुआ भाग जो समुद्र के भीतर घुसा हुआ है धनुष का मुड़ा हुआ भाग है। उत्तर का हिमालय उस धनुष के ऊपर खिंची हुई डोरी है जिसकी कमान से धनुष का कुछ भाग मानों झुक गया है।

कूर्म संस्थान और धनुराकृति संस्थान, इन दोनों कल्पनाओं से भी अधिक प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण का उल्लेख है जिसमें भारत के उत्तरी मैदान और पर्वतों के मिले हुए भाग को आयताकार कहा गया है। इसके आगे मध्य में धुरे के समान और [illegible] युग की भांति दक्षिण भारत का भूभाग खिंचा हुआ है। देश के लिये शकटमुखी संस्थान की यह कल्पना इतनी प्रत्यक्ष और सचित्र है जैसे किसी आधुनिक मान चित्र में भारतवर्ष की आकृति को देखकर कोई उसका वर्णन कर रहा हो।

भारत भूमि की इस सुव्यवस्थित भौगोलिक एकता को आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो समर्थन प्राप्त हुआ और उसकी जैसी पुष्टि हुई उसका वर्णन अतीव रोचक विषय है। राजनैतिक क्षेत्र में भी इस भौतिक एकता ने आदर्श के रूप में सदा लोगों को प्रेरित और प्रोत्साहित किया। यह एक तथ्य है कि हमारी यह भूमि प्राकृतिक सीमाओं के विभाग से अनेक जनपदों में विभक्त थी। इस प्रकार के लगभग दो सौ जनपदों की सूची पुराणों के भुवनकोश नामक अध्यायों में प्राप्त होती है। जनपदों का यह संगठन जनता की स्वाभाविक स्थानीय आकांक्षाओं की पूर्ति करता था। यह जनता के लिये स्थानीय एकता का सुदृढ़ बन्धन था। राज्यों के ऐतिहासिक विघटन के समय भी जनपदीय जीवन की इकाई ठोस चट्टान की भांति स्थिर रहती थी। जनपदों के रूप में भारतीय जीवन की धारा हिमालय से कुमारी तक फैली हुई थी। जनपदों को हम इस भवन के स्तम्भ मानकर चल सकते हैं। प्रत्येक जनपद की इकाई स्थानीय जीवन

१ सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ। ५।१।४१ तस्येश्वरः ५।१।४२ सर्वभूमीश्वरः सार्वभौमः पृथिवीश्वरः पार्थिवः।

उसके अन्तर्गत सच्चे अर्थों में सारे देश की गिनती होने लगी। समन्तपर्यायी या चतुरत इन प्राचीन शब्दों का जो अर्थ था उसे भी हम मौर्य साम्राज्य के चार खूट विस्तार में पूर्ण हुआ पाते हैं। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में समुद्रपर्यन्त पृथिवी के एकराट् की जो कल्पना मिलती है वह भी मौर्यशासन की सच्चाई बन गई। देश के सौभाग्य से किसी गाढे समय मे मौर्य साम्राज्य का उदय हुआ। उसकी स्थापना से देश यूनानियों के उस धक्के से बच गया जिसने वाहीक के सवों या पजाब और उत्तर पश्चिम के गण राज्यों को भकझोर डाला था।

मौर्य साम्राज्य का मधुर फल दो रूपों मे प्रकट हुआ। एक तो इस से समस्त देश मे समान सस्थाओं की स्थापना हो गई। शासन के कर्मचारी, विभाग, आय के साधन, कर-व्यवस्था, यातायात के मार्ग, दण्ड और व्यवहार (दीवानी और फौजदारी) की न्यायव्यवस्था, नाप तौल और मुद्राए, इन सब बातों में देश ने एकसूत्रता का अनुभव किया। इससे जनता मे जीवन को एकरूपता प्रदान करने वाले बन्धन दृढ हुए। विष्णुगुप्त का अर्थशास्त्र साम्राज्य के मथन से उद्भूत उस एकरूपता का परिचायक महान् ग्रथ है। उदाहरण के लिये, मौर्य साम्राज्य में जो सिक्के चालू थे उनके बहुत से निधान (जखीरे) तक्षशिला से लेकर राजस्थान, मगध, कलिंग, मध्य भारत, महाराष्ट्र, आन्ध्र, हैदराबाद, मैसूर आदि प्रदेशों में पाए गए हैं। चादी की इन आहत मुद्राओं की तौल सब जगह ३२ रत्ती थी। उन पर बने हुए रूप या चिन्ह भी सब जगह एक से पाये गए हैं। ज्ञात होता है शासन की किसी केन्द्रीय टकसाल मे वे ढाले गए थे। अशोक के शिलास्तम्भ भी इसी प्रकार पाटलिपुत्र की केन्द्रीय कर्मशाला में तैयार होकर दूरस्थ स्थानों को भेजे गये थे।

मौर्य साम्राज्य का दूसरा सुफल यह हुआ कि उससे देश में अन्तर्राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई। भारतवर्ष की जनता अपने चारों ओर के देशों से सच्चे अर्थ में परिचित हुई। भारतवर्ष से जाने वाले लम्बे राजमार्ग और अधिक लम्बे होकर दूसरी राजधानियों से जुड गए जिनके द्वारा यहा का व्यापारिक यातायात विदेशों के साथ बढ़ा। उन्हीं मार्गों से विदेशी दूतमडल साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र की ओर मुडे और भारतवर्ष से अनेक धर्म प्रचारक विदेशों में गए। सम्राट् अशोक भारतीय प्रणाली के सबसे अधिक सुन्दर और मधुर फल कहे जा सकते हैं। देहरादून के समीप यमुना के किनारे कालसी के शिलालेख में इन पाच विदेशी राजाओं के नाम गिनाए गए हैं। १ सीरिया और पश्चिमी एशिया के राजा अतियोक (२६१-४६ ई पृ) २ मिस्र के तुलमय या टालेमी (२८५-२४७ ई पृ), ३ मेसीडोनिया के अतिकिन (२७६-२३६ ई पृ), ४ साइरीनी (उत्तरी अफ्रीका) के मग (३००-२५० ई पृ) और ५ कोरिन्थ के अलिक्सुदर या अलेक्जेंडर (२५२-२४४ ई पृ)। यह तेहरवा शिलालेख लगभग २५२-२५० ई पू में उत्कीर्ण कराया गया जब कि ये सब राजा एक साथ जीवित रहे होंगे। अशोक के भेजे हुए दूतमडल इनके दरबारों में शाति और मानवता का मैत्री-सदेश लेकर गए थे। उस समय के सभ्य ससार को अपने साथ लेकर आगे बढ़ने का सत्संकल्प अशोक के मन में आया था बौद्ध आख्यानों मे जो अशोकावदान के नाम से प्रसिद्ध है। और भी उल्लेख हैं जिनसे ज्ञात होता है कि अशोक के प्रयत्नों से भारत का सम्बन्ध तिब्बत, बर्मा, सिंहल, स्याम, कम्बोज आदि देशों से जुड गया और भारत से धर्म और सस्कृति की धाराओं का यश प्रवाह इन पड़ोसी देशा म भी फैल गया।

इस प्रकार पहली बार वह कल्पना ऐतिहासिक सत्य के रूप में उभर कर सामने आ गई जिसने जम्बू द्वीप के देशों की सुनहली माला में भारत को मध्यमणि बना दिया। इसका वह ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और वरिष्ठ रूप आने वाली शताब्दियों मे और भी निखरता गया। सचमुच भारत की पृथिवी अट्ठारह द्वीपों की अष्टमगल्क

एकता का प्रादुर्भाव करता जिसे सार्वभौम या चक्रवर्ती राज्य कहते हैं। महाभारत से स्पष्ट होता है कि साम्राज्य या साम्राज्य शासन प्रणाली पर भी विजय प्राप्त राजाओं से कर प्राप्त करके उन्हें अपने क्षेत्र में पूर्णतः सुरक्षित रहने दिया जाता था। पाण्डु ने कुरु जनपद की राज्यशक्ति का विस्तार करते हुए मगध, विदेह काशी सुम्ह पुण्ड्र आदि जनपदों को अपना करद बना लिया था (आदि० १।११९–२०) और स्वयं अधिराज्य का भोक्ता कहलाया।

इन राज्यों से अधिक कठोर साम्राज्य का आदर्श था जिसे हम अर्थशास्त्र के चिंतन में चरितार्थ देखते हैं। सम्राट् अपने जनपद की सीमा का विस्तार करता हुआ और किसी भी राज्य को सुरक्षित न रहने देता था। सभापर्व में सम्राट् को सर्व [illegible] कहा गया है (सम्राट् शब्दो हि कृत्स्नभाक्, १४।२)। साम्राज्य का आधार बल था (सभा. १४।११ बलादेव साम्राज्यं कुर्वते)।

साम्राज्य से विपरीत पारमेष्ठ्य प्रणाली थी जो गणराज्यों में देखी जाती थी। यह शासन कुलों के आधार पर चलता था। उसमें प्रत्येक घर का ज्येष्ठ व्यक्ति राजा कहलाता था (गृहे गृहे हि राजानः सभा. १४।२) जैसे शाक्य में और लिच्छवियों में प्रत्येक क्षत्रिय राजा कहलाता था। वे सब मिलकर अपने में से किसी एक को श्रेष्ठ मान लेते थे। वही उस समय उस राज्य का अधिपति होता था। जिस प्रकार साम्राज्य का आधार बल था उसी प्रकार पारमेष्ठ्य या गणराज्य का आधार साम अर्थात् शान्ति की नीति थी। इस देश में किसी समय कुलों पर आश्रित इस शासनप्रणाली का बहुत प्रचार था और जनता इसे भक्ति की दृष्टि से देखती थी। कुलशासनप्रणाली में दूसरे कुल या व्यक्ति के अनुभव या व्यक्ति गरिमा का सम्मान किया जाता था एवम् जनपद के भीतर दूर दूर तक जनता का प्रेम या कल्याण दिखाई पड़ता था (सभा. १४।१४)। साम्राज्य में यह प्रेम अधिकतर राजपरिवार या राजधानी के लोगों तक ही सीमित रह जाता था।

भारतीय इतिहास का रंगमंच इन विभिन्न राज्यप्रणालियों की क्रीडाभूमि रही है। देश की एकता का भाव न केवल धर्म से प्रस्फुटित हुआ बल्कि राजाओं की राजनीति के द्वारा भी समय समय पर अपनी स्थापना करती रही। जिस प्रकार यूनान में स्पार्टा और एथेन्स आदि छोटे राज्यों के ऊपर मकदूनिया छा गया वैसे ही अपने देश में बहुत गणराज्यों के बाद मगध का साम्राज्य ऊपर तैर आया। बृहद्रथवंशी जरासंध से जो प्रवृत्ति शुरू हुई वही शिशुनाग और नन्दवंशी राजाओं के समय में आगे बढ़ी। पहले तो इस प्रकार के विस्तार के विरुद्ध जनता में प्रतिक्रिया भी थी किन्तु पीछे लोग इसके प्रति उदासीन और सहिष्णु बन गए। शिशुनागवंशी अजातशत्रु ने लिच्छवि जैसे गण की परवाह न करके उन पर भी हमला कर दिया। ऐसे ही नन्दवंश के नन्दिवर्धन और महापद्म नन्द ने अनेक जनपदीय इकाइयों का अन्त करके मगध साम्राज्य की प्रबल सत्ता स्थापित की।

इस प्रवृत्ति का सबसे विकसित रूप चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य में दृष्टिगोचर हुआ। ऐतिहासिक काल में सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त के राज्य में हम कई प्राचीन आदर्शों को चरितार्थ हुआ देखते हैं। उसका राज्य अफगानिस्तान से लेकर दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था जिसे सर्वभूमि या सर्वक्षिति कहा जाता था।

---

१ [illegible] । [illegible] । (सभा. १४।८)

२ [illegible] (सभा १४।५)।

[illegible] —राजनीति में बल का अवलम्बन ही [illegible] है। [illegible] नहीं।

उसके अन्तर्गत सच्चे अर्थों मे सारे देश की गिनती होने लगी। समन्तपर्यायी या चतुरत इन प्राचीन शब्दों का जो अर्थ था उसे भी हम मौर्य साम्राज्य के चार खूट विस्तार मे पूर्ण हुआ पाते हैं। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में समुद्रपर्यन्त पृथिवी के एकराट् की जो कल्पना मिलती है वह भी मौर्यशासन की सच्चाई बन गई। देश के सौभाग्य से किसी गाढे समय में मौर्य साम्राज्य का उदय हुआ। उसकी स्थापना से देश यूनानियों के उस धक्के से बच गया जिसने वाहीक के सघों या पजाब और उत्तर पश्चिम के गण राज्यों को झकझोर डाला था।

मौर्य साम्राज्य का मधुर फल दो रूपों मे प्रकट हुआ। एक तो इस से समस्त देश में समान सस्थाओं की स्थापना हो गई। शासन के कर्मचारी, विभाग, आय के साधन, कर-व्यवस्था, यातायात के मार्ग, दण्ड और व्यवहार (दीवानी और फौजदारी) की न्यायव्यवस्था, नाप तौल और मुद्राए, इन सब बातों मे देश ने एकसूत्रता का अनुभव किया। इससे जनता मे जीवन को एकरूपता प्रदान करने वाले बन्धन दृढ हुए। विष्णुगुप्त का अर्थशास्त्र साम्राज्य के मथन से उद्भूत उस एकरूपता का परिचायक महान् ग्रथ है। उदाहरण के लिये, मौर्य साम्राज्य में जो सिक्के चालू थे उनके बहुत से निधान (जखीरे) तक्षशिला से लेकर राजस्थान, मगध, कलिंग, मध्य भारत, महाराष्ट्र, आन्ध्र, हैदराबाद, मैसूर आदि प्रदेशों मे पाए गए हैं। चादी की इन आहत मुद्राओं की तौल सब जगह ३२ रत्ती थी। उन पर बने हुए रूप या चिन्ह भी सब जगह एक से पाये गए हैं। ज्ञात होता है शासन की किसी केन्द्रीय टकसाल म वे ढाले गए थे। अशोक के शिलास्तम्भ भी इसी प्रकार पाटलिपुत्र की केन्द्रीय कर्मशाला में तैयार होकर दूरस्थ स्थानों को भेजे गये थे।

मौर्य साम्राज्य का दूसरा सुफल यह हुआ कि उससे देश मे अन्तर्राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई। भारतवर्ष की जनता अपने चारों ओर के देशों से सच्चे अर्थ में परिचित हुई। भारतवर्ष से जाने वाले लम्बे राजमार्ग और अधिक लम्बे होकर दूसरी राजधानियों से जुड़ गए जिनके द्वारा यहां का व्यापारिक यातायात विदेशों के साथ बढ़ा। उन्हीं मार्गों से विदेशी दूतमडल साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र की ओर मुड़े और भारतवर्ष से अनेक धर्म प्रचारक विदेशों में गए। सम्राट् अशोक भारतीय प्रणाली के सबसे अधिक सुन्दर और मधुर फल कहे जा सकते है। देहरादून के समीप यमुना के किनारे कालसी के शिलालेख में इन पाच विदेशी राजाओं के नाम गिनाए गए हैं। १ सीरिया और पश्चिमी एशिया के राजा अतियोक (२६१–४६ ई पृ) २ मिस्र के तुलमय या टालेमी (२८५–२४७ ई पृ), ३ मेसीडोनिया के अतिकिन (२७६–२३६ ई पृ), ४ साइरीनी (उत्तरी अफ्रीका) के मग (३००–२५० ई पृ) और ५ कोरिन्थ के अलिकसुदर या अलेक्जेंडर (२५२–२४४ ई पृ)। यह तेहरवां शिलालेख लगभग २५२–२५० ई पू में उत्कीर्ण कराया गया जब कि ये सब राजा एक साथ जीवित रहे होंगे। अशोक के भेजे हुए दूतमडल इनके दरबारों में शांति और मानवता का मैत्री सदेश लेकर गए थे। उस समय के सभ्य संसार को अपने साथ लेकर आगे बढ़ने का सत्सकल्प अशोक के मन में आया था बौद्ध आख्यानों म जो अशोकावदान के नाम से प्रसिद्ध है। और भी उल्लेख हैं जिनसे ज्ञात होता है कि अशोक के प्रयत्नों से भारत का सम्बन्ध तिब्बत, बर्मा, सिंहल, स्याम, कम्बोज आदि देशों से जुड़ गया और भारत से धर्म और संस्कृति की धाराओं का यश प्रवाह इन पड़ोसी देशा मे भी फैल गया।

इस प्रकार पहली बार वह कल्पना ऐतिहासिक सत्य के रूप मे उभर कर सामने आ गई जिसने जम्बू द्वीप के देशों की सुनहली माला में भारत को मध्यमणि बना दिया। इसका वह ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और वरिष्ठ रूप आने वाली शताब्दियों मे और भी निखरता गया। सचमुच भारत की पृथिवी अठारह द्वीपों की अष्टमगलक

माला पहनने वाली बन गई। गुप्तों ने स्वर्णयुग में भारत का यह विश्व मस्तक देश मध्य एशिया से हिन्देशिया तक (जो उस समय भारतीय भूगोल में द्वीपान्तर के नाम से प्रसिद्ध थी) और चीन से रोम तक उन्नत बन गया था। वस्तुतः उस स्वर्णयुग में इस देश की यह सबसे बड़ी धर्म विजय थी। बाहर इस स्थिति के प्राप्त कराने में देश के भीतर का गुप्तों का एकतन्त्र शासन और कुशल एवं भी कुछ कम उत्तरदायी न रहा होगा। कालिदास ने एकातपत्र जगतः प्रभुत्वम् के आदर्श में (रघु. १।७०) अपने युग में भावों को ही व्यक्त किया है। भौगोलिक दृष्टि से यह प्रभुत्व अपने देश के भीतर ही सीमित था किंतु सांस्कृतिक भारत भारत के विश्वरूप को चरितार्थ करता था। उस महाकवि ने अपने युग की इस सचाई की ओर अन्य प्रकार से भी संकेत किया है। पुराणों ने जहां एक ओर हिमालय को भारत के भानुचारि संस्थान की उत्तरी चूड़ी मान्यता दिया है वहां कालिदास ने उसे पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच में व्याप्त पृथिवी का मानदण्ड कहा है। यदि हिमालयरूपी मानदण्ड के दोनों सिरों पर उत्तर दक्षिण की ओर रेखाओं का विस्तार किया जाय तो उनसे जो भूखण्ड परिच्छिन्न होगा उसे ही गुप्तकाल में भारतीय संस्कृति का या उस युग के शब्दों में धर्मचक्र का भू विस्तार समझना चाहिए। गुप्तकाल में हिमवत् समुद्र भारत की पूर्व पश्चिम चौहद्दी का माप दण्ड था। पूर्व में सिन्धु देश और पश्चिम में अफगानिस्तान में हिमालय के साथ हिन्दूकुश पर्वत तक हिमवन्त का विस्तार था। उतना ही उस समय भारतवर्ष था। किन्तु स्थूल भौगोलिक विस्तार पर आधार इस देश की प्रकृति नहीं रही। जहां तो भावविस्तार या संस्कृति विस्तार के पक्षपाती हैं, महत्त्वपूर्ण मान चुके थे। उसका संकेत करते हुए कालिदास ने लिखा कि यह रथ पर्वतों को लांघकर और समुद्रों को पार करके उनके तट पर पहुंच गया आकाश और स्वर्ग में भी था अब अब, देश और काल में उस रथ के विस्तार की कोई सीमा न रही। आज मध्य एशिया और हिन्देशिया के पुरातत्त्व गत अवशेष कालिदास के कथन की सत्यता व्यक्त करते हैं।

इस सांस्कृतिक विस्तार की सच्ची प्रतीति उस युग की जनता के मन में थी। इसका सबसे स्पष्ट प्रमाण इस बात से मिलता है कि उस युग में भारतवर्ष का भौगोलिक अर्थ ही बदल गया। भारत के अन्दर बृहत्तर भारत का भी परिगणन होने लगा। गुप्तयुग के पुराण लेखकों ने भारत की निजी भूमि के लिये कुमारी द्वीप नाम प्रचलित किया और उसके साथ पूर्वी द्वीपसमूह या द्वीपावली को मिलाकर वृहत् भारत के अर्थ में भारत इस शब्द का प्रयोग शुरू किया। अपने युग के इस आदर्श का जैन साहित्य में भी उल्लेख हुआ है। ललितविस्तर में एक कल्पना है कि कोई विजय चक्र धर्म विजय करते हुए चारों दिशाओं में घूमता है। इस प्रकार वह मूर्धाभिषिक्त धर्मात्मा राजा पूर्व दिशा को जीतता है। पूर्व दिशा को जीत कर पूर्व समुद्र में प्रविष्ट होकर उसे भी पार कर जाता है। इसी प्रकार वह

१ यदि च [illegible] विजयस्व [illegible] हर्षचरित में [illegible], उच्छ्वास ८ १ पृ १९२।

२ प्राचीन चम्पा की भाषा में इसे कुमारद्वार और कुमारद्वार कहा गया है। चम्पा की भाषा में कुमा = दीप।

३ अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ (कुमारसम्भव १।१)
[illegible]।
[illegible] ॥ (रघुवंश १।)
बाण ने भी कालिदास के स्वर में स्वर मिलाते हुए दिलीप के लिए है लिखा—
[illegible] (हर्षचरित उच्छ्वास ६, पृ १९८)।

दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा और उत्तर दिशा को भी जीतकर उन उन समुद्रों का अवगाहन करता है।"[5]

वस्तुत इस युग के साहित्य में भारत के भीतरी और बाहरी भूप्रदेश की भौगोलिक एकता और पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध बार बार उभर आते हैं। इन्दुमती के स्वयवर में देश के सब राजाओं को एकत्र कर कवि ने मातृभूमि का एक समुदित चित्र उपस्थित किया है। पुष्पपुर के मगधेश्वर, अगदेश (मुगेर, भागलपुर) के राजा, महाकाल और शिप्रा के स्वामी अवन्तिनाथ, माहिष्मती के अनूपराज, मथुरा, वृन्दावन और गोवर्धन के शूरसेनाधिपति, महेन्द्र पर्वत और महोदधि के स्वामी कलिंगनाथ, उरगपुर और मलयस्थली के पाड्यराज, एव उत्तर कोसल के अधीश्वर, इन सब को इन्दुमती के स्वयवर में एकत्र लाकर कवि मगधेश्वर के लिए कहता है काम नृपा सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् (रघुवश ६।२२), और सहस्रों राजा भी चाहे हों, यह भूमि मगध के सम्राटो से ही राजन्वती कहलाती है। देश की राज्यशक्तियों में उस समय मगध का जो सर्वोपरि स्थान था उसका यथार्थ उल्लेख कवि के शब्दों में है। विदर्भ जनपद की राजकुमारी के स्वयवर का क्षितिज उत्तरकोसल से दक्षिण के पाड्य देश तक विस्तृत था। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवहार और राजनैतिक सम्बन्धों की दृष्टि से अपनी आतरिक सीमाओं के भीतर भारत की भूमि दृढ इकाई बन चुकी थी।

दूसरी ओर जब हम विदेशों के साथ भारत के सम्बन्धित हो जाने की बात सोचते हैं तो भारतीय साहित्य में उसकी भी साक्षी उपलब्ध होती है। इसका अच्छा उदाहरण दिग्वर्णन के रूप में पाया जाता है। गुप्तकाल में जब ईरान से जावा तक भारत का यातायात फैल गया था उस समय के सायात्रिक नाविकों अथवा स्थलमार्ग से यात्रा करने वाले सिद्धयात्रिक सार्थवाहों के उपयोग के लिये ये दिग्वर्णन सकलित किए गए होंगे। इनमें चारों दिशाओं में भारत के भीतर और बाहर के प्रसिद्ध स्थानों और देशों का एक दर्पण सा पाया जाता है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर इस प्रदक्षिणाक्रम से ये दिग्वर्णन मिलते हैं। इस दिग्वर्णन के कई रूप साहित्य में पाए गए हैं। एक रूप बुधस्वामिन् के बृहत्कथाश्लोकसग्रह नामक ग्रथ में है। रामायण के किष्किंधा काड में सुग्रीव द्वारा चारों दिशाओं में सीता की खोज के लिये बन्दरों के भेजे जाने के प्रसग में भी दिग्वर्णन आया है। वहा पूर्व दिशा का वर्णन करते हुए जावा के सप्तराज्यों का उल्लेख है। ये राज्य तीसरी-चौथी शती से पहले जावा में न थे। महाभारत के वनपर्व में गालव-चरित के अन्तर्गत गरुड ने गालव से दिग्वर्णन किया है। उसमें पश्चिम दिशा में हरिमेधस् देव का उल्लेख है जिसकी ध्वजवती नामक कन्या पर सूर्य मोहित हो गए थे। तब वह सूर्य के आदेश से आकाश में ही स्थित हुई। ये हरिमेधस् देव ईरान की पहलवी भाषा में हरमुज कहलाते थे। सभापर्व के दिग्विजय पर्व के अन्तर्गत भी एक दिग्वर्णन है जिसमें भारतवर्ष की भौगोलिक इकाई को बढाकर विदेशों के साथ मिलाया गया है। वहा उत्तर दिशा की ओर दिग्विजय करते हुए अर्जुन की यात्रा पामीर (कम्बोज) और मध्य एशिया के उस पार के प्रदेश (उत्तरकुरु) तक जा पहुचती है जहा ऋषिक नाम से विख्यात यू-चि

५ एव खलु राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तो पूर्वां दिश विजयति। पूर्वां दिश विजित्य पूर्व समुद्रमवगाह्य पूर्व समुद्रमवतरित दक्षिणो दिश पश्चिमामुत्तरां दिश च विजित्य उत्तर समुद्रमवगाहते (ललितविस्तर पृ १५)

इसी भावना का समर्थन बाण की इस कल्पना से होता है—हर्ष का फडकता हुआ दाहिना भुजदड प्रार्थना कर रहा था कि मुझे अठारह द्वीपों की विजय करने के अधिकार पर नियुक्त कीजिए। (नियुज्य सत्वालसमरया स्फुरणेन कथितास्मानमिव चाष्टादशद्वीपजेतव्याधिकारे दक्षिण भुजस्तम्भ, हर्षचरित, उच्छ्वास ७, पृ २०१)। बाण ने इस युग में जनता के विदेशों में यातायात को देखते हुए "सर्वद्वीपान्तरसचारी पादलेप" इस साहित्यिक अभिप्राय का उल्लेख किया है अर्थात् पैरों में कुछ ऐसा लेप लगाया जिससे सब द्वीपान्तरों में घूम आने की सामर्थ्य प्राप्त हो, हर्षचरित, उच्छ्वास ६, पृ १९४)। वहीं समुद्रयात्रा से लक्ष्मी समाप्ति (समुद्रभ्रमणेन श्रीममाकर्षण, पृ० १८९) का भी उल्लेख है।

शक्ति का मूल आवास स्थान था। यहीं गोबी और मंगोलिया के बीच में कहीं कराकोरम या यह से भिन्न होने के कारण भारत के कनिष्क आदि राज कुषाण राजा चक्रवर्ती कहलाते थे। इस प्रकार भारत की स्थिति उस पर मंदिर के समान थी जिसके चौगिर्द चारों दिशाओं में प्रकाश और वायु का आवागमन करने के लिये उन्मुक्त हो गए थे। भारत में स्थल और जल मार्गों पर इस समय महत्त्वपूर्ण चहलपहल दिखाई देती थी। एक ओर पश्चिमोत्तर में विदेशी पुरुषों के भारत आने का तांता लगा रहता था तो दूसरी ओर भारतीय समुद्र तट के पोतपत्तन नानादेशीय व्यापारियों से भरे रहते थे। जब हम पूर्व मध्यकाल का ध्यान प्रसन्न हो रहा था उस समय अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत की ख्याति किसी जनपद के रूप में न थी, बल्कि उसे एक महान् देश की प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। भारतीय गुरु, भारतीय विद्वान्, इन सब पर भारत के एक भाग की सीमित छाप न थी। वे अपने साथ समग्र देश की पूर्ण प्रतिष्ठा लेकर विदेशों में पहुंचते थे। स्वदेश के मनोरूप में देश की सत्ता एक ओर अविचल थी। उसी देश के प्रत्येक भाग से गुरु के गुरु आचार्य दूसरे भागों में जाकर बस जाते थे और राजाओं द्वारा उनके लिये भूमि और जीविका का प्रबन्ध किया जाता था। वलभी के आचार्य राजपुर में बसे हुए पंडित निवास नालन्दा विश्वविद्यालय में आकर वहां के आचार्य हो गए। कश्मीर के विद्वान् बिल्हण (११ वीं शती) कल्याणी के चालुक्य वंशी सम्राट् विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६–११२७) के राजकवि के रूप में विद्यापति पदवी से सुशोभित हुए। बिल्हण ने विक्रमांकदेवचरित काव्य में करहाट की राजकुमारी चन्द्रलेखा के स्वयंवर में देश का जो चित्र खींचा है वह कालिदास के इन्दुमती स्वयंवर का ही परिवर्तित रूप है। वहां भारत के अयोध्या चेदि, कान्यकुब्ज, कालिंजर, ग्वालियर, गोपाचल मालव गुर्जर पाण्ड्य, चोल देशों के राजा उपस्थित हुए थे। यह स्वयंवर एक देश की समान रीति नीति की ओर संकेत करता है।

मध्यकाल की राजनीति जिस प्रकार देश की एकता व्यक्त करती है वह निम्नांकित राजाओं, राज्यपाल [illegible] विग्रह, मोक्ष, [illegible] चक्रवर्ती सम्राटों की दिग्विजययात्रा, [illegible], गुरुपरम्परा धार्मिक जीवन, पारिवारिक जीवन, आदि अनेक विशेषताओं से प्रकट होता है। सर्वत्र एक समान आदर्श और एक ही जीवनविधि पाई जाती है जैसे देश-व्यापी किसी

---

१ चीन की अनुश्रुतियों के अनुसार चीन सम्राट् हो ती के समय ([illegible]) में भारतीय राजदूत चीन गये। सिंहल ग्रंथ के अनुसार चीनी सम्राट् लियांग के दरबार में महानाम धातुगर्भ के एक भिक्षु भारत से उपहार लेकर गए थे। लगभग [illegible] ई. में [illegible] के शासक द्वारा भेजा हुआ दैविक भारत राजदूत चीन गया। लगभग [illegible] ई. में सम्राट [illegible] के यहां भारतीय प्रतिनिधि पहुंचा। [illegible] ई. में [illegible] की [illegible] द्वारा भेजा हुआ [illegible] एक पत्रिका चीन गया। [illegible] ई. में भारतीय राजदूत उपहार लेकर [illegible] के सम्राट [illegible] के दरबार में पहुंचे। [illegible] ई. में भारतीय राजदूत चीनी सम्राट [illegible] के दरबार में गए। [illegible] ई. में [illegible] के शासक के दरबार में चीनी सम्राट् का भेजा हुआ एक [illegible] गया। [illegible] सम्राट् [illegible] के दरबार में [illegible] सम्राट [illegible] (७१९ ७२०) का भेजा हुआ प्रतिनिधि गया। [illegible] ई. में [illegible] राजदूत चीन गया और [illegible] ई. में चीन सम्राट् का प्रतिनिधि [illegible] के दरबार में गया। [illegible] ने लिखा है कि [illegible] के [illegible] दरबार में [illegible] ([illegible])। [illegible] अर्थात [illegible] के [illegible] के साथ [illegible] के [illegible] विश्वविद्यालय में [illegible] के लिये [illegible] के [illegible] हुआ है।

विराट् परिषद् ने राजा और प्रजा के चरितों को एकता के सांचे में ढाल दिया हो। उन चरितों के बाह्यरूप और मन की प्रेरणाएं सर्वत्र समान हैं।

शासनप्रणाली की जिस एकरूपता की ओर देश बढ़ रहा था उसका एक अच्छा उदाहरण समस्त देश में भूमि का बन्दोबस्त और कर-निश्चिति के रूप में मिलता है। इसे "ग्रामसख्या" कहा जाता था। इसका अर्थ अंग्रेजी के हिसाब से लैंड सर्वे किया जा सकता है। शुक्रनीति से यह सूचित होता है कि इस प्रकार की एक ग्रामसख्या गुप्तकाल के लगभग की गई थी, जिसमें प्रत्येक ग्राम, मण्डल, प्रदेश आदि द्वारा देय भूमिकर चादी के कार्षापण सिक्का में निश्चित कर दिया गया था। ये सख्याएं नामों के साथ शिलालेखों में जुड़ी हुई मिलती हैं, जैसे ऐहोली के लेख में महाराष्ट्र के तीन भागों की ग्रामसंख्या अर्थात् भूमि का लगान ६६ सहस्र कहा गया है। मध्यकाल अर्थात् दशमी शती के लगभग फिर इस प्रकार कर बन्दोबस्त किया गया जिसका उल्लेख "अपराजित पृच्छा" नामक ग्रन्थ में आया है। वहां स्पष्ट कहा है कि ग्रामसख्या, देश-प्रमाण और राजाओं का मान तीनों का आधार "रूप" था (ग्रामाणा च तथा सख्या देशाना च प्रमाणत । राजा च युक्तिमान च अलकारैस्तद्रूपत , अपराजित पृच्छा ३८।३)। यहा रूप शब्द का अर्थ रुपया अर्थात् आजकल की परिभाषा में जमाबन्दी है। राजाओं का युक्तिमान अर्थात् छुटाई बड़ाई के आधार पर दरबार आदि में उनका सम्मान इसी बात पर आश्रित था कि उनके राज्य की आय क्या थी। सामन्त, माण्डलिक, महामाण्डलिक, नृप, महाराज, आदि पद आय के हिसाब से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने जाते थे। इसी हिसाब से सामन्त, माण्डलिक या राजा लोग मुकुट आदि आभूषण भी भिन्न भिन्न प्रकार के पहिनते थे जिससे प्रतिहारी भी स्वागत सत्कार के समय उन्हें पहिचान लेते थे। इसका उल्लेख "मानसार" नामक ग्रन्थ में आया है (अध्याय ४९)। अपराजित पृच्छा में देश के मुख्य मुख्य भागों की ग्रामसंख्या या जमाबन्दी दी हुई है, जैसे कान्यकुब्ज ३६ लाख, गौड़ १८ लाख, कामरूप ९ लाख, मण्डलेश्वर १८ लाख, कार्तिकपुर ९ लाख, चोल देश ७२ लाख, दक्ष राज्य ७॥ लाख, उज्जयिनी १८ लाख ९२ हजार, शाकम्भर १ लाख २५ हजार, लाट, गुर्जर, कच्छ, सौराष्ट्र संमिलित २ लाख, मरुकोटि और मरुमण्डल (मेवाड़, मारवाड़) ३॥ लाख, सिन्धुसागर ३॥ लाख, खुरसाण या खुरापाण ४० लाख, त्रिगर्त २ लाख, अहिराज्य १२ लाख, गुणाद्वीप ६॥ लाख, जलन्धर ३॥ लाख, कश्मीर-मण्डल ६६१८०। इस प्रकार इन २१ राज्यों की आय की ग्राम-सख्या या भूमि कर ६६९३३१८० होता है। स्कन्दपुराण के माहेश्वर-खण्ड के अन्तर्गत कुमारिका खण्ड के अध्याय ३९ में कुमारी द्वीप अर्थात् भारत देश की ग्रामसंख्या का योग ९६ करोड़ कहा गया है, किन्तु प्रत्येक के लिये जो ग्रामसंख्याएं वहा दी हैं, उनका योग २८,८०,८९,००० होता है। कुमारिका खण्ड में तो पत्तन अर्थात् समुद्रपत्तन, जलपत्तन, या पोतपत्तनों में चुगी से होनेवाली आय भी ७२ लाख कही गई है (३९।१६३)। अवश्य ही ये सख्याएं तभी सम्भव हैं जब समस्त देश में राजनैतिक और आर्थिक एकसूत्रता जीवन की वास्तविक सचाई बन चुकी है। मध्यकालीन हिन्दू राज्यों की इन सख्याओं की परम्परा में ही "आईन अकबरी" की वह सख्या है, जिसमें इलाहाबाद, आगरा, अवध, अजमेर, अहमदाबाद, बिहार, बंगाल, दिल्ली, काबुल, लाहोर, मुलतान, मालवा साम्राज्य के इन बारह सूबों की कुल आय ३६२६७५५२४६ दाम अर्थात् ९,०७,४३,८८१ रुपये कही गई है। पीछे से बिरार, खानदेश और अहमदनगर इन तीन सूबों के और आ जाने से राज्य की आय में वृद्धि हुई होगी। ये आंकड़े ऊपर लिखे हुए इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि देश के भिन्न भिन्न राज्यों में बटे होने पर भी

१ भारत का विदेशों के साथ प्रणिधि-सबध, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक उत्तरार्ध, सवत् २००१, पृ. २७०-२७४।

सामूहिक चेतना विद्यमान थी जिसके अनुसार सुलतान पर्वत और पामीर प्रदेश से लेकर लंका तक के भूभाग को एक ही देश अर्थात् कुमारी द्वीप के अन्तर्गत माना जाता था। कुमारिका खण्ड की सूची में चार खण्डों में बसने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण नाम दिए हैं, जैसे नेपाल, गान्धार (याकन्द या काबुल) कम्बोज, वाह्लीक (बल्ख बुखारा) कश्मीर, आकाशवाहक खुरासान या आकाशाचार या सिन्ध (एक, दोनरा का आकाशचार) सिन्धु, सप्त सिन्धु (अर्थात् सिन्धु के इस पार उस पार के देश) कच्छ, सौराष्ट्र, कोंकण कर्णाट, तथा सिंहलद्वीप, पारस्य, पाण्डुदेश (मदुरा या पाण्डु राष्ट्र) कामरूप, गौड़ वरेन्द्र (बरेली, पूर्वबंगाल) त्रिगर्त सिक्किम, (आसाम सिक्किम की सीमा का प्रदेश) भारतगुप्त देश (किन्नरों का देश रामपुर बुशहर)—इस प्रकार भारत देश की परिक्रमा इन नामों में आ जाती है।

इस देश का इतिहास गंगा की धारा हिमालय के ऊंचे शिखरों से उतर कर कन्याकुमार तक प्रवाहित होता रहा है। जहां एक ओर वैदिक काल और जहां दूसरे छोर पर मध्यकालीन जीवन और संस्कृति। किन्तु यह निश्चय है कि भारतीय संस्कृति अनन्त भेदों के बीच में भी मौलिक एकता और समन्वय की रीतिनीति और आचार के उच्च रूप से कभी विचलित नहीं हुई जिसे उसके मनीषी ऋषि ने ऋग्वेद में ही उसके लिये स्थिर कर दिया था—

समान मंत्र समान समिति
समान मन—समान सबका चित्त।
सबके लिये समान मंत्र अभिमंत्रित।
सबकी समान हवि से
यज्ञ करें देव मनुज॥
समान सबकी प्रेरणा समान सबके हृदय
समान सबके मानस भव ताकि सबकी स्थिति॥१॥

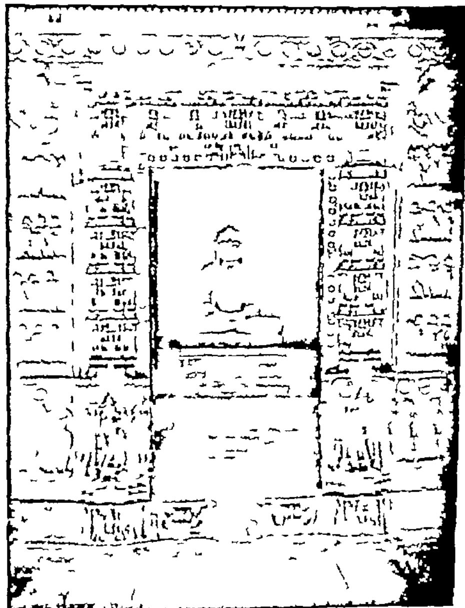
समानो मंत्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ (ऋ. १०।१९१।३-४)



पार्श्वनाथ भगवान, उदयगिरि गुफा, भीलसा
Image of Pārśvanātha Udayagiri cave Bhīlsa

तसवीर श्री० आर० भारद्वाज]



गर्भद्वार विमल वसहि, आबू ग्यारवीं सदी

Ornamen al ntrance of cell V mal Vasahi (Abu 11th Century

[पाषाण ...]



कुमारियाजीना पार्श्वनाथ भगवानना देरासरमां अजितनाथ भगवान कायोत्सर्ग मुद्रामां
नीचे स [illegible]नी सालनो लेख छे

Image of Ajitnātha in Kayotsarga Mudrā in Parsvanātha temple Kumbhāriā, N Guj, bearing inscription of V S 1176

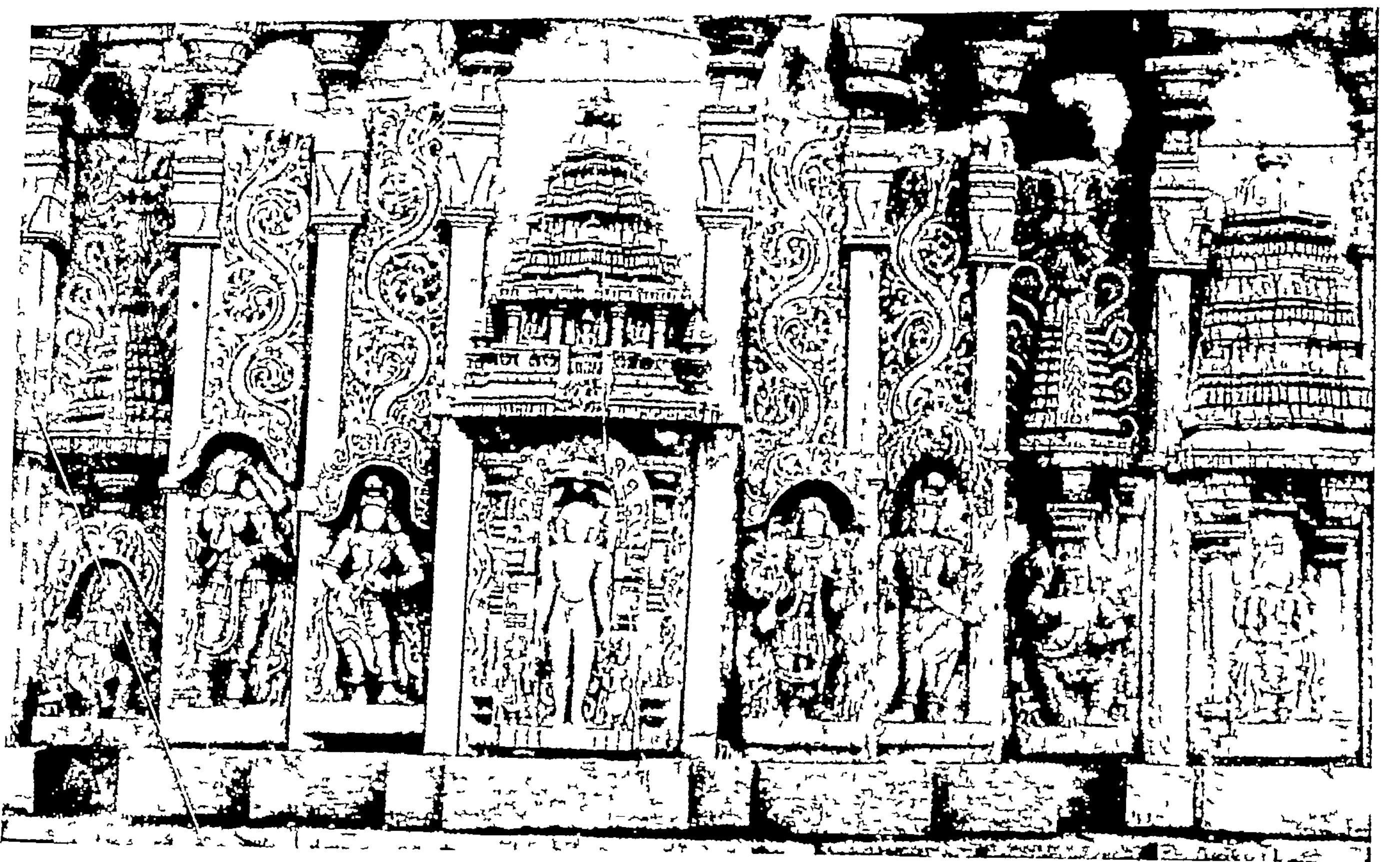
तसवीर श्री० आर० भारद्वाज]



भव्य जैन शिल्पमूर्तियाँ ग्वालियर

Colossus Jaina sculptures on the rock of Gwalior Fort

फोटोग्राफ आर्किओलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया]



शान्तिनाथ बस्तीनी दिवालपर आवेली शिल्पसमृद्धि, जिनानाथपुर
Sculptures on the north wall of Śāntinātha Basti, Jinānāthpur









स्तम्भपुत्तली—आबू [illegible] लूणवसही [illegible] शती
Pillar bracket d arfs Luna Vasahi Abu 13th Century

[illegible]]



शेठ हठीसिंगे बन्धावल जिनप्रासादनी दीवालपरनी कलामय शिल्पमूर्ति, अमदावाद, (१९मी सदी)
Reliefs on the walls of Hathising temple Ahmedabad 19th Century

तसवीर श्री० आर० भारद्वाज]



राणकपुरचा चतुर्मुख जिनालयाती देवालयाची भिंतीवरील स्त्रीप्रतिमा १५वी सदी
Female figures on the walls f the temple at Ranakpur 15th Century

छबीर श्री आर मराठ]

भट्टारक कनककुशल और कुंअरकुशल

श्री अगरचन्दजी नाहटा

जैन मुनियों ने साहित्य एवं समाज की नानाविध सेवाएँ की हैं। उनका जीवन प्राय ही संयमित होता है, अतः उनकी आवश्यकताएँ थोड़े समय के प्रयत्न से ही पूरी हो जाने से अन्य सारा समय वे आत्म साधना, साहित्य-सृजन और पर कल्याण में ही लगा देते हैं। उनका जीवन आदर्श रूप होता ही है और उनके साहित्य में भी लोक कल्याणकारी भावना का दर्शन होता है। अधिकांश मुनि वाणी द्वारा तो धर्मप्रचार करते ही हैं पर साथ ही साहित्य-सृजन द्वारा भावी पीढ़ियों के लिये भी जो महान देन छोड़ जाते हैं उसके लिये जितनी कृतज्ञता स्वीकार की जाय, थोड़ी है।

लोकभाषा में धर्मप्रचार व साहित्य-सृजन जैन मुनियों का उल्लेखनीय कार्य रहा है। भारत की प्रत्येक प्रधान प्रान्तीय भाषाओं में रचा हुआ जैन साहित्य इसका उज्ज्वल उदाहरण है। श्वेताम्बर जैन मुनियों का विहार राजस्थान एवं गुजरात में अधिक रहा अतः राजस्थानी एवं गुजराती को तो उनकी बड़ी देन है ही, पर हिन्दी भाषा के प्रभाव एवं प्रचार ने भी उनको आकर्षित किया। फलतः १७ वीं शताब्दी से उनके रचित हिन्दी भाषा के छोटे बड़े ग्रंथ अच्छे परिमाण में प्राप्त होते हैं। ये हिन्दी रचनाएँ विविध विषयों की होने से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनका संक्षिप्त परिचय मेरे "हिन्दी जैन साहित्य" लेख में दिया गया है।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में कच्छ जैसे अहिन्दी भाषी प्रदेश में व्रज भाषा के प्रचार एवं साहित्य-सृजन में दो जैन मुनियों का जो उल्लेखनीय हाथ रहा है, उसका परिचय अभी तक हिन्दी एवं जैन जगत को प्राय नहीं है। इसलिये प्रस्तुत लेख में भट्टारक कनककुशल और उनके शिष्य कुंअरकुशल की उस विशिष्ट हिन्दी साहित्य सेवा का परिचय करवाया जा रहा है।

कनककुशल नामक एक और तपागच्छीय विद्वान प्रस्तुत लेख में परिचय दिये जाने वाले कनककुशल से १२५ या १५० वर्ष पूर्व हो चुके हैं। उनसे तो जैन संसार परिचित है। वे विजयसेनसूरि के शिष्य थे। उनकी रचित "ज्ञानपंचमी कथा" बहुत प्रसिद्ध है जो संवत १६५५ में मेड़ता में रची गई। उनकी अन्य रचनाएँ "जिनस्तुति" (संवत् १६४१), "कल्याणमंदिर" टीका, विशाल लोचन स्तोत्र वृत्ति (संवत् १६५३ सादड़ी), साधारण जिनस्तव अवचूरी, रत्नाकर पंचविंशतिका टीका, सुरप्रिय कथा (संवत् १६५६), रौहिणेय कथा (संवत् १६५७) में रचित प्राप्त हैं। पर जिन कनककुशल का परिचय आगे दिया जायगा। उनकी जानकारी प्राय जैन समाज को नहीं है। क्यों कि जैन धर्म सम्बन्धी उनका ग्रंथ नहीं मिलता। उनके गुरु का नाम प्रतापकुशल था। संवत १७६८ के आसपास से इनके हिन्दी ग्रंथ मिलते हैं। आपके शिष्य कुँअरकुशल ने "लखपतमंजरी" में कविवंश वर्णन में अपनी गुरु परंपरा का परिचय अट्ठाइस पद्यों में दिया है। मूल पद्य लेख के अन्त में दिये जायेंगे। यहाँ उनका सार ही दिया जाता है।

कविवंश वर्णन का सार

अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर प्रभु के पचपनवें पट्ट पर श्रीहेमविमलसूरि[1] हुए। ये गुरु बड़े

---

१ इनका जन्म सं० १४३२ दीक्षा १५२८ आचार्यपद १५४८ स्वर्ग सं० १५८३ है।

उपकारी और बादशाह शेर सुल्तान को प्रतिबोध देनेवाले थे। इनके पट्ट पर कुशलमाणिक्य, फिर नारायणदास[1] हुए जिनके वचन से बादशाह जहाँगीर ने ... छोड़ा था। इनके पट्ट पर क्रमशः लक्ष्मीकुशल देवकुशल नीरकुशल हुए। इनके पट्ट पर शील धर्म धारक और तपस्वी गुलाबकुशल हुए। फिर प्रताप कुशलजी बड़े प्रतापी हुए, जिनका शाही दरबार में सम्मान था। ये चमत्कारी व वचनसिद्धिधारी थे। एक बार औरंगजेब को कोई सिद्धि की बात बतलाई जिससे उसने पालकी और पैर को मेज पर रखवाकर ... बुलाया और मिल कर बड़ा खुश हुआ। ये हिन्दी और फारसी भाषा भी पढ़े थे। इन्होंने बादशाह के प्रश्नों के उत्तर समीचीन दिये तथा मन की बातें ... के बल से बतलाई। बादशाह ने इस पात खुश किये पर इन निर्लोभी गुरु के अस्वीकार करने पर पालकी देकर उन्हें विदा किया। इनके पट्ट पर कविराज कनककुशल हुए, जिन्हें महा ... महाराव ... व अजमेर का सूबेदार और अन्य राजा लोग मानते थे। नवाब "खानखाँ बहादुर तथा अहमदाबाद के सूबेदार ... ने भी इनका बड़ा सम्मान किया। ... सारे यति एक ओर तथा ये एक ओर हो गये तो भी उन्हें के १५ वें पाट पर इनके मनोनीत ... स्थापित किये गये। इन्हें राजा देशल के पुत्र ... राजकुमार ने गाँव देकर अपना गुरु माना। इनका बहुत से विद्वान शिष्यों का परिवार था जिसमें "कुंवरेश" कवि तो ... मानते थे। कच्छ नरेश के आग्रह से कवि कुंवरेश ने यह "लखपत मंजरी" ग्रंथ बनाया।

जैसा कि उपर्युक्त सार से स्पष्ट है कि कनककुशल और कुंवरकुशल दोनों गुरु-शिष्य कच्छ के राजा लखपत से बहुत सम्मानित थे। कनककुशल को लखपत ने एक गाम देकर अपना गुरु माना था। इस प्रसंग का वर्णन एक छप्पय पद्य में भी पाया जाता है। वह इस प्रकार है:

महाराउ देसल ... ...
... ... ।
लखपति ... ...
सासन ... दीनो ... ... भट्टारक ... ... ॥ १ ॥

१ ... ... के ...

१ उपर्युक्त विवरण के अनुसार कनककुशलजी का ... [illegible] ... १८ ... [illegible] ... १७४३ ... [illegible] ... [illegible] ... [illegible]

देसल राउ को नंद लखपति जीनो शतानंद के जु सौलौ
राज करी महिमंडल इनु छत्र शशि रवि सागर तौलौ
शासन दीनो अभंग सुमेरु सो तोहि बखान करे कवि कौलौ
रान्ो भट्टारक कीनो कनक कनक के पाट परपर जौलो।

अर्थात्—राउल लखपति ने कनक कुशल को गाँव का पट्टा और हाथी दिया और साथ ही भट्टारक पद भी। मामका शासन कनककुशल के शिष्यपरपरा तक का था।

कच्छ के इतिहास में लिखा है कि कनककुशलजी से लखपत ने व्रज भाषा के ग्रन्थों का अभ्यास किया था और उन्हीं के तत्त्वावधान में छन्द एवं काव्यादि के शिक्षण के लिये एक विद्यालय स्थापित किया था। उस विद्यालय में किसी भी देश का विद्यार्थी व्रज भाषा के ग्रन्थों का अभ्यास करने आता तो उसे दरबार की ओर से पेटिया (भोजन सामग्री) देने की व्यवस्था की गई थी। इसलिये भाट चारणों के लड़के दूर दूर से यहाँ अध्ययन के लिये आते थे[1]। आत्मारामा केशवजी द्विवेदी के कच्छ देश के इतिहास के अनुसार यह विद्यालय संवत् १६३२ तक कनककुशल की परपरा के भट्टारक जीवनकुशलजी की अध्यक्षता में चल रहा था। यद्यपि अब भी एक ऐसा ही विद्यालय चारणों की देरारेस में चल रहा है पर वह वही है या उससे भिन्न, निश्चित ज्ञात नहीं है। करीब डेढ सौ वर्षों तक व्रजभाषा के प्रचार व शिक्षण का जो कार्य इस विद्यालय द्वारा हुआ वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हिन्दी साहित्य के परिचायक ग्रन्थ मिश्रबंधु विनोद के पृ ६६७ में कनककुशल और कुँअरकुशल को भाई एव जोधपुर निवासी बतलाते हुए इनके 'लखपत जस सिधु' ग्रंथ का उल्लेख किया है। पर वास्तव में वे गुरु शिष्य थे व जोधपुर निवासी नहीं थे। हमारे अन्वेषण में इन दोनों के और भी अनेक ग्रंथो का पता चला है जिनका परिचय आगे कराया जायगा। कुछ फुटकर पद्यों में कनककुशल का यशवर्णन पाया जाता है जिनमें से कुछ यह हैं

पंडित प्रवीन परमारथ के बात पाऊ, गुरुता गमीर गुरु ज्ञान हूँ के ज्ञाता हैं
पाचु व्रत पालैं राग द्वेष दोऊ दूर टालैं, आवै नर पास वाकु ज्ञान दान दाता हैं
पच सुमति तीन गुपति के सगी साधु, पीहर छ काय के सुहाय जीव त्राता हैं
सुगुरु प्रताप के प्रताप पद भट्टारक, कनककुशलसूरि विश्व में विख्याता है।

भट्टारक के भाव तें, ग्रथ बडे की बूझि।
गीत कवित्त अरु दोहरा, सबै परत मन सूझि।
आनन सोहत बानि सदा, पुनि बुद्धि घनि तिहुँ लोकनि जानि
पिंगल भाषा पुरातनि संस्कृत तो रसना पे इती ठहरानि।
साहिब श्री कनकेश भट्टारक, तो वपु राजे सदा रजधानी
जौं लौं है सूरज चद्र रु अंबर, तौं लौं है तेरे सहाय भवानी।

राज्याश्रय के कारण कनककुशल की शिष्यपरपरा ने हिन्दी साहित्य के सृजन और शिक्षण में विशेष सफलता प्राप्त की। कच्छप्रदेशवर्त्ती मानकुआ गाव ही समवत इनकी जागीरी में था इसलिये वहा इनकी शिष्य सन्तति द्वारा लिखित अनेक प्रतियाँ देखने को मिली हैं। इस विद्वद् परपरा का वहाँ अच्छा ज्ञान भडार

१ कच्छ कलाधर, भाग २, पृ ४२४

या जिसकी प्रतियाँ सन् १९१ वर्ष में ही मिल कर कुछ तो मुनि जिनविजयजी के सहयोग से खरीदी जाकर राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर, जयपुर के संग्रह में चली गईं। अवशेष मुनिवर्य पुण्यविजयजी के द्वारा खरीदी जाकर पाटन के हेमचन्द्र सूरि ज्ञान मंदिर में सुरक्षित हो चुका है। राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर से दो वर्ष पूर्व आबू समिति के प्रसंग से यहाँ आने पर मैं कुछ प्रतियाँ लाया था और उन में से तीन का परिचय 'शोधपत्रिका' के मार्च, सन् १९५१ में प्रकाशित किया गया था। तदनन्तर अहमदाबाद के इतिहास सम्मेलन की प्रदर्शिनी में पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित प्रतियाँ देखने को मिलीं। उन्हें मंगवा कर निरीक्षण के लिए लिया गया। यहाँ इन दोनों स्थानों से प्राप्त कनककुशल, कुँवरकुशल और सरमीकुशल की हिन्दी रचनाओं का क्रमशः परिचय दिया जा रहा है।

भट्टारक कनककुशल के हिन्दी ग्रन्थ

१. लखपतमंजरी नाममाला : इसकी पद्य संख्या १ २ है। प्रारम्भ में गुणस्तव और महाराजा लखपत के वंश का वर्णन १ २ पद्यों तक में किया गया है। फिर नाममाला प्रारम्भ होती है जो १ पद्यों तक चलती है। अंतिम दो पद्य प्रशस्ति के रूप में हैं। इसकी दो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं जिनमें पाटनवाली पहली प्रति में पत्र संख्या १ ५ है पत्र संख्या १४। इसकी प्रशस्ति इस प्रकार है: "इति श्रीमन् महाराउ श्री देशलजी सुत महाराज कुमार श्री लाखा श्री लखपति मंजरी नाममाला सम्पूर्ण॥ तस्य पंडित कवि कोविद पण्डित श्री १०८ श्री प्रतापकुशल गणि शिष्येण कनककुशलेन रचिता। संवत् १७९४ वर्षे भाद्रपद सुदी १ सोमे।" इससे रचनाकाल १७९४ सिद्ध होता है। दूसरी प्रति जयपुरवाली संवत् १८११ की लिखित है। इसमें पत्र १ २ हैं।

राउल लखपति के नाम से रचे जाने के कारण इसका नाम 'लखपत मंजरी' रक्खा गया। आदि अन्त इस प्रकार है:

सिन्धुर वदन धरित धरण निरमल वाणीदास।
मनुज देव मानव गनत, करहु हरि मन आस॥१॥

अन्त : लखपति जस कुसुमन ललित, रचि कवी धमित्रम।
कनक कुशल कौन्ही सरस नाम दाम गुन धाम॥१॥
जुगत जासु है जगत नर वस्तव सो न कोय।
मन धरि लखपतिमंजरी हरि रंजन ज्यों होय॥२॥

२. सुन्दर शृंगार की रसदीपिका भाषा टीका : राउजी के सम्मानित महाकविराय सुन्दर के रचित सुन्दर शृंगार की यह भाषाटीका लखपति के नाम से ही रची गई। इसका परिमाण २८०० श्लोकों का है जिसमें मूल पत्र तो १९५ ही है। इसकी दो प्रतियाँ पाटन से प्राप्त हुई हैं जिनमें एक के अन्त में "इति श्री सुन्दर शृंगारकी टीका भट्टारक श्रीकनककुशलसूरिरचित सम्पूर्ण" लिखा है इससे टीकाकार कनककुशल सिद्ध होते हैं, अन्यथा प्रशस्ति में तो कुवर लखपति द्वारा रचे जाने का उल्लेख है। यथा आदि दोहा टीका—

जय सुन्दर शिंगार की, रसदीपिका सुरत।
रची देशपति राउ सुत लखपति जहि रसभरत॥१॥

टीका जय सुन्दर कविकृत सुन्दर शिंगारकी टीका रसदीपिका नाम।
सुरत भली रस की रचि करत अपार मरवाउ।
देशपति कहत कच्छ देशपति श्री देशल राउ सुत कुवर लखपति ने
जाहि रस भरि वाहि रसमय करी रचित जय १।

इति श्री सुन्दर सिणगार नी टीका भट्टारक श्री कनककुशल सूरि कृत सम्पूर्ण ॥

यह टीका श्री लखपत के कुमारावस्था मे ही रची गई। अत सवत १७६८ से पहले की है। भट्टारक कनककुशल के ये दो ग्रन्थ ही मिले हैं पर अभी और खोज की जानी आवश्यक है। सम्भव है कुछ और रचनायें भी मिल जायें।

भट्टारक कनककुशल के हिन्दी ग्रन्थ

कुंवरकुशल कनककुशलजी के प्रधान शिष्य थे। वैसे उनके कल्याणकुशल आदि अन्य शिष्य भी थे। पर उनकी कोई रचना नहीं मिलती। महाराव लखपत और उनके पुत्र गौड़ दोनों से कुंवरकुशल सम्मानित थे। इन दोनों राजाओं के लिए इन्होंने ग्रन्थ रचना की। जिनका समय सवत १७६४ से १८२१ तक का है। कुंवरकुशलजी की लिखी हुई कई प्रतियाँ पाटन से प्राप्त हुई थीं। जिनमें पिंगलशास्त्र (सवत १७६१), पिंगलहमीर (स १७६५), लखपतिपिंगल (स १८०७), गोहड़पिंगल (स १८२१) की लिखित हैं। ये कोश, छन्द, अलकार आदि के अच्छे विद्वान थे। इन तीनों विषयो के आप के पॉच हिन्दी ग्रन्थ मिले हैं। जिनका परिचय इस प्रकार है।

१ **लखपति मजरी नाममाला** : इसकी एक ही प्रति बारह पत्रों की जयपुर से प्राप्त हुई। जिसमे १४६ पद्य हैं। प्राप्त अश म १२१ पद्यो तक लखपत के वश का ऐतिहासिक वृत्तान्त है और पिछले २८ पद्यों में कवि-वश वर्णन है। मूल नाममाला का प्रारम्भ इसके बाद ही होना चाहिए जो प्राप्त प्रति मे लिखा नहीं मिलता। संवत १७६४ के आसाढ सुदी २ को इनके गुरु ने इसी नाम का ग्रन्थ बनाया और उसके कुछ महीने पश्चात ही सवत १७६४ के माघ वदी ११ को इस नामवाले दूसरे ग्रन्थ की रचना उनके शिष्य ने की। यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसकी पूरी प्रति प्राप्त होने पर ग्रन्थ कितना बड़ा है, पता चल सकेगा।

महारावल लखपति के कथनानुसार ही इस नाममाला की रचना हुई है। आदि अन्त के कुछ पद्य इस प्रकार है

आदि सुखकर वरदायक सरस, नायक नित नवरग।
लायक गुनगन सौं ललित, जय शिव गिरिजा सग ॥ १ ॥

अन्त करि **लखपति** तासौं कृपा, कह्यौ सरस यह काम।
मजुल **लखपति मजरी**, करहु नाम की दाम ॥ ४८ ॥

तव सविता को ध्यान धरि, उदित कर्यो आरभ।
बाल बुद्धि की वृद्धि कौं यह उपकार अदभ ॥ ४६ ॥

२ **पारसात नाममाला** : यह फारसी भाषा के पारसात नाममाला का व्रजभाषा मे पद्यानुवाद है। पद्य संख्या ३५३ है। इससे कुंवरकुशल के फारसी भाषा के ज्ञान का पता चलता है। इसकी भी एक ही प्रति जयपुर-सग्रह से प्राप्त हुई है जो स १८२७ की लिखित है।

किय लखपति कुंअरेस कौं, हित करि हुकम हुजूर।
पारसात है पारसी, प्रगटहु भाषा पूर ॥ ६ ॥

वछित वरदाता विमल, सूरज होहु सहाय।
पारसात है पारसी, व्रज भाषा सु बनाय ॥ १० ॥

रूप रुचि सागर सुचिर सुभ जेती गिरधार।
तो सौं भी लखपति की पारसात सी प्यार ॥ ५१ ॥

इति श्री पारसात नाममाला महाराउ श्री महाराउ कुंवरकुशलसूरिकृत संपूर्ण

मूल फारसी ग्रन्थ का एक पद्य का अनुवाद यहाँ दिया जाता है :

खुदा के नाम, सागर प्याला है खुदा रसों सींचु प्यारा।
कलाबी जोति गरै मैं सर्वत्र जगत को मूल ॥ १ ॥

३. लखपति पिंगल : यह छंद ग्रन्थ लखपति के नाम से रचा गया है। इस की संवत १८०७ के पौष वदी ८ सोम वार को स्वयं कुंवरकुशल के लिखित ७१ पत्रों के प्रति पाटन भण्डार से प्राप्त हुई है। आदि अन्त इस प्रकार है

आदि : बानी वरदरेस की, गवरु सेन कुंवरेस
बखिनाई है नामरुचि, अविन बुद्धि उपदेस ॥ १ ॥

अन्त : गोरीपति गुन गुरु गणेश देव गुनगार
वह चरन कौ सौं गिर, लखपतीर देव कर ॥ ९ ॥

गुरु मन किरपा की गुरुन सुरस भयो सरूप
तन लखपति पिंगल प्रगट भयो उचरत मन भूप ॥ ११ ॥

४. गौड़पिंगल : लखपति के गुरु परमा योग के लिए कुशलमा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ बनाया गया है। संवत १८२१ भादव तृतीया म इसकी रचना हुई। और उसी समय की लिखित गुटका ११ पत्र-कार की स्वयं लिखी प्रति पाटन भण्डार से प्राप्त हुई। लखपति पिंगल से यह ग्रन्थ बड़ा है। इसमें ६ उल्लास हैं। आदि अंत इस प्रकार है :

आदि सुन्दर सुख दो सदा, देव गणेश के देव।
कुंवरकुशल पायँ परै, सुम निधि सुगम सेव ॥ १ ॥

अन्त अक्षर बद अनेरे, इन्द्र सबहि आदि।
कुंवरकुशल सुख हेत सुभ मत किये उपाधि ॥ ६४४ ॥

सुनि देस की धीर गुन, मनसा मनसासार।
लखपति मत विमल सुभर, सुन्दर सिंध उदार ॥ ६४५ ॥

५. लखपति जस सिन्धु : यह अलंकार शास्त्र तेरह तरंगों में रचा गया है। महाराजा लखपति के आदेश से इसकी रचना हुई। आदि-अन्त इस प्रकार है :

आदी : सकल देव सिर सेहरा, परम सदा कल्याण।
सिद्धि बुद्धि के नायक इच्छित फल दान ॥ १ ॥

अन्त : कवि सबहि पे जे कहे, अलंकार उपमान।
कुंवरकुशल ते ते कहे, लखपत गुनखान ॥ ८२ ॥

इति श्रीमन्त महाराज लखपति आदेशात सकल भट्टारक पुरन्दर म श्री कनककुशलसूरि शि कुवरकुशल विरचिते, लखपति जससिन्धु शब्दालकारार्थालकार त्रयोदश तरग। चुरु के यतिजी के सग्रह मे इसकी प्रति देखी थी।

६ **लखपति स्वर्ग प्राप्ति समय** . सवत १८१७ में महाराव लखपति जेठ सुदी ५ को कालधर्म प्राप्त हुए। जिसका वर्णन कवि ने ६० पद्यों में किया है। इस की एक ही प्रति जयपुर सग्रह से प्राप्त हुई है। आदि अत इस प्रकार हैं

आदि दौलति कविता देत है, दिन प्रतिदिन कर देव
कविजन याते करत हैं, सुकर-सफल सुभचेव ॥ १ ॥

अन्त यह समयो लखधीर को, कै सुनै पढ़ै सुज्ञान
सकल मनोरथ सिद्धि हैं, परमसुधारस पान ॥ ६० ॥

प्रति म लेखक ने इसे "महाराज लखपतिजीना मरसिया" की सज्ञा दी है। जो उचित ही है।

७ **महाराउ लखपति दुवावैत** ' इसकी प्रति ओलिये के रूप की हालही में मुनि श्री पुण्य-विजयजी की कृपा से प्राप्त हुई है। यह वर्णनात्मक खड़ी बोली हिंदी गद्य काव्य है। लगभग ५०० श्लोक परिमित यह रचना 'दुवावैत' सज्ञक रचनाओं मे सबसे बड़ी और विशिष्ट है। वर्णन की निराली छटा पढते ही बनती है। आदि-अत इस प्रकार है

आदि अहो आवो वे यार, बैठो दरबार।
ये चदनी राति, कहो मजलसि की बाति।
कहो कौन कौन मुलक कौन राजा कौन देखे,
कौन कौन पातस्या देखे।

अन्त जिनिकी नीकी करनी, काहू तें न जाय बरनी।
अतुल तेज उछरते च्यारों जुग अमर,
यह सदा सफल असी देत कवि कुअर ॥

इतिश्री महाराउ लखपति दुवावैत सपूर्ण ॥

८ **मातानो छन्द** यह तीस पद्यों का है। कच्छ के राजाओं की कुलदेवी आसापुरा की इसमें स्तुति की गयी है। इसकी दूसरी संज्ञा "ईश्वरी छद" भी है। इसकी भाषा डिंगल है। आदि—अन्त इस प्रकार है

आदि बड़ी जोति ब्रह्माण्ड अम्बा विख्याता। तुमै आसपूरा सदा कच्छ त्राता॥
रग्या रग लाली किया पाय राता। भजो श्रीभवानी सदा सुक्ख दाता॥ १ ॥

अन्त करी भटारक वीनती, धरो अम्बिका कान।
कुअर कुशल कवि नै सदा, द्यो सुख-संपति दान॥ ३० ॥

२६ वें पद्य मे भुजपति गौहड़राव और उनके पुत्र कुवर रायधन का उल्लेख है। अत यह रचना परवर्ती ही है। खोज करने पर कुवरकुशल के अन्य ग्रन्थ भी मिलने सम्भव हैं।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण इन्होंने अपनी रचना के प्रारम्भ में कहीं भी जैन तीर्थंकर आदि की स्तुति नहीं कर सूर्य, देवी और शिवशक्ति को राजा के मान्य थे उन्हींकी भावनानुरूप में स्तुति की है।

इन दोनों गुरु शिष्यों का महात्मक पद एवं सूरि विशेषण भी विचार रूप से ध्यान आकर्षित करता है। जैन परम्परा के अनुसार ये दोनों पद विशिष्ट पदस्थ नामक आचार्य के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। पर महात्मक पद तो यहाँ राज सम्पत्ति के प्रसंग है। सूरि पद इसीसे सम्बन्धित होने से प्रयुक्त कर दिया प्रतीत होता है। जैनसम्प्रदाय के अनुसार इनका पद उपाध्याय ही था।

इस महात्मक रूप की परम्परा का प्रभाव व राज्याश्रय पीछे भी रहा है। यद्यपि पीछे कौन कौन ग्रन्थकार हुए, ज्ञात नहीं है। उल्लेखनीय रचनाओं में लक्ष्मीकुशल रचित कृष्णीराज विवाह ही है जो संवत् १८५१ एवं ५२ पद्यों में रचा गया है। इस की १ प्रतिलिपि जयपुर से प्राप्त हुई थी। आदि अन्त इस प्रकार है:

आदि : धीमत् प्रकाशक एकाक्षर वैराग्य मात करि उत्तम लिख।
सिय इरत ध्यारि आनन्दो सु ध्यान आनन्दी नख तोल शिशु उत्तम ॥ १ ॥

अन्त : मोहन कीन्हे लघु भाति भ्रति धारत पुन रावि पैठ पावि।
पच्छ परी करी पाठककीन मई चल चले मन भावनीय ॥ ५ ॥

इति श्री महाराज कुमार श्री प्रथीसिंह विवाहोत्सव : पैं लिखमीकुशल कृत संपूर्णो ॥

ये पृथ्वीराज महाराज जगतसिंह के पुत्र पौत्र के पुत्र थे। इन के बाद माधो राजसिंहजी गद्दी पर बैठे।

कल्याणकुशल की परम्परा में और भी कोई ग्रन्थकार हुए हो तो उनकी कोई बड़ी रचना मुझे प्राप्त न हो सकी। जयपुर भण्डार से प्राप्त एक गुटके में, जो उसी परम्परा के कल्याणकुशल शिष्य कीर्तिकुशल का लिखा हुआ है उसमें कुछ फुटकर रचनाएं अवश्य मिली हैं। जिनमें ज्योतिषी का भाषा रचना उपरोक्त पृथ्वीराज की मराठा में लक्ष्मीकुशल का रचित फुटकर पद्यों के रूप में है। इसी प्रकार कल्याणकुशल रचित तीन स्थानों का एक स्तोत्र और अन्य कई कवियों की लघु कृतियें हैं। उनमें कुछ पद्यों के रचयिता का नाम नहीं है। और कुछ नामवाले कवियों का इस परम्परा से क्या सम्बन्ध रहा है पता नहीं चल सका, इसलिए यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। यह गुटका सं० १८८८ में कल्याणकुशल के शिष्य कीर्तिकुशल ने मानकुशल व मुनि गुलाबकुशल और रामकुशल के लिए लिखा। इसके बाद की परम्परा के नाम ज्ञात न हो सके।

इस परम्परा के कवियों के ज्ञानभण्डार की समस्त प्रतियों के अवलोकन करने पर संभव है और भी विशेष एवं नवीन जानकारी प्राप्त हो। अन्य विद्वानों से अनुरोध है कि वे अपनी विशेष जानकारी प्रकाश में लाएं।

कल्याणकुशलजी का कवित्व वर्णन

गणेशगुरु पहिलें सिमर, ताकि येह शुभ ज्ञानु।
ज्योतिष मत ज्योतिषिनी, लिखतान्त भाखनु ॥ ११ ॥

कल्याणकुशलजी किरै, देवल किर्म गुणीशु।
तीर्थंकर कैसे करे, करि और सर्वशु ॥ १२ ॥

महावीर जगनिगुरु अतुलबली परिहत ।
ऐसे ही चौबीस ए, भये आपु भगवंत ॥ २४ ॥

तिनके आदि मुनीश गुरु प्रभुता की नाहि पार ।
जय हर श्री जिनगम जय, शासन को सिंगार ॥ २५ ॥

तिनि तें पच्चन म तारा, सिरीपूनि गिरनारु ।
हेमविमल गणधर, जाग भरन जिहानु ॥ २६ ॥

पर उपरांत परमगुरु हेमगद गुन रंग ।
भानू सैद सुलतान जनि प्रतिबोधित उपदेश ॥ २७ ॥

भये कुशल माणिक्यभुव पंडित तिनिके पाट ।
तिनके ही तिनिके तखत, सहज कुशल गणराट ॥ २८ ॥

जाकी महिमा जगत्रय को करि सकै सराहि ।
मान्यो जेहि ता वन्दना, साहिन बब्बर साहि ॥ २९ ॥

लायक पुनि लक्ष्मीकुशल पट्टधर तिनिके पाट ।
देवकुशल तिनिके तखत, साधुनि को सम्राट ॥ ३० ॥

तिनिके पट्टाधर नमनि, धीर कुशल भये धीर ।
कियो दूर कलि कुमतम, बड़े तपागच्छ वीर ॥ ३१ ॥

ताके तिनिके गुण कुशल अचल पट्टधर इन्द्र ।
शील सत्य तप जप सहित चतुर चातुरी चन्द्र ॥ ३२ ॥

पाटन चली तिनिके तखत, भये प्रतापगुण भानु ।
श्री प्रताप कुशल सुगुरु, साहि निलय सनमानु ॥ ३३ ॥

जाके नरपति नम तें सदा साथ के साथ ।
वचनसिद्धि परसिद्धि सों भई सिद्धि सब हाथ ॥ ३४ ॥

एक समै आगरा मां, काहू करी पुकार ।
कही बात कछु सिद्धि की, सुनी साहि सिरदार ॥ ३५ ॥

पासि बुलाए पालखी, फौज भेज फुरमान ।
जैसे जुरी प्यारी निजरि तैसे भयो गलतान ॥ ३६ ॥

पढ़े हिन्दवी पारसी, गुरु अकलि गुराब ।
पूछ दिल्लीपति प्रसन जिनके दये जुबाब ॥ ३७ ॥

और इष्ट जलिकर कही कितीक मन की बातु ।
प्रेम निजरि आलिमपना वसु को किय बरसातु ॥ ३८ ॥

दये गाम दशपंच पै लिये न लालच धारि ।
दे पालख अमोल दुति, विदा किये तिहि वारि ॥ ३९ ॥

मनमें तिनिके पाट भव सत रत निधि विहारु ।
भरे मरुधी मरुधी कनककुसुम अविरलु ॥ ४ ॥

मनै किनै महाकवी, महाराज अभयमल ।
अब एते अजमेर के माने है महिपाल ॥ ४१ ॥

चलै पान किते किते आदर करइ सुजान ।
देवनि को मानू सुधर, गुरु गौरव गुलतान ॥ ४२ ॥

जूनागढ़ रहे जस, करै बड़ा सुजान ।
सरेखान मिन सुगुर की भगति महाये भाव ॥ ४३ ॥

भरे जती इक मीर तब, एकु मीर की आपु ।
पाट तपा पत वशिको चल्यो वठ निज आपु ॥ ४४ ॥

वरतु परम देसल तनुज, कल्याणपति सत्याकुमार ।
गुरु गच्छ पति पाम दे परम मान करि प्यार ॥ ४५ ॥

कच्छ दर आवे रहें भार ठ तुपी मनेहु ।
मनिंग रासाचेया अपितु, एकु एकु दे पटु ॥ ४६ ॥

पूरण महापुण्यवन्ते, पुनि बहरि परिवार ।
ठहरि नमी कुमरेव को आनन्द मन इतबार ॥ ४७ ॥

करि छत्रपति कारी कृपा, करी उच्छव मद काम ।
मकुन छत्रपति मंजरी, करतु नाम की धाम ॥ ४८ ॥

तब वसिष्ठ की ध्यान करि, उदित कर्यो आरम ।
पाल बुद्धि की बुद्धि अब बर उतराम परम ॥ ४९ ॥



जिनप्रतिमा और जैनाचार्य

पं० श्रीहंसराजजी शास्त्री

"पद्मरागधौतविलोमपाठा या भारती या कमलालया च।
निरर्गलानाथपदार्थविज्ञ, स्वा स्तो विभूति तनुतां मयीदाम्॥"

जैन परम्परा में चैत्य शब्द के शिष्टसम्मत प्राचीन मौलिक अर्थ में प्रतिबिम्बित होनेवाली जिन प्रतिमा को जैनागमों में कहां और किस प्रकार से विधेयता प्राप्त है यह एक अलग विषय है। इस विषय के विचार को किसी और समय के लिये सुरक्षित रखते हुए; इस वक्त तो हम यह देखने का यत्न करेंगे कि जैनपरम्परा के विशिष्ट श्रुतधर युगप्रधान आचार्यों का इस विषय में क्या मत है।

इस सम्बन्ध में जहां तक हमारा पर्यालोचन है, हमें तो इनके रचे हुए ग्रन्थों में जिन प्रतिमा का समर्थन अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह बात उनके रचे हुए ग्रन्थों के कतिपय निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाती है—

प्रशमरति[1] प्रकरण—वाचक उमास्वातिने प्रशमरति के १२ वें अधिकरण में गृहस्थ के धार्मिक कर्तव्यों के वर्णन प्रस्ताव में लिखा है—

---

१ (क) यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता वाचक उमास्वाति की अन्य प्रौढरचनाओं में से एक है और इसके उमास्वातिरचित होने में निम्नलिखित प्रमाण हैं—

"पसमरइपमुहपयरण पंचसया सक्कया जेहिं।
पुव्वगय वायगाणं, तेसिमुमासाइनामाणं" [गणधर सा० श० गा० ५१—श्रीजिनदत्तसूरि]

अर्थात् प्रशमरति प्रमुख पांच सौ ग्रन्थों की रचना करने वाले वाचक उमास्वातिको—

(ख) प्रशमस्थेन येनेयं कृता वैराग्यपद्धतिः।
तस्मै वाचकमुख्याय नमो भूतार्थभाषिणे।

अर्थात् जिसने इस वैराग्य पद्धति (प्रशमरति) का निर्माण किया है ऐसे प्रशांत और यथार्थवादी वाचकमुख्य (उमास्वाती) को मैं नमस्कार करता हूं।

(ग) तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार श्रीसिद्धसेन प्रशमरति को भाष्यकार की ही कृति सूचित करते हैं। यथा—"यतः प्रशमरतौ (का० २०८) अनेनैवोक्तं परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः।" वाचकमुख्येन स्वैतदेव बल सप्रयाप्रशमरतौ (का० ८) उपात्तम् [५।६ तथा ९।६ की भाष्यवृत्ति] ××× प्रशमरति की १२० वीं कारिका—"आचार्य आह" कहकर निशीथचूर्णि में उद्धृत की गई है। इस चूर्णि के प्रणेता श्री जिनदास महत्तर का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है जो कि उन्होंने अपनी नन्दीसूत्र की चूर्णि में बतलाया है। इस पर से ऐसा कह सकते हैं कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है। इस से और ऊपर बतलाये गये कारणों से यह कृति, वाचक की ही हो तो इस में कोई इनकार नहीं" [पं० श्रीसुखलालजीशास्त्री तत्त्वार्थपरिचय ५०१७ का नोट]

(घ) श्री हरिभद्रसूरि ने भी प्रशमरति को वाचक उमास्वाति की रचना माना है तथा—"यथोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे" ऐसा कहकर श्रीहरिभद्रसूरि, भाष्यटीका में प्रशमरति की २१० वीं और दोसौं ग्यारहवीं कारिका उद्धृत करते हैं [तत्त्वार्थपरिचय ८०३१ का नोट]

चैत्यायतनप्रस्थापनानि कृत्वा च शक्तितः प्रयतः ।
पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्याः ॥ १५॥

अर्थात्-सम्यक् दर्शनयुक्त अपनी शक्ति के अनुसार यत्नपूर्वक चैत्य जिन प्रतिमा को आयतन-मन्दिर में प्रतिष्ठित करके उसकी गन्धपुष्पधूपदीप आदि सामग्री के द्वारा पूजन करे।

प्रशमरति की इस कारिका में वाचक उमास्वाति ने चैत्य शब्द प्रतिमा के ही अर्थ में प्रयुक्त किया है और "आयतन" का मन्दिर अर्थ तो स्पष्ट ही है। तात्पर्य कि इस स्थान में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का जिन बिम्ब जिनप्रतिमा के सिवा दूसरा कोई अर्थ सम्भव ही नहीं हो सकता। इस कथन से हमें यह निःसंशय अभिप्रेत है कि वाचक उमास्वाति जैसे पूर्ववित् भी चैत्य का मूर्ति ही अर्थ करते और समझते हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थभाष्य की प्रारम्भिक सम्बन्धकारिकाओं में उल्लेख की गई निम्नलिखित आठवीं कारिका भी प्राप्त है। आचार्य कहते हैं—

"अभ्यर्चनादर्हतां मनःप्रसादस्ततः समाधिश्च ।
तस्मादपि निःश्रेयसमतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ॥"

अर्थात्—अरिहंतों-तीर्थंकरों के पूजन से रागद्वेषादि दुर्भाव दूर होकर चित्त-प्रसाद होता है, निर्मल बनता है। और मन के प्रसन्न निर्मल होने से समाधि ध्यान में एकाग्रता प्राप्त होती है। एवं समाधि की प्राप्ति से कर्मों की निर्जरा द्वारा मोक्षपद की उपलब्धि होती है। अतः तीर्थंकरों का पूजन करना सर्वथा न्यायोचित है।

इस उल्लेख में वाचक उमास्वाति ने द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार की पूजा का निर्देश किया है जिसमें *आरम्भ प्रवृत्त गृहस्थों के लिये द्रव्य पूजा और आरम्भ से रहित मुनियों के लिये भाव पूजा है।* इन्हीं को द्रव्यस्तव और भावस्तव के नाम से आगम में उल्लेख किया है।

पउमचरिय—श्रीविमलसूरिविरचित पउमचरिय (पद्मचरित)—जो कि विक्रम की प्रथम शताब्दी में रचा गया माना जाता है—में लिखा है कि—

इन के कर्ता प्रशमरति पर श्रीहरिभद्रसूरि ने एक व्याख्या लिखी है। यथा—श्रीहरिभद्राचार्यरचित प्रशम रतिविवरण किंचित् परिभाव्य वृद्धटीकां [illegible] [प्रशमरति की प्रस्तावना जैन [illegible] ग्रन्थमाला] इसकी प्रस्तावना से प्रशमरतिविवरण वाचक उमास्वाति की ही कृति विदित होता है। यथा [वाचक उमास्वाति का] समय यद्यपि अभी तक अनिश्चित ही है तो भी वे विक्रम की चौथी पाँचवीं शताब्दी से पूर्व ही हुए हैं।

२ चैत्य जिन प्रतिमा [illegible] चैत्यायतनानि। [illegible] [illegible] पूजाश्च [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [प्रशम० १५]

३ इसके लिये देखो आवश्यकनिर्युक्ति और भाष्य तथा पूज्य हरिभद्रसूरि का निम्न श्लोक—
द्रव्यस्तव भावस्तवरूपमेतत् [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ पञ्चा. ६, [illegible] ॥

४. पंचेव य वाससया दुसमाए तीसवरिसजुत्ता।
वीरे सिद्धिमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥ [illegible]

अर्थात् वीर निर्वाण के ५३० वर्ष बीते पर (वि. सं. ६०) इस पउमचरिय की रचना की गई।

"वरसुविहियापुव्वधरेण काऊण गिरिपडिमाणं ।
अह ते कुमारसीहा [illegible] पत्ता ति" ॥ [१५० पृ २४]

अर्थात्—वे [illegible]कुमार गिरिप्रतिमाओं का यथाक्रम विधिपूर्वक वन्दन पूजन करके [illegible] में आते हैं।

इस उल्लेख से प्रतिमा पूजन को जो समर्थन प्राप्त होता है वह किसी अन्य [illegible] की अपेक्षा नहीं रखता।

बृहत्कल्प[1] भाष्य—बृहत्कल्प भाष्य की निम्न लिखित गाथा में अष्टपूर्व गुणप्रधान आचार्यों तथा विशुद्ध चरण श्रुत सम्पन्न साधुओं एवं पुरानी और नई चैत्य-प्रतिमाओं का वन्दना करने का उल्लेख है—

"अपुव्वविविहकुसुमा य परिवार य आयरिया।
परिवार [illegible]. चेइय पुव्वा अभिनवा वा। (२०५३ पृ ७७८)

यहां पर उल्लेख किए गये पुरातन और नवीन चैत्यों का अर्थ पुरानी और नई जिन प्रतिमायें ही संभव हो सकता है। टीकाकार ने भी यही अर्थ किया है—

"चैत्यानि पूर्वाणि वा चिरन्तनानि जीवन्त[2]स्वामिप्रतिमादीनि अभिनवानि तत्कालकृतानि-एतानि ममादृष्टपूर्वाणि इति बुद्ध्या तेषां वन्दनाय गच्छन्ति" अर्थात् यहां पुरातन से जीवन्त स्वामी की प्रतिमा आदि को समझना और अभिनव से उस समय की प्रतिष्ठित प्रतिमायें जानना।

---

१ बृहत्कल्पभाष्य के रचयिता गुणधर [illegible] आचार्य [illegible] गणि क्षमाश्रमण हैं। इनका समय विक्रम की सातवीं शताब्दी के पूर्व है और ये [illegible] समय में हुए प्रतीत होते हैं। [illegible]भाष्य और वसुदेव हिण्डी ये दोनों इन्हीं की कृतियां हैं। [जैन सा का इतिहास ६ १४१]

२ जीवन्त स्वामी नाम की तीर्थंकर प्रतिमा का प्राचीन जैनसाहित्य में अनेक जगह उल्लेख पाया जाता है, उसके देखने से यह अत्यन्त प्राचीन प्रमाणित होती है। निशीथचूर्णि कल्पचूर्णि और आवश्यकचूर्णि के उल्लेखों से सिद्ध होता है कि,—आचार्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ति जी जीवन्त स्वामी की प्रतिमा के वन्दनार्थ विदिशा और उज्जयनी में गये।
यथा—

(क) [illegible] आयरिया विदिसं [illegible] जिय पडिम वंदियागता। (निशी चू पृ १६१)
(ख) दोवि [illegible] विहरिंसुगया, तत्थ जियपडिमं वंदिता अज्ज महागिरी एकच्छ गया गयग्ग पद वंदया × × × सुहत्थी वि उज्जेणि जियपडिम वंदियागता (आ चूर्णि)
(ग) "इओ अज्जसुहत्थी उज्जेणि जियसामि वन्दओ आगओ" (कल्पचूर्णि) आर्यमहागिरी और आर्य सुहस्ति ये दोनों आर्य स्थूलभद्र के हस्तदीक्षित शिष्य हैं। इनकी दीक्षा वीर निर्वाण १६१ और २२१ में तथा युग प्र २१५ और २४५ में हुआ [वीरनि संवत् और जैनकालगणना पृ ६४] इससे साबित होता है कि विक्रमपूर्व तीसरी शताब्दीसे भी बहुत पहले जीवन्त स्वामी नाम की तीर्थंकर प्रतिमा जैन परम्परा में विशेष प्रख्यात थी। अतएव दूर दूर से भाविक गृहस्थ तथा समाहित मुनिवर्ग उसके दर्शनार्थ आते थे। इसका समर्थन वसुदेव हिण्डी के निम्न लिखित कथांश से भी मिलता है—

"तेण सत्थेण समं बहुसिस्सिणीपरिवारा जिणवयणसारदिट्ठपरमत्था सुव्वया नाम गणिणी जीवन्तसामिवंदिया वच्चइ०" [पृ ६१]

अर्थात् संघ के साथ अनेक शिष्याओं से परिवृत्त जिन प्रवचन के परमार्थ को जानने वाली सुव्रता नाम की गणिनी प्रवर्तिनी जीवन्त स्वामी को वन्दना करने के लिये उज्जयिनी को जा रही थी।

[illegible] भाष्य—[illegible] और उसके व्यवहार भाष्य में भी साधु को [illegible] नगरी में [illegible] चैत्य को वन्दना करने के लिये जाने का उल्लेख है—

(क) "[illegible] (गाथा ७७४ पृ. ९९)
"[illegible]निमित्त [illegible]" (चूर्णि पृ. ७)

(ख) निशीथचूर्णिभाष्य के मूर्तिपूजा समर्थक प्रसंग में से भी यहां एक गाथा का उल्लेख किया जाता है—

[illegible] [illegible] पूय [illegible]।
[illegible] ॥ १६४ ॥

इसका आशय यह है कि [illegible] का प्रतिदिन त्रिसन्ध्या करनी चाहिये। क्यों कि यह [illegible] परिणाम विशुद्धि का हेतु है। निशीथभाष्य का यह समय [illegible] और [illegible] योग्य है।

(ग) व्यवहार भाष्य में [illegible] और [illegible] की व्याख्या इस प्रकार की है—
"[illegible] पुप्फाई [illegible]" (१६१)

अर्थात् पुष्पादि के द्वारा जिनप्रतिमा का अर्चन करना द्रव्यस्तव है और भक्तिभाव से उनका गुणोत्कीर्तन-गुणगान करना भावस्तव कहलाता है। इसके अतिरिक्त आवश्यक चूर्णि और आवश्यक वृत्ति में महाराज उदायी के द्वारा उनकी राजधानी पाटलीपुत्र के मध्य में एक भव्य जिन मन्दिर बनवाने का उल्लेख है। यथा—

(क) [illegible] (पृ. १७८)

(ख) [illegible] [illegible] [illegible]—[illegible] कारित [आ. वृ. पृ. ६८६]

आवश्यकचूर्णि और आवश्यक वृत्ति के उपर्युक्त उल्लेखों का समर्थन श्री जिनप्रभसूरि के अपने

(१) [illegible] और उसके भाष्य के निर्माता श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं और निशीथभाष्य की [illegible] है। जैन परम्परा में इस के [illegible] [illegible] है कि इनके [illegible] आगमों के भाष्यों की [illegible] है [illegible]। [illegible] के अनुसार [illegible] और निर्वाण से ११११ (वि. सं. ६४१) माना जाता है।

१ [illegible], [illegible]।
[illegible]॥

२ द्रव्यस्तव पुष्पादिभिः [illegible] (हरिभद्रसूरि [illegible] पृ. [illegible])

[illegible] [illegible] राजा [illegible] का [illegible] था। [illegible] विक्रम पूर्व [illegible] में हुआ और निर्वाण के [illegible] [illegible] थी। विक्रमपूर्व [illegible] और निर्वाण ११ में [illegible] और वि. पूर्व ४[illegible] और निर्वाण ५[illegible] में स्वर्गवास हुआ।

[illegible] के प्राचीन [illegible] से पता चलता है कि जैन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] का निर्माण करके वहां [illegible] जिनमन्दिर की [illegible] भी करते। इसके लिये [illegible] [illegible] और [illegible] (राजस्थान) आदि के प्राचीन दुर्गों [illegible] जिन मन्दिर [illegible] [illegible] रूप में [illegible] हैं।

विविध तीर्थकल्प में "तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं कारयामास" (अर्थात् राजा उदायी ने पाटलीपुत्र नगर के मध्य में श्री नेमिनाथ का चैत्य बनवाया) इन शब्दों में किया है (पाटलीपुत्र कल्प पृ ६८)

श्रीहरिभद्रसूरि—

जैनपरम्परा में श्री हरिभद्रसूरि का स्थान बहुत ऊंचा है, इन्होंने जैन परम्परा के धार्मिक साहित्य में जिस अलौकिक दिव्य जीवन का संचार किया है वह एक मात्र इन्हीं की आभारी है। इनके ग्रन्थों में जो मध्यस्थता, गम्भीरता और सत्यप्रियता दृष्टिगोचर होती है वह अन्यत्र क्वाचित् ही दिखाई पड़ती है। इनके व्यक्तित्व में रही हुई अलौकिक ज्ञानविभूति से प्रभावित हुए तदुत्तरवर्ति आचार्यों[1] ने-श्री सिद्धर्षि, श्रीजिनेश्वरसूरि, श्रीवादिदेवसूरि, श्रीलक्ष्मणगणि आचार्य, श्री मलयगिरि, श्री प्रद्युम्नसूरि उपाध्याय, श्री यशोविजयजी आदि विशिष्ट विद्वानों ने इनके विषय में श्रद्धापूरित हृदय से जो भक्तिभाव प्रकट किया है, उसको देखते हुए तो इनके वचनों पर हमारा विश्वास और भी सुदृढ हो जाता है। अस्तु अब हम पूज्य हरिभद्रसूरि के प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का अतिसंक्षेप से दिग्दर्शन कराते हैं।

पूज्य हरिभद्रसूरि ने अपने सद्ग्रन्थों में द्रव्यस्तव और भावस्तव अर्थात द्रव्य और भावरूप से प्रतिमा पूजन को पुष्कल स्थान दिया है वे स्तवविधि—पूजाविधि को आगमशुद्ध[2] और विहितानुष्ठान[3] मानते हैं यह स्तव पूजा द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है। द्रव्यस्तव और भावस्तव। इसीका दूसरा नाम द्रव्यपूजा और भावपूजा है। इनमें द्रव्य पूजा का अधिकारी गृहस्थ है और भाव पूजा का अधिकार साधु को है। परन्तु यथोक्त विधि[4] के अनुसार अनुष्ठान किया गया यह द्रव्यस्तव भावस्तव का कारण होता है। अत.

---

१ विष विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचीचरद् यः कृपया मदाशये।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधा नमोस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये॥ [उपमितिभवप्रपञ्च पृ १३]

येषां गिरः समुपजीव्य सुसिद्धविद्या
मस्मिन् सुखेन गहनेऽपि पथि प्रवृत्तः।
ते सर्व्वो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः
श्रीसिद्धसेनहरिभद्रमुखाः सुखाय (शास्त्रवार्तासमु टीका)
अन्य आचार्यों के उल्लेख विस्तारभय से नहीं दिये गये।

२ "थयविहिमागमसुद्ध" (पञ्चाशक ६।१)
स्तवः पूजा तस्य विधिर्विधान प्रकारः स्तवविधिस्तम्। आगमः स्तवपरिज्ञानार्थं आप्तवचनं तेन शुद्धस्तदुक्तानु-
पातेन निर्दोषः आगमशुद्धस्तम् (अभयदेवसूरि)
अर्थात् पूजाविधि यह आप्तवचन के अनुसार होने से निर्दोष है।

३ तत्तो पइदियहपूयाविहाणओ तह तहेव कायव्वं।
विहियाणुट्ठाणं खलु भवविरहफलं जहा होति॥ (पञ्चा ८।५०)
(ततः प्रतिदिनं पूजाविधानतः तथा तथा इह कर्तव्यम्।
विहितानुष्ठानं खलु भवविरहफलं यथा भवति॥)
विहितानुष्ठानं-पूजावन्दनयात्रास्नानादि। (अभयदेवसूरि)

४ सुत्तभणिएण विहिणा गिहिणा निव्वाणमिच्छमाणेन।
तम्हा जिणाण पूया कायव्वा अप्पमत्तेण॥ (पञ्चा ४।४६)
व्या सूत्रभणितेन-आगमोक्तेन विधिना-विधानेन पूजा कर्तव्या केनेत्याह-गृहिणा-गृहस्थेन साधोरनधिकार-

गृहस्थ के प्रतिदिन के धार्मिक कर्तव्यों में आचार्य हरिभद्र ने इस द्रव्यस्तव को मुख्य स्थान दिया है और मुमुक्षु गृहस्थ के लिये आगमोक्त विधि के अनुसार सम्यक् भाव से इसके अनुष्ठान का आदेश दिया है। इसके अतिरिक्त द्रव्यस्तव और भावस्तव—द्रव्यपूजा और भावपूजा ये दोनों एक दूसरे से अनुप्राणित हैं—परस्पर अनुस्यूत हैं और साधु तथा गृहस्थ दोनों के लिये अनुष्ठेय हैं। जैसे द्रव्यपूजा के अनन्तर यथाशक्ति भावपूजा गृहस्थ करता है उसी प्रकार भावस्तव के अधिकारी साधु को भी अनुमोदना रूप में द्रव्यस्तव के अनुष्ठान का अधिकार है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा आचरित द्रव्यस्तव—द्रव्यपूजा की अनुमोदना साधु के लिये इस ग्रन्थ में विहित है। इस कथन से पूजाविधि को श्रीहरिभद्रसूरि के कथनों में जो शास्त्रीय महत्व प्राप्त होता है उसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

साधु के लिये अनुमोदन रूप से द्रव्यस्तव का विधान करते हुए श्रीहरिभद्रसूरि ने उसका शास्त्रीय समर्थन इस प्रकार किया है—

तम्मि य वरयाए पूयासक्कारेउ उस्सग्गो।
पडिओ वि हु विहिओ ते पूयासक्कारपच्चए॥

आचार्य कहते हैं कि चैत्यवन्दन नाम के शास्त्र में अर्थात् आवश्यक सूत्र में "सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए पूअणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए" इत्यादि पाठ से अर्हच्चैत्यों के पूजन और सत्कार के निमित्त तीर्थंकर प्रतिमाओं की पूजा और स्तुति के लिये यति को

स्यात्। कि विशेषेणाह विशेष [illegible] विशेषणविशिष्टस्य [illegible] प्रकर्षेण।
तस्मादेतो [illegible] पूजा—अर्चन कर्तव्या—विधेया [illegible] प्रकारमेवेति भावः।
(अवचूरि)

भावार्थ—विशेष की इच्छा रखनेवाले गृहस्थ को प्रमाद का परित्याग करके शास्त्रोक्त विधि के अनुसार जिनबिम्बों का पूजन अवश्य करना चाहिये।
यहाँ पर शास्त्रोक्तविधि से तात्पर्य सम्प्रदाय प्रसिद्ध पूजाविधि ही अभिप्रेत होनी चाहिये कारण कि यहाँ पर भी विशेष रूप से पूजा विधि का प्रकार वर्णित हुआ है।

१ द्रव्यस्तवभावस्तवरूपं अन्योन्य होति [illegible]।
[illegible] भणियं जिणिन्दु॥ (पंचा ६।२)

२ [illegible] वि हु द्रव्यस्तवभेदो अनुमोदनेन अस्थि त्ति।
[illegible] (पंचा ६।१)
(का [illegible] द्रव्यस्तवभेद अनुमोदनेन अस्ति इति।
[illegible])
अर्थात्—भावस्तव में स्थित होनेवाले साधु को भी अनुमोदन रूप से द्रव्यस्तव का अधिकार प्राप्त है—([illegible], न केवल [illegible] द्रव्यस्तवभेदो—द्रव्यस्तवविशेष अनुमोदनेन [illegible] अपि—किन्तु [illegible]
(श्री अभयदेवसूरि)

३ [illegible] पूजास्तवारोहकत्वं।
[illegible] द्रव्यस्तवरूपी॥ ६।१६॥

४. सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए पूअणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए॥

ती-भावस्तवारूढ साधु को भी कायोत्सर्ग करने का निर्देश श्रीतीर्थंकरादि ने किया है। पूजनसत्कार ये दोनों व्यस्तव-द्रव्यपूजा रूप ही हैं।

श्रीहरिभद्रसूरि आगमविरुद्ध या आगमबाह्य किसी भी बात को स्वीकार नहीं करते। जो आचार शास्त्र विधिनिष्पन्न नहीं, वह अगर तीर्थोद्देशक भी हो तो भी आचार्य को वह मान्य नहीं। आप लिखते हैं—

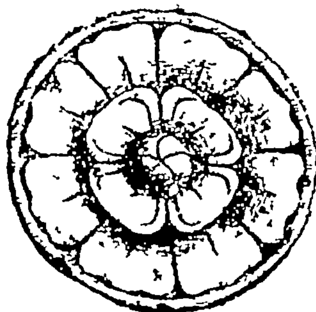
[1]"समितिपवित्तीसव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव"
तित्थगरुद्देसेणवि ण तत्तओ सा तदुद्देसा" (पंचा ८।१३)

भावार्थ—अपनी बुद्धिकल्पित, शास्त्राज्ञा से बाहर की जो भी प्रवृत्ति है वह सब भवफला-अर्थात् संसार की जन्ममरणपरम्परा को बढानेवाली है, इस प्रकार की आज्ञाबाह्यप्रवृत्ति अगर तीर्थंकरभक्ति मूलक भी हो तो भी वह स्वीकार करने योग्य नही, और वस्तुत उसमें तीर्थंकर भक्तिका उद्देश होता ही नहीं। इस उल्लेख से आचार्य हरिभद्रसूरि की आगमनिष्ठा का अनुमान बडी सुगमता से किया जा सकता है। वे आगमविरुद्ध किसी भी प्रवृत्ति के समर्थक नहीं हैं। इस पर से उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होनेवाले पूजा-विधायक उल्लेखों का आगममूलक होना भी अनायास ही प्रमाणित हो जाता है। वाचक श्रीउमास्वाति से लेकर श्रीहरिभद्रसूरि तक के आचार्यों ने जिन प्रतिमा के सम्बन्ध में जो विचार प्रदर्शित किये हैं उनका हमने अति संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया है। श्रीहरिभद्रसूरि ने तो इस विषय में बहुत कुछ लिखा है, जो कि विस्तार भय से यहा पर उल्लेख नहीं किया गया। जैन परम्परा के इन सभावित आचार्यों ने जिन प्रतिमा को जितना आदर-णीय स्थान दिया है उसपर दृष्टिपात करते हुए जिनप्रतिमा की शास्त्रीयता और पूज्यता में सन्देह को कोई अवकाश नहीं रहता ॥

अगर वैसे विचार किया जावे तो भगवान महावीर से लेकर विक्रम की सोलवीं शताब्दी से पूर्व तक जैन परम्परा में जितने भी विशिष्ट और साधारण आचार्य हुए हैं उनमें से किसीने भी जिनप्रतिमा के विरुद्ध कुछ लिखा हो ऐसा हमारे देखने में नहीं आया और विपरीत इसके परम्परा के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने इसको कहां तक उपादेय बतलाया है यह ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट ही है।

---

१ स्वमतिप्रवृत्ति सर्वा आज्ञाबाह्येति भवफला चैव।
तीर्थंकरोद्देशेनापि न तत्त्वतः सा तदुद्देशा ॥



तिरुवल्लुवर तथा उनका अमर ग्रंथ तिरुक्कुरल

पं. महेन्द्रकुमार जैन न्यायशास्त्री

वर्तमान भारत में जिस प्रदेश को हम तमिलनाडु के नाम से पुकारते हैं उसमें मुख्यतः कावेरी नदी के मध्यवर्ती का प्रदेश सम्मिलित है। उसके एक ओर मद्रास, एक ओर कर्नाटक और उससे लगा हुआ मलाबार या केरल प्रान्त है। इस प्रदेश की मूल संस्कृति द्रविड़ है। इसकी प्राचीनता के संबंध में अनुमान लगाना कठिन है। यह आर्य लोगों के हिंदुस्तान में आने के बहुत पहले से प्रचलित थी।

द्रविड़ संस्कृति की तरह इस प्रदेश की मुख्य भाषा तमिल भी संस्कृत की तरह बहुत पुरानी है। सन् ईसवी से बहुत पहले तमिल भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। फिर भी भारतवर्ष के उस पार की मराठी, गुजराती, बंगाली और हिंदी आदि भाषाओं की तरह तमिल भाषा का संस्कृत के साथ कोई संबंध नहीं है। भारतवर्ष में संस्कृत से सर्वथा … स्वतंत्र रूप से विकसित भाषाओं में कोई भाषा है तो वह है तमिल। तमिल के अतिरिक्त तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाओं में संस्कृत के ५० प्रतिशत शब्द हैं परन्तु तमिल भाषा में यह स्थिति नहीं आने पाई। भारत … देश या भारत सीमा कहते हैं। सीमा, देश आदि शब्द संस्कृत के हैं परन्तु तमिलनाडु में प्रयुक्त नाडु शब्द देश के अर्थ में प्रयुक्त है जो कि आर्येतर भाषा का सूचक है। तमिल में संस्कृत के शब्द बहुत कम हैं। उसमें विविध भावों को प्रकट करनेवाले अपने स्वतंत्र शब्द हैं। कुछ पशु और … आदि के लिए … स्वतंत्र शब्द-कोष और स्वतंत्र व्याकरण निर्मित है। उसकी रचना तथा … व्याकरण के आधार पर स्थित है जो संस्कृत जितनी ही पुरानी है।

प्राचीन तमिल वाङ्मय तीन भागों में विभाजित है। अर्थात् … और … । संगीत की तरह … और नाट्यकला पर भी इस प्रान्त में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। … के अध्याय के … मन्दिरवाले भारत में ऐसे ग्रन्थों की रचना होना स्वाभाविक था। नाट्यकला भी अपनी चरम सीमा पर पहुँची थी। दूसरे भाग में सामान्य … तर्कवाले … हैं और उनसे … की … सम्मिलित होती रहती थी। इन तीन प्रकार के विभाजन के अतिरिक्त साहित्य में एक अन्य प्रकार का विभाग होता था—लेख वाङ्मय और लिपिविहीन वाङ्मय। साहित्य के इन तीनों विभागों के अनेक भिन्न भिन्न व्याख्याएँ भी होते थे। तमिल का यह पुरातन वाङ्मय … के लिए समझ में नहीं आता। जिस प्रकार प्राचीन संस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थों पर टीका, भाष्य, चूर्णि, विवरण, टिप्पणी और समालोचना आदि हैं उसी प्रकार तमिल के ग्रन्थों पर भी हैं।

प्राचीन तमिल वाङ्मय को समृद्ध करने में जैन आचार्यों का बहुत बड़ा हाथ है। उन्होंने सन् ईसवी से पहले ही यहाँ की भूमि के साथ तादात्म्य होकर तमिल साहित्य की भी यथाविधि सेवा प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने अपनी संस्कृति के प्रचार के साथ तमिल साहित्य को … महाकाव्य, कोष और व्याकरण आदि प्रदान किये। ईसवी सन् के पहले प्रथम संघ काल में तमिल साहित्य की जो रचना हुई वह अब उपलब्ध हो नहीं … दूसरे संघ के साहित्य … उसमें तमिल के … तथा … निर्माता जैन आचार्य ही हैं। जैन आचार्यों द्वारा ईसा की … शताब्दी तक तमिल साहित्य की बहुत सेवा की गई। उसके बाद तमिलनाडु में निरन्तर … युद्ध चलता रहा। उस युद्ध की अवस्था में तमिल साहित्य का

बहुत कुछ भाग नष्ट हो गया। जैन साहित्य की ही इससे सर्वाधिक हानि हुई। उसके बाद बौद्ध साहित्य का नम्बर आता है।

तमिल साहित्य के सगम काल का कुरल नामक एक उत्कृष्ट काव्य है जो दक्षिण भारत मे तमिल वेद के नाम से प्रसिद्ध है। उसके रचयिता तिरुवल्लुवर नामक एक सत थे। पहले प्रत्येक धर्मवाले इसे अपना धर्मग्रन्थ सिद्ध करने में गौरव मानते थे। परतु अब अनेक साहित्यिक प्रमाण इस बात के मिले हैं कि इस ग्रथ के रचयिता जैन सत ही हैं। नीलकेशी की टीका में इसे स्पष्ट रूप से जैन शास्त्र कहा गया है। **शिलप्पधिकारम् और मणिमेखलै** इन दो ग्रथों में भी जो दूसरी शती मे लिखे गये थे, इसका जैन ग्रथ रूप से उल्लेख है, बल्कि इन तीनों ग्रथों के रचयिताओं ने अपनी प्रमाण पुष्टि के लिए कुरल के यत्र तत्र साठ से अधिक पद्य उद्धृत किये हैं। शिलप्पधिकारम् और मणिमेखलै मे कुरल की ५५ कविताएँ उद्धृत की गयी हैं। जीवक चितामणि मे भी कुरल का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त कई जैन आचार्यों ने इस पर अपनी टीकाएँ लिखी हैं।

कुरल नामक इस अलौकिक ग्रथ का रचयिता तिरुवल्लुवर मद्रास के समीप मैलापूर का निवासी था। वहाँ पहले भगवान नेमिनाथ का एक बहुत बड़ा मदिर था। उसे गिराकर बहुत-सी शताब्दियों पहले कपालेश्वर का मदिर बना दिया गया है। तिरुवल्लुवर का बाल्य काल कैसे बीता इस सबध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। पर उसने शादी अवश्य की थी। उसकी स्त्री साध्वी तथा पतिपरायणा थी। इसलिए उसका वैवाहिक जीवन अत्यत सुखमय था। पति का शब्द उसके लिए ईश्वर की आज्ञा के समान था। एक बार जब किसी साधु ने तिरुवल्लुवर के इस सुखी गृहस्थ जीवन के बारे मे सुना तब वह उसके पास आकर पूछने लगा 'यदि आप गृहस्थाश्रम को अच्छा कह दें तो मैं वैवाहिक बधन मे बधने के लिए तैयार हूँ।' भला तिरुवल्लुवर इसका हाँ या ना में कैसे उत्तर देता? वह तो उसे अपने जीवन की अनुभूतियाँ ही बता सकता था। इसलिए उसने उस साधु को अपने जीवन के अनुभव बताने के लिए कुछ दिनो तक अपने यहाँ रोक लिया। वह वैरागी भी वहाँ रह गया। एक दिन तिरुवल्लुवर ने अपनी पत्नी को मुट्ठीभर नाखून और लोहे के टुकड़ों का भात पकाने के लिए कहा। उनकी पत्नी वासुकी ने किसी प्रकार की शका कुशका के बिना उन चीजों को चूल्हे पर चढ़ा दिया और उसने उन्हें पकाने का प्रयास किया। किसी अन्य दिन वह साधु और तिरुवल्लुवर साथ-साथ खाने बैठे थे। वासुकी पास ही कुएँ से पानी खींच रही थी। परसा हुआ भात ठडा था, फिर भी 'अरी ओ! देखो तो, भात कितना गर्म है। छूते ही मेरा हाथ जल गया।' इस प्रकार तिरुवल्लुवर चिल्लाया। बेचारी साध्वी पत्नी तिरुवल्लुवर की इस चिल्लाहट को सुन आधे मे लटकती हुई गागर वैसी ही छोड़ दौड़ती हुई आकर थाली पर पखा झलने लगी। एक दिन मध्याह्नकाल मे तिरुवल्लुवर अपने करघे पर कपड़ा बुन रहा था। एकाएक उसने अपनी पत्नी से कहा—'देखो तो बहुत अँधेरा हो गया है, अभी जल्दी दीया जलाकर ला, मुझे इन धागों को जोड़ना है।' कोई दूसरी होती तो भर दुपहरी मे पति की इस आज्ञा को सुन उसकी बुद्धि के सबध में कुछ विचार करती। सभवत उसे पागल मान बैठती। परतु वासुकी के मन में इस प्रकार की धुधली कल्पना तक नहीं आई। वह जल्दी ही दीपक जलाकर लाई। इन सब बातों को देख साधु समझ गया कि जब तक पति-पत्नी मे पूर्ण एकता रहती है, लेश मात्र भी सदेह नहीं रहता तभी तक विवाहित जीवन सुख का सागर है। इन सब घटनाओं को देख वह साधु बोला—"मैं आपके सुखी विवाहित जीवन का मर्म समझ गया हूँ।' इतना कह वह वहाँ से चला गया।

परतु गार्हस्थ्य-जीवन के इस सुख का अनुभव वह अपने जीवन के अतिम काल तक नहीं कर सका। बीच ही मे उसकी पत्नी का देहात हो गया। उसकी मृत्यु से उसे अत्यत दु ख हुआ। वह अपनी पत्नी के

करुण मे कहता है : ओ स्नेहमयी, तुम मेरे लिए सुस्वादु भोजन बनाती थी। मेरी आज्ञा का तुमने न उल्लंघन किया। तुम मेरे पाँवों को रोज दबाती और मेरे सोने के बाद सोती थी, मेरे उठने के पहले उठती थी। तुम्हारे मन कपट नहीं था। तुम्हारा स्वभाव सुन्दर और सरल था। परंतु आज तुम मुझे छोड़कर जा रही हो। अब कब कभी मेरी इन आँखों को आराम से नींद आयेगी! पत्नी के देहांत के बाद तिरुवल्लुवर ने वैराग्य धारणकर दीक्षा ले ली और अंत समय तक संसार को उपदेश देते हुए स्वर्गवासी हुए।

कुरल की रचना कर तिरुवल्लुवर ने संसार को अपनी ओर से एक अमूल्य भेंट दी। इसका अनुवाद संसार की प्रायः सब भाषाओं में हो चुका है। इस बात का मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ कि जैन संघ की इस रचना को तमिलभाषाभाषी तमिल वेद कहते हैं। कुरल के कुल तीन भाग हैं। पहले में धर्म, दूसरे में अर्थ और तीसरे में काम। इस प्रकार चतुर्विध पुरुषार्थों में से प्रथम तीन का ही इस ग्रंथ में सम्पूर्ण वर्णन किया गया है।

कुरल के इन तीन भागों में कुल १११ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में १ पद हैं। कुल १११ पद हैं। प्रत्येक कविता में दो चरण हैं। ये छोटे छोटे पद गंभीर तथा विशाल भावों से परिपूर्ण हैं। इस ग्रंथ में एक प्रकार की धार्मिकता, उदारता और सहृदयता है। कामिनी के प्रेम संबंधी प्रकरणों में अश्लीलता का नामोनिशान नहीं। संसार के श्रेष्ठ ग्रंथों में अश्लीलता की छाया से रहित शुद्ध प्रेम-तत्त्व का वर्णन करनेवाला केवल अकेला यही ग्रंथ है।

इस ग्रंथ में प्रथम भाग को आरंभ करने के पूर्व मंगलाचरण के रूप में चार परिच्छेदों में ईश्वर की स्तुति की गयी है। स्तुति करते समय ग्रंथकारने जैन परंपरा में अनेकांत दृष्टि का अवलम्बन लेकर सब धर्मों का समन्वय करनेवाले सिद्धसेन दिवाकर हरिभद्रसूरि हेमचन्द्राचार्य और आनन्दघन की परिपाटी अपनाई है। उसे पढ़ने पर यह कुछ स्थलों पर परमात्मा को लागू होता है और कुछ स्थलों पर ब्रह्मदेव, शिव, बुद्ध महावीर आदि तीर्थंकर और विश्व के अन्य पथ प्रदर्शकों को लागू होता है। इसलिए वैदिक जैन, शैव, वैष्णव आदि सब तिरुवल्लुवर को अपने अपने संप्रदाय का मानते हैं। ईसाई लोग भी कहते हैं कि कुरल पर बाईबल के विचारों की छाया है। लेकिन मंगलाचरण को पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि तिरुवल्लुवर जैन ही थे। उदाहरण के लिए मैं यहाँ मंगलाचरण के प्रथम अध्याय को अविकल उद्धृत करता हूँ।

अकर मुदल एलुत्तेल्लाम् आदि
भगवन् मुदट्रे उलगु

अकार सभी अक्षरों का मूल है। इसी तरह जगत का मूल भी आदि भगवान् है।

कट्रदनालाय पयनॆन्कोल वालरिवन्
नट्राल् तॊलार् एनिन् ॥

सकल शास्त्र पढ़े हुए होने से क्या (फल) हुआ, (अगर) जिनवर या केवलज्ञानस्वरूप (भगवान) की पद वन्दना न की।

मलर्मिसै एगिनान् माणडि सेर्न्दार्
निलमिसै नीडुवाल् वार् ॥

जो भक्तों के हृदयकमल में निवास करनेवाले के महनीय चरणों के पूजक हैं। वे जगतल में अमर होंगे।

वेण्डुदल् वेण्डामै इलान् अडि शेर्न्दार्क्कु
याण्डुम् इडुम्बै इल ॥

रागद्वेषरहित (ईश्वर) के चरणों में शरण पानेवाले भक्तों को त्रिदोष (मानसिक, वाचिक और कायिक) नहीं लगते।

इरुळ् शेरिरुविनैयुम् शेरा इरैवन्
पॊरुळ् शेर् पुकळ् पुरिन्दार् माट्टु ॥

शुभ फल और अशुभ फल दोनों मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधकार के मूल हैं। जो सर्वरक्षक के सत्य प्रकाश या सत्यकीर्ति के अभिलाषी हैं उनके पास दोनों कर्मफल नहीं फटकते।

पॊरि वायिल् ऐन्दवित्तान् पॊय् तीरॊळुक्क
नॆरि निरार् नीडु वाळ्वार् ॥

पंचेन्द्रियनिग्रही तथा असत्यरहित के नियमों पर चलनेवाले अमर बनते हैं।

तनक्कुवमै इल्लादान् ताळ् शेर्न्दार्क्कल्लाल
मनक्कवलै माट्टलरिदु ॥

निरुपम (ईश्वर) के चरण सेवकों को छोड़ इतर जनों द्वारा मानसिक चिंता दूर होना कठिन है।

अरवाळि अन्दणन् ताळ् शेर्न्दार्क्कल्लाल्
पिरवाळि नीन्दलरिदु ॥

धर्मसमुद्र अथवा धर्मस्वरूप और दयानिधि के चरणसेवकों को छोड़ अन्य लोग इतर (अर्थकामरूपी) समुद्रों को तैरकर पार न पहुँच सकते हैं।

कोळिल् पोरियिर् गुणमिलवे एण् गुणत्तान्
ताळै वणङ्गात्तलै ॥

जिस तरह गुणरहित इन्द्रिय निष्फल है, उसी तरह अष्टगुणवाले (अनंतज्ञान अनंतदर्शन आदि अष्टगुणयुक्त सिद्ध भगवान) की वंदना न करनेवाला सिर भी निष्फल है।

पिऱ्विप् पेरुङ्कडल् नीन्दुवर् नीन्दार्
इरैवनडि शेरादार् ॥

सर्वरक्षक (ईश्वर) के चरणसेवी यह भवमहासागर तिर जाते हैं, दूसरे नहीं।

पाठक देखेंगे कि ऊपर के मंगलाचरण में आदि भगवान्, केवलज्ञानसंपन्न, मिथ्यात्व, पंचेन्द्रियनिग्रही, रागद्वेषरहित और अष्टगुणयुक्त आदि शब्द जैन परंपरा से ही संबंध रखते हैं। निर्ग्रन्थ संप्रदाय में ऋषभदेव आदिदेव या आदि भगवान् के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राय सब जैनाचार्यों ने ऋषभदेव की आदि भगवान के रूप से ही स्तुति की है। ज्ञानावरणीय कर्म के विलय होने पर जो संपूर्ण ज्ञान होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं ईश्वर के लिए इस शब्द का प्रयोग केवल जैन परंपरा में ही है। कर्म के कारणों में मिथ्यात्व का सबसे प्रमुख स्थान है। मिथ्यात्व का नाश होने पर ही प्राणी गुणविकास द्वारा गुणस्थान के सोपानों पर आरोहण करता है। मुमुक्षु के लिए जैनपरंपरा में पंचेन्द्रियों पर दमन करने के लिए जगह-जगह भारपूर्वक कहा गया है। इसी प्रकार ईश्वर के लिए जैन परंपरा में वीतराग या रागद्वेषरहित इन दोनों विशेषणों का प्रयोग होता

है। सिद्धों के आठ गुण प्रसिद्ध हैं। जैन परंपरा में आठ कर्म माने गये हैं। चार घाती और चार अघाती। उनमें चार घाती कर्म ही विशेष है। इनके विलय से आठ गुणों की प्राप्ति होती है। वे हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय। इनमें केवल ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, केवल दर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शन, पंचविध अंतराय के क्षय से दान, लाभ भोग, उपभोग, वीर्य आदि पाँच लब्धियाँ और मोहनीय कर्म के क्षय से सम्यक्त्व तथा चारित्र का आविर्भाव होता है। प्रति दिन चल समाकार के समय सिद्धों की स्तुति करते हुए इन आठ गुणों का उच्चारण किया जाता है—अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, निराबाध, अक्षय, अवस्थान, अमूर्त और अगुरुलघु। कुछ लोग आठ गुणों का अर्थ शक्तियों की अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ करते हैं। पर अणिमा आदि गुण नहीं वे योग से प्राप्त सिद्धियाँ हैं। योगभ्रष्ट होने पर ये सिद्धियाँ नष्ट हो सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में ईश्वर को भी विनश्वर मानना पड़ेगा। इसलिए ईश्वर के आठ गुण जैनपरंपरा में सिद्धों के बताये हुए आठ गुणों से अतिरिक्त नहीं हो सकते। विश्वकवि ने यहां भाव उन जैन शब्दों में इसी प्रकार की व्यापक भावना अभ्यासकर स्तुति की है।

जैन परंपरा में चार आश्रमों में से जिस प्रकार सिर्फ सागार और अनगार धर्म की ही चर्चा है उसी प्रकार तिरुवल्लुवर ने धर्म प्रकरण में गृहस्थ धर्म और यति धर्म का ही वर्णन किया है। धर्म शीर्षक प्रथम खंड में सागार धर्म अर्थात् गृहस्थ जीवनाश्रम उत्तम पत्नी, उत्तम पिता, उत्तम अतिथिसेवी तथा उत्तम मनुष्य बनने के लिए जितने गुण आवश्यक हैं उनकी शिक्षा १८ अध्यायों में दी गयी है और अंत के २४ वें परिच्छेद में बताया गया है कि यश की आकांक्षा से मनुष्य कैसे सत्कर्म में प्रवृत्त हो सकते हैं। सागार धर्म के बाद अनगार धर्म अर्थात् तपस्वियों के गुणों का विवेचन १३ अध्यायों में किया गया है। इस खंड के अंतिम अड़तीसवें परिच्छेद में भाग्य का विवेचन है।

कुरल के पहले खंड धर्म की विशेषता यह है कि उसमें मनुष्य जीवन के संबंध में भावपूर्ण मत व्यक्त किया गया है। मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता बतलाते हुए कवि ने लिखा है— मनुष्य जीवन का सर्वोच्च ध्येय है सुसम्मानित पवित्र घर और उसके महत्त्व की पराकाष्ठा है गुणवती संतति। कवि का वात्सल्य भाव कैसा मधुर है! वह कहता है— मनुष्य की सच्ची संपत्ति उसकी संतान है। पिता का पुत्र के प्रति यही कर्तव्य है कि वह उसे विद्वानों की परिषद् में सर्व प्रथम सम्मान के योग्य बनावे। पुत्र की सेवा ऐसी होनी चाहिए इसके लिए सब उसके पिता से प्रश्न करें कि किस पुण्य से आपको ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ है। बच्चों के स्पर्श से परमानंद के सुख की प्राप्ति होती है और उनकी बोली से कानों की तृप्ति। जिसने बच्चों की तुतलाती बोली नहीं सुनी वही यह कह सकता है कि बांसुरी मधुर तथा सितार सुरीली है। इसके आगे वह लिखता है— सर्व प्राणियों के प्रति दया और अतिथि-सत्कार ये दोनों मनुष्य के प्रधान कर्तव्य हैं और मधुर संभाषण है उनका आभूषण। कृतज्ञता, न्याय निष्ठा, आत्म संयम, क्षमा, दान तथा परोपकार उसके अमूल्य गुण हैं। किंतु परस्त्रीरति, ईर्ष्या, लोभ, वृथा भाषण, अनिष्ट चिंता इत्यादि उसके प्रति भयानक दूषण हैं।

प्राणी मात्र जिसे मृत्यु कहते हैं वह तो केवल जीव के शरीर का वियोग है। शरीर के नाश से जीवात्मा का अवसान नहीं होता। कर्मानुसार जीवन के बाद उसका भविष्यद् जीवन भी अनुस्यूत रहता है।

अपनी संतति को योग्य बनाने तक गृहस्थ अपने लघु आचरण के अनुसार गुणस्थान के अनेक सोपान अतिक्रमण कर सकता है। कुछ ऊँचे स्थान पर पहुँचने के बाद वह जब अपने सामने लघु जीवन के उस पार क्षेत्र को फैला हुआ देखता है और उस क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए वह जब अपने

आप पर कठोर नियन्त्रण रखता है। उसके लिए वह अन्न सर्व प्राणियों के प्रति दया, निरामिष भोजन, आत्म-निग्रह, ध्यान तथा योग का अभ्यास और इस प्रणाली द्वारा आध्यात्मिक बल तथा दृष्टि शक्ति प्राप्त कर दंभ, असत्य, क्रोध, हिंसा, परपीड़न इत्यादि से पराङ्मुख होकर अपने मन को विशुद्ध बनाता है। इस प्रकार के नियन्त्रण से मिथ्यात्व के अनेक स्तर अपने आप नष्ट हो जाते हैं और साधु की अन्तर्ज्योति विकसित हो जाती है। वह अपने अन्तर में अनुभव करता है कि यह परिदृश्यमान जगत स्वप्नवत है—आज है, कल अन्तर्हित हो जायगा। इस कारण से सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसकी जो आसक्ति होती है वह दूर हो जाती है और उसके मनश्चक्षु के सामने सत्य की यथार्थ मूर्ति प्रकाशित होती है। किंतु फिर भी प्रबल वासना (लोभ) उसका पिंड नहीं छोड़ती। वह नाना रूपों में, नाना आकृतियों में प्राणियों को धोखा देती रहती है। बड़े बड़े धार्मिक भी उसके पंजे से छुटकारा नहीं पाते। और जब तक उसका संपूर्ण विलय नहीं होता तब तक आत्मा पूर्ण आनंद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। इसी लिए इस अंश का उपसंहार करते कवि ने लिखा है—'वासना कभी तृप्त नहीं होती, किंतु यदि कोई व्यक्ति वासना का त्याग करने के लिए समर्थ हो जाय तो वह तत्काल ही संपूर्णता प्राप्त कर लेता है।'

इस प्रकरण के अंत में कवि ने कर्म का जो वर्णन किया है वह जैन परंपरा का खास विचार है—प्राणी में कर्म के कारण कुछ संचित या अव्यक्त शक्तियाँ रहती हैं, जो उपयुक्त उत्तेजन प्राप्त कर व्यक्त हो जाती हैं। ये संचित प्रवृत्तियाँ जीव को भले-बुरे काम करने की ओर प्रवृत्त करती हैं। जन्म जन्मान्तरों में जितने भले बुरे काम किये, भली-बुरी चिंताओं को मन में स्थान दिया, और इस जन्म में वह जितने कामों तथा जितनी चिंताओं से युक्त होता है, उनकी एक समष्टि बनकर कुछ अव्यक्त रूप में रहती है, और कुछ व्यक्त रूप में परिणत होती हुई उदीयमान होती रहती है। इस जीवन के अंत में जितना कर्मफल अव्यक्त रहता है, उसी को वह भविष्यत् जीवन में अपने साथ ले जाता है, और यही उसके उस जीवन का प्रारब्ध या प्राक्तन कर्मफल अथवा भाग्य कहलाता है। इस परिच्छेद का सार यही है कि कर्म ही प्रधान है और कर्म के हाथ से बचना असंभव है। सताईसवें अध्याय में कर्म का विलय करने के लिए तप के प्रभाव का वर्णन किया गया है। कृच्छ्रसाधन अर्थात् बाह्य और आन्तरिक तप से कर्म बंधन शिथिल हो जाते हैं और मनुष्य अपने आपको मुक्त कर सकता है। अंत के तिरसठवें परिच्छेद में कहा गया है कि मनुष्य दृढ संकल्प के द्वारा भाग्य पर विजय प्राप्त कर सकता है।

प्रथम अध्याय के बाद द्वितीय अध्याय में दूसरे पुरुषार्थ अर्थ का वर्णन है। इस खंड में राजा और उसकी योग्यता, मंत्री की नियुक्ति, सेना, जासूस, मित्र की पहचान, मित्र का महत्त्व, अत्याचार का परिणाम, शत्रु से सावधान इन परिच्छेदों के बाद कृषि, भिखारी, दान, यश आदि विषयों का वर्णन छोटे छोटे प्रकरणों में किया गया है। प्रजा का रंजन करनेवाला, चतुर और दयावान् राजा, उद्यमी और खेती में प्रवीण लोग, धीरज, वीरता, साहस आदि गुण इन सब का वर्णन इस खंड में है।

कुरल के तृतीय काम खंड में किसी विशिष्ट प्रणयी युगल की प्रेम-गाथा है। इसमें नायक नायिका के प्रथम साक्षात्कार से लेकर अंतिम मिलन तक का वर्णन बड़े निपुण ढंग से किया गया है। इस खंड का प्रारंभ बड़े विचित्र ढंग से किया गया है। पहले एक रम्य उद्यान में नायक के सामने नायिका पड़ जाती है। दोनों की चार आँखें होते ही परस्पर एक दूसरे के प्रति प्रेम का संचार होता है। युवती का लावण्य, युगल विशाल नेत्र, आँखों की चितवन, उन्नत उरुस्थल, युवक को पागल बना देते हैं। इसके बाद एक दो बार युवती उस युवक के सामने और आई, पर प्रत्येक बार उसने अपने भावों को छिपाकर उसके प्रति अपनी अरुचि बताई, इस पर नायक कहता है—'वह मुझे जानने नहीं देती कि उसने मुझे देखा है किंतु जब अपांग दृष्टि से

देखकर न देखने का बहाना करती है तब मुझे ऐसा भान पड़ता है कि वस्तुतः उसके हृदय में मुझे देखकर आनंद बढ़ रहा है। वह ऊपर ऊपर से विरक्ति का प्रदर्शन करती है किंतु हृदय से गहरा प्रेम ही करती है। बाद में अपने प्रेमी के अनुनयपूर्ण मुँह को देखकर वह भी द्रवीभूत हो जाती है और अंत में वह अपनी सखियों द्वारा विवाह की सम्मति भी दे देती है। फिर उन दोनों का गोपनीय विवाह हो जाता है।

गोपनीय विवाह हो जाने पर भी यह घटना दोनों के माता पिता से गुप्त रखी गयी। दोनों मित्र ऐसे प्रसंग की प्रतीक्षा में रहे जिससे कि बिना किसी कठिनाई के दोनों के माता पिता परस्पर मिलाने की अनुमती दे दें परंतु बहुत समय तक वह शुभ प्रसंग नहीं आया। अंत में वह प्रेमी उस समय तमिल देश में प्रचलित एक बर्बर उत्सव की शरण लेता है। वह उत्सव सहित कुछ ताल के पत्ते काटकर एक घोड़ा बनाकर और उस पर घोड़े पर सवार होने की तरह बैठता है। इसी अवस्था में उसके कुछ मित्र प्रेम-संगीत गाते हुए उसे गाँव के भीतर लेकर ले जाते हैं। एक ओर बेचारा युवक नुकीले ताड़पत्रों पर कष्टमय रहता है, दूसरी ओर गाँव के अनेक बालक और युवक उस प्रेमी युवक को चारों ओर से घेरकर अनेक प्रकार के व्यंग्यों से उसके हृदय को छेदते रहते हैं। बीच बीच में उसकी प्रेमिका का भी नाम लिया जाता है। अंत में अपकीर्ति के डर से प्रेमिका के माता पिता उस प्रेमी के साथ अपनी लड़की का विवाह कर देते हैं।

कुछ समय तक नवीन दंपती को परस्पर के मधुमय सहवास में रहने का सौभाग्य प्राप्त होता है। थोड़े ही समय तक वे आमोदप्रमोद करते हैं कि इतने ही में निष्ठुर भी विधि उनके प्रेम के सम्भोग को भंग कर देती है। राजा की ओर से युवक के पास शीघ्र ही युद्ध में सम्मिलित होने के लिए बुलावा आती है। इस आकस्मिक घटना से थोड़ी देर के लिए दोनों विचलित हो उठते हैं। युद्ध में जाने की बात सुनते ही युवती कहती है—मुझे छोड़ कर जाने पर मेरी मृत्यु निश्चित है यदि जाना ही है तो इसके अतिरिक्त कुछ कहना हो तो कहो। इसके सिवाय यदि लम्बी यात्रा की बात करना चाहते हो तो वह भी तभी कहो जब तक जीवित रहने की आशा रखती हो। युवती द्वारा इतना अनुनय विनय किये जाने पर भी युवक विदाई की प्रार्थना करके चल देता है। इसके बाद उसकी प्रेयसी की दारुण विरह व्यथा का वर्णन अनेक परिच्छेदों में किया गया है। वियोगावस्था में वह अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट करती है— मैं आज तक जीती हूँ केवल उनके प्रत्यागमन की आशा से। शीघ्र उनके आने की चिंता से मेरा हृदय अधीर हो उठता है। मैं अहर्निश यही कामना करती हूँ उनकी रूप सुधा पान कर मेरे अपेक्षित नेत्र तृप्त हो जायें। मेरे दीर्घ आयु की निरर्थकता दूर हो जाय। अग्नि में घृत के समान विरह के प्रेम से सतत जल रहा है, क्या वह प्रियतम के साथ विवाह कर सकती है!

उधर युद्ध स्थल में नायक भी घर लौटने के लिए छटपटाता है। वह अनायास अवसर पर पहुँचना चाहता है। अपने वियोग में पत्नी की दशा की कल्पना कर वह कातर और भयभीत हो जाता है। वह मन ही मन कहता है— मेरे लौटने के पहले ही यदि उसका कुसुम समान हृदय टूट गया तो घर पहुँचने से क्या लाभ!

युद्ध से लौटकर जब नायक एकाएक देहात पर पहुँचता है तब प्रेमिका देखकर उसके सामने नहीं जाती। वह मान करके बैठ जाती है। बीच परिच्छेदों में कवि ने दम्पत्ती के मान के लीला-माधुर्य का आस्वादन कराया है। इस परिच्छेद को पढ़ने पर एक दम्पती की लड़ाई का आनंद प्राप्त होता है। उपरितन के लिए एक तृतीय व्यक्ति की सृष्टि की गयी है—वह है नायिका की सखी। जिसे उपालम्भ कर नायक तथा नायिका अपने अपने मनोभाव व्यक्त करते हैं और सखी आवश्यकतानुसार बीच बीच में कुछ कह कर दोनों में सुलह कराती है।

इस खंड में एक पतिपरायणा साध्वी रमणी के शुद्ध आचरण तथा पवित्र हृदयोद्गारों का सजीव चित्र है। इसमें कहीं पर असयम, प्रगल्भता, उच्छृंखलता तथा अपवित्रता की गध तक नहीं। यह प्रकरण पिछले साहित्यिक ग्रथों मे वर्णित अवैध परकीया प्रेम से कोसों दूर है। दोनों प्रेमी-युगल का वर्णन होने पर भी इसमें अश्लीलता की छाया तक नहीं दिखायी देती। प्राय देखा जाता है कि अनेक बार उपदेश व्यर्थ होते हैं। उपदेशों की इन व्यर्थता को देख कवि ने दो प्रेमी युगल के वर्णन द्वारा शुद्ध प्रेम-राज्य का वास्तविक स्वरूप उद्घाटित किया है और प्रेम निधि के यथोचित निर्वाह के लिए एक पथ प्रदर्शक आदर्श युवक युवतियो के सामने रखा है।

पहले धर्म-खड मे सब जीवो के प्रति प्रेम करना, जीवदया, अहिंसा, मासभक्षणत्याग आदि विषया का सुदर वर्णन है। प्रेम का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—'प्रेम का द्वार बद करनेवाली रुकावट कहाँ है? एक दूसरे पर प्रेम करनेवालो की आँखों मे छलकनेवाले आँसू उनके हृदय में लहरानेवाले प्रेम सागर के अस्तित्व को प्रकट करते हैं। प्रेम की मधुरता चखने के लिए ही यह जीव अपने आपको बार-बार इस हाड़-मांस के पिंजड़े में बद कर लेता है।' दूसरों के हृदय को पीड़ा न पहुँचाने का उपदेश करता हुआ कवि कहता है—'तुम्हारे एक शब्द से यदि किसी दूसरे व्यक्ति को दुख पहुँचा तो तुम्हारी अच्छाई जलकर खाक हो जायगी। अग्नि से जला हुआ जख्म भर जाता है, परतु जिह्वा से जली हुई जगह कभी ठीक नहीं होती। जब दो मीठे बोल बोलकर आसानी से काम होने की संभावना होती है तब फिर मनुष्य क्या कटोर वाणी का उपयोग करता है?' मित्रता का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—'जिस प्रकार कमर से बधा हुआ वस्त्र हवा से उड़ने लगते ही हमारा हाथ उसे सभालने के लिए तुरत आगे बढ़ता है, उसी प्रकार मित्र की लज्जा छिपाने के लिए सच्चा मित्र उस पर पर्दा डालता है।' दुश्मन को केवल ऊपरी व्यवहार से नहीं पहचाना जा सकता, यह बताते हुए कवि कहता है—'तीर सीधा दीखता है परतु हत्या करता है। वीणा टेढ़ी रहती है परतु मधुर संगीत सुनाती है।' इसी प्रकार एक यह उद्धरण पढ़िये—'फूलों की ताजगी से मालूम होता है कि उन्हें कितना पानी दिया गया होगा। उसी भाँति मनुष्य के वैभव से अदाज लगाया जा सकता है कि उसने कितना परिश्रम किया होगा।'

इस प्रकार तिरुवल्लुवर उदार विचार, परिस्थित्यनुकूल दृष्टांत और रसपूर्ण वर्णन करने मे प्रसिद्ध है। तिरुवल्लुवर के डेढ़ सौ वर्ष बाद एक जैन कवि ने कुरल के सबध मे लिखा है 'कुरल ग्रथ के दोहो की सीमा में असीम अर्थ भरा हुआ है। मानों राई को खोदकर उसमें सप्त सिंधु की विशालता को आबद्ध किया गया है।' तमिल साहित्य की महान् सत कवयित्री अव्वयार उसके बारे में कहती है—'जिस प्रकार घास के पत्ते पर रहनेवाले ओसकण में गगन को छूनेवाले ताड़वृक्ष का प्रतिबिंब होता है, उसी भाँति कुरल के इन छोटे पद्यों में महान् अर्थ भरा हुआ है।' ऐसे थोड़े से उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। जिस आँख मे मधुरता नहीं, वह गड्ढा है। बड़े आदमियों की लक्ष्मी गाँव के बीच चौराहे पर फलों से झुके हुए वृक्ष की तरह होती है। केवल इसी का नाम मित्रता नहीं, हृदय को हँसानेवाली सच्ची प्रीति ही मित्रता है। जो दुख से दुःखी नहीं होता वह दुख को दुखी करता है। जो किसान बार-बार अपने खेतों पर नहीं जाता उसके खेत अकेली जीवन बितानेवाली पत्नी की तरह उससे नाराज हो जाते हैं। सिर्फ किसान ही अपने परिश्रम की रोटी खाता है। बाकी सारी दुनिया दूसरों के उपकारों से दबी है। दाना से परिपूर्ण भुट्टो की छाया मे आराम करनेवाले हरे-भरे खेत जिस राज्य में हैं उसके आगे दूसरे राज्य के सिर झुक जायँगे। मेरा पेट खाली है यह शब्द सुनकर धरती माता हँसती है।

कुरल ने धर्म, अर्थ और काम खंडों का ऊपर जो दिग्दर्शन किया गया है वह उसकी केवल एक

सकती है। एक छोटे से लेख में इस ग्रंथ रत्न का संपूर्ण विश्लेषण देना शक्य नहीं। इस ग्रंथ में मयलापुर के एक प्रतिभासंपन्न अस्पृश्य जुलाहे ने मनुष्य के नैतिक, पारिवारिक व सामाजिक जीवन का जो दर्शन किया वह विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। ग्रंथ में प्रत्येक देश के मानव मन की ऊर्मियों का स्पंदन है। संक्षेप में सारी रहन-सहन और सब विचारधारा इस ग्रंथ का ध्येय है। इस ग्रंथ के छोटे छोटे पद्य तमिल प्रांत के घर घर में हर एक की जबान पर चढ़े हुए हैं। एक ओर इस ग्रंथ में अरस्तू व रूस संस्कृति के रूसो व उपदेशों की मैकियावेली जैसी उपदेश है, दूसरी ओर यह भीष्म, चाणक्य और वात्स्यायन इत्यादि नीति विचारकों के साथ एक आसन पर बैठने योग्य है। तीसरी ओर वररुचि, कालिदास और शिवलेन दिवाकर जैसे कवीश्वर की कल्पना का अभूतपूर्व कल्पना सामंजस्य इस काव्य में है। इस ग्रंथ को पढ़कर मन में यह भावना उद्दीप्त हो जाती है कि चातुर्य, धैर्य, संयम, सद्गुण जीवन और आत्म-गौरव से बढ़ कर इस दुनिया में और कोई गुण नहीं। इनके विकास के लिए दुष्टता तथा पाप का परित्याग करना चाहिए। अब तो तिरुवल्लुवर का यह ग्रंथ केवल तमिलनाडु का ही नहीं, बल्कि सारे विश्व का है। कुरल की रचना कर तिरुवल्लुवर ने विश्व साहित्य को एक अमूल्य संपत्ति दी है।



सुवर्णभूमि में कालकाचार्य

डॉ उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, एम् ए, पीएच् डी

श्री सङ्घदास गणि क्षमाश्रमणकृत बृहत्कल्पभाष्य' (विभाग १, पृ ७३-७४) में निम्नलिखित गाथा है

सागरियमप्पाहण, सुवन्न सुयसिस्स खतलक्खेण।
कहणा सिस्सागमणं, धूलीपुंजोवमाण च ॥ २३९॥

इस गाथा की टीका मे श्रीमलयगिरि (वि० सं० १२०० आसपास) ने कालकाचार्य के सुवर्णभूमि मे जाने की हकीकत विस्तार से बतलाई है जिसका साराश यहाँ दिया जाता है।

उज्जयिनी नगरी मे सूत्रार्थ के ज्ञाता आर्य कालक नाम के आचार्य बड़े परिवार के साथ विचरते थे। इन्हीं आर्य कालक का प्रशिष्य, सूत्रार्थ को जाननेवाला सागर (सक्षक) श्रमण सुवर्णभूमि मे विहार कर रहा था। आर्य कालक ने सोचा, मेरे ये शिष्य जब अनुयोग को सुनते नहीं तब मैं कैसे इनके बीच मे स्थिर रह सकूँ? इससे तो यह अच्छा होगा कि मैं वहाँ जाऊँ जहाँ अनुयोग का प्रचार कर सकूँ, और मेरे ये शिष्य भी पिछे से लज्जित हो कर सोच समझ पाएँगे। ऐसा खयाल कर के उन्होंने शय्यातर को कहा मैं किसी तरह (अज्ञात रह कर) अन्यत्र जाऊँ। जब मेरे शिष्य लोग मेरे गमन को सुनेंगे तब तुम से पृच्छा करेंगे। मगर, तुम इनको कहना नहीं और जब ज्यादा तग करें तब तिरस्कारपूर्वक बताना कि (तुम लोगों से निर्वेद पा कर) सुवर्णभूमि मे सागर (श्रमण) की ओर गये हैं। ऐसा शय्यातर को समझाकर रात्रि को जब सब सोये हुए थे तब वे (विहार कर के) सुवर्णभूमि को गये। वहाँ जा कर उन्होंने स्वय 'खत' मतलब कि वृद्ध (साधु) हैं ऐसा बोल कर सागर के गच्छ में प्रवेश पाया। तब यह वृद्ध (अति वृद्ध—मतलब कि अब जीर्ण और असमर्थ-नाकामीयाब होते जाते) हैं ऐसे खयाल से सागर आचार्य ने उनका अभ्युत्थान आदि से सन्मान नहीं किया। फिर अत्थ पौरुषी (व्याख्यान) के समय पर (व्याख्यान के बाद) सागर ने उनसे कहा हे वृद्ध! आपको यह (प्रवचन) पसंद आया? आचार्य (कालक) बोले हाँ! सागर बोला तब अवश्य व्याख्यान को सुनते रहो। ऐसा कह कर गर्वपूर्वक सागर सुनाते रहे।

अब दूसरे शिष्यलोग (उज्जैन मे) प्रभात होने पर आचार्य को न देखकर सम्भ्रान्त हो कर सर्वत्र ढूँढते हुए शय्यातर को पूछने लगे मगर उसने कुछ बताया नहीं और बोला जब आप लोगों को स्वय आचार्य कहते नहीं तब मेरे को कैसे कहते? फिर जब शिष्यगण आतुर हो कर बहुत आग्रह करने लगा तब शय्यातर तिरस्कारपूर्वक बोला आप लोगों से निर्वेद पा कर सुवर्णभूमि मे सागर श्रमण के पास चले गये हैं।

फिर वे सब सुवर्णभूमि में जाने के लिए निकल पड़े। रास्ते मे लोग पूछते कि यह कौनसे आचार्य विहार कर रहे हैं? तब वे बताते थे आर्य कालक। अब इधर सुवर्णभूमि मे लोगों ने बतलाया कि आर्य कालक नाम के बहुश्रुत आचार्य बहु परिवार सहित यहाँ आने के खयाल से रास्ते मे हैं। इस बात को सुनकर सागर ने अपने शिष्यों को कहा मेरे आर्य आ रहे हैं। मैं इनसे पदार्थों के विषय में पृच्छा करूँगा।

थोड़े ही समय के बाद वे शिष्य आ गये। वे पूछने लगे क्या यहाँ पर आचार्य पधारे हैं? उत्तर

---

१ मुनि श्रीपुण्यविजयजी सपादित, "निर्युक्ति-लघुभाष्य-वृत्त्युपेत-बृहत्कल्पसूत्रम्" विभाग १ से ६, प्रकाशक, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

मिला : नहीं मगर दूसरे पद आते हैं। पृच्छा हुई : कैसे है! (फिर वृद्ध को देख कर) यही आचार्य हैं ऐसा कह कर उनको वन्दन किया। तब सागर बड़े लज्जित हुए और सोचने लगे कि मैंने बहुत प्रलाप किया और क्षमाश्रमणजी (आर्य कालक) से मेरी वन्दना भी कराई। इस लिए "आपका मैंने अनादर किया" ऐसा कह कर अपराधवेला के समय "मिच्छा दुक्कडं मे" ऐसे विवेकपूर्वक क्षमायाचना की। फिर वह आचार्य को पूछने लगा : हे क्षमाश्रमण! मैं कैसा व्याख्यान करता हूँ? आचार्य बोले : सुन्दर, किन्तु गर्व मत करो। फिर उन्होंने धूलि पुंज का दृष्टान्त दिया। हाथ में धूलि लेकर एक स्थान पर रख कर फिर उठा कर दूसरे स्थान पर रख दिया फिर उठा कर तीसरे स्थान पर। और फिर बोले कि जिस तरह यह धूलिपुंज एक स्थान से दूसरे स्थान रखने जाता हुआ कुछ पदार्थों (अंश) को छोड़ता जाता है इसी तरह तीर्थंकरों से गणधरों और गणधरों से हमारे आचार्य तक, आचार्य उपाध्यायों की परम्परा में आते हुए श्रुत में से कौन जान सकता है कि कितने अंश कौन में पतित हो गये? इस लिए तुम (सर्वज्ञता का—श्रुत के पूर्ण ज्ञाता होने का) गर्व मत करो। फिर जिनसे सागर ने "मिच्छा दुक्कडं" कहा है और जिन्होंने सागर से विनय अभिवादन इत्यादि पाया है ऐसे आर्य कालक ने शिष्य प्रशिष्यों का अनुयोग प्रारम्भ किया।

मलयगिरिजी का दिया हुआ यह वृत्तान्त निराधार नहीं है। पहले तो उनके सामने परम्परा है और दूसरा यह सारा वृत्तान्त मलयगिरिजी ने प्राचीन बृहत्कल्प चूर्णि से प्रायः शब्दशः उद्धृत किया है। सूत्र के बाद निर्युक्ति, तदनन्तर भाष्य और तदनन्तर चूर्णि की रचना हुई। फिर एक और महत्त्वपूर्ण आधार उत्तराध्ययन निर्युक्ति का भी है जिस में सुवर्णभूमि में सागर के पास कालकाचार्य के जाने का उल्लेख है— उज्जेणि कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए (उत्तराध्ययन-निर्युक्ति, गाथा १२०). उत्तराध्ययन-चूर्णि में यही वृत्तान्त मिलता है। बृहत्कल्प भाष्य में कालक सागर और कालक-गर्दभिल्ल का निर्देश तो है किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ में निर्युक्ति और भाष्य गाथाओं के मिल जाने से इस बात का निर्णय नहीं किया जाता कि उपर्युक्त गाथा निर्युक्ति गाथा है या भाष्य गाथा। अगर निर्युक्ति-गाथा है तब तो यह वृत्तान्त कुछ ज्यादा प्राचीन है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति की गाथा भी यही सूचन करती है।

यह एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख है जिस की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। पहिले तो भारत की सीमा से बाहिर, अन्य देशों में जैन धर्म के प्रचार का प्राचीन विश्वसनीय यह पहला निर्देश है। बृहत्कल्प भाष्य ईसा की ६ठी सदी से अर्वाचीन नहीं है यह सर्वसम्मत है। और दूसरा यह कि अगर यह वृत्तान्त उन्हीं आर्य कालक का है जिनका गर्दभिल्लों और शकों वाली कथा से सम्बन्ध है तब सुवर्णभूमि में जैन धर्म के प्रचार की तवारिख हमें मिलती है। कालक और गर्दभिल्लों की कथा कम से कम चूर्णि-ग्रन्थों से प्राचीन तो है ही क्यों कि दशाचूर्णि और निशीथ चूर्णि में ऐसे निर्देश हम मिलते हैं। और इसी बृहत्कल्पभाष्य में भी निम्नलिखित गाथा है जिसका हमें ख्याल करना चाहिये—

---

१ उत्तराध्ययन-चूर्णि (रतलाम से प्रकाशित), पृ. ८३–८४

२ कालकाचार्य कथा (प्रकाशक श्री साराभाई नवाब अहमदाबाद) पृ. १–२ में निशीथचूर्णि [illegible] अंश है [illegible]

दशाचूर्णि [illegible] चूर्णि और बृहत्कल्पचूर्णि में से कालक विषयक अवतरणों के लिए देखो वही, पृ. ४ ५, वही, पृ. ११–२ में [illegible] में से कालक विषयक [illegible] के अवतरण हैं। [illegible] पृ. [illegible] की टिप्पणी है। इस विषय में देखो श्री [illegible] जैन सत्य प्रकाश, (अहमदाबाद) वर्ष १०, अंक [illegible] जनवरी १९४५ पृ. ८९ से आगे

विज्जा ओरस्सबली, तेयसलद्धी सहायलद्धी वा।
उप्पादेउ सासति, अतिपत्त कालकज्जो वा ॥ ५५९३ ॥
—बृहत्कल्पसूत्र, विभाग ५, पृ १४८०

उपर्युक्त भाष्य-गाथा कालकाचार्य ने विद्या-ज्ञान से गर्दभिल्ल का नाश करवाया इस बात की सूचक है और टीका से यह स्पष्ट होता है। बृहत्कल्पभाष्य-गाथा ई० स० ५०० से ई० स० ६०० के बीच में रची हुई मालूम होती है।[4] और जैन परम्परा के अनुसार कालक और गर्दभ का प्रसग ई० पू० स० ७४–६० आसपास हुआ माना जाता है।

अब देखना यह है कि सागरश्रमण के दादागुरु आर्य कालक और गर्दभिल्ल-विनाशक आर्य कालक एक हैं या भिन्न। बृहत्कल्पभाष्यकार इन दोनों वृत्तान्तों की सूचक गाथाओं मे दो अलग अलग कालक होने का कोई निर्देश नहीं देते। अगर दोनों वृत्तान्त भिन्न भिन्न कालकपरक होते तो ऐसे समर्थ प्राचीन ग्रन्थकार ज़ुरूर इस बात को बतलाते। टीकाकार या चूर्णिकार भी ऐसा कुछ बतलाते नहीं। और न ऐसा निशीथचूर्णिकार या किसी अन्य चूर्णिकार या भाष्यकार बतलाते हैं। क्यों कि इनको तो सन्देह उत्पन्न ही न हुआ कि सागर के दादागुरु कालक गर्दभविनाशक आर्य कालक से भिन्न हैं जैसा कि हमारे समकालीन पण्डितों का अनुमान है।

बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि में मिलती कालक के सुवर्णभूमि-गमन वाली कथा में कालक के 'अनुयोग' को उज्जैनवाले शिष्य सुनते नहीं थे ऐसा कथन है। आखिर में सुवर्णभूमि मे भी कालक ने शिष्य-प्रशिष्यों को अनुयोग का कथन किया ऐसा भी इस वृत्तान्त में बताया गया है।[5] यहा कालक के रचे हुए अनुयोग ग्रन्थों का निर्देश है। 'अनुयोग' शब्द से सिर्फ 'व्याख्यान' या 'उपदेश' अर्थ लेना ठीक नहीं। व्याख्यान करना या उपदेश देना तो हरेक गुरु का कर्तव्य है और वह वे करते हैं और शिष्य उन व्याख्यानों को सुनते भी हैं। यहाँ क्यो कि कालक की नई ग्रन्थरचना थी इसी लिए पुराने खयालवाले शिष्यों में कुछ अश्रद्धा थी। चूर्णिकार और टीकाकार ने ठीक समझ कर अनुयोग शब्द का प्रयोग किया है।

हम आगे देखेंगे कि कालक ने लोकानुयोग और गण्डिकानुयोग की रचना की थी ऐसा पञ्चकल्पभाष्य का कथन है। इसी पञ्चकल्पभाष्य का स्पष्ट कथन है कि अनुयोगकार कालक ने आजीविकों से निमित्तज्ञान प्राप्त किया था। इस तरह सुवर्णभूमि जाने वाले कालक पञ्चकल्पनिर्दिष्ट अनुयोगकार कालक ही हैं और वे निमित्तज्ञानी भी थे। गर्दभ-विनाशक कालक भी निमित्तज्ञानी थे ऐसा निशीथचूर्णिगत वृत्तान्त से स्पष्टतया फलित होता है।[6] इस तरह निमित्तज्ञानी अनुयोगकार आर्य कालक और निमित्तज्ञानी गर्दभ-विनाशक आर्य कालक भिन्न नहीं किन्तु एकही व्यक्ति होना चाहिये क्यों कि दोनों वृत्तान्तों के नायक आर्य कालक नामक व्यक्ति हैं और निमित्तज्ञानी हैं। पहले हम कह चूके हैं कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने दो

---

४ विशेष चर्चा के लिए देखो मुनिश्री पुण्यविजयजी लिखित प्रस्तावना, बृहत्कल्पसूत्र, विभाग ६, पृ० २०–२१

५ देखो—"ताहे अज्जकालया चिंतेंति—एए मम सीसा अणुओग न सुणंति × × × × ×।" और, "ताहे मिच्छा दुक्कडं करित्ता आढत्ता अज्जकालिया सीसपसीसाण अणुयोग कहेउं।"—बृहत्कल्पसूत्र विभाग १, पृ० ७३–७४

६ देखो, निशीथचूर्णि, दशम उद्देश में कालक-वृत्तान्त—"तत्थ एगो साहि त्ति राया भण्णत्ति। त सम हीणो णिमित्तादिएहिं आउट्टेति"।—नवाब प्रकाशित, कालिकाचार्य कथा, सन्दर्भ १, पृ० १

अलग अलग भाव बालक इन का कोई हिसाब भी नहीं दिया। यही कालक जो सवर्ण-कुल पारकुल तक गये वही कालक सुवर्णभूमि तक भी जा सकते हैं। कालकाचार्य का यह विशिष्ट व्यक्तित्व था।

हम आगे देखेंगे कि इस कालक का समय ई० स० पूर्व की पहली या दूसरी शताब्दी था। उस समय में भारत के सुवर्णभूमि और दक्षिण-चीन इत्यादि देशों से सम्बन्ध के थोड़े उल्लेख मिलते हैं मगर कालक के सुवर्णभूमिगमन वाले वृत्तान्त की महत्त्व आज तक विद्वानों के सामने नहीं पेश हुई।

प्रो० सेल्वन लेवि, प्रो० पेलियो और डा० हरिसत्य भट्टाचार्य जी के उल्लेख से जैन ग्रन्थ वसुदेव हिंडि में चारुदत्त के सुवर्णभूमिगमन के उल्लेख से और महानिद्देस इत्यादि के उल्लेख से यह बात निश्चित हो चुकी है कि ईसा की पहिली दूसरी शताब्दियों में भारत का पूर्व के प्रदेशों (जैसे कि दक्षिण चीन, सियाम, हिन्दी चीन, बर्मा, कम्बोडिया, मलाया, जावा, सुमात्रा आदि प्रदेशों) से घनिष्ठ व्यापारी सम्बन्ध था। चारुदत्त की कथा का मूल है गुणाढ्य की बृहत्कथा जिसका समय बहुत पुराना माना जाता है। बहुत सम्भवित है कि इससे पहिले—अर्थात् ई० स० पूर्व की पहिली दूसरी शताब्दी में—भी भारत का सुवर्णभूमि से सम्बन्ध शुरू हो चुका था। बैक्ट्रिया में ई० स० पूर्व १२८ आसपास पहुँचे हुवे चीनी राजदूत चांग कीन (Chang Kien) की बयानी लिखी है कि दक्षिण पश्चिम चीन की बनी हुई बस्त्र और बांस की चीजें हिन्दी व्यापारियों ने खरीदी भारत और अफगानिस्तान के रास्ते से ले जा कर बैक्ट्रिया में बेची थीं।* कालकाचार्य और सागरश्रमण के सुवर्णभूमि-गमन का वृत्तान्त हमारे प्राचीन इतिहास में और जैनधर्म के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक निर्देश है।

सुमात्रा के नजदीक में बंका नामक टापू है। डॉ० मोतीचन्द्रजी ने बताया है कि महानिद्देस में उल्लिखित वंगम् या वंग्म् यही बंका टापू का प्रदेश है। इस एक प्राचीन सूत्र निर्देश मिलता है जिसका महत्त्व कालकसमाचार्य के उपर्युक्त उल्लेख के सहारे से बढ़ जाता है। सब को मालूम है कि आर्य कालक निमित्तज्ञ और मन्त्रविद्या के ज्ञाता थे। आजीविकों से इन्होंने निमित्तशास्त्र ज्योतिष का ज्ञान पाया था ऐसे पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि के उल्लेख हम आगे देखेंगे। खास तौर पर दीक्षा प्रदान देने के मुहूर्त निरन में इन्होंने आजीविकों से शिक्षा पाई थी। अब हम देखते हैं कि वराहमिहिर के बृहज्जातक के टीकाकार उत्पलभट्ट (ई० स० १० वीं शताब्दी) ने एक जगह टीका में कालकाचार्य के प्राकृत निरुक्त प्राकृतग्रन्थ के विधान का उद्धरण दिया है और मूल गाथायें भी अपनी टीका में अवतारित की है। यह विधान निम्नलिखित शब्दों में है

एतत् बहुश्रुतकालकाचार्य व्याख्यातम्। तथा च कालकाचार्य —
सासग्गिओ दिवसयरे चन्दे वासासिओ तहा मङ्गलो।
रविपुत्ते सुमिणुवे बोमसुवे पञ्चदसीया ॥
देवगुरुसुक्कोषे कमेण चर-बायण-तस्सवाई।

अस्यार्थः सासग्गिओ सासग्गिका दिवसपतौ दिनकरे सूर्ये चन्द्रे वासासिका तथा मङ्गले। रविपुत्ते रविसुते। सुमिणुवे सूमिसुते बोमसुवे सोमसुते बुधे पञ्चदशीका पञ्चदशी।... क्रमेण

* डॉ० पी० सी० बागची, इण्डिया ऍण्ड चायना (द्वितीय संस्करण बम्बई १९५०) पृ० ४ १ १९
७ १६-१
... पत्रिका, १९५१ पृ० ११
१. बृहज्जातकम् पं० ... शास्त्री, वराहमिहिर एण्ड उत्पल ... ... सीरीज़ ... लेमाटी १९४८ भा० १ पृ० १ से आगे।

क्रमेण वई यति चरग्र चरक खवणाई क्षपणक। अत्र वृद्धश्रावकग्रहण माहेश्वराश्रिताना प्रव्रज्यानामुपलक्षणार्थ। आजीविकग्रहण च नारायणाश्रितानाम्। तथा च वङ्कालके संहितान्तरे पठ्यते—

जलण हर सुगअ केसव सुई ब्रह्मएण णग्ग मग्गेसु।
दिक्खाण णाअव्वा सराइगहा कमेण णायगया॥

जलण ज्वलन. साग्निक इत्यर्थ। हर ईश्वरभक्त भट्टारक सुगअ सुगत बौद्ध इत्यर्थ। केसव केशवभक्त भागवत इत्यर्थ। सुई श्रुतिमार्गगत मीमासक। ब्रह्मएण ब्रह्मभक्त वानप्रस्थ। णग्ग नग्न-क्षपणक।XXXX[१०]

वराहमिहिर ने अपने बृहज्जातक, १५. १ में प्रव्रज्या के विषय में जो विधान दिया है वह उत्पल भट्ट के कथन के अनुसार वङ्कालक के मतानुसार वराहमिहिर ने दिया है। उसी बात के स्पष्टीकरण में उत्पलभट्ट वङ्कालक की प्राकृत गाथायें उद्धृत करते हैं। यहाँ वकालकाचार्य (वङ्कालकाचार्य) ऐसा पाठ होने से इस प्राकृतविधान (गाथायें) के कर्ता के जैन आर्य कालक होने के बारे में विद्वानो में संदेह रहा है। महामहोपाध्याय श्री पा० वा० काणे ने यह अनुमान किया है कि वकालकाचार्य का कालकाचार्य होना सम्भवित है।[११] हम देखते हैं कि कालकाचार्य और इनके प्रशिष्य सुवर्णभूमि गये थे। सुवर्णभूमि से यहाँ वस्तुत किस पूर्वी प्रदेश का उल्लेख है यह तो पूरा निश्चित नहीं है किन्तु, विद्वानों का खयाल है कि दक्षिण बर्मा से लेकर मलाया और सुमात्रा के अन्त तक का प्रदेश सुवर्णभूमि बोला जाता था (देखो, डॉ० मोतीचन्द्र कृत, सार्थवाह, नकशा) जिसमें "वङ्ग्" या वका की खाडी भी आ जाती है। पॉलेमबेग के इस्चुअरी के सामने वका द्वीप है। वका का जलडमरुमध्य मलाया और जावा के बीच का साधारणपथ है। डॉ० मोतीचन्द्रजी लिखते हैं वका की राँगे की खदानें मशहूर थीं। संस्कृत मे वॅग के माने राँगा होता है और सम्भव है कि इस धातु का नाम उसके उद्गमस्थान पर से पड़ा हो।[१२]

उत्पल टीका की हस्तप्रतों का पाठ—'वङ्कालकाचार्य' और 'वङ्कालक संहिता' उन आचार्य का सूचक हो सकता है जो सुवर्णभूमि मे गये थे और जिनके प्रशिष्य सागरश्रमण सपरिवार सुवर्णभूमि मे (इस में "वङ्का" आ जाता है) रहते थे। सम्भव है येही आचार्य कालक के अलावा "वङ्कालक" या "वङ्का-कालक" नाम से भी पिछाने जाते हों। यह भी हो सकता है कि शुद्ध पाठ कालकाचार्य और कालक-संहिता हो किन्तु कालक के वङ्का-गमन की स्मृति में पाठ मे अशुद्धि हो गई हो। उत्पलभट्ट का कहना है कि वराहमिहिर ने प्रव्रज्या के विषय मे (बृहज्जातक, १५ १) वङ्कालकाचार्य (कालकाचार्य) के मत का अनुसरण किया है। पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि गवाही देते हैं कि कालकाचार्य ने उसी प्रव्रज्या के विषय का आजीवकों से सविशेष अध्ययन किया था। अत उत्पल-टीका के वङ्कालकाचार्य कालकाचार्य हैं ऐसा मानना समुचित है।

ईसा की सातवी शताब्दि आसपास रची हुई **पञ्चकल्प-चूर्णि** में लिखा है—[१३]

लोगाणुओगे, अज्जकालगा सज्झंतवासिणा भणिया एत्तिय। सो न नाओ मुहुत्तो जत्थ

१० बृहज्जातक (वेङ्कटेश प्रेस, बम्बई, स १९८०) उत्पलकृत टीका सह, पृ० १५६

११ देखो, महा पां० वा० काणे, **वराहमिहिर** एन्ड उत्पल, जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध आर० ए० एस० १९४८-४९ पृ० २७ से आगे

१२ डॉ० मोतीचन्द्र, **सार्थवाह,** पृ० १३०-१३१, १३४

१३ श्री आत्मारामजी जैन ज्ञानमंदिर, बड़ौदा, प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजी शास्त्रसंग्रह, हस्तलिखित प्रति नं० १२८४, पत्र २६ से उद्धृत

सम्मत्तिगो चिंते इमाए। तत्थ निग्गंथाणं आयरियसमीवे निमित्तं पढियं। पच्छा पइट्ठाणे गिओ। सालवाहणेण रन्ना तिन्नि पुच्छाओ पुच्छिया उवगरणाण—एयं मसुसिरिय को कलेर। निरवण वुट्ठे पेसिय ठाणं। सव्वप्पसत्त पुच्छाए—मणुय निमित्तेणं पच्छ न वा। पच्छाए कहागं सयसहस्सं। निर[म-तर]स्स पुच्छाए। आयरिएण भणियं— मज्झवि मम एएणं।" कि पुण निमित्तस्स उवज्झाये एत। आजीवगा उवट्ठिया—अम्ह एस गुरुदक्खिणाए। पच्छा तेण सुत्ते याडे पढमाणुजोग कयं। पाडलिपुत्ते समणसंघे मज्झे—मए निमि कय त निसामेह। तत्थ पसंसिते। संगहणीओ वि य बालजीवाण अणुग्गहत्थाय रइयाओ। पढमाणुजोगमवि तेण कयं।

उपर्युक्त चूर्णि का तात्पर्य यह है कि अपने मेधावी शिष्य समुदाय में स्थिर न रहने से, उनके सहाध्यायी ने यह मार्मिक वचन सुनाया कि आपने ऐसा सुपूर्व निकलना नहीं सीखा जिससे समस्त शिष्य समुदाय में स्थिर रहे। तब कालकाचार्य आजीविकों के पास गये और उनसे निमित्त शास्त्र पढ़ा। फिर प्रतिष्ठानपुर गये जहाँ सातवाहन राजा ने उनको तीन प्रश्न पूछे और हरेक प्रश्न का ठीक उत्तर होने पर एक एक लाख (सुवर्णमुद्रा) देने को कहा। पहले प्रश्न का उत्तर मिलने से लाखमुद्रा अपना व्यक्त किया। दूसरे और तीसरे प्रश्न के उत्तर मिलने पर अपना एक एक पुरस्कार दिया। सातवाहन को पहले ही प्रश्न के उत्तर मिलने से यह प्रतीति हुई इससे उसने तीसरा प्रश्न यह किया कि मनुष्य (जिसने जन्म के बाद) पढ़ेगी और पढ़ेगी या नहीं? यह तीसरे प्रश्नात्मक इसलिए विशेष महत्त्व की है जिसके बारे में आगे विचार होगा।

नरक और कुशल का देख कर कालकाचार्य ने कहा कि उनको इन चीजों की जरूरत नहीं (उनको तो प्रयोजन थी)। इतने में (कालकाचार्य को निमित्तज्ञान देनेवाले) आजीविक वहाँ पहुँचे और प्रश्नोत्तरों को देखकर बोले—(हमें गुरुदक्षिणा अभी तक मिली नहीं) यही हमारी गुरुदक्षिणा (होगी)। फिर कालकाचार्य ने प्रथमानुयोग की रचना की और पाटलिपुत्र में संघ के समक्ष निवेदन किया : मैंने कुछ रचनायें की हैं आप इनको सुनिये। सुनकर उन्होंने इस रचना को मान्य किया। कालकाचार्य ने बालबालकगणिके बालकों (बालजन्तुओं) के लिए संग्रहणियों (गाथाबद्ध रचनायें) बनाई थे प्रख्यात हुई। उन्होंने प्रथमानुयोग भी बनाया।

पंचकल्पचूर्णि का कालकप्रसंग इसका कुछ विस्तारपूर्वक पंचकल्पभाष्य में पाया जाता है। संघदास गणि के पंचकल्पभाष्य पंचकल्पचूर्णि से प्राचीन है और है ल० वि० ६ वीं सदी में बना हुआ है। पंचकल्पभाष्य की प्रस्तुत गाथायें निम्नलिखित हैं—

मेहावीसीसम्मी ओहाविए कालगज्ज वेराग्ग।
पण्णविपस्स भद्द तो निज्जवेच इम भणिओ॥
भणिपुत्त वेऽणीय पा य चाओ वारिओ सुयुवं ठ।
जण चिते वेर छिये, निज्जला भग्गा। दु वेराग्ग॥
सो एस व ओसा य भणियो भद्द मह तो पडिभग्ग।
आजीविकसगासम्मी, सिक्खाहि वाते निमित्त तु॥
अह तम्मि पईट्ठमी, पच्छेइ निमित्तउज्जयमईसि।
सालाहणो बारिसे पुच्छाहिय सिविस्स पुच्छाओ॥
पढुमिति पाडयमार, सिविर बहुरे य वेविण जल।
तविया पुच्छाए, मणुय य पहेमा य भवति॥

पढमाए व से कडग, देइ मइ सयसहस्समुल्ल तु।
बितियाए कुडल तू, ततियाए नि कुडल बितिय ॥
आजीविता उवट्ठित, गुरुदक्खिरणण तु एय श्रम्ह ति।
तेहिं तय तु गहित, इयरोचितकालकज्ज तु ॥
णट्ठम्मि उ सुत्तम्मी, अत्थम्मि अणट्ठे ताहे सो कुणइ।
लोगणुजोग च तहा, पढमणुजोग च दोऽवेए।
वहुहा णिमित्त तहिय, पढमणुओगे य हाति चरियाइ।
जिण चक्कि दसाराण, पुव्वभवाइ णिवद्धाइ ॥
ते काऊण तो सो, पाडलिपुत्ते उवट्ठितो सघ।
वेइ कत मे किच्ची, अणुग्गहट्ठाए त सुणह ॥
तो सघेण णिसत, सोऊण य से पडिच्छित त तु।
तो त पतिट्ठित तू, णगरम्मी कुसुमणामम्मि ॥
एमादीण करण, गहणा णिज्जूहणा पकप्पो उ।
सगहणीण य करण, अप्पाहाराण उ पकप्पो ॥'[१४]

पहले पञ्चकल्पचूर्णि का बताया हुआ वृत्तान्त यहाँ पर है, और यह भाष्यगत वृत्तान्त ही चूर्णि का मूल है। भाष्यगाथा में स्पष्टीकरण है कि निमित्त सिखने के लिए कालकाचार्य प्रतिष्ठान नगर को गये और वहाँ उन्होंने आजीविकों से निमित्त पढ़ा। पढने के बाद किसी समय वे वट वृक्ष के नीचे स्थित थे जहाँ 'सालाहण-नरिन्द' जा पहुँचा और कालक से तीन प्रश्न पूछे। प्रश्न और गुरुदक्षिणा वाली बात दोनों ग्रन्थों में समान है किन्तु भाष्य में आगे की बातें कुछ निस्तार से हैं। भाष्यकार कहते हैं कि इस प्रसङ्ग के बाद कालकाचार्य अपने उचितकार्य में—धर्मकार्य में धर्माचरण में—लगे। सूत्र नष्ट होने से और अर्थ अनष्ट होने से (मतलब कि सूत्र दुर्लभ हो गये थे किन्तु प्रतिपाद्य विषय का अर्थज्ञान शेष था।) इन्होंने लोकानुयोग और प्रथमानुयोग इन दोनों शास्त्रों की रचना की। लोकानुयोग में निमित्तज्ञान था, और प्रथमानुयोग में जिन, चक्रवर्ती, दशार इत्यादि के चरित्र थे। इस रचना के बाद वे पाटलिपुत्र में सङ्घ के समक्ष उपस्थित हुए और अपनी ग्रन्थरचना सुनने की विज्ञप्ति की। ग्रन्थों को सुनकर इनको सङ्घ ने प्रमाणित किये—मान्य रक्खे। वे शास्त्रग्रन्थ माने गये। इन सब का करना, निर्यूहन करना इत्यादि को जैन परिभाषा में 'प्रकल्प' कहते हैं। और सङ्ग्रहणी इत्यादि की रचना भी प्रकल्प बोली जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि आर्य कालक निमित्तशास्त्र के बड़े पण्डित थे और प्रव्रज्या के विषय में (निमित्तशास्त्र का) इन्होंने आजीविकों से सविशेष अध्ययन किया था। वे बड़े ग्रन्थकर्ता थे जिन्होंने प्रथमानुयोग, लोकानुयोग इत्यादि की रचना की। इस लोकानुयोग में निमित्तशास्त्र आता है। अतः क्योंकि प्रव्रज्या के विषय में ही वराहमिहिर वङ्कालक के मत का अनुसरण करते हैं और उसी विषय की उनकी रची हुई गाथायें उत्पलभट्ट ने उद्धृत की हैं। हमें विश्वास होता है कि 'वङ्कालक' से आर्य कालक ही उद्दिष्ट हैं। हमें यह भी खयाल रखना चाहिये कि उत्पलभट्ट ने अवतारित की हुई गाथायें उसी प्राकृत में हैं जिसमें जैनशास्त्र रचे गये हैं।

इस चर्चा से यह फलित होता है कि आर्य कालक, अनुयोग-कार कालक, निमित्तवेत्ता कालक

---

१४ पञ्चकल्पभाष्य, मुनिश्री हंसविजयजी शास्त्रसंग्रह (श्री आत्मारामजी जैन ज्ञानमन्दिर, वडोदा), हस्तलिखित प्रति नं० १६७३, पत्र ५०

ऐतिहासिक व्यक्ति थ, जिनकी रचनायें नागार्जुन से पहले की और ई० स० की ६ठी शताब्दी में उपलब्ध जैन आगमों में भी आगम की रचनाओं का इनका अंश मौजूद था।

यह कथन नागार्जुन के शून्यवाद के पूर्ववर्ती होगी। अनुमान के बाद सिद्ध करने का [illegible] म भाव कथन पूर्ववर्ती होने चाहिए। भाव ग्रंथित का समय ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त में माना जाता है। अतः [illegible] नागार्जुन के पूर्ववर्ती हैं। नागार्जुन का समय लगभग ४२० या ई० स० [illegible] माना गया है। इस समय के पश्चात कथन [illegible] मगध में जाने पता हो नहीं सकता, [illegible] ईसा की पहली सदी में मगध में शक कुषाण बस हुए थे और भारत [illegible] पर इनका शासन भी था। अतः भाव कथन नागार्जुन के पूर्ववर्ती ही थे। इस लेख चुके हैं कि अनुयोगद्वार निर्दिष्ट कथन और तन्निष्ठ [illegible] निर्दिष्ट कथन एक ही हैं और वही बुद्ध मूर्ति में गये थे।

डॉ॰ [illegible] की [illegible] लिखते हैं An Annamite text gives some particulars of an Indian named Khauda-la. He was born in a Brāhmana family of Western India and was well-versed in magical art He went to Tonkin by sea, probably about the same time as Jivaka *He lived in caves or under trees and was also known as Ca-la-cha-la (Kalāchārya—black preceptor ?)*"[११]

इनका मतलब यह है कि अनाम-भाषा के किसी ग्रन्थ में लिखा है कि पश्चिमी भारत की [illegible] या कहीं खन्डला नामक व्यक्ति वहीं गया था [illegible] समुद्री मार्ग से टोंकिन (इंडोचीन) गया था। यह व्यक्ति मन्त्र-तन्त्र में निपुण था। वैसे कि वन में या तो गुफाओं में या वृक्ष नीचे रहता था और उसका कालाचार्य कहते थे।

डॉ॰ [illegible] का कहना है कि यह कालाचार्य [illegible] उसी समय में अनाम और टोंकिन गये थे [illegible] [illegible] था। [illegible] ई० स० [illegible] भारत पश्चिम में था। [illegible] [illegible] के लिए [illegible] में [illegible] इस लेख में लिखा है—

"Khaudala is not mentioned in any of the authentic Chinese sources which speak of the other three Buddhist monks Mārajivaka, Sangha-Varman and Kalyanaruci who were in Tonkin during the 3rd century A.D But he is referred to for the first time (loc. cit P 217) in an Annamese book—*Cho Chau Phap Van Phat Bah hanh ngi lue* of the 14th century The text says "Towards the end of the reign of Ling Han (168-188 A.D.) Jivaka was travelling Khau-da-la (Kiu-to-lo = Kandra) arrived about

---

११. [illegible]।
[illegible]॥

—[illegible], [illegible]

१. [illegible] है [illegible]
[illegible] १ [illegible] ११ [illegible]

२ [illegible] [illegible] देखें।

१८. वही, [illegible] और देखिए *Le Bouddhisme en Annam*, Bulletin d'ecole Française d'Extrême-Orient, Vol. XXXII.

the same time from Western India He had another name Ca-la-cha-lo (Kia-lo-cho-lo = Kālācārya) "

डॉ वागची आगे अपने पत्र में लिखते हैं कि 'क्यों कि मारजीवक चीनी आधार से ई० स० २९० और ई० स० ३०६ के बीच में वहाँ दौरा लगाता था इस लिए अनाम के इस ग्रन्थ में पायी जाती हकीकत ठीक नहीं लगती।''[१९] यह ठीक है कि जीवक का समय ई० स० २९० से ३०६ मानना चाहिये न कि ई० स० १९८–१८८ जो अनाम के ग्रन्थ का कहना है। किन्तु ई० स० १४ वीं शताब्दी मे बने हुए इस ग्रन्थ के कर्ता को पूरी हकीकत वास्तविक रूप में मिलनी मुश्किल है। फिर भी जिस तरह जीवक के अनाम और टोन्किन में जाने की बात विश्वसनीय है इसी तरह कालाचार्य के अनाम जाने की हकीकत सम्भवित हो सकती है।

क्या यह अनाम की परम्परा में इन्हीं कालकाचार्य की स्मृति तो नहीं जो विद्या-मन्त्र निमित्त के ज्ञाता थे, जो सुवर्णभूमि में विचरे थे, जिनका गुफाओं में और पेड़ों के नीचे रहना मानना युक्तिसङ्गत है और जो पश्चिमी भारत के रहनेवाले थे? वे जन्म से ब्राह्मण हो सकते हैं, कई सुप्रसिद्ध जैनाचार्य जन्म से ब्राह्मण थे। जैन साधु गुफाओं में भी रहते थे। और पेड़ों के नीचे रहने वाली हकीकत कालकाचार्य के बारे में सच्ची है। उपर्युक्त पञ्चकल्पभाष्य में स्पष्ट लिखा है कि सातवाहन नरेन्द्र कालकाचार्य को मिले तब आर्य कालक वटवृक्ष के नीचे निविष्ट थे। **कालकाचार्य पेड़ो के नीचे रहते थे।** अनाम के ग्रन्थ का यह कहना कि कालाचार्य गुफाओं मे और पेड़ों के नीचे रहते थे वह इस वस्तु का द्योतक है कि वे पुरुष गृहस्थी नहीं किन्तु साधु-जीवन गुजारने वाले थे। और जब हमें प्राचीन जैनग्रन्थों (उत्तराध्ययननिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य इत्यादि) की साक्षी मिलती है कि कालकाचार्य सुवर्णभूमि में गये थे तब अनाम परम्परा के कालाचार्य वाली हकीकत में इसी कालकाचार्य के सुवर्णभूमि-गमन की स्मृति मानना उचित होगा।

कालाचार्य या कालकाचार्य के सुवर्णभूमिगमन का कारण भी दिया गया है। कालक की ग्रन्थरचनायें जिनको पाटलिपुत्र के सङ्घ ने भी प्रमाणित की थीं उन्हें खुद उनके शिष्य भी (उज्जैन मे) नहीं सुनते थे। आर्य कालक इसी से निर्विण्ण हो कर देशान्तर गये। सुवर्णभूमि में जहाँ उनके मेधावी श्रुतज्ञानी प्रशिष्य सागरश्रमण थे वहाँ जाना आर्य कालक ने उचित माना।

अनाम की परम्परा का जो निर्देश है कि कालाचार्य पश्चिमी भारत के ब्राह्मण थे उसको भी सोचना चाहिए। कालक-कथानको से यह तो स्पष्ट है कि इनका ज्यादा सम्बन्ध उज्जैन, भरूच (भरुकच्छ) और प्रतिष्ठानपुर से रहा। अत आर्य कालक पश्चिमी भारत के हो सकते हैं, और पूर्व में अनाम परम्परा उनको पश्चिमी भारत के मान ले यह स्वाभाविक है। कालाचार्य-कालकाचार्य के जन्म से ब्राह्मण होने के विषय मे हम देख चूके हैं कि यह बात असम्भव नहीं, कई प्रभाविक जैन आचार्य पहले श्रोत्रिय ब्राह्मण पण्डित थे। और आर्य कालक के विषय मे एक कथानक भी है जिससे वह ब्राह्मणजातीय थे ऐसा मान सकते हैं। आवश्यक-चूर्णि और कहावली (ई० स० १२०० के पहिले रचा हुआ, शायद ई० स० ९ वीं शताब्दि में रचित) में एक कथानक है जिस मे बताया गया है कि कालक तुरुमिणी नगरी में भद्रा नामक ब्राह्मणी के सहोदर थे। भद्रा के पुत्र दत्त ने उस नगरी के राजा को पदभ्रष्ट करके राज्य ले लिया और उसने बहुत यज्ञ किये। इस दत्त के सामने कालकाचार्य ने यज्ञों कि निन्दा की और यज्ञ का बूरा फल कहा। इस से दत्त ने आचार्य को कैद किया। आचार्य के भविष्यकथन के अनुसार राजा दत्त बूरे हाल मरा।[१९अ] यज्ञफल और दत्त के भविष्य

१९ डा बागचीजी द्वारा दी गइ प्रस्तुत सूचना के लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

१९अ देखो, कालकाचार्य-कथा (श्री नवाब प्रकाशित) पृ० ४० आवश्यक-चूर्णि, भाग १, पृ ४९५–४९६ में भद्रा को "धिग्जातिणी" कही है। भद्रा ब्राह्मणधर्मी होने से इसके लिए जैन लेखक ने

कथन के बयान से स्पष्ट होता है कि ये कालक निमित्त के ज्योतिष के जानने वाले थे। इस तरह इन के मातुल आर्य कालक और प्रथम परम्परा से कालकाचार्य ज्ञापक होने की सम्मति मिलती है। दोनों कथनों में कालक को निमित्त ग्रह-विद्या-ज्ञान होने का भी साम्य है।

पार्श्वनिमित्तोक्त कालक का भागिनेय बलमित्र राजा था। यहाँ कहानी [illegible] भानुमित्र भूमि इत्यादि के उपर्युक्त कथानक में कालकाचार्य का भागिनेय इस भी राजा होता है। यह भी विचारणीय है।

बलमित्र का नाम भानुमित्र था? और बलमित्र भानुमित्र स्वयं उपयुक्त कालक के भागिनेय थे? निशीथचूर्णि कहती है कि कितनेक आचार्यों के कथनानुसार वे (बलमित्र भानुमित्र) कालकाचार्य के भागिनेय थे। मगर निशीथचूर्णिकार भदन्तजिनदास महत्तर का (ई. स. ६७६ आसपास) पर पता मालूम नहीं था इसी लिए उन्होंने निश्चितरूप से नहीं बताया। कालकाचार्य और जिनदास के दरम्यान के बीच में ठीक ठीक अन्तर होगा जिससे जिनदास को इस विषय में अविच्छिन्न विश्वसनीय परम्परा मिल न सकी। आगे जिनदास कहते हैं कि बलमित्र के भागिनेय भानुमित्र ने दीक्षा ली जिससे बलमित्र का पुरोहित और दूसरे नाराज हुए। पुरोहित ब्राह्मण होने से बलमित्र भानुमित्र भी ब्राह्मणधर्मी होंगे। अगर कालकाचार्य के इन दोनों भागिनेय जैनधर्मी होते तो कालकाचार्य के लिए उज्जैन से बाहिर चले जाने की परिस्थिति पैदा न होती जैसा कि कालकाचार्य कथानक (विधि [illegible]) कथानक में वर्णित है। भागिनेय होने पर भी अगर बलमित्र भानुमित्र ब्राह्मणधर्मी हों तब वे तब जैसे होंगे असम्भव नहीं। अगर कालक खुद जन्म से ब्राह्मणजातीय हों तब तो उनके भागिनेय बलमित्र भानुमित्र ब्राह्मणधर्मी होने का अनुमान ठीक होता है। ब्राह्मणधर्मी होने पर भी क्योंकि बलमित्र भानुमित्र कालक के भागिनेय थे, इन दोनों ने सर्वथा [illegible] न कालक की अवगणना की। इस और बलमित्र दोनों अलग अलग कथानकों में कालक के भागिनेय कहे गये हैं। वे दोनों एक न थे मित्र मित्र व्यक्ति? कथानकों के क्रम से तो उनके अलग अलग व्यक्ति होने का अनुमान होता है।

तुरुमिणी (या तुरुमिन्नी) नगरी कहाँ थी? पर प्राचीन काल में मध्यभारत में टुमैन (Tumain) नाम से जानी जाती नगरी होगी।[१३] कालकाचार्य का प्रवास उज्जैन, भरुकच्छ और प्रतिष्ठानपुर से यह इस से तुरुमिणी का मध्य या पश्चिम भारत में होना सम्भवित है किन्तु यह कहाँ थी यह निश्चितरूप से कहना शक्य नहीं।

श्री नवाब प्रकाशित कालकाचार्य कथा में दिये हुए मध्यकालीन (सम्वत् ११ [illegible] के लिखे गये पन्ने)

[illegible] और [illegible] के [illegible] में [illegible] को [illegible] भी कहा गया है [illegible] नवाब प्रकाशित [illegible] कथाओं में [illegible] (मध्यकालीन) लेखकों ने कालकाचार्य की भगिनी (इस की ओर) को [illegible] बताया है वह ठीक ही है।

१० नवाब प्रकाशित कालकाचार्यकथा, पृ. ४०

११ वही, पृ.

१२ [illegible] बलमित्र-भानुमित्रा [illegible] —निशीथचूर्णि उद्देश १ [illegible] कालकाचार्यकथा (नवाब प्रकाशित), पृ. १ [illegible] (ई. [illegible] १४९) में बलमित्र भानुमित्र को कालक के भागिनेय कहे हैं देखो कालकाचार्यकथा, (नवाब), पृ. [illegible] वही, पृ. [illegible] में [illegible] कथानक में भी यही कहा गया है।

१३ [illegible] ग्वालियर रियासत का यह तुमैन एक प्राचीन स्थल है जहाँ से [illegible] मिले हैं।

कथानकों से प्रतीत होता है कि इन लेखकों को सुवर्णभूमि का ठीक पता नहीं रहा होगा। इसी लिए प्रभावक-चरित्र के कर्ता (समय वि० स० १३३४=ई० स० १२७७) सागर को उज्जैनी में बसे कहते हैं। और दूसरे लेखक सुवर्णभूमि के बजाय स्वर्णपुर कहते हैं। कई लेखक प्रदेश का नाम छोड़ देते हैं या दूर देश या देशान्तर ऐसा अस्पष्ट उल्लेख करते हैं। इस से यह स्पष्ट होता है कि इन पिछले लेखकों के समय में कई परम्परायें विच्छिन्न थीं। और कई बातें उनकी समझ में आ न सकीं। ऐसे संयोग में हमारे लिए यही उचित है कि हम भाष्यकार, चूर्णिकार, कहावलीकार और मलयगिरि के कथनों में ज्यादा विश्वास रखें और हो सके वहाँ तक इन्हीं साक्षियों से कालकविषयक खड़ी होती समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करें। हम देख चूके हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे न कि काल्पनिक। निमित्तज्ञानी, अनुयोगकार आर्य कालक सुवर्णभूमि में गये थे ऐसा निर्युक्तिकार, भाष्यकार और चूर्णिकार का कहना है जिसमें सन्देह रखने का कोई कारण नहीं।

लेकिन सुवर्णभूमि किस प्रदेश को कहते थे? सुवर्णभूमि का निर्देश हमें महानिद्देस जैसे प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। डॉ० मोतीचन्द्र लिखते हैं—"महानिद्देस के सुवण्णकूट और सुवण्णभूमि को एक साथ लेना चाहिये। सुवर्णभूमि, बंगाल की खाड़ी के पूरब के सब प्रदेशों के लिए एक साधारण नाम था, पर सुवर्णकूट एक भौगोलिक नाम है। अर्थशास्त्र (२।२।२८) के अनुसार सुवर्णकुड्या से तैलपर्णिक नाम का सफेद या लालचन्दन आता था। वहाँ का अगर पीले और लाल रंगों के बीच का होता था। सबसे अच्छा चन्दन मकासार और तिमोर से, और सबसे अच्छा अगर चम्पा और अनाम से आता था। सुवर्णकुड्या से दुकूल और पत्रोर्ण भी आते थे। सुवर्णकुड्या की पहचान चीनी किन्‌लिन् से की जाती है जो फूनान के पश्चिम में था।[२४]"

सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप ये दोनों नाम सागरपार के पूर्वी प्रदेशों के लिए प्राचीन समय से भारत-वासियों को सुपरिचित थे। जातककथाएँ, गुणाढ्य की (अभी अनुपलब्ध) बृहत्कथा के उपलब्ध रूपान्तर, कथाकोश और विशेषतः बौद्ध और दूसरे साहित्य के कथानकों में इनके नाम हमेशा मिलते रहते हैं। एक जातककथा के अनुसार महाजनक नामक राजकुमार धनप्राप्ति के उद्देश से सौदागरों के साथ सुवर्णभूमि को जानेवाले जहाज में गया था। दूसरी एक जातककथा भरुकच्छ से सुवर्णभूमि की जहाजी मुसाफिरी का निर्देश करती है। सुप्पारक-जातक में ऐसी ही यात्रा विस्तार से दी गई है।[२५]

गुणाढ्य की बृहत्कथा तो अप्राप्य है किन्तु उससे बने हुए बुधस्वामि लिखित बृहत्कथाश्लोकसङ्ग्रह में सानुदास की सुवर्णभूमि की यात्रा बताई गई है। कथासरित्सागर में सुवर्णद्वीप की यात्राओं के कई निर्देश हैं। कथाकोश में नागदत्त को सुवर्णद्वीप के राजा सुन्द ने बचाया ऐसी कथा है।[२६]

बृहत्कथा के उपलब्ध रूपान्तरों में सबसे प्राचीन है सङ्घदास वाचक कृत वसुदेवहिण्डि (रचना-काल—ई० स० ३०० से ई० स० ५०० के बीच)। सार्थ के साथ उत्कल में ताम्रलिप्ति (वर्तमान तामलुक) की ओर जाते हुए चारुदत्त को रास्ते में लुटेरों की भेट होती है, लेकिन वह बच जाता है। सार्थ से उसे अलग होना पड़ता है और वह अकेला प्रियंगुपट्टण पहुँचता है जहाँ पहचानवाले व्यापारी की सहाय से वह नया माल ले कर तरी रास्ते व्यापार के लिए जाता है। चारुदत्त अपना वृत्तान्त देता है—"पिछे मैंने जहाज को सज्ज किया, उस में माल भरा, खलासियों के साथ चाकर भी लिये राज्यशासन का पट्टक (पासपोर्ट)

२४ डा० मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ० १३४

२५ जातक, भाग ६ (इंग्लिश में), पृ० २२, वही, भाग ३, पृ० १२४, भाग ४, पृ० ८६, और जातकमाला, नं० १४

२६ कथासरित्सागर (बम्बई प्रकाशन), तरङ्ग ५४, श्लो० ८६ से आगे, ६५ आगे, तरङ्ग, ५७, ७२ से आगे, पृ० २७६, २६७, तरङ्ग, ८६, ३३, ६२, तरङ्ग, १२३ ११० कथाकोश (Tawney's Ed) पृ० २८-२९.

की दिशा और चीनस्थान की ओर जहाज को चलाया । अतसमर्थ होने से (चारों ओर) वायु जाल् जलमय सा प्रतीत होता था। फिर क्रमशः चीनस्थान पहुँचे। वहाँ व्यापार कर के मैं सुवर्णद्वीप गया। पूर्व और दक्षिण दिशा के पत्तनों के भ्रमण के बाद कमलपुर (ख्मेर) यवद्वीप (जावद्वीप—जावा) और सिंहल (सिलोन—लंका) में आर पश्चिम में बर्बर (जंगबीबार?) और यवन (अलेक्जेन्ड्रिया) में व्यापार कर, मैंने आठ कोटि धन पैदा किया । जहाज में मैं सौराष्ट्र के किनारे आ रहा था तब किनारा मेरी दृष्टिमर्यादा में था उसी समय जलप्लावित हुआ और मेरा जहाज नष्ट हुआ। कुछ समय के बाद एक काष्ठफलक मेरे हाथ आ गया और (समुद्र के) तरंगों की परम्परा से फैंकाता हुआ मैं उस काष्ठफलक से ही सप्तम रात्र दिनों के बाद आखिर उम्बराबती—वेला (वेला=कसी) के किनारे पर डाला गया। इस तरह मैं समुद्र से बाहर आया।"[९]

यह स्थान मालवा का है। तिग्युसय्य भारत की एक प्राचीन बन्दरगाह थी। यहाँ से वास्तव चीन और हिन्द चीन की तरफ जाता है। चीन से सुवर्णद्वीप जाता है और पूर्व और पश्चिम के बन्दरगाहों, व्यापारकेन्द्रों में होता हुआ ख्मेर, वहाँ से यवद्वीप और फिर वहाँ से सिंहल को जाता है। इस तरह चीन और ख्मेर के बीच में सुवर्णद्वीप होना सम्भवित है।

वसुदेवहिण्डि की रचना बृहत्कथाश्लोकसंग्रह से प्राचीन है।[१०] वसुदेवहिण्डि अन्तर्गत चारुदत्त के कथन से प्रतीत होता है कि जैन व्यापारी इन पूर्वीय देशों से सुपरिचित थे। बृहत्कल्पभाष्य-टीका में "सुवर्ण शब्द प्रयोग से व्यापार की अपनी सूचना देने वाली या नाम पता जाता है क्योंकि जिससे और पहुंचकर इनके मालिक से (सुवर्ण शब्द से वाचित सुवर्णभूमि अर्थ में) सुपरिचित थे। और उत्तराध्ययननिर्युक्ति तो साफ रूप से सुवर्णभूमि का निर्देश करती है।

सुवर्णभूमि के प्रवर के बारे में कौटिल्य के निर्देश (अर्थशास्त्र, २ ११) का उल्लेख पहिले किया गया है। मिलिन्दपञ्ह भी तक्कोल, चीन, सुवर्णभूमि में बन्दरगाहों, जहाँ जहाज इकट्ठे होते हैं का उल्लेख करता है।[११]

निर्देश में सुवर्णभूमि और दूसरे देशों की बहुमूल्य सुवस्तुओं का निर्देश है। महाकर्म विपाक में देशान्तर विपाक के उदाहरण में महाकोसली और ताम्रलिप्ति से सुवर्णभूमि की ओर जहाजों रखने से कमीनापन स्वाद दिये जो होती हुई मान्यताओं की गयी हैं। जिनानी महाराजा में बैर उत्तर और पर होता के सुवर्णभूमि में धर्मप्रचार का निर्देश है।

---

९ इस कथा में ओमोनियम में फिर प्रमुख था। फिर उसी वसुदेवहिण्डि और कुवलय की इसका स्पष्ट इसी कथा पर से प्रेरणा लेकर लिखी होगा।

९ वसुदेवहिण्डि भाग १, पृ १४६–१४७

१० ब्राउन महाशय डुविबो जुगलोनिस्की की व्याख्या बृहत्कल्पसूत्र, विभाग १,

११ मिलिन्दपञ्ह (ट्रेन्कनर), सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट सिरीज, वॉल्युम ३६ पृ २६९—

— As a ship-owner who has become wealthy by constantly levying freight in some sea port town, will be able to traverse the high seas and go to Takkola or Cina ... or Suvarnabhumi or any other place where ships may congregate

देखो या सिल्वें लेवि Etudes Asiatiques, वॉ १ पृ १–५५, ४१६.

१२ महाकर्म—विपाक या सिल्वें लेवी समारित १ ६ से आगे देखो महाशय आरसी मजुमदार कृत सुवर्णद्वीप (आर सी मजूमदार कृत) विभाग १ १.

ग्रीक-लाटिन ग्रन्थकार भी सुवर्णभूमि, सुवर्णद्वीप का उल्लेख करते हैं। क्रिसी (Chryse जिसका अर्थ सुवर्ण होता है) द्वीप का, पोम्पोनिअस मेल (ई० स० ४१–५४) अपने De Chorographia में उल्लेख करता है। प्लिनी, टॉलेमी वगैरह ग्रन्थकारों के बयानों में, और पेरिप्लस में भी, इसका उल्लेख है। टॉलेमी सिर्फ क्रिसी-द्वीप के बजाय Chryse Chora (सुवर्णभूमि) और Chryse Chersonesus (सुवर्णद्वीपकल्प) का निर्देश करता है।

अरबी ग्रन्थकारों के पिछले बयानों को यहाँ विस्तारभय से छोड़ देंगे। किन्तु इन सब साक्षियों की विस्तृत समीक्षा के बाद डाक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार ने जो लिखा है वही देख लें। आप लिखते हैं—

"The Periplus makes it certain that the territories beyond the Ganges were called Chryse It does not give us any means to define the boundaries more precisely, beyond drawing our attention to the facts that the region consisted both of a part of mainland as well as an island, to the east of the Ganges, and that it was the last part of the inhabited world To the north of this region it places "This" or China In other words, Chryse, according to this authority, has the same connotation as the Trans-Gangetic India of Ptolemy, and would include Burma, Indo-China and Malaya Archipelago, or rather such portions of this vast region as were then known to the Indians Ptolemy's Chryse Chersonesus undoubtedly indicates Malaya Peninsula, and its Chryse Chora must be a region to the north of it Now we have definite evidence that a portion of Burma was known in later ages as Suvarnabhūmi According to Kalyāni Inscriptions (Suvarnabhūmi-raṭṭa-samkhāta Rāmaññadesa), Rāmaññadesa was called Suvarnabhūmi which would then comprise the maritime region between Cape Negrais and the mouth of the Salvin There can also be hardly any doubt, in view of the statement of Arab and Chinese writers, and the inscription found in Sumātrā itself, that the island was also known as Suvarnabhūmi and Suvarnadvīpa There are thus definite evidences that Burma, Malaya Peninsula and Sumātrā had a common designation of Suvarnabhūmi, and the name Suvarnadvīpa was certainly applied to Sumātrā and other islands of the Malaya Archipelago"[32]

इस तरह डा० मजुमदार के अन्वेषण से बर्मा, मलय द्वीपकल्प, सुमात्रा और मलय द्वीपसमूह से अभी पिछाने जाते प्रदेशों के लिए सुवर्णभूमि शब्द प्रचलित था, और विशेष सुमात्रा और मलयसामुद्रधूनि (Malaya Archipelago) का द्वीपसमूह सुवर्णद्वीप कहा जाता था।

बृहत्कल्पसूत्र की भाष्य-गाथा में, और उत्तराध्ययननिर्युक्ति में "सुवण्ण" शब्द है जिससे सुवर्णभूमि या सुवर्णद्वीप दोनों अर्थ घटमान होते हैं। किन्तु चूर्णिकार और टीकाकार (मलयगिरि) जैसे बहुश्रुत विद्वानों ने अपने को प्राप्त आधारग्रन्थ और प्राचीन-परम्परागत ज्ञान के अनुसरण में सुवर्णभूमि अर्थ दिया है। इस लिए कालकाचार्य दक्षिण-बर्मा, उसके पूर्व के और दक्षिण के प्रदेशों में विचरे थे ऐसा अर्थ घटाना ठीक होगा। वहाँ से आगे वे कहाँ तक गये, और "अज्ज कालग" ने शेष जीवन में क्या क्या किया,[33]

३२ डा० रमेशचन्द्र मजुमदार, सुवर्णद्वीप, भाग १, पृ० ४८

३३ आर्य कालक के शेष जीवन के बारे में अगर भाष्यकार और चूर्णिकार को कुछ और भी पता होगा

कहाँ कहाँ विहार किया इत्यादि बातें हमारे सामने उपस्थित न होने से यह स्पष्ट कहना कि अनाम (बंगाल)में जैनाचार्य (कालकाचार्य) के आने की परम्परा निराधार है या यह कालक पर की नहीं तो उतनी यह बात निरर्थक होगी। और जैसा आगे बताया है मगध कालक के ब्राह्मणकुल में जन्म होने की जैन परम्परा कालक को निश्चित और मगधजन होने की परम्परा, कल्पसूत्र के नीचे रहने की पंचकल्पभाष्य की गाथाएँ इत्यादि से कालक के अनाम आने के अनुमान को पुष्टि मिलती है। उत्तराध्ययन की टीका की कथाओं में कालक से यदि चन्द्रगुप्त से कालक के सम्बन्ध का निर्देश हो तब तो इसको और भी पुष्टि मिलती है।

कालक के प्रशिष्य थे जो ठीक उसका काम तब प्रतीत होगा कि उनके लिए यह तब कहना उचित था। वहाँ से वे ये ‹ैम (दक्षिण चीन) गये यह अनाम (बंगा) की उस परम्परा का कहना है। जो कालक सिन्धु के उस पार पारस्यदेश (ईरान) पारसकूल को गये थे वे कालक पूर्व में बंगाल से कहाँ होकर इन सब प्रदेशों में भी गये यह समझने में कोई आपत्तिविशेष नहीं रहता।

मगध से आगे जैनधर्म ने क्रमशः विस्तार के इतिहास को लिख देने का वस्तुस्थिति सम्भवित न होगी। महावीर स्वयं यहाँ मध्य—पश्चिमी बंगाल में। यह प्रदेश अनार्यों से अधिकृत कहा जाता था। महावीर को वहाँ काफी उपसर्ग सहन करने पड़े। वे यहाँ के आदि वासी लोग, जिनको हम primitive peoples कहते हैं वैसे थे। पूर्वीय प्रदेशों में अंग, ताम्रलिप्त, कलिंग, महाराष्ट्र इत्यादि देशों में धर्म इत्यादि प्रादि की प्रागैतिहासिक अधिकृत प्रभावों में भारतीय संस्कृति ने यह घर बसने सत्कार फैलाये। यह तो मगध, कन्नौज (कन्नौजिया) इत्यादि के इतिहास से सुप्रसिद्ध है। प्राचीन काल में दक्षिण में जैसे भगवान् बौद्ध ने यह कार्य किया पूर्वीय प्रदेशों की ओर महावीर की अपूर्व देशना। सम्भव है कि वे बंगाल की पूर्वीय सीमा तक (शायद उससे उपर तक) गये। परन्तु उनके प्रदेशों में महावीर विहार का निश्चित कथन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है।

महावीर के अनुयायी स्थविरों ने यह कार्य चालू रक्खा। तब ही तो हम स्थविरावली में ताम्रलिप्ति कोटिवर्ष और पुण्ड्रवर्धन की शाखाओं के निर्देश पाते हैं। भद्रबाहुस्वामी स्थविर आर्य महागिरि (महावीर निर्वाण वर्ष १७) कैवल्य को गये थे यह भी इसी प्रवृत्ति का सूचक है। पञ्चकल्पभाष्य में पाया है— स्वामि भद्रबाहु पर्यटन तम्रलिप्त्यादि —इत्यादि। यहाँ पर्यटन का प्राचीन गौडीय ऐसा अर्थ जिससे बंगाल के आसाम है और प्राचीनो बंगाल ऐसा कहते हैं। पहाड़पुर (बंगाल) से उत्खनन में गुप्तकालीन ताम्रपत्र प्राप्त मिला है जिस में पञ्चस्तूपान्वय (सम्भवतः मथुरा का) के जैनाचार्यों के वहाँ तक के विहार की साक्षी मिलती है।

कम से कम गुप्तकालों के प्रारम्भकाल तक पूर्वीय भारत में जैन धर्म का प्रचार चालू रहा। फिर दूसरे दूसरे किन्हीं राजकीय प्रवाहों के प्रभाव से जैन धर्म का प्रभाव पश्चिम और दक्षिण भारत की ओर चला गया। पूर्व भारत में वर्तमान सराक (श्रावक) आदि के लोग प्राचीन श्रावक (जैन) थे ऐसा कहा जाता है।

(किन्तु उनके विस्तारात्मक ग्रन्थ में इन बातों का प्रसंग उपस्थित न होने से (अपरिचित समय पर) वे कुछ न दे न लिख सके। इस बाबी बात के अन्त में बताया कहा जिसे रखना ही लिखते हैं ... कालकसूरि थे ही ऐसा अनुमान करते हैं। ... कालक का उन पीछे इन पूर्वीय प्रदेशों में गुजरा। इस विषय में विस्तारात्मक कुछ अधिक समय नहीं।

१४ इस विषय में देखिये, बुलेटिन ऑफ द प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युज़ियम, नं० १ न ६, १ १०— ०

१५ एपिग्राफिया इण्डिका, वॉ० २ २ ११ के बारे, हिस्टरी ऑफ बेंगाल, वॉ० १ १ ४१

इस तरह हम देखते हैं कि महावीर-स्वामी के पश्चात् करीब पाँचसौ वर्ष में दूसरे सम्प्रदाय के साथ जैनों ने भी पूर्व में और उत्तरपूर्व में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के प्रयत्न किये होंगे, और बंगाल में ई० स० की पाँचवीं शताब्दी तक जैनों के वह प्रयत्न चालू थे। अतः इससे भी पूर्व में बर्मा, अनाम इत्यादि में तथा सुवर्णभूमि से पिछाने जाने प्रदेशों में ऐसा प्रयत्न होने का अगर प्राचीन जैन ग्रन्थों का प्रमाण मिले तब वह असङ्गत और अशक्य नहीं लग सकता। कम से कम बर्मा, आसाम और नेपाल में जैनाचार्यों के जाने का अनुमान तो हरेक को ग्राह्य होगा। दक्षिण बर्मा से पैदल रास्ते से जैनाचार्य, आगे भी, सुवर्णभूमि से पिछाने जाते प्रदेशों में, जा सकते थे और गये होंगे।

आर्य कालक के समय के बारे में आगे विचार होगा। उनका समय, जैसा कि आगे देखेंगे, ई० स० पूर्व १६२ से १५१ या ई० स० पूर्व १३२ से ६१ की आसपास का है उस समय में भारतीय व्यापारी इन प्रदेशों में जाते थे यह हम देख चूके हैं। डॉ० मजुमदार लिखते हैं—

"The view that the beginnings of Indian Colonisation in South-East Asia should be placed not later than the first century A D is also supported by the fact that trade relations between India and China, by way of sea, may be traced back to the second century B C[36] As the Chineses vessels did not proceed beyond Northern Annam till after the first century A D, it may be presumed that the Indian vessels plied at least as far as Annam even in the second century B C As the vessels in those days kept close to the coast, we may conclude that even in the second century B C Indian mariners and merchants must have been quite familiar with those regions in Indo-China, and Malaya Archipelago, where we find Indian colonies at a later date"[36A]

मगर जैनाचार्यों की जहाजी सफर का, समुद्रयान का, अनुमान करना मुश्किल है। किन्तु वे खुश्की रास्ते से जा सकते थे। इस में भी बड़ी बड़ी नदियाँ तो आती ही हैं। बड़ी बड़ी नदियों के पार करने में जैन श्रमण नाव में बैठ सकते हैं। इस विषय की विस्तृत चर्चा बृहत्कल्पसूत्र, उद्देश ४ सूत्र ३० से आगे, और इन सूत्रों की भाष्यगाथाओं (गाथा ५६२०) में मिलती है। गङ्गा या शोण (और सिन्धु, नर्मदा) जैसी भारतीय बड़ी नदियाँ पार करनेवाले जैनाचार्यों ने ब्रह्मपुत्रा, ईरावदी जैसी नदियाँ भी नाव में पार की होगी। इस में कोई प्रतिबंध नहीं है। किनारा सामने नजर में आ सके ऐसे जलमार्ग में नाव का उपयोग हो सकता है। बड़ी बड़ी ऐसी नदियों के रास्ते में भी ऐसी कई जगह (या पहाड़ी दून प्रदेश) होती हैं जहाँ जल खूब गहरा होता है लेकिन सामनेवाला किनारा नजरों से दूर नहीं होता। और इन्हीं नदियों में ऐसे भी जलमार्ग होते हैं जहाँ पाँव ऊपर उठा कर चल कर भी उनको पार कर सकते हैं जैसी कि बृहत्कल्पसूत्रकार "एग पाय जले किच्चा एग पाय थले किच्चा" इत्यादि शब्दों में अनुज्ञा देते हैं। इस तरह अगर खुश्की रास्ते से, बीच में आनेवाली नदियाँ को नाव में बैठकर या चलकर पार करके, दक्षिण बर्मा, चम्पा, मलाया इत्यादि प्रदेशों में जाना शक्य होता था तब आर्य कालक, सागर श्रमण और दूसरे जैन श्रमणों का सुवर्ण-भूमि-गमन धर्मविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध नहीं था।

---

३६ तोउग पओ (T'oung Pao), १३ (१९१२), पृ० ४५७–६१, इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्लि, १४, पृ० ३८०

३६ अ डॉ० आर० सी० मजुमदार, एन्शियन्ट इन्डिया कॉलनायजेशन इन साउथ ईस्ट एशिया (१९५५), पृ० १३

बृहत्कल्पसूत्र के कर्ता हैं प्राचीन गोत्रीय या प्राचीन काश्यप के स्थविर भद्रबाहु। इसमें आगे हुए इस बृहत्कल्प के चतुर्थ उद्देश में साधुओं के नदी-उत्तरण की चर्चा करते हुए आप लिखते हैं—"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ पंच महण्णवाओ महानईओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा। तं जहा—गंगा जउणा, सरऊ, कोसिया मही।" इस सूत्र के ऊपर निर्युक्ति भी देखनी चाहिये—

पंचण्ह गहणेणं सेसा वि उ सूइया महासलिला।

तत्थ पुरा विहरिंसु न य ताओ कयाइ सुक्कंति ॥ ५६२ ॥

फिर आगे इसी विषय की विस्तृत चर्चा आती है। नावसन्तरण के भिन्न भिन्न दोष दिखलाते हुए बृहत्कल्प सूत्र के (निर्युक्तिकार या) भाष्यकार कहते हैं—

पीहरस्स भारसा भारावडस्स नाविं उत्तरणं।

मिच्छत्तेहि पवाओ एक्क-एक्कंसि वारिज्जा भाग ॥ ५६२८ ॥

भगवान् महावीर भी नाव में चढ़े थे इस की पर्याप्ति आवश्यक निर्युक्ति गाथा ४६९–७१ से भी होती है।

उपर्युक्त भाष्यगाथाओं में अप्कायादि जीवों की चर्चा और इनसे बचने के लिए जहाँ तक हो सके, स्थल पथ (खुश्की-रास्ता) ग्रहण करने के उपदेश के साथ ही नाव से या चलते ही नदी पार करने की चर्चा है। जहाँ जल की गहराई बिलकुल कम हो और जल् के भी नीचे रेत हो मतलब कि जहाँ पाँव को जल से ऊपर उठा कर फिर आगे रख कर नदी में चल सकें वहाँ पैदल ही जाना उचित है और गिरने की या जीवहिंसा की सम्भावना अधिक कम हो जाती है। किन्तु इस सारी चर्चा में नावारोहण—नाव से नदी पार करने का—सम्पूर्ण प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया।

कालकाचार्य और अमर समय समुद्रमार्ग से—जहाजी रास्ते से—नहीं किन्तु खुश्की रास्ते से भी गये ऐसा स्पष्ट लगता है। और बृहत्कल्पभाष्य की चूर्णि आर टीका के उल्लेखों का भाव यही है। रास्ते में कालक के शिष्य को लोग पूछते हैं "ये कौन से आचार्य जा रहे हैं।" इसका मतलब यही है कि वे खुश्की रास्ते से गये। ईसा के पूर्व की शताब्दियों में खुश्की रास्ता ज्यादा इस्तेमाल होता था। व्यापारी ज्यादातर [illegible] होगा। खुश्की रास्ते से वे चीन (दक्षिण चीन) तक भी जाते थे। खुश्की रास्ते के विषय में डा. मजुमदार लिखते हैं—

"From early times there was regular trade-route by land between Eastern India and China through Upper Burma and Yunnan W know from Chinese Chronicles that in the second century B C merchants with their ware travelled from China across the whole of North India and Afghanistan to Bactria Through this route came early Chinese priests for whom, according to I-tsing, an Indian king built a temple in the third or fourth century A D From different points along this route one could pass to Lower Burma and other parts of Ind China, and a Chinese writer

---

१ बृहत्कल्पसूत्र, भाग [illegible] विभाग ३, पृ [illegible] गाथा ५६२

२ वही, [illegible]

४. आवश्यक सूत्र, हरिभद्रीय वृत्ति, पत्र [illegible]

Kia Tan, refers to a land route between Annam and India (Journal Asiatique, II-XIII, 1919, p 461)[40]

श्रावकों के लिए तो सागर-गमन और नावारोहण निषिद्ध मालूम नहीं होता है।[41] वसुदेवहिण्डि-अन्तर्गत चारुदत्त-कथानक का भी यही ध्वनि है, व्यापार के लिए जैन श्रावक द्वीपान्तरों में जहाजों से जाते थे। ज्ञाताधर्मकथासूत्र में भी रत्नद्वीप पहुँचे हुए वणिकों का प्रसंग है। अगर किसी प्रदेश में जैन गृहस्थों की वसति न हो तो वहाँ जैन साधु साध्वियों का विहार अतीव कठिन होता है क्योंकि आहार के बारे में नियमों का पालन करना मुश्किल हो जाता है। सागरश्रमण सपरिवार सुवर्णभूमि में गये ऐसे निर्देश का मतलब यह भी है कि वहाँ जैन गृहस्थ (साहसिक सोदागर) ठीक ठीक संख्या में मौजूद थे। इस तरह इस समय में (ई० स० पूर्व १५१–६०) भारतीय व्यापारियों का सुवर्णभूमि में जाना शुरू हो चुका था। व्यापार के लिए हरेक सम्प्रदाय के वणिक् जाते थे—जैन, बौद्ध या हिन्दू कोई भी हो। जैनाचार्य के वहाँ सपरिवार विहार के इस विश्वसनीय बयान का निष्कर्ष यह है कि ईसा के पूर्व की पहली दूसरी शताब्दियों में भारतीय सोदागर और भारतीय संस्कृति के सुवर्णभूमिगमन का हमें एक और प्रमाण मिलता है।

धर्म के प्रचार के लिए सिद्धि—विद्यासिद्धि या मन्त्रसिद्धि—इत्यादि के प्रयोग करने का जैनाचार्यों के लिए निषिद्ध नहीं था। ऐसी प्रभावना के कई दृष्टान्त मिलते हैं और ऐसे आचार्यों को प्रभावक आचार्य कहते हैं। आर्य वज्र, आर्य खपुट, आर्य पादलिप्त जैसे प्राचीन आचार्यों के ऐसे कार्य सङ्घ को मान्य रहे थे। साध्वी को बचाने के लिए आर्य कालक ने जो किया वह भी धर्मविरुद्ध नहीं गिना गया। शककूल में और भारत में भी कालकाचार्य ने अपने विद्या, मन्त्र और निमित्त ज्ञान का परिचय दिया। ऐसे बड़े बड़े आचार्यों को प्रभावक आचार्य कहते हैं। ऐसे बहुश्रुत आचार्यों के आचरण में[42] शङ्का की बात तो दूर रही, वे आगे दूसरे आचार्यों और मुनियों के मार्गदर्शक भी गिने जाते हैं। आर्य वज्र, आर्य पादलिप्त, आर्य कालक आदि स्थविर प्रभावक आचार्य माने गये और प्रभावक चरित्र में इनके चरित्र भी दिये गये। प्रभावशाली, बहुश्रुत, वृद्ध जैन आचार्य धर्माचरणविषयक मामले में प्रमाणभूत गिने जाते हैं और जहाँ शास्त्रों का पूरा खुलासा अनुपलब्ध हो या शास्त्रवचन समझ में न आवे वहाँ ऐसे पट्टधरों, युगप्रधानों, स्थविरों के मार्गदर्शन और कार्य प्रमाणभूत होते हैं।

श्रुतधर अनुयोगधर स्थविर आर्य कालक साध्वी को बचाने के लिए पारसकूल शककूल गये और वहाँ से शकों को ले आये और गर्दभ का उच्छेद करवाया। आज तक आर्य कालक का यह कथानक जैन समाज में (विशेषतः श्वेताम्बर जैन सङ्घ में) अतीव प्रचलित है। कालक कथा की कई सचित्र प्राचीन हस्तप्रत मिलती हैं। सचित्र प्रतियों में कल्पसूत्र के साथ कालककथा की प्रतियाँ मिलती रहती हैं, यह पर्युषणापर्वतिथि के साथ कालक का सम्बन्ध होने के कारण होगा। किन्तु शकों को लाने वाले कालक को इतना सन्मान मिलता है यही सूचक है।

---

४० डॉ० आर० सी० मजुमदार, एन्शिअन्ट इन्डिअन कॉलनाइझेशन इन साउथ-ईस्ट एशिआ (बड़ोदा १९५५), पृ० ४

४१ श्री वीरचन्द गांधी जब अमरिका सर्वधर्मपरिषद में जा कर आये तब जैन सङ्घ ने उनको प्रायश्चित्त करने का कहा। उस समय सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री विजयानन्दसूरिजी (श्री आत्मारामजी महाराज) ने यही अभिप्राय दिया कि उनका समुद्रपार जाना निषिद्ध नहीं था। श्री आत्मारामजी महाराज का यह पत्र गुजराती साप्ताहिक 'जैन' (भावनगर) के ता० २८–११–१९५३ के अङ्क में प्रकाशित हुआ है।

४२ जैसे कि आर्य वज्र चैत्यपूजा के लिए पुष्प ले आये थे।

आर्य कालक के जीवनकाल में उनके शकों को लाने के कार्य के विरुद्ध (और दूसरे कार्यों के विरुद्ध) कुछ आन्दोलन हुआ होगा। मन्त्र विद्या और निमित्त के प्रयोग आम तौर पर जैन साधुओं के लिए उचित नहीं माने गये हैं। विद्यासिद्ध को तो निषिद्ध ही माना गया है। और फिर परदेश से राजा को इस देश में लाने का काम बहुत से लोगों को (जैनधर्मावलम्बी को भी) पसन्द न भी हो।

धर्मप्रभावक कालकाचार्य के जीवन में साहस (adventure) का—पराक्रम का—तत्त्व स्पष्ट दिखाई देता है। वे कोई असाधारण व्यक्ति थे। उन्होंने जब देखा कि सूत्र नष्ट होते जा रहे हैं तब उन्होंने अनुयोग ग्रन्थों की रचना की। दशवैकालिकचूर्णि और टीका के अनुसार उनके अनुयोग को अपना शिष्यसमुदाय सुनता नहीं था। क्या? अनुयोग के ग्रंथों को माने हैं—उपदेश प्रवचन और आर्य कालक के रचे हुए अनुयोग ग्रन्थ जिनका व्याख्यान आप करते होंगे। हम सुनते हैं कि आर्य कालक के शिष्य अवन्ति में स्थिर नहीं रहते थे। क्यों? क्या इन सब निर्देशों से यही सूचित नहीं होता कि कालक के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व, परम्परा और प्रथा, पुराने ग्रन्थ को छोड़ कर नये रचने पर कालक ने साहस दिखाया, उससे असंतुष्ट होकर प्रगतिविरोधी तत्त्व नाराज थे? एक जमाने की तवारीख में हम देखते हैं कि बड़े बड़े महात्माओं को ऐसे विरोध अपने जीवन में सहन करने पड़े यद्यपि आगे चलकर वे युगप्रधान माने गये। ईसा, महात्मा गांधी, सुकरात और कबीर आदि अनेक उदाहरण हमारे सामने मौजूद हैं। कालकाचार्य को भी ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा होगा।

जैन तवारीख में भी हम देखते हैं कि आर्य सुहस्ति के व्यवहार से आर्य महागिरि नाराज हुए थे। आर्य संप्रति राजा के लिए पुण्य से आये हुए अन्न का ग्रहण आम तौर से साधुओं के लिए उचित न था। उसका भी विरोध हुआ होगा। शकों को लानेवाले आजीविका से निमित्त पढ़नेवाले, निमित्तकथन और विद्याप्रयोग करनेवाले पर्युषणपर्व की पंचमी तिथि को बदल कर चतुर्थी को यह पर्व मनानेवाले नये अनुयोग ग्रन्थ रचनेवाले आर्य कालक के सामने अवश्य विरोधी तत्त्व खड़े हुए होंगे।[1] मगर आर्य कालक डरनेवाले थे ही नहीं। उनकी राह में कोई असाधारण हिम्मत थी। जब उन्होंने देखा कि अपने ही शिष्य अपना ही अनुयोग सुनते नहीं हैं तब उनको विरह असह्य हुआ मगर वे बैठे रहनेवाले या डरनेवाले नहीं थे। उन्होंने नये कार्यक्षेत्र की ओर दृष्टि डाली। वे सुवर्णभूमि गए। पहुँचे वहाँ भारतीय व्यापारी गये हुए थे ही, वहाँ उनका प्रशिष्य भी गया हुआ था ही और वहाँ भारत के अन्य धर्मावलम्बी लोग तथा साधु भी पहुँचे होंगे।

शंका यह उपस्थित होगी कि अगर कालक के सुवर्णभूमिगमनवाली परम्परा सच्ची है तो फिर इस सुवर्णभूमि में क्या जैनधर्म के अवशेष मिलते नहीं? लेकिन इसका जवाब यह तो नहीं हो सकता कि भविष्य में मिलना असम्भव है। हम यह तो जानते ही हैं कि ईसा की पहली दूसरी शताब्दी से लेकर भारतीय संस्कृति के अवशेष इन प्रदेशों में मिले हैं और भारतीय संस्कृति का बीज ठीक ठीक प्रचार इस समय में इन प्रदेशों में हो चुका था। इस समय में वहाँ जानेवाले व्यापारियों में जैन भी अवश्य होंगे यह तो हम

१ इसमें ध्यान में रखना है कि शकों के राज्य को स्थापित करना है तो ज्यादा विरोध हुआ होगा। परदेशी शासन को स्वीकार करने जैसी बात लिखी हुई न थी। और न कोई भी प्रजा परदेशी शासकों का स्वागत करने को तैयार होती है। शकों को लाने के लिए जो कारण था वह पर्याप्त था या नहीं यह एक प्रश्न है। वास्तविक रूप से यह सब लिए विरोध स्वाभाविक न होगा। विरोध होने पर भी कुछ समय बाद आर्य कालक की प्रशंसा करनेवाले, उनका सम्मान करनेवाले भी होंगे ही। आगम देखनेवाले नहीं मिले या सके।

सम्मत होगा। सातवीं सदी में हरिभद्रसूरि ने अपनी समराइच्चकहा में भी व्यापारियों के परदेशगमन के दिये हुए बयान भी यह सूचित करते हैं कि जैन सौदागर भी जाते थे। और इनके भी कोई अवशेष, जैन प्रतिमा इत्यादि मिलना असम्भव नहीं। किन्तु हमें याद रखना चाहिये कि आर्यकालक और सागरश्रमण जैसे साहसिक स्थविरों की परम्परा भी न रही जो सुवर्णभूमि को जायें। और जब मगध और बंगाल में जैन सङ्घ को आपत्तियाँ आईं तब जैनसाधु ज्यादा करके मध्य, पश्चिम और दक्षिण भारत को अपना केन्द्र बनाते रहे। सुवर्णभूमि का खुश्की रास्ता था पर मगध और बंगाल की प्रतिकूल परिस्थिति के कारण वहाँ जानेवाले जैन साधुओं की परम्परा टूट गई।

२

कालकाचार्य का समय

अब हमें यह सोचना चाहिये कि कालकाचार्य कब सुवर्णभूमि में गये। कालकाचार्य के बारे में विद्वानों ने खूब चर्चा की है। जैन सम्प्रदाय में अनेक कालकाचार्य-कथानक मिलते हैं। डा० डब्ल्यु० नॉर्मन ब्राउन ने अपने "स्टोरि ऑफ कालक" नामक ग्रन्थ में ऐसे कई कथानकों, और कहावलीअन्तर्गत कालक कथानक और चूर्णिग्रन्थों में से भी कितनेक उल्लेख उद्धृत किये हैं। डा० ब्राउन ने इस विषय में पूर्वमें हुई चर्चा की सूची भी दी है। मुनिश्री कल्याणविजयजी ने प्रभावकचरित्र के गुजराती भाषान्तर की प्रस्तावना में कालकाचार्य के विषय में चर्चा की है। और फिर द्विवेदीअभिनन्दन ग्रन्थ में कितने कालकाचार्य हुए और कब इस विषय में मुनिश्री कल्याणविजयजी ने विस्तार से लिखा है। श्री साराभाई नवाब प्रकाशित कालकाचार्यकथा में इन सब कथानकों चूर्णियों के (पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि को छोड़ कर) पाठ दिये हैं किन्तु चूर्णियों के कुछ संदर्भ संक्षिप्त हैं। खास कर के यवराज, गर्दभ और अडोलिया वाला, जिसका कालक से ज्यादा सम्बन्ध न मान कर संक्षेप किया है। इस प्रकाशन को सम्पादित करने वाले पं० अम्बालाल शाहने मुनिश्री कल्याणविजय जी के प्रतिपादना का सारांश दिया है। आशा है कि इन प्रकाशनों को सामने रख कर विद्वद्गण आगे की चर्चा को पढ़ेंगे।

कालकाचार्य के विषय में उपलब्ध सब निर्देशों (संदर्भों) को दो विभाग में बाँटना आवश्यक होगा। एक तो है निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और कहावली का विभाग जो दूसरे विभाग से प्राचीन है और प्राचीनतर परम्पराओं का बना हुआ है। इसको ज्यादा विश्वसनीय मानना चाहिये। दूसरा है नवाब के प्रकाशन में दिया हुआ कालकाचार्य कथा प्राकृत विभाग, जिसमें नं० ३ वाले कहावली से लिये हुए संदर्भ को पहले विभाग में शामिल करना होगा और इस से अतिरिक्त सब कथानकों को दूसरे विभाग में।

कहावली को दूसरे विभाग से प्राचीन गिननी चाहिये। भाषा की दृष्टि से वह चूर्णियों से ज्यादा मिलती है। और इसमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के बारे में ग्रन्थकार ने "संपयं देवलोय गओ" ऐसा निर्देश किया है। अतः कहावलीकार और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के बीच में पाँच शताब्दि का अन्तर मान लेना उचित नहीं।[४४]

पहले विभाग से सम्बन्ध रखनेवाली हैं कल्पसूत्र स्थविरावली, और नन्दीसूत्र की पट्टावली। दूसरी पट्टावलियों से ये दोनों ज्यादा प्राचीन हैं। दुःषमाकाल श्रीश्रमणसंघस्तोत्र और हेमचन्द्राचार्य की स्थविरावली

---

४४ विशेष चर्चा के लिए देखिये, जैन सत्यप्रकाश (अहमदाबाद), वर्ष १७ अंक ४ (जान्युआरी, १९५२), पृ० ८६–९१।

भी इस विषय में ज्यादा सम्बन्ध रखनेवाले हैं। मेरुतुंग की विचारश्रेणि इत्यादि दूसरे विभाग में हैं क्योंकि उन ग्रन्थकारों के लिए परम्परा ज्यादा विच्छिन्न रूप में थी।

हम देखते हैं कि ज्यों ज्यों प्राचीन आचार्यों के बाद उत्तरकालीन ग्रन्थकार का अधिक व्यवधान होता जाता है त्यों त्यों प्राचीन परम्परा की कथा का अधिक लोप हो जाता है। और पश्चाद्वर्ती किसी अर्वाचीन रचना ही अधिक अविश्वसनीय होती है। रत्नसंचयप्रकरण (विक्रम की १५-१६ शताब्दी) में चार कालकाचार्यों का समय निर्दिष्ट है। जब इनमें प्राचीन ग्रन्थकार तीन कालकाचार्यों का समय देते हैं। मेरुतुंग के सामने भी विच्छिन्न परम्परा थी और बहुत विरोधाभासवाली बातें भी उनकी लिखी हुई विचारश्रेणि में देखने मिलती हैं। मुनि कल्याणविजयजी ने अपने "वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना" के पृ. ५५-५७ पादनोंध ४० में यह स्पष्ट रूप से बताया है।

ऐसी परिस्थिति में हम प्रथम विभाग के ग्रन्थ और ग्रन्थकारों के आधार से ही समालोचन करके अनुसन्धान करना ठीक होगा।

आर्य कालक के जीवन की घटनायें मुख्यतः सात हैं। दूसरे दूसरे सन्दर्भों में और कथानकों में ये सात घटनायें मिलती हैं जैसा कि मुनि कल्याणविजय ने भी बताया है। ये घटनायें निम्नलिखित हैं—

(१) दत्त राजा के सामने यज्ञफल और दत्त मृत्यु विषयक भविष्य कथन (निमित्त कथन)।

(२) इन्द्र के सामने निगोद-व्याख्यान तथा सूक्ष्म निगोद व्याख्याता आर्य कालक।

(३) आजीविकों से निमित्त पठन और तदनन्तर सातवाहन राजा के तीन प्रश्नों का निमित्त ज्ञान से उत्तर देना।

(४) अनुयोगग्रन्थ निर्माण।

(५) गर्दभ राजा का उच्छेदन।

(६) प्रतिष्ठानपुर में जा कर वहाँ सातवाहन की विनति से पर्युषणा पर्वतिथि जो पंचमी थी उसके बदले चतुर्थी करना।

(७) अविनीतशिष्य परिहार और सुवर्णभूमि-गमन।

(१) तुरमिणी (या तुरुमिणी) नगरी के राजा जितशत्रु को प्रधान से हटाकर कालक के भागिनेय दत्त ने राज्य लिया और बहुत यज्ञ किये। दर्प से दत्त ने कालकाचार्य को इन यज्ञों का फल पूछा। तब कालक ने कहा कि सात दिन में तू पूरी तरह मरेगा तब कालकाचार्य को कैद किया गया मगर ठीक वैसे ही पूरे दत्त दत्त मारा गया जैसा कि कालक का कथन था। दत्त-कथन, उत्तराध्ययन के टीका में यह कथा दी गई है।

(२) इस घटना में चमत्कार का तत्त्व ज्यादा होने से इसका ऐतिहासिक अंश अवश्य संदिग्ध है। कथा ऐसी है कि एक समय इन्द्र ने पूर्वविदेहक्षेत्र में विहरमान तीर्थंकर सीमन्धरस्वामी से निगोद जीवों के विषय में सूक्ष्म विवेचन सुना। फिर इन्द्र ने पूछा तब उत्तर मिला कि इस समय भारत में ऐसा सूक्ष्म विवरण करनेवाले सिर्फ कालकाचार्य हैं। कुतूहल से इन्द्र ब्राह्मण के रूप में आर्य कालक के पास गया और पृच्छा करके निगोद व्याख्यान उनसे सुना। बाद में इन्द्र ने अपना शेष आयुष्य कितना रहा है ऐसी भी पृच्छा की तब आचार्य ने अपने ज्ञान से देखा कि जो सागरोपम आयुष्य अभी शेष रहा उसके लिए शेष था वो इन्द्र का ही हो सकता है। तब आचार्य ने कहा— आप तो इन्द्र हैं। प्रसन्न हो कर इन्द्र चला गया। कथा के चमत्कारिक तत्त्व को छोड़ दें तो इस में से दो तत्त्व फलित होते हैं यह याद रखना चाहिये—एक है कालकाचार्य का निगोद जीवों के बारे में सर्वोच्च ज्ञान और दूसरा है उनका ज्योतिषशास्त्र निमित्तज्ञान।

(३ और ४) प्रसङ्गों का वृत्तान्त हम पञ्चकल्पभाष्य और चूर्णि के आधार से देख चुके हैं। इन दोनों घटनाओं में आर्य कालक के निमित्तज्ञान का स्पष्ट निर्देश है और इनके अनुयोग निर्माण का उल्लेख भी है। इनके लोकानुयोग में भी निमित्तशास्त्र था।

घटना (२) में आर्य कालक के निमित्तज्ञान का महत्त्व सूचित है ही। अत (३) और (४) घटनाओं को भी (२) के साथ ही जोड़ना होगा। यशफलकथनवाली घटना (१) में भी निमित्तज्ञान का महत्त्व बताया गया है। अत घटना (१) से (४) एक ही कालक के जीवन की होनी चाहिये।

निगोदव्याख्याता आर्य कालक के विषय में मुनिश्री कल्याणविजयजी लिखते हैं —"इनको निर्वाण से ३३५ वें वर्ष के अन्त में युगप्रधानपद मिला और ४१ वर्ष तक ये इस पद पर रहे, जैसा कि स्थविरावली की गाथा में कहा है।[४६] परन्तु विचारश्रेणि के परिशिष्ट में एक गाथा है जो इनका वी०नि० ३२० में होना प्रतिपादित करती है। पाठकों के विलोकनार्थ वह गाथा नीचे उद्धृत की जाती है—

सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिसया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ, सक्को पडिबोहिओ जेण ॥ १ ॥

मालूम होता है कि इस गाथा का आशय कालकसूरि के दीक्षा समय को निरूपण करने का होगा।" आगे मुनिजी लिखते हैं—"रत्नसञ्चय में ४ सगृहीत गाथाएं हैं, जिन में वीर निर्वाण से ३३५, ४५४, ७२०, और ९९३ में कालकाचार्यनामक आचार्यों के होने का निर्देश है। इन में पहले और दूसरे समय में होनेवाले कालकाचार्य क्रमश निगोद व्याख्याता और गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य हैं।[४७] इसमें तो कोई सन्देह नहीं है पर ७२० वर्षवाले कालकाचार्य के अस्तित्व के बारे में अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला। दूसरे इस गाथोक्त कालकाचार्य को शक्र संस्तुत लिखा है जो ठीक नहीं **क्योंकि शक्रसंस्तुत और निगोद-व्याख्याता एक ही थे जो पन्नवणाकर्ता और श्यामाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे और उनका समय वीरात् ३३५ से ३७६ तक निश्चित है।** इससे इस गाथोक्त समय के कालकाचार्य के विषय में सम्पूर्ण सन्देह है।"[४८]

मुनिजी उत्तराध्ययन निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा (न १२०) को उद्धृत करते हैं—

"उज्जेणि कालखमणा, सागरखमणा सुवण्णभूमीए।
इंदो आउयसेस पुच्छइ सादिव्वकरणं च॥"
उत्तराध्ययन सूत्र, विभाग १, (दे ला पु० न ३३, बम्बई १९१६), पृ० १२५–१२७

इस निर्युक्ति-गाथा से स्पष्ट है कि निर्युक्तिकार के मत से सुवर्णभूमि जानेवाले, सागर के दादागुरु आर्यकालक और निगोद व्याख्याता शक्र-संस्तुत आर्यकालक एक ही व्यक्ति हैं। किन्तु मुनिजी को यह मंजूर नहीं है, वे इस निर्युक्तिगाथा पर लिखते हैं—"इस गाथा में सागर के

४५ मुनि कल्याणविजय, "**वीर निर्वाण संवत और जैन कालगणना** (जालोर, वि० सं० १९८१), पृ० ६४, पादनोंध ४६

४६ गाथा के लिए देखो, वही, पृ० ६१ यहाँ आर्यसुहस्ति के बाद गुणसुन्दर वर्ष ४४ और उनके बाद निगोदव्याख्याता कालकाचार्य वर्ष ४१, उनके बाद खंदिल (सण्डिल या सांडिल्य) ३८ वर्ष तक युगप्रधान रहे ऐसा कहा गया है। सण्डिल के बाद रेवतीमित्र युगप्रधान रहे।

४७ रत्नसंचयप्रकरण की गाथायें आगे दी गई हैं।

४८ **वीर निर्वाणसंवत और जैन कालगणना** पृ० ६४–६५।

दत्तगुरु कालकाचार्य के साथ इन्द्र का प्रश्न आदि जोड़ा दिया है। गर्दभिल्लोच्छेदक, चतुर्थी पर्युषणाकारक और अविनीत शिष्य परिहारक एक ही कालकाचार्य थे जो ४५३ में विद्यमान थे और श्यामार्य की अपेक्षा दूसरे थे। प्रस्तुत स्थविरावली की गाथा में प्रथम कालकाचार्य को निगोदव्याख्याता लिखा है जो कि इस विषय का एक स्पष्ट मतभेद है।

वास्तव में मुनिजी के लिए उत्तराध्ययन निर्युक्ति के इस विधान को अंतिम प्रमाण मानना उचित नहीं है क्यों कि निर्युक्ति का प्रस्तुत मन्तव्य भी और दूसरी प्रचलित पट्टावलियों से प्राचीन और अधिक विश्वसनीय है। फिर भी यहाँ एक बात को देखना जरूरी होगा कि मुनिजी के कथनानुसार भी गर्दभिल्लोच्छेदक, अविनीतशिष्य परिहारक (सुवर्णभूमि को जानेवाले) और चतुर्थी पर्युषणाकारक कालकाचार्य एक ही व्यक्ति थे।

(५) अब नं २ आदि घटनायें देखें। उपर्युक्त दो मान्य में जा कर गर्दभराज का उच्छेद करने की कथा इतिहासविदों को सुप्रतीत है। यहाँ भी निमित्त और विद्याबल का उपयोग होता है। हम देख चुके हैं कि धूर्तसम्मत और चूर्णि में इस कथा का और नं ७ की घटना का उल्लेख है मगर दोनों में से एक भी ग्रन्थकार इन दोनों घटनावाले कालक के भिन्न भिन्न होने का कोई सूचन नहीं देते। और अब उत्तराध्ययन निर्युक्ति नं ७ और नं २ वाले कालकाचार्य को एक ही व्यक्ति मानती है तब नं ५, नं. ७ और नं २ वाले कालक एक ही हैं।

(६) नं ६ वाली कथा में कहा गया है कि बलमित्र-भानुमित्र नामक अपने भागिनेय राजाओं से नाराज हो कर आर्य कालक प्रतिष्ठानपुर जाने को निकले। बलमित्र ने पुरोहित से जैन मुनियों का अनपेक्ष आहार दिलवाना शुरू किया जिससे साधुओं को भूखे रहना पड़ा। अतः कालकाचार्य ने प्रतिष्ठानपुर जाने के लिए विहार किया। वहाँ के राजा सातवाहन (शालवाहन—जो जैन धर्म की ओर, विशेषतः आर्यकालक की ओर, अत्यन्त रुचि रखता होगा) को आचार्य ने कहा कि भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी को पर्युषणा पर्व करेंगे। राजा ने कहा कि उस नगर में उस तिथि आम जनता में इन्द्र महोत्सव का पर्व मनाया जाता है इस लिए आचार्य की आज्ञानुसार पर्युषणापर्व उस दिन मनाना मुश्किल होगा। राजा ने दूसरे दिन पर्व मनाने की अनुज्ञा माँगी। आर्य कालक ने कहा कि तिथि का अतिक्रम नहीं हो सकता अतः पूर्व दिन को—चतुर्थी को—पर्युषणा पर्व मनाओ और उस दिन विधिपूर्वक तपस्या को आदर भी दो। इस तरह प्रसङ्गवश कालकसूरि ने चतुर्थी मनाई। और उस दिन से यह तिथि क्षमापूजा-पर्व रूप से महाराष्ट्र में प्रचलित हुई।

जैसे पहले कहा गया है कि ऐसे प्रसङ्ग आचार्य ही ऐसे निर्णय ले सकते हैं जो युगप्रधान आचार्य हों, जो युगवर हों। और यहाँ भी तिथिनिर्णय का प्रसङ्ग होने से यह ज्योतिषशास्त्र—मुहूर्त और निमित्त—से सम्बन्धित आर्य कालक के जीवन की घटना ही हो सकती है। फिर यह सुप्रतीत है कि नं ५ की गर्दभोच्छेदक वाली कथा में बलमित्र-भानुमित्र का निर्देश होने से नं. ५ और नं ६ के आर्य कालक एक ही व्यक्ति हैं और इस तरह जैसे कि हम पीछे देख चुके हैं नं ५ नं ६ नं. ७ और नं. २ वाली कथाओं के नायक एक ही हैं। नं. ३ और ४ वाली कथाओं के आर्य कालक अनुयोगकार हैं उनका और सुवर्ण भूमि जानेवाले (नं.) कालक का एक होना तो पहिले ही देख चुके हैं। नं. १ वाली कथा विस्तार से आगे देखेंगे। अनुयोगकार कालक निमित्तज्ञानी हैं और नं. १ में भाग्य बतलाने वाला कालक भी समर्थ निमित्तज्ञानी है। अतः वास्तव में कथा नं १ से ७ के नायक एक ही आर्य कालक होंगे। यही युक्ति संगत लगता है।

---

७९. वही, १ १ -८१ पादटीप।

इसी ढंग से अन्वेषण करने का और इस प्रश्न का निराकरण करने का प्रयत्न मुनि कल्याणविजयजी ने भी किया। मुनि जी के खयाल से दो कालकाचार्य हुए। मगर जिस तर्क से ये दूसरे कालक के साथ भिन्न घटनाओं को जोड़ते हैं इसी तर्कपद्धति से वास्तव में एक ही कालक के साथ सब घटनाओं का सम्बन्ध सिद्ध होता है, उस कालक का समय कुछ भी हो।

एक से ज्यादा कालकाचार्य की समस्या की उपस्थिति बाद के ग्रन्थकारों के कारण और कालगणनाओं में होनेवाली गड़बड़ के कारण, खड़ी हुई है। मुनिजी के तर्क को और निर्णय को सविस्तर देखने के पहले हम यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि हमारा उक्त अनुमान मुनिजी की तर्कपद्धति से ही किया गया है। आप लिखते हैं—"गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना में यह लिखा है कि ये कालक ज्योतिष और निमित्तशास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। उधर पाँचवीं घटना कालक के निमित्तशास्त्राध्ययन का ही प्रतिपादन करती है। इससे यह बात निर्विवाद है कि इन दोनों घटनाओं का सम्बन्ध एक ही कालकाचार्य से है।"[५०] जब इसी तर्क से सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की घटित होती हैं, तब कुछ घटनायें पहिले कालकपरक और अन्य सब दूसरे कालकपरक मानना ऐसा मुनि जी का अनुमान युक्तिसङ्गत नहीं है।

सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की हैं ऐसे निर्णय को दूसरी दृष्टि से भी पुष्टि मिलती है। हमने पहले बताया है उस तरह पहिले विभाग के सदर्भों (निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, कहावली इत्यादि) को देखें तो कोई भी ग्रन्थकार दो कालक की हस्ती दिखलाते ही नहीं। इन सब सदर्भों की छानबीन करनी चाहिये। हरेक ग्रन्थकार भिन्न भिन्न विषय की चर्चा में, कालक के जीवन की एक या दो या तीन घटनायें देते हैं और हरेक ग्रन्थकार के मत से ये घटनायें एक ही कालक की हैं क्योंकि उन्होंने विरोधात्मक सूचन दिया ही नहीं और न इनको ऐसी शङ्का उत्पन्न हो सकती थी। अब देखें कि प्राचीन ग्रन्थ में कौनसी घटना है—

१ **दशाचूर्णि**—इसमें घटना न ६—चतुर्थीकरण—मिलती है।

२ **बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि**—घटना न० ७ और घटना न० ५—गर्दभिल्लोच्छेद। इस के अलावा यवराजा, गर्दभ-युवराज और अडोलिया वाला कथानक (गर्दभ का गर्दभराजोच्छेद से सम्बन्ध है मगर उस वृत्तान्त में कालक का प्रसङ्ग नहीं है)। यह यवराज और गर्दभ वाला वृत्तान्त हमने यहाँ परिशिष्ट में दिया है, गर्दभिल्लों के विषय में आगे के सशोधन में पण्डितों की सुविधा के खयाल से।

३ **पञ्चकल्पभाष्य और चूर्णि**—घटना न० ३—निमित्तपठन, और घटना न० ४—अनुयोग-ग्रन्थादि निर्माण

४ **उत्तराध्ययन निर्युक्ति और चूर्णि**—घटना न० ७—अविनीत शिष्य परिहार, सुवर्णभूमि-गमन, और घटना न० २—निगोद व्याख्यान

५ **निशीथचूर्णि**—घटना न० ५—गर्दभिल्लोच्छेद और घटना न० ६—चतुर्थीकरण

६ **व्यवहार-चूर्णि**—आर्य कालक उज्जैन में शकों को लाये ऐसा उल्लेख है अत वह घटना न० ५ से सम्बन्ध रखती है।

७ **आवश्यकचूर्णि**—घटना न० १—दत्त के सामने यज्ञफलकथन

---

५० देखिये, मुनि कल्याणविजय, आर्य कालक, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० १९९०) पृ० ११५

राजगृह कालकाचार्य के साथ इन का मेल बांध होना कठिन है। गर्दभिल्लोच्छेदक, चतुर्थी पर्युषणाकारक और अविनीत शिष्य परिहारक एक ही कालकाचार्य थे जो ४५३ में विद्यमान थे और श्यामाचार्य की अपेक्षा दूसरे थे। प्रस्तुत स्थविरावली की गाथा में प्रथम कालकाचार्य को निगोदव्याख्याता लिखा है जो कि इस विषय का एक स्पष्ट मतभेद है।

वास्तव में मुनिजी के लिए उत्तराध्ययन निर्युक्ति के इस विधान को लेकर ग्रन्थ सम्बन्ध करने का उचित नहीं है क्योंकि निर्युक्ति का प्रमाण मेरुतुंग की और दूसरी सम्प्रदायी पट्टावलियों से प्राचीन और अधिक विश्वसनीय है। फिर भी यहाँ एक बात का देखना जरूरी होगा कि मुनिजी के कथनानुसार से भी गर्दभिल्लोच्छेदक, अविनीतशिष्य-परिहारक (सुवर्णभूमि को जानेवाले) और चतुर्थी पर्युषणा-कारक कालकाचार्य एक ही व्यक्ति थे।

(५) अब न० ५ वाली घटना देखें। प्रतिष्ठानपुर को भरुच में जा कर धर्मप्रचार का उल्लेख करने की कथा इतिहासविदों को सुपरिचित है। यहाँ भी निमित्त और क्रियाकलाप का उल्लेख होता है। हम देख चुके हैं कि बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि में इस घटना का और न० ७ की घटना का उल्लेख है मगर दोनों में से एक भी ग्रन्थकार इन दोनों घटनाओंके नायक के भिन्न भिन्न होने का कोई सूचन नहीं देते। और जब उत्तराध्ययन निर्युक्ति न० ७ और न० ९ वाले कालकाचार्य को एक ही व्यक्ति मानती है तब न० ५, न० ७ और न० ९ वाले कालक एक ही हैं।

(६) न० ६ वाली घटना में कहा गया है कि बलमित्र-भानुमित्र नामक अपने भागिनेय राजाओं से नाराज हो कर आर्य कालक प्रतिष्ठानपुर जाने को निकले। बलमित्र के पुरोहित ने जैन मुनियों को अनेषणीय आहार दिलवाना शुरू किया जिससे साधुओं को भूखे रहना पड़ा। अतः कालकाचार्य ने प्रतिष्ठानपुर जाने के लिए विहार किया। वहाँ के राजा शातवाहन (शातवाहन—का जैन धर्म की ओर, विशेषतः कालकाचार्य की ओर, क्या सम्बन्ध रहा होगा) को आचार्य ने कहा कि भाद्रपद शुक्ल पंचमी को पर्युषणा पर्व करेंगे। राजा ने कहा कि उस नगर में यह तिथि आम प्रजा में इन्द्र महोत्सव का पर्व मनाई जाती है इस लिए आचार्य की आज्ञानुसार पर्युषणापर्व उस दिन मनाना मुश्किल होगा। राजा ने दूसरे दिन पर्व मनाने की अनुज्ञा माँगी। आर्य कालक ने कहा कि तिथि का अतिक्रमण नहीं हो सकता अतः पूर्व दिन को—चतुर्थी को—पर्युषणा पर्व मनाओ और उस दिन निर्विघ्नतया समस्या को आदर भी दो। इस तरह प्रतिष्ठानपुर कालकाचार्य ने चतुर्थी मनाई। और उस दिन से यह तिथि परम्परापूर्व रूप से मध्यप्रदेश में प्रचलित हुई।

जैसे पहले कहा गया है सिर्फ समर्थ आचार्य ही ऐसे निर्णय ले सकते हैं जो युगप्रधान आचार्य हों, या अवतार हों। और यहाँ भी निमित्तविद्या का प्रसंग होने से यह ज्योतिषशास्त्र—मुहूर्त और निमित्त—को जाननेवाले आर्य कालक के जीवन की घटना ही हो सकती है। फिर यह सुस्पष्ट है कि न० ५ की धर्मप्रचारवाली घटना में बलमित्र-भानुमित्र का निर्देश होने से न० ५ और न० ६ के आर्य कालक एक ही व्यक्ति हैं और इस तरह जैसे कि हम पीछे देख चुके हैं न० ५, न० ६, न० ७ और न० ९ वाली घटनाओं के नायक एक ही हैं। न० ३ और ४ वाली घटनाओं के आर्य कालक अनुयोगधर हैं अतः और सुवर्ण भूमि जानेवाले (न०) कालक का एक होना तो पहिले ही देख चुके हैं। न० १ वाली घटना विचार के बाद देखेंगे। अनुयोगधर कालक निमित्तज्ञानी हैं और न० ९ में स्पष्ट बतलाये गये कालक भी समर्थ निमित्तज्ञानी हैं। अतः सम्भव है घटना न० १ से ९ के नायक एक ही आर्य कालक होंगे। यही युक्ति बहुत सबल है।

[illegible] वही, १ १४–१६ पादटीप।

इसी ढग से अन्वेषण करने का और इस प्रश्न का निराकरण करने का प्रयत्न मुनि कल्याणविजयजी ने भी किया। मुनि जी के खयाल से दो कालकाचार्य हुए। मगर जिस तर्क से वे दूसरे कालक के साथ भिन्न घटनाओं को जोड़ते हैं इसी तर्कपद्धति ने वास्तव मे एक ही कालक के साथ सब घटनाओं का सम्बन्ध सिद्ध होता है, उस कालक का समय कुछ भी हो।

एक से ज्यादा कालकाचार्य की समस्या ही उपस्थिति बाद के ग्रन्थकारों के कारण और कालगणनाओं मे होनेवाली गड़बड़ के कारण, खड़ी हुई है। मुनिजी के तर्क को और निर्णय को सविस्तर देखने के पहले हम यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि हमारा उक्त अनुमान मुनिजी की तर्कपद्धति से ही किया गया है। आप लिखते हैं—"गर्दाभिल्लोच्छेदवाली घटना मे यह लिखा है कि ये कालक ज्योतिष और निमित्तशास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। उधर पाँचवीं घटना कालक के निमित्तशास्त्राध्ययन का ही प्रतिपादन करती है। इससे यह बात निर्विवाद है कि इन दोनों घटनाओं का सम्बन्ध एक ही कालकाचार्य से है।"[५०] जब इसी तर्क से सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की घटित होती हैं, तब कुछ घटनायें पहिले कालकपरक और अन्य सब दूसरे कालकपरक मानना ऐसा मुनि जी का अनुमान युक्तिसङ्गत नहीं है।

सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की हैं ऐसे निर्णय को दूसरी दृष्टि से भी पुष्टि मिलती है। हमने पहले बताया है उस तरह पहिले विभाग के सदर्भों (नियुक्ति, चूर्णि, भाष्य, कहावली इत्यादि) को देखें तो कोई भी ग्रन्थकार दो कालक की हस्ती दिखलाता ही नहीं। इन सब सदर्भों की छानबीन करनी चाहिये। हरेक ग्रन्थकार भिन्न भिन्न विषय की चर्चा में, कालक के जीवन की एक या दो या तीन घटनायें देते हैं और हरेक ग्रन्थकार के मत से ये घटनायें एक ही कालक की हैं क्योंकि उन्होंने विरोधात्मक सूचन दिया ही नहीं और न इनको ऐसी शङ्का उत्पन्न हो सकती थी। अब देखें कि प्राचीन ग्रन्थ में कौनसी घटना है—

१ दशाचूर्णि—इसमें घटना न ६—चतुर्थीकरण—मिलती है।

२ बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि—घटना न० ७ और घटना न० ५—गर्दभिल्लोच्छेद। इस के अलावा यवराज, गर्दभ-युवराज और अडोलिया वाला कथानक (गर्दभ का गर्दभराजोच्छेद से सम्बन्ध है मगर उस वृत्तान्त में कालक का प्रसङ्ग नहीं है)। यह यवराज और गर्दभ वाला वृत्तान्त हमने यहाँ परिशिष्ट मे दिया है, गर्दभिल्लों के विषय में आगे के सशोधन मे पण्डितों की सुविधा के खयाल से।

३ पञ्चकल्पभाष्य और चूर्णि—घटना न० ३—निमित्तपठन, और घटना न० ४—अनुयोग-ग्रन्थादि निर्माण

४ उत्तराध्ययन निर्युक्ति और चूर्णि—घटना न० ७—अविनीत शिष्य परिहार, सुवर्णभूमि-गमन, और घटना न० २—निगोद व्याख्यान

५ निशीथचूर्णि—घटना न० ५—गर्दभिल्लोच्छेद और घटना न० ६—चतुर्थीकरण

६ व्यवहार-चूर्णि—आर्य कालक उज्जैन मे शकों को लाये ऐसा उल्लेख है अत यह घटना न० ५ से सम्बन्ध रखती है।

७ आवश्यकचूर्णि—घटना न० १—दत्त के सामने यज्ञफलकथन

५० देखिये, मुनि कल्याणविजय, आर्य कालक, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० १९९०) पृ० ११५

राजा बलमित्र भानुमित्र आदि भी शकों के साथ हो गये (प्रस्तुत चित्र में शकों का उल्लेख—"शके के गद्दभिल्लसमाणिय [illegible] अन्ने य से मिलिउ [illegible]।"—मुनिजी के अनुमान का आधार है)। वास्तव में [illegible] में शक के राजाओं के नाम नहीं हैं। फिर भी मुनिजी का अनुमान ठीक हो सकता है। कालक सूरि की सूचनानुसार गर्दभिल्ल को पदच्युत करके [illegible] किया गया और उज्जयिनी के राज्यासन पर उस शाह को बिठाया गया जिस के यहाँ कालक ठहरे थे। मुनिजी लिखते हैं—"उक्त घटना बलमित्र के राज्यकाल के ४८ वर्ष के अन्त में घटी। यह समय वीर निर्वाण का ४५३ वाँ वर्ष था। ४ वर्ष तक शकों का अधिकार" रहने के बाद बलमित्र भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और ८ वर्ष तक वहाँ राज्य किया। भरोच में ५२ वर्ष और उज्जैन में ८ वर्ष, सब मिला कर ६० वर्ष तक बलमित्र भानुमित्र ने राज्य किया। यही जैनों का बलमित्र पिछले समय में विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बलमित्र भानुमित्र के बाद उज्जयिनी के तख्त पर नभसेन बैठा। नभसेन के चौथे वर्ष में शक लोगों ने फिर मालवा पर हमला किया जिसका मालव प्रजा ने बहादुरी के साथ सामना किया और विजय पाई। इस घटना की याद में मालव प्रजा ने 'मालव-संवत्' नामक एक संवत्सर भी चलाया जो बाद में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"[६९]

---

६९ वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना पृ. ५[illegible]–५१। मुनिजी पादटीप में लिखते हैं—मेरुतुंग की विचारश्रेणि में दी हुई गाथा में 'सगस्स चउ' अर्थात् शकों का ४ वर्ष तक राज्य रहा इस कथन से स्पष्ट होता है कि उज्जयिनी शकों के हाथ में चार वर्ष तक ही रही थी। [illegible] यह गाथा यह है—

बलमित्त भाणुमित्ता सट्ठि अवंतीए रायपुरुषा।
[illegible], तत्थ गओ कालगायरिओ॥"

इस गाथा में और निशीथचूर्णि के—'[illegible] कालगायरिओ [illegible]। [illegible] बलमित्तो एत्थ, [illegible] भाणुमित्तो [illegible] × —इस कथन में बलमित्र की उज्जयिनी का राजा लिखा है। इस से यह सिद्धि होता है कि उज्जयिनी की शक राजों के बाद उन्होंने (अर्थात् कालक ने) वहाँ के तख्त पर उस भानजे को बिठाया था पर बाद में उसकी [illegible] हो गयी थी [illegible] बलमित्र और [illegible] के [illegible] पुरुषों ने उज्जयिनी के [illegible] राज्य का [illegible] लिया था। इसी के समर्थन में मुनिजी [illegible] का अवतरण देते हैं—

[illegible] उज्जयिनी से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। इस से मुनिजी का अनुमान है कि यह [illegible] कुछ समय के बाद राज्य किया गया होगा।

७० वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना पृ. ११–६१। मुनिजी यहीं [illegible] पृ. [illegible] पादटीप ७१ में लिखते हैं—विचारश्रेणि आदि में जो उल्लेखित घटनाएँ हैं उनमें राजा (नभसेन का) [illegible] [illegible] लिखा है वो [illegible] है। [illegible] में बलमित्र भानुमित्र के बाद उज्जयिनी का राज्य नभसेन लिखा है। 'नहवाहन' [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] भी मिलते हैं [illegible] का राजा था। [illegible] पर [illegible] [illegible] भी लिखा है। [illegible] के [illegible] के बाद के [illegible] भरोच पर [illegible] की थी।

विचारश्रेणि [illegible] [illegible] निम्नोक्त [illegible] है—

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]॥

बलमित्र-भानुमित्र कहीं भरोच के और कहीं उज्जयिनी के राजे कहे गए हैं। मुनिश्री कल्याण विजयजी के मत से उसका कारण यही है कि वे पहले भरोच के राजा थे पर शक को हरा कर वे उज्जयिनी या अवन्ति के भी राजा बने थे। इस विषय में जो हकीकत कथानक आदि से उपलब्ध है वह हमें देखना चाहिये—निशीथचूर्णि में गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना वर्णित है मगर बाद की राज्यव्यवस्था का उल्लेख नहीं है। चतुर्थीकरणवाली घटना भी इसी चूर्णि में है, वहाँ लिखा है—"कालगायरिओ विहरतो उज्जेणिं गतो। तत्थ य नगरीए बलमित्तो राया।"[71] दशाचूर्णि में भी चतुर्थीकरण वाली घटना में "उज्जेणी नगरीए बलमित्त-भाणुमित्ता रायाणो" ऐसा कहा है।[72] कहावली में गर्दभिल्लोच्छेद के बाद की व्यवस्था का निर्देश नहीं है। किन्तु चतुर्थीकरणवाले कथानक में कहावलीकार लिखते हैं—"साहिप्पमुहराणए चाहिसित्तो उज्जेणीए कालगसूरिभाणेज्जो बलमित्तो नाम राया।"[73] इस तरह बलमित्र के उज्जयिनी राजा होने के बारे में प्राचीन साक्षी अवश्य है किन्तु कई कथानकों में चतुर्थीकरणवाली घटना के वर्णन में बलमित्र को "भृगुकच्छ" (भरोंच) में राज्य करता बतलाया है।[74] कालक परक सभी कथानकों

सट्ठी पालगरन्नो पणवन्नसय तु होइ नन्दाण।
अट्ठसय मुरियाण तीसच्चिय पूसमित्तस्स॥
बलमित्त-भाणुमित्ताण सट्ठि वरिसाणि चत्त नहवहणे।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस वासे सगस्स चऊ॥
(जैन साहित्य संशोधक, खण्ड २ अङ्क ४ परिशिष्ट पृ० २)

वास्तव में यहाँ आखरी गाथा विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि बलमित्र भानुमित्र के ६० वर्ष, नहवाहन (नभ सेन) के ४० वर्ष, बाद में गर्दभिल्ल के १३ वर्ष, और शक के राज्य के ४ वर्ष कहे हैं गये हैं और यह निर्विवाद है कि गर्दभिल्लोच्छेदक चतुर्थीकारक आर्य कालक बलमित्र के समकालीन थे।

७१ नवाब प्रकाशित, कालकाचार्यकथा, पृ० २, निशीथचूर्णि, दशम उद्देश

७२ नवाब प्रकाशित, कालकाचार्यकथा, सदर्भ ६, पृ० ५

७३ वही, प्राकृतकथाविभाग, कथा न० ३, पृ० ३७

७४ वही, पृ० १४, देवचन्द्रसूरिविरचितकथा (रचना संवत् ११४६=ई० स० १०८९) में, वही, ... २१, मलधारी श्री हेमचन्द्रविरचित कथा (रचना वि० स० १२ शताब्दि) में, वही, पृ० ४५, अज्ञातसूरिविरचित कथा में, वही, पृ० ७०, अज्ञातसूरिविरचित अन्य कथा में, वही, पृ० ८७ श्री भावदेवसूरिरचित कथा (रचना संवत् १३१२=ई० स० १२५५) में,—इत्यादि कथानकों में बलमित्र को भरुकच्छ का राजा बतलाया है।

किन्तु, जयानन्दसूरि-विरचित प्राकृत कथा (रचना अनुमान से वि० स० १४१० आसपास) में बलमित्र भानुमित्र को अवन्ति के राजा और युवराज बताये हैं। इसी कथानक में गर्दभिल्लोच्छेद के बाद शक को राजा बनाया इतना ही उल्लेख है। नवाब प्रकाशित, कालकाचार्यकथा, पृ० १०७

वही, पृ० ५५, श्री धर्मघोषसूरि (वि० स० १३०० १३५७ आसपास) लिखते हैं कि जिस शक राजा के पास आर्य कालक रहे थे उसको कालकाचार्य ने अवन्ति का राजा बनाया और दूसरे शक उस राजा के सेवक ... किन्तु धर्मघोषसूरि लिखते हैं कि दूसरी परम्परा के अनुसार ये सब सेवक कालक के भागिनेय के सेवक बने—

जप्पासे सूरिठिओ सऽवत्तिपहु आसि सेवगा सेसा।
अन्ने भणंति गुरुणो भाणिज्जा सेविया तेहिं॥ ४३॥
न भणिओ निवपुरओ, स गओ ते हि सह सूरिणो अ सगो।
सगकूलं आगयात्ति य, सग्गत्ति तो आसि तव्वसो॥ ४४॥

राज्य बलमित्र भानुमित्र आदि भी शाहों के साथ हो गये (मेरुतुंग विचार में शकराजा का उल्लेख—"इतो य गद्दभिल्लरज्जस्स उच्छेयगो कालगायरियो होही ति मिमिट्ठे उमेहि ति पोइया उक्केहि।"—मुनिजी के अनुमान का आधार है)। सम्भव है शकराजा में शाह के राजाओं के नाम नहीं है। फिर भी मुनिजी का अनुमान ठीक हो सकता है। कालक सूरि की सूचनानुसार बलमित्र को परास्त करके कौशिक छोड़ दिया गया और उज्जयिनी के राज्यासन पर उस शाह को बिठाया गया जिस के यहाँ कालक ठहरे थे। मुनिजी लिखते हैं—"उक्त घटना बलमित्र के राज्यकाल के ४८ वर्ष के अन्त में घटी। यह समय वीर निर्वाण का ४११ वाँ वर्ष था। ४ वर्ष तक शकों का अधिकार रहने के बाद बलमित्र भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और ८ वर्ष तक वहाँ राज्य किया भरोच में १२ वर्ष और उज्जैन में ८ वर्ष, सब मिल कर ६० वर्ष तक बलमित्र भानुमित्र ने राज्य किया। यही दोनों का समय विक्रम समय म विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नभसेन भानुमित्र के बाद उज्जयिनी के तख्त पर नभःसेन बैठा। नभसेन के चौथे वर्ष में शक लोगों ने फिर मालवा पर हमला किया जिसका मालव प्रजा ने बहादुरी के साथ सामना किया और विजय पाई। इस घटनाकी यादगार में मालव प्रजा ने 'मालव-संवत्' नामक एक संवत्सर भी चलाया जो बाद में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"[११]

---

११. वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना, पृ. ५१। मुनिजी पादनोट में लिखते हैं—मेरुतुंग की विचारश्रेणि में दी हुई गाथा में 'सगाण चउ' अर्थात् उज्जयिनी में शक का ४ वर्ष तक राज्य रहा। इस कथन से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी शकों के राज्य में १८ वर्ष तक ही रही थी। कालकाचार्य कथा की—

बलमित्त भाणुमित्ता आसि अवन्तीए रायजुवरायाण।
नियभाणिज्जत्ति कउ, तत्थ कओ कालगायरियो ॥

इस गाथा में वीर निर्वाणस्मृति के—"कालगायरियो विहरतो भरुयच्छ गओ। तत्थ बलमित्र भानुमित्रो राया, तस्स भगिणी भाणुसिरी नाम भाणुमित्तो जुवराया ×   "—इस कथन में बलमित्र की उज्जयिनी का राज्य लिखा है। इस से यह निश्चित होता है कि   उज्जयिनी को हस्तगत करने के बाद उन्होंने (अर्थात् बलमित्र ने) वहाँ के तख्त पर इस भानजे को बिठाया था पर बाद में उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी इस कारण और अन्य कारणों से अन्त भरुकच्छ पुरोहितों के कहने से उसका राज्य का पद छोड़ दिया था।   इसी के समर्थन में मुनिजी व्यवहारचूर्णि का अवतरण देते हैं —

तत्थ बलमित्र राया भाणुमित्तो से भणिज्जो बलमित्र भाणुमित्तो राया सहोदरे बहिणीए तस्स भाणुमित्तस्स ... तत्थ ... उज्जेणीए ... न देहि। बलमित्रेण ... पच्छा ... विभावित्ता ... । इस से मुनिजी का अनुमान है कि यह राज्यच्युत हुए समय के बाद हुआ होगा।

वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना पृ. ५१, ५२। मुनिजी यही लिखते हैं पृ. ५० पादनोट ४२ में लिखते हैं — विचारश्रेणि आदि में जो उल्लेख आचार्य ने अपने ग्रन्थ (शक बैन का) काल व्यतीत लिखा है वो ठीक है। तित्थोगाली में बलमित्र भानुमित्र के बाद उज्जयिनी का राज्य नभःसेन लिखा है। 'नभःसेन' जिसके बाद नरवाहन और गर्दभिल्ल भी लिखे हैं जो कि का राज्य था। जिन्होंने शक का नाम नहवाण भी लिखा है। अंतिम के समय में इस के अलावा भरोच पर नहपान की भी।

विचारश्रेणि अन्तर्गत गाथामें निम्नोक्तिखित है—

ज रयणिं कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
त रयणिमवन्तीए अहिसित्तो पालओ राया ॥

बलमित्र भानुमित्र यहीं भरोच के और यही उज्जयिनी के राजे कहे गये हैं। मुनिश्री कल्याण विजयजी के मत से उनका [illegible] यह है कि [illegible] भरोच [illegible] उज्जयिनी का प्रवर्तित [illegible] भी [illegible] थे। इस विषय में [illegible] कथानक आदि से [illegible] आचार्य—निशीथचूर्णि [illegible] उज्जयिनी [illegible] वर्णित है [illegible] नहीं है। [illegible] घटना भी इसी चूर्णि में है, [illegible] लिखा है—"[illegible] उज्जयिनी [illegible] नगरीए [illegible] राया।"[71] [illegible] चूर्णि में भी [illegible] घटना में "[illegible] नगरीए [illegible] भानुमित्ता [illegible]" [illegible] है।[72] [illegible] में [illegible], [illegible] का निर्देश नहीं है। किन्तु [illegible] कथानक में [illegible] लिखा है—"अह [illegible] उज्जयिनीए [illegible] राया।"[73] इस [illegible] के [illegible] होने के बारे में [illegible] किन्तु यह कथानकों में [illegible] घटना के प्रसंग में बलमित्र को "[illegible]" ([illegible]) से [illegible] जाता है।[74] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] ॥
[illegible] भानुमित्र [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] ॥
([illegible] पत्र, [illegible] परिशिष्ट पृ० [illegible])

वास्तव में यहाँ [illegible] गाथा विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि [illegible] भानुमित्र के ६० वर्ष, [illegible] ([illegible]) के ४० वर्ष, [illegible] के ११ वर्ष, और [illegible] में [illegible] के ४ वर्ष [illegible] है [illegible] है कि [illegible] बलमित्र के [illegible] थे।

७१ [illegible] प्रकाशित, कालकाचार्यकथा, पृ० २, [illegible]

७२ नवाब प्रकाशित, कालकाचार्यकथा, [illegible] ६, पृ० ५

७३ वही, [illegible], कथा नं० ३, पृ० ३७

७४ वही, पृ० १४, [illegible] (रचना संवत् ११४६ = ई० स० १०८९) में, वही, पृ० ३१, [illegible] श्री [illegible] कथा (रचना वि० सं० १२ [illegible]) में, वही, पृ० ४५, [illegible] कथा में, वही, पृ० ७०, [illegible] कथा में, वही, पृ० ८३ [illegible] कथा (रचना संवत् १३११ = ई० स० १२५४) में,—इत्यादि कथानकों में बलमित्र को [illegible] है।

किन्तु, [illegible] विरचित प्राकृत कथा (रचना अनुमान से वि० सं० १४१० [illegible]) [illegible] भानुमित्र को [illegible] राजा और युवराज बताते हैं। इसी कथानक में [illegible] रहता ही [illegible] है। नवाब प्रकाशित, कालकाचार्यकथा, पृ० १००

वही, पृ० ५८, श्री [illegible] (वि० सं० १२०० १२५७ [illegible]) लिखते हैं कि [illegible] पास [illegible] रहे थे [illegible] ने [illegible] बताया [illegible] थे। किन्तु [illegible] लिखते हैं कि दूसरी परम्परा के अनुसार [illegible] कहे—

[illegible] परिट्ठिओ [illegible] भणति [illegible]।
[illegible] भणति गुरुणो [illegible] तेहिं ॥ ४३ ॥
[illegible] भणिओ [illegible], [illegible] गुरुणो [illegible]।
[illegible] [illegible], [illegible] ॥ ४४ ॥

मानतुंग, देवेन्द्र, सिंह और नागार्जुन के बाद भूतदिन्न और उनके बाद लोहित [illegible] का उल्लेख है पर वाचक नंदिसूत्रकार देववाचक के शिष्य हैं या नहीं कहते नहीं कि [illegible] (पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृ २१–२७) देखने से मालूम होता है कि इस वाचक का वर्णन (पार्श्व [illegible] के शिष्य) [illegible] के १११ वर्ष के बाद हुआ है और देवा की गुर्वावली [illegible] के बाद हुआ। [illegible] की [illegible] (पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृ ४१–७०) में [illegible] वीरात् १७१ में स्वर्गवासी हुए और उनके शिष्य [illegible] को देखा दिया है। आगे [illegible] के बाद वीरात् ४९१ वर्ष में [illegible] [illegible] का उल्लेख है। इस पट्टावली का रचनाकाल वि. सं. ११७५ है। किन्तु यह तो उस पीछे की पट्टावली है। [illegible] भी [illegible] की टिप्पणी [illegible] है। उस [illegible] की प्रशस्ति का समय लिखित नहीं है। इस प्रशस्ति में निम्नलिखित विवरण है—

× [illegible] १ ८ [illegible] १ [illegible] ४१ [illegible] १२, [illegible] १११

× एवं (वीरनिर्वाणात् [illegible] ११२१॥

[illegible] १ [illegible] १ (ख)—[illegible] ११ [illegible] ४ (ग) [illegible] १८॥ एवं [illegible] ४११॥

[illegible] ४ [illegible] ११ [illegible] ४ (घ)—[illegible] ११ [illegible] १ ॥ एवं [illegible] ४० ॥

[illegible] (स्वामी) [illegible] भविष्यन्ति।

[illegible]

[illegible]॥१

वीरनिर्वाणात् ४८१ [illegible]

[illegible] २४ [illegible] ११ [illegible] ११ [illegible] ३११ [illegible]

[illegible] ४ [illegible] ४८१ (पट्टावली समुच्चय, १ पृ १)

इस प्रशस्ति [illegible] में यह बात नहीं है कि [illegible] ४८१ में (ख) [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

ग्रन्थकारों का (मध्यकालीन पट्टावलियों के अलावा) कहीं भी उल्लेख नहीं। मौर्यों के १०८ वर्ष की हकीकत भी मान्य नहीं हो सकती। डा० जयस्वालजी के कथनानुसार अगर मौर्यों के शेष वर्ष रासभों में बढ़ा कर किसी तरह वीरात् ४७० में विक्रम का हिसाब जोड़ा गया तब यह स्पष्ट है कि इन पट्टावलियों की नृप-कालगणना शङ्कारहित नहीं है, इनमें और भी गलती हो सकती है। इस गड़बड़ का कारण यह है कि प्रथम शकराज्य के बाद कितने वर्ष व्यतीत होने पर विक्रमादित्य हुआ यह स्पष्ट मालूम न होने से विक्रम और कालक को नज़दीक लाने की प्रवृत्ति हुई। एक से ज्यादा कालक नामक आचार्य हुए होंगे किन्तु घटनाओं के नायक तो प्रथम कालक ही हैं जो कि अन्य तर्कों से पहले ही हमने देख लिया है।

मुनिश्री कल्याणविजयजी के मत से बलमित्र ही विक्रमादित्य है। और उनके मत से गर्दभिल्लोच्छेदक द्वितीय कालक वीरात् ४५३ में हुए। मगर बलमित्र यदि विक्रमादित्य है तब वह गर्दभिल्ल का पुत्र नहीं हो सकता। और मेरुतुङ्ग या उपरोक्त अवचूरि के बयान तब व्यर्थ प्रतीत होते हैं।

वीरात् ४५३ में गर्दभिल्लोच्छेदक कालक होने के सब आधार मध्यकालीन उन्हीं परम्पराओं के हैं जिनमें कालगणना की ऐसी गड़बड़ी है। कालककथानक तो गर्दभिल्लोच्छेदक कालक के गुरु गुणसुन्दर या गुणाकर को ही बताते हैं। वह कालक श्यामार्य ही हैं जिन्होंने प्रज्ञापनासूत्र बनाया। उपलब्ध प्रज्ञापना अगर मूल प्रज्ञापना नहीं हो, तो भी उस में मूल का संस्करण और मूल के कई अंश ज़रूर होंगे। यही प्रज्ञापना सूत्र उसके लेखक का देशदेशान्तर के लोगों का ज्ञान, भिन्न भिन्न लिपियों का ज्ञान आदि साक्षी देता है जो गर्दभिल्लोच्छेदक और सुवर्णभूमि में जानेवाले कालक में हो सकता है। प्रज्ञापनासूत्र के विषय ही उनके कर्ता निगोद व्याख्याता होने का सूचन करते हैं।

विचारश्रेणि में स्थविरों के पट्टप्रतिष्ठाकाल बतानेवाली गाथायें दी हैं। वही मुनिश्री कल्याणविजयजी से उद्दिष्ट "स्थविरावली या युगप्रधानपट्टावली" है जिसकी हस्तप्रत मुनिश्री ने देखी है। वह हस्तप्रत या वह रचना विचारश्रेणि से कितनी प्राचीन है यह किसी को मालूम नहीं। विचारश्रेणि अन्तर्गत गाथायें भी मेरुतुङ्ग से कितनी प्राचीन हैं यह कहना मुश्किल है। इस स्थविरावली की गाथाओं (पहले हम दे चूके हैं) में "रेवइमित्ते छत्तीस, अज्जमङ्गु अ वीस एव तु। चउसय सत्तरि, चउसयतिपन्ने कालगो जाओ॥ चउवीस अज्जधम्मे एगुणचालीस भद्दगुत्ते अ।" इत्यादि में पट्टधरों की वीरात् ४७० तक की परम्परा बताने के बाद ४५३ में कालक हुए ऐसा विधान है। पर इससे तो यह सूचित होता है कि ये द्वितीय कालक युगप्रधान नहीं हैं और न उनके आगे युगप्रधानपट्टधर (या गुरु) ग्रन्थकर्ता को मालूम हैं। इन गाथाओं में अगर कालक भी युगप्रधानपट्टधर हैं तब एक साथ ऐसे दो आचार्य युगप्रधानपट्टधर हो जाते हैं जैसा कि इस स्थविरावली का ध्वनि नहीं है। अत यह सम्भवित है कि "चउसय तिपन्ने कालगो जाओ" यह बात प्राचीन युगप्रधानपट्टावलिओं में पीछे से बढ़ाई गई है। प्रथम शकराज्य के बारे में वास्तविक वर्षगणना बाद के लेखकों को दुर्लभ होने से और किसी तरह विक्रम के समय के नज़दीक ही कालक को और प्रथम शकराज्य को लाने के खयाल से यह वीरात् ४५३ में कालक के होने की कल्पना घुस गई होगी। उपलब्ध सब पट्टावलियों में प्राचीन हैं कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियाँ, मगर इनमें वीरात् ४५३ में रख सकें ऐसा कोई कालक का उल्लेख नहीं है। पट्टावली-समुच्चय, भाग १ में दी हुई सब अन्य पट्टावलियाँ विक्रम की तेरहवीं सदी या उसके बाद की हैं। डा० क्लाट की पट्टावलियाँ भी वि० सं० की १६ वीं शताब्दि के बाद की हैं।[८९]

---

८९ देखो, क्लाट महाशय का लेख, इन्डिअन एन्टिक्वेरि, वॉ० ११, पृ० २४५ से आगे डा० याकोबी, डा० लॉयमान आदि के पट्टावली-विषयक लेखों की सूचि के लिए देखो, ब्राउन, ध स्टोरी ऑफ कालक, पृ० ५ पादनोंध २३

नागहस्ति, रेवतिमित्र, सिंह और नागार्जुन के बाद भूतदिन्न और उनके बाद फिर कालक का उल्लेख है वह कालक गर्दभिल्लोच्छेदक हो नहीं सकते क्यों कि द्वितीयोदयप्रधान यन्त्र (पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृ २१–२४) देखने से मालूम होता कि इस कालक का समय (आर्य वज्र के शिष्य) वज्रसेन से ६११ वर्ष के बाद होता है जो देवा की तृतीय शताब्दि के बाद होगा। धर्मसागरगणि की तपागच्छ पट्टावली (पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृ ४१–७०) म श्यामार्य वीरात् ३७६ में स्वर्गवासी हुए और उनके शिष्य शिवमर्यभद्र शाण्डिल्य थे ऐसा लिखा है। आगे इन्द्रदिन्नसूरि के बाद वीरात् ४५३ वर्ष में गर्दभिल्लोच्छेदक कालकसूरि का उल्लेख है। इस पट्टावली का रचनाकाल वि स १६४८ है। किन्तु यह तो बहुत पीछे की पट्टावली है। दुष्षमाकाल श्री श्रमणसंघस्तोत्र जो विक्रम की तेरहवीं शताब्दि का है। उस स्तोत्र की अवचूरि का समय निश्चित नहीं है। इस अवचूरि म निम्नलिखित विधान है—

मोरियवंश १०८ तत-महागिरि ३० सुहस्ति ४६ गुणसुन्दर ३२ कालकर्संधि ११॥
एवं (वीरनिर्वाणात् वर्षाणि ३३५॥)

तथा पुष्पमित्र ३० बलमित्र भानुमित्र ६० (तत)—गुणसुन्दरस्यैव शेष वर्षाणि १२ कालिके ४ (४१) श्रीदेव १८॥ एवं वर्षाणि ४१३॥

तथा नरवाहन ४० गर्दभिल्ल १३ शाक ४ (तत)—रेवतिमित्र ३६ आर्यमंगुधर्माचार्य १ ॥ एवं वर्षाणि ४० ॥

अत्रान्तरे उज्ज श्रीरिवसम स्वामी (स्वाति) हरित श्यामाऽऽर्य शाण्डिल्य आर्य आर्यसमुद्रस्य अभिषिक्त।

तद् गर्दभिल्लरज्जस्स, छेयगो कालगायरिओ होही।
छत्तीसगुणोवेओ, गुणसयकलिओ पहाणगुणो ॥१॥

वीरनिर्वाणात् ४५३ अस्यान्ते पर्युषणायां चतुर्थी पञ्चम्याश्चतुर्थ्यां कालकसूरेरुद्धार ॥

धर्माचार्यस्येव शेषवर्षाणि २४ भद्रगुप्त ११ श्रीगुप्त १५ वज्रस्वामी ३६। एवं वर्षाणि ५८४॥ आर्य विक्रमादित्य विक्रमादित्य ६० धर्मादित्य ४ भाइल्ल ११॥ एवं ५८१॥ (पट्टावली समुच्चय १ पृ १७).

इस अवचूरि अन्तर्गत गाथा म यह स्पष्ट नहीं है कि वीरात् ४५३ म (गर्दभिल्लोच्छेदक) द्वितीय कालक हुए। किन्तु विचारश्रेणि की व्याख्याके मिलती इस (अवचूरि की) कालगणना से गर्दभिल्ल का समय वीरात् ४५३ होता है। मगर कालगणना यहां से पर नहीं है विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल का पुत्र कहने के लिए कोई प्रमाण इस चूर्णि या भाष्य का समर्थन उपलब्ध नहीं। और ४५३ मे गर्दभिल्लोच्छेदक करने वाले कालक के समय म बलमित्र भानुमित्र हो नहीं सकते। फिर बलमित्र भानुमित्र के बाद गर्दभिल्ल के ११ वर्ष गिनना और गर्दभिल्ल के १ म १५३ वर्ष का मेल प्राप्त करने के लिए विक्रमादित्य, धर्मादित्य, भाइल्ल और नाहड को गर्दभिल्लवंश के मानना ये सब बातें काफी शंकास्पद हो है। दूर मेरुतुंग को भी दो बलमित्र भानुमित्र होने का विचित्र अनुमान करना पड़ा। आर्य खपुट का वर्णनरूप मगोत्र का कालकाचार्य का भी प्रभावक से सम्बन्ध है। मगर दोनों समकालीन थे (वीरात् ४५३) ऐसा बैठ-

---

८८ मेरुतुंग लिखते हैं— बलमित्रभानुमित्रौ राजानौ ६० वर्षाणि राज्यमकार्षीत्। यौ तु कालकसूरि भागिनेयौ... बलमित्रभानुमित्रौ राजानावेव। इस विषय में डॉक्टर शान्तिलालजी के विवेचन के लिए देखो वीरनिर्वाण संवत् पृ ५५–७० और परवर्ती जिसमें त्रिलोकशाह प्रकाश के साथ से पैनी नजरों शोध के प्रमों में शुरू की है उसका इतिहास के क्रम विवेचन किया है।

ग्रन्थकारों का (मध्यकालीन पट्टावलियों के अलावा) कहीं भी उल्लेख नहीं। मौर्यों के १०८ वर्ष की हकीक्त भी मान्य नहीं हो सकती। डा० जयस्वालजी के कथनानुसार अगर मौर्यों के शेष वर्ष रासभों में बढा कर किसी तरह वीरात् ४७० में विक्रम का हिसाब जोड़ा गया तब यह स्पष्ट है कि इन पट्टावलियों की नृप-कालगणना शङ्कारहित नहीं है, इनमें और भी गलती हो सकती है। इस गड़बड़ का कारण यह है कि प्रथम शकराज्य के बाद कितने वर्ष व्यतीत होने पर विक्रमादित्य हुआ यह स्पष्ट मालूम न होने से विक्रम और कालक को नज़दीक लाने की प्रवृत्ति हुई। एक से ज्यादा कालक नामक आचार्य हुए होंगे किन्तु घटनाओं के नायक तो प्रथम कालक ही हैं जो कि अन्य तर्कों से पहले ही हमने देख लिया है।

मुनिश्री कल्याणविजयजी के मत से बलमित्र ही विक्रमादित्य है। और उनके मत से गर्दभिल्लोच्छेदक द्वितीय कालक वीरात् ४५३ में हुए। मगर बलमित्र यदि विक्रमादित्य है तब वह गर्दभिल्ल का पुत्र नहीं हो सकता। और मेरुतुङ्ग या उपरोक्त अवचूरि के बयान तब व्यर्थ प्रतीत होते हैं।

वीरात् ४५३ में गर्दभिल्लोच्छेदक कालक होने के सब आधार मध्यकालीन उन्हीं परम्पराओं के हैं जिनमें कालगणना की ऐसी गड़बड़ी है। कालककथानक तो गर्दभिल्लोच्छेदक कालक के गुरु गुणसुन्दर या गुणाकर को ही बताते हैं। वह कालक श्यामार्य ही हैं जिन्होंने प्रज्ञापनासूत्र बनाया। उपलब्ध प्रज्ञापना अगर मूल प्रज्ञापना नहीं हो, तो भी उस मे मूल का संस्करण और मूल के कई अंश ज़रूर होंगे। यही प्रज्ञापना सूत्र उसके लेखक का देशदेशान्तर के लोगों का ज्ञान, भिन्न भिन्न लिपियों का ज्ञान आदि साक्षी देता है जो गर्दभिल्लोच्छेदक और सुवर्णभूमि में जानेवाले कालक में हो सकता है। प्रज्ञापनासूत्र के विषय ही उनके कर्ता निगोद व्याख्याता होने का सूचन करते हैं।

विचारश्रेणि मे स्थविरों के पट्टप्रतिष्ठाकाल बतानेवाली गाथायें दी हैं। वही मुनिश्री कल्याणविजयजी से उद्दिष्ट "स्थविरावली या युगप्रधानपट्टावली" है जिसकी हस्तप्रत मुनिश्री ने देखी है। वह हस्तप्रत या वह रचना विचारश्रेणि से कितनी प्राचीन है यह किसी को मालूम नहीं। विचारश्रेणि अन्तर्गत गाथायें भी मेरुतुङ्ग से कितनी प्राचीन हैं यह कहना मुश्किल है। इस स्थविरावली की गाथाओं (पहले हम देख चुके हैं) में "रेवइमित्ते छत्तीस, अजमङ्गु अ वीस एव तु। **चउसय सत्तरि, चउसयतिपन्ने कालगो जाओ ॥** चउवीस अज्जधम्मे एगुणचालीस भद्दगुत्ते अ।" इत्यादि में पट्टधरों की वीरात् ४७० तक की परम्परा बताने के बाद ४५३ में कालक हुए ऐसा विधान है। पर इससे तो यह सूचित होता है कि ये द्वितीय कालक युगप्रधान नहीं हैं और न उनके आगे युगप्रधानपट्टधर (या गुरु) ग्रन्थकर्ता को मालूम हैं। इन गाथाओं में अगर कालक भी युगप्रधानपट्टधर हैं तब एक साथ ऐसे दो आचार्य युगप्रधानपट्टधर हो जाते हैं जैसा कि इस स्थविरावली का ध्वनि नहीं है। अतः यह सम्भवित है कि "चउसय तिपन्ने कालगो जाओ" यह बात प्राचीन युगप्रधानपट्टावलिओं में पीछे से बढ़ाई गई है। प्रथम शकराज्य के बारे में वास्तविक वर्षगणना बाद के लेखकों को दुर्लभ होने से और किसी तरह विक्रम के समय के नज़दीक ही कालक को और प्रथम शकराज्य को लाने के खयाल से यह वीरात् ४५३ में कालक के होने की कल्पना घुस गई होगी। उपलब्ध सब पट्टावलियों में प्राचीन हैं कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियाँ, मगर इनमें वीरात् ४५३ में रख सकें ऐसा कोई कालक का उल्लेख नहीं है। पट्टावली-समुच्चय, भाग १ में दी हुई सब अन्य पट्टावलियाँ विक्रम की तेरहवीं सदी या उसके बाद की हैं। डा० क्लाट की पट्टावलियाँ भी वि० सं० की १६ वीं शताब्दि के बाद की हैं।[८९]

---

८९ देखो, क्लाट महाशय का लेख, इन्डिअन एन्टिक्वेरि, वॉ० ११, पृ० २४५ से आगे डा० याकोबी, डा० लॉयमान आदि के पट्टावली विषयक लेखों की सूचि के लिए देखो, ब्राउन, ध स्टोरी ऑफ कालक, पृ० ५ पादनोंध २३

कालक विषय के पहले विभाग में (पूर्तिमान आदि में) सर्व सन्दर्भों से हम सिद्ध कर चुके हैं कि सभी घटनायें एक-कालक सम्बद्ध हैं और वह हैं आर्य श्याम। इनके बाद आर्य शाण्डिल्य और शाण्डिल्य के बाद हुए आर्य समुद्र। सभी मेरुतुंगियों और पट्टावलियों में इन्हीं आर्य समुद्र के अलावा किसी आचार्य के लिए "सिरिसमुद्दपमुहेहिंवि सीसगुरुहिं महिय पेयस" जैसे शब्दप्रयोग नहीं हुए। अतः यही आर्य समुद्र सुवर्णभूमि जाने वाले सागर श्रमण हैं। और सुवर्णभूमि जानेवाले और सर्वसंघोपेक्षित आर्य कालक एक हैं यह तो मुनिश्री कल्याणविजयजी को स्वीकृत है। अतः यह कालक श्यामार्य ही हैं।

प्राचीन जैन परम्परानुसार वीर निर्वाण ई० स० पूर्व ५२७ में माना जाय, तब श्यामार्य का समय होगा ई० स० पूर्व १४२ से १५१; और डा० जेकोबी आदि पंडितों के मतानुसार निर्वाण ई० स० पू० ४६७ में मानें, तब श्यामार्य का समय होगा ई० स० पूर्व ११२ से ६१ तक। इसी समय में भारत में शकों का प्रथम आगमन हुआ। खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए लेखों और मथुरा के अन्य कतिपय लेखों के अध्ययन से यह सो वर्ष पण्डितों को स्वीकार्य है कि वो समय के एक सम्वत् चले थे। एक Old Saka era = प्राचीन (मूल) शक स० और दूसरा बाद (ई० स० ७८ में शुरू हुआ था) शक सम्वत्। प्राचीन शक सम्वत् के प्रथम वर्ष के बारे में भिन्न भिन्न मत हैं। इन सब की समीक्षा डा० लोहुइझेन द ल्यु ने अपने ग्रन्थ में सिथियन पिरियड में की है। डा० लोहुइझेन द ल्यु के मत से प्रथम शक स० ई० स० पू० १२६ में शुरू हुआ, जो रैप्सन के मतानुसार ई० स० पू० ११ में जो दार्न के मत से ई० स० पू० १५५ में, डा० स्टेन कोनो के मत से ई० स० पू० ८८ में। इस तरह भिन्न भिन्न मत हैं किन्तु डा० लोहुइझेन द ल्यु और मार्शल के मत अधिकतर इतिहास से ज्यादा नजदीक हैं। इन सब मतों की चर्चा श्री एम० एन० दत्ता ने जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसायटी (बंगाल) लेटर्स वॉ० १६, (ई० स० १९५१) अङ्क १ पृ० १२४ में की है और यही बताया है कि प्रथम शक सम्वत् ई० स० पू० १२३ में हुआ होगा। यह समय शकों और पूर्वी सीथिया में पार्थियनों पर के विजय का है।[१] इसके कुछ पीछे ही समय में मिथ्राडेट्स दूसरा (Mithradates II) नामक पार्थियन राजा ने शकों को फिर हराये। यही समय है जब शक भारत की ओर आये।

इससे हमारे कालक से श्यामार्य का समय ई० स० पूर्व १५१ से ई० स० पूर्व ६१ तक मानना ज्यादा उचित है। ई० स० पूर्व ५८ में विक्रम सम्वत् (मालव स०) चला तब तक कालकाचार्य जीवित थे ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः कालक के समय को ई० स० पू० ६१ के बाद ही होना आवश्यक नहीं।

कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, उनका समय ऊपर के दो समय में से एक है। इसी समय गर्दभिल्ल का उच्छेद हुआ, इसी समय में कालक सुवर्णभूमि में गये। अन्य कालकाचार्य हुए होंगे किन्तु वे सब घटनाओं की कथाओं के नायक नहीं हैं इतना निश्चित है। अब पाश्चात्य इतिहास के पंडितों से अपेक्षा है कि गर्दभिल्ल, गर्दभिल्ल विक्रमादित्य आदि के गूढ प्रश्नों के निराकरण हेतु वे कुछ प्रयत्न करें।

---

१ देखो डा० लोहुइझेन-द-ल्यु, डा० एम० एस० दत्ता का दि ० लेख, एम और डा० तुलाधर चट्टोपाध्याय का ... इन इण्डिया (जिनकी रायल एशियाटिक सोसा० ११ ३), पृ० ६ जो उल्लेख लिखते हैं—
It was in his reign that the struggle between the kings of Parthia and their Scythian subjects in Eastern Iran was brought t close and the suzerainty of Parthia over ruling powers of Seistan and Kandahar confirmed (Cambridge Hist of India, Vol. I p 567)

११ देखो श्री जिनेन्द्र सम्वत् और वैशाख... पृ० ११२ से पृ० ११ पर ... ही इसे देखें अतिशयोक्त की पुस्तकी और जनकी हुकुमतन रानजी। उनकी राजधानी के न० १ ... कालकाचार्यों ने स्वीमाल का निर्देश सम्वत् ११२ में किया है ... हुआ।

परिशिष्ट १

दत्तराजा और आर्यकालक

दत्त राजा के सामने यज्ञफल का निरूपण करनेवाली घटना (घटना न १) का उल्लेख आवश्यकचूर्णि के अतिरिक्त 'आवश्यक निर्युक्ति' में दो स्थानों में है।[९२] मुनिश्री कल्याणविजयजी के खयाल के अनुसार इस घटना का सम्बन्ध सम्भवत प्रथम कालकाचार्य से है।[९३] 'आवश्यक निर्युक्ति' की एक गाथा (८६५) में उल्लिखित सामायिक के आठ दृष्टान्तों में तीसरा दृष्टान्त आर्यकालक का है जिन का वर्णन आव० चूर्णि में इस प्रकार मिलता है। "तुरुविणी नगरी में 'जितशत्रु' नामक राजा था। वहाँ 'भद्रा' नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी जिसके पुत्र का नाम 'दत्त' था। भद्रा का एक भाई था जिसने जैन मत की दीक्षा ली थी, उसका नाम था 'आर्य कालक'। दत्त जुआड़ी और मदिरा-प्रसङ्गी था। वह राजसेवा करते करते प्रधान सैनिक के पद तक पहुँच गया। पर अन्त में उसने विश्वासघात किया। राजकुल के मनुष्यों को फोड़कर उसने राजा को कैद किया और स्वय राजा बन बैठा। उसने बहुत से यज्ञ किये। एक बार वह अपने 'मामा' कालक के पास जाकर बोला कि मैं धर्म सुनना चाहता हूँ, कहिए यज्ञों का फल क्या है? कालक ने उसको धर्म का स्वरूप, अधर्म का फल और अशुभ कर्मों के उदय को समझाया और पूछने पर कहा कि यज्ञ का फल नरक है। दत्त ने इस का प्रमाण पूछा तो कालक ने बताया कि "आज से सातवें दिन तू कुभी में पकता हुआ कुत्तों से नोचा जायगा।" दत्त ने कालक को कैद किया मगर ठीक वैसा ही हुआ जैसा भविष्य कथन आर्य कालक ने किया था।

ग्रन्थकार लिखते हैं—"इस प्रकार सत्य वचन बोलना चाहिए, जैसे कालकाचार्य बोले।" इस कथानक का सक्षिप्त सार 'आवश्यक निर्युक्ति' की निम्नलिखित गाथा में भी सूचित किया है—

दत्तेण पुच्छिओ जो, जण्णफल कालगो तुरुमिणीए।
समयाए आहिएण सम बुइय भय तेण ॥ ८७१ ॥

मुनिश्री कल्याणविजयजी लिखते हैं कि "जब तक चौथे कालक का अस्तित्व सिद्ध न हो, इस सातवीं घटना का सम्बन्ध पहले कालक से मान लेना कुछ भी अनुचित नहीं है।"

परिशिष्ट २

घटना न ५—गर्दभ-राजा का उच्छेद

गर्दभिल्लोच्छेद वाली घटना[९४] के साथ दो स्थलों का उल्लेख है—उज्जयिनी और पारसकूल। निशीथचूर्णि में पारसकुल का उल्लेख है। वहाँ से साहिराजा और उनके साथ दूसरे ९५ साहियों को लेकर आर्य कालक "हिन्दुक-देश" को आते हैं। इस प्रकार ये ९५ या ९६ साहि (शक कुलों) समुद्रमार्ग से सौराष्ट्र में आये।

---

९२ द्वि० अभि० ग्रं० पृ० ९७

९३ वही पृ० ११४-१५

९४ निशीथचूर्णिगत इस घटना के बयान के लिये देखो, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९८-९९

इन स्थलों के बारे में कथाओं में कुछ गड़बड़ हुई है जिसकी मुनिजी कल्याणविजयजी ने अच्छी तरह छानबीन की है। आप लिखते हैं—

"प्राकृत भाषा कथा में 'पाटलखंड' की जगह 'पाटलसंड' नाम मिलता है। [illegible] भाषा ग्रन्थ में इस स्थान का नाम 'पाटलिपुर' लिखा है। [illegible] के साथ लगी हुई संस्कृत कथा में इस स्थान का 'सिन्धु नदी का पश्चिम पार्श्ववर्ती' लिखा है। फिर 'हिमवन्तथेरावली' में इस स्थान का नाम सिन्धु देश का है। इन भिन्न भिन्न नामों में हमारी सम्मति में 'पाटलखंड' नाम ही सही है जिसका उल्लेख इस विषय के सबसे पुराने ग्रंथ 'निशीथचूर्णि' में है। × पाटलखंड का आगे पारस का निवास हुआ। क्योंकि वहाँ के निवासी शाह राजवंशी थे। अतः उस प्रदेश का 'पारसकूल' नाम भी हुआ है। ×××× इतर कथाओं में सिन्धु नदी पार उतर सौराष्ट्र में कालकाचार्य के आने का उल्लेख है पर यह वास्तविक नहीं है क्योंकि सिन्धु नदी पार करके पंजाब अथवा सिंध में आ सकता है, सौराष्ट्र में नहीं। परन्तु यह बात तो सभी कथाएं एक-स्वर से स्वीकार करती हैं कि कालकाचार्य सौराष्ट्र में ही उतरे थे। यदि वे शाहों के साथ सिन्धु नदी पार कर हिन्दुस्तान में आते होते, तो सौराष्ट्र में किसी प्रकार न उतर सकते। इससे यही सिद्ध होता है कि वे सिन्धु-नदी नहीं, बल्कि सिन्धु-समुद्र के द्वारा सौराष्ट्र में उतरे थे। निशीथचूर्णि में तो सौराष्ट्र में ही आने का उल्लेख है, वहाँ सिन्धु नदी का नामोल्लेख नहीं है। लगता है सिन्धु के साथ नदी शब्द पीछे से जुड़ा गया है।"

मुनिजी की यह कल्पना सहज की है। इससे [illegible] सिद्ध होता है। अगर यह बात सही है तब तो भारत के इन्डोसिथियन (हिंद-शक आदि देशों में शक) के सम्बन्ध में पुराने लेखन के [illegible] और [illegible] का भी [illegible] चाहिये। कालकाचार्य [illegible] में [illegible] होंगे। किसी को शंका हो सकती है कि वे [illegible] नहीं [illegible] और [illegible] यह बात नहीं किन्तु कालकाचार्य के विषय में यह [illegible] भी [illegible] है क्योंकि [illegible] के साथ [illegible] आने [illegible] देखा मुनिजी का मत है। यह मत [illegible] है। फिर [illegible] के [illegible] में यह लिखा है कि कालकाचार्य [illegible] ने [illegible] से [illegible] ([illegible]) [illegible] विचार भी [illegible] नहीं होगा।

परिशिष्ट ३

उपदेशमाला प्रकरण की गाथाओं पर मुनिश्री कल्याणविजयजी

मुनिश्री कल्याणविजयजी इन गाथाओं के बारे में लिखते हैं—"जहाँ तक हमने देखा है [illegible] प्रथम कालकाचार्य का स्वर्गवास समय निर्वाण सं. [illegible] में बताया है, [illegible] में [illegible], ४४९ में [illegible] और [illegible] में [illegible] ठीक है। [illegible] ६१ [illegible] था। वे [illegible] और [illegible] नामों से भी प्रसिद्ध थे। इन सब बातों का विचार करने के [illegible] भी [illegible] न होगा कि [illegible] प्रकरण की [illegible] में जो प्रथम कालकाचार्य का निर्वाण लिखा गया है, [illegible] में नहीं [illegible] है।"

४४. [illegible] वही, [illegible]

१

४ वही, ४

दूसरे कालक का समय—गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य का समय—निर्वाण सं० ४५३ है, और इन दूसरे कालक की हकीकत को मुनिश्री ठीक मानते हैं। आगे आप लिखते हैं—"तीसरे कालकाचार्य के सम्बन्ध में हम निश्चित अभिप्राय नहीं व्यक्त कर सकते। कारण, निर्वाण सं० ७२० में कालकाचार्य के अस्तित्व-साधक इस गाथा के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। दूसरा कारण यह भी है कि गाथा में इन कालकाचार्य को 'शक्रसंस्तुत' कहे हैं, जो सर्वथा असङ्गत है, क्यों कि शक्रसंस्तुत कालकाचार्य तो वही थे, जो 'निगोद-व्याख्याता' के नाम से प्रसिद्ध थे। युगप्रधान स्थविरावली के लेखानुसार यह विशेषण प्रथम कालकाचार्य को ही प्राप्त था।

"चौथे कालकाचार्य को चतुर्थी-पर्यूषणा कर्ता लिखते हैं, जो ठीक नहीं। यद्यपि 'वालभी युगप्रधान पट्टावली' के लेखानुसार इस समय में भी एक कालकाचार्य हुए अवश्य हैं—जो निर्वाण सं० ९८१ से ९९३ तक युगप्रधान थे, पर इनसे चतुर्थी पर्यूषणा होने का उल्लेख सर्वथा असङ्गत है।"[९७]

इस चतुर्थ कालक के विषय में मुनिजी आगे लिखते हैं—"वर्धमान से ९९३ वर्ष व्यतीत होने पर कालकसूरिद्वारा पर्यूषणा चतुर्थी की स्थापना हुई ऐसी एक प्राकरणिक गाथा है जो तित्थोगाली पइन्नय से ली गई है ऐसा संदेहविषौषधि ग्रन्थ के कर्ता का उल्लेख है। मगर वह ठीक नहीं, और उपाध्याय धर्मसागरजी ने अपनी कल्पकिरणावली में भी बताया है कि यद्यपि यह गाथा धर्मघोषसूरिरचित कालसप्तति में देखने में आती है तथापि तीर्थोद्गार प्रकीर्णक में यह गाथा देखने में नहीं आती[९८]" आगे मुनिश्री ने बताया है कि बारहवीं सदी में चतुर्थी की फिर पञ्चमी करने की प्रथा हुई तब चतुर्थी पर्यूषणा को अर्वाचीन ठहराने के खयाल से किसीने यह गाथा रची।[९९]

इन सब बातों से यह स्पष्ट होना चाहिये कि एक से ज्यादा कालक की परम्परायें शङ्कारहित हैं ही नहीं। एक नाम के अनेक आचार्य हुए इससे, और ज्यों ज्यों घटनाओं की हकीकत प्रथम कालक के साथ जोड़ने में शङ्का हुई त्यों त्यों या ज्यों ज्यों विक्रम और शक और तत्कालीन नृपविषयक ऐतिहासिक हकीकत विस्मृत होने लगी और परम्परायें विच्छिन्न होती गईं, त्यों त्यों ये मध्यकालीन ग्रन्थकार व्यामोह में पड़ते गये और घटनाओं को भिन्न भिन्न कालक के साथ जोड़ते गये। तिथि के निर्णय में या श्रुत का पुनःसंग्रह करने में जिन्हों ने बार बार कुछ हिस्सा लिया उनको कालकाचार्य का बिरुद मिला हो ऐसा भी हो सकता है। ये बातें विशेष अनुसन्धान के योग्य हैं।

मुनिजी ने एक और गाथा की समीक्षा है जिसका भी उल्लेख करना चाहिये। आप लिखते हैं—

"उपर्युक्त गाथाओं के अतिरिक्त कालकाचार्य विषयक एक और गाथा मेरुतुङ्ग की 'विचार-श्रेणि' के परिशिष्ट में लिखी मिलती है, जिसमें निर्वाण सम्वत् ३२० में कालकाचार्य का होना लिखा है। उस गाथा[१००] का अर्थ इस प्रकार है—"वीर जिनेन्द्र के ३२० वर्ष बाद कालकाचार्य हुए, जिन्होंने इन्द्र को प्रतिबोध दिया।" इस गाथा से कालकाचार्य के अस्तित्व की सम्भावना की जा सकती है पर ऐसा करने की

९७ मुनिश्री कल्याणविजय, आर्य कालक, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९६–९७

९८ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ११८–११९

९९ वीरनिर्वाण सम्वत् और जैन कालगणना, पृ० ५६–५८ की पादनोंध

१०० गाथा इस तरह है —
सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ।

कोई आवश्यकता नहीं है। दशाश्रुतस्कंध के निर्देश से ही यह स्पष्ट है कि उक्त गन्धांश के ही हैं जिनका वर्णन 'युगप्रधान' के रूप में 'निगोद-व्याख्याता' विशेषण के साथ युगप्रधान स्थविरावलियों में किया गया है।" इस प्रज्ञापना-रचयिता निगोद-व्याख्याता प्रथम कालक ही हैं तथा उत्तराध्ययन निर्युक्तिगाथा के आधार से सुवर्णभूमि को गये हुए भी यह भी मानना चाहिये।

परिशिष्ट ४

निमित्तशास्त्र आर्य कालक

निशीथ चूर्णि उद्देश १ पृ ७ में निम्नलिखित उल्लेख है— इयाणि निमित्ति मास भयवं निमित्त समय संपेति। उभय भाग पहता निरत्था ते निम्मवकेयाणिमित्त देवेणओ। इस कथन से ज्ञात होता है कि निमित्त प्राप्ति के लिए साधु को पतित साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिये ऐसी प्राचीन परम्परा थी, यह उल्लेख कालकाचार्य के जीवन में देखने में आता है। निमित्त ज्ञान इन्होंने आजीवक मत के साधुओं से प्राप्त किया। इस कथा का स्पष्ट उल्लेख पंचकल्पचूर्णिगत उल्लेख हम पहले दे चुके हैं। कालकाचार्य ने जो ग्रन्थ बनाये उनका उल्लेख पंचकल्पभाष्य और पंचकल्पचूर्णि में इसी कथा के साथ ही मिलता है और हम इस को देख चुके हैं।

मुनिश्री कल्याणविजयजी इस विषय में कुछ और बातें भी देते हैं। आप लिखते हैं— पाटन के ताडपत्रीय पुस्तक भंडार में, ताडपत्र पर लिखे हुए एक प्रकरण (लगभग चौदहवीं सदी में लिखे हुए इस प्रकरण का नाम मालूम नहीं हुआ) में, हमने एक प्राकृत गाथा पढ़ी थी, जिसका आशय यह है— कालकसूरि ने प्रथमानुयोग में जिन, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के चरित्र और उनके पूर्वभवों का वर्णन किया और लोकानुयोग में बहुत से निमित्तशास्त्र की रचना की। × × लोकप्रकाशादि नामक जैन विद्वान् ने स्वरचित ग्रन्थ में ज्योतिष विषयक एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने लिखा है कि पहले यवन देश से यह विद्या कालकाचार्य के द्वारा यवन देश से यहाँ लाई गई थी। किन्तु प्रश्न विद्या को यवन देश से चाहे कालकाचार्य लाए हों या न भी लाए हों, पर इससे तो इतना सिद्ध ही है कि निमित्त अथवा ज्योतिष विद्या के जैन विद्वान् लोग कालकाचार्य को अपने पथ का आदि पथिक समझते थे।

मुनिश्री लिखते हैं— आर्य कालक निमित्त विद्वान् के अतिरिक्त एक प्रभावशाली पुरुष भी थे। निमित्त के कारण उनकी जितनी प्रसिद्धि है उस से कहीं अधिक उनके घटनामय जीवन से है। आर्य कालक का प्रत्येक जीवन प्रसंग वास्तविकता के रंग में रंगा जीवन लक्षण से कुछ आगे बढ़ा हुआ है।"

कालक के जीवन की घटनाओं में जो दो तत्त्व सर्वोपरि हैं वे इन घटनाओं में हैं—एक उनका निमित्तज्ञान और दूसरा उनका क्रान्तिकारी, साहसिक योद्धा जीवन।

---

१ १ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ ९९–८

१ १ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ १ २

१ १ वही, पृ १ ५.

परिशिष्ट ५

उत्तराध्ययननिर्युक्ति और चूर्णि के संदर्भ

उज्जेणी कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए।
इंदो आउयसेसं पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥ १२० ॥

उत्तराध्ययननिर्युक्ति, २ अध्ययन

'उज्जेणी कालखमणा' गाथा (११६-१२७) उज्जेणीए अज्जकालगा आयरिया बहुस्सुया, तेसिं सीसो न कोइ नाम इच्छइ पढिउं, तस्स सीसस्स सीसो बहुस्सुओ सागरखमणो नाम सुवन्नभूमीए गच्छेण विहरइ, पच्छा आयरिया पलायितु तत्थ गता सुवण्णभूमीं, सो य सागरखमणो अणुयोगं कहयति पण्णा परिसहं न सहति, भणति-खंता! गतं एयं तुब्भ सुयक्खधं जावोकधिज्जतु, तेण भण्णति—गतंति, तो सुण, सो सुणावेउं पयत्तो, ते य सिज्जायरणिब्बंधे कहिते तस्मिम्मा सुवन्नभूमिं जतो वलिता, लोगो पुच्छति तं वृंद गच्छंत—को एस आयरिओ गच्छति? तेण भण्णति—कालगायरिया, तं जणपरंपरेण फुसंत कोड्डु सागरखमणस्स संपत्त, जहा—कालगायरिया आगच्छंति, सागरखमणो भणति—खंत ! सच्चं मम पितामहो आगच्छति? तेण भण्णति—मयावि सुतं, आगया साधुणो, सो अब्भुट्ठितो, सो तेहिं साधूहिं भण्णति—खमासमणा केई इहागता? पच्छा सो सकितो भणति—खंतो एक्को परं आगतो, ण तु जाणामि खमासमणा, पच्छा सो खामेति, भणति—मिच्छामि दुक्कडं जण्णत्थ मए आसादिया, पच्छा भणति—खमासमणा! केरिसं अहं वक्खाणेमि? खमासमणेण भण्णति—लट्ठं, किंतु मा गव्वं करेहि को जाणति कस्स को आगमोत्ति, पच्छा धूलिणाएण चिक्खिलपिंडएण य आहरणं करेंति, ण तहा कायव्व जहा सागरखमणेण कतं, ताण अज्जकालगाण समीवं सक्को आगतु निगोयजीवे पुच्छति, जहा अज्जरक्खियाण तथैव जाव सादिव्वकरणं च।

—उत्तराध्ययनचूर्णि, (ऋषभदेव केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम, ई० स० १६३३), पृ० ८३-८४

और देखिये, श्रीशान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन-बृहद्वृत्ति, भाग १, पृ० १२७-१२८।

परिशिष्ट ६

व्यवहारभाष्य और चूर्णि के संदर्भ

भाष्यगाथा—

पुरिसज्जाया चउरो वि भासियव्वा उ आणुपुव्वीए।
अत्थकरे माणकरे उभयकरे नोभयकरे य ॥ ३ ॥
पढमतइया एत्थं तु सफला निप्फला दुवे इयरे।
दिट्ठतो सगतेणा सेवता अन्नरायाण ॥ ४ ॥
उज्जेणी सगराय नीयागव्वा न सुट्ठु सेवेंति।
वित्तियदाण चोज्ज निवेसया अपण्णनिवे सेवा ॥ ५ ॥
धावयपुरतो तह मग्गतो या सेवइ य आसणं नीयं।
भूमियपि य निसीयइ इंगियकारी उ पढमो उ ॥ ६ ॥
चिक्खेल अन्नया पुरतो उगतो से एगो नवरि सव्वतो।
तुट्ठेण तहा रन्ना वित्ती उ सुपुक्खला दिन्ना ॥ ७ ॥

[illegible]

—[illegible]

[illegible]—

"[illegible]" ([illegible])

इन [illegible] के [illegible] में [illegible] भी [illegible]—

"[illegible]" ([illegible])

परिशिष्ट ७

[illegible] और [illegible]

[illegible] ॥ ११५४ ॥

[illegible] ॥ ११५४ ॥

[illegible]—

[illegible] ॥ ११५५ ॥

पव्वयणा च नरिंदे, पुणरागमऽडोलिखेलणा चेडा।
जवपत्थणा खरस्सा, उवस्सम्रो फरुससालाए ॥ ११५६ ॥

यवो नाम राजा। तस्य दीर्घपृष्ठ सचिव । गर्दभश्च पुत्र । दुहिता अडोलिका। सा च गर्दभेण तीव्ररागाध्युपपन्नेन 'अगडे' भूमिगृहे विषयसेवार्थं क्षिप्ता ॥ ११५५ ॥

तच्च ज्ञात्वा वैराग्योत्तरङ्गितमनसो नरेन्द्रस्य प्रव्रजनम्। पुत्रस्नेहाच्च तस्योज्जयिन्या पुन. पुनरागमनम्। अन्यदा च चेटरूपाणामडोलिकया क्रीडन खरस्य च यवप्रार्थनम्। ततश्चोपाश्रय परुष—कुम्भकारस्तस्य शालायामित्यक्षरार्थ ॥ ११५६ ॥

भावार्थ पुनरयम्—[104]

उज्जेणी नगरी। तत्थ अनिलसुम्रो जवो नाम राया। तस्स पुत्तो गद्दभो नाम जुवराया। तस्स धूया गद्दभस्स जुवरन्नो भइणी अडोलिया णाम, सा य अतीवरूववती। तस्स य जुवरन्नो दीहपट्ठो अमच्चो। ताहे सो जुवराया त अडोलिय भगिणिं पासित्ता अज्झोववन्नो दुब्बलीभवति। अमच्चेण पुच्छिओ। निब्बंधे सिट्ठ। अमच्चेण भन्नति—सागारिय भविस्सति तो एसा भूमिघरे छुब्भति, तत्थ भुजाहि ताए सम भोए, लोगो जाणिस्सति 'सा कहिं पि विनट्ठा'। 'एव होउत्ति कय'। अन्नया सो राया त कज्ज नाउ निव्वेदेण पव्वतिओ। गद्दभो राया जातो। सो य जवो नेच्छति पढिउ, पुत्तनेहेण य पुणो पुणो उज्जेणिं एति। अन्नया सो उज्जेणीए अदूरसामते जवखेत्त, तस्स समीवे वीसमति। त च जवखेत्त एगो खेत्तपालओ रक्खति। इओ य एगो गद्दभो त जवखेत्त चरिउ इच्छति ताहे तेण खेत्तपालएण सो गद्दभो भन्नति—

आधावसी पधावसी मम वा वि निरिक्खसी।
लक्खिओ ते मया भावो, जव पत्थेसि गद्दभा ! ॥ ११५७ ॥[105]

अथ भाष्यान्तर्गत श्लोक कथानकसमाप्त्यनन्तर व्याख्यास्यते, एवमुत्तरावपि श्लोकौ।

तेण साहुणा सो सिलोगो गहिओ। तत्थ य चेडरूवाणि रमति अडोलियाए, उदोइयाए त्ति भणिय होइ। सा य तेसिं रमताण अडोलिया नट्ठा विले पडिया। पच्छा ताणि चेडरूवाणि इओ इओ य मग्गति त अडोलिय, न पासति। पच्छा एगेण चेडरूवेण त विल पासित्ता णाय—जा एत्थ न दीसति सा नूण एयम्मि विलम्मि पडिया। ताहे तेण भन्नति—

इओ गया इओ गया, मग्गिज्जती न दीसति।
अहमेय वियाणामि, अगडे छूढा अडोलिया॥ ११५८ ॥

सो वि णेण सिलोगो पढिओ। पच्छा तेण साहुणा उज्जेणिं पविसित्ता कुभकारसालाए उवस्सओ गहिओ। सो य दीहपट्ठो अमच्चो तेण जवसाहुणा रायत्ते विराहिओ। ताहे अमच्चो चिंतेति—'कह एयस्स वेर निज्जाएमि?' त्ति काउ गद्दभराय भणति—एस परीसहपराजिओ आगओ रज्ज पेल्लेउकामो, जति न पत्तियसि पेच्छह से उवस्सए आउहाणि। तेण य अमच्चेण पुव्व चेव ताणि आउहाणि तम्मि उवस्सए नूमियाणि पत्तियावणनिमित्त। रन्ना दिट्ठाणि। पत्तिज्जिओ। तीए अ कुभकारसालाए उदुरो ढुक्कि ढुक्कि

---

१०४ यहाँ से आगे टीकान्तर्गत प्राकृत-कथानक बृहत्कल्पचूर्णि के पाठ से उद्धृत है, कुछ गौण फर्क है। इस लिए यहाँ चूर्णि का पाठ अवतरित नहीं किया है।

१०५ जासि एसि पुणो चेव, पासेसु टिरिटिल्लसि।
लक्खितो से मया भावो जव पत्थेसि गद्दभा ॥
इति रूपा गाथा बृहत्कल्पचूर्णौ।

भोलवति मरण। ताहे तेण कुम्भकारेण भणति—

कुडुम्भलय! महालय! एवं हिययदइया!!
मरं ते मपि मपूला, चौरत्तणो तं मम॥ ११५६॥

तो सि येण विलोमे पडियो। ताहे सो राया त रिसं मारेऊणाढ़ो य मम्मए। एमत्ते वहुले वेरि भी
घर सम्मन्नेय वन रवि वसवरास पच्चिओ मपहूति। तत्थ तेण लायुषा पडियो पढमा सिलोगो—

"आयरवी पयायवी"......॥ (गा ११५७) १

तवा मम—वेतिय मो, कुम रुमिसेती पव ताव। तमो सिसिओ पडियो—"इओ गया इओ
गया .. ॥" (गा ११५८)

त सि दोवं परियं, जदा—जावये (। नाव) एतव। तवा तसिओ पडिओ—"कुडुम्भलय!
महालय .. .. ॥" (गा ११५६)

ताहे चयति—एस समन्नो मम चव मारेऊणाढ़ो, कमो मम राया (रज्ज) होउ एवं भेए
पोलियव कुमो त नेव करेति!, एस कामके मं मारेऊणाढ़ो एव वस करेइ। ताहे राया समलक्ख
सीस देह वाहुत्त रतसु वस करेइ कमेण य॥

अथ श्लोकत्रयस्यार्थः—आ-ईसद् आश्लिष्यमेव या धावति आधावति सर्वत्र पुनर्वे या धावति
प्रधावति मामति च निरीक्षये वाक्रिसदे मया मया: समितमाये यथा वा सनावर्ष परितु धावति मे
गर्दभ। द्वितीयवे चक्रसमानं यामस्य महारितु मे गर्दभवये। मार्चयलीति प्रथमश्लोक: ॥ ११५७॥

इतो गता इतो गता, मृगमाला न दश्यते, काममेवद् निषण्णानि भवले पुनिवये वर्त्तन वा विशा
कटोहितम कस्त्रोहित नष्पीड़ुहिता या। द्वितीयश्लोक: ॥ ११५८॥

मृगकल राजम शारीरस्थोष्मर्सनाय कुडुम्भल! हस्वमलयम्, महालग चि भवरवे! एवी
द्विविधरसीय! मूनलल विप मायुपस्योपमलरिवत्वय एस्तु गौरवसँय एवी चर्भनाथेमलाम्, मम ते
तन मास्ति समूलात् मतिमिमान् किन्तु गौरहान् एवम् मसाने प्रमुख तु प्रमाणत् ते तत्र
मनपिति तृतीयश्लोक: ॥ ११५६॥

—बृहत्कल्पसूत्र, विभाग, २, प्रथम उद्देश सूत्र १ भाष्यगाथा ११५०—६१ पृ ३५६-३६१

उपयुक्त प्रकरण की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। चाहे कथा ऐतिहासिक न हो किन्तु गर्दभ लगता है
किसी प्रसवपरा से सम्बन्ध है। यहाँ भी उसका भागी लक्षण प्रकट है। कटोहितम नाम ययेरी (अथवा
किसी ग्रीक—यवनी) नाम का रूपान्तर लगता है। डा. सालिग्राम शाह ने इससे ग्रन्थ में अनुमान किया है
कि अनिलपुत्र यह Antalkidas है और गर्दभ यह Khardas है यह हमें ठीक नहीं लगता, क्योंकि
Antalkidas का अनिलपुत्र होना प्रयास है। और अनिल का पुत्र ऐसा अर्थ हैं तब भी वह Antalkidas
नहीं हो सकता और Khardas (मथुरा के सिंह स्तम्भ के लेख में खरोष्ठ) इस Antalkidas का लड़का नहीं हो
सकता। श्री सालिग्राम शाह का यह अनुमान कि "अनिलपुत्रो जवो नाम राया" यह अर्थ "अनिलपुत्रो
नाम जवनो राया" होना चाहिये इससे भी कुछ संतोष नहीं होता क्योंकि उसका लड़का Khardas नहीं है।

फिर भी गर्दभ कौन? इस विषय के संशोधन में सम्भव है वह अपरचय मत्स्यगर हो भी सकता!
आगम के बीसन की घटनाओं के विषय में चूर्णियों के कथनों के अन्य प्रकारान्तर हम यहाँ नहीं देते
क्योंकि वे सभी सरल और हा भाषा में स्पष्टीकृत किये हुए हैं।

१ १ गाथाएँ ११५७, ११५८, ११५६ यहाँ दी गई हैं उन लिए इसमें कहीं पूरी भाषान्तरित नहीं की है।

१०७ सालिग्राम शाह का पुरितकाल ग्रीकोलोजी जॉनल का अंक १ ४८,४८ मथुरा के सिंह स्त
के Khardas के लिए के लिए देखो कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकरम् २, १ १३० १३८

उपसंहार

इस लेख का उद्देश्य है जैन साक्षियों की छानवीन करना। इस समीक्षा से हम निश्चितरूप से कह सकते हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। एक तो उन्होंने अनुयोगादि ग्रन्थों का निर्माण किया और दूसरा इन्हीं ग्रन्थों में से प्रव्रज्याविषयक कालकरचित गाथायें मिली हैं। निगोद-व्याख्यानकार, सुवर्णभूमि को जाने वाले, आर्य समुद्र के दादागुरु और अनुयोगनिर्माता, आजीविकों से निमित्त पढ़नेवाले और जिन्होंने सातवाहन राजा को मथुरा का भविष्य कहा था वह कालक आर्य श्याम ही हैं। इतना तो निश्चित ही है।

धर्मघोषसूरि ने श्रीऋषिमण्डलस्तव में प्रज्ञापनाकार श्यामार्य को प्रथमानुयोग और लोकानुयोग के कर्ता कालकसूरि कहा है। कालक के बाद उन्होंने आर्य समुद्र की स्तुति की है—

निज्जूढा जेण तया पन्नवणा सव्वभावपन्नवणा।
तेवीसइमो पुरिसो पवारो सो जयउ सामज्जो ॥ १८० ॥

पढमणुओगे कासी जिणचक्किदसारपुव्वभवे।
कालगसूरी बहुअ लोगणुओगे निमित्त च ॥ १८१ ॥

अज्जसमुद्दगणहरे दुब्बलिए धिप्पए पिहू सव्व।
सुत्तत्थचरमपोरिसिसमुट्ठिए तिण्णि किइकम्मा ॥ १८२ ॥

—जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग १, पृ० ३२६-३०

देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मघोषसूरि का लेखनसमय है। वि० स० १३२०-१३५७ आसपास। अत ई० स० की तेहरवीं शताब्दि में, सङ्घभाष्य आदि के कर्ता, श्रीधर्मघोषसूरि जैसे आचार्य भी श्यामार्य को ही अनुयोगकार कालकाचार्य मानते थे।

गर्दभराजोच्छेदक कालक भी वे ही आर्य श्याम हैं ऐसा हमारा मत है। किन्तु अभी भी अगर किसी को शङ्का रही हो, तो इनको यही देखना चाहिये कि बलमित्र-भानुमित्र और आर्य कालक का समकालीनत्व तो निश्चित ही है। पुराने ग्रन्थों का प्रमाण है। फिर पट्टावलियों की पट्टधर कालगणना या स्थविरकालगणना या नृपकालगणना जिनमें कहीं कहीं गड़बड़ है उनको छोड़ कर स्वतत्र प्राचीन ग्रन्थ-साक्षियों से हमने बताया है कि गर्दभोच्छेदक कालक और दूसरी घटनाओं के नायक आर्य कालक एक ही हैं और वे गुणसुन्दर के शिष्य आर्यश्याम ही होने चाहिये। इनका समय ई० स० पूर्व पहली या दूसरी शताब्दि है।

जिनको दूसरे कालक (वीरात् ४५३) मजूर है इन के हिसाब से भी कालक के सुवर्णभूमिगमन का समय ई० स० पूर्व पहली शताब्दि तो है ही।

कालक किसी सातवाहन राजा के समकालीन थे। वह राजा कौन था? क्यों कि कालक एक काल्पनिक व्यक्ति नहीं हैं इस लिए अब सातवाहन वश के इतिहास के बारे में विद्वानों को फिर सोचविचार करना चाहिये। पञ्चकल्पभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य जैसे ग्रन्थों के कर्ता सङ्घदासगणि क्षमाश्रमण ने या दूसरे भाष्यकार चूर्णिकार ने जो ऐतिहासिक बातें लिखी हैं वे बिलकुल कपोलकल्पित नहीं किन्तु ज्यादातर

ऐतिहासिक सामग्री प्रदीप्त होती जा रही है। कुषाण सम्पत्ति और आयोगपट्टिका कला या इनका मथुरा में है उनकी ऐतिहासिकता की भाँति डा. मोतीचन्द्रजी ने इण्डियन हिस्टोरिकल कॉंग्रेस १७ वें अधिवेशन १९५४ अहमदाबाद में अपने विभागीय प्रमुख व्याख्यान में बताई है। मथुरा में कुषाण राजाओं के वस्त्र भी प्राप्त हुए थे। सम्पत्ति ने जैन साधुओं के विहार के लिए, मध्य और दक्षिण में सुविधायें की या भी व्यवस्था है। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में (सहित प्रदेश) में सम्पत्ति ने मौर्यसाम्राज्य की महत्ता पर प्रकाश डाला है। खारवेल और भारतीय मूर्ति के अध्ययन और शासन इन के बीच के वर्षों की ओर सातवाहन राज्य की नींव की बात भी कम मालूम नहीं है क्योंकि गौतमीपुत्र सातकर्णी ने नहपान के सिक्कों पर फिर अपनी मुहर लगाई है। हमारे साहित्य में नहपान को गौतमीपुत्र सातवाहन शासक के समकालीन सातवाहन नरेश के रूप में माना गया है।

कालकाचार्य और शालक? का समकालीन सातवाहन है जो पूर्व की प्रथम शताब्दि के पूर्वार्ध में है जो पूर्व की द्वितीय शताब्दि के उत्तरार्द्ध में हुआ था। यह सातवाहन कौन था। ये दोनों बातें फिर विचारणीय हैं क्योंकि शासक समकालीन हुआ था।

जैन आगम-साहित्य भारतीय संस्कृति और इतिहास के अध्ययन में अति महत्व का है इस बात की ओर अभी ध्यान नहीं गया है। इस आगम साहित्य में कई बातें ऐसी हैं जिनका महत्व प्राचीन वैदिक साहित्य से या ब्राह्मण साहित्य से कम नहीं। इन दोनों साहित्य का अध्ययन एक दूसरे का पूरक है। जिस को हम पुरातत्व में Northern Black Polished Ware (N B P) कहते हैं वह मथुरा के बरतनों का जो High Polish देखने में आता है उसका एक मात्र वर्णन संदर्भ हमें जैन पौराणिक सूत्र में पुरातत्वविदों ने पर्याप्त में मिलता है।

इससे हमें चाहिये कि जैन आगम साहित्य, विशेष करके भाष्य और चूर्णियों की ओर अवश्य ध्यान दें। इनकी अच्छी समीक्षा भारतीय संस्कृति के इतिहास में हमें सहायक होगी। भाषाशास्त्रियों के लिए भी भाष्यों और विशेषतः चूर्णियों में विपुल सामग्री पड़ी है।

सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप में भारतीय संस्कृति के प्रसार में पश्चिम और मध्य भारत का भी हिस्सा है जिसकी ओर भी ध्यान देना जरूरी है। सुवर्णभूमि जानेवाले व्यापारियों की कथा आगमों में मिलती है। भारत के सर्व प्रदेश भी पश्चिम, दक्षिण और मध्यभारत के ओर से सुवर्णभूमि में गये। गुजरात के व्यापारी जावा तो जाते थे गुजरात काल में भी। गुजराती में इस मतलब की एक कहावत है कि जो जावा को जाता है वह वापस नहीं आता है और यदि कोई लौट आया, तो इतना धन लाता है जो पीढ़ियों तक चलता रहे। प्राचीन कला के इतिहास में आधुनिक का वस्तु पश्चिम भारत में रचित महीसागर से निर्मित किया गया है यह बात भी सत्य है।

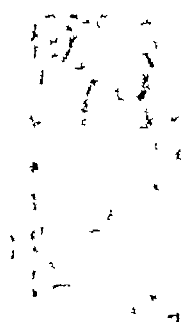
१०० देखो व्याख्यान [illegible], प्राचीन [illegible] (बम्बई, १९५५), पृ ११-१८ ।

१०१ इसके विशेष विवरण के लिये देखिये डॉ. [illegible] : [illegible] एण्ड [illegible], [illegible] (बैल्जियम), १९५५

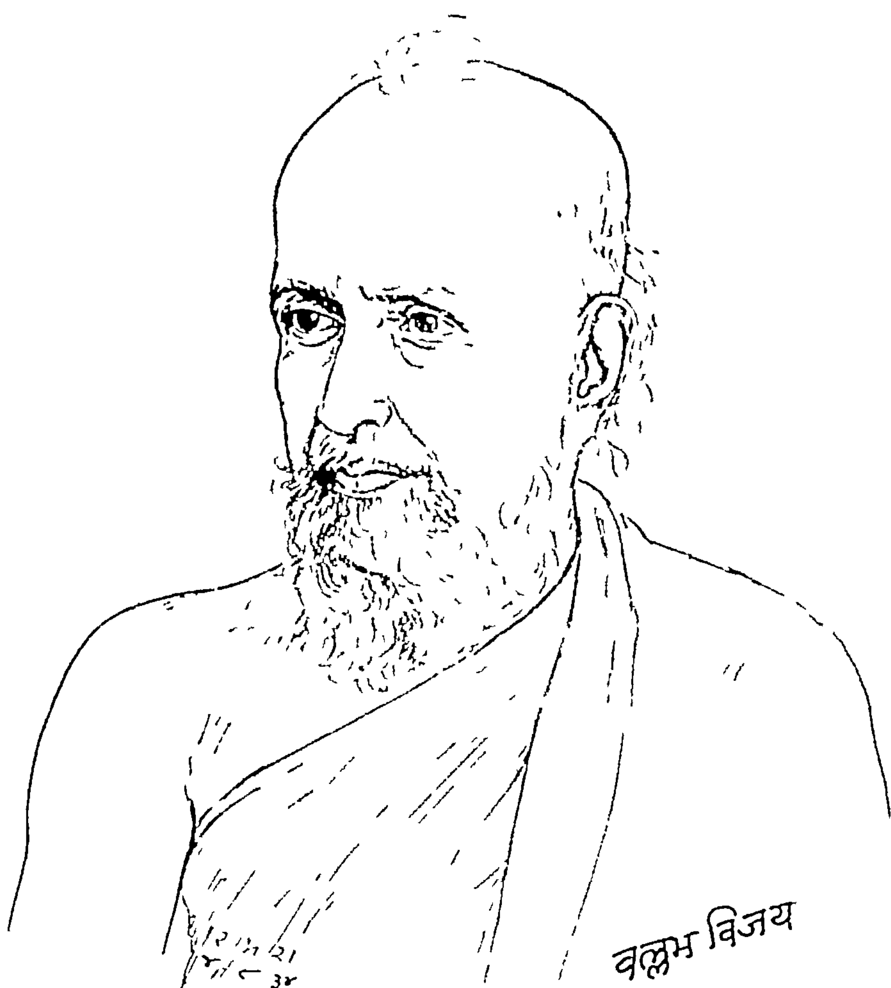
१०२ इस लेख की हिन्दी भाषाकृति और कुछ देखने के लिये श्री [illegible] और [illegible] का आभारी हूँ।

[illegible]

: ક્રાંતિ અને [illegible] :



[illegible]



ĀCĀRYA VIJAYAVALLABHASŪRI

स्केच श्री रविशंकर रावळ]

THE GREAT ACARYA

Shri CHIMANLAL J SHAH, M A

Among the great Jaina Acāryas of the last fifty years, the late Vijayavallabhasuri enjoys a very prominent and popular place He was a favourite with both the old and new generations of the Jaina laity

The key to his popularity lay in his earnest desire to see that the laity was helped spiritually and otherwise He led the austere life of a Jaina *sādhu* carrying out all the injunctions prescribed by the scriptures Thus the orthodox mind saw nothing in him that would discredit him but at the same time, he talked and preached about anything and everything that would go under the name of welfare activities for the betterment of the Jaina *Samgha* For more than half a century, he carried on a crusade in his inimitable way for the educational and social uplift of his followers If he had been an educationist himself or in the alternative if he had had a band of experts by his side, one does not know what wonders he would have worked In reality, the net result of all his educational and social activities was limited All the same, the new generation of unorthodox outlook was always happy with him and appreciated all his laudable efforts

This flair for activities outside the ritualistic life of a Jaina *sadhu* he inherited from his great *Guru Ātmārāmji* Both seemed to believe that it was no use merely preaching religion to a *Samgha* that was socially and psycologically not prepared to receive it In economic parlance, it meant first bread and butter, the wherewithal to get the same, and then religion An understanding and a happy mind can alone absorb and live upto the great tenets of the Jaina philosophy and to create that was the life work of the great Acārya

This great divine joined the order at the early age of sixteen and became the disciple of the illustrious Vijayānandasūri, popularly known as Ātmārāmji For a period, as long as sixty-eight years, since he donned the yellow garb, Vijayavallabhasūri ceaselessly and enthusiastically carried on his efforts for the welfare and uplift of his followers and of all those who came in contact with him This by itself is a record, a

record to be proud of and happy about The fruit of his tireless efforts is still to be seen

It is now for the great *Samgha*, the *Samgha* of all the followers of the illustrious and the meritorious Jinas, to wake up, to probe carefully into its failures and limitations and march forward with the great immortal message of *Ahimsa*, which is the only hope for this war torn and conflict-ridden mad world of ours



A DEDICATED SOUL

SHRI K D KORA

The wise dictum that 'The greatest saint is not the man who does extraordinary things, but does ordinary things extraordinarily' has been realized in the life of Ācārya Vijayavallabhasūri, whose sixty-eight years' service to the cause of education and Jainism has but few parallels in our history

'Uplift through education' was the central message of the life of this illustrious saint, whose searching intelligence and ardent nature urged him to find out the panacea for the younger generation to keep off from the stifling atmosphere which would overpower them any day Gifted with a prophetic vision, he foresaw the shape of things to come at a time when education was regarded as a taboo and foreign travel led to excommunication These views were labelled ideological by some and retrograde flounderings by others, when he propounded the gospel of education This concept was not the rebellion of a solitary soul but the outcome of a social conflict and a future vision of the society This was a drop in the sea of mankind but the people felt in it the roar of the sea and its heave and swell were realized many years later, as we do visualize now very clearly

Ācārya Vijayavallabhasūri, who hailed from Baroda, became the disciple of Śrīmad Vijayānandasūri, popularly known as Ātmārāmjī, seventy years ago, and since then Ācāryasrī led the disciplined life of a Jaina *sādhu,* with an outlook which was in tune with the spirit and demand of our age

ĀTMĀRĀMJĪ—THE GURU

Ātmārāmjī was an ardent student of Jainism in all its myriad manifestations and implications The education and training which he imparted to the young Vijayavallabhavijayajī stood the latter in good stead, when he was called upon to interpret and explain the tenets of Jainism So great was the popularity of Ātmārāmjī that he was invited to the World Faiths Conference in the United States to represent Jainism He deputised Shri Virchand Gandhi, the famous scholar of Jainism, who persuasively propounded the ethical code of Jainism, which is based on non-violence, truthfulness, non-possession and penance, ideas very much

similar to the Gandhian concept of a happy society The success of Shri Virchand Gandhi was mainly due to the briefing he had from Atmārāmji and Vallabhavijayaji

TO THE SHELTER OF GOD

An unusual incident occurred in the early life of Acārya Vijayavallabhasūri Seeing his mother on death-bed, he asked her anxiously "To whose shelter are you leaving me?" I leave you to the shelter of the Lord was his mother's apt reply "His shelter is the best shelter the rest is all illusion, she added These words, touchingly told, sowed the seeds of religious faith that was to blossom forth in later years At the age of sixteen he renounced worldly life at Radhanpur in V S 1913 This dedicated soul started his austere life with the seriousness which foreshadowed a great religious life He strove to realise the ideal of his Guru which expressed itself for the betterment of the society and removal of illiteracy He started launching new educational institution and the help of many social reformers readily overflowed

ORTHODOXY DISTURBED

Acāryasri widely travelled the country and this urged him to concentrate his work on the projects which helped the masses to live a healthier and better life by the removal of social and religious evils and spread of the spirit of religious toleration But how could a Jaina sādhu devoted to study and spread of religion, undertake social projects—was the parrot-like echo from the dovecotes of the orthodoxy It became his unfortunate lot to be the most misunderstood individual inspite of his lofty ideals The trend of thought attracted the attention of the people of all faiths throughout the country Undaunted and unperturbed he strove to build up more institutions, societies and educational organizations which helped to alleviate the burden of the masses and uplift the society in all respects

His religious discourses ... always ... message of enlightening the ... with the gospel of ... non-violence and ... He ... popular ... Punjab ... which ... for him the title of Punjab Kesari ... moved on for nearly ... of years during ... and other ... institutions ... Panjab

where it is said that his gesture or voice would touch even the birds and animals. He left some of his disciples to pacify the agonised feelings of the people, which comprised persons of different faiths. An untoward incident occurred, which hastened his return, before the scheduled date. Time factor and distance he had to cross placed him in a difficult predicament. However a determined will, love for his Guru and faith in his followers helped him to cover a difficult terrain of 450 miles in fifteen days under the scorching heat. To move barefooted and bareheaded was an impossibility, however, a Jaina *sādhu* is not free to act and behave as he pleases. He has to abide by rigid rules. He reached in time inspite of all privations.

ŚRI MAHAVIRA VIDYALAYA

But he started back again on the tour of Gujarāt and Saurāṣṭra. After travelling extensively in Gujarāt, he reached Bombay at the pressing invitation of the Jaina *Saṁgha* in 1914 A.D. During his stay, he delivered religious discourses in different parts of the City and then prepared himself to leave for the Punjab, where his followers consisted of all sections of the society. His popularity knew no barriers of caste and creed. But the followers insisted that he should stay further in Bombay. He requested the Jaina *Saṁgha* to justify his further stay. Several constructive suggestions were put forward but he was full with the ideas of his *Guru*, who always thought of the uplift of people through education.

Acāryasrī laid a great stress on the desirability of founding a central educational institution in Bombay to meet the growing needs of a community, which, though foremost in trade and industry, was backward in educational and professional fields. The idea was welcomed by the rich and the educated section of the Jainas. They offered their full cooperation, and the untiring efforts of an enthusiastic band of workers resulted in giving a definite shape to the thoughtful idea of Acāryasrī.

Thus Śrī Mahāvīra Jaina Vidyālaya took shape in Bombay in 1915 A.D. Hundreds of students have enlivened their lives by yeomen services rendered to this institution. Many students of this Institution have rendered invaluable service in different spheres of activities for more than forty years. Education in all spheres is the goal of this institution. Not only has it fulfilled the desires and hopes of Acāryasrī by serving the students in Bombay, but the Vidyālaya has opened its branches in Ahmeda-

bad, Poona and Baroda also If Acāryaśrī had done nothing in the field of education except the foundation of Śrī Mahāvīra Jaina Vidyālaya, his name would have been a historic milestone for posterity as an outstanding pioneer of education amongst the Jainas This institution, started in a very humble and nobl way has now attracted the appreciative attention of the people of other faiths also This move, mooted more than forty years before, was a forerunner to starting of many social, cultural, religious and educational institutions in Gujarāt, Rājasthān, the Punjāb and many other states of undivided India This was due to the great efforts of Acāryaśrī. This serves as a valuable landmark in the cultural history of India

Inspite of his multifarious activities, literature did not escape his attention His poems inspired by original ideas are rich in meaning and deep with thought He was well-versed in astrology and mathematics Rich repositories of ld manuscripts, rare coins and other antiquities providing links with the ancient history always absorbed his mind He believed that many problems, confronting loose links of Indian History and Culture, would remain unsolved in the absence of a systematic research of Jaina Literature This erudite savant was anxious to start a research institute to bring to light the valuable storehouses of knowledge, now literally trapped in the ancient repositories, and to marshall the existing data in the framework of modern research Such efforts, he stated, would result in fertilizing the barren field of Jaina research and bring to the forefront the message propounded by Lord Mahāvīra

A SILENT PATRIOT

He was a patriot without ostensible fanfare He wore khaddar and was an ardent advocate of propagation of Hindi as national language *Swadeshism* found an echo in his speeches His illuminating address at a vast cosmopolitan gathering held some months before his death during the prohibition week in Bombay provided pointer t his growing popularity amongst all sections of the people Lucidity and effective presentation of the ideal of prohibition prompted many persons not only to give up wine but forgo all intoxicants

His speeches were always rip-roaring success, whether the occasion was an open air meeting or cloistered halls for religious discourses H was ready witted and always open to answer all questions Persons of all

faiths used to call on him, hear his talks and invite him to address meetings He solved the difficulties and problems confronting individuals and institutions He was fearless and outspoken in his views Behind this disciplined outlook, he was tender and soft to the distressed and unhappy It did not matter to which strata of society his callers belonged Direct contact helped him to know the pulse of the society During his stay in Gujarāt, he took active part in the Conference of Jaina *Sādhus* at Ahmedabad and gave an exemplary lead to establish unity and purity amongst the priestly class He disliked theories, doctrines, dogmas and principles based on wrong notions and aptitudes His views were revolutionary to a great extent This created misunderstandings, which were based on narrow outlook He never liked to slacken the rules and regulations, governing the austere life of a person, who has renounced this worldly life He was against all unnecessary expenses either in religious or marriage ceremonies He was against some of the deeprooted evils, which corroded the sinews of society He had an abhorrence for the custom of marriage dowry

THE SCHEME FOR THE MIDDLE CLASS

His last visit to Bombay proved memorable During his journey on foot through villages, towns and cities of the Punjāb, Madhya Bhārat, Gujarāt and Saurāṣṭra, he was deeply moved by the hard-stricken lot of the middle and the lower strata of the society He was preoccupied during the last months of his life in finding a solution of this unhappy state of affairs The problem of plenty and poverty was uppermost in his mind He urged generous minded persons to contribute large sums for the welfare and betterment of the aggrieved people Response was not encouraging, but he was not disheartened A target for collecting a token fund was fixed, and he decided to forgo milk, if the target was not reached within some days This decision gingered up all activities Men, women and children of all ranks and ages moved ceaselessly to collect funds Acārya Vijayavallabhasūri helped the campaign by delivering speeches in different wards of the city Sincere and unified efforts created a magic influence of unloosening the purse strings and the target amount was collected ahead of the scheduled hour ! This has been a unique incident from which the posterity and pessimistic workers will derive a great lesson of zeal and will It provided a pointer to the immense potentialities of this great stage

UNITY OF ALL FAITHS

During the unsettled period in the undivided Punjāb, officers and their families of all faiths held him in high respect Wives of many mili tary officers attended his lecture meetings and approached him for their doubts and problems His approach to all problems was based on eclectic, comprehensi and universal outlook which was a key to his popularity amongst people of all sects and faiths

In later stage of his l fe he took keen interest in fostering unity amongst all sects of Jainas He tood for removal of man-made divisions and sub-divisions To succeed in his erstwhile mission, he had started spade work years before All his discourses touched one focal point—unity amongst all sects of society He believed in religious toleration H translated abstract concept of humanism, freedom of life and religion into rational and practical service of social progress

'DO NOT BE INDOLENT O GAUTAMA

In Acāry s life one found pungent flow of spiritual practicability Decisiveness, resultant of natural power and vision, was a motivating force f his outlook on lif and soci ty He accepted Jainism as a rule of inner existence and inspiration for humanitarian activities 'Do not be indolent, O Gautama, even for moment—thus death-less message of Lord Mahāvira found touching echo in the daily lif of Acārya V jaya vallabhasuri He served humanity and religion in ts struggle for lasting peace friendship and unity not only amongst the people of his own faith but also amongst the general mass of humanity H loved and died for the welfare of mankind He worked ceaselessly for better-ordered society more just and freer mass f humanity His death on the night of 22nd September 1954 t the ge of eighty four cast a serious gloom in the vast ocean of mankind N ture also felt the od which was illustrative in the blue firmament, when the mortal remains of this devoted soul started on the last lap f his journey The lustrous human body of this great pioneer of educational and social reformation is no more but th ennobling ideals he left behind will remain so long as humanity lives H left message and mission His divine soul serves as beacon light to achieve success

आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रंथ

लेख-संग्रह : अंग्रेजी विभाग



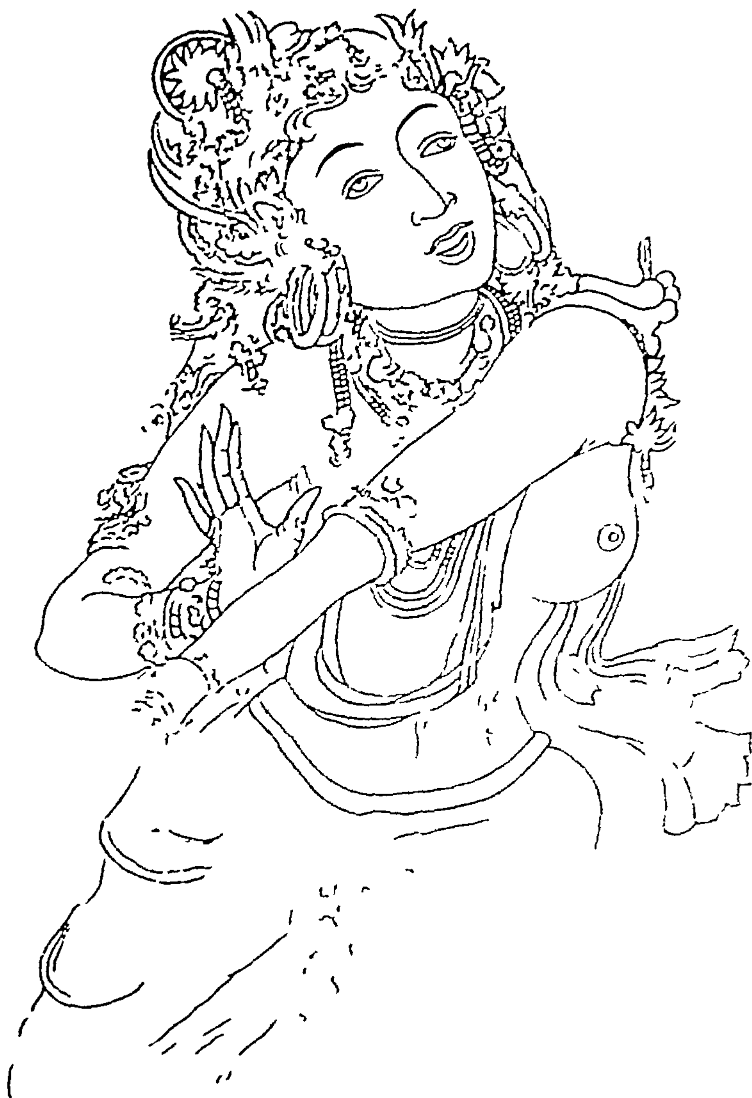
सपादक मडळ

डॉ. मोतीचंद्र, एम् ए, पीएच् डी (लटन)

डॉ. जगदीशचद्र जैन, एम् ए, पीएच डी

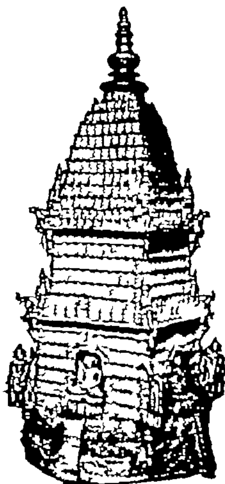
श्री. सी. जे. शाह, एम् ए

[



नर्तिका सित्तन्नवासल गुफाना निग्रामाटनी दीवालपरनु विश्वविख्यात रंगीन चित्र
जैनाश्रित काळानो एक नमूनो

Painted figure of a dancing girl on pillar of Sittannavasal Temple, (Pudukota)
c. 7th Century



[illegible] शिखर पाटण
१८मी सदीमां [illegible]
Bronze sculpture of Sahastrakuta Pata
N. Gujarat, 18th Century

छबीर : डॉ. [illegible]]



राणकपुर, चतुर्मुख [illegible] छतनुं संयोजित चित्र
A composite male figure in ceiling, Ranakpur

छबीर : श्री [illegible] मेहता]



उदयगिरिनी रानीगुफानी पथाळनो नमूनो
Portion of a frieze in the upper verandah, Rānigumphā, Udayagiri

कंकालीटीलाना वोद्वस्तूपना कलाविधाननो नमूनो
Pedestal of an image of Munisuvrata installed in the Vodva Stūpa, Kaṅkālītilā



विमल-वसहीनी एक छतनी अद्भुत वेलबुट्टी, आबु-बारमी सदी
Ornamental arabesque, ceiling of Vimala-Vasahi (Ābu) 12th Century

तस्वीर : श्री जगन मेहता]

STRUCTURAL EVOLUTION AND THE DOCTRINE OF KARMA

Dr HARI SATYA BHATTACHARYA, M A , B L , Ph.D

In the philosophical systems of India, the development of the organic frame has been held not to be the work of Matter exclusively Body has been generally described as the Bhogāyatana i e a frame in which certain pre-determined affective experiences (pleasurable or painful) are to be felt and its development has been held to be in strict accordance with those feelings which, though they are yet to be, are nevertheless pre-active It is said that the Senses of cognition and of action owe their peculiarity in each organism to Adrṣṭa, a super-physical prenatal force with its two modes or forms viz , Dharma and Adharma, i e beneficial or harmful The philosophers of the Sānkhya School refuse, of course, to look upon the Adrṣṭa as a force inherent in the soul, but this does not mean that according to them Adrṣṭa as the evolutionary factor, is to be identified with gross Matter or any thing grossly material In 20, Pradhāna-Kāryādhyāya of the Sānkhya Sūtras, Kapila definitely rejects the view that the Sense-organs and the Organs of Activity are Bhautika i e as consisting in gross Matter He characterises them as Ahamkārika. Ahamkāra, according to the Sānkhya philosophers, is no doubt an evolute from Prakrti or Matter But it is always to be remembered that Ahamkāra which consists in egoistic apprehensions and is practically Life in one of its essential aspects, does not arise from Prakrti in its purity i e from Matter as an absolute equilibrium of three material tendencies Ahamkāra, according to the Sānkhya philosophers is a supra-physical principle of Individuation, arising from Mahat which is Matter, thoroughly in-formed by spiritual effulgence and transformed beyond recognition Real organs of sense and of activity, according to the Sānkhya School are not made up of gross Matter but are super-sensuous centres evolved by Ahamkāra, the vital principle of Individuation, as modified in each case by the super-physical Adrṣṭa, with its pre-natal tendencies of Dharma and Adharma What we ordinarily call the Sense-organs e g , the ears, the tongue etc are brought about by those super-sensuous sense forces in and from gross organic matter

Whatever little taint of materialism may be suspected to attach to the Adrṣṭa of the Sānkhya philosophy as the efficient cause of the structural

evolution, the Adrsta as conceived in the Nyāya system, is absolutely free from it For although in direct opposition to the Sānkhya doctrine, the Nyāya thinkers hold that the Sense-organs are Bhautika i evolved from Matter they admit a distinctly super-physical principle as the 'efficient' cause of the organic evolution A foetus is, no doubt, developed from the seminal fluid of the parents but the seminal fluid does not in all cases develop the foetus From this, the Nyāya thinker argues that in order that the foetus may grow out of the seminal matter the hypothesis of Adrsta is necessary This Adrsta is a super-physical principle, working from two directions upon the germinal substance On the one hand, Adrsta is inherent in the parents,—a force which works upon the germinal matter of the parents towards the production of an offspring; on the other there is the Adrsta of the future offspring, a pre-natal force, operating upon the parental germinal fluid, for its embodied emergence According to the Nyāya philosophers, no foetus can grow out of the germinal substance, without the operation of this bilateral Adrsta and they contend further that each congenital peculiarity in an individual foetus is to be accounted for by the supposition of a corresponding peculiarity in the pre-natal Adrsta

As regards the nature of Adrsta, the Nyāya thinkers have left us in no doubt The Sānkhya philosophers held, as we have seen, that Adrsta was a force, inherent in Ahamkāra, a materio-vital principle, tinged with a form of reflected Consciousness The Nyāya way of thinking avoids this somewhat ambiguous position and points out in clear terms that Adrsta is inherent in the Atmā or the conscious principle, which persists through its varied embodiments To this Atmā, the Nyāya thinkers attribute, as w know conscious 'desire 'aversion 'effort 'feelings of pleasure and pain and cognition so that Adrsta attaching to Atmā and at the back of the organic evolution, implies that all congenital developments of and peculiarities in the embryo, are due to a pre-natal subconscious force, working upon the parental germinal matter in accordance with ts pre-determined inclinations and tendencies

The Nyāya view of the Adrsta is opposed to the doctrine that Adrsta i inherent in the Manas—a view which is tributed to the thinkers of the Sānkhya school W may also recall in this connection that we have called the principle that transcends the purely material basis, the principle of 'Life-cum-Consciousness' For reasons which need not be discussed here Manas, as conceived by the Naiyāyikas, may be taken

as an independent real principle, identifiable with Life, as distinguishable and detached from the conscious principle So that when the Nyāya thinkers contend that Adṛṣṭa does not inhere in the Manas but in the Atmā, their position is that the embryonic growth and development are not even determined by a purely vital force but always by a sub-conscious principle with its own aims, efforts and inclinations, pre-fixed,—the principle which modifies not only the germinal mass but the principle of life, operating upon it

Vātsyāyana's criticism of the doctrine, "that Adṛṣṭa is an attribute of the material atoms and that it accounts for their peculiar (atomic) activity, on account of which these atoms combine and constitute the (embryonic) body" is in the opinion of Vācaspati Misra and others directed against the Jaina theory According to the Jainas, it is the influx of the Karma of the class of Nāma into the Soul that determines the nature, the structure and the development of the Body We are told that it is the Gati, a sub-class of the Nāma-Karma, which determines whether a being would be a man or a lower animal The Jāti similarly accounts for an animal's having one, two, three, four or five senses The Śarīra and the Angopanga determine the nature of the Body and its limbs and sub-limbs Their actual locations and dimensions are settled by the Nirmāna-Karma, while the Bandhana and the Samghāta Karmas determine the combination and the interfusion of the various molecules in the formation of the Body and its various parts The figure of the Body is said to be accounted for by the Samsthāna-Karma while its osseous structure is the work of the Samhanana It is said that the powers of the touch, of the taste, of the smell, as well as the complexion of the Bodies are also determined by the various modes of the Nāma-Karma Karma determines similarly the powers of motion and of respiration in a Body Whether the Body is to be mobile or immobile, whether it is to be the abode of one soul or of a number of souls, whether it will be attractive or otherwise, whether the voice would be pleasing or harsh etc, etc, are all said to be determined by the Kārmic force It is said that the death of a Body without being fully developed, is due to the operation of what is called the Aparyāpti-Karma It is the Paryāpti-Karma which accounts for the various manners of organic development Thus the requisite bodily molecules are collected, owing to the Ahāra-paryāpti, the Śarīra-paryāpti develops the Body as a whole while the development of the Senses is due to the Indriya-paryāpti The

Prāṇāpāna-paryāpti develops the organs of respiration the vocal organs are accounted for by the Bhāṣā-paryāpti the organs of the mind are developed by the operation of the Manah paryāpti The Sthira-Karma makes steady the functions of blood-circulation etc while the Asthira makes it unsteady According to the Jainas, all physiological phenomena connected with the evolution of the body are thus determined by what they call the Nāma-Karma The Nāma-Karmas are primarily divided into 42 kinds, which with their sub-classes are 93 in number. The Karma which is thus at the root of organic evolution is held by the Jainas to be Paudgalika or material in nature,—so that there are apparent grounds for holding that according to the Jainas, it is Matter and the Material forces that bring about the Body and its parts with all their peculiarities In fact, the Jainas use the expression Adrsta in the sense of the determining cause of animal origination and call it Paudgalika in opposition to the Nyāya view of it as a power pertaining to the Soul.

With all this, however one may justly doubt if the above charge of Vācaspati and others against the Jaina theory of organic evolution is well founded The Jainas, of course, emphatically deny that they leave the course of structural evolution to the operation of Matter alone The embodiment of the Soul in a Body according to them, is due to what they call Yoga which is a sort of peculiar vibration, as it were, set up in the Soul, in connection with the corresponding vibrations in the Body the Mind and the Organ of Speech. It is further said that in order that the said embodiment may be possible, it is not only necessary that the requisite organic matter should be near at hand to the psychical principle but that the latter should also be rid of the Vīryāntarāya-Karmas i forces which obstruct its power of shrouding itself in proper Body and similar powers regarding its limbs and sub-limbs The Yoga which causes Asrava actual influx of proper organic matter into the Soul and the consequent Bandha (literally the bondage of the Soul in the material Body but physiologically—the actual formation and development of the Body) thus requires the suitableness in the formative Matter and responsive activity in the psychical principle to take it in. The Asrava, however is the way which introduces the organic matter—just as a channel, as the Jainas describe it, lets in the outside water and the Yoga is the internal activity modifying the state of the Soul in correspondence with the character of the in-coming organic matter But in order that

the organic matter may be thoroughly assimilated to the Soul, the Soul must be supposed to have a basic tendency, an inclination or aptitude in itself for the said assimilation This fundamental proneness in the soul for assimilating or absorbing the organic matter peculiar in each case, is called Kaṣāya or passion, by the Jainas Referring to this basic and ultimate causality of the Kasāya in the matter of structural evolution, Akalanka lucidly says —

> "Just as a wet cloth catches in itself the dust brought towards it by winds from all sides, so does the soul, wet with Kasāya absorb in all its parts the Karma (Organic matter), introduced by the Yoga Or, just as a red-hot iron-ball when thrown into (a pot full of) water, fully absorbs in itself the water (of the pot) so does the soul, filled with Kasāya, completely take in the Karma brought by the Yoga"

It may thus appear that the Jaina philosophers also believe in an immaterial factor, required for the structural evolution in an animal, over and above the organic matter

The dualistic systems of India thus maintain that the congenital differences in structure and other matters in animals, are due to the differences in the pre-natal super-organic forces that work upon the organic matter and shape it into the usual forms Even the monistic Vedānta admits the causality of these pre-natal forces Inspite of its acosmistic position, the Vedānta concedes that for all practical purposes, the World must be accepted as real From the practical standpoint, the animals are to be supposed to have their origination and God, to be their creator The question, therefore, arises How are the differences in animals to be accounted for ? Is God to be supposed to have meted out differential treatment to the different animals, owing to an unkind spirit of absolute indifference in him ? The theistic Nyāya was confronted with the same criticism and the Vedāntist reply to it, absolving God from the charge of unkindness in meting out unequal treatments to creatures is as that given by the Nyāya

> "Inequality in creatures" says Śankara, "is due to the fact that God, in creating, is not free but is dependent on other factors If you ask as to what other factors the creator had to rely on, we would say, he was dependent on the Dharma and the Adharma (the super-organic pre-natal forces, determining the forms and characters of

different animals from before their birth) God is only the common moving cause The differences in the animals are caused by the differences in the Karmas inhering in these animals

The same efficiency of the Dharma and the Adharma as ante-natal causes, determining the peculiar characters of the animals, is acknowledged by the Buddhists,—at the obvious sacrifice of their fundamental doctrine of the absolute momentariness of all phenomena The origin of an animal is not attributed to organic matter alone by the Buddhists According to them, as Vācaspati points out,—

> *Bhava means the Dharma and the Adharma and is so called because to it the Bhava or origination is due The origination of Skandha i e the animal Body is caused by that (i e the Bhava consisting in the Dharma and the Adharma)

The Bhava as the transcendental force, working upon the organic matter for the origination of the animal Body is peculiar in each case and is otherwise called the Vāsanā



THE FIGURES OF THE TWO LOWER RELIEFS ON THE PĀRŚVANATHA TEMPLE AT KHAJURĀHO

DR KLAUS BRUHN, PH.D

Bibl B L Dhama and S C Chandra, Khajurāho (Published by the Manager of Publications, Delhi 1953), p 36

INTRODUCTION

The present article is a specialized study of the iconography of one of the Jaina temples at Khajurāho, but an attempt has been made in the last paragraphs to utilize the results for some general conclusions concerning iconography as subject and as method

A general description of the Jaina temples, especially of the Pārsvanātha temple, is given in Dhama/Chandra's monograph

(p 28) "The Jaina temples are situated to the south-east of the village [Khajurāho] They are, on the whole, architecturally similar to the Brāhmanical examples except that the balconied openings of the transcepts, such pronounced features of the other group, are absent here In the Pārsvanātha temple, however, to admit light into the *maṇḍapa* and the *pradakṣina-patha*, small perforated windows have been introduced on all the sides"

(p 31) "The Pārsvanātha temple is the largest and finest of the Jaina temples now surviving at Khajurāho It is 68 ft 2 in long and 34 ft 11 in broad and faces east The addition of a little shrine to the back of the sanctum is a distinguishing feature The portico preceding this shrine is no longer extant Internally, the temple consists of three chambers, the *mahāmaṇḍapa, antarāla* and *garbhagṛha* These chambers are surrounded by a common ambulatory passage"

To my knowledge only a small plan of the temple has been published so far (by Cunningham in the 10th Vol. of the Reports of the Archaeological Survey of India, Plate VIII) Our plans on p 10 are only meant as guide to the sculptures

Of the three reliefs only the two lower ones are of interest for the student of iconography, the figures of the third one being of quite a

different character In rare cases the figures of the second relief reflect conceptions of the third relief just as the third relief contains some figures similar to those on the two lower panels The sculptures of the superstructure could not be studied because they were inaccessible —The maximum height of the lower figures (1st relief) is about 35 in the maximum height of the upper ones (2nd relief) about 25 in The figures on the walls of the back-shrine (sections VI and VIII in plan 3) are slightly smaller in the lower row and considerably smaller (height about 15 in) in the upper row —All figures in the two lower panels are standing Whereas the women engaged in particular actions (removing f a thorn etc) are seen in different ttitudes, all the other figures show a more or less pronounced *tribhanga* The subsidiary yakṣiṇīs on slab III 4^u and XI 18^u are seated in *lalitāsana* The dwarf IV 10^u stands with crooked legs, and the three musicians VIII 3^u sit The tīrthaṁkaras are either standing or sitting —All the sculptures of the temple are in a very good state of preservation

In the big plan (1) with distorted proportions the different figures are marked by T(īrthaṁkara) D(ikpāla) M(ale) F(emale) V(yāla) W denotes a window and special niches ar indicated by frame Over the figures in the recesses there appears a (—) whereas a (+) is put over the figures on the projections Since combinations (MF FM, MMM, MFM, FMF) are very common, we have separated by an oblique (M/F) figures which are grouped together in the same recess or on the same projection, but are not connected with each other —The Roman number always refers to the section (see plan 3) the Arabic number to the place within the section, the letters u and l to the upper and lower reliefs The reading of the figures goes from right to left (even if different sculptures are arranged on one and the same panel) but from left to right in the case of combined figures as couples etc The reading of the attributes goes from left to right and from top to bottom

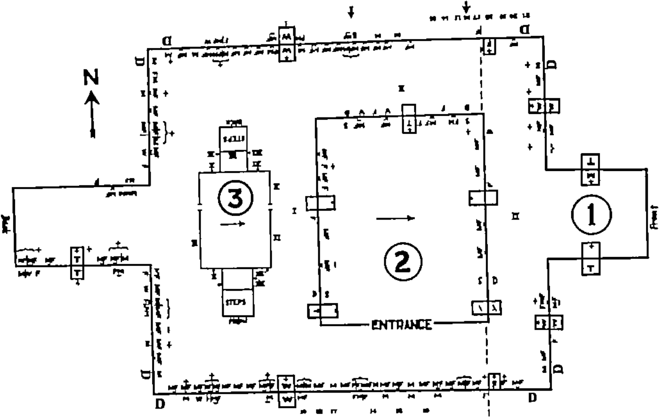
The sculptures on the outer walls of the *garbhagṛha* are marked in the same way as those on the walls of the *maṇḍapa* and *pradakṣiṇāpatha*, but for reasons of the context the eight single male figures have been specified as S (Śiva, see plan 2 for *garbhagṛha*)

In the 'Description nd Interpretation given below the sculptures are defined by a name, Roman number a question mark, or '0' (zero) In the last case the figure has no 'iconographical value' and, accordingly no

individuality (see below) Figures provided with a question mark m a y have individuality, but no identification was possible The Roman numbers refer to certain types of sculptures (type with Śiva-iconography, type characterized by lotus and citron, and so on) As some of the types are of a very doubtful character and as the assignment to a type is often questionable, we might have marked many figures with a '?' or '0' as well as with a number On the other hand in many cases 'I' and 'II' means almost the same as 'Śiva' and 'Viṣnu', and only because of the gradual transition to less and less distinct Śivas and Visnus which makes a decision often difficult the names are always avoided Some figures, however, are explained by a name, not because of especially correct iconography but because transitional figures are not represented so that it was not necessary to introduce a special 'type'

In the 'Statistics' the members of the types are listed In the case of types I and II those figures are mentioned first which bear the greatest resemblance with these gods, and the figures with few 'iconograms' peculiar to them are enumerated later By 'iconogram' (in opposition to a mere attribute) I mean any feature (*mudrā, āsana,* attribute etc) which identifies a being either as an individual strictly speaking (e g Ṛṣabha generally to be recognized by the hair-locks) or as a member of an individual group (e g tīrthamkaras largely to be recognized by their nudity) As some iconograms found with the sculptures of our temple (lotus, '*padmasarpa*', snake, citron) have spread from certain figures to others they cannot, in a n y context, be taken as significant They appear along with statues to whom they originally do not belong (Śiva and Viṣnu with citron) or are found isolated (couple with '*padmasarpa*' as sole attribute), and they lose, accordingly, their significance even in the proper context (lotus along with *cakra* gives no sufficient evidence that the figure is actually meant to be Visnu). Especially figures with s u c h iconograms are defined by '?', '0' or are enumerated at the end of the lists for type I and II.

For terms not explained here refer to Notes



PLANS 1-3

DESCRIPTION AND INTERPRETATION OF THE FIGURES

A THE FIGURES ON THE OUTER WALLS OF THE MANDAPA

I /
T (— —) standing

II 1 F = ?
āmraphala (?) /kaṭi or paṭa
no sculpture

II 2 FMF = 0
beard (M) /head (M) //neck (1stF) /r l arm (1stF) //n r /l u arm (M)
MF M = V F = 0
dhanuskarṣana/dhanus/ /ālingana (kaṇṭha) /pustaka
padma/ālingana

II 3 window
window

II 4 F = 0
bījapūra/pata
F = ?
/ /padmasarpa or padma rolled up

II 5 MF = 0
kaṭi/ālingana//ālingana (kaṇṭha) /padmasarpa
V

II 6 M = III (padmapāni)
padmasarpa/padmasarpa
bījapūra/kaṭi
M = dikpāla (E) Indra (elephant)
gadā (perhaps mutilated ankusa) /sarpa (3)
padmapāni (form *b*) /vajra

III 1 M = I (apasmārapurusa, padmapāni)
trisūla/padmasarpa
abhaya/kamandalu (hanging)
M = dikpāla (SE) Agni (mesa, knotted beard)
gadā (sakti ? sruk ?) /pustaka (?)
akṣamālā/kamaṇḍalu (hanging)

III 2 MF M = II F = 0
śankha/cakra/ (ring) //ālingana (kaṇṭha) /darpana
gadā/ālingana
V

III 3 F = 0
bījapūra/paṭa
F = 0
pointing downwards with stretched/pustaka
forefinger and middle finger (as teaching)

III 4 s. p. 24

III 5 F = 0 ?
padma (full-blown, stalk) or cakra (stick)/paṭa
F = 0 (n.f.)
removing a thorn from her foot

III 6 MF = 0
= II 5* but darpaṇa instead of padmasarpa
V

III 7a* F = 0
paṭa/padmasarpa

III 7b* M = II
padma (half-opened, stylized)
resting on gadā

III 7 M = (vāhana)
abhaya/kamaṇḍalu (hanging)

III 8 MF M = IV F = 0
padma (half-opened, stylized, stalk)/n.r.//āl (kaṇṭha)/padmas
bījapūra/āliṅgana
V

III 9 MF M = I F = 0
padma (half-opened, stalk)/sarpa (1)//āl (kaṇṭha)/darpaṇa (?)
kaṭi/āliṅgana
M = I (Nandi)
triśula/sarpa (3)
padma (bud)/kaṭi

III 10 MF = 0
= II 5* but paṭa (hand lifted up) instead of padmasarpa
V

III 11 M = III
padmasarpa/padmasarpa
kaṭi/padma (half-opened)
M = I
padma (bud)/sarpa (1)
downwards/padma (half opened, stylized)

III 12 MF = 0
= II 6* but darpaṇa instead of padmasarpa
V

III 13 MF = 0
= II 5[u]
M = I
padmasarpa/sarpa (1)
padma (half-opened, stylized)/kamandalu

III 14 FM F = 0 M = ?
bījapūra/n r // ? /padmasarpa
ālingana/kati
V

III 15a[u] FMF = 0
kati/ālingana//āl (kaṇṭha)/āl (kaṇṭha)//āl (kaṇṭha)/pustaka

III 15b[u] F = 0
pata/hand bent downwards, animal (probably bird) on wrist

III 15a[l] F = 0
paṭa/kaṭi

III 15b[l] FM F = 0 M = Balarāma (7 snake-hoods)
padmasarpa/ālingana (kaṇṭha)//kamaṇḍalu (resting)/hala
ālingana/kaṭi

III 16 MF = 0
varada (towards the F)/ālingana (kaṇṭha)//āl (kaṇṭha)/paṭa
V

III 17 M = III
= III 11[u]
F = 0
painting the eye/darpana

III 18 MF = 0
varada (towards the female)/ālingana//āl (kaṇṭha)/?
V

III 19a[u] M = VI
bundle of lotus-stalks (with buds)/padmasarpa
kaṭi/padma (half-opened, stylized)

III 19b[u] M = IV
padma (half-opened, stalk)/padmasarpa
bījapūra/kaṭi

III 19[l] MF M = II F = 0 (photo)
śankha/cakra //ālingana (kaṇṭha)/darpana
padma (half-opened)/ālingana

IV 1 window
window

IV 2a* F = 0
bent downwards/padmasarpa

IV 2b* MF M = I F = 0
padmasarpa/sarpa (1)//Il (t)/padma (full-blown, stalk)
kaṭi/āliṅgana

IV 2¹ FM F = 0 M = Kubera (?) (photo)
padmasarpa/āliṅgana (kaṇṭha) //nakula/padmasarpa
āliṅgana/resting on gadā
creeper between F and M (padmapāṇi)

IV 3 MF = 0
= II 5*
V

IV 4 MF M = I F = 0
padmasarpa/sarpa (1) // āliṅgana (kaṇṭha) /bījapūra
kaṭi/āliṅgana
F = Ambikā
lumbi/śiśu

IV 5 MF = 0
left hand (F)/l shoulder (F)//r shoulder (M)/r hand (M)
V

IV 6a MF M = IV F = 0
padmasarpa/padma (half-opened) //r shoulder (M) /padmasarpa
bījapūra/āliṅgana

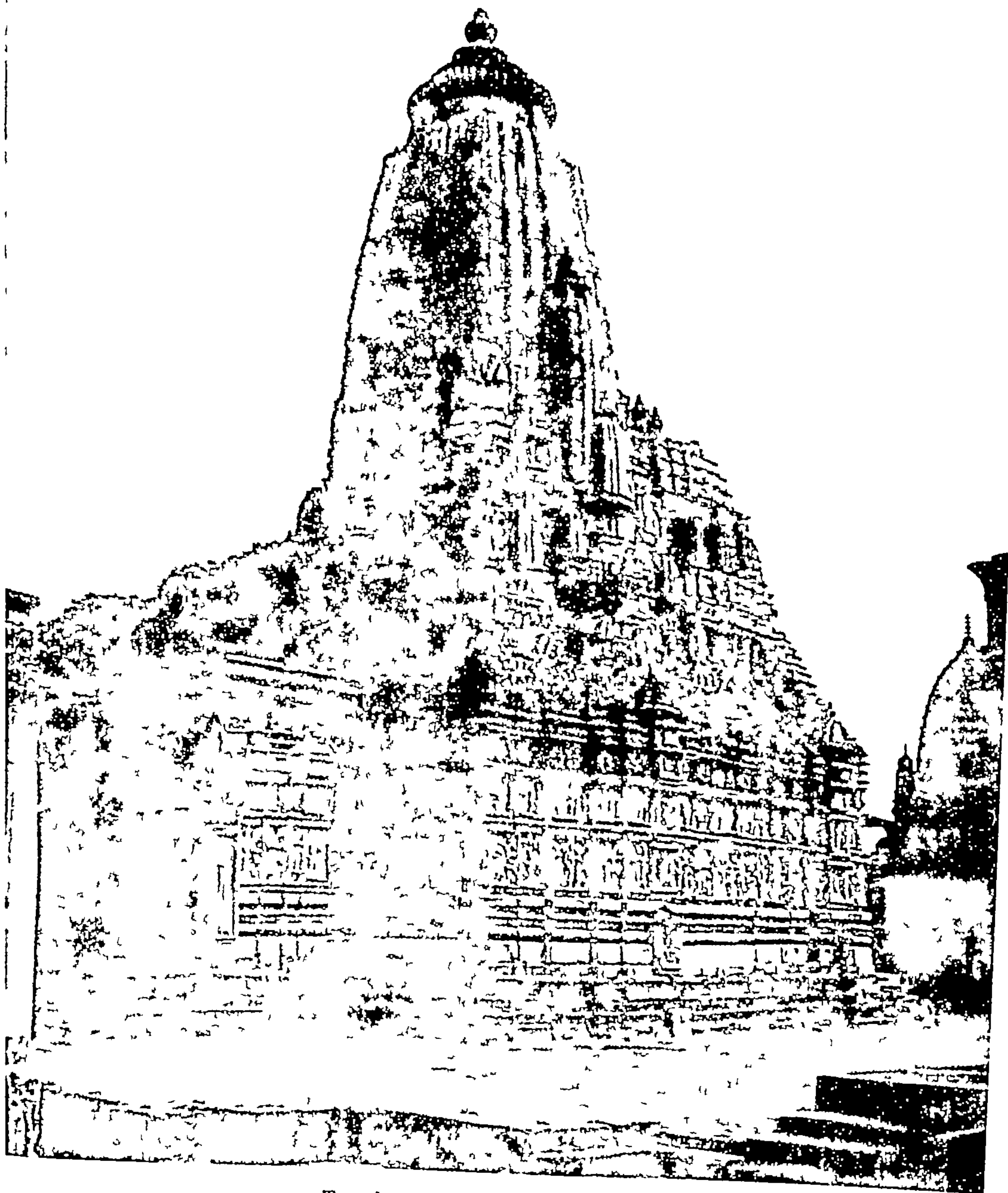
IV 6b* MF M = V F = 0
dhanuṣkarṣaṇa/āliṅgana//r houlder (M) /padmasarpa

IV 6a MF M = II F = 0
cakra/śaṅkha //āliṅgana (kaṇṭha) /padmasarpa
resting on gadā/āliṅgana

IV 6b¹ F = 0 (n f)
touching the ear with her right hand

IV 7 MF M = I F = 0
sarpa (1) /śakti//āliṅgana (kaṇṭha) /padma (full-blown, stalk)
padma (bud) /n r
window

IV 8 MF M = I F = 0
padmasarpa/sarpa (1) // shoulder (M) /bījapūra
abhaya/āliṅgana



Temple of Pārśvanatha Khajurāho

Photo R Bharadwaj]

1 IV 2[1] The Figures of the two lower reliefs on the Parsvanatha Temple at Khajuraho 2 III 19[1]

Photos Dr Klaus Bruhn]

M = I (Nandı)
padma (rolled up, anımal ın calyx) /sarpa (3)
kaṭi/padma (bud)

IV 9 MF = 0
= II 5u
V

IV 10 M = dwarf
creeper ın both arms (padmapānı)
M = dıkpāla (S) Yama (beard and moustache, skull and snakes on the head)
padma (bud) /pustaka
khaṭvānga (anımal on top) /abhaya (bırd on wrıst)
mrga (?)

V 1 M = II
abhaya/sankha
restıng on gadā/ /
M = dıkpāla (SW) Nirṛtı (naked, snakes round the neck and round the arms)
padmasarpa/sarpa (1)
khaḍga/sıras
svan

V 2 MF M = II F = 0
restıng on gadā/ālıngana//ālıngana (kantha) /padmasarpa
V

V 3 MF M = IV F = 0
padma (half-opened) /padmasarpa//ālıngana (kantha) /pustaka
bījapura/ālıngana
M = I (Nandi)
padmasarpa/sarpa (3)
akṣamālā/kamandalu (hangıng)

V 4 MF = 0
= II 5u
V

V 5au MF M = II F = 0
gadā/padma (half-opened, stylızed, stalk) //āl (kanṭha) /downw
bījapūra/ālıngana

V 5bu M = II
padmasarpa/cakra
restıng or gadā/sankha

V 5a[1] FM F = 0 M = II
padma (?)/n.r. // cakra/śankha
āliṅgana/resting on gadā

V 5b[1] F = 0 (n.f.)
o n e long lotus-stalk (with bud) carried by both arms

V 6 IF M = VI F = 0
padma (half-opened, stalk)/padmas //āl. (kantha)/darpaṇa
padma (bud)/āliṅgana
window

V 7 IF M = II F = 0
resting on gadā/l.shoulder (F) // n.r./padmasarpa
F = 0 (padmapāṇi)
bījapūra/downwards

VI (all figures smaller in size, refer to Introduction)

VI 1a* M = 0
kaṭi/padma (bud) or bījapūra

VI 1b* IF = 0
= II 5*

VI 1 FM F = 0 M = II
darpaṇa alaṃkāra (kantha)//cakra (ring)/padma (half-op. stalk)
āliṅgana/śaktighanta

VI 2 MF = 0
kaṭi/n.r. / n.r. padmasarpa
V

VI 3 F = 0
paṭa/padmasarpa
F = 0 (n.f.)
bo h hands holding braid of hair

VI 4 T(— —) seated
T(— —) standing

VI 5 F = 0
paṭa padmasarp or padma (full-blown, stalk)
F = 0
paṭa/hand bent downwards (with bird on wrist)

VI 6 MF = 0
touching his own breast/āl.// (kantha)/between the legs
V

X 3 M = II
sankha/padma (half-opened)
resting on parasu/cakra
M = I
trisūla/padmasarpa
bījapūra/kaṭi

X 4 MF M = II F = 0
dhanuṣkarṣana/padma (half-opened)//āl (kaṇṭha)/padmas
resting on gadā/ālingana
window

X 5a[u] FM = 0 (creeper between F and M, = padmapāni)
stick kept in pātra/r l arm (M)// pātra/padma (bud) (?)

X 5b[u] M = III
padma (bud, stalk)/padma (bud, stalk)
kaṭi/bījapūra

X 5a[l] MF M = Kumâra ? F = 0
sakti/ālingana //ālingana (kaṇṭha)/padmasarpa
kaṭi/sakti (one weapon in two arms)

X 5b[l] F = 0 (n f)
engaged in her toilet

X 6 MF M = VI F = 0
padmasarpa/padma (bud, stalk)//ālingana (kantha)/padmasarpa
kaṭi/ālingana
V

X 7 MF M = I F = 0
padma (half-opened, stylized, stalk)/sarpa (1)// āl (k)/bījap
bījapūra/ālingana
F = 0 (n.f)
removing a thorn

X 8 MF M = I F = 0
M = III 9[u] // ālingana (kaṇṭha)/padmasarpa
V

X 9 FM F = 0 M = ?
padmasarpa/ālingana (kaṇṭha)//n r /cakra
ālingana/kaṭi
either cakra with three snake-hoods on top or bundle of lotus-stalks (cf VIII 3[l]) with cakra below the buds
MF M = I F = 0
padmasarpa/sarpa (3) //ālingana (kaṇṭha)/darpana
padma (bud)/ālingana

IX 3b[a] F = 0 (animal to her right)
hand touching right cheek (fore-finger and middle finger stretched upwards) / pustaka

IX 3c[a] M = III
padmasarpa/padmasarpa
bijapūra/kati

IX 3a[1] F = 0 (n.f.)
stick/collyrium vessel

IX 3b[1] MF M = II F = 0
/ /cakra//ālingana (kantha) padma (half-opened, stalk)
/ /ālingana

IX 4 MF = 0
= II 5[a]
V

IX 5 MF = 0
bijapūra/ālingana // ālingana (kantha) /pātra (?)
M = I (Nandi)
padmasarpa/sarpa (1)
/ /kati

IX 6 FM F = 0 M = ?
padmasarpa/ lingana//n.r /padma (bud, stalk)
ālingana/kamandalu (resting)
V

IX 7 M = II
padmasarpa / /
resting on gadā / /
M = dikpāla (W) Varuna
pāsa/padmasarpa
kati/kamandalu (hanging)

X 1 M = II (padmapāni)
padma (half-opened, stalk) cakra (stalk)
abhaya/kati
M = dikpāla (NW) Vāyu (mrga)
ankusa/pustaka (dhvaja ?)
varada/kamandalu (hanging)

X 2 MF M = II F = 0
sankha/sarpa //touching sankha (or neck) of M/padma
resting on gadā/n.r (half opened, stylised, stalk)
V

X 3 M = II
sankha/padma (half-opened)
resting on parasu/cakra
M = I
trisūla/padmasarpa
bījapūra/kaṭi

X 4 MF M = II F = 0
dhanuskarṣana/padma (half-opened)//āl (kaṇṭha)/padmas
resting on gadā/āliṅgana
window

X $5a^{u}$ FM = 0 (creeper between F and M, = padmapāṇi)
stick kept in pātra/r l arm (M)// pātra/padma (bud) (?)

X $5b^{u}$ M = III
padma (bud, stalk)/padma (bud, stalk)
kaṭi/bījapūra

X $5a^{l}$ MF M = Kumāra ? F = 0
sakti/āliṅgana //āliṅgana (kaṇṭha)/padmasarpa
kaṭi/sakti (one weapon in two arms)

X $5b^{l}$ F = 0 (n.f)
engaged in her toilet

X 6 MF M = VI F = 0
padmasarpa/padma (bud, stalk)//āliṅgana (kantha)/padmasarpa
kaṭi/āliṅgana
V

X 7 MF M = I F = 0
padma (half-opened, stylized, stalk)/sarpa (1)// āl (k)/bījap
bījapūra/āliṅgana
F = 0 (n f)
removing a thorn

X 8 MF M = I F = 0
M = III 9^{u} // āliṅgana (kaṇṭha)/padmasarpa
V

X 9 FM F = 0 M = ?
padmasarpa/āliṅgana (kaṇṭha)//n r /cakra
āliṅgana/kaṭi
either cakra with three snake-hoods on top or bundle of lotus-stalks (cf VIII 3^{l}) with cakra below the buds
MF M = I F = 0
padmasarpa/sarpa (3) //āliṅgana (kaṇṭha)/darpana
padma (bud)/āliṅgana

XI 1
window
window

XI 2
MF M = VI F = 0
padma (half-opened, stylized, stalk) /padmasarpa or padma (full-blown, stalk)
downwards/l. shoulder (F)//
āliṅgana (kantha) /bījapūra
FM F = 0 M = Brahma (3[= 4] heads, beard, padmap)
padmasarpa/āliṅgana (kantha) //śakti (sruk?) /pustaka
āliṅgana/kaṭi

XI 3
MF = 0
1 hand (F)/ hand (F) //beard/pustaka (?)
V

XI 4
MF = 0
= II 5a
F = 0 (n.f. padmapāṇi)
engaged in her toilet

XI 5
MF = 0
= II 5a
V

XI 6a
M = II
śaṅkha/padmasarpa
bījapūra/resting on mace

XI 6b*
MF = 0
= II 5a

XI 6c
MF M = Agni (beard) F = 0
daṇḍa/śikhā //āliṅgana (kantha)/padmasarpa
dhanuṣkarṣana/āliṅgana

XI 7
MF = 0
= II 5a
V

XI 8
MF = 0
= II 5a but pustaka instead of padmasarpa
M = I (Nandi)
sarpa (?)/padmasarpa
kaṭi/bījapūra

XI 9
MF M = F = 0
= II 5a but 'resting on ?' instead of 'kaṭi'
V

XI 10 M = II
kaṭi/sankha
M = VI ?
padmasarpa/padma (bud) (?)
abhaya/kaṭi

XI 11 MF = 0
= II 5u, but pustaka instead of padmasarpa
V

XI 12 M = ?
pustaka (?)/abhaya
kaṭi/padmasarpa
M = II
padmasarpa/sankha
bījapūra/resting on gadā

XI 13 FM = 0
padma (?)/āliṅgana (kaṇṭha)//n r /kaṭi
V

XI 14 M = II
padmasarpa/padma (half-opened, stalk)
resting on gadā in varada pose/bījapūra
M = IV
padma (bud)/padma (full-blown, stalk)
bījapūra/kaṭi

XI 15 F = 0 (n.f)
shown from the back
V

XI 16 M = I (Nandi)
padma (half-opened) (?)/sarpa (3)
abhaya/kamaṇḍalu (hanging)
no sculpture

XI 17 M = I (Nandi)
gadā/sarpa (3)
abhaya/kamandalu (hanging)
F = 0
lekhanī/pustaka

XI 18 s p 24

XI 19 F = 0
paṭa/padmasarpa
F = 0 (n.f)

XI 20 MF M = IV F = 0
padmasarpa/pata //āliṅgana (kantha)/darpana
bījapūra/āliṅgana
V

XI 21 M = (Brahma)
śakti (sruk)/pustaka
sort of varada/kamandalu (hanging)
M = dikpāla (N) Kubera
padmasarpa/pustaka (?)
bījapūra sarpa (1)

XII 1 M = I
triśula/padmasarpa
akṣamālā/kamandalu (hanging)
M = dikpāla (NE) Iśana (Nandi)
śakti/sarpa (?)
akṣamālā/kamandalu (hanging)

XII 2 MF = 0
l hand (F)/aliṅgana (kantha)//āl (kantha)/in right hand (M)
V

XII 3 F = 0
pata/padmasarpa
F = 0
padmasarpa/downwards

XII 4 window
window

XII 5 FMF = 0
bījapūra/l shoulde (M)//āliṅgana (1st F)/āl (k 2nd F)//
r shoulder (M)/b japūra
MF M = II F = 0
/ / śankha // aliṅgana (kantha)/padmapāṇi (cakra before
kaṭi/aliṅgana creeper cf X 9=)

XII 6 F =
/ / bījapūra
no sculpture

XIII M = III
padma (half-opened)/padma (half opened)
resting on gadā/bījapūra
T(—,—) standing

B THE FIGURES ON THE OUTER WALLS OF THE GARBHAGRHA

a *The dikpalas* (order of succession r u arm/l u //r l /l.l)

Indra ankusa/padma (half-opened, stalk)//kaṭi/vajra (gaja)
Agni sakti (sruk?)/pustaka(?)//abhaya/kamandalu (hanging) (beard, mesa)
Yama pustaka/sarpa(1)//kaṭi/khaṭvānga (moustache, mrga?)
Nirṛti / /sarpa(1)//khaḍga(?)/siras (sarpa on the head, round the neck, and round the arms, śvan)
Varuna pustaka(?) / / // kaṭi/? (vāhana)
Vāyu mālā (dhvaja?) kept in both upper arms// gadā (ankusa?)/kamandalu (hanging) (hirana)
Kubera padmasarpa/padma (half-opened)//kaṭi/nakula (vāhana)
Isāna sarpa/padma (half-opened)//trisūla / / (padmapāni, Nandi)

b *The Śivas* (order of succession as in a)
trisūla/sarpa(1), but I 2, I 13, II 11, III 12 sarpa (3)
akṣamālā/kamandalu (hanging) (Nandi)

c *The couples* (all [except II 10] MF, all = 0, all only two arms)

I 4u = II 5u (of manḍapa), but paṭa instead of padmasarpa
I 6u kaṭi/ālingana (kanṭha)//n r /beard of the male
I 10u = II 5u, but padma (half-opened, stalk) instead of padmasarpa
I 12u right arm of the female/ālingana (kanṭha)//paṭa/abhaya
II 2u = II 5u, but padma (bud, stalk) instead of padmasarpa
II 4u left arm of the female/āl (kanṭha)//āl (kanṭha)/srnkhalā(?)
II 8u left hand of the female/ālingana//āl (kanṭha)/hand empty
II 10u (FM) right thigh of the male/paṭa//ālingana (kanṭha)/?
III 2u right arm of the female/ālingana (kantha)//touching her left breast/downwards
III 4u dhanuṣkarsana/ālingana//ālingana (kanṭha)/pustaka
III 8u maithuna
III 10u outer hands put into one another, inner h on outer shoulders

d *The female figures* all = 0, all n f

e *The tīrthamkaras etc*

I 1 lower panel T(——), upper panel Bāhubalin
I 8 l p T(——), u.p T(——)
II 6 l p T with ardhacandra (= Candraprabha), u p T with makara (?, = Suvidhi ?)
III 6 l p T with makara (?), u p T (——)

C THE FIGURES IN THE NICHES AND ON THE LINTELS

All figures are female, all except III 4^{m} (middle) III 4^{l} XI 18^{m} (middle) and XI 18^{l} in lalitāsana

a *The figures in and below the two niches III 4^{m} and XI 18^{m} on the outer walls of the maṇḍapa*

III 4^{m} — *left figure* = Sarasvatī?
padma (half-opened, stylized)/pustaka
abhaya/bījapūra
middle figure = Lakṣmī ?
/ / padmasarpa
abhaya/kamaṇḍalu (hanging)
right figure = Cakreśvarī?
cakra (stick)/padma (half-opened, stylized)
dhanuṣkarṣaṇa/kamaṇḍalu (resting)

III 4^{l} — =
padmasarpa / /
varada / /

XI 18^{m} — *left figure* =
padma (?)/padma (half-opened, stalk)
abhaya/bījapūra
middle figure = Brahmāṇī (3 [= 4] heads)
/ / /
/ / /
right figure = Lakṣmī ?
padma ( )/padma (half-opened, stalk)
abhaya/kamaṇḍalu (resting)

XI 18^{l} — = Lakṣmī
padma (half-opened, stalk)/padma (half-opened, stalk)
/ / śaṅkha

b *The fig es in th two n hes b low th l efs*

south wall of the maṇḍapa — = Sarasvatī
padma (half-opened, stalk)/pustaka
v ī ṇ ā
varada/kamaṇḍalu (hanging)

north wall of the maṇḍapa — = Sarasvatī (haṃsa)
rolled up padma/rolled up padma
✓ / ✓
animals inside the two padmas

c The figures on the three door-lintels

door-way of the maṇḍapa	*left figure* = Brahmāṇī (3 [= 4] heads, haṃsa) sakti/pustaka / / kamaṇḍalu (resting) *middle figure* = Cakreśvarī (Garuḍa) padma (?)/cakra cakra (ring) dhanus gadā/kheṭaka khaḍga/gadā abhaya/śaṅkha *right f.* = Brahmāṇī (3[= 4] heads, haṃsa?) sakti/pustaka bījapūra (?)/kamaṇḍalu (hanging)
door-way of the garbhagṛha (both figures on the walls in r angle to the lintel)	*left figure* = Lakṣmī padma (full-blown, stalk)/padma (f., st.) abhaya/kamaṇḍalu (resting) (elephants on the padmas facing each other) *right figure* = Sarasvatī padmasarpa/pustaka v ī ṇ ā
door-way of the back-shrine	*left figure* = Sarasvatī padmasarpa/pustaka v ī ṇ ā *middle figure* = Lakṣmī padmasarpa/padmasarpa / / kamaṇḍalu (hanging) *right figure* = Sarasvatī padmasarpa/pustaka varada/kamaṇḍalu (hanging)

STATISTICS

(The figures described under B c-e are left aside)

Type I (Śiva)

4 peculiar iconograms (Nandi not counted) 8 Śivas of the garbhagṛha, XII 1^{l} (= Īśāna), XII 1^{u}

3 III 1^{u}, V 3^{l}, XI 17^{u}

2 III 9^{l}, III 13^{l}, IV 7^{u}, XI 16^{u}

1 III 9^{u} (= X 8^{u}), III 11^{l}, IV $2b^{u}$, IV 4^{u}, IV 8^{l}, IV 8^{u}, X 7^{u}, X 9^{l}

mutilated figures (garbhagṛha) III 12^{l} (Īśāna), IX 5^{l}

figures with bījapūra X 3^{l}, X 7^{u}, IX 8^{l}

C THE FIGURES IN THE NICHES AND ON THE LINTELS

All figures are female, all except III 4 (middle) III 4^l XI 18^u (middle) and XI 18^l in lalitāsana

a The figures in and below the two n ches III 4^u and XI 18^u on the uter walls of the mandapa

III 4^u *left figure* = Sarasvatī?
padma (half-opened, stylized)/pustaka
abhaya/bījapūra
middle figure = Lakṣmī?
/ / padmasarpa
abhaya/kamaṇḍalu (hanging)
right figure = Cakreśvarī?
cakra (stick)/padma (half-opened, stylized)
dhanuṣkarasma/kamaṇḍalu (resting)

III 4^l = ?
padmasarpa / /
varada / /

XI 18^u *left figure* =
padma (?)/padma (half-opened, stalk)
abhaya/bījapūra
middle figure = Brahmāṇī (3 [= 4] heads)
/ / /
/ / /
right figure = Lakṣmī ?
padma (?)/padma (half-opened, stalk)
abhaya/kamaṇḍalu (resting)

XI 18^l = Lakṣmī
padma (half-opened, stalk)/padma (half-opened, stalk)
/ / śaṅkha

b The figu e in th two n he below th eliefs

south wall of the maṇḍapa = Sarasvatī
padma (half-opened, stalk)/pustaka
v ī ṇ ā
varada/kamaṇḍalu (hanging)

north wall of the maṇḍapa = Sarasvatī (haṃsa)
rolled up padma/rolled up padma
/ / /
animals inside the two padmas

c *The figures on the three door-lintels*

door-way of the maṇḍapa	*left figure* = Brahmāṇī (3 [= 4] heads, haṃsa)
	śakti/pustaka
	/ kamaṇḍalu (resting)
	middle figure = Cakreśvarī (Garuḍa)
	padma (?)/cakra
	cakra (ring)/dhanus
	gadā/kheṭaka
	khaḍga/gadā
	abhaya/śaṅkha
	right f. = Brahmāṇī (3[= 4] heads, haṃsa?)
	śakti/pustaka
	bījapura (?)/kamaṇḍalu (hanging)
door-way of the garbhagṛha (both figures on the walls in r angle to the lintel)	*left figure* = Lakṣmī
	padma (full-blown, stalk)/padma (f., st.)
	abhaya/kamaṇḍalu (resting)
	(elephants on the padmas facing each other)
	right fgure = Sarasvatī
	padmasarpa/pustaka
	v ī ṇ ā
door-way of the bell-shrine	*left figure* = Sarasvatī
	padmasarpa/pustaka
	v ī ṇ ā
	middle figure = Lakṣmī
	padmasarpa/padmasarpa
	/ / kamaṇḍalu (hanging)
	right figure = Sarasvatī
	padmasarpa/pustaka
	varada/kamaṇḍalu (hanging)

STATISTICS

(The figures described under B c-e are left aside)

Type I (Śiva)

4 peculiar iconograms (Nandi not counted) 8 Śivas of the garbhagṛha, XII 1^{l} (= Īśāna), XII 1^{u}

3 III 1^{u}, V 3^{l}, XI 17^{u}

2 III 9^{l}, III 13^{l}, IV 7^{u}, XI 16^{u}

1 III 9^{u} (= X 8^{u}), III 11^{l}, IV $2b^{u}$, IV 4^{u}, IV 8^{l}, IV 8^{u}, X 7^{u}, X 9^{l}

mutilated figures (garbhagṛha) III 12^{l} (Īsāna), IX 5^{l}

figures with bījapūra X 3^{l}, X 7^{u}, IX 8^{l}

Type II (*Viṣṇu*)

4 V 5b* VI 8b¹ X 3*
3 : III 2a, III 19¹ IV 6a¹ V 8a¹
2 III 7b* X 1 X 4
1 V 2* V 7* XI 10¹
mutilated figures V 1 IX 3b¹ IX 7* XII
figures with sarpa or bījapura X 2* (sarpa) V 8a XI 6a XI 12¹ XI 14*

Type III (male figures with two padmas of the same shape in the upper arms)

II 6* (= IX 3c*) III 11 (= III 17*) X 5b* XIII*

Type IV (male figures with padma and bījapūra) Cf Type II last line and Type III No 1 2 5 6 — III 8* III 19b* IV 6a V 3* XI 11¹ XI 20*

Type V (male figures with dhanuṣkarṣana and/or dhanus)
(garbhagṛha) III 4 II 2 IV 6b* VIII 3¹ XI 6¹ (= Agni) X 4*
III 4* ('Cakresvari')

Type VI (male figures which do not belong to type I V with two or more padmas)

III 19a V 6* IX 2* X 6* XI 10¹

Identified figures (except the 2 x 8 dikpālas)

Balarāma (III 15b*) Kubera (IV 2¹) Ambikā (IV 4¹) Kumāra (X 6a¹)
Brahma (XI 2¹) Agni (XI 6¹) Brahma (XI 20*)

Figures neither identified nor entered in the lists

II 1 (F) III 7¹ III 14 IX 6* X 9* XI 12* XII 6* (F)

NOTES

Explanation of the terms (ref also to the Introduction)

The following system has been adopted for the description of the figures in A and C

right upper arm (1st fig)/left upper arm (1st fig)
right lower arm (1st fig) /left lower arm (1st fig)

The 2nd (3rd) figure is described behind or below the preceding figure the double oblique separates different figures forming a group
1st fig // 2nd fig // 3rd fig

? denotes uncertainty due to mutilation or due to difficulties in the interpretation

/ missing or broken

T(——) tīrthamkara-image without cihna

āliṅgana arm put round the hip (or hip and breast) of the other figure

āliṅgana (kaṇṭha) arm put round the neck of the other figure

brackets iconograms not kept in the hands are given in brackets behind the general definition, e g 'M = I (Nandi)' If a hand of a figure touches a part of another figure, it is indicated thus 'left hand (F)', i e touching the left hand of the accompanying female figure Similarly 'beard' in the description of a female figure means 'grabbing the male by the beard'

cakra (ring) cakra in the simple form of a ring

dhanuskarṣana fore-finger touching the thumb, the interpretation dh (instead of jñānamudrā or pravacanamudrā) is chosen because the iconogram occurs along with weapons

downwards hand hanging down (with thumb inwards as distinguishing mark from varada where the thumb is shown outwards), hand described as resting on a particular object is in this position if not stated otherwise

kamaṇḍalu either hanging (upper part grasped by the hand) or resting in the hand

kaṭi katy-avalambita-hasta

n.f not shown from the front

n r not to be recognized (if in the case of āliṅgana one arm is hidden behind the figure which it embraces)

padmapāni see note on (maṇḍapa) II 6[u]

padmasarpa blending of padma and sarpa rolled up sarpa resembling a full-blown lotus with stalk

paṭa hand keeping scarf or garment

sarpa (1) / (3) snake with one or three hoods

śiras head (kept by a tuft of hair) in opposition to skull

Remarks on single figures

Maṇḍapa

II 5[1] etc Ref for vyālas (or śārdulas) to St Kramrisch, The Hindu Temple, II, p 332 ff

II 6ᵃ padmapāṇi motive The old motive survives in later art in two forms a As a floral design (often influenced by animal motives) which generally does not reach the hand of the figure It can be shown by the side of almost every statue in temples of the northern and southern styles, Hindu and Jaina b In the form of two highly stylized leaves (always of the same shape) which the tīrthaṃkara keeps in either hand In a the lower part, in b the upper part of the design has become independent Of our drawings Fig 1 shows the original complete form, 2 and 3 show the two later forms a and b (in Fig 2 in its simplest shape, but combined with b b alone in Fig 3) whereas in 4 an example of blending of motive a with another motive (tree) is given

All the four drawings were prepared from photos: the first shows the Bodhisattva Vajrapāṇi (early 6th century Naltigiri, Orissa) Taken from The Art of India and Pakistan, Edited by Sir Leigh Ashton, Plate 40 Fig 243, by courtesy of the publisher[1] The second shows an ācārya on the Digambara Jaina Temple No 1 at Deogarh (U P) the third the lower portion of the main image in Deogarh Temple No 28, and the fourth (Photo U P Shah) the lower portion of a late tīrthaṃkara image in Baroda See also our photo of IV 2ᵃ which gives an idea of the usual form of the padmapāṇi-motive on our temple The pattern is simply referred to as 'padmapāṇi (form a, if not stated otherwise)

II 6ᵇ sarpa is not traceable for Indra

III 1 kamandalu instead of the common kapāla? For the apasmāra-puruṣa refer to G Rao, Hindu Iconography II 1 67

IV 2ᵃ padma is not traceable for Kubera

IV 10ᵃ Here and on the garbhagṛha Yama's vāhana looks like a deer but probably we have to read 'buffalo according to tradition Padma is otherwise not found with Yama

V 1 The iconography of the upper arms is probably modelled up from the Śiva-iconography ('Type I')

VI 1 For 'saktighanṭa compare the more common vajraghanṭa.

X 2ᵃ sarpa not found with Viṣṇu

XI 21 The reading 'Kubera is required by the context, but the iconography does not fit him

XII 1 The context permits here (and in III 12ᵃ of the garbhagṛha) the reading 'Jaina (instead of mere 'I')

1 Faber and Faber Ltd London

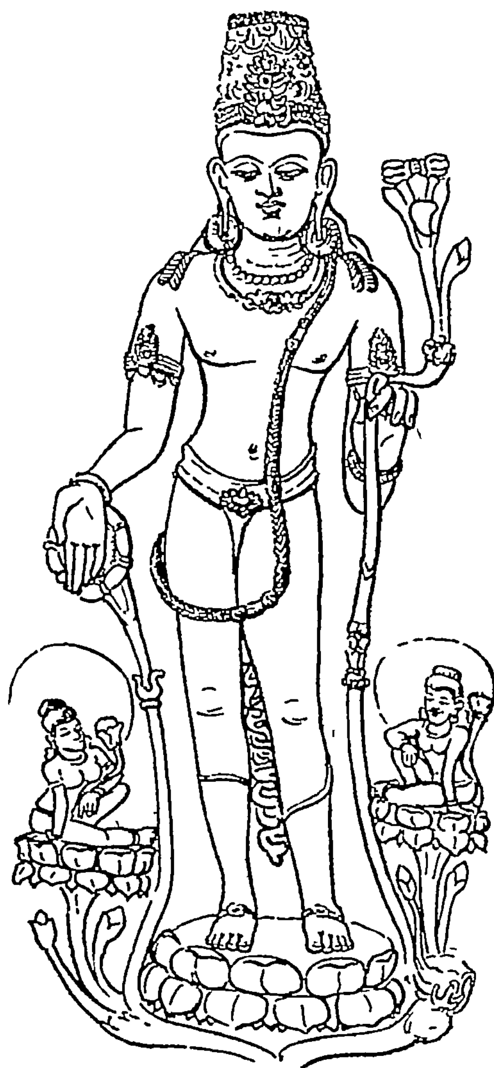


Fig 1

II 6[a] padmapāṇi motive The old motive survives in later art in two forms a As a floral design (often influenced by animal motives) which generally does not reach the hand of the figure It can be shown by the side of almost every statue, in temples of the northern and southern styles, Hindu and Jaina b In the form of two highly stylized leaves (always of the same shape) which the tīrthaṁkara keeps in either hand In a the lower part, in b the upper part of the design has become independent Of our drawings Fig 1 shows the original complete form, 2 and 3 show the two later forms a and b (a in Fig 2 in its simplest shape, but combined with b b alone in Fig 3) whereas in 4 an example of blending of motive a with another motive (tree) is given.

All the four drawings were prepared from photos the first shows the Bodhisattva Vajrapāṇi (early 8th century Naltigiri, Orissa) Taken from The Art of India and Pakistan, Edited by Sir Leigh Ashton, Plate 40 Fig 243, by courtesy of the publisher The second shows an ācārya on the Digambara Jaina Temple No 1 at Deogarh (U P) the third the lower portion of the main image in Deogarh Temple No 28, and the fourth (Photo U P Shah) the lower portion of a late tīrthaṁkara image in Baroda See also our photo of IV 2[a] which gives an idea of the usual form of the padmapāṇi-motive on our temple The pattern is simply referred to as 'padmapāṇi (form a, if not stated otherwise)

II 6[b] sarpa is not traceable for Indra

III 1 kamaṇḍalu instead of the common kapāla For the apasmāra-puruṣa refer to G Rao, Hindu Iconography II 1, 67

IV 2[b] padma is not traceable for Kubera

IV 10[b] Here and on the garbhagṛha Yama's vāhana looks like a deer but probably we have to read 'buffalo' according to tradition Padma is otherwise not found with Yama

V 1[1] The iconography of the upper arms is probably modelled up from the Śiva-iconography (Type I)

VI 1 For 'śaktighaṇṭa compare the more common vajraghaṇṭā

X 2[a] sarpa not found with Viṣṇu

XI 21[1] The reading 'Kubera is required by the context, but the iconography does not fit him

XII 1 The context permits here (and in III 12[a] of the garbhagṛha) the reading 'Īśāna (instead of mere 'I')

1 Faber and Faber Ltd London

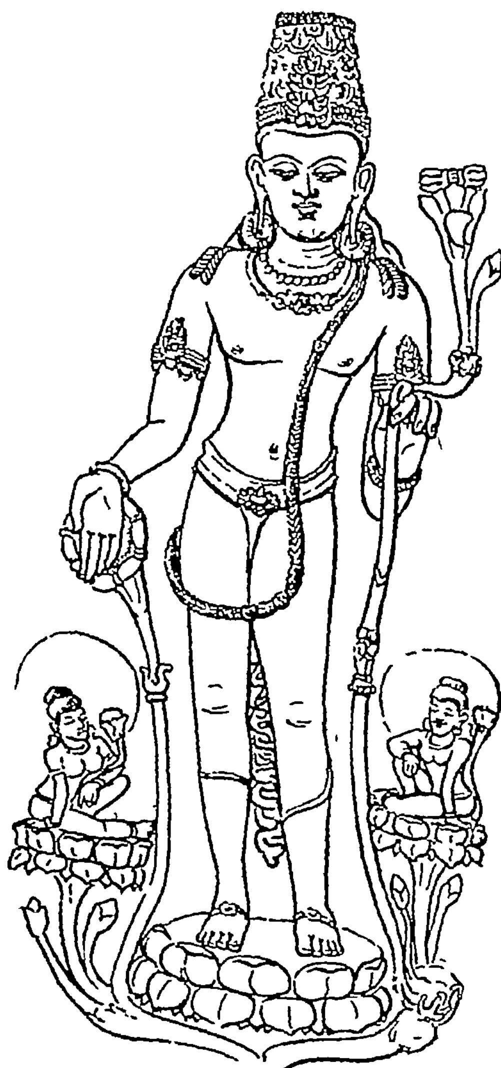


Fig 1

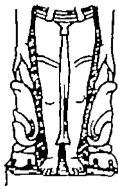


Fig 2



Fig 3



Fig 4

Garbhagṛha

The reader may himself compare the dikpālas on the garbhagṛha with the dikpālas on the mandapa It is noteworthy that in some cases, it seems padma and sarpa correspond to each other Compare I 2[1] (g) and II 6[1] (m), I 13[1] and IV 10[1], III 11[1] and XI 21[1]

Indra and Iśāna the guardians of the eastern and north-eastern direction—and the two Śivas above them—are placed transversely (i e on the side wall of the projection for the following/preceding figure) so that they face the proper direction

Niches and Lintels

The figures identified as Brahmānī According to my information no yakṣī has three heads, whereas tradition ascribes three or more heads to several yakṣas

The second figure described under C b and identified as Sarasvatī I read the mutilated vahana as hamsa because I found the same animal as vahana of Brahma (and his consort) on a slab of the Śiva temple at Chandpur (from Dhaura Station, Bina Jhansi Line)

CONCLUSIONS

§ 1 Cunningham identified many of the figures on the Jaina temples more or less hesitatingly as brahmanical (ASI Reports Vol X p 17 on Ghantai temple "probably brahmanical", Vol II p 432 on two smaller Jaina temples "figure which looks like Lakṣmī", ibid on Pārśvanātha temple "amongst which [statues] I recognized several of the brahmanical gods") In Burnier's work 'Hindu Medieval Sculpture', however, the figures are simply called by the names of the brahmanical models We shall see that the iconography of the Pārśvanātha temple is not brahmanical strictly speaking but highly influenced by brahmanical iconography This solution almost suggests itself, but it is necessary to support it by such evidence which only a systematical analysis can give The analysis has possibly also some general interest because investigations of this kind are comparatively rare

§ 2 The interpretation of figures other than tīrthamkaras presents many difficulties The artists were not bound to follow exactly the rules of the texts in the representation of *yakṣas*, *yakṣinīs*, etc Art and theory influenced each other, and there was no one-sided dependence What renders the books even more inapplicable is the stress laid upon features

which are not typical or which are not actually represented by the artists[2] The 'standard iconography' (U P Shah) has, therefore to be found out by a combined study of art and literature But local differences, differences even within one and the same temple show that a g e n e r a l dictionary of iconography cannot be written so that it is at the end always the iconographical text itself which must be utilized as dictionary

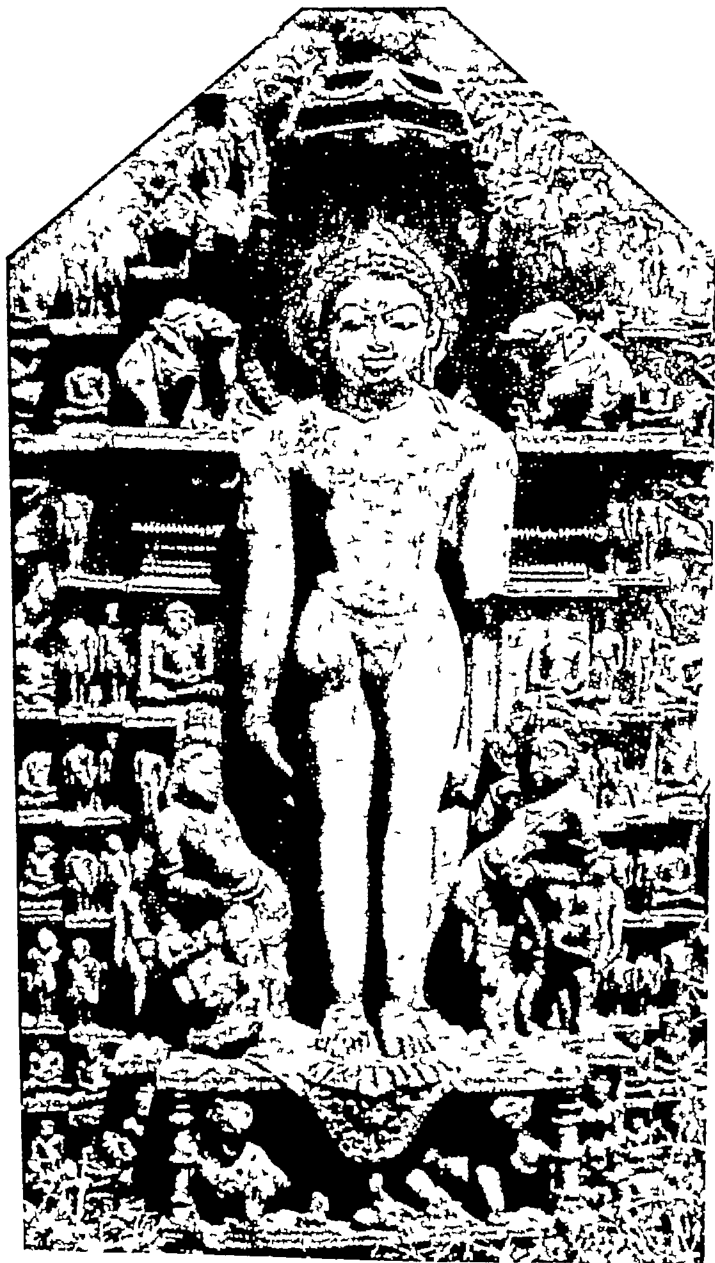
The artists have not only changed the d e t a i l s of the iconographical system Following visual rather than abstract principles they have transformed the c h a r a c t e r of the system What is different for the theologian has been made similar or identical by the artist (lotus and cakra) and what is more or less identical for the theologian has been differentiated by the artist (lot) We have tried in our description to do justice to the dogmatical as well as to the aesthetic system But dogmatical data are more general than aesthetic features The latter are therefore of greater importance if one has to study the expansion of local styles

§3 By a formal analysis we find that there are 4× separate male figures of definite iconographical character on the four corners of the temple and of the garbhagrha (always in the lower relief) They are the eight dikpalas which are thus all represented twice (with more or less important alterations) Moreover above each dikpala of the garbhagrha there are identical figures of Śiva Otherwise no system can be traced in the arrangement of the sculptures, only a certain symmetry which makes it probable that the outer walls have not undergone too many changes in late times All the three sides of the garbhagrha are symmetrical and correspond to each other (plan 2) The sides of the mandapa (and the pradaksinapatha) are n o t symmetrical, but the northern and southern half of the lower relief correspond to each other and the two halves of the upper relief are corresponding on the eastern portion of the temple (up to III 4 and XI 18 respectively) See plan 1

We have to distinguish between the figures of the garbhagrha and those of the mandapa (and the pradaksinapatha) In the case of the former there is a clear distinction of iconographical and non-iconographical statues, and only the latter (the dikpalas and Śivas) have four arms. Thus

2 As beauty facial expression on the one hand and colours on the other

3 Two slight irregularities in the correspondence of the two parts of the lower relief have been marked with an arrow A line divides the figures of the upper relief which correspond to each other from the rest.



Ṛṣabhanātha, the first Tīrthaṅkara, Museum Khajurāho

Photo R. Bharadwaj]



Ṛṣabhanātha the first Tīrthaṅkara Khajuraho

Photo R. Bharadwaj]

clear distinction is absent in the case of the sculptures on the *maṇḍapa*[4] Again the figures of the current panels must be kept separate from the figures in the two niches interrupting the upper panel (III 4^u and XI 18^u), below these two niches (III 4^l and XI 18^l), in the special niches below the reliefs on the north and south wall, on the three door-lintels (*maṇḍapa*, *garbhagṛha*, back-shrine) In the two current panels no female figure has more than two arms (except the just mentioned statues III 4^l and XI 18^l), and females with an iconographical character are an exception (IV 4^l ^l) Here, however, all the figures are females with more than two arms and have no doubt iconographical features

The conception of the *garbhagṛha* is more systematic in symmetry and iconography than the conception of the *mandapa* Again the figures on the lintels etc form the only group which is iconographical throughout A correlation between the place and the general character of the figures is therefore obvious

§ 4. Analysis of the iconography If members of a certain group or class are being represented, we can expect among them the well known and characteristic representatives of that group Amongst a series of *yakṣiṇīs* Cakresvarī will not be missing, and she will facilitate the identification of the other group-members even if their general character is not shown by systematical arrangement As no prominent member of any class of Jaina deities appears in our reliefs (except an isolated Ambikā) we have to start in our interpretation from the many 'brahmanical' gods who catch the eye at once An exact analysis of all the figures (as it is given above) shows that the majority of the sculptures can be explained as modelled up from brahmanical conceptions[5] The degree of similarity differs a lot, only the impression of absolute identity was probably nowhere aimed at The gods are shown either separately or together with uniconographical wives, but never together with the wives assigned to them by Hindu tradition[6], they appear always in their simple form (no *avatāras*

4 There are certain formal clues for the distinction of the iconographical and the non-iconographical sculptures on our temple Figures with four arms and more are always iconographical. Non-iconographical are all figures shown from the side or from the back and figures involved in an action

5 Our method of derivation finds support in a figure like XI 8^l where the artist added a Nandi-bull to a figure keeping snake lotus, citron, thus showing that he kept in view the original conception.

6 There is, however, in Jainism a general aversion against the sanction of divine couples Yakṣa and *yakṣiṇī* are nowhere called husband and wife (U P Shah), and the 'happy twins', so common in Jaina art, have not found a dogmatical sanction which does justice to their actual importance.

of Visnu) and are never seen as engaged in an action (no Asuravadana) It was, therefore, rather the intention of the artist to conceal than to stress the brahmanical nature of the figures

The present article is very limited in its scope, and we would not like to say that the statues m u s t be explained as brahmanical An investigation into the iconography of a l l Khajuraho temples will possibly lead to different conclusions concerning the iconography of the Pārśvanātha temple It can perhaps show that some of the less clear figures are representations of certain Jaina gods and that the figures with brahmanical character are not simple copies by the artists but adoptions with dogmatical background But the difference between the l a s t two alternatives concerns rather the form than the degree of brahmanization

The identification of the female figures on the lintels etc is easier It seems they are all rather correct representations of the goddesses Cakreśvari Brahmāni, Sarasvati, and Laksmi These deities belong to the Jaina pantheon as well, both in theory and in art

§ 5 Details of Interpretation Although it was sometimes tempting to read a single figure as a particular yakṣa, the method explained in the last paragraph has always been followed not to expect little known members of a class if there is no evidence for the class as such The artists were not supposed to puzzle the worshippers but had to conform to the average knowledge of the educated lay-man The yaksas of the 19th-21st tirthamkara and the graha Śani for example keep bow and lotus in their hands, but shall we for that connect figure II 2[8] with any of them Book, abhaya, citron are according to some Śvetāmbara authorities iconograms of Siddhayikā but can we identify the left subsidiary figure of III 4[a] as yaksini of the 24th tirthamkara The context (refer to the end of the last paragraph) shows only n yaksini, and nothing has been done by the artist to suggest that the doubtful figure is a yaksini and not related to the Hindu goddesses in the niches and on the lintels

Any attempt to identify the figures as particular adoptions has been avoided A Śiva is always understood as Śiva (and not as Isvara Yaksa or dikpala Isana [except garbhagrha III 12 and mandapa XII 1[7]]) Brahma always as Brahma (and not as Brahma Yaksa, dikpala Brahma or Brahmasanti Yaksa) The differences between the adoption and the model, be-

7. Not to be taken as Vaisnavi Cakresvari and Ambika are the only Jaina deities which I found on the temple

tween the various adoptions themselves, and especially between the Digambara and Śvetāmbara forms of the same adoption are so slight and so much obscured by the interfering of local peculiarities that generally the evidence of the context is required for a minute identification On the other hand it is only in the context that such an identification gains importance The principle of multiple adoption has led to an overlapping of the iconographical alphabets, and we cannot simply read a Brahma figure, we must know whether we shall read it according to the *dikpāla* or according to the *yaksa* alphabet

§ 6 What accounts for the two peculiarities of our figures, the semi-iconographical character and the Hindu influence? It is well possible that intermediate figures between *surasundarīs* etc (who have no individuality) and *devas* or *yakṣas* are not restricted to Khajurāho but are represented at other places as well. The answer to the second part of the question, however, must be found in Khajurāho itself. Whereas elsewhere 'brahmanical' figures on Jaina temples conform to the official line of adoption (Sarasvatī, Laksmī etc.), such a limitation is not apparent here The impact of contemporaneous Hindu art is a necessary but not a sufficient reason for the strong influence And admitted that the few artists especially trained for Jaina sculpture could not cope with the abundance of figures which was required by the style of the time,[8] could they not at least prepare some statues of *yakṣas* and *yakṣinīs* to be placed on prominent parts of the structure to demonstrate the non-Hindu character of the temple?—It is also excluded that Hindu temples were converted into Jaina temples here the present Jaina temples form a group of their own, show architectural peculiarities (due to the different forms of worship Cunningham), and are different from the point of view of sculptural art (few indecent figures) After all the Hindu influence was stronger than the Jaina influence so that the conversion of a Hindu temple into a Jaina temple is less probable than a certain susceptibility to Hindu influences or even some concern not to stress the Jaina character of the temple more than necessary

This paper could not have been written without the help of Dr U P Shah who introduced me into the study of Jaina iconography and placed his unpublished material at my disposal.

8 Moreover the *maithuna* groups generally had to be replaced by decent representations.

THE MESSAGE OF THE RELIGION OF AHIMSA

Prof A CHAKRAVARTI, M.A I E S (Retd)

Of all the Indian Darśanas, Jainism is the only one which has the principle of Ahimsā as its central doctrine The other Darśanas also speak of Ahimsā whenever convenient but they never offer such loyalty to the principle of Ahimsā as is found in Jainism

What is the message of Ahimsā to the modern world ?

Before answering this question we have to remember the important aspects of modern thought The most dominant factor of modern thought is Science It is clear nowadays that no idea which does not satisfy the bar of scientific reason has any chance of being accepted by modern thinkers Religious ideas mainly based upon irrational traditions and superstitions will all be brushed aside as of no great importance In this respect Jainism is on safer ground Jaina thinkers from the very beginning emphasise the importance of reason in all matters connected with religion In fact, they prescribe as the first and most important condition of religious development, complete freedom from popular superstition Samyak Darśana or Right Faith according to Jaina thinkers requires freedom from three types of superstitious beliefs or three moodahs These are described as Loka Moodah, Deva Moodah and Pasandi Moodah,—popular superstition, superstition about popular deities, and faith in false ascetics These three types of superstitious beliefs must be first got rid of by a person before he starts on his spiritual path Unless he discards various superstitious beliefs he cannot begin his spiritual development freely unhampered Belief that bathing in a particular river will wash off one sins, going round a particular tree will promote one's virtue, or climbing up particular hill will produce spiritual development are all avoidable impediments on the way of true belief in the nature of Reality Whenever there is an epidemic in the society people try to appease the deities by offering animal sacrifice Such an ttempt to propitiate certain deities is based upon the false belief that these deities are the real cause of the epidemic disease, such as Cholera, or Smallpox Such practices are not only useless and ineffective but prevent men from discovering the true cause of such disease and preparing suitable and effective remedies Hence this second type of false belief is extremely ruinous to society if not completely eradicated The third type of false belief is

rich literary activity They have contributed their full share to the religious, ethical, poetical and scientific literature of ancient India All the species are respected in it, not only those which have an immediate bearing on the canonical writings—that is to say, the dogmatic, the moral, the polemic and the apologetic—but also history and legend, epic and romance and lastly the sciences, such as astronomy and above all sciences like astrology and divination

In the realm of art, the elaborately carved friezes in the cave temples and dwellings on the Udayagiri and Khaṇḍagiri Hills, the richly decorated *Āyāgapaṭas* and *Toranas* of the Mathurā find, the beautiful free-standing pillars on the mountain masses of Girnār and Śatruñjaya, the admirable architecture of the Jaina temples of Mount Abu and elsewhere, and the pictorial remains evolved under the austere influence of Jainism are sufficient to evoke the interest of any student of Indian history They combine in them the Triune Entity of Indian art—a sublime union of the purely decorative, the realistic and the purely spiritual. In the words of Dr Guerinot, "The Hindi art owes to them a great number of its most remarkable monuments In the domain of architecture, they have reached a degree of perfection which leaves them without a rival "[3]

In conclusion, if *Ahimsā* may be generalised as the fundamental ethical virtue of Jainism, *Syādvāda* may be described as the central and unique feature of Jaina metaphysics, and the explicit denial of the possibility of a perfect being from all eternity with the message of "Man ! thou art thine own friend", as the centre round which circles the Jaina ritual All this combined with the ideal of *Ahimsā* teaches

He prayeth well, who loveth well
Both man and bird and beast
He prayeth best who loveth best
All things both great and small

Coleridge

and that is why a Jaina always says

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ॥

"I forgive all souls, let all souls forgive me I am on friendly terms with all, I have no enmity with anybody "

3 Guerinot, *La Religion Djaina*, p 279

JAYĀ GROUP OF GODDESSES

Dr UMAKANT PREMANAND SHAH, M.A Ph D

Jayā, Vijayā, Ajitā or Jayantā and Aparājitā seem to form a group of goddesses, since in the Jaina literature they are usually assigned similar functions and are often invoked together Sometimes four more goddesses, much less popular are also included in this group; these latter ones are Jambhā, Mohā, Stambhā and Stambhinī. The first four are also included amongst Pratihāras or door keepers. It is necessary to treat them in their other aspects also.

According to the *Nirvāṇakalikā*, Jayā is the superintending deity of the gate in the eastern quarter and is worshipped along with Vijayā, Ajitā and Aparājitā amongst the dvārapālas (door-keepers) of the first prākāra (circle in a circular diagram and of any other shape in other yantras) in the diagram of Nandyāvarta drawn and worshipped in the pratiṣṭhāvidhi According to this text, the iconography of these four goddesses is as under —

Jayā — White in complexion, and guarding the eastern quarters, she shows the *abhaya*, the pāśa, the goad and the *mudgara* (mace) in her four hands.

Vijayā — Red in appearance, and door keeper of the southern-quarter she carries the same symbols as Jayā.

Ajitā — Same symbols as above. Ajitā is golden, and is assigned the western gate.

Aparājitā —Black in appearance and guarding the northern-quarter Ajitā shows the same symbols as are carried by the other three goddesses.

It may be noted that Hemacandra speaks of them as door keepers of the second rampart in the Samavasaraṇa and gives them the same symbols and complexion.

The *Ācāradinakara* does not give the iconography of any of these goddesses discussed here, but merely refers to Jayā, Vijayā, Jayantā and Aparājitā in the Dhvajapratiṣṭhāvidhi.

Jayā and Vijayā are said to hold the cāmaras (fly whisks) on two sides

1 *Nirvāṇakalikā*, p 30
2 *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita* (GOS) Vol. I, p 182
3 *Ācāradinakara*, pp 203 ff.

of Pārsvanātha in the Mantrādhirāja-Yantra, according to Sāgaracandra,[4] and in the yantra on the last verse of the *Bhayaharastotra*[5] According to Sāgaracandra, Jayā is white, four-armed and shows the chowrie, the rosary, the *varada mudrā* and the fruit (*bījapūraka* = citron) Putting on white garments, she rides on the elephant[6]

Jayā is also worshipped in the third sthāna,[7] called Vijjāpada (Vidyāpada) in the Sūrividyā-diagram, along with Vijayā, Jayantī, Nandā and Bhadrā, as attendants of Śrī[8]

Jayā, Vijayā, Jayantī and Aparājitā are called Upavidyās of the Bāhubali Mahāvidyā in the *Sūrimantra-Durgapadavivarana* They are worshipped in the second pīṭha of the Sūrimantra, which contains the Bāhubalividyās used for Nimittakathana Works on Sūrimantra refer to mantras which they assign to Jayādividyās (i e Jayā, Vijayā, Jayantā and Aparājitā)[9]

In the diagram (maṇḍala) for the propitiation of Sarasvatī, in the tradition (āmnāya) of Bappabhaṭṭi Sūri, Nandā, Mohā, Jayā, Vijayā, Aparājitā, Jambhā and Stambhā are invoked and worshipped[10]

Thus these goddesses are included as the parivāradevatās of both Śrī and Sarasvatī

Jayā, Vijayā, Ajitā (same as Jayantā or Jayantī of other texts) and Aparājitā are invoked by Mānadeva Sūri in his Laghuśāntistava and the Śāntimantra given therein[11] They are supposed to bestow peace and

4 *Mantrādhirajakalpa*, in the *Mantradhirājacintāmani*, p 232
5 *Mantrādhirājacintamani*, p 29
6 *Ibid* pp 258, 265 For a mantra of Jayā and Vijayā see *ibid* p 264.
7 Sthana here conveys a meaning similar to that of prākāra noted above Pada in the expression Vijjāpada also means the same
8 *Surividya stotra*, *Bhairava-Padmāvatī-Kalpa*, app 29, p 112

पउमदहपउमनिलया चउमट्ठिसुरहिवाण महमहनी ।
सव्वहसुमणधरा पणमती गोयममुणिन्द ॥ ४
विजया-जया-जयन्ती नन्दा भद्दासमन्निया तइए ।
विज्जापए निविट्ठा सिरिसिरिदेवी सुह देउ ॥ ५ ॥

द्वितीयपीठे-ॐ नमो भगवओ इत्यादि विज्जा यावद् अक्षर ३३ एषा बाहुबलीविद्या स्वप्नार्थम् । ततो वग्गु वग्गु महुमहुरे यावद् वर्णा २२ सौभाग्यविद्या । ततो हिलि हिलि इत्यादि आयरियकालि यावद् वर्णा ३० जयादि विद्या । अस्य पीठस्य अधिष्ठात्री मानुषोत्तरशिखरवासिनी सहस्रभुजा त्रिभुवनस्वामिनी ।

9 *Sūrimantramukhyakalpa* in *Surimantra kalpa-sandoha*, p 14. Also see *Sūrimantra Durgapada-Vivaraṇa* in *ibid*, pp 45 ff
10 *Bhairava-Padmavatī-Kalpa* app 11, pp 61 ff
11 *Ibid*, app 31, pp 131 ff

prosperity These four are also worshipped in the Cintāmaṇi or Pārśva-cintāmaṇi-yantra described by Dharmaghoṣa Sūri.[12]

Jayā, Ajitā, Aparājitā, Jambhā, Mohā and Vijayā are also invoked in the yantra according to the Vṛddhasampradāya on the Upasargaharastotra, verse 2,[13] and also in the Cintāmaṇi Cakra on the same verse [14]

Jayā, Vijayā, Jayantā, Aparājitā and Anāhitā are famous in the Vardhamāna-Vidyā.[15] Elsewhere the present writer has suggested that Anāhitā probably signifies some form of *Anatis* or Anāhatā.[16] Jayā Vijayā and Ajitā are included in the list of mahādevīs in the famous *Ṛṣimaṇḍalastotra*.

Vijayā and Jambhinī are also referred to as Vidyās in the *Paumacariyam* [18]

In the Digambara tradition, the *Bhairava-Padmāvatī-Kalpa* calls Jayā, Vijayā, Ajitā and Aparājitā as Dig-devīs (goddesses of quarters) while Jambhā, Mohā, Stambhā and Stambhinī are said to be Vidig-devīs (goddesses of intermediate points) [19] The text prescribes their worship for Vaśya-rites.

According to the *Pratiṣṭhāsāroddhāra* of *Āśādhara*, *Jayā*, *Vijayā*, Aparājitā, Jambhā, Mohā, Stambhā and Stambhinī are to be worshipped in the bahirmaṇḍalapūjā [20] They are invoked for obtaining śānti (peace) and bliss [21] But the author does not give their symbols.

Nemicandra in his Pratiṣṭhātilaka calls them Sādhu-devas.[22] They are said to protect the Jaina Faith and give victory over rival faiths and enemies

It will be seen that in both the Śvetāmbara and the Digambara traditions, the four goddesses are invoked for śānti, Vijayā later on came to be worshipped as Śāntidevatā. The various texts on Sūrimantra and the Vardhamānavidyā further show that they were regarded as giving victory But their special inclusion in the Vardhamānavidyā is significant The Vidyā is used with certain changes as mantras by different types

12. *Mantrādhirāja-Cintāmaṇi*, pp. 20 ff., 7 ff.
13. *Jaina-Stotra-Sandoha*, Śrī Cintāmaṇikalpa, pp. 6-7
14. *Ibid.*, p 9
15. Tr. Vardhamānavidyā-kalpas of Śrī Siṃhatilakasūri, published in *Sūrimantrakalpasandoha*, pp 1-32.
Shah, U. P *Foreign Elements in Jaina Literature*, IHQ Sept. 1953.
17 *Mahāprabhāvika-Navasmaraṇa*, p 516.
18. *Paumacariyam*, 7 141, 144.
19 *Bhairava-Padmāvatī-Kalpa*, p. 19, verses 1-4, Pp. pp. 12-13 verses 17 18,
20 *Pratiṣṭhā-Sāroddhāra*, pp 78-81.
21. *Ibid.*, 81, verses 225-29
22. *Pratiṣṭhātilaka*, pp. 178-80, also cf. p. 218, verse 6.

of Jaina monks, especially the Upādhyāyas and Vacakas We have no means to ascertain that the worship of these deities was introduced in Jainism by Vardhamāna Mahāvīra or his immediate successors It is, however, quite reasonable to suppose that the Vardhamānavidyā and the Sūrimantra existed in the age of Vajrasvamī in the first or second century A D and both the Jaina Tantric practices should probably date from (at least) a century or two before Christ Their association with Śrī, Sarasvatī and Anaitis or Anāhita suggests that they may be ancient goddesses, and probably evolved from them

With the growth of the later yakṣinīs and the popularity of Ambikā, Padmāvatī and Cakreśvarī, their worship seems to have receded into background and practically disappeared

It is also certain, on account of their associations with the above mentioned goddesses, as also with Nandā and Bhadrā, that they are not exclusively Jaina, and their origins should be traced into some other deities commonly worshipped in ancient times, before the Christian era

Eight Dik-Kumārīs, living on the Eastern Rucaka mountains coming to perform the birth ceremonies of a Jina, are called Nandā, Nandottarā Anandā, Nandivarddhanā, Vijayā, Vaijayanti, Jayantī and Aparājitā[24] It should be remembered that the lists of fifty-six Dik-Kumārīs include names of such ancient goddesses as Ilā-devī, Pṛthivī, Ekanāsā (corruption of Ekānamsā (?), Bhadrā, Śrī, etc It is, therefore, probable that Nandā Bhadrā etc, and Jayā, Vijayā etc, shown as attendants of Śrī, the Adhiṣṭhatṛ-devī of the third pāṭha of the Surimantra, were ancient goddesses and that they were incorporated in Jainism at a very early date

That the Jayā, Vijayā, Jayanti and Aparajitā are treated as door-keepers in the Śvetāmbara tradition is significant though only indirectly Vijayā, Vaijayantī, Jayantā and Aparājitā are four well known door-keepers of the Jagatī of the Jambudvīpa according to Jaina canon like the Jambudvipaprajñapti[24] Their female counterparts seem to have been evolved as door-keepers in a Samavasarana Male deities of those names were installed in a fortified town in centre, according to a well known passage from Kauṭilya's Arthasāstra,[25] which fact shows that Vijaya, Vaijayanta, Jayanta and Aparājita are old deities

23 *Triṣaṣṭisalal āpuruṣacarita*, I (GOS), p 106 Lists of Dik-Kumārīs are available in Jaina Canonical Works in the Vasūdevahiṇḍī, in the Aṅgavijjā, and in Śvetāmbara and Digambara works on Cosmography
24 *Jambudvipa prajñapti*, sū. 7 ff pp 45 ff
25 Banerji, J N, Development of Hindu Iconography pp 94 ff

A RARE SCULPTURE OF MALLINATH

DR. UMAKANT PREMANAND SHAH, M A Ph D

The Provincial Museum, Lucknow preserves a unique Jaina sculpture (size 1-4" x 1 7½") of black stone. It is a headless statue (No J 835) of a Tīrthaṅkara sitting in the *padmāsana, dhyāna mudrā*, (see plate attached) The central part of the seat probably contained a small representation of the cognizance of the Tīrthankara, but the lāñchana is now defaced.

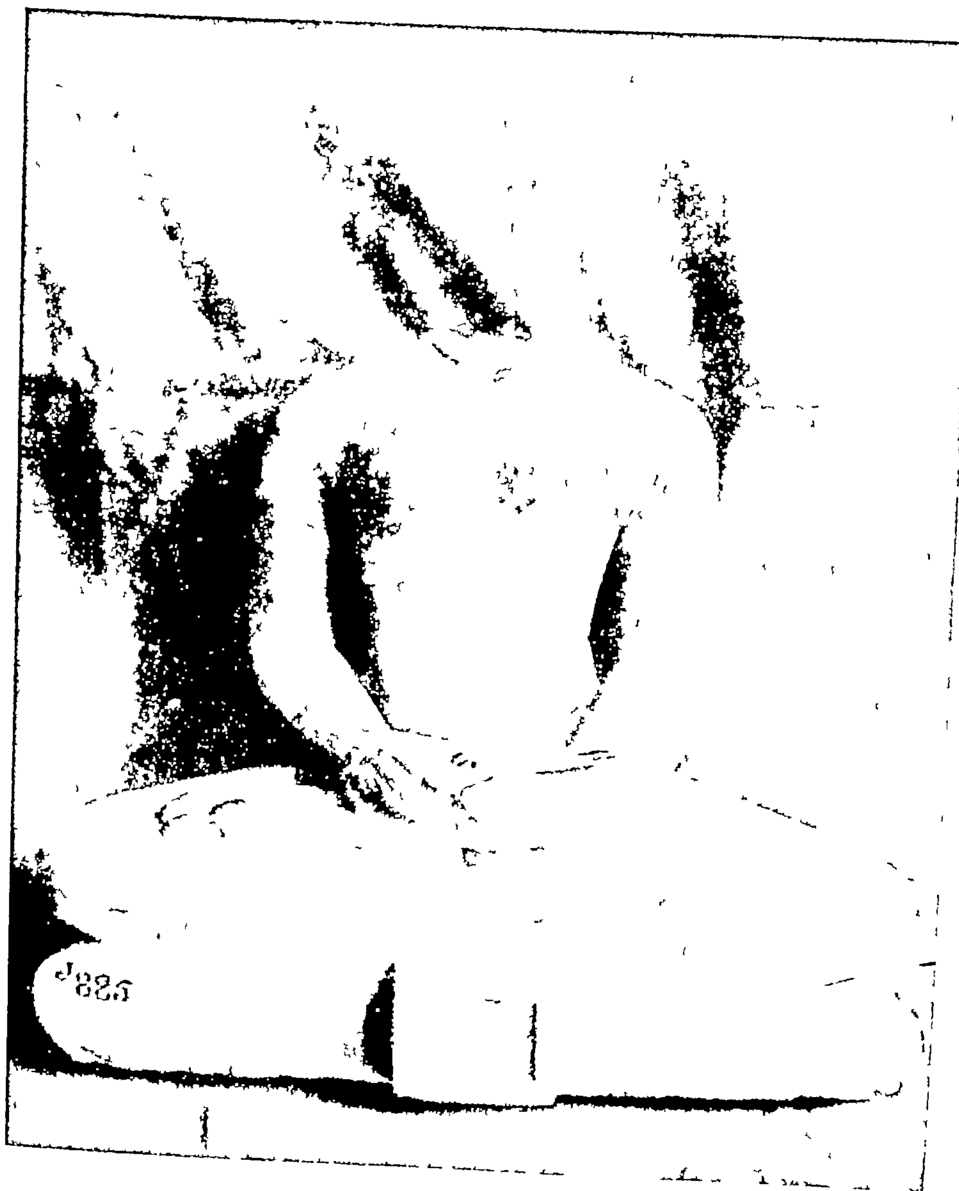
The open palm of the right hand placed in dhyāna mudrā shows a lotus-mark but there is no *Śrī vatsa* mark on the chest. However the developed breasts are so prominent that it is natural to regard this as a female figure. The nineteenth Tīrthankara Mallinātha was a princess according to Svetāmbara Jaina traditions represented in the *Nāyādhamma kahāo* and other texts like the Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita of Hemacandra The Digambara sect does not advocate belief in the liberation (mukti or nirvāna) of woman Hence, according to the Digambaras, Mallinātha was a Prince and not Princess.

According to Śvetāmbara Jaina tradition, all other Tīrthaṅkaras except Mallinātha were males Hence we must identify this sculpture as representing the nineteenth Tīrthankara Mallinātha according to the Śvetāmbara traditions.

Almost all the other known sculptures of Mallinātha in Śvetāmbara temples represent the Jina without developed breasts and hence looking like male Thus this is a unique sculpture faithfully following the Śvetāmbara Jaina traditions

The usual cognizance of Mallinātha is the water jar The central part of the seat of the Jina shows very defaced figure of the water jar (not clearly visible in the photograph) The identification of the Jina is unmistakable. The sculpture is assignable to early mediaeval period

1 I am thankful to the Curator Provincial Museum, Lucknow for photograph of this sculpture



भगवान मल्लिनाथनी अप्रतिम शिल्पप्रतिमा
A unique sculpture of Mallināth in the Provincial Museum, Lucknow
लखनौ प्रॉविन्शियल म्युझियमना सौजन्यथी]

अम्बिका देवी, विमल-वसहीमांना रंगमंडपनी एक खूणानी छतमां देलवाडा, (बारमी सदी)
Ambika Devi in ceiling corner 1 the Rangamandapa, Vimala Vasahi, (Abu) 12th Century

तसवीर श्री कुमार मरडाम]



सिंहारूढ अम्बिका (?) लूण-वसहीनी एक छतनी कोतरणी, देलवाडा तेरमी सदी
Ambikā ( ) on Lion in the ceiling of Lūna-Vasahi, (Ābu) 13th Ca tury

तसवीर श्री ज्यन मरेला]

ĀCĀRYA HARIBHADRA'S COMPARATIVE STUDIES IN YOGA

Dr N M Tatia, M A, D Litt

Ācārya Haribhadra is a Jaina author of the 8th Century A.D He is said to have composed fourteen hundred works, some of which are still available It can be said that he is one of those ancient authors who had unique mastery of all the branches of Indian philosophy and religion and at the same time were masters of clear and lucid style A student of comparative philosophy is struck with wonder and surprise to find in his works a correct estimate and a fair criticism of the rival systems of thought and a critical search for the unity underlying them In this paper I have made an attempt to summarize the contents of his works on *yoga* and show the comprehensiveness of his vision and the depth of his insight

Haribhadra made a very valuable contribution to the comparative study of *yoga* He composed a number of works on the subject His *Yogabindu* and *Yogadṛṣṭisamuccaya* are very valuable works The *Yogaviṃsikā* and the *Ṣoḍasakas* also deserve notice Upādhyāya Yasovijaya revived the studies of Haribhadra We shall therefore advert to his works as well for the sake of a better understanding of Haribhadra's works We shall begin with the *Yogaviṃsikā* and the *Ṣoḍasakas*, and then come to the *Yogabindu* and the *Yogadṛṣṭisamuccaya*. We shall refer, where necessary, to the other works of Haribhadra as well

All spiritual and religious activities that lead towards final emancipation are considered by Haribhadra as *yoga* But special importance should be attached, he says in his *Yogaviṃsikā*, to these five kinds of activities

(1) practice of proper posture (*sthāna*),
(2) correct utterance of sound (*ūrna*)
(3) proper understanding of the meaning (*artha*),
(4) concentration of the image (*ālambana*) of a *Tīrthankara* in his full glory and perfection, and
(5) concentration on his abstract attributes (*anālambana*)

Of these five, the first two constitute the external spiritual activity (*karmayoga*) and the rest the inward spiritual urge (*jñānayoga*) [1]

1 YV, 1-2 ṢP, XIII.4, for *sālambana* and *nirālambana yoga* see ṢP, XIV.1

These activities can be properly practised only by those individuals who have attained to the fifth or a still higher stage of spiritual development (*guṇasthāna*).[2] One reaches the consummation of these activities in the following order. At the outset one develops an interest in these activities, and comes to have a will (*icchā*) for practising them. Then he takes an active part in them, and begins actual practice (*pravṛtti*). Gradually he becomes steadfast in them and achieves stability (*sthairya*). Finally he gains mastery (*siddhi*) over the activities. Each of the five activities is mastered in this order. First of all one is to master the posture (*sthāna*), then correct utterance (*ūrṇa*), then the meaning (*artha*). After that one should practise concentration upon an image (*ālambana*), and finally one should attempt at mastery over the concentration upon the abstract attributes of an emancipated soul. This is a full course of yogic practice. One may practise these spiritual activities either out of fancy (*prīti*) or reverence (*bhakti*), or as an obligatory duty prescribed by scriptures (*āgama* or *vacana*), or without any consideration (*asaṅga*). When a spiritual activity is done out of fancy or reverence it leads to worldly and other worldly prosperity (*abhyudaya*). And when it is done as a duty or without any consideration whatsoever it leads to final emancipation. Of the five-fold activities mentioned above, the last two, viz. concentration of the mind upon the image of a *tīrthaṅkara*, or upon the abstract attributes of him are the most important. We shall therefore deal with them in some detail.

When one has practised posture (*sthāna*), correct utterance (*ūrṇa*), and the correct understanding of the meaning, one is qualified for concentration (*dhyāna*). The beginner is to practise concentration on an image of a *tīrthaṅkara* in his full glory and splendour. When one has perfected this practice and has achieved steadfastness, one begins the practice of concentration on the abstract attributes of a *tīrthaṅkara*. This concentration is known as *anālambana* inasmuch as its object is not a concrete entity perceptible by a sense-organ. The soul at this stage concentrates upon the abstract attributes which are not the objects of sensuous perception. By

2 Vide author's *Studies in Jaina Philosophy*, pp. 268-98 for the conception of fourteen *guṇasthānas*.

3. YV 4.

4 YV 18; ṢP XI

5. ṢP X 9

6 The word *anālambana* does not mean 'devoid of any *ālambana* (object)' but only 'devoid of concrete *ālambana*'. The prefix *a(n)* here means 'abstract' or 'subtle' (*sūkṣma*). Cf. *sūkṣmo 'tīndriyaviṣayaḥ* [illegible] *anālambano nāma yogaḥ*—Yaśovijaya's Ṭīkā on YV 19; also cf. ṢP XIV 1

this time the soul has reached the seventh stage of spiritual development (*gunasthāna*) The concentration is, however, only in its primary stage even in the seventh *gunasthāna* The soul develops an irresistible urge for the realization of the transcendental self and reaches the eighth stage of spiritual development on the ladder of annihilation (*kṣapakasreni*)[7] The concentration becomes more steadfast at this stage The soul has now achieved full detachment from the world, and earnestly proceeds onward to the realization of the truth It now does not rest until it has reached the consummation The soul is then in the ninth *gunasthāna* and is pressing forward to the twelfth on the ladder of annihilation. It has now revealed its full capacity (*sāmarthyayoga*)[8] for spiritual development and is bound to reach the twelfth stage and attain the knowledge of the transcendental self In this state the soul attains concentration on the abstract attributes Of course, it has not realized those attributes But it has an ardent spiritual urge for the realization of them This is *anālambana yoga*[9] The soul is detached from the world and is on the verge of realizing the self It has not yet realized the self, but is only striving for it And so it is not concentrated on any object whatsoever at this stage This is the reason why the concentration is without any object[10] The soul is here compared with an archer, the ladder of annihilation with the bow, the realization of the self with the target and the concentration with the arrow The *anālambana yoga* lasts until the arrow is shot The arrow is sure to pierce the target The soul immediately attains realization of the self as the consummation of the concentration[11] The soul, as we have stated, concentrates upon the abstract formless (*arūpin*) attributes of the transcendental self in the *anālambana dhyāna* The distinction therefore between the *sālambana* and the *anālambana yoga* is this that in the former one concentrates upon an object having from (*rūpin*) while in the latter on a formless object

7 For the conception of *kṣapakaśreṇi*, see author's *Studies in Jaina Philosophy*, p 275

8 It is a technical term for the meaning whereof *vide infra*, p 137

9 Cf. sāmarthyayogato yā tatra didṛkṣe 'ty asaṅgaśaktyāḍhyā
sā 'nālambana-yogah proktas taddarśanam yāvat—ṢP, XV 8

10 Cf. tatrāpratiṣṭhito 'yaṁ yatah pravṛttaś ca tattvatas tatra
tenā 'nālambano gītah.—ṢP XV 9

11 Cf drāg asmāt taddarśanam iṣupāta-jñāta mātrato jñeyam
etac ca kevalaṁ taj jñānam yat tat paraṁ jyotih—ṢP XV 10

(*arūpin*) [12] Yaśovijaya, following Haribhadra, says that this *anālambana yoga* resembles the *samprajñāta samādhi* of another (that is, Patañjali's) system [13] The consummation of this *anālambana* concentration is omniscience which, according to Yaśovijaya, resembles the state of *asamprajñāta samādhi* of Patañjali's system. There is no activity of the mind and the sense-organs when omniscience is achieved, and so there is annihilation of all the transformations of the mind (*aśeṣavṛttinirodha*) And so it is not improper to compare the state of omniscience with the *asamprajñāta samādhi* of the Sāṅkhya Yoga. There is, however another higher stage of this *samādhi*. The soul attains that stage in the fourteen *guṇasthāna*[14] where, all activities, gross and subtle, are totally stopped The soul is now devoid of all vibrations caused by its association with matter It has now annihilated all the residual *karmans* and immediately attains final emancipation This stage of concentration, says Yaśovijaya, resembles the *dharmamegha* of Patañjali's system, to *amṛtātman* of yet another system, to *bhavaśatru* of a third system, to *śivodaya* of yet another to *sattvānanda* of yet others, and to *para* of a still another school [15]

The above study is mainly based on the *Yogavimśikā*. Now we come to the *Soḍaśakas* There are some primary defects of the mind which are to be removed before practising the yogi processes The minds of the uninitiated (*pṛthagjanacitta*) are vitiated by these defects. Haribhadra enumerates them as eight viz. inertia (*kheda*) anxiety (*udvega*) unsteadiness (*kṣepa*) distraction (*utthāna*) lapse of memory (*bhrānti*) attraction for something else (*anyamud*) mental disturbance (*ruk*) and attachment (*āsaṅga*) The mind of a yogin should always be free from these defects It should be calm and quiet (*śānta*) noble and great (*udātta*) It should be free from all impurities and intent on the well-being of others (*parārthaniyat*) [16] Such minds are capable of concentration of the highest

12 Cf rūpi-dravyaviṣayaṁ dhyānaṁ sālambanaṁ arūpiviṣayaṁ tu nirālambanaṁ iti—Yaśovijaya's Ṭīkā on YV 19

13 eṣa eva samprajñātaḥ samādhiḥ tīrthāntarīyair gīyate—Ibid YV 20

14 Cf. kevalajñāne 'śeṣavṛttyādi-nirodhāt labdhātma-svabhāvasya manovijñānavaikalyād asamprajñātatvasiddhiḥ—Ibid.

15 yaś ca 'samprajñāta-samādhir dvidhā—sayogikevalibhāvī ayogikevalibhāvī ca. ādyo manovṛttīnām vikalpajñānarūpāṇām tyantocchedāt sampadyate, antyaś ca parispandarūpāṇām—Ibid.

16 ayam ca dharmameghaḥ iti Pātañjalair gīyate, amṛtātmā ityanyaiḥ, bhavaśatrur ityaparaiḥ, śivodaya ityanyaiḥ, sattvānanda ityekaiḥ, paraś ca ityaparaiḥ—Ibid. See YB 422.

17 ṢP XIV 2-3

18 ṢP XIV 1-3

order, and are known as *pravṛttacakra*[19] (engaged in yogic practices day and night) Gradually by practising the concentration of mind the soul realizes itself This self-realization is known as 'supreme bliss' (*paramānanda*) and freedom from nescience in the Vedānta, it is known as freedom from the specific qualities (in the *Nyāya-Vaiseṣika* system), it is the extinguished lamp (*vidhmātadīpa*) of the Buddhists, it is extinction of animality (*pasutvavigama*), end of suffering (*duḥkhānta*), and detachment from the elements (*bhūtavigama*)[20] Haribhadra thus tries to show the unanimity of the conceptions of final self-realization of all the systems of thought He then asks the enquirers to keep their minds open and investigate the truth with perfect detachment and freedom from prejudices For this purpose he enumerates eight virtues which are necessary for the pursuit of truth They are freedom from prejudice (*adveṣa*), inquisitiveness (*jijñāsā*), love for listening (*susrūṣā*), attentive hearing (*sravana*), comprehension (*bodha*), critical evaluation (*mīmāmsā*), clear conviction (*parisuddhā pratipatti*), and earnest practice (*pravṛtti*) for self-realization[21]

Now we come to the *Yogabindu* The object and purpose of *yoga* is the realization of truth And as there is no controversy about this object and purpose of *yoga* there should be none regarding the nature of *yoga* as well[22] The worldly existence is a fact accepted by all And freedom from it is the *summum bonum* of every spiritual system The problem before us is only the means to that end Haribhadra says that the same principle is expressed by different terms in different systems Thus the selfsame principle of consciousness is known as *puruṣa* in the *Vedānta* as well as the Jaina system, as *kṣetravit* in the Sānkhya system, as *jñāna* in the Buddhist school Similarly the fundamental ground of worldly existence is known as *avidyā* in the Vedānta and the Buddhist system, *prakṛti* in the Sānkhya school, and *karman* in the Jaina system Moreover, the relation between matter and spirit is known as *bhrānti* in the Vedānta and the Buddhist system, *pravṛtti* in the Sānkhya school, and *bandha* in the Jaina system[23] There is thus fundamental unity among all the

19 For the technical meaning of the term see *YDS*, 210
20 *ṢP*, XVI 1-4
21 *ṢP*, XVI 14
22. *Cf* mokṣahetur yato yogo bhidyate na tataḥ kvacit
sādhyābhedāt tathābhāve tū 'ktibhedo na kāraṇam —*YBi*, 3
23 *YBi*, 17-18 with Svopajñavṛtti

apparently conflicting systems of thought. There ought to be no real controversy among them about the fundamental things. Truth is truth. It is our different ways of looking at it that are responsible for the building up of different systems. Haribhadra does not favour cheap and superfluous compromise, but only tries to show the fundamental unity of all thought. Every earnest student of philosophy has his own way of looking at the truth. And the result is the origination of different systems. Haribhadra asks us to see unity in difference. For a spiritual aspirant it is necessary to avoid conflict and strive for a comprehensive understanding. About the course of self-realization there is absolutely no controversy among the otherwise mutually conflicting systems. Haribhadra lays down these five steps as a complete course of yoga: *adhyātma* or contemplation of truth accompanied by moral conduct, *bhāvanā* or repeated practice in the contemplation accompanied by the steadfastness of the mind, *dhyāna* or concentration of the mind, *samatā* or equanimity and *vṛttisaṁkṣaya* or the annihilation of all the influences of *karman*.[24] But one is not capable of this *yoga* until and unless one has worked out the requisite purification of the self. The soul naturally moves towards emancipation. It is because of this inherent capacity that the soul comes face to face with the Gordian knot (*granthi*)[25] of passions and cuts it asunder. The worldly existence of a soul falls into two periods viz. dark (*kṛṣṇa*) and white (*śukla*). The soul in the period preceding the cutting of the knot is known as belonging to the dark period (*kṛṣṇapākṣika*) and it is known as belonging to the white period (*śuklapākṣika*) when it has cut asunder the knot. The length of the white period is very small in comparison with the length of the dark period.[26] Only a soul belonging to the white period and following the moral conduct is capable of the first stage called *adhyātma*.[27] From the viewpoint of the stages of spiritual development, only the souls in the fifth or some higher stage are capable of it. But the problem is why should a soul cross into the white period at all? Or why should not all the souls do so? Haribhadra says that it is all due to the inherent nature of things.[28] He also refers to

24. YBL 31.
25. For the conception of *granthi*, vide author's *Studies in Jaina Philosophy*, p. 270.
26. The length of the white period is only less than even one *pudgalaparāvarta* while the length of the dark period covers an infinite number of such *pudgalaparāvartas*. A *pudgalaparāvarta* is the time required by a soul to absorb as *karmas* at least once all the atoms of the universe and release them after they have come to fruition.
27. YBL 72.
28. Cf. YBL 77.

the view of an exponent of the Sānkhya system, named Gopendra, who holds that the *puruṣa*, the principle of consciousness, does not even enquire about the path of realization unless and until the *prakṛti* has turned her face from him.[29] It is the nature of the spirit to get disentangled from matter. But this disentanglement is possible only when its conditions are fulfilled. However pious and virtuous and spiritually advanced one may appear to be, one is not capable of *yoga* unless one has cut the knot and attained the requisite purification of the soul. After such state has been achieved the soul is fit for the preliminary preparation (*pūrvasevā*) for *yoga*. This preliminary preparation consists in the worship of the preceptor and the gods, good conduct, austerity, and absence of hatred for the final emancipation.[30] The soul now attains right attitude and becomes a *bodhisattva*.[31] All the characteristics of a *bodhisattva* are present in such soul. Thus the soul henceforth does no more fall to the depth wherein heretofore it had been. A *bodhisattva* does not commit an evil act from the depth of his heart, but if he does so at all he does only physically. There is no more spiritual degeneration.[32] The soul which has cut the knot fulfils this characteristic. It now takes interest exclusively in the well-being of others, acquires wisdom, treads upon the right path, becomes noble, and appreciates merits.[33] It has now attained enlightenment (*bodhi*). But if the conception of a *bodhisattva* is narrowed down and made to include only those rare souls who are destined to redeem the world from sin and suffering, Haribhadra says that the Jaina conception of a *tīrthankara* fulfils that ideal.[34] There are some souls who are naturally inclined towards universal well-being and are destined to be *tīrthankaras* (founders of religion). Such souls are *bodhisattvas* in the true sense of the term.

In this connection, Haribhadra distinguishes three categories of souls destined to be emancipated. The first category comprises such souls who, as soon as they experience the first dawn of enlightenment on the annihilation of the knot, make determination to redeem the world of its suffering by means of the enlightenment and work strenuously in accordance with

29 *Ibid.*, 100 101
30 pūrvasevā tu tantrajñair gurudevādipūjanam
sadācāras tapo muktyadveṣaś ce ha prakīrtitāḥ—*YBi*, 109
31 *YBi* 270
32 *Cf Ibid.*, 271
33 *Cf Ibid.*, 272
34 *Ibid.*, 274

the determination. These souls are destined to become *tīrthaṅkaras*.[35] The second category comprises those souls who are intent upon the well-being of only a limited circle of relatives by means of the enlightenment. These souls become *gaṇadharas* (literally the possessors of the *gaṇa* 'group of virtues of transcendent intuition, knowledge, and the like) that is, the chief disciples of the *tīrthaṅkaras*.[36] The third category comprises those souls who strive for the well-being of themselves with little care for others These souls are destined to become ordinary kevalins (*muṇḍakevalin*).[37]

Let us revert to the topic of preliminary preparation for *yoga*. After such preparation the soul becomes fit for the first stage of *yoga* called *adhyātma*. The soul now observes the five vows and meditates upon the truth It now cultivates universal friendship, appreciates merits of others, develops sympathy for the suffering, and remains indifferent to the wicked. By these practices the soul overcomes the *karmans* reveals its spiritual energy improves its power of self-concentration, and becomes wise.[38] It then becomes fit for the second stage called *bhāvanā*. This stage is the consummation of the first. The soul now maintains steady progress. Its power of concentration increases. It now desists from bad habits and develops good ones.[39] The third stage is *dhyāna*.[40] Then we come to the fourth stage of equanimity (*samatā*) Here the soul makes correct estimate of the nature and value of things, and consequently loses attachment for them. The soul is now disillusioned and does not attach any importance to the supernormal powers that it might have acquired *by means of the yoga Then it reaches the fifth stage called* annihilation of the residual karmans (*vṛttisaṃkṣaya*) It now gradually destroys the accumulated *karmans* once for ever On the annihilation of the obscuring *karmans*, the soul attains omniscience. Then in due time it attains final emancipation.[42] This is in brief the plan of the *Yogabindu*.[43]

Next we come to Haribhadra's famous work *Yogadṛṣṭisamuccaya* The

35. *Ibid* 284-8.
36. *Ibid* 289.
37. *Ibid* 290
38. *Ibid.*, 358 f.
39. *Ibid* 360-1.
40. For the conception of *dhyāna*, vide author's *Studies in Jaina Philosophy*, pp 281-83
41. *Ibid.*, 364-5.
42. *Ibid.*, 366-7
43. Upādhyāya Yaśovijaya has followed this plan in his *Dvātriṃśikās* No. 12 to 18 as contained in the *Dvātriṃśad-dvātriṃśikā* published by Shri Jaina-Dharma Prasāraka Sabhā, Bhāvnagar.

author here distinguishes eight stages of yogic development The work records quite a novel plan of classification of yogic stages The most important feature of spiritual development is acquisition of *samyagdṛṣṭi* (love of truth) The soul undergoes gradual purification and along with the purification its *dṛṣṭi* (love of truth) becomes progressively steady and reaches consummation in the realization of the truth This gradual development of the *dṛṣṭi* has been classified into eight stages, *viz*, *mitrā*, *tārā*, *balā*, *dīprā*, *sthirā*, *kāntā*, *prabhā*, and *parā* Before coming to the description of these *dṛṣṭis* we shall refer in brief to the threefold *yoga* with the description of which the *Yogadṛṣṭisamuccaya* opens

A qualified yogic practitioner passes through a number of stages before he reaches the consummation of the practice Sometimes even in spite of his knowledge and will he falters in his practice on account of spiritual inertia (*pramāda*) The faltering practice is called *icchāyoga* [44] The practice of one who has revealed spiritual energy and does never falter in his yogic practices, strictly follows the scriptural injunctions, and has developed penetrating insight, is called *śāstrayoga* [45] The practice of one who has fully mastered the scriptural injunctions and has developed the power to transcend them is called *sāmarthyayoga* [46] This latter *yoga*, again, is of two kinds *viz* (1) that which is accompanied by the dissociation of all the acquired virtues (*dharmasamnyāsa*), and (2) that which effects the stoppage of all activity (*yoga-samnyāsa*) [47] The first kind occurs at the time when the soul undergoes the process of *apūrva-karana*[48] for the second time in the ninth stage of spiritual development while the second occurs in the last stage of spiritual development immediately after which the soul attains final emancipation [49] These, *viz*, *icchāyoga*, *śāstrayoga*, and *sāmarthyayoga*, are the three broad divisions of all the possible stages of *yoga* The eight *dṛṣṭis* which we shall now describe are only the elaboration of these three [50]

Dṛṣṭi means attitude towards truth This attitude is wrong and perverse so long as the soul has not cut the knot and attained purification The

44 *YDS* 3
45 *Ibid.*, 4.
46 *Ibid.*, 5
47 *Ibid.*, 9
48 For the conception of *apūrvakaraṇa* see author's *Studies in Jaina Philosophy*, pp 271-2
49 *Ibid.*, 10
50 *Ibid.*, 12

perverse attitude is known as *darśanamoha* or *mithyātva* or *avidyā*. The attitude of the soul which has not cut the knot is known as *oghadṛṣṭi* (literally commonplace attitude). The opposite of this is *yogadṛṣṭi* or the attitude of the spiritually advanced soul. It is also known as *saddṛṣṭi*, that is, right attitude. The *oghadṛṣṭi* is held to be responsible for the origination of the mutually conflicting systems of thought.[51] The eight *dṛṣṭis* that we have enumerated above are *yogadṛṣṭis* and not *oghadṛṣṭis*. Of course, of *these eight the first four belong to those who have not cut the Gordian* knot of passions. But even then they are not *oghadṛṣṭis* in view of the fact that they are destined to lead to the *yogadṛṣṭi*. It is only those souls who are destined to cut the knot and attain final emancipation that are capable of these *dṛṣṭis*. The eight *dṛṣṭis* have respectively been compared to the sparks of straw-fire (*tṛṇāgni*), cowdung fire, wood fire, the light of lamp, the lustre of a gem, the light of a star, the light of the sun, and the light of the moon.[52] The first four *dṛṣṭis* are unsteady and fallible. The *last four are steady and infallible.*[53] *The eight dṛṣṭis respectively* correspond to the eight famous stages of *yoga*, *viz.*, vows (*yama*), self-control (*niyama*), posture (*āsana*), regulation of breath (*prāṇāyāma*), withdrawal of the senses (*pratyāhāra*), fixing of the mind (*dhāraṇā*), concentration (*dhyāna*) and *samādhi* (ecstasy) found in the system of Patañjali. They are respectively free from inertia (*kheda*), anxiety (*udvega*), unsteadiness (*kṣepa*), distraction (*utthāna*), lapse of memory (*bhrānti*), attraction for something else (*anyamud*), mental disturbance (*ruk*) and attachment (*āsaṅga*). They are respectively accompanied with freedom from prejudice (*adveṣa*), inquisitiveness (*jijñāsā*), love for listening (*śuśrūṣā*), attentive hearing (*śravaṇa*), comprehension (*bodha*), critical evaluation (*mīmāṃsā*), clear conviction (*pariśuddhā pratipatti*) and earnest practice (*pravṛtti*).[54] This is about the general features of the *dṛṣṭis*. Now let us state in brief the specific characteristics of them one by one.

In the first *dṛṣṭi* called *mitrā* the soul achieves very faint and indistinct enlightenment. It here accumulates the seeds of yoga (*yogabīja*) which eventually fructify into emancipation.[55] The soul is now attracted towards

51. *Ibid.*, 14 with Svopajñavṛtti ... etassambandhano 'yaṃ darśanabheda iti yogācāryāḥ.
52. *Ibid.* 15.
53. *Ibid.*, 19
54. *Ibid.*, 16 with Svopajñavṛtti. Haribhadra here refers to the consensus of opinions of a number of authors regarding the stages of *yoga*.
55. *Ibid.*, 22.

the founders of religion and worships them with reverence It now earnestly and sincerely does the service of his preceptors and other sincere ascetics The soul now develops fear for worldly existence It now performs great and noble deeds It develops sympathy for the suffering multitude The soul is now free from the envy of the meritorious It now gets good opportunities for spiritual development The soul is now just in front of the knot (*granthi*) and is undergoing the process of *yathāpravṛttakarana* [56]

Now we come to the second *dṛṣṭi* known as *tārā* The enlightenment becomes a bit distinct here, and the soul is capable of some sort of self-restraint as well It now attains some sort of steadiness in spiritual activity, and becomes inquisitive about truth It now develops steady love for the discussions in *yoga* and has respect for the *yogins* The soul is now not so much desperate and does not indulge in evil activities so frequently It now aspires for spiritual progress and is conscious of its shortcomings The soul is now earnestly anxious to get rid of the worldly existence [57]

Next we come to the *dṛṣṭi* called *balā* Here the enlightenment becomes more distinct There is now strong desire for hearing the truth The evil desire automatically disappears at this stage and the soul gains control over posture [58]

In the fourth *dṛṣṭi* called *dīprā* one gets control over breath and is free from the lapse of *yoga* One has now heard about the truth but has not developed the power of understanding its subtlety The individual at this stage regards his religion dearer than his life and is always ready to give up his life in order to save his religion [59]

Real spiritual progress however has not set in as yet The truth has not dawned as yet The soul is only trying to capture the image of the truth instead of the truth itself The truth has not yet been realized The above four *dṛṣṭis* thus are not attended with the knowledge of the truth (*avedyasamvedyapada*) [60] It is only the next four *dṛṣṭis* that are 'attended with the knowledge of the truth' (*vedyasamvedyapada*) The *avedyasam-*

56 Ibid., 22-40 For the conception of *yathāpravṛttakarana*, see author's *Studies in Jaina Philosophy*, pp 269-271
57 *Ibid.* 41-48
58 *Ibid*, 49-50
59 *Ibid.*, 57-8
60 *Ibid.*, 67

vedyapada is to be transcended by means of the companionship of the virtuous and the study of the scriptures.[61] One makes various conjectures about truth until one sees it face to face. This leads to a number of speculative systems based on fallacious logic (*kutarka*).[62] Haribhadra, in conformity with our ancient tradition asks us to realize the truth by means of all these three organs, *viz* the scripture, the logical argument, and the practice of *yoga*. One must utilize the store of knowledge inherited from one's ancestors, one's own logical understanding, and the vision gained by spiritual discipline and culture for the ascertainment of truth.[63] The truth is one. It cannot be many. There is only the difference of terminology.[64] The state of final realization is known as *sadāśiva* in one system, as *para-brahman* in another as *siddhātman* in the third, and as *tathatā* in yet another system.[65] There can be no controversy when the truth has been realized.[66] If it is a fact that those who have revealed the truth have realized it, then there is no reason why there should be controversy among them. The various revelations therefore are to be understood in their relevant contexts. They can in no way be considered as false assertions. The enlightened souls have revealed the truth in accordance with the needs of the spiritual aspirants.[67] The selfsame revelation appears as different to different persons.[68] It is necessary to understand a revelation in its proper context. One should cultivate faith in spiritual revelations. This is most necessary for spiritual progress. This faith is wanting in all the four *dṛṣṭis* described above. It is only when the soul has properly cultivated this faith that it cuts the knot (*granthi*) and comes to possess the fifth *dṛṣṭi* known as *sthirā*.

The soul has now cut the knot. The enlightenment has now dawned. It is now infallible (*nitya*). The soul is now capable of subtle thinking and sinless conduct. It now looks upon the worldly things as the toys made of sand. The world now appears to be worthless show.[69]

Next we come to the sixth *dṛṣṭi* known as *kāntā*. Here the individual

61 *Ibid.*, 95.
62 *Cf. Ibid.*, 90-8
63. *Ibid.* 101
64 *Ibid.*, 127.
65. *Ibid.*, 128
66 *Ibid.*, 128.
67 *Ibid.* 133-2.
68. *Ibid.*, 134.
69. *Ibid.*, 153-4

develops personality and attracts others He is now engrossed in spiritual contemplation and has his mind firmly concentrated on the virtues The world now loses all attraction for him [70]

The seventh *drsti* is known as *prabhā* The soul has now developed the capacity for self-concentration and is free from all mental disturbances It has now achieved peace of mind (*sama*) The soul has now fully developed the power of discrimination [71] It now practises spiritual discipline without any ulterior motive (*asangānusthāna*) It is now in the seventh stage of spiritual development and is preparing to rise up to the eighth stage on the ladder of annihilation The soul is now marching on the great path (*mahāpathaprayāna*) which leads to the place from which one does never return (*anāgāmipadavaha*) Haribhadra remarks that this *drsti* is known as *prasāntavāhita* in the Sānkhya system, as *visabhāga-pariksaya* in the Buddhist school, as *sivavartman* in the Śaiva system, and as *dhruvādhvan* according to the Mahāvratikas [72]

We now come to the eighth *drsti* called *parā* The soul is now completely free from all attachment to the world It now achieves ecstasy (*samādhi*), the consummation of *dhyāna* The activities of the soul in this stage are free from all transgressions of the vows, and as such are pure and perfect The soul now dissociates itself from all the acquired virtues and has its purpose fulfilled [73] This occurs in the ninth stage of spiritual development The soul then gradually attains omniscience on the annihilation of all the obscuring *karmans* Now the final emancipation is attained by means of the last *yoga* known as *ayoga* [74]

Haribhadra distinguishes four types of *yogins*, *viz*, *gotrayogin*, *kulayogin*, *pravrttacakrayogin*, and *nispannayogin* The *yogins* of the fourth type have already achieved their objective and so do not need any instruction in *yoga* It is only the *yogins* of the second and the third type that need instruction [75]

70 *Ibid*, 160-2.
71 *Ibid*, 168 9
72 *Ibid*, 173-4
73 *Ibid*, 179
74 *Ibid.*, 184
75 *Ibid.*, 206 7 with Svopajñavrtti. About the definitions of these types see *ibid.*, 208 210

ABBREVIATIONS

SP = *Ṣoḍaśaka prakaraṇa* of Haribhadra with Yaśobhadra's Ṭīkā. Jamnagar (v. s. 1992)

YBI = Yoga-bindu of Haribhadra, Jaina Grantha Prakāśaka Sabhā Series No. 25 Ahmedabad, 1940.

YDS = Yoga-dṛṣṭi-samuccaya (ed. Prof. L. Suali, Ahmedabad)

YV = Yoga-viṁśikā of Haribhadra with Yaśovijaya's Vyākhyā. Agra, 1922.



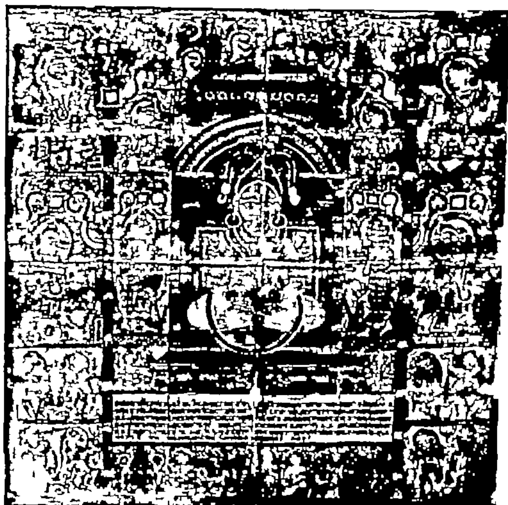
श्रीउदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदय महाकाव्यनी प्रतिमानु गुर्जरेश्वर महामात्य वस्तुपालना हस्ताक्षरवाळु पानु–आ प्रति खंभातना श्रीशान्तिनाथ ज्ञानभंडारमा छे

A page of Dharmābhyudaya Mahākāvya written by Vastupāla

संवत १२९४मा लखाएल एक ताडपत्रीय प्रतमा मळेली श्री हेमचंद्राचार्यजी तथा गुर्जरेश्वर कुमारपाळनी चित्राकृतिओ

Figures of Ācarya Hemacandra and Kumararāla on Palm-leaf manuscript of V S 1294

मुनिश्री पुण्यविजयजीना सौजन्यथी]



१५वीं शताब्दी वस्त्रपर चित्रांकित वर्धमान-विद्यापट
Vardhamāna-Vidyā Paṭa on cloth 15th Century

[illegible]] [illegible]

[illegible]

श्री विनयविजयोपाध्यायना हस्ताक्षर, लोकप्रकाश ग्रंथनी प्रथम नकलमांथी

Handwriting of Śri Vinayavijayopadhyaya—First copy of *Lokprakash*

सूरिसम्राट श्रीविजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजना ज्ञानभंडारमांथी]



लाख उपर दोरेलु सोनेरी चित्र

A picture drawn in gold on sealing wax

मुनिश्री पुण्यविजयजीना संग्रहमांथी]

न्यायविशारद न्यायाचार्य महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजना हस्ताक्षर (जम्बूस्वामीरास)

Handwriting of Mahopadhyaya Śrī Yaśovijaya Mahārāja in Jambusvāmīrāsa

मुनिश्री पुण्यविजयजीना संग्रहमांथी]

DHŪRTĀKHYĀNA IN THE NIS'ĪTHA-CŪRNĪ

Dr A N Upadhye, M A., D Litt

When I wrote my essay "The Dhūrtākhyāna a Critical Study"[1], I knew from a reference that the *Nisītha-cūrni* of Jinadāsa-gani Mahattara contained some information about the rogue Elāṣādha. Prof J C Jain, Bombay, later on informed me that he had read something like the *Dhūrtākhyāna* in that Cūrnī to the text of which unluckily I had no access It is lately that my friends Dr B J Sandesara and Dr U P Shah, Baroda, kindly made available to me the necessary extracts from the N -cūrnī, Cyclostyled-type-script-ed by Acārya Śrī Vijayapremasūri (Bombay V S 1995), vol I, pp 92-95 The following observations are based on these extracts, which are given at the close of this essay in an Appendix

To begin with there are the following three gāthās of the *Nisīṭha-bhāṣya* (nos 294-6) which give the requisite clue words of the illustrative tale

ससएलासाढमूलदेवखंडा य जुण्णउज्जाणे ।
सामत्थणे को भत्त अक्खात जो ण सद्दहति ॥ २९४ ॥
चोरभया गावीओ पोट्टलए बंधिऊण आणेमि ।
तिलअइरूढकुहाडे वणगय मलणा य तेल्लोदा ॥ २९५ ॥
वणगयपाडणकुंडिय छम्मासा हत्थिलग्गण पुच्छे ।
रायरयग मो वादे जहिं पेच्छइ ते इमे वत्था ॥ २९६ ॥

After these gāthās, the Cūrnī gives in Prākrit prose with a couple of metrical quotations in Sanskrit a fully developed story of the Dhūrtas At the end we have a sentence like this

सेसं धुत्तक्खाणगाणुसारेण णेयमिति ॥ गतो लोइयो मुसावातो ।

Looking at the clue words in the gāthās, one can say that the Cūrnī has given all that is obviously hinted in them, but the concluding colophon says that something is remaining and that it should be known from, or completed according to, the *Dhuttakkhānaga*

The story given in the *N -cūrnī* may be analysed thus Many Dhūrtas assembled in the Old Park to the north of Ujjainī in the territory of Avanti Three of them, males Śasaka, Elāṣāḍha, Mūladeva, and the fourth, a female, Khaṇḍapānā every one of them had five hundred rogues

1 This is included in the edition of the *Dhūrtākhyāna* by Jinavijaya Muni, Singhji Jain Series No 19, Bhāratīya Vidyā Bhavan, Bombay 1944

as their pupils, of their own sex. Once during the rains, it was pouring down for a week, oppressed by hunger these rogues wondered who would give them food. Mūladeva said 'Let every one narrate his experience or information, one who does not believe it should give a feast to all, but one who confirms it with parallels from the *Bhārata*, the *Rāmāyana* and other scriptures is not to give anything. All of them said, 'Very well.

Elāṣāḍha narrated this incident. 'When I went to the forest with cows, I saw some robbers coming. I packed the cows in my blanket, and returned to my village with that luggage to witness the sports of villagers. The robbers rushed in there. The entire village all men and animals, entered a cucumber. The robbers went away. A goat swallowed that cucumber a boa gulped that goat a crane picked up that boa and perched on a Vata tree, with one of its legs dangling down. An elephant from the king's military camp was tied to it. The crane started flying, the elephant was pulled up there was a hue and cry and consequently skilled archers shot the crane down. Its body was vivisected at king's orders; the boa, the goat, the cucumber were taken one from inside the other. The whole village came out of the cucumber along with myself and my cows. They all went to their respective places and I came here. Now tell me whether this is true. When they said that this is all true Elāṣāḍha asked, 'How can a blanket contain all the cows, and a cucumber the village?' Others added that in the *Bhārata* it is said that the whole universe was under one ocean there was an Egg in the waters, and the entire universe was contained in that egg. If so, why could not your cows be contained in the blanket, and why could not the village be contained in a cucumber. Secondly the entire universe was in Viṣṇu's stomach he was in Devakī's womb and she lay on her bed similarly the cucumber goat, boa and crane could each be contained in the belly of the next.

Śaśaka started narrati g: After ploughing the field, sesamum seeds were sown during winter and they grew into big trees. When a wild lephant pursued me I climbed a sesamum tree. It shook the tree and rushed round, showeri g the seeds and crushing them under its feet. There was a stream of oil and lot of mud in which the animal got stuck and died. I prepared a bag from its skin and filled it with oil. I te load f sesamum cakes and drank pots of oil. Putting that bag on the branch f a tree I reached home my son pulled the tree and took th bag. Thi is my experi ce one who does not accept it should give the f ast. Others a lded thus

These ideas are found in scriptures like the *Bhārata* and the *Rāmāyana*. A stream in which the entire army was plunged is described. Secondly, a big sesamum plant is not impossible, for it is said that at Pāṭaliputra a drum was carved out of a māṣa plant.'

Mūladeva then narrated 'As a youth, yearning for prosperity, I proceeded to the abode of Īsvara for a bath with a gourd-kettle and an umbrella in hand. A wild elephant rushed against me. There being no other alternative I entered the gourd-kettle through the spout. The elephant also followed me, but I could delude and evade it for six months inside. Then I escaped through the spout, the elephant also pursued me, but its tail-end was caught there. I reached the Ganges which I crossed easily, and took the stream of it on my head for six months. Then I saluted Mahāsena, came back here and met you all. Either accept this as true or give a feast to all the rogues.' Others added thus 'What you say is true and reasonable. Brāhmanas, etc., came out from the different parts of Brahmā's body in which the entire population was contained, similarly, the elephant and yourself could be contained in a gourd-kettle. Secondly, Brahmā and Viṣṇu could not reach the terminus of the Linga even after many years, still Umā's body could accommodate it, similarly an elephant and yourself could be contained in the kundikā. Thirdly, when Viṣṇu was reposing in the ocean, Brahmā came out of his navel, but the lotus (stalk) was stuck at it, similarly the tip of the tail could be stuck even when you both came out of the spout. Fourthly, Rāma ordered Sugrīva to get news about Sītā, Hanūmat was entrusted with this mission which he fulfilled by crossing the ocean by his arms, similarly you also could cross the Ganges. Lastly, when Gangā was invited on the earth, Pasupati received her in his matted hair for years together, similarly you could receive the stream of the Ganges for six months.'

In reply to Khandapānā's suggestion, the Dhūrtas said that they would not sacrifice their self-respect for a meal. She smiled and started narrating thus 'I am the daughter of a king's washerman. Accompanied by my retinue I went to the river with a cart-load of clothes to be washed. All the clothes spread in the sun were blown off by the wind. Being afraid of the king, I became a lizard and entered the garden where I changed myself into a mango tree. I heard one day that washermen were all forgiven, so I became myself once more. The ropes and stripes of the cart were eaten by jackals, so my father got them prepared from a

buffalo s tail. Tell me whether you accept all this as true Others said in this manner 'If it is true that Brahmā and Keśava could not reach the terminus of the Linga, how is it that your statement is not true. Secondly it is heard in the *Rāmāyana* that Hanūmat had a long tail, which, covered with rags and sprinkled with oil, was lit up and thereby Lankā was burnt, similarly ropes could be prepared from a buffalo s tail. Thirdly we hear in the scripture that King Gandharva became a dwarf, that Kīmaśva became a boa at Indra s curse and that a boa asked with a human voice seven questions to Dharma who answered them and rescued his brother and then became King Ravi on the termination of the curse Similarly that you became a lizard and then again yourself is quite believable.

Then Khandapānā suggested to them to submit to her lest they might be humiliated, but they were proud of their dignity She smiled and continued 'With king's permission I went out in search of my slave-servants who had run away· I visited many villages and towns and here I find that those slav servants are yourselves and those clothes are on your body· if true give the clothes if false gi e the feast. What is said is significant

It is necessary to compare Jinadāsa Dhūrtākhyāna (JD) with Haribhadra s Dhūrtākhyāna (HD) In JD there are only four Dhūrtas while in HD there are five the additional name being that of Kandarīka The order of their enumeration is slightly different, and Mūladeva does not occupy a very prominent position in JD as he does in HD In JD Elāṣāḍha, Śaśaka, Mūladeva and Khandapānā narrate their experiences one after the other their experiences being confirmed by all the rogues and not by any one specifically as in HD What Elāṣāḍha narrates as his experience in JD is put in the mouth of Kandarīka in HD where Elāṣāḍha confirms it with Purānic stories The patterns of the stories narrated by Śaśaka, Mūladeva and Khandapānā are the same in both, with the difference that Mūladeva is given the third turn in JD and the narration of Khandapānā is substantially longer in HD with the result that the whole tale assumes different form t the close in HD That which is put in the mouth of Elāṣāḍha by HD is absent in JD

Wh t Elā āḍh narrates in JD has some additional details in HD It i confirmed by other rogues by only two parallel events from the *Bhārata* etc. in JD but by six p rall l stories in HD The patterns of experiences of Śaśaka a d Mūladeva are ba cally the same in both but, if JD confirms

them with two and five similar contexts from the srutis, HD gives ten and eight parallels Thus it is obvious that HD draws upon a wider range of mythology and gives meticulously more episodes to confirm the obviously incredible details of personal experiences

Comparing similar contexts one finds that the narration in JD is uniformly simple and direct Words and phrases from it are bodily found in HD It is interesting to compare common expressions in JD and HD in similar contexts A few passages[2] are reproduced below

JD	HD
(१) उज्जेणी णाम नगरी, तीसे उत्तरपासे जिण्णुज्जाण णाम उज्जाण । तत्थ बहवे धुत्ता समागया । एक्केक्कस्स पच पच धुत्तसता, धुत्तीण पचसय खडपाणाए। अह अण्णया पाउसकाले सत्ताहवद्दले भुक्खत्ताण इमेरिसी कहा सवुत्ता । को अम्ह देज्ज भत्त ति । मूलदेवो भगति । ज जेगणुभूय सुय वा सो त कहयतु । जो त ण पत्तियति तेण सव्वधुत्ताण भत्त दायव्व । etc	(१) उज्जेणी णाम णामेण ॥ २ ॥ तीसे उत्तर पासे उज्जाण ॥ ३ ॥ तत्थ धुत्ताण सया णेगा समागया ॥ ४ ॥ इक्किक्कस्स य तेसिं धुत्ताण पच पच सया ॥ ७ ॥ धुत्तीण पचसया खडवणाए ॥ ८ ॥ सत्ताहदुद्दिणम्मि ॥१०॥ सीअवद्दलाभिहया । भुक्खत्ता बिंति तहिं को अम्ह दिज्ज भत्त ति ॥ ११ ॥ अह भणइ मूलदेवो ज जेण सुअ च समणुभूअ वा । सो त कहेउ सव्व ॥ १२ ॥ जो त न पत्तिइज्जा तेण सव्वेसिं । धुत्ताण दायव्व भत्तपाण ति ॥ १३ ॥
(२) चोरा कलयल करेमाणा तत्थेन णिवतिता । सो य गामो सदुपदचउप्पदो एक्क वालुक पविट्ठो वडपायवे णिलीणा सद्दवेहिणो गहियचावा पत्ता पतगसेणा इव भूविलाओ सो गामो वालुकातो निग्गतुमारद्धो ।	(२) कलयलरव करिंता पडिया चोरा णवरि तत्थ ॥ २ १०॥ तो सो सव्वालवुड्ढो सहत्थिओ जणवओ सपसुगणो । अह घोडएहिं सहिओ वालुक अइगओ स वो ॥ ११ ॥ सा तत्थेव णिलीणा तुगे वडपायवे विउले ॥ १४ ॥ सपत्ता सद्दवेहिणो जोहा । इसुचावगहियहत्था ॥ १७ ॥ जह सलभाण य सेणा रेप्फविलाओ विणिक्खमइ ॥ २३ ॥
(३) तरुणत्तणे अह इच्छियसुहाभिलासी धारधरणट्ठताए सामिगिह पट्ठितो छत्तकमडलहत्थो पेच्छामि य वणगय मम वहाए एन्तमाण, ततो अह भीतो अत्ताणो असरणो किंचि गिट्ठक्गट्ठाण अपस्समाणो दगच्छड्डुणगालएण कमडल अतिगओ म्हि । सो वि गयवरो मम वहाए तेणेव[णालए-]ग अतिगतो । ततो मे सो गयवरो छम्मास अतोकुडीयाए नामोहिओ etc.	(३) तरुणत्तगम्मि अहय इच्छिअसुहसपय अहिलसतो धाराधरणट्ठाए सामिगिह पत्थिओ सुइर ॥ १-१८ ॥ छत्तकमडलुहत्थो पिच्छामि अ गयवर इत ॥ १९ ॥ अत्ताणो अ असरणो कत्थ णिलुक्कामि इ ति चिंततो तो सहसा य अइगओ कमडलु ॥ २१ ॥ मज्झा णुमग्गलग्गो कमडलु अइगओ सिग्घ ॥ २२ ॥ इत्थि कमडलुम्मी वामोहेऊण छम्मासं etc

2 The Prākrit passages reproduced in this paper are exactly as they are in the extracts supplied to me I am aware, they present some difficulties of interpretation in some places

The two Sanskrit quotations found in JD are also there in the same context in HD (namely *tesām* etc HD 4-20 and *tava prasādāt* etc HD1-87*1) HD adds more dignified descriptions here and there and additional details are presented in it in smooth gāthās. JD wants just an illustration f Laukika-musāvāda, and whatever is given by the Cūrņi serves that purpose

HD has ts own characteristics It is an ind pendent treatise put in a well thought-out satirical *frame the opening and concluding portions* fully bear out this The satirical effect in HD is worked out more logically and in a subtl and effective manner which is conspicuously absent in JD What HD adds after 5-76 has nothing corresponding to it in JD and it may not be just an accident that the major portion of it is composed in a heavy style In its concluding portion HD puts together a number of d tached pisodes, especially from the *Bhārata* and *Rāmāyaṇa*, and asserts that all of them are incredible

From the extract I am inclined to believe that the Cūrņi gives all that is hinted in the Bhāsya-gāthās The colophon *lesam dhuttakkhāṇa gāhanusārena neyam* iti, if t is genuine and belongs to the author of the Cūrņi, would lead us to the conclusion that there was longer *Dhuttakkhāṇa* in Prākrit prose from which the major portion is extracted by the Cūrņi

The objective comparison of JD and HD leads me to the conclusion that HD is an elaborated and perfected work based on JD or its predecessor as postulated bove The reasons for this may be stated as below

(1) JD is uniformly shorter in its pattern tales and confirmatory pisodes from the Purāṇas all of whi h are better worked out with supplementary details in HD
(2) HD incorporates everything in JD and adds more details to it
(3) The simple and narrative details f JD are presented in a more elaborate manner and polished style in HD
(4) The number of characters and of references to Purāṇic tales increases in HD wh ch presents them more logically and effectively
(5) What is a simple narrative illustration in JD is enlarged into an effective satire in HD with seeds of religious propaganda which are later on elaborated in the *Dharmaparīkṣā* texts

Thus Haribhadra has built his satirical masterpiece incorporating or

using both words and ideas from an earlier *Dhuttakkhāna* preserved in the Cūrnī By his literary genius, logical acumen and wide learning he has shaped the simple stuff into a dignified literary masterpiece, unique in Indian literature

The above objective comparison of the two versions in the JD and HD and the conclusion that Haribhadra used for his *Dhūrtākhyāna* the story given in the Cūrnī does not in any way violate the relative chronology of the two authors, Jinadāsa and Haribhadra Jinadāsagani Mahattara, the author of *N Cūrnī,* has also written a Cūrnī on the *Nandisūtra* which was composed by him in Śaka 598 or 677 A D[3] and Haribhadra is assigned to a period about 750 A.D[4]

APPENDIX

[The story from the *N Cūrnī* is presented here with minor corrections, adjustments in punctuation etc]

अवती । उज्जेणी णाम नगरी, तीसे उत्तरपासे जिण्णुज्जाण णाम उज्जाण। तत्थ बहवे धुत्ता समागय ससगो, एलासाढो, मूलदेवो, खडपाणा य इत्थिया। एक्केक्कस्स पच पच धुत्तसता, धुत्तीण पचसय खडपाणाए। अह अण्णया पाउसकाले सत्ताहवद्दले भुक्खत्ताण इमेरिसी कहा संवुत्ता । 'को अम्ह देज्ज भत्त' ति। मूलदेवो भणति 'ज जेणणुभूय सुय वा सो त कहयतु, जो त ण पत्तियति तेण सव्वधुत्ताण भत्त दायव्व । जो पुण भारह-रामायणसुतीसमुत्थाहि उवणयउववत्तीहिं पत्तीहिति सो मा किंचि दलयतु'। एव मूलदेवेण भणिते सव्वेहि वि भणिय 'साहु साहु' त्ति। ततो मूलदेवेण भणिय 'को पुव्व कहयति'। एलासाढेण भणिय 'अह मे कहयामि'।

ततो सो कहिउमारद्धो । "अह गावीओ गहाय अडवि गओ, पेच्छामि चोरे आगच्छमाणे । तो मे पावरणी-कबली पत्थरिऊण तत्थ गावीओ छुभिऊणाह पोट्टलय बधिऊण गाममागतो, पेच्छामि य गाम-मज्झयारे गोद्दहे रममाणे । ताह गहिय गावो ते पेच्छिउमारद्धो । खणमेत्तेण य चोरा कलयल करेमाणा तत्थेव णिवतिता । सो य गामो सदुपदचउप्पदो एक्क वालुक पविट्ठो । ते य चोरा पडिगया । त पि वालुक एगाए अजियाए गसिय । सा वि अइआ चरमाणा अयगलेण गसिया । सो वि अयगलो एक्काए ढकाए गहितो । सा उड्डिउ वडपायवे णिलीणा । तीसे य एगो पाओ ओलबति । तस्स य वडपायवस्स अहे खधावारो ठिओ । तमि य ढंकापाए गयवरो आगलितो । सा उड्डिउ पयत्ता । आगासिउ पाओ, गयवरो कड्ढिउमारद्धो । डोवेहिं कलयलो कओ । तत्थ सद्दवेहिणो गहियचावा पत्ता । तेहि सा जमगसमग सरेहि पूरिता मता । रण्णा तीए पोट्ट फाडाविय । अयगरो दिट्ठो, सो वि फाडाविओ । अजिया दिट्ठा, सा वि फाडाविआ । वालुक दिट्ठ रमणिज्ज । एत्थतरे ते गोद्दहा उपरता । पतगसेणा इव भूमिलाओ सो गामो वालुकातो निग्गतु-

3 Shri Jinavijaya The Date of Haribhadrasūri, A Paper read at the First Oriental Conference Poona 1919, p 144 H Jacobi *Samarāiccakahā*, Calcutta 1926, Intro p iii

4. A portion of this essay was presented to the Prākrit and Jainism Section of the XVII Session of the All-India Oriental Conference, Ahmedabad

मारओ । अहं पि गहिय पाणो निग्गओ । तओ सो अहो भग्गपाणि गओ । अहं पि भयउब्भिन्न पाणो हर मागओ । तं भणइ वरं तत्थं ।" देवदत्ता भणति तयं तयं । एवमागओ भणति वरं धाणीओ पंचमीए मासम्मो गामो य चालुके । देवदत्त भणति भागरुहीए पुण्णति ता पुण्णं आसी एवमणं पणं तत्थं, तम्मि य गओ अंतं आसी । तम्मि य अंतरे उसेज्झरायाणं जाव तत्थं तती मासं तो [P 93] मम पंचमीए याओ वालुके वा गामो य माहिति । जं भणसि यथा देवहरे अप्पाणे तस्स य आलिम्प चीए पाउके एवं मि भणति उवरं । तदुपपुरं उनायं उसेज्झरायाणं जो धर्मं यस्स निग्गुणतुरे मासं तं नि य देवदी वरेरे मायो, ता नि य उवमिज्जे माया अह पर्व तयं तो तुह मत्तं वरं भतव भविस्सति ।'

तओ तयमे कमिनुमारओ । "अम्मे वसुनियुत्त ममाउं च मरिउमति । अहं तस्साले पतं गामिं गओ । तम्मि य केवे सिये पुत्ते । तो य परियो आवो ये पर कुवारेवि देवमडे । तं वसंता परिमम्मामि, पेम्मामि य भासण्ण ममार । तेवामि उम्विज्जो पयसो, पेच्छामि य मरुप्पमाणं निवसणं, तम्मि निवमडे पत्ते य गमरये । सो मे मयमंडे कुम्भयरं च य निवसणं परिमम्मति पावेति तस्स निवसणं । तेण य पाविते अवरो मिय सिये विमुद्धि कुणति । तत्थ य भंतेरेय यावरिया निर ते निया निविया । तम्मा तेवलोए भम मरी मूया । सो य गओ तत्थेव निवयणमीए पुत्त मओ य । मया मि ते भम पत्तिं पविनो मओ तेवरवमरिओ । अहं पि कुमिओ एवमायं मणस्सामि, एव तेवमया निविमा निवामि । तं य तेवपविपुण्ण एवं वेतु मयं पविओ । मामवहिय ससदुवयाए निविनयित वे एवं निरमविओ । पुत्ते य मे एवमत्त येवियो । सो तं वारे य पयर यारे सप्पं पावेवं मेनेत्या । अहं पि गिरवमोरे उमोहिं परिमलंतो हस्मयम्मो । एवं पुत्त मे मसुवरं । वो य पविमति तो तेव मयं । देवदत्त भणति अमिय एवो य मावो मायरयमत्तणे कुमोहु भवति ।

तेय यवयरभोर्वयन्तो मरमिनुमि ।
मायर्वव नवी पोय हत्थसरप्पवाहिनी ॥ १ ॥

य भणसि वरं पमाउं निवसणे भवति । एरय भणति—पाडलिपुत्ते निव मायरयस्ते पेटी निम्मविय तो मिव निवसणे पमाउं य होज्जति ।

तओ मूलदेवो भणिउमारओ । सो भणति उज्जयणे अहं इच्छियसुहाभिलासी धायारसद्दप्पाए सामिगिहं पविट्ठो उवरसंयमवत्थो, पेच्छामि य अमारं मम भवए एवमायं । तओ अहं मोवी भयवं भवत्थो मिवि निमुणमाणं भणसम्मादो एवमत्त एवमवय एवं पसेवं भारिमयो मि । सो मि एवरो मम भवए तेवेवरं भमिगओ । तओ मे सो अमरो अम्मयं भंतोमुंयेवए वमोहियो । तओ ई अम्मायरे हुविममिए निम्मओ । सो मि य अमसयो तेवत्तेय निमाओ भारं वाउमी ते कुसियमीवये अम्मो । अमयमि कुव्वो पेच्छामि अमोवयरं गेवं । ता मे योसमीम विमा । मओ मि वामिमिवं । तत्थ मे तवदुपुरसमे मसयेमायेव अम्मयरा पारिय पारा । तओ पयमिमण मरावेव पयमो वंपये हमेमि, हुम्मं य हर मिमिओ हवि । तं यव एवं तत्थं तो मे देवमी पविमावेद । भयमव्व भमिये वि कुवत्ते वेर यो मयं ।" तेवि मणिवं तत्थं । मूलदेवो भणइ अह एव्य । ते भणति कुणेर । यव पुत्तं वंमयरस कुरावो मिया मियमेव, पासभो परिमा सस्सु भारत्थ, परेसु कुरकुरा । यव हत्थिमो भमसमो तमुवरे मामो तो तुमं हत्थी य कुंडियाए य माहिर । भग्गं य मिव पमाओ मिणू य उवारं पावंता भवा विवयालस्सवं तव मि मिमयंतो य पत्ते । तं यव पमाउं विय उमाए वरीरे माव सो तुवं हत्थी य कुंडियाए य माहिर । जं भणति पवमे हत्थी वरं अम्यो तं कुमसु । मिणू भारत्थ वय [P 94] पगयमो उपति तं भयवमयत्तो, तत्थ य यमीमरो मम पयमममणिये मिमओ भार पंचमयमीए अम्मो एय यव तुमं हत्थी य मिमिमओ हत्थी

वालग्गे लग्गो को दोसो । ज भणसि गगा कह उत्तिण्णो, रामेण क्लि सीताए पव्वतिहेउ सुग्गीवो आणत्तो, तेणावि हणुमतो, सो बाहाहिं समुद्द तरिउ लकापुरिं पत्तो, दिट्ठा सीता, पडिणियत्तो । सीयामत्तुणा पुच्छितो कह समुद्दो तिण्णो भणाति ।

तव प्रसादात् तव च प्रसादाद् भर्तुश्च ते देवि तव प्रसादात् ।
साधूनते येन पितु प्रसादात्तीर्णो मया गोष्पदवत्समुद्र ॥

जइ तेण तिरिएण समुद्दो बाहाहिं तिण्णो तुम कह गग ण तरिस्ससि । ज भगसि कह छम्मासे धारा धरिता, एत्थ वि सुणसु । लोगहितत्था सुरगणेहिं गगा अब्भत्थिता 'अवतराहि मणुयलोग'। तीए भणिय 'को मे धरेहिति णिवडिंतीं'। पसुवतिणा भणिय 'अह ते एगजडाए धारयामि'। तेण सा दिव्व वासम-हस्स धरिता । जइ तेण सा धरिता तुम कह छम्मास ण धरिस्ससि।'

अह एत्तो खडपाणा कहितुमारद्धा। सा य भण्णइ। 'ओलवित ति अम्हेहिं जइ अजलि करिथ सीसे ओसप्पेह जति न मम तो भत्त देमि सव्वेसिं।' तो ते भणति 'धुत्ती, अम्हे सव्व जग तुलेमाणा चिट्ठ एव दीणवयण तुब्भ सगासे भणिहामो।' ततो ईसिं हसेऊण खडपाणा कहयति "अहग रायरजकस्स धूया। अह अण्णया सह पित्रा वत्थाण महासगड भरेऊण पुरिससहस्सेण सम णदिं सलिलपुण्ण पत्ता। धोयाणि वत्थाइ, तो आयवदिण्णाणि उव्वायाणि। आगतो महावातो। तेण ताणि सव्वाणि वत्थणि अवहरिताणि। ततो ह रायभया गोहारूव काऊण रयणीए णगरुज्जाण गता। तत्थ ह चूयलया जाता। अण्णया य सुणेमि जहा रयगा डम्मिट्ट्तु अभयो सिं। पडहसद्द सोऊण पुण णवसरीरा जाया। तस्स य सगडस्स णाडग वरत्ता य जबुएहिं छागेहिं भक्खिताओ। तओ मे पिउगा णाडगवरत्ताओ अण्णिस्समाणेण महिसपुच्छा लद्धा, तत्थ णाडगवरत्ता वलिता। त भगइ किमेत्थ सच्च।" ते भणति। 'बभकेसवा अत न गता लिंगस्स जति त सच, तुह वयण कह असच्च भविस्सइ'त्ति। रामायणे वि सुणिज्जति जइ हणुमतस्स पुच्छ महत आसी, त च किल अणेगेहिं वत्थसहस्सेहिं वेढिऊग तेल्लघडसहस्सेहिं सिंचिऊग पलीविय, तेग किल लकापुरी दड्ढा। एव जति महिसस्स वि महतपुच्छेग णाडगवरत्ताओ जायाओ को दोसो। अण्ण च इम सुई सुव्वति जहा। गधारो राया रण्णे कुडवत्तण पत्तो, अवरो वि राया किमस्सो णाम महाबलपरक्कमो, तेण य सक्को देवराया समरे णिज्जिओ, ततो तेण देवरायेग सावसत्तो रण्णे अयगले जातो, अण्णया य पडुसुआ रज्जयभट्ठा रण्णे ठिता, अण्णया य एगागि णीग्गतो भीमो, तेण य अयगरेण गसितो, धमसुतो य अयगरस्स मूल पत्तो, ततो सो अयगरो माणुसीए वायाए त धम्मसुत सत्त पुच्छातो पुच्छति, तेण य कहितातो सत्त पुच्छातो, ततो भीम णिग्गिलइ, तस्स सावस्स अतो जातो, जातो पुण रविराया। जइ एय सच्च, तो तुम पि सब्भूत गोहाभूय समाग गतूण पुणण्णवा जाता।' तो खडपाणा भगति 'एव गते वि मज्झ पणाम करेह, जइ कहचि जिप्पह, तो काणा त्रि कव्वडिया तुब्भ मुल्ल ण भवति।' ते भगति 'को म्हे सत्तो णिज्जिऊग'। तो सा हसिऊग भगति 'तेसिं वातहरियाण वत्थाण गवेसणाय णिग्गया रायाण पुच्छिऊण, अण्ण च मम दासचेडा णट्ठा, ते य अण्णिस्सामि, ततो ह गामणगराणि अडमाणी इह पत्ता, त ते दासचेडा तुब्भे, ताणि वत्थाणिमाणि जाणि तुब्भ परिहियाणि, जइ सच्च तो देह वत्था, अह अलिय तो देह भत्त।' असुण्णत्थ भणियमिण ।

सेस धुत्तक्खाणगाणुसारेण णेयमिति ॥ गतो लोइयो मुसावातो ।

THE PLACE OF JAINISM IN INDIAN THOUGHT

Dr FELIX VALYI

The study of Jainism has been neglected for a long time It was considered to be an insignificant offshoot of Hinduism. In France only Guerinot dedicated his life to the analysis of the original sources of Jaina Philosophy The Indologists of France were absorbed by the study of orthodox Brahmanism with a few exceptions, such as the great Burnouf, whose "Introduction to the History of Buddhism is a classic, and Emile Senart, who made deep study of Aśoka s Inscriptions, while Sylvain Levi specialized in the Sanskrit sources of Buddhist Philosophy Guerinot's monograph on Jainism is an outstanding work, a monument of erudition and philosophical appreciation

In Germany an important group of Indologists with Herman Jacobi at their head took up scientific investigation of the Jaina Tradition, but in France the Sorbonne and the College de France neglected Jainism as field of study although Sylvain Levi repeatedly warned his disciples that the unexplored field of Jaina Studies deserves the attention of Indian scholars.

Undoubtedly the originality of Mahāvira's philosophy which dominates the Jaina community appears of the highest importance from the point of view of Indian Culture The fact that a small minority of Jainas, ot exceeding one and a half million, is submerged among the hundreds of millions of Hindus, should not close our eyes to the significance of Jaina Philosophy for the origins of Indian Thought.

Mahāvira, the 24th Tirthankara, is now recognized as one of the greatest thinkers of Ancient India, the equal of the Buddha in virtue of his profundity and his character The contemporaneity of the two greatest sages of Ancient India is accepted as historic fact the two lived in the same 6th Century before Christ, in the same province of Magadha, preaching in the same towns and villages, at Rājagrha and Vaiśāli They must have met and exchanged ideas according to all psychological probabilities, although we d not possess textual evidence concerning their personal relations

1 The French Original of this article was broadcast to Europe by the All India Radio from New Delhi on June 18th, 19[illegible], as part of series on Indian Thought and its influence on the European Mind Reproduced by permission of the All India Radio

The objective analysis of Mahāvīra's and Buddha's Thought shows the many common points which characterize Jainism and Buddhism *Ahimsā* and *Nirvāna* are concepts which belong to both systems If we go deeply into the origins of these concepts, we are bound to accept the Jaina Tradition as the source of these specific aspects of Indian Thought Jainism with its pre-historic background and its 24 Tīrthankaras preceded Buddhism by several centuries, although we cannot accept Jaina mythology which obscured the history of the community Nevertheless the historicity not only of Mahāvīra, but of Pārsva, the 23rd Tīrthankara, who lived 250 years before Mahāvīra in the 8th century before Christ, the very century which gave birth to the first authentic Upanisads, is now beyond doubt Even the name of Neminātha, the 22nd Tīrthankara, was found on a copper-plate, which authorizes the historians of Ancient India to accept the probability of the existence of pre-historic Tīrthankaras, however fantastic the chronology attributed by Jaina mythology seems to the scientific mind

The historic existence of two Jaina Orders at the time of the Buddha has been verified, both had preceded Buddhism as monastic institutions The Order founded by Mahāvīra was a simple organizational reform reorganizing the Order of Parsva The Jaina communities were long divided and still quarrel about the authenticity of their sects

Both Mahāvīra and Buddha were princes of the ksatriya tribes, in revolt against the privileges of the Brahmin priesthood Jainism represents the first social revolution in Indian history, opening the gates of knowledge to the ordinary people, accepting in the *Sangha* whoever was willing to submit to the severe discipline of the Order The Buddha himself must have experimented with the Jaina discipline of self-mortification during the years of meditation under the Bodhi Tree, before proclaiming the Middle Path as the way to Enlightenment between self-torture and pleasure-seeking

The essential difference between Jainism and Buddhism is just this extreme severity which Mahāvīra has imposed upon the monks of his order, who must renounce all pleasures and live a life of total abstention from every point of view They were forbidden to eat even tomatoes, onions, potatoes as containing germs of living creatures, and the respect for All Life, for all that grows and lives on earth and in the air, became an orthodox dogma The most severe form of *Ahimsā* is the principle which unites all the four sects of Jainism in their horror of war Their

division into "Digambaras" and "Śvetāmbaras" into multi-pūjā sects and the two sects which reject all image worship, Sthānakavāsis and Terāpanthis should not hide their essential allegiance to the principle of non violence as the common ground of all Jainas

Mahatma Gandhi's mother was a Jaina, his guru at Porbandar in his native city was an eminent Jaina sage and his heart was since childhood impressed by the Jaina tradition of *Ahimsā* which became the guiding star of all his life The historians of contemporary India should not forget this decisive influence in Gandhiji's career which determined the destiny of the nation

Mediaeval Hinduism has proclaimed both Jainism and Buddhism "heresies" opposed to the Vedic culture The Brahmin priesthood saw danger to their privileges in the fact that both Jainism and Buddhism gave access to the lower castes to higher knowledge and wanted to monopolize the wisdom of ancient India for themselves as a source of prestige and income Recent research has dissipated the false pretenses of mediaeval orthodoxy as the sole custodians of Indian Wisdom. The reactionary paṇḍits are fighting a losing battle against the enlightened opinion of critical scholarship which now recognizes that the original spirit of Ancient India is to be found in the teachings of Mahāvīra and Buddha, who might differ in the way *Ahimsā* should be applied in daily life but fully agree in rejecting the monopoly of Orthodox Brahmanism, as misinterpreted by the mediaeval commentators Philosophical Brahmanism is an integral part of a common heritage of all the great sages of the Upanisadic Age, in which both Jainism and Buddhism share accepting the ideal of universality and rejecting the excesses of ritualism. Both insist on the necessity for the individual to develop his mind through his own spiritual effort and to ascend to a higher level without any intermediary between himself and the Divine Powers

The discipline of body and mind prescribed by Ancient Indian Thought constitutes the most original contribution of India to human psychology Its basis is Yoga and Jainism is pure Yoga in its attempt to liberate the spirit from all earthly forces There is Jaina Yoga, as there is Buddhist Yoga and Hindu Yoga, with this difference Mediaeval Orthodoxy corrupted the original spirit of Yoga which became a tool of fakes, thousands of fakes who abuse religion for personal aggrandizement

Both Mahāvīra and Buddha must be understood as Masters of Yoga, who laid the foundations of Indian Psychology—showing the way towards spiritual perfection, raising human nature to a higher level and demonstrating the possibility of attaining Enlightenment which means cosmic consciousness, self-identification with all life, with the Universe in the service of the highest ideal ever attained in history. Selflessness.

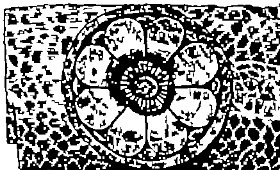
The Jaina System of philosophy has developed a theory of Karma of immense interest: according to Jainism, the soul is originally pure, but it becomes contaminated by material particles through contact with the world. The task of the Jaina saint is to liberate his soul from all these particles through absolute renunciation and to recover the purity of his soul. Purity and perfection are the ideals which India borrowed from the Jaina tradition. Only the methods vary, but the ideal is the same.

Modern psychology refuses to assent to this contempt of all matter. Human nature is considered to-day as one single entity, divided into body and mind, but trying to integrate the two aspects of man into a harmonious whole. Like the Christian doctrine, Hindu thought separated body and mind as two incompatible entities and looked upon the soul as a slave of physiology to be liberated by religious training. The modern view of mankind does not accept this radical division of the material and the spiritual. Nevertheless the ideal of spiritual freedom, freedom from all the contingencies of the industrial civilization which have enslaved the Western world, makes the study of Indian thought very instructive for modern man eager to disentagle his inner life from the shackles of materialism. Ancient India has proved the potentiality of such perfect spiritual freedom, even if we concede that only exceptional individuals of immense will-power have ever attained the highest form of Liberation of the spirit.

The Jainas themselves recognize that the 24th Tīrthamkara was the last in this cycle of earthly existence and that it is impossible today to attain the highest spiritual level. The Jaina saints with all their rigorous discipline are still in bondage to physiology, although they demonstrate every day the possibility of reducing such bondage to the absolute minimum. Mahāvīra is essentially interesting from the psychological point of view as the incarnation of Will Power, Spiritual Will in its purest form.

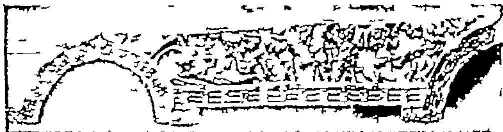
Ahimsā is a principle of universal love, for the single purpose of transforming human nature from the animal plane into a spiritual sphere such

as all historic religions tried to promote Jainism served as a ferment in the history of India, fertilizing the noblest elements in Indian character Although the Jaina communities have degenerated and share in the moral decay of mankind, Mahāvīra personality shines high above the vulgarity of our age and deserves to be recognized as one of the greatest sages of all history





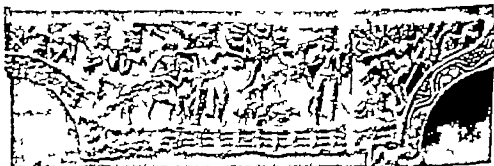
नर्तिका सित्तन्नवासल गुफाना जिनप्रासादनी दीवालपरनु विश्वविख्यात रंगीन चित्र . जैनाश्रित कलानो एक नमूनो
Painted figure of a dancing girl on pillar of Sittannavasal temple (Pudukota) c 7th Century



उदयगिरिको गणेशगुफाको फ्रिजको नमूनो
Part of frieze from Ganesagufā, Udayagiri



खण्डगिरि उपरको जैन-गुफा
J na Gufa Khandagiri



उदयगिरिको रानीगुफाको बरण्डाको नमूना
P rt of frieze in the upper verandah of Ranigufa Ud gir

A HISTORICAL OUTLINE OF THE LANGUAGES OF WESTERN INDIA

PROF K B VYAS, M A, F R A S

I

There are several languages spoken in Western India, of which Gujarātī, Western Rājasthānī, Mālavī, Cutchī, Sindhī and Konkanī are the principal ones Of these Cutchī and Sindhī are allied and so are Gujarātī, Rājasthānī and Māḷavī Konkanī, however, stands apart It has no affinity with its northern neighbours In this brief historical outline of the languages of Western India, we shall restrict ourselves mainly to Gujarātī which is admittedly the most outstanding and the richest of these languages

The area in which Gujarātī is spoken may be roughly outlined thus — In the north, Gujarātī is spoken as far as Cutch, where it is the court-language and the language of culture From there it extends to the north up to Mithi, 30 miles to the North of the desert of Cutch From here it extends to the East to Deesā, Pālanpur, and Mount Abu Beyond Mount Abu, the speech is Gujarātī or its dialectal form mixed with Mārwādī From this northernmost point, the boundary of Gujarātī descends south-eastward including within itself Mahikānṭhā, Iḍar, Dohad and Lunāwādā, Chhoṭā Udepur and Rājpiplā To the east and south of the Panchmahāls, Chhotā Udepur and Rājpiplā, Gujarātī slowly merges into the Bhillī dialects From Rājpiplā the boundary sharply descends southward covering the entire Surat District and a major portion of the Dāngs where it touches the area of Khāndesī From here further south upto Umbergāon and Dahānu, Gujarātī is spoken as the principal speech Beyond this to the south the Konkanī language is spoken which is claimed to be a dialect of Marāṭhī

These are then the limits of the area of the Gujarātī speech—from Mount Abu in the north to the Dāngs and Umbergāon in the south, and from Dvārkā in the west to Dohad in the east Roughly it includes the whole of Saurāsṭra and almost the entire northern division of the Bombay State which is popularly known as Gujarāt

The number of persons speaking Gujarātī in Gujarāt and Saurāsṭra alone comes to over 1,33,00,000 To these must be added 35,00,000 speaking

Gujarāti in the border lands of Gujarāt and in Cutch. Gujarāti is also the speech of a large and influential section of the population in Bombay The Gujarāti-speaking population is not negligible in Calcutta, Karachi, Madras, Nagpur Hyderabad and other important commercial and industrial centres of India. Gujarāti colonies are also to be found in Burma, South Africa, East Africa, Indonesia, and several other parts of the world, where they speak Gujarāti and follow Gujarāti traditions and culture

II

Gujarāti is thus a very important language indeed both culturally and politically on the western coast line of India. It is one of the few languages of the world which has a continuous history with full documentary evidence for every stage of its evolution, from the time of its inception right up to the present age From about 1200 A D the date of the first Gujarāti work discovered so far till the time of the advent of the English when printing was introduced, we find countless works belonging to various subjects composed in Gujarāti. They have been preserved in the various Jaina Jñāna-Bhandāras or manuscript-libraries attached to Jaina temples and Upāśrayas. Several important cities of Gujarāt are celebrated for their rich manuscript libraries dating from very early times In Pātan alone, there are Bhandāras which house no less than 40,000 old manuscripts of different ages, some of which are very rare on account of their antiquity wealth of illustrations and historical data Cambay is known for its collection of palm leaf manuscripts The other cities in Gujarāt too have such manuscript libraries, but the rarest manuscript-collection is found to have been preserved in the Badā Bhandāra of Jesalmer situated deep in the heart of Rājasthān Only a part of this great store of ancient literature, both religious and secular has come to light so far Numerous works of great antiquity and literary merit are still awaiting publication

The fact that Gujarāt was the great commercial centre of India from early times and enjoyed comparative peace and political security for long periods, contributed to the development of the Gujarāti language and literature in no small measure. In this process of development, as we shall presently see, Gujarāti came in contact with several foreign languages and cultures like the Persian Arabic, Portuguese and English, and was influenced by them to a certain degree

III

It would be very interesting to trace the history of the language of Gujarāt from the earliest times We must, however, remember that in earlier times the boundaries of Gujarāt were not the same as they are today Northern Gujarāt and Southern Rājasthān along with a part of Māḷvā then formed the territory known as the Gurjara desa Southern Gujarāt was then known as Lāta and remained for a long time under the influence of the south

Situated as the gateway of India, maritime Gujarāt witnessed from early times several immigrations—of Greeks, Bactrians, Śakas, Kṣatrapas, Gurjaras, Hūnas, Arabs, Turks and Mughals, many of whom made it their home

In the earliest times known to history the language spoken in Gujarāt and Saurāṣṭra was a dialect the conventionalized form of which is known as Vedic Sanskrit But of this speech we have no written evidence before the Asokan Inscriptions

Then—i e from 1000 B C to 600 B C—three or four dialects existed Udīcyā or the northern, Madhyadesīyā or the midland, Prācyā or the eastern, and the Pratīcyā or the western The northern dialect was the nearest to the Vedic and was standardized by Pānini in the present-day classical Sanskrit From the early eastern speech developed the Prakrit dialect spoken by Buddha and Mahāvīra, which was popularly known as the Māgadhī Prākrit A close examination of the inscriptions of Asoka (250 B C) reveals, besides the eastern Māgadhī, at least two other distinct dialects—the northern, allied to Paisācī, and the midland or western, allied to Śaurasenī The western dialect as recorded in the rock-edicts of Girnār contains several linguistic traits (such as the preservation of 'r' in consonant-clusters) which characterized Gujarātī speech from very early times

These spoken Prakrit speeches fossilized in course of time and resulted in a classical standardized form of common Prakrit which became the medium of literature and was treated by grammarians as the principal Prākrit This form of Prākrit became later known as Mahārāṣṭrī Prākrit or the language of a large portion of the country (Mahārāstra) The popular speeches of the north, midland and east came to be considered as the dialects of this speech and were termed as Paisācī, Śaurasenī and Māgadhī The language Avantijā or Avantī which Bharata mentions in

his *Nāṭyaśāstra* must be the speech then current in Saurāṣṭra, Anarta, Lāṭa and Maru (i.e. the present-day Gujarāt and Rājasthān). This speech may have been identical with or closely allied to the Śaurasenī of the Prākrit grammarians.

IV

From these early Prākrit speeches developed the Apabhraṁśa, the language current in considerable portion of northern India, from the 6th to the 10th century A.D. Some philologists lean to the view that there existed several regional Apabhraṁśas from which New Indo-Aryan speeches or Modern Indian Languages gradually evolved. On the other hand, other authorities believe that there was only one Apabhraṁśa current in Western India with slight dialectal variations.

From the evidence of early grammarians and rhetoricians, Apabhraṁśa has been connected with the Abhīras. It was that speech that developed into Apabhraṁśa. Their abode extended from the Indus delta to Cutch and Saurāṣṭra. They adopted the general Prākrit language, vigorously infusing into it the characteristics of their own speech, resulting in a powerful speech known as Apabhraṁśa. Three varieties of Apabhraṁśa are mentioned, but Hemacandra, the greatest and the most celebrated grammarian of the Middle Indo-Aryan languages, treats Apabhraṁśa as one homogeneous speech, and cites instances from the current folk literature of the period. This Apabhraṁśa is basically the Apabhraṁśa of Gujarāt (the Gurjara Apabhraṁśa) though there are traces of dialectal variations in this material. Some call this Apabhraṁśa Śaurasena, while others term it as Nāgara.

Apabhraṁśa too became, in course of time, a standard stylized speech in which considerable literature was composed. For instance, works like *Pauṁacariya*, *Kumārapālacarita*, *Bhavisayatta-Kahā*, *Vilāsavai-Kahā* are all composed in Apabhraṁśa. But linguistically the specimens from folk literature cited by Hemacandra in *Siddha Hemacandra* his Prākrit Grammar reflect the speech more faithfully than the stylized form used in literary works. These verses of Hemacandra are remarkable also from another point of view. Some of them reveal striking freshness of imagination and rare poetic charm. Several of these verses are erotic; a few are didactic while a large number of them are heroic.

The following erotic verses have a rare poetic charm about them

ढोल्ला सामला धण चंपावण्णी ।
णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी ॥
(Dhollā sāmalā dhana campāvannī/
Nāi suvannareha kasavaṭṭai dinnī//)

"The husband is dark in complexion, while the wife is fair as a *campaka* flower (she appears) like a streak of gold on the black touchstone"

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥
(Vāyasu uḍḍāvantiae piu diṭṭhau sahasatti/
Addhā valayā mahihi gaya addhā phutta tadatti//)

"While frightening away the crows the lady suddenly saw her husband coming home, half of her bracelets slipped down (while waving away the crow before she sighted her husband), while the remaining cracked with a noise (as a result of the joy which filled her when she saw her husband)"

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिया कुड्डु करीसु ।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगे पइसीसु ॥
(Jai kemvai pāvīsu piu akiyā kudda karīsu/
Pāniu navai sarāvi jivam savvange paisīsu//)

"If ever I meet my husband again, I shall do a wonderful thing never done before I shall enter into all his limbs even as water permeates a new earthen vessel"

The heroic verses cited below from Hemacandra's Apabhramśa fully reveal the glory that was early Gujarāt

संगरसएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ।
अइमत्तहं चत्तंकुसहं गयकुम्भइं दारन्तु ॥
(Sangarasaehim ju vanniai dekkhu amhārā kantu/
Aimattaham cattamkusaham gayakumbhaim dārantu//)

"Behold my husband whose prowess requires mention of hundreds of battles, who breaks the temples of elephants excessively maddened and beyond all control"

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥
(Bhallā huā ju māriā bahini mahārā kantu/
Lajjejjantu vayamsiahu jai bhaggā gharu entu//)

"It is well, O Sister that my husband is killed in battle for if he had fled the battlefield and returned home I would have died of shame among my women-friends

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण॥
(Jai bhaggā pārakkadā to sahi majjhu pieṇa/
Aha bhaggā amhaham tanā to tem māriadena//)

"If enemies are fleeing (from the battlefield) it must be O friend, because of my husband's valour but if our men are running away then it must be that he has been killed in the battle.

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु।
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउं कन्तस्सु॥
(Pā villaggi antradī siru lhasium khandhassu/
To vi kaṭārai hatthaḍau bali kijjaum kantassu//)

The entrails hang down and entangle the feet the head, severed from the trunk, is drooping sidewards yet the hand is firmly on the dagger —I bow to this husband of mine.

The heroism of these verses captures our imagination and wins our heart.

V

From Apabhramśa slowly evolves the New Indo-Aryan Languages This is not surprising because Apabhramśa was always so near and akin to the rising regional languages than the Prākrit which was nearer to Sanskrit For instance, the following Apabhramśa verse easily turns into old Gujarātī with only slight phonological changes

सिरि जर-खण्डी लोअडी गलि मणियडा न वीस।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठ-बईस॥
(Siri jara-khandī loadī gali maniyadā na vīsa/
To vi goṭṭhadā karāviā muddhāe uṭṭha-baisa//)
(Apabhramśa)

सिरि जीर्णखंडी लोबडी गलि मणियडा न वीस।
तोइ गोठडा कराविया मुग्धए ऊठबईस॥
(Siri jirnakhandī lobadī gali maniyada na vīsa/
Toi gothadā karāviyā mugdhāe ūṭhabaisa//)
(Old Gujarātī version)

"Though she has only a tattered *lobadī* (woollen cloth) on her head, and hardly twenty glass-beads round her neck—still the beautiful maiden agitated the young men of the hamlet"

It is not easy always to demarcate the point where Apabhramsa ends and old Gujarātī begins There are, however, some characteristics such as the simplification of conjunct consonants, substitution of post-positions for inflections, and most of all the use of the auxiliary verb *achai-chai,* the precursor of the modern Gujarātī *che,* which indicate the termination of Apabhramsa and the evolution of Gujarātī

VI

The earliest literary work in old Gujarātī that has come to light so far is the *Bharateśvara Bāhubalī Rāsa* of Śālibhadra Sūri, composed in V S 1241 (1185 A D) The following quotation will reveal how the new speech has just left the Apabhramsa stage and started on its career towards modern Gujarātī

रिसह जिणेसर पय पणमेवी, सरसति सामिणि मनि समरेवी,
नमवि निरतर गुरुचलणा ||
भरह नरिंदह तणु चरित्तो, ज जुगी वसहावलय वदीतो,
बार वरस बिहु बधवह ||
हु हिव पभणिसु रासह छदिहिं, त जनमनहर मनआणदिहिं,
भाविहिं भवीयण समलेउ ||

(Risaha Jinesara paya panamevī, sarasati sāmini mani
samarevī, namavi norantara gurucalanā//
Bharaha narindaha tanum caritto, jam jugi vasahāmvalaya
vadīto, bāra varasa bihum bandhavaham//
Hum hiva pabhanisu rāsaha chandihim, tam janamanahara
manaānandihim, bhāvihim bhavīyana sambhaleu//)

"Having bowed to the feet of Rsabha Jinesvara, having remembered Goddess Sarasvatī, and saluting always the feet of the *guru,*

"The life history of King Bharata, famous in this world from times of yore, (the war between) the two brothers which lasted for twelve years,

"(This) I shall sing in the form of a *rāsā* in verse, so fascinating to the minds of people, may the religious-minded hear it with delight!"

In the century which followed, Gujarātī was developed further and became the vehicle of over a dozen works in poetry The following verse

in the *Revantagirirāsu* of Vijayasenasūri which describes Saurāṣṭra, will indicate the extent to which the language has evolved.

गामागरपुरवणगहण सरिसरवरि सुपएसु ।
देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठदेसु ॥
जिणु तहिं मंडलमंडणउ मरगयमउडमहंतु ।
निम्मलसामलसिहरभरे रेहइ गिरि रेवंतु ॥

(Gāmāgarapuravanagahana sarisaravari supaesu/
Devabhūmi disi pacchimaha manaharu sorathadesu//
Jinu tahim mandalamandanau maragayamaudamahantu,
Nimmalasāmalasiharabhare rehai giri Revantu//

Attractive with its towns and villages, imposing because of its forests, and charming on account of its rivers and lakes, is the beautiful Soratha deśa, the abode of gods, situated in the western direction

"There stands out the charming Revanta mountain, the ornament of the world its dark summits forming a majestic emerald green crown.

With the dawn of the next century (14th century) Gujarātī emerges into the limelight as fully developed mature language with immense possibilities Several works are composed in this period, some of which reveal a rare poetic beauty Of these works the anonymous *Vasanta Vilāsa*, the *Thūlibhadda Phāgu* of Jinapadmasūri, the *Neminātha Phāgu* of Maladhārī Rājaśekharasūri, are most outstanding The following description of spring found in *Vasanta Vilāsa* is singularly beautiful both in its style and in its conception

कामुकजनमनजीतु तौ वनु नयर सुरम ।
रायु करइ भरभंगिहि रंगिहि रउ अनंगु ॥
अलियन वसइ अनन्त रे वसंतु तिहां परधान ।
तरुअर वासनिकेतन केतन किसलसतान ॥

(Kālā bhūñcha todīyā bhol, gāde linga cadāvyaum/
Rāju karai avabhangimhi rangihim rāu anangu//
Alijana vasaim ananta re vasantu tihām paradhāna/
Taruara vāsaniketana ketana kisalasantāna//)

"That forest, the life of the hearts of lovers, is (like) a charming city (there) rules in full splendour the King Anaṅg (the God of Love)

"Innumerable bees dwell there spring is there the minister the trees are the dwelling places, and the mass of tender sprouts the banners

Another remarkable work composed towards the close of this century is the *Ranamalla Chanda* of Śrīdhara Vyāsa, written in style which is

the parent of the *Dingala* or Cāranī poetry

चढि चंचलि चाउद्दिसि चंपि थिरथिर थाणदार अरि कंपिइ ।
कमधज्जकरि धरि लोह लहक्किइ बिबहरि बूंब बूंब बहक्किइ ॥
निसि खंभनयर उध्रकिइ धुंधलि धुंस पडिइ धुलक्किइ ।
प्रहि पोकार पडिइ पट्टणतलि रे रणमल्ल धाडि तव संभलि ॥

(Cadı cañcalı cāuddısı campı thırathıra thānadāra arı kampıı/
Kamadhajakarı dharı loha lahakkıı bıbaharı būmba būmba bahakkıı//
Nısi khambhanavara udhrakıı dhundhalı dhumsa padıı dhulakkıı//
Prahı pokārı padıı Paṭṭanatalı re Ranamalla dhādi tava sambhali//)

"When he mounts his horse and invades the four quarters, the generals of the enemies tremble with fear As soon as the sword flashes in the hand of Kamadhajja (Rāṭhoḍa) Ranamalla, wails resound in the harems of the enemies.

"At night Cambay trembles, in the early morning Dholkā is struck with terror, in the morning Pāṭan wakes up with screams—when, O Ranamalla, people hear of your attacks"

The 15th century is remarkable for its wealth of old Gujarātı literature Among the works of this century the pre-eminent in literary merit is the *Kahnadade Prabandha* of Padmanābha, which is a rare saga of Rajput heroism that has ever come down in the Indian Languages The verses given below from that great mediaeval epic will testify to its great poetic beauty

काला भूंछ तेडीया भोई, गाडे लिंग चडाव्यउ ।
आगलि घणी जोतरी त्रीयल, ढीली भणी चलाव्यउ ॥
आगइ रुद्र घणइ कोपानलि, दैत्य सवे तइं बाल्या ।
तइं पृथ्वी माहि पुण्य वरताव्यां, देवलोकि भय टाल्या ॥
तइं चालिउ काम त्रिपुर विध्वंसिउ, पवनवेगि जिम तूल ।
पद्मनाभ पूछइ सोमईया केथू करयउ त्रिसूल ॥

(Kālā bhūñcha teḍīyā bhoī, gāḍe linga caḍāvyaum/
Agalı ghanī jotarī trīyala, Dhīlī bhani calāvyaum//
Agai Rudra ghanaı kopānali, daitya save taım bālyā/
Taim Pṛthvī māmhı punya varatāvyām, devaloki bhaya ṭālyā/

Talh bāhu Kāma Tripura vidhvansu, pavanavegi jima tūla/
Padmanābha pūchai Somalyā Kathūm Karayaum triśūla//)

"Dark Bhois were called for and the pieces of Śiva's liṅga were hauled up in the cart Several pairs of bullocks were made to draw it it was thus removed to Delhi

"O Rudra in the times of yore you consumed the demons in the fire of your wrath, you spread puṇya in the world and removed the terror which oppressed the gods

"You burnt down Kāma and destroyed Tripura just as wind blows away cotton Padmanābha (the poet) asks you, O Somanātha, where have you laid up your triśula now ?"

The other outstanding poets of this period are Narsiṁha, the poet saint, and Mirāmbāi the immortal poetess of Rājasthān, whose poetry is the cherished heritag of India Bhālaṇa, the celebrated scholar who set *Kādambarī* to verse and the great Jaina writers Lāvaṇyasamaya and Māṇikyasundara Sūri. Of the latter writers Māṇikyasundara Sūri is celebrated for his remarkable prose classic *Pṛthvīcandracaritra*, which is an ornament of the Old Gujarātī prose It stands unique in the entire Old Gujarātī literature on account of its dignified and mellifluous prose-style and the remarkable beauty of its composition Numerous specimens of Old Gujarātī prose have come to light, but of the ornate literary prose used by scholars of the mediaeval times, *Pṛthvīcandracaritra* is almost the solitary example

VII

From the 16th century A D Gujarātī assumes almost its present linguistic form This period is remarkable for its wealth of literature—the well-known *Ākhyānas* of Premānanda, reflecting the contemporary Gujarātī life, th poetical romances of Śāmala, reminding us of the *Kathāsarit sāgara* and the *Arabian Nights*, and the great philosophical poems of Akho, and the delicately melodious and almost etherial lyrics of Dayārām.

From the middle of the 19th century Gujarātī language and literature undergo a fateful change on account of the influence of the English language and literature The prose now became, under the influence of English, more cultivated and complex in nature, capable of expressing involved thoughts The prose style could now vary from the declamatory and the narrative to the reflective In content, the literature, which was so far restricted only to religion and allied topics, now embraced every

topic on earth In respect of form, lyrics, ballads, sonnets and elegies in poetry, and essay, fiction, short story, drama, autobiography, and travel literature now came into existence as a direct consequence of contact with western literature The still newer forms of literature like the short story, one-act plays and radio-plays have recently come into greater vogue and achieved success

Such is modern Gujarātī language and literature

VIII

Besides its standard form in which literature is composed Gujarātī has several interesting dialects which are only spoken forms of speech, though almost universally current among the masses of Gujarāt They are the Kāṭhīāwāḍī, Paṭṭanī or north Gujarātī, Carotarī or middle Gujarātī, and Suratī or south Gujarātī

The Bhils on the eastern border speak their own dialect—the Bhillī, which bears a close affinity to Gujarātī To the north beyond Mount Ābu is spoken a language which has traces of Gujarātī within its predominantly Rājasthānī corpus To the south-east in the Dānga area the speech is an intermixture of Gujarātī and Marāthī—predominantly Gujarātī on the western side, and leaning more to Marāṭhī on the eastern side

There are also racial dialects of Gujarātī which are spoken by particular communities For example, Kāṭhis and Āhirs of Saurāṣṭra speak an archaic dialect nearer to Apabhramsa than to modern Gujarātī The Khārvās of the coast-line of Saurāṣṭra have their special dialect known as Khārvī Parsīs speak Parsī-Gujarātī, while Vohrās of north Gujarāt, Memons of Saurāṣṭra, and Bāraiyās and Dhārалās of middle Gujarāt speak Gujarātī with their characteristic dialectal traits Some of these dialects are given a place in modern Gujarātī creative literature—particularly in the short-story and fiction—in order to impart local colour to the work

Gujarātī in its long history stretching over a thousand years as outlined above came in contact with several external influences and assimilated some of them Thus it is that Arabic words like *umdā*,* *insāf*, *javāb*, *kharca*, *taiyār*, *makān*, *vatan*, *śarbat*, and the Persian words like *gulāb*, *gumāsto*, *cālāk*, *jakham*, *dago*, *dastāvej*, *darji*, *fudino*, *bakhṣīs*, *bāju*, *majūr*, *hajār*, etc , and the Turki words like *kalgī*, *kābu*, *cakmak*, *camco*, *jājam*,

* These and other loan words are reproduced in their characteristically Gujarātī form

top, *begum mughal*, and the Portuguese words like *ālū, ananās, ingrej, tjaner kāju, tamākū, baṭāṭā mej mosambī*, have found a place in Gujarātī and have been almost completely naturalized. More recently Gujarātī borrowed several loan-words from English such as *office appeal, court, doctor pencil, boot master station, hotel, etc* and gave them a completely indigenous Gujarātī form. This process of borrowing continues even to-day as Gujarātī does not hesitate in borrowing several words from Indian or foreign languages if they are found to express sense in a particularly effective manner in reference to corresponding words of indigenous origin. Herein lies its strength, because this process increases the potentiality of the language Gujarātī has also improved by being relieved from a surfeit of Sanskrit words which marred its innate beauty and made it heavy and pedantic as in the writings of some of the scholars of the latter part of the last century This purification owes its origin to Gandhiji Gandhiji insisted on using the simple and forceful speech of the masses living in the country-side as the standard form of language to be used in all literary compositions. Gandhiji demonstrated in his world famous Autobiography' the inherent strength of this simple speech which could be adapted to the highest literary purposes. A whole school of writers followed his foot-steps and wielded the folk-speech with considerable power and charm even in serious literary works of philosophy economics, politics and social sciences

This is the Gujarātī of to-day full of strength and promise, awaiting a future even more glorious than its hoary past.



JAINISM A WAY OF LIFE

SHRI B P WADIA

If one is always humble, steady, free from curiosity and deceit, if he abuses nought, if he holds not to his wrath, if he listens to friendly advice, if he is not proud of his learning, if he finds no fault with any or ought, if he is patient with friends, if he speaks well even of a bad friend when he is absent, if he abstains from quarrels, if he is polite, gracious, calm and endeavours to gain enlightenment—then he is named "the well-behaved"

—Uttarādhyayana Sūtra

The two wars have made the world very different Those of us who lived and laboured before 1914 and after 1918 saw a great change in human outlook With the end of the second war a different kind of world emerged in which the human individual has been deprived of his initiative to a very great extent Karl Capek's visionary robot of the twenties is now strutting on the world stage Men are not able to call their souls their own, they are made to think along lines drawn for them, they are invited to feel and use emotions for the glory of their State, the citizen in many countries exists for the benefit of his own government and his personal life is greatly narrowed and restricted Hitler, who is reported to have committed suicide after his defeat, seems to have emerged a victor Hitlerism is to the fore in the countries which won the war Russia's roots in totalitarian soil have gained strength The concept of the Welfare State is founded upon the idea that what is good for or bad for the citizen is to be decided by the State What does he know about his own welfare !

The dignity of the human individual has fallen Alas, man himself has contributed substantially to the loss of his liberty, he has allowed himself to be cajoled and pushed into the almost slavish position which now is his He has done this for the most part not self-consciously The starting point is traceable to his false attitude to his religion Loss of knowledge of religion and its true principles has brought in blind belief, superstition and irreligious living Instead of becoming a way of life man's religion has become largely ritualistic observances, gesticulations and mummery His spiritual and secular life are two different compartments He is exploited by the politician today because he has allowed himself to be exploited

by his priest for numerous yesterdays

A better world will not be built until a sufficient number of men and women turn away from the outer religion of rites and ceremonies to the inner religion of life. Not church-going but living by the precepts of the Sermon on the Mount constitutes true Christianity And what is true of Christianity is equally true of every religion, including Jainism.

Time is precious, we cannot afford to neglect or to postpone the refashioning of our religious life. By "we the human individual is meant Popes or purohits or sadhus are not to be depended upon for religious reformation They have their own vested interests. Priests are the opponents of the Prophets and the human individual needs Mahâvira and the Tirthankaras, and their peers of other religious schools. Men and women have to recognise that true religion is the Way of Life What they feel and think, what they say and do must be according to the precepts of the Elder Brothers, the Christs, the Buddhas, the Tirthankaras Along this line alone must true religious renovation take place.

Is Jainism capable of imparting instruction in the science and art of living the lif ? We answer—Yes, emphatically—Yes Of all the existing formal religious creeds Buddhism and Jainism contain the very best elements to enable men and women most promptly to become religious in the true sense of that word. It must be remembered, however that both of these have a holy and hoary lineage

The duty of the Jainas is to uphold the pure teachings of Mahâvira and H s illustrious predecessors The world of today is in dire need of the moral precepts of those mighty philanthropists Th Jainas can do this, if few Jainas, both men and women, combine to study together their own religious lore with view to the personal application of the grand precepts, and then to promulgate by the spoken and written word what they have learnt, understood and practised The old sayings and propositions have to be shown to be practical and profitable. The high standard of Jaina living must be shown to be superior to standard of living depending on gadgets and the consuming of rich food and questionable drinks The Jaina standard of high living would consist simple living founded upon noble thinking

Let us turn and point to some of the teachings of Jainism which are pplicable even under modern conditions and which carry within them selves the seeds of betterment not only for the individual practitioner but

for the masses also This war-torn world, governed by men of ambition and greed, will be saved in spite of itself by men of peace who carry in their hearts the instruction of the sages

Ahimsā Paramo Dharmah

Non-Violence is the Highest Religion

The central teaching of Jainism may be quoted in the words of *Purusartha Siddhyupāya* "*Ahimsā* is the non-appearance of attachment and other passions Their appearance is *Himsā*—violence"

This is called "the summary of the Jaina scripture"

In our personal life, as in collective life everywhere, violence, open or disguised, is at work War will never be banished and Peace will never be ushered in while violence courses in men's brains Jainism makes a unique contribution not in proclaiming a Religion with Non-Violence as its centre but in fully elaborating the technique of becoming non-violent This is what the world needs today There is a genuine appreciation of Gandhiji's Satyāgraha, but to understand and live it, some wise practical instruction is necessary Similarly the creed of Ahimsā held up by Jainism is known to the world at large But the world needs men and women who have practised *Ahimsā*, who live by it daily in all the affairs of life Jainism has precepts which the world will more readily and enthusiastically accept when these are demonstrated by a few men and women who live the precepts without becoming monks or nuns

The world of today does not need orders of monks and nuns, people are not willing to abandon the ties of home for those of heaven, they want to rise in their minds and hearts heavenward and live in the world to permeate it with the immortal influence Therefore it is necessary for Jaina men and women to transform their homes into *Havalis* where the Power and the Learning and the Compassion of Mahāvīra and His illustrious predecessors can shine

Next to the central doctrine of Ahimsā Jainism facilitates a life of self-exertion because it rejects logically the pernicious belief in an anthropomorphic personal God Believers in an extra-cosmic personal God naturally fall into the sin of dependance on such a God, pray to Him, try to propitiate Him and seek favours from Him, thus debasing their moral propensities and their willpower No blind believer in a personal God can say as the *Ratna-Karaṇḍa-Śrāvakācāra* asserts —"A dog becomes a Deva by virtue A Deva becomes a dog by vice From Dharma a living

being attains prosperity and even such grandeur as beggars description.

If Jainism rejects the false doctrine of the personal God, it holds aloft the mighty and majestic truth of men becoming Perfect and Immortal God Men, Tirthankaras—those who have crossed over the ford Not god and gods and godlings teach and help mortals, but Jinas, those who have conquered their mortality by destroying ignorance and passion. What Tirthankaras have done, men can do today

My Jaina brothers, you need to activate your inherent faith that Mahâvira and the other 23 Jinas are alive and are able to help us. A more penetrating consideration into the subject of Tirthankaras as Living Men who now and here love and labour for humanity will enlighten your faith and enable you to help yourselves and humanity in a rich way

The Jaina community is well known for its wealth, it lacks not the spirit of charity It has used its millions of rupees for alleviating suffer ing and misery· it has also not overlooked the spreading of the wealth of the Jaina-Dharma by publishing its texts and tomes; but something more fundamental and vital needs t be done. W need living of the Dharma not by monks but by lay men, not only in secluded monasteries but in homes, in shops and marts To the financial gifts and the spreading of books which aid the human mind, should be added the active and vital power which emanates from pious men and women who study the lofty philosophy of the Jinas and practise ts tenets. What does the *Uttarādhya yana Sūtra* say "Self is the one invincible foe together with the four cardinal passions, (viz anger pride, deceit, and greed) making five, and with the five senses making ten.

Pride is the seed from which sprout numerous vices. It is the first born of Egotism The *Sūtrakrtā ga Sūtra* refers to sins committed by the proud pride of caste of family of beauty of intelligence, of success, of power even pride of knowledge and, note, pride even of piety are condemned

Who does not know that man has a dual nature—the lower is proud and selfish, ts way of life is violent; the higher is non-violent—embodied *Ahimsā* We have to fight, defeat and overcome the lower and the soldier who will wage war and vanquish the enemy is our own higher nature which is of the substance of the Holy Jinas, the Enlightened Tirthankaras They have developed the powers of that substance· we have still to do so

"Though a man should conquer thousands and thousands of valiant

foes, greater will be his victory if he conquers nobody but himself

"Fight with your self, why fight with external foes? He who conquers himself through himself, will obtain happiness"—*Uttarādhyayana Sūtra*

Now the *Acārānga Sūtra* has a very strange but encouraging teaching "He who conquers one passion conquers many And he who conquers many, conquers one"

It is a strange law which all true mystics have pointed to one moral weakness overcome and transmuted pushes out numerous cognate vices Equally strange but true is the second clause When numerous weaknesses are overcome our main, fundamental, moral and sin-creating weakness not only weakens but disappears

Each man, each woman has in the lower, violence-fraught nature a foundational vice—pride, or lust, or vanity, or anger, or greed, or ambition, etc For a whole incarnation the one besetting weakness works havoc In the higher nature is wisdom with its dual aspect—knowledge and intuition (*Jñāna* and *Darśana* according to Jaina psycho-philosophy) It is by this Wisdom-Nature that the foibles, the frailties and the falsehoods of the carnal being are vanquished

Now, in waging this greatest of all wars there comes a temptation because we do not like to fight our own vices, the force of violence (*Himsa*) inherent in our lower nature finds ways and means to gain expression and outlet and so we become violent to others Violence in deeds and words, in emotions and thoughts Myriad are the expressions of violence In many ways we use violence there is violence at home and at places of business as well as in recreation, there is civic violence, there is social and political violence, there is violence against classes and castes and creeds National and international violence means wars All widespread expressions of violence spring from the seed of violence in the lower man And because we have within our carnal mind the seed of *Himsā*—Violence, we attract to ourselves many types of violence from others—relatives and friends, employers and employees, and also from organized groups who use violence

The Jaina foundational teaching is *Ahimsā*, and so it advocates very clearly the doctrine of "Resist not evil," or, better-phrased, "Resist without resisting" Others may be and are violent, true Jainas are prohibited from retaliation So, the *Dasa-Vaikālika Niryūktī* instructs definitely "Subdue anger by forgiveness, conquer vanity by humbleness, overcome

fraud with honesty vanquish greed through contentment.

The most prolific source of violence precipitating retaliation and generating hatred is speech. Words are living messengers and should be used thoughtfully Angry speech, falsehood, bragging and the like are bad, but more dangerous, because more subtle and unrecognizable in their evil influence, are the words of persons who use religious lore for selfish ends

"Though many leave the house, some of them arrive but at a middling position between house-holder and monk; they merely talk of the path to perfection Th force of sinners is talking. —*Sūtrakṛtāṅga Sūtra*

And again says the *Uttarādhyayana Sūtra* "Clever talking will not work salvation how could philosophical disputation do it? Fools, though sinking lower and lower through their sins, believe themselves to be wise men

So the greatest of all wars is with our selfish deeds, our false speech, our lustful feelings, our proud thoughts. And the warrior within, the Pure Kṣatriya, is our own spiritual soul—the possessor of knowledge and of intuitive perception. In this idea we gain an explanation as to why Mahāvīra and the other Tīrthankaras were of Kṣatriya caste. The victorious Warrior attains to Brāhmanahood and so the *Acārāṅga Sūtra* says that "the Noble Ones preach the Law impartially

Now our ordinary human nature likes to postpone the commencement of the Inner Life When this inclination arises we must repeat the *Sūtrakṛtāṅga Sūtra* —

'Know that the present tim is the best opportunity to mend

"The strength to start the Holy War gainst our lower and violent self within.

"Freedom from bonds is in your innermost heart

—*Acārāṅga Sūtra*

He who does not undertake this Holy Mission is not a Jaina, though he be born of Jaina parents and observe Jaina rules of eating and drinking and such outer manifestations

"The virtuous heroes of faith have chosen the great road, the right and certain path to perfection —*Sutrakṛtāṅga Sūtra*

To entrench ourselves in right practice and develop right faith we must acquire the knowledge of true doctrine and, further develop and feel devotion to those who know the Truth of *Ahimsā*

Another excuse brought forward by men and women is this "W have

our obligations, our dharma to parents and children, to earn our livelihood, etc" The Jaina teachers answer Make karma and dharma avenues to practise daily and hourly *Ahimsā*

"Not desirous of fine things, he should wander about, exerting himself, not careless in his conduct, he should bear whatever pains he has to suffer

'If beaten, he should not be angry, if abused, he should not fly into a passion, with a placid mind he should bear everything and not make a great noise

"He should not enjoy pleasures though they offer themselves, for thus he is said to reach discernment He should always practise what is right to do in the presence of the enlightened ones"—*Sūtrakrtānga Sūtra*

It is fully recognized that to practise all this is most difficult Our old habits our educational and social upbringing etc, put many obstacles in our way but Jainism teaches that we could and should "practise the very difficult Law according to the faith" (*Uttarādhyayana Sūtra*)

And how clearcut and strong is the *Purusārtha Siddhyupāya* —

"Right belief is conviction in one's own self Knowledge is a knowledge of one's own self Conduct is absorption in one's own self. How can there be bondage by these?

Sometimes people think that only when a Jaina man or woman gives up the world and becomes a monk or a nun can the Inner Life be lived That is not the teaching The householder, who earns his livelihood, and the housewife, who is the queen of the home, can and should attain to heavenly heights Anyway, that ought to be a new dispensation, a new way of living the higher life

This volume is published to honour the memory of a saintly teacher and reformer The work of Shri Mahāvīra Jaina Vidyālaya owes a great debt to the Acāryaji As a devout follower of the great Masters of Jainism, he set an example which all of us should follow—by practising *Ahimsā* Non-violence, with the Tirthankaric *Vīrya*, the dauntless energy that fights its way to the supernal Truth



individuality, personality, self and soul[1] As a biological term *puggala* is nowhere used to deny the existence of an individual being or a living person. The particular individual or individuals are beings that exist in fact, grow in time and ultimately die. The individuals are signified by some names arbitrarily fixed The personal name is only a conventional device to denote an individual and to distinguish him from other individuals It has no connotation beyond this symbolism In the Abhidhamma literature of the Buddhists *puggala* is equal to character or soul According to the Buddhists an individual has no real existence The term *puggala* does not mean anything real It is only apparent truth (*sammutisacca*) as opposed to real truth (*paramattha sacca*). A *puggalavādin's* view is that the person is known in the sense of real and ultimate fact But he is not known in the same way as other real and ultimate facts are known He or she is known in the sense of a real or ultimate fact and his or her material quality is also known in the sense of a real or ultimate fact But it cannot truly be said that the material quality is one thing and that the person another, nor can it be truly predicted that the person is related or absolute, conditioned or unconditioned, eternal or temporal, or whether the person has external features or whether he is without any One who has material quality in the sphere of matter is a person, but it cannot be said that one who experiences desires of sense in the sphere of sense-desire, is a person. The genesis of the person is apparent, his passing away and duration are also distinctively apparent But it cannot be said that the person is conditioned.[2] According to the *Tattvarthādhigama sūtra*, *puggala* is one of the non-soul extensive substances. The other non-soul extensive substances are *dharma*, *adharma*, *ākāśa* and *kāya*. Kāya is taken here in the sense of 'extensive', having extent like the body.

According to the *Bhagavatī Sūtra* (XV 1), the organic world is characterised by six constant and opposed phenomena, viz, gain and loss, pleasure and pain, life and death It clearly presupposes the development of atomic theory (*paramanuvāda*) in Indian philosophy. Each atom is the smallest unitary whole of matter (*pudgala*). Each of them is characterised by its internal cohesion (*sneha*). We cannot speak of half

1 *Kathāvatthu*, I, p 26
2 Cf. *Kathāvatthu* on *Puggala*; Law, *Designation of Human Types*, Introduction, P.T.S publication, Law, *Concepts of Buddhism* Chap VII

an atom (*arddha*) since an atom is an indivisible unit of matter. With division it ceases to be an atom (*paramāṇoḥ ardhīkaraṇe paramāṇutvābhāvaprasaṅgāt*).

A molecule (*aṇu*) is a combination of more atoms than one. An aggregate of matter (*skandha*) results from an organic combination of five molecules. Disintegration of a corporeal aggregate results from the separation of the molecules and atoms. Here one may realise the force of the Jaina argument for regarding even material beings, the earth-lives, water-lives etc. as distinct forms of life, each appearing as an individual with its internal cohesion so long as it exists as such. So through the process of organic development or evolution, we pass through the different degrees and forms of internal cohesion.

Karma plays an important part in the Jaina metaphysics. In Jainism *karma* may be worked off by austerity, service rendered to the ascetics or to the poor, the helpless and the suffering by giving them food, water, shelter or clothing. It does not mean a deed or some invisible mystical force. It is the deed of the soul. It is a material forming a subtle bond of extremely refined matter which keeps the soul confined to its place of origin or the natural abode of full knowledge and everlasting peace. The Jainas believe *karma* to be the result of actions, arising out of four sources:

(1) The first source of *Karma* is attachment to worldly things.

(2) *Karma* is produced by uniting one's body, mind and speech with worldly things; *karma* is endangered by giving the rein to anger, pride, deceit or greed; and lastly false belief is a fruitful source of *karma*. In Hinduism we find that God inflicts punishment for evil *karma*, whereas in Jainism, *karma* accumulates energy and automatically works it off without any outside intervention. The Hindus think of *karma* as formless while the Jainas think of it as having form. *Karma* is divided in Jainism according to its nature, duration, essence, and content. According to the Jainas there are eight kinds of *karma*: The first kind hides knowledge from us (*Jñānāvaraṇīya karma*); the second kind prevents us from holding the true faith (*darśanāvaraṇīya*); the third kind causes us to experience either the sweetness of happiness or the bitterness of misery (*vedanīya karma*); the fourth kind known as *mohanīya karma* bemuses all the human faculties; it results from worldly attachments and indulgence of the passions; the fifth kind determines the length of time

which a *jīva* must spend in the form with which his *Karma* has endowed him (*āyu karma*). The sixth karma known as the *nāma-karma* decides which of the four states or conditions shall be our particular *gati*. *Nāma karma* has many divisions. The seventh kind is *gotra-karma*. It is the *gotra* or the caste which determines a man's life, his occupation, the locality in which he may live, his marriage, his religious observances and even his food. There are two chief divisions of this *Karma*. It decides whether a living being shall be born in a high or in a low caste family. The *Antarāya* karma is the last and the eighth kind.[1] Here *karma* always stands as an obstacle, e g, *lābhāntarāya*, *bhogāntarāya*, *upabhogāntarāya* and *vīryāntarāya*[2] There are four kinds of *ghātiyakarma* (destructive *karma*) which retain the soul in mundane existence

The Jainas hold that the soul while on the first step (*mithyātvagunasthānaka*) is completely under the influence of *karma* and knows nothing of the truth. The soul whirling round and round in the cycle of rebirth, loses some of its crudeness and attains to the state which enables it to distinguish between what is false and what is true. A soul remains in an uncertain condition, one moment knowing the truth and the next doubting it. A man has either through the influence of his past good deeds or by the teachings of his preceptor obtained true faith. He then realises the great importance of conduct and can take the twelve vows. The Jainas believe that, as soon as the man reaches the state of an *ayogīkevaligunasthānaka*, all his *karma* is purged away and he proceeds at once to *moksa* (salvation) as a *siddha* or the perfected one.

The Jaina *Sūtrakṛtānga* (1 6 27; 1.10 17) speaks of various types of *kriyāvāda* then current in India Buddhism was promulgated as a form of *kriyāvāda* or *karmavāda* According to Mahāvīra, *kriyāvāda* of Jainism is sharply distinguished from *akriyāvāda* (doctrine of non-action), *ajñānavāda* (scepticism) and *vinayavāda* (formalism) precisely as in the words

1 *Aṭṭha kammāim vocchāmi āṇupubbiṁ jahakamam*
jehim baddho ayam jīvo samsāre parivaṭṭai
nāṇassāvaranijjam damsanāvaranam tahā
veyanijjam tahā moham āukammam taheva ya
nāmakammam ca goyam ca antarāyam taheva ya
evameyāi kammāim aṭṭheva u samāsao
(*Uttarādhyayanasūtra*, xxxiii, 1-3).

Antarāya is fivefold as preventing gifts, profits, momentary enjoyment, continuous enjoyment and power.
S Stevenson, *The Heart of Jainism*, p 183

of the Buddha. The *kriyāvāda* of Buddhism is distinguished from *Sathāyadṛṣti* involving various types of *akriyā*, *vicikitsā* (scepticism) and *śilavrataparāmarśa* (Pali *Silabbataparāmāsa*, formalism).[1] To arrive at a correct understanding of the doctrinal significance of *kriyāvāda* of Jainism, it is necessary not only to know how it has been distinguished from *akriyāvāda*, *ajñānavāda* and *vinayavāda* but also from other types of *kriyāvāda*. The *Sūtrakṛtāṅga* mentions some types of *akriyāvāda* :

(1) On the dissolution of the five elements (earth, water, fire, wind and air), living beings cease to exist. On the dissolution of the body the individual ceases to be. Everybody has an individual soul. The soul exists as long as the body exists.

(2) When a man acts or causes another to act, it is not his soul which acts or causes to act.[2]

(3) The five elements and the soul which is a sixth substance are imperishable.

(4) Pleasure, pain, and final beatitude are not caused by the souls themselves but individual souls experience them.

(5) The world has been created or is governed by gods. It is produced from chaos.[3]

(6) The world is boundless and eternal. It may be noted here that all these views which are reduced to four main types correspond to those associated in the Buddhist *Nikāyas* with four leading thinkers of the time, e.g., atheism like that of Ajita, eternalism like that of Kātyāyana, absolutism like that of Kāśyapa and fatalism like that of Gośāla. Makkhali Gosāla was the propounder of the theory of evolution of individual things by natural transformation. Ajita was to point out that the particular object of experience must be somehow viewed as an indivisible whole.[4] The *Sūtrakṛtāṅga* (1.1.13) states that his was really a theory of the passivity of soul. The logical postulate of Kavandin Kātyāyana's philosophy was no other than the Permenedian doctrine of being. Nothing comes out of nothing.[5] From nothing comes nothing, what is does not perish.[6]

Ātman is a living individual, a biological entity. The whole self does

1. *Suttanipāta*, V. 231 (*Silabbataṁ vā pi yad atthi kiñci*); *Khuddakapāṭha*, p. 5.
2. *Sūtrakṛtāṅga*, 1.1.3.5-8.
3. *Sūtrakṛtāṅga*, 1.1.1.13.
4. *Sūtrakṛtāṅga* II, 1,15-17.
5. *Noya uppajjae asaṁ*.
6. *asato nacci saṁbhavo, sato nacci vināso*.

not outlast the destruction of the body. With the body ends life. No soul exists apart from the body. The five substances with the soul as the sixth are not *directly* or *indirectly* created. They are eternal. From nothing comes nothing All things have the *ātman*, self or ego for their cause and object; they are produced by the self; they are manifested by the self, they are infinitely connected with the self, and they are bound up in the self One man admits action and another does not admit it Both men are alike *Their case is the same because they are actuated by the same* force, i e, by fate. It is their destiny that all beings come to have a body to undergo the vicissitudes of life and to experience pleasure and pain. Each of these types stands as an example of *akriyāvāda* in as much as it fails to inspire moral and pious action or to make an individual responsible for an action and its consequences.[1] According to the *Uttarādhyayana-sūtra, ajñānavāda* is nothing but the inefficiency of knowledge. Some think that the upholders of *ajñānavāda* pretend to reason incoherently and they do not get beyond the confusion of their ideas[2] The *Vinayavāda* may be taken to have been the same doctrine as the *silabbataparāmāsa* in Buddhism. The *silabbataparāmāsa* is a view of those who hold that the purity of oneself may be reached through the observance of some moral precepts or by means of keeping some prescribed vows. According to the *Sūtrakṛtānga* (1 12 4) the upholders of *Vinayavāda* assert that the goal of religious life is realised by conformation to the rules of discipline

It is interesting to know the types of *Kriyāvāda* that do not come up to the standard of Jainism The soul of a man who is pure, will become free from bad *karma* on reaching beatitude but in that state it will again become defiled through pleasant excitement or hatred

If a man with the intention of killing a body hurts a gourd mistaking it for a baby, he will be guilty of murder. If a man with the intention of roasting a gourd roasts a baby, mistaking him for a gourd, he will not be guilty of murder Mahāvīra holds that the painful condition of the self is brought about by one's own action and not by any other cause. Pleasure and pain are brought about by one's own action. Individually a man is born, individually he dies, individually he falls and individually he rises *His passions, consciousness, intellect,* perceptions and impressions belong to the individual exclusively All living beings owe their present form of

1 *Sūtrakṛtanga* II 1 5-34
2 *Sūtrakṛtānga* 1 12 2.

existence to their own *karma*. According to the *Sūtrakṛtāṅga* (1.12.15), the sinners cannot annihilate their work by new work; the pious annihilate their work by abstention from work. *Karma* consists of acts, intentional and unintentional, that produce effects on the nature of soul. The soul is susceptible to the influences of *karma*. The Jaina doctrine of nine terms (*navatattva*) developed from the necessity for a systematic exposition of *kriyāvāda*, which is in its essential feature only a theory of soul and *karma*. The categories of merit and demerit comprehend all acts, pious and painful, which keep the soul confined to the circle of births and deaths. The *Uttarādhyayanasūtra* (XXVIII, 11) points out that the wearing out of the accumulated effects of *karma* on the soul by the practice of austerities lies in *nirjarā* (*tapasā nirjarā ca*).

All the Indian systems believe that whatever action is done by an individual, leaves behind it some sort of potency, which has the power to ordain for him joy or sorrow in the future, according as it is good or bad. According to the *Saṁhitās* he who commits wicked deeds suffers in another world, whereas he who performs good deeds, enjoys the highest material pleasures.[1] According to the popular Hindu belief *karma* is a sum-total of man's action in a previous birth, determining his future destiny which is unalterable. Its effect remains until it is exhausted through suffering or enjoyment. The doctrine of *karma* is accepted in all the main systems of Indian philosophy and religion as an article of faith. The Buddha is generally credited with the propounding of the doctrine, but there is a clear statement in the *Majjhima Nikāya* (Vol. I, p. 483) to show that the doctrine had not originated with the Buddha. It was propounded before his advent by an Indian teacher who was a householder. In the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* and in the teachings of *Yājñavalkya*, we meet with a clear formulation of the doctrine of *karma*. The Buddhist doctrine of *karma* is nothing but a further elucidation of that in the *Upaniṣad*. According to the *Majjhima Nikāya* (III, p. 203), the doctrine is emphatically formulated thus : '*Karma* is one's own, a man is an inheritor of his *karma*, one finds one's birth according to his or her *karma*, *karma* is one's own kith and *karma* is one's own refuge, *karma* divides beings into higher or lower.' The Buddhists approached the problem from a purely mental point of view. The *Mahāniddesa* (I, pp. 117-118) points out that a man need not be afraid of the vast accumulation of *karma* through a long

1. Das Gupta, *History of Indian Philosophy*, pp. 71-72.

cycle of births and deaths. For consideration from the point of view of mind, the whole of such accumulation may be completely undone by a momentary action of mind. Mind is in its own place and as such can make and unmake all such accumulations of *karma*. On the whole Buddhism shifted the emphasis to the action and the state of the mind. Accordingly *karma* came to be defined as *cetanā* or volition. A person cannot be held morally or legally responsible for his own action, if it is not intentional. Thus the Buddhist teachers tried to define *karma* on a rational and practical basis This viewpoint has been criticised in the Jaina *Sūtrakṛtānga*.[1] It is quite clear that in Buddhism the world exists through *karma* and people live through *karma* (*karmanā vattati loko, kammanā vattati pajā*)

In the *Sūtrakṛtānga* (1 12 11) we find that the painful condition of the self is brought about by one's own action; it is not brought about by any other cause, such as, fate, creator, chance or the like (*Sayamkadañca dukkham, nānnakadam*). According to Śīlānka the kriyāvādins contend that works alone by themselves without knowledge lead to *moksa*.[2] The same idea is found in the Buddhist *Nikāyas—Sukhadukhaṁ sayaṁkatam* in contradistinction to *sukhadukkham paramkatam*. In Buddhism pleasure and pain are brought about by one's own action[3] *Sukha* and *dukkha* (pleasure and pain) are conceived as two distinct principles, one of attraction, integration and concord and the other of repulsion, disintegration or discord *Sukha* is taken to be the principle of harmony and *dukkha* that of discord In Buddhism *dukkha* is taken in a most comprehensive sense *so as to include in it danger, disease, waste, and all that constitutes the* basis or the cause of suffering *Roga* (disease) which is an instance of *dukkha* is defined as that condition of the self, physical self, when the different organs do not function together in harmony and which are attended with a sense of uneasiness. *Arogya* or health, the opposite of disease, is defined as that condition of self when all the organs function together in harmony and are attended with a sense of ease. Thus we see that the problem of suffering is essentially rooted in the feeling of discord or disparity. Birth, decay or death is not in itself *dukkha* or suffering These are only a few contingencies of human experience which upset the

1 *Jaina Sutras* Part II, S B E.
2 *Ibid*, II, S.B E, p 317 n
3 *Anguttara Nikāya*, III, 440 (*Sayaṁkatañca paraṁ katañca sukhadukkhaṁ*); *Samyutta Nikāya*, II, p 22.

expectations of men. From the psychological point of view *dukkha* is a feeling or *vedanā* which is felt by the mind either in respect of the body or in respect of itself and as a feeling it is conditioned by certain circumstances. Whether a person is affected by suffering or not depends on the view he takes of things. If the course of common reality is this that, being once in life, one cannot escape either decay or death and if the process of decay sets in or death actually takes place, there is no reason why that person should be subject to *dukkha* by trying to undo what cannot be undone. Thus we see that *dukkha* is based on the misconstruction of the law of things (*dhammatā*) or the way of happening in life. If the order of things cannot be changed, two courses are open to individuals to escape from suffering: (1) to view and accept the order as it is, and (2) to enquire if there is any state of consciousness, on the attainment of which, an individual is no longer affected by the vicissitudes of life. *Dukkha* is nowhere postulated as a permanent feature of reality. It is entertained only as a possible contingency in life as it is generally lived. Happiness lies in the association with the Elect and in the sight of them. The association with the wise brings happiness. It is always desirable to follow the wise, intelligent, learned, dutiful, the enduring and the Elect (*Dhammapada*, Sukhavagga). There is no happiness higher than tranquillity. Health is the greatest gain, contentment is the best wealth, trust is the best of relationships but *nirvāṇa* is the highest happiness.[1] He is happy who has tasted the sweetness of solitude and tranquillity and who is free from fear and sin.

The Jainas like the Buddhists believe that hiṁsā or life-slaughter is the greatest sin. As a man kills a *jīva*, so will he be killed in hell. Dishonesty, covetousness, conceit, avarice, attachment, hatred, quarrelsomeness, slander, fault-finding and lack of self-control are considered as sins in Jainism, which lead people to suffer. *Mokkha* according to the Jainas is the highest happiness. One who has attained it, is called a *siddha* or a perfected one. A *siddha* is a being self-controlled, without caste, unaffected by smell, without the sense of taste, without feeling, without form, without hunger, without pain, without sorrow, without joy, without birth, without old age, without death, without body, without *karma*, enjoying an endless and unbroken tranquillity because of the complete waning out of all causes of suffering or *dukkha*.

1. "*Ārogyā paramā lābhā, santuṭṭhi paramaṁ dhanaṁ*
vissāsa paramā ñāti nibbānaṁ paramaṁ sukhaṁ." (*Dhammapada*, V. 204).

By performing meritorious deeds (*punna*) on earth people obtain pleasures and comforts. By giving a seat and a bed (*śayanapunya*) one gets a very high position; by bestowing food (*annapunya*) one secures health and wealth; by the gift of clothes (*vastrapunya*) one acquires *good complexion and property; the gift of conveyance procures for* the giver special happiness and that of light begets power of vision Besides there are other kinds of *punya*: *pānapunya* (merit acquired by giving water to the thirsty), *layanapunya* (merit acquired by building or lending a house to a monk), *manaḥpunya* (merit acquired by thinking good of everybody), *kāyapunya* (merit acquired by saving a life or rendering service), *vacanapunya* (merit acquired by speech) and *namaskārapunya* (merit acquired by reverent salutation).

Pāpa (demerit) and *punna* (merit) are equally reprehensible for the aspirant after the highest stage of saintship and *nirvāna* When the fruits of a good deed are consumed, the man has again to come down to *this* earth to be buffetted *by the waves of pāpa and punna*

We may note here that in Buddhism or in Jainism or Brahmanical system and in fact in every Indian religious system, there is no conception of eternal never-ending suffering in hell like the Christian or rather the Hebrew eschatological conception of *Gehenna*, the abode of the wicked, where they suffer endless torments by fire. Some of the Christian fathers hold that ultimately there would be an end to the punishment of the most wicked ; but this is not the idea of either the early or mediaeval church, and even Protestant divines stick to the idea of the never-ending punishment of the damned This is quite foreign to the Indian conception, according to which, every act either good or bad, produces happiness or suffering for a limited period, though the period may be considerably long according to the nature of the deed

In Jainism *dharma, adharma,* space, time, matter, and soul are the six substances They are imperishable and eternal by their very nature[1] *Each of them is a substance but time, matter, and soul form an infinite* number of substances The characteristic of *dharma* is motion That of *adharma* is immobility,[2] and that of *ākāśa* (space) is to make room. The characteristic of time is duration, that of soul is a realisation of knowledge, *faith,* conduct, *austerities, energy and* realisation of its development.

1 *Sutrakṛtanga*, I, 1, 1 15-16.
2 *Ibid*, I, 1 2 3, I, 1 4 2

These six substances are known as the six *astikāyas* or terms comprehending and characterising the world of existence. The three terms, *dravya, guṇa* and *paryāya* characterise the six *astikāyas*.

Under *navatattva* or the doctrine of nine terms come *jīva* and *ajīva*.[1] The *Jīvājīvābhigama*, which is the third Jaina *Upāṅga*, really contains the doctrine of living and non-living things. It mainly points out the various classifications of *jīva* and *ajīva*. The former comprises all entities endowed with life, while the latter includes those which are devoid of life. These two terms comprehend the world of existence as known and experienced. The world of life is represented by the six classes of living things and beings. The earth-lives, water-lives and plants are immovable beings while the movable beings are the fire-lives, wind-lives and those with an organic body. Through the gradation of living beings and things one can trace the evolution of senses, the lowest form of beings being provided with only one sense, namely the sense of touch.[2]

In Buddhism *jīva* and *ajīva* convey the same meaning as in Jainism. In the *Mahālisutta* of the *Dīghanikāya* (I. p. 159—*taṁ jīvaṁ taṁ sarīraṁ udāhu aññaṁ jīvaṁ aññaṁ sarīraṁ*), Buddha raises the question whether *jīva* and *sarīra* are the same, but he does not answer the question. He simply leads the discourse upto saintship along with the series of mental states set out in the *Sāmaññaphalasutta* of the *Dīgha*, I. *Jivītindriya* mentioned in the *Pali Vinaga*, III, 73; *Saṁyutta*, V. 204; *Milinda*, 56, is the faculty of life. *Jīva* in the sense of living being or soul occurs in the *Milindapañha*.[3]

Jīva (soul), *ajīva* (the inanimate things), the binding of the soul by *karma, merit* (puṇya), demerit (*pāpa*), that which causes the soul to be affected by sins (*āśrava*), the prevention of sins by watchfulness (*saṁvara*), annihilation of *karma* (*karmakṣaya*) and final deliverance (*mokṣa*) are the nine truths. The nine main terms of Jainism which became widely known as early as the time of the Buddha include *nirjarā* and *mokkha*.

Purāṇānaṁ kammānaṁ tapasā vyantibhāvā, navānaṁ kammānaṁ akaraṇā āyatiṁ anavassavo, āyatin anavassavā kammakkhayo kammakkhayā dukkhakkhayo dukkhakkhayā vedanākkhayo vedanākkhayā sabbaṁ dukkhaṁ nijjiṇṇaṁ bhavissatīti.[4]

1. *Uttarādhyayana*, XXVIII, 14.
2. Cf. *Majjhima* I, 157; *Aṅguttara* II, 41.
3. Trenckner Ed. p. 31.
4. *Majjhima*, II, p. 214.

Here *nijjinnam* implies the idea of *nijjarā* (*nirjarā*).

Nirjarā lies in the wearing out of the accumulated effects of *karma* on the soul by the practice of austerities. Austerities are internal and external. *Internal austerities are the following:*

Expiation, veneration, service to saints, concentration, abandonment of bodily attachment and study.[1] According to the *Tattvārthādhigama sūtra* the external austerities are the following:

Fasting, eating less, sitting and sleeping in a lonely place, mortification of the body, daily renunciation of one or more of the six kinds of delicacies, taking a mental vow to accept food from a householder, if a certain condition is fulfilled.

The ten virtues are the following:

Forgiveness (*uttama-kṣamā*), humility (*uttama-mārdava*), honesty (*uttama-ārjava*), purity (*uttama-śauca*), truthfulness (*uttama-satya*), restraint (*uttama-saṁyama*), austerities (*uttama tapas*), renunciation (*uttama-tyāga*), selflessness (*uttama-ākiñcanya*) and chaste life (*uttama-brahmacarya*).

The causes of bondage (*bandha*) are the following: (1) wrong belief, (2) perverse belief, (3) doubt, scepticism, (4) veneration, (5) wrong belief caused by ignorance and (6) inborn error.

Samvara is the principle of self-control by which the influx of sins is checked. The category of *samvara* comprehends the whole sphere of right conduct. It is an aspect of *tapas*. Some hold that it is the gradual cessation of the influx into the soul along with the development of knowledge

Faith is produced by nature (*nisarga*), *instruction* (*upadeśa*), command (*ājñā*), study of the sūtras, suggestion (*bīja*), comprehension of the meaning of sacred love (*abhigama*), complete course of study (*vistāra*), religious exercise (*kriyā*), brief exposition (*saṁkṣepa*) and reality (*dharma*)[2] According to the Buddhists, faith is the basic principle of all good deeds. It is the germinating principle of human culture It is characterised by two marks: (1) tranquilising in the sense of making all obstacles disappear and rendering consciousness clear; and (2) leaping high to achieve what has not been achieved, to master what has not been master-

1 *Uttarādhyayana*, XXVIII, 34.
2 *Uttarādhyayana sūtra*, XXVIII, 16: *Nisagguvaesaruī ānaruī suttavīyaruimeva Abhigama—Vitthāraruī kiriyā—saṁkhevadhammaruī.*
Dharma has been translated by Jacobi as 'Law' (*Jaina sūtras*, II, SBE., p 154)

ed, and to realise what has not been realised. Faith is nothing but trust in the *Buddha, Dharma,* (Doctrine) and *Saṅgha* (Order). The celebrated Pali Scholiast Buddhaghoṣa points out that faith is transforming itself into *bhakti* or devotion. It is associated with *prema* or love. The noble eightfold path (*ariya aṭṭhaṅgiko maggo*) is the development of the five controlling faculties and powers, one of which is faith or *śraddhā.*

In Jainism we find that being possessed of the right view (*Samyak-darśana*), one should bear all disagreeable feeling, giving up everything worldly. *Samyak-darśana* may be understood as right faith which consists in an insight into the meaning of truths as proclaimed and taught, a mental perception of the excellence of the system as propounded, a personal conviction as to the greatness and goodness of the teacher and a ready acceptance of some articles of faith for one's own guidance. It is intended to remove all doubt and scepticism from one's mind and to establish or re-establish faith. It is no doubt a form of faith which inspires action by opening a new vista of life and its perfection. Right faith on the one hand and inaction, vacillation, on the other, are incompatible. Take the Buddhist word *sammādiṭṭhi* which conveys the sense of faith or belief. It is precisely in some such sense that the Jainas use the term *sammādaṁsana.*[1] There cannot be right faith unless there is a clear pre-perception of the moral, intellectual or spiritual situation which is going to arise. Right faith is that form of faith which is only a stepping stone to knowledge (*paññā*).

Right belief, right knowledge, right conduct, and right austerities are called the *ārādhanās* in Jainism. Some think that right knowledge (*samyak jñana*), right faith (*samyak darśana*) and right conduct (*samyak cāritra*) are the three jewels in Jainism.[2] The *Uttarādhyayana Sūtra* (XXVIII. 2) points out that *jñāna, darśana, cāritra* and *tapas* together constitute the road to final deliverance (*mokṣamārga*). Tapas must be included as a part of *cāritra* or conduct (vide in this connection *Umāsvāti's Tattvārthādhigamasūtra*, I.1). Right belief is the belief or conviction in things ascertained as they are. Right belief depends on the acquaintance with truth, on the devotion of those who know the truth and on the avoidance of heretical tenets. There is no right conduct without right belief. It must be cultivated for obtaining right faith; righteousness and conduct originate together.[3] The right belief is attained by intuition and acquisition of

1. Cf. *Majjhima*, I. pp. 285 ff.
2. S. Stevenson, *Heart of Jainism*, p. 245.
3. *Uttarādhyayana*, XXVIII, 28.29.

Here *nijjinnam* implies the idea of *nijjarā* (*nirjarā*).

Nirjarā lies in the wearing out of the accumulated effects of *karma* on the soul by the practice of austerities. Austerities are internal and external. *Internal austerities are the following:*

Expiation, veneration, service to saints, concentration, abandonment of bodily attachment and study.[1] According to the *Tattvārthādhigama sūtra* the external austerities are the following:

Fasting, eating less, sitting and sleeping in a lonely place, mortification of the body, daily renunciation of one or more of the six kinds of delicacies, taking a mental vow to accept food from a householder, if a certain condition is fulfilled.

The ten virtues are the following:

Forgiveness (*uttama-kṣamā*), humility (*uttama-mārdava*), honesty (*uttama-ārjava*), purity (*uttama-śauca*), truthfulness (*uttama-satya*), restraint (*uttama-saṁyama*), austerities (*uttama tapas*), renunciation (*uttama-tyāga*), selflessness (*uttama-ākiñcanya*) and chaste life (*uttama-brahmacarya*).

The causes of bondage (*bandha*) are the following: (1) wrong belief, (2) perverse belief, (3) doubt, scepticism, (4) veneration, (5) wrong belief caused by ignorance and (6) inborn error.

Samvara is the principle of self-control by which the influx of sins is checked. The category of *samvara* comprehends the whole sphere of right conduct. It is an aspect of *tapas*. Some hold that it is the gradual cessation of the influx into the soul along with the development of knowledge.

Faith is produced by nature (*nisarga*), *instruction* (*upadeśa*), command (*ājñā*), study of the sūtras, suggestion (*bīja*), comprehension of the meaning of sacred love (*abhigama*), complete course of study (*vistāra*), religious exercise (*kriyā*), brief exposition (*saṁkṣepa*) and reality (*dharma*).[2] According to the Buddhists, faith is the basic principle of all good deeds It is the germinating principle of human culture It is characterised by two marks: (1) tranquilising in the sense of making all obstacles disappear and rendering consciousness clear; and (2) leaping high to achieve what has not been achieved, to master what has not been master-

1 *Uttarādhyayana*, XXVIII, 34.
2 *Uttarādhyayana sūtra*, XXVIII, 16 *Nisagguvaesaruī āṇaruī suttavīyaruīmeva Abhigama—Vitthāraruī kiriyā—saṁkhevadhammaruī.*
Dharma has been translated by Jacobi as 'Law' (*Jaina sūtras*, *II*, SBE, p 154).

sabbaññutā or omniscience consisting in three faculties: of reviewing and recalling to mind all past existences with details, of seeing the destiny of other beings according to their deeds and of being conscious of the final destruction of sins.[1]

Kevala means that which is limited by the object, that which is sufficient to survey the field of observation.[2] *Manaḥparyāyajñāna* is defined in the *Ācārāṅga Sūtra* (II, 15.23) as a knowledge of the thoughts of all the sentient beings. *Kevalajñāṇa* is defined in it as omniscience enabling a person to comprehend all objects and to know all conditions of the worlds of gods, men and demons.[3] As defined in the *Anuyogadvāra* the *ābhinibodhika* knowledge is one which is directed to the objects (*atthābhimuho*) and determined (*niyao*). It is perceptual in its character in so far as the objects are known through the sense-perception. The *śrutajñāna* is also a kind of *ābhinibodhika* knowledge which is indirect. The *avadhijñāna* implies the internal perception of the objects from different angles, each implying a particular *modus operandi.* (For further details *vide*, Law, *Some Jaina Canonical Sūtras*, pp. 105-107).

The different kinds of obstruction to right faith are sleep, activity, very deep sleep, a high degree of activity and a state of deep-rooted greed.

Syādvāda consists of certain *nayas* or viewpoints from which assertions are made as to truth. The number of *nayas* was finally fixed as seven, but the canonical texts are reticent about their exact number. According to the doctrine of *Syādvāda* there are seven forms of metaphysical propositions and all contain the word *Syāt*, e.g., *Syād asti sarvaṁ, Syād nāsti sarvaṁ*. In deciding all questions the admirable way was one of *Syādvāda.* If the question was mooted like this: Is the world eternal or not? The Master's advice to his disciples was neither to side with those who maintained that the world is eternal nor with those who maintained that it is not eternal. The reason seems to be this that from neither of these alternatives they could arrive at truth. By proceeding exclusively from either side they would only be led to error. The *syād* mode was the real way of escape from the position of the dogmatist and that of the sceptic, from both of which Mahāvīra recoiled. *Syāt* means 'may be' and it is explained as *kathaṁcit* (somehow).

Leśyā is a term signifying colour according to the *Sūtrakṛtāṅga*

1. Cf. *Tattvārthādhigama sūtra*, I. 9.
2. Cf. *Kalpasūtra*, 15.
3. *Ācārāṅgasūtra*, II, 15.25.

knowledge from external sources It is the result of subsidence (*upaśama*), destruction-subsidence (*kṣayopaśama*) and destruction of right belief deluding karmas (*darśana-mohanīya-karmopaśama*). The right belief is not identical with faith. It is reasoned knowledge *Adhigama* is knowledge which is derived from intuition, external sources, e g, precepts and scriptures It is attained by means of *pramāṇa* and *naya*. *Pramāṇa* is nothing but direct or indirect evidence for testing the knowledge of self and non-self. *Naya* is nothing but a standpoint which gives partial knowledge of a thing in some of its aspects

Samyak-darśana is of two kinds: (1) belief with attachment, the signs of which are the following: calmness (*praśama*), fear of mundane existence in five cycles of wanderings (*saṁvega*), substance (*dravya*), place (*kṣetra*), time (*kāla*), thought-activity (*bhāva*), compassion towards all living beings (*anukampā*) and (2) belief without attachment (the purity of the soul itself).

Right knowledge is of five kinds: (1) knowledge through senses, i e, knowledge of the self and non-self through the agency of the senses of mind; (2) knowledge derived from the study of the scriptures; (3) direct knowledge of matter in various degrees with reference to subject-matter, time, space, and quality of the object known; (4) direct knowledge of the thoughts of others, simple or complex and (5) perfect knowledge. It should be noted here that the Buddhists recognise right knowledge (*sammāñāna*) as one of the additional factors in the noble eightfold path. Obstruction to knowledge is five-fold: (a) obstruction to knowledge derived from sacred books (*sūtra*); (b) obstruction to perception (*ābhinibodhika*); obstruction to supernatural knowledge (*avadhijñāna*),[1] knowledge of the thoughts of others (*manaḥparyāya*) and the highest and unlimited knowledge (*kevala*).[2]

The first kind of knowledge corresponds to the Buddhist *sutamayāpaññā*, the second kind to *cintāmayāpaññā*, the third kind to *vilokana*; the fourth kind to *cetopariyāyañāna* and the fifth kind to

1 Knowledge of the distant non-sensible in time or space possessed by divine and internal souls *Antavantajñāna* in Buddhism (*Aṅguttara*, IV, p 428) is evidently the same term as Jaina *Avadhijñāna* which is knowledge co-extensive with the object rather than supernatural knowledge (*antavantena ñāṇena antavantaṁ lokaṁ janaṁ passaṁ*).

2. Vide *Kalpasūtra*, 156 59 . . . *anante aṇuttare nivvāghāe nirāvaraṇe jāva kevala-vara-nāṇadaṁsaṇe samuppanne* . . . . *It is just the synonym of Buddhist aparisesa.*

into a new existence.[1] Those who cherish right views, do not commit sins and are enveloped in white *leśyā*, will reach enlightenment at the time of death.

The Buddhist idea of contamination of mind by the influx of impurities from outside, illustrated by the simile of a piece of cloth dyed blue, red, yellow or the like, would seem to have some bearing on the Jaina doctrine of the six *leśyās*, which is merely hinted at in the *Sūtrakṛtāṅga* (1.4.21), where a Jaina saint is described as a person whose soul is in a pure condition and fully explained in the *Uttarādhyayana* (XXXIV). The Jaina religious efforts are directed towards the acquisition of pure *leśyā*.[2] The black *leśyā* is the worst of the three bad emotions colouring soul. The blue *leśyā* is an emotion which is less evil than the last. The grey *leśyā* may lead men to do evil. A man under its command becomes crooked in thought and deed. The *tejo leśyā* removes all evil thoughts from the *jīva* under its sway. The *padma leśyā* is good emotion. A man controls anger, pride, deceit and avarice through its power. When a man is under the influence of the white *leśyā*, love and hatred disappear. Black, blue and grey are the three bad emotions; yellow, pink and white are the three good emotions. Cf. Maskarin's division of souls into six colour types (*abhijātis*) reduced according to the *Mahābhārata* (XII, 279, 33-68) into the *Sāṅkhya* division of souls in three colour types, viz., the white, the red and the black. Leumann defines *leśyā* as the soul type.

The *Paṇhāvāgaranāiṁ* (*Praśna-vyākaraṇāni*), also known as the *Praśna Vyākaraṇadaśā*, which is the tenth *aṅga* of the Śvetāmbara *Āgama*, explains the great moral vows of the Jainas. The first four represented the four principles of self-restraint as prescribed by Pārśva for his followers. Although the enumeration of the principles is somewhat different, they are all important to both the Jaina and Buddhist systems. In the Jaina presentation a greater emphasis is laid on the side of the abstinence from impious acts, while in the Buddhist presentation much stress is laid on the positive aspect of virtues. It is not enough that a person abstains from doing a misdeed in as much as a progressive man is expected to cultivate and develop friendliness, truthfulness, honest life, etc. The difference seems to be one of degree and not of kind. (Vide Law, *Jaina Canonical Sūtras*, pp. 62-63). According to Pārśva there were four vows. To these

1. *Uttarādhyayana*, XXXV.
2. *Sūtrakṛtāṅga*, 1.10.15.

(1.6 13). The classification of living beings in terms of six colours may be traced in Pārśva's doctrine of six jīvanikāyas.[1] *Leśyā* is said to be that by means of which the soul is tinted with merit and demerit. It arises from *yoga* or *kaṣāya*, namely the vibrations due to the activity of body, mind or speech or passions[2] Pārśva's doctrine of the six classes of living beings served as the basis of Mahāvīra's doctrine of six *leśyās*. The *leśyās* are different conditions produced in the soul by the influence of different *karma*. They are, therefore, not dependent on the nature of the soul but on the *karma* which influences the soul. They are named in the following order: black, blue, grey, red, yellow and white. The black (*kṛṣṇa*) *leśyā* has the colour of a rain cloud, a buffalo's horn. The blue (*nīla*) *leśyā* has the colour of the blue *Aśoka* (*Jonesia Aśoka*) having red flowers. The grey (*kāpota*) *leśyā* has the colour of the flower of *atasi* (*Linum usitatissimum*) having blue flowers. The red (*rakta*) *leśyā* has the colour of vermilion The yellow (*padma*) *leśyā* has the colour of orpiment. The white (*śukla*) *leśyā* has the colour of conch-shell.[3]

The taste of the black *leśyā* is more bitter than that of *tumbaka* (*Lagenaria vulgaris*). The taste of the blue *leśyā* is more pungent than black pepper and dry ginger. The taste of grey *leśyā* is more pleasant than that of ripe mango. The degrees of the *leśyās* are three or nine or twenty-seven or eighty-one or two hundred and forty-three. Each of these degrees is threefold: low, middle and high. A man who acts on the impulse of the five sins, who commits cruel acts, who is wicked and mischievous, develops the black *leśyā*. A monk who has anger, ignorance, hatred, wickedness, deceit, greed, carelessness, love of enjoyment etc., develops the blue *leśyā*. A man who is dishonest in words and acts, a thief, a deceiver, develops the grey *leśyā* A man who is humble, restrained, well disciplined, free from deceit, and law-abiding, develops the red *leśyā*. A man who controls himself, who is attentive to his study and duties, develops the yellow *leśyā* A man who controls himself, who subdues his senses, who is free from passion, develops the white *leśyā* The black, blue and grey *leśyās* are the lowest *leśyās*, through them the soul is brought into misery. The red, yellow, and white *leśyās* are the good *leśyās*, through them the soul is brought into happiness. In the first and last moment of all these *lesyās*, when they are joined with the soul, the latter is not born

1 *Ācārāṅga*, II, 15 16
2. Law, *Mahavīra*, *His Life and Teachings*, p. 104
3. Vide in this connection S Stevenson, *Heart of Jainism*, pp 102 ff

into a new existence.[1] Those who cherish right views, do not commit sins and are enveloped in white *leśyā*, will reach enlightenment at the time of death.

The Buddhist idea of contamination of mind by the influx of impurities from outside, illustrated by the simile of a piece of cloth dyed blue, red, yellow or the like, would seem to have some bearing on the Jaina doctrine of the six *leśyās*, which is merely hinted at in the *Sūtrakṛtāṅga* (1.4.21), where a Jaina saint is described as a person whose soul is in a pure condition and fully explained in the *Uttarādhyayana* (XXXIV). The Jaina religious efforts are directed towards the acquisition of pure *leśyā*.[2] The black *leśyā* is the worst of the three bad emotions colouring soul. The blue *leśyā* is an emotion which is less evil than the last. The grey *leśyā* may lead men to do evil. A man under its command becomes crooked in thought and deed. The *tejo leśyā* removes all evil thoughts from the *jīva* under its sway. The *padma leśyā* is good emotion. A man controls anger, pride, deceit and avarice through its power. When a man is under the influence of the white *leśyā*, love and hatred disappear. Black, blue and grey are the three bad emotions; yellow, pink and white are the three good emotions. Cf. Maskarin's division of souls into six colour types (*abhijātis*) reduced according to the *Mahābhārata* (XII, 279, 33-68) into the *Sāṅkhya* division of souls in three colour types, viz., the white, the red and the black. Leumann defines *leśyā* as the soul type.

The *Paṇhāvāgaranāiṁ* (*Praśna-vyākaraṇāni*), also known as the *Praśna Vyākaraṇadaśā*, which is the tenth *áṅga* of the Śvetâmbara *Āgama*, explains the great moral vows of the Jainas. The first four represented the four principles of self-restraint as prescribed by Pārśva for his followers. Although the enumeration of the principles is somewhat different, they are all important to both the Jaina and Buddhist systems. In the Jaina presentation a greater emphasis is laid on the side of the abstinence from impious acts, while in the Buddhist presentation much stress is laid on the positive aspect of virtues. It is not enough that a person abstains from doing a misdeed in as much as a progressive man is expected to cultivate and develop friendliness, truthfulness, honest life, etc. The difference seems to be one of degree and not of kind. (Vide Law, *Jaina Canonical Sūtras*, pp. 62-63). According to Pārśva there were four vows. To these

1. *Uttarādhyayana*, XXXV.
2. *Sūtrakṛtāṅga*, 1.10.15.

four vows of Pārśva the vow of chastity was later added by Mahāvīra This he did by dividing the vow of property into two parts: one relating to women and the other relating to material possessions The Ajīvika leader Gosāla s conduct led Mahāvīra to add the vow of chastity to the four vows of Pārśva

Cātuyāma or cāujjāma (Pali *cātuyāmasamvara*)[1] denoting four vows of Pārśva was undoubtedly a phraseology of the religion of Pārśva, but it acquired altogether a new connotation with the followers of Mahāvīra

The first great vow of the Jainas is abstinence from killing living beings (Cf Buddhist *Pānātipātāveramani*) The second great vow is avoidance of falsehood (Cf Buddhist *Musāvādāveramani*). A Jaina speaks after deliberation. He comprehends and renounces anger, greed, fear and mirth The third great vow is avoidance of theft (Cf Buddhist *Adinnādāveramani*) A Jaina begs after deliberation for a limited space. He consumes his food and drink with the permission of his superiors He who has taken possession of some space should always take possession of a limited part of it, and for a fixed period[2] He may beg for a limited space for his co-religionists after deliberation The next vow is avoidance of sensual pleasures (Cf Buddhist *Abrahmacariyāveramani*). The last great vow is freedom from possessions (Cf. Buddhist *Jātarūparajatapaṭiggahanāveramani*)[3] The non-hankering after worldly possessions may be internal and external The external hankering is an obstacle to religious practice and the internal hankering leads a person to the incorrectness of method, recklessness, thoughtlessness and moral contaminations according to the *Panhāvāgaranāim*

The *Avaśyaka sūtra* (*Avassaya suya*) refers to the *Sāmāyika* vow which means the maintenance of a balanced state of mind with regard to all blamable actions, passions and hatred. The *Sāmāyika vow* as a preliminary to the Jaina religious practices primarily means *virati* or abstinence

The *Thānanga* which is the third Anga of the Jain Canon, mentions four kinds of mental concentration (*jhāna*) each with its four varieties The *jhāna* is defined in Jainism as the resting of consciousness on a single object even for a moment (*anto muhuttamattam cittāvatthānam egavatthummi*) The first is called *artadhyāna* of which the characteristic mark

1 *Cātuyāma samvara samvuto* (*Sam. I, 66, Digha. III, 49*)
2 Cf *Anguttara* I, 205—This is known in southern Buddhism as *Niganthūposatho*
3 *Sutrakṛtānga*, II, 7 17

is self-mortification or that which is resorted to by a person who is oppressed by the fear of the world. The second is terrific (*raudra*) as it is attended by the worst cruelties to life. The third is *dharmya* or pious, as it is not bereft of the practices of piety as enjoined in the scriptures. The fourth is *śukla* or purificatory, as it serves to purge all impurities due to the karmic effect.

It is interesting to note that in Jainism there are twelve meditations on transitoriness, helplessness, mundaneness, loveliness, separateness, impurity, inflow, stoppage, relinquishment, universe, rarity of right path, and nature of right path.

The *Āvaśyaka* sūtra (*Āvassaya suya*) refers to *kāyotsarga* which is an ascetic mode of atoning for the excess in sinful indulgences (*aticāra*). It implies the idea of particular bodily postures to be adopted in keeping oneself unmoved on suitable spot. It is a Jaina mode of *dhyāna* (*jhāṇa*) practice. He who practises this mode is required to keep his body, mind, and speech under perfect restraint. His mind is to be kept intent on the particular object of meditation. Jainism lays stress on the practice of self-mortification as a means of checking one's passion as well as of inducing mental concentration. From *sāmāyika to kāyotsarga* all the modes are to be carefully studied and methodically practised with a view to clearing the path of progress of aspirant towards the attainment of emancipation.

There are five *samitis* and three *guptis* which constitute eight means of self-control. They are also known as the eight articles of Jaina creed. In Buddhism the ideas of *samiti* and *gutti* are found to be the same.[1] The *samitis* are the following : (1) going by paths trodden by men, carts, and beasts, etc. and looking carefully so as not to cause the death of living beings; (2) using sweet, gentle and righteous speech; (3) receiving alms in a manner to avoid forty-two faults; (4) receiving and keeping things necessary for religious exercises; and (5) performing the operation of Nature in an unfrequented place.[2] *Gutti* is vedic *gupti* meaning protection, defence, guard, watchfulness.[3] The three *guttis* are the following :— (1) preventing mind from sensual pleasures by engaging it in contemplation, study etc.; (2) preventing the tongue from saying bad things by

1. Cf. *Dīgha*, I, p. 172.
2. *Dīgha*, II, 292.
3. *Ibid.*, III, 148; *Aṅguttara*, IV, 106 ff.; Cf. *Uttarādhyayana Sūtra*, XXIV, 1 : *aṭṭa pavayanamāyāo Samūguṭti taheva ya paṇceva* ya samiio tao guttio āhiyā.

taking the vow of silence; and (3) putting the body in an immovable posture.[1] The walking of a well disciplined monk should be pure in respect to the ends, time, road and effort. Knowledge, faith and right conduct are the ends; the time is day-time; the road excludes bad ways; the effort is fourfold as regards substance, space, time and condition of mind. A well disciplined monk should work carefully; he should avoid pride, greed, deceit etc. He should use blameless and concise speech at the right time. For a detailed discussion of the subject, vide my '*Some Jaina Canonical Sūtras*, p. 204.

In Jainism the five sinful deeds that one commits due to innate proneness to sin stand as opposed to five great vows (*pañcamahāvratas*) that follow from the principle of *samvara* or restraint. The five sinful deeds are: (1) harming life (*himsā*); (2) lying (*mosa*); (3) thieving (*adatta*); (4) incontinence (*abambha*), and (5) hankering after worldly possessions (*pariggaha*). The harming of life is deprecated by the Jainas. This sinful deed serves to generate delusion and great fear and brings about mental distress. This is the first road to impiety. The second road to impiety is lying which is defined and characterised as telling an untruth, which makes a person light and fickle. This road to impiety also includes the preaching and promulgation of false doctrines and misleading philosophical views of life. *The third door to impiety is taking away what is* not given It is defined as an act of stealing, oppressing, bringing death and fear, a terrifying iniquity and a sinful deed rooted in covetousness and greed *The fourth door to impiety is known as incontinence. It is defined* as a sexual dalliance coveted in the worlds of gods, men and demons, which is a net and noose of amour, which is a hindrance to the practice of *austerities, self-restraint and chaste life. The fifth and last door to* impiety is hankering after worldly possessions, such as, gems, jewels, gold, landed properties, opulence, wealth, etc. It is rooted in greed and it is an expression of *craving and thirst for worldly things.*

To compress all that is knowable about the following tenets of Jainism as a practical religion within the bounds of a few pages will be welcome.

(1) *Longing for liberation (samvega): By it the soul obtains an intense desire of the law.*

(2) Disregard of worldly objects (*nirveda*): By it the soul quickly feels disgust for pleasures enjoyed by *gods, men and animals*

1. *Uttarādhyayana Sūtra*, Ed. J. Charpentier, pp 178-181

(3) Desire of the law (*dhammasaddhā*): By it the soul becomes indifferent to pleasures.

(4) Obedience to co-religionists and to the Guru (*gurusādhammiya-sussūsaṇā*) : By obedience to them the soul obtains discipline.

(5) Confession of sins before the Guru (*āloyaṇā*) : By this the soul gets rid of the thorns of deceit, wrong belief, etc.

(6) Repenting for one's sins to oneself: By this the soul obtains repentance and becoming indifferent by repentance he prepares himself for an ascending scale of virtues by which he destroys *karma*.

(7) Repenting for one's sins before the Guru: By this the soul obtains humility.

(8) Moral and intellectual purity of the soul (*sāmāyika*): The soul ceases from sinful occupations by such purity.

(9) Adoration of the 24 Jinas: The soul arrives at purity of faith by this adoration.

(10) Paying reverence to the Guru (*vandanā*) : By this the soul destroys the *karma* leading to birth in low families.

(11) By expiation of sins the soul obviates transgressions of the vows (*paḍikkamaṇa*).

(12) By a particular posture of the body (*kāussagga*) the soul gets rid of past and present transgressions which require expiatory rites.

(13) By self-denial (*paccakkhāṇa*) the soul shuts the doors against sins.

(14) By praises and hymns (*thavathuimaṅgala*) he obtains wisdom consisting in knowledge, faith and conduct.

(15) By keeping the right time he destroys *karma* which obstructs right knowledge.

(16) By practising penance (*pāyacittakaraṇa*) he gets rid of sins and commits no transgressions.

(17) By begging forgiveness he obtains happiness of mind.

(18) By study he destroys *karma* which obstructs right knowledge.

(19) By the recital of the sacred texts he preserves the sacred lore and obtains destruction of *karma*.

(20) By questioning the teachers he arrives at a correct comprehension of the *sūtra* and its meaning.

(21) By repetition he commits the sounds or syllables to memory.

(22) By pondering on what he has learnt, he loosens the firm hold

which the seven kinds of *karma* have upon the soul

(23) By religious discourses he exalts the creed and by exalting the creed he acquires *karma* for future bliss

(24) By the acquisition of sacred knowledge he destroys ignorance

(25) By concentration of his thoughts he obtains stability of the mind

(26) By control he obtains freedom from sins

(27) By austerities he cuts off *karma*.

(28) By cutting off *karma* he obtains freedom from actions.

(29) By renouncing pleasures he obtains freedom from false longing

(30) By mental independence (*appadibaddha*) he gets rid of attachment

(31) By using unfrequented lodgings and beds he obtains conduct

(32) By turning away from the world he strives to do no bad actions

(33) By giving up collections of alms in one district only he overcomes obstacles.

(34) By abandoning articles of use he obtains successful study.

(35) By not taking forbidden food he ceases to act for the sustenance of his life

(36) By conquering his passions he becomes free from passions

(37) By renouncing activity he obtains inactivity.

(38) By renouncing his body he acquires the pre-eminent virtue of the perfected ones

(39) By shunning company he obtains singleness and avoids disputes, quarrels, passions, etc

(40) By giving up all food he prevents his birth many times

(41) By perfect renunciation he enters the final stage of pure meditation

(42) By conforming to the standard of a monk's life he obtains ease and will be careful

(43) By doing service he acquires *karma* which brings about for him the name and family name of a *Tirthankara*

(44) By fulfilling all virtues he will not be born again

(45) By freedom from passions he destroys the ties of attachment and desire

(46) By patience he overcomes troubles

(47) By freedom from greed he obtains voluntary poverty[1]

1 *Muttie nam bhante jive kim janayai Mum akiñcanaṁ janayai akiñcane ya jive atthalolānam apatthanijjo bhavai*

By simplicity he will become upright; by humility he will acquire freedom from self-conceit, by sincerity of mind he will obtain purity of of mind; by sincerity in religious practice he will become proficient in it; by sincerity of action he will become pure in his action; by watchfulness of his mind he concentrates his thought; by guarding the speech he will be free from prevarication; by watchfulness of the body he obtains restraint; by discipline of the mind he obtains concentration of his thoughts; by discipline of the speech he obtains development of faith; by discipline of the body he obtains development of conduct; by possession of knowledge he acquires an understanding of words and their meanings; by possession of faith he destroys wrong belief; by possession of conduct he obtains stability; by subduing the organ of hearing he overcomes his delight in all pleasant and unpleasant sounds. There is the subduing of the organs of sight, smell, taste and touch with regard to pleasant colours, smells, tastes and touches. By conquering anger he obtains patience; by conquering pride he obtains simplicity; by conquering deceit he obtains humility; by conquering greed he obtains content; by conquering love, hatred, and wrong belief, he exerts himself for right knowledge, faith and conduct. By the motionless state of the self (*śaliesī*) he first stops the functions of his mind, then those of the speech, then those of the body, at last he ceases to breathe. Freedom from *karma*. The soul after having got rid of *audārika kārmaṇa* bodies takes the form of a straight line, goes in a moment without touching anything and taking up no space, and then the soul develops into the real form and obtains perfection. [*Uttarādhyayana*, XXIX, 73; S. Stevenson, *Heart of Jainism*, p. 206; Cf. the Brahmanical conception of the *sthūla* (*gross*), *sūkṣma* (subtle or also called *liṅga*) and *kārmaṇa* bodies assumed by the soul].



A 13TH CENTURY INSCRIBED METAL-BELL FROM PATAN (N. GUJARAT)

DR. M. R MAJUMDAR, M.A., PH.D, LL.B

The discovery of a metal-bell acquired from Pāṭan (N. Gujarāt) and now deposited in the Central Asian Antiquities Museum, New Delhi, is interesting as a material evidence for the art of metal-casting in Gujarāt for objects used in worship.

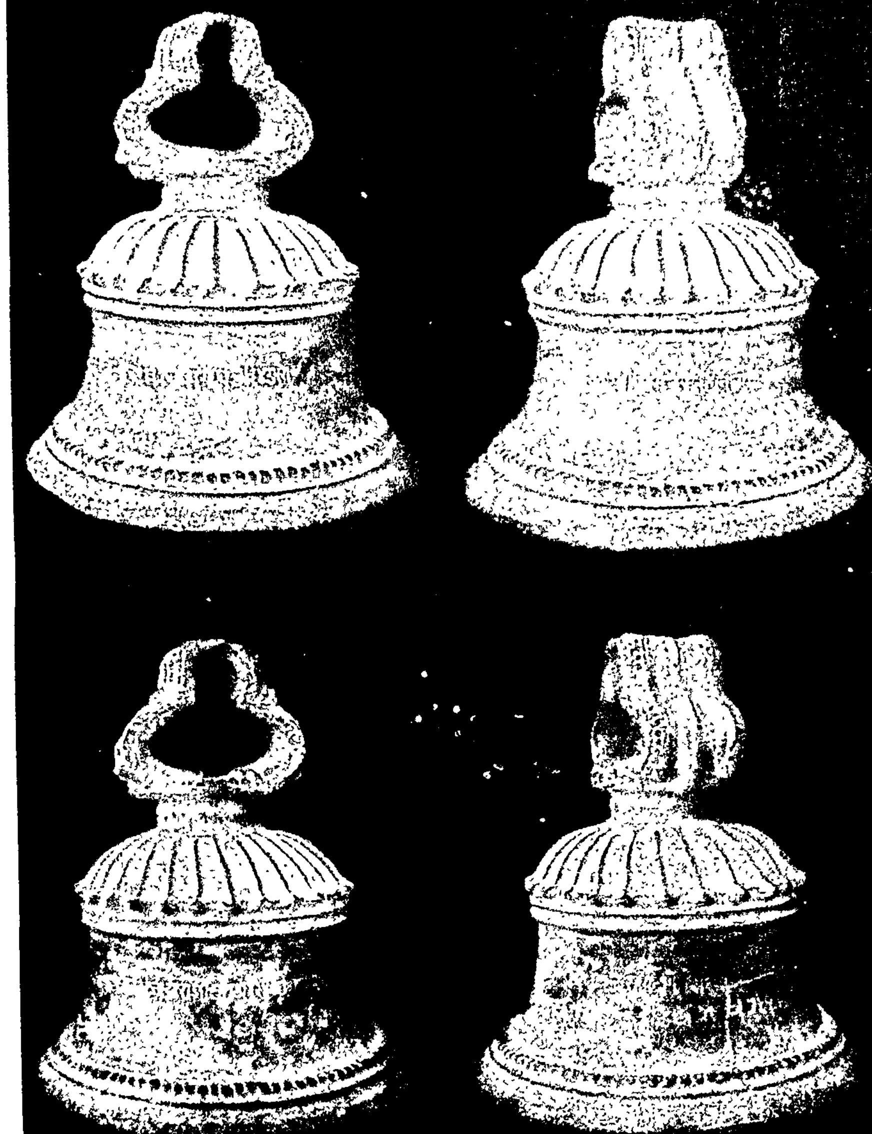
Even to-day we find simple ordinary articles of daily use satisfying in their artistic completeness, like the things of household and temple furniture—the elaborately worked out wooden bedstead, the swing with fancy brasschains, the water-jugs, highly ornamented pitchers, jars and the utensils for worship, the canopy, hangings on the wall or from the ceiling, brass lamp-trees and the like. These articles were beautiful and delicate pieces of art relegated to the everyday life of the people.

To come to the place of a bell in our everyday life:

A bell is a hollow metallic vessel used for making a more or less loud noise. Bells are usually cup-like in shape, and are constructed so as to give one fundamental note when struck. The term does not strictly include gongs, cymbals, metalplates, resonant bars of metal or wood, or tinkling ornaments, such as, e g, "bells" like the common variety of cow-bells or bells on the belt worn by bullocks, camels or elephants. The main interest of bells has reference to church, temple or tower-bells

The history of bells is full of romantic interest. In civilized times, they have been intimately associated, not only with all kinds of religious and social uses, but with almost every important historical event. Their influence upon architecture is not less remarkable, for to them indirectly we probably owe most of the famous towers in the world. Church-towers at first, perhaps, scarcely rose above the roof, being intended as lanterns for the admission of light, and addition to their height was in all likelihood suggested by the more common use of bells.

There are a few bells of world-wide renown, and several others more or less celebrated. The great bell at Moscow, "Tsar Kolokol" which according to the inscription was cast in 1733, was in the earth for 103 years and was raised by the Emperor Nicholas in 1836 The present bell seems never to have been actually hung or rung, having been cracked in the furnace; and it now stands on a raised platform in the middle of a square. It is



A 13th Century inscribed metal bell from Patan

DIGAMBARA JAINA TIRTHANKARAS FROM MAHESHWAR AND NEVĀSA

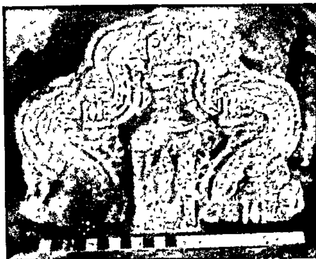


Fig 1
Prabhâvalı ırcm Bhartṛhari Gufâ Maheshwar



Fig 2
Jaina Tirthankara ın Kayotsarga from Bhartṛharı Gufā Maheshwar



Fig 3
Parsvanatha and another Tırthankara from Nevāsa

Photos Dr H D Sankalıa]

used as a chapel. It weighs about 180 tons, height 19 ft. 3 in., circumference 60 ft. 9 in., thickness 2 ft., weight of broken piece 11 tons. The second Moscow bell, the largest in the world in actual use, weighs 128 tons.

In a pagoda in Upper Burma hangs a bell 16 ft. in diameter, weighing about 80 tons. The great bell at Peking weighs 53 tons; Nanking, 22 tons; Olmutz, 17 tons; Vienna (1711), 17 tons; Notre Dame (1680), 17 tons; Paul's cathedral, 16¾ tons; Great Tom at Oxford, 7½ tons; Big Ben of the Westminster Clock Tower weighs 13½ tons; it was first cast by George Mears under the direction of the first Lord Grimthorpe in 1858.

These large bells are either not moved at all, or only slightly swung to enable the clapper to touch their side; in some cases they are struck by a hammer or beam from outside. The earliest bells known to the Western World were probably not cast, but made of plates rivetted together, like the bells of St. Gall or Belfast.

The bell-founder's art, originally practised in the monasteries, passed gradually into the hands of a professional class, by whom were gradually worked out the principles of construction, mixture of metals, lines and proportions. In England, some of the early founders were peripatetic artificers, who travelled about the country, setting up a temporary foundry to cast bells wherever they were wanted. In old church-wardens accounts are found notices of payments for casting of bells at places where no regular foundry is known to have existed.

Bell-metal is a mixture of copper and tin in the porportion of 4 to 1. The thickness of the bell's edge is about one-tenth of its diameter and its height is twelve times its thickness.

The names of bells were often stamped upon them in the casting; whence arose inscriptions upon church-bells. The character of the lettering, and the foundry-marks upon old bells, are of great assistance in determining their date.[1]

The chief centres of this art of metal-foundry in Gujarat were known to flourish in Sīhor (Saurāṣṭra), Visnagar (N. Gujarāt) and Ḍabhoi (Central Gujarat).

The earliest dated metal-bell from Gujarat is taken to be the one, found at Ajārā, one *krośa* from Ūnā (Saurāṣṭra) now a very small village, but formerly a big city adorned by a number of Jaina temples. The

1. For further information, see article on 'Bell' in *Encyclopaedia Brittanica*, Vol. III, p. 687-692.

bell under notice weighs 35 lbs and is dated V. S 1034 The inscription 'श्री अजारा पार्श्वनाथ स १०३४। शा. रायचंद जैचद।:' (Vide *Jaina Tīrtha Sarva-Saṅgraha* Vol. I, Pt. I, pp 137, 138); it has, however, been looked upon with great suspicion about the digit for hundred in the date which very probably reads much later.

Dr. Vasudeva Sharana Agrawala, was kind enough to send me four photographic prints of the Pātāna temple-bell in June 1951 which bears an inscription

The inscription as read from the four side-views of the bell gives the following information: *The use of Pṛṣṭha-mātrā is noteworthy:—*

(I) ॐ स १३१८ वार्षे माघ शु दि ४ गुरो वागड ऊद्रयारो

(II) श्री चंद्रप्रभस्वामि चाचेत्य कुदुादवकुमार

(III) ——भार्या राजीसुत रसीहश्रावेयनाथ

(IV) Not legible.

The inscription records that this temple-bell was presented to the Caitya of Śrī Candraprabha Svāmi, situated in the Vāgada district, in Samvat 1318 (1262 A.D) on the fourth day of the bright half of the month of Māgha.

The height of this bell is 15 inches, outer diameter at the bottom is 13½ inches and it weighs 45 lbs[2]

Later dated specimens of the 17th and 18th century bells have been known to be in existence at the summit of Dattātreya on Mt. Girnār and also on Mt. Abu.

The bell introduced through this note is the earliest dated specimen from Gujarat, beyond any doubt.

It is worthwhile to investigate into the earlier history of metal-casting in Gujarat as is in evidence from the Akoṭā hoard of bronzes, which probably is in a line with the "School of Ancient West" as noted by the Buddhist historian Tāranāth in 1609

2 This detailed information is due to the courtesy of Dr T. N. Rāmachandran, Deputy Director of Archaeology, New Delhi.

WHAT JAINISM OFFERS TO THE WORLD

SHRI C. S. MALLINATH

We live in a world of social inequalities, economic difficulties, multifarious diseases, over-population and atomic bombs. Can Jainism offer any solution for the above problems? Yes. It can and it does offer. But one has to follow and apply its teachings in actual practice as an earnest patient would follow the prescriptions of his doctor.

Social inequalities: It is really regrettable that even in the civilised countries of Europe, prejudice due to colour, race, or nationality still continues to exist and keep the people divided amongst themselves. Experience teaches that colour or racial arrogance cannot continue to exist long. Humanity has to be told again and again that the entire human race is but one family irrespective of differences due to colour, race or nationality. "All humanity is one", is one of the fundamental teachings that Jainism offers.

Economic difficulties: Whatever might be the economic conditions obtaining in other countries, the economic position in India is still far from satisfactory. Indians are still starving. Thousands of men, women and children are found suffering from heat and cold, completely exposed to changing conditions of weather without proper shelter and sufficient clothing. The Haves must come to the rescue and protection of the Have-nots. Jainism enjoins that everyman must put a limit to the acquisition of property and then entirely devote his time for public good. People engaged in independent professions such as lawyers, doctors, merchants, engineers etc. must retire when they reach the limits fixed for them and thus give room for others to earn. *Dig-vrata* and *Deśā-vrata*, limiting one's activities within certain prescribed directions and within certain boundaries in a country and abstaining from the use of things got from beyond the limits or sending things to such places, also contribute in a way to mitigate economic difficulties. It is expected of every well-to-do person to give *abhaya-dāna*, the gift of fearlessness to all those who are afflicted with fear as to, "What shall we eat, where shall we stay, and with what shall we cover ourselves?" The sacred books say that on the day when the Blessed Lord Bhagavān Mahāvīra renounced the world, He distributed His great wealth among the needy and the indigent. The Bhūdāna and the Sampattidāna movements launched and conducted by

Acharya Vinoba Bhave go a long way to solve the economic difficulties "Live and let live", is the formula offered by Jainism. *Kṣemaṁ sarva-prajānāṁ*, 'may all people be happy', is the daily prayer of the Jainas

Diseases: It is the opinion of the common people that in proportion to advancement of civilization and the new methods of living, the number of diseases also has increased. No doubt scientific research has eliminated the threat of death from infectious diseases. But still there are instances of cases which baffle even expert medical men And the treatment of some of the diseases is so costly that it is beyond the reach of the common may *Ausadha-dāna*, gift of medicine, is one of the charities, which a Jaina householder is asked to give in order to provide relief to the sick.

Over-population: The rapid growth of population is a great problem for the leaders of all nations In India, too, the population has considerably increased during the last decade Several devices are suggested and advices given to check the growth. Birth-control clinics have been started in many places and the people are advised to use appliances But any attempt to go against Nature is not only injurious to health but also sinful Therefore, Jainism advises the practice of celibacy (*Brahmacarya*) as the only non-injurious method to control birth It helps men and women to keep their bodies healthy and strong and makes them pure and edifying.

Atom Bombs: With the advancement of scientific research, many marvellous things have been invented for the convenience, comfort and enjoyment of man The use of steam and electricity, telegraph and telephone and improved methods of printing have revolutionised modern life. Through radio and television, man sitting at his desk can hear the voices of people at distant places and see visions of events happening far away from him Science has contributed to the development of industry and agriculture on a very large scale. Automobiles, steamships and aeroplanes enable the speedy movement of men and goods. Time and distance have been conquered. But side by side with the application of his scientific knowledge for beneficial purposes, man has discovered horrible weapons of destruction also

Prof M Oliphant, Director of Physical Laboratories, Australian National University, in his lecture on "Science and Mankind", recently delivered at the University of Madras, said, "At the present time we face a crisis in the use of science which is of far greater immediate importance

and which must be surmounted if our present civilization is to endure. This is the threat of war which has been for mankind a sort of undulant fever of increasing malevolence which now threatens his very existence. Man stands on the brink of a precipice of his own devising.

"If world war should come again it is certain that most that we value will be destroyed, hundreds of millions will die and the surface of the earth be so despoiled that a recovery may take a million years.

"The banning of weapons of mass destruction offers no solution, for any nation facing defeat abandons all scruples and uses every weapon which could decimate the enemy. Excuses can always be found for the use of any diabolical weapon in retaliation".

The world itself looks as though it is on the verge of complete destruction. Man with the help of his scientific knowledge has rolled the globe and placed it on the jaws of death. In the light of this situation, what is the solution that Jainism can offer to avoid war and establish permanent peace? Jainism has been teaching that soul *or ātman* is the only precious thing in the whole world. Nothing is comparable to it. The scientist himself who has discovered so many wonderful things was able to do so only because of his own soul which is, in other words, his knowledge. The Jaina conception of soul and knowledge being identical is analogous to Einstein's theory of matter and energy being equivalent, which is again the teaching of Jaina metaphysics. Where there is knowledge there is soul; and where there is soul there is knowledge. The unique nature of soul and all its wonderful qualities have been taught to the world by the great teachers. Lord Mahāvīra emphasized the supreme value of soul as a thing which must be protected and developed at any cost. Man should not only care for the welfare and advancement of his soul but also help the souls of all sentient beings by giving them protection and by helping them to march on the path of salvation. He who loses his soul loses everything. Jesus Christ who came five centuries later than Mahāvīra also drew the attention of mankind to the value and importance of *ātman* or soul. "What shall it profit a man", he asks, "if he gains the whole world and loses his own soul?" The pious Christians who live in America, Russia and other countries where the deadly weapons are being manufactured may as well ask their own countrymen, "What shall we gain if we get supremacy of the earth and lose our own souls?" Unfortunately there will be no getting the supremacy of the earth also, since the atom bombs

will destroy everything.

In order to establish peace in the world the importance of soul and the necessity for the practice of *Ahimsā* should be taught throughout the world in every village and town Man must be made to become conscious of the supreme value of his soul and the utter uselessness of the result of inventing and using of the atom bombs.

Nowadays people seem to think that religion is of no use in modern life, and that it cannot play any part in shaping the character of the people. In reply we can only say in the words of Joseph Gaer, "Those who have lived among the Jainas find them a very kindly people, and better men because of their religion."

DIGAMBARA JAINA TĪRTHAṄKARAS FROM MAHESHWAR AND NEVĀSĀ

DR. H. D. SANKALIA, M.A., Ph.D. (LONDON)

Maheshwar is a well-known town situated on the northern bank of the Narmadā in the present State of Madhya Bhārat. It is about 50 miles south of Indore. Here, just overlooking the river, and adjoining the temple of Viṭṭhala, is a place called the "Gufā (Cave of Bhartṛhari)". There is no rock in the vicinity, and I wondered how a cave could exist in the area. On examining the so-called "Gufā", it was noticed that it was a submerged temple, situated on an old mound, going back to the 3rd century B.C. and even earlier. Further study showed that the temple might have been built during the Paramāra period, about 1100 A.D. This is particularly suggested by the *prabhāvali,* (Fig. 1) which is carved in the form of a *toraṇa*. Similar *toraṇa* is seen in the *toraṇas* at Sidhpur, Vadnagar and Kapadvanj in Gujarat which were erected in the time of Siddharāja Jayasiṁha and his successor.[1]

In one of the niches of this temple there is a huge, large, nude, standing male figure (Fig. 2), with arms thrown on its sides, now partly broken. The head and the face were broken anciently and are now replaced by a different one. The figure is worshipped as Rājā Bhartṛhari, but in fact it is a Jaina Tīrthaṅkara standing in Kāyotsarga pose. Since the *lāñchana* and the *vāhana* as well as the attendant Jaina Yakṣas and Yakṣīs are no longer present, it is not possible to identify the image as of a particular Tīrthaṅkara. But its presence indicates that once a large Jaina temple stood on the bank of the Narmadā, probably in the 12th century.

Nevāsā is also a holy town, and equally old as Maheshwar, though its recorded antiquity does not go beyond the time of Śrī Jñāneśvara, that is A. D. 1290. It lies on both the banks of the Pravarā river; the older town on the northern side is called Nevāsā Budruk, and that on the southern side is known as Nevāsā Khūrd. It is also a taluka town, and situated at a distance of about 36 miles north of Ahmadnagar.

Pillars, capitals, door-frames, and images of the mediaeval period are found scattered about, completely uncared for, on both the sides of the town. Among these we found, lying right on the river bank, on the

1. See Sankalia, H. D., *The Archaeology of Gujarat*, Figs. 55-57.

northern side, that is Nevāsā Budruk, two stone images of Jaina *Tīrthankaras* (*Fig. 3*). *The lower parts of both the images are broken*, but since the upper part of one, with a canopy of seven cobra hoods survives, it is possible to identify it as the figure of the 23rd Tīrthaṅkara Pārsvanātha. Both stood in Kāyotsarga pose.

It is interesting to note that the Maheshwar as well as the Nevāsā images are Digambara. It is well known that Digambara Jainism was patronized by the Western Chālukyas, Rāṣṭrakūṭas, the Hoysalas and the Yādavas. *Since no structural monuments of the first two dynasties are* hitherto known from the Deccan, it is likely that the images in question belong to the mediaeval period, that is after 1,000 A. D. From the existence of the Jaina caves belonging to the Digambara School at Triṅgalvāḍi[1] and at *Chāndor*[2] *in the Nasik district of the early (?) Yādava period, it is* possible to say that Digambara Jainism was in a flourishing state at this period in the Deccan. And the Nevāsā figures should belong to this period

2. Cousens, Henry, *Mediaeval Temples of the Dakhan, ASI., Imperial Series*, Vol. XLVIII, (Calcutta, 1931), pp 48-50, pl LXV

GLORY OF JAINISM

SHRI CHIMANLAL J. SHAH, M.A.

Of all Indological studies, Jainism has been particularly unfortunate in that the little that is done for it stands in vivid contrast with the vast undone.

We shall not attempt to relate here, neither shall we venture to sketch in outline, the mighty developments of the dogmas, the institutions and the doctrines of this great religion. Ours will be an attempt to follow the fortunes of a people, stout and sturdy, great and glorious, both in making a history for themselves and for their religion, and to estimate, in however tentative and fragmentary a fashion, the intrinsic worth of their contribution, particularly to the rich and fruitful cultural stream of India.

"The history of ancient India," says a modern historian, "is a history of thirty centuries of human culture and progress. It divides itself into several distinct periods, each of which, for a length of several centuries, will compare with the entire history of many a modern people."[1] In these "thirty centuries of human culture and progress", the Jaina contribution is a solid synthesis of many-sided developments in art, architecture, religion, morals and the sciences; but the most important achievement of the Jaina thought is its ideal of *Ahiṁsā*—non-violence—towards which, as the Jainas believe, the present world is slowly, though imperceptibly, moving. It was regarded as the goal of all the highest practical and theoretical activities, and it indicated the point of unity amidst all the diversities which the complex growth inhabited by different peoples produced.

It is really difficult, nay impossible, to fix a particular date for the origin of Jainism. To the Jainas, Jainism has been revealed again and again in every one of these endless succeeding periods of the world by innumerable Tīrthaṅkaras. Of the present age the first Tīrthaṅkara was Ṛṣabha and the last two were Pārśva and Mahāvīra. Nevertheless, modern research has brought us at least to that stage, wherein we can boldly proclaim all these worn-out theories about Jainism being a latter offshoot of Buddhism or Brahmanism as gross ignorance or, to repeat, as erroneous misstatements. On the other hand, we have progressed a step

1. Dutt, *Ancient India*, p. 1.

further, and it would be now considered a historical fallacy to say that Jainism originated with Mahāvīra. This is because it is now a recognized fact that Pārśva, the twenty-third Tīrthankara of the Jainas, is a historical person, and Mahāvīra like any other Jaina enjoyed no better position than that of a reformer in the galaxy of the Tīrthaṅkaras of the Jainas.

Coming to the reformed Jaina Church of Mahāvīra or Jainism as such, it spread slowly among the poor and the lowly, for it was then a strong protest against caste privileges. It was a religion of equality of man. Mahāvīra's righteous soul rebelled against the unrighteous distinction between man and man, and his benevolent heart hankered after a means to help the humble, the oppressed and the lowly. The Brāhmana and the Śūdra, the high and the low, were the same in his eyes All could equally effect their salvation by a holy life, and he invited all persons to embrace his catholic religion of love. It spread slowly—as Christianity spread in Europe in the early days—until Śrenika, Kūnika, Candragupta, Samprati, Khāravela, and others embraced Jainism during the first few glorious centuries of Hindu rule in India.

If by atheism we understand the belief that there is no eternal supreme God, creator and Lord of all things, Jainism is atheistic. The Jainas flatly deny such a supreme God, but they believe in the eternity of existence, universality of life, immutability of the Law of *Karma*, and supreme intelligence as the means of self-liberation

The other characteristic feature of Jainism is the doctrine of *syādvāda* or *anekāntavāda*. This unique feature of Jaina philosophy has been considered as the outstanding contribution of the Jainas to Indian logic "The doctrine of *Nayas* or standpoints is a peculiar feature of the Jaina logic"[2] It is common with all religions to insist upon and provide for perfect knowledge. Every religion tries to teach man to go beyond the phenomenon Jainism does the same, and with this difference, that it does not recognise the real from a restricted point of view. No better example of the clarity, subtlety and profundity of the Jaina intellect could be given.

Regarding the literary contribution of the Jainas, it would take a fairly big volume to give a history of all that they have contributed to the treasures of Indian literature. They have developed at all times a

2. Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, I, p 298

rich literary activity. They have contributed their full share to the religious, ethical, poetical and scientific literature of ancient India. All the species are respected in it, not only those which have an immediate bearing on the canonical writings—that is to say, the dogmatic, the moral, the polemic and the apologetic—but also history and legend, epic and romance and lastly the sciences, such as astronomy and above all sciences like astrology and divination.

In the realm of art, the elaborately carved friezes in the cave temples and dwellings on the Udayagiri and Khaṇḍagiri Hills, the richly decorated *Āyāgapaṭas* and *Toraṇas* of the Mathurā find, the beautiful free-standing pillars on the mountain masses of Girnār and Śatruñjaya, the admirable architecture of the Jaina temples of Mount Abu and elsewhere, and the pictorial remains evolved under the austere influence of Jainism are sufficient to evoke the interest of any student of Indian history. They combine in them the Triune Entity of Indian art—a sublime union of the purely decorative, the realistic and the purely spiritual. In the words of Dr. Guerinot, "The Hindi art owes to them a great number of its most remarkable monuments. In the domain of architecture, they have reached a degree of perfection which leaves them without a rival."[3]

In conclusion, if *Ahiṁsā* may be generalised as the fundamental ethical virtue of Jainism, *Syādvāda* may be described as the central and unique feature of Jaina metaphysics, and the explicit denial of the possibility of a perfect being from all eternity with the message of "Man ! thou art thine own friend", as the centre round which circles the Jaina ritual. All this combined with the ideal of *Ahiṁsā* teaches :

He prayeth well, who loveth well
Both man and bird and beast
He prayeth best who loveth best
All things both great and small

Coleridge

and that is why a Jaina always says :

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥

"I forgive all souls; let all souls forgive me. I am on friendly terms with all; I have no enmity with anybody."

3. Guerinot, *La Religion Djaina*, p. 279.

JAYĀ-GROUP OF GODDESSES

Dr UMAKANT PREMANAND SHAH, M.A., Ph D

Jayā, Vijayā, Ajitā or Jayantā and Aparājitā seem to form a group of goddesses, since in the Jaina literature they are usually assigned similar functions and are often invoked together. Sometimes four more goddesses, much less popular, are also included in this group; these latter ones are Jambhā, Mohā, Stambhā and Stambhinī. The first four are also included amongst Pratīhāras or door-keepers. It is necessary to treat them in their other aspects also.

According to the *Nirvāṇakalikā*,[1] Jayā is the superintending deity of the gate in the eastern quarter and is worshipped along with Vijayā, Ajitā and Aparājitā amongst the dvārapālas (door-keepers) of the first prākāra (circle in a circular diagram and of any other shape in other yantras) in the diagram of Nandyāvarta drawn and worshipped in the pratiṣṭhāvidhi According to this text, the iconography of these four goddesses is as under :—

Jayā :— White in complexion, and guarding the eastern quarters, she shows the *abhaya*, the pāśa, the goad and the *mudgara* (mace) in her four hands.

Vijayā — Red in appearance, and door-keeper of the southern-quarter, she carries the same symbols as Jayā.

Ajitā :— Same symbols as above. Ajitā is golden, and is assigned the western gate.

Aparājitā —Black in appearance and guarding the northern-quarter, Ajitā shows the same symbols as are carried by the other three goddesses.

It may be noted that Hemacandra speaks of them as door-keepers of the second rampart in the Samavasarana and gives them the same symbols and complexion [2]

The *Ācāradinakara* does not give the iconography of any of these goddesses discussed here, but merely refers to Jayā, Vijayā, Jayantā and Aparājitā in the Dhvajapratiṣṭhāvidhi [3]

Jayā and Vijayā are said to hold the cāmaras (fly-whisks) on two sides

1 *Nirvāṇakalikā*, p 20
2 *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita* (GOS), Vol I, p 192
3 *Ācāradinakara*, pp 203 ff

of Pārśvanātha in the Mantrādhirāja-Yantra, according to Sāgaracandra,[4] and in the yantra on the last verse of the *Bhayaharastotra*.[5] According to Sāgaracandra, Jayā is white, four-armed and shows the chowrie, the rosary, the *varada mudrā* and the fruit (*bījapūraka* = citron). Putting on white garments, she rides on the elephant.[6]

Jayā is also worshipped in the third sthāna,[7] called Vijjāpada (Vidyāpada) in the Sūrividyā-diagram, along with Vijayā, Jayantī, Nandā and Bhadrā, as attendants of Śrī.[8]

Jayā, Vijayā, Jayantī and Aparājitā are called Upavidyās of the Bāhubali Mahāvidyā in the *Sūrimantra-Durgapadavivaraṇa*. They are worshipped in the second pīṭha of the Sūrimantra, which contains the Bāhubalividyās used for Nimittakathana. Works on Sūrimantra refer to mantras which they assign to Jayādividyās (i.e. Jayā, Vijayā, Jayantā and Aparājitā).[9]

In the diagram (maṇḍala) for the propitiation of Sarasvatī, in the tradition (āmnāya) of Bappabhaṭṭi Sūri, Nandā, Mohā, Jayā, Vijayā, Aparājitā, Jambhā and Stambhā are invoked and worshipped.[10]

Thus these goddesses are included as the parivāradevatās of both Śrī and Sarasvatī.

Jayā, Vijayā, Ajitā (same as Jayantā or Jayantī of other texts) and Aparājitā are invoked by Mānadeva Sūri in his Laghuśāntistava and the Śāntimantra given therein.[11] They are supposed to bestow peace and

4. *Mantrādhirājakalpa*, in the *Mantrādhirājacintāmaṇi*, p. 232.
5. *Mantrādhirājacintāmaṇi*, p. 29.
6. Ibid., pp. 258, 265. For a mantra of Jayā and Vijayā see, ibid. p. 264.
7. Sthāna here conveys a meaning similar to that of prākāra noted above. Pada in the expression Vijjāpada also means the same.
8. *Sūrividyā-stotra*, *Bhairava-Padmāvatī-Kalpa*, app. 29, p. 112.

पउमदहपउमनिलया चउसट्ठिसुराहिवाण महमहनी ।
सव्वगुणधरा पणमंती गोयममुणिन्दं ॥ ४
विजया-जया-जयन्ती-नन्दा-भद्दासमन्निया तइए ।
विज्जापए निविट्ठा सिरिसिरिदेवी सुहं देउ ॥ ५ ॥

द्वितीयपीठे-ॐ नमो भगवओ इत्यादि विज्जा-यावत् अक्षर ३३ एषा बाहुबलीविद्या स्वप्राचर्थम् । ततो वग्गु वग्गु महुमहुरे यावद् वर्णाः २२ सौभाग्यविद्या । ततो हिलि हिलि इत्यादि आयरियकालि यावद् वर्णाः ३० जयादि विद्याः। अस्य पीठस्य अधिष्ठात्री मानुषोत्तरशिखरवासिनी सहस्रभुजा त्रिभुवनस्वामिनी ।

9. *Sūrimantramukhyakalpa* in *Sūrimantra-kalpa-sandoha*, p. 14. Also see *Sūrimantra-Durgapada-Vivaraṇa*, in *ibid.*, pp. 45 ff.
10. *Bhairava-Padmāvatī-Kalpa* app. 11, pp. 61 ff.
11. *Ibid.*, app. 31, pp. 131 ff.

prosperity. These four are also worshipped in the Cintāmani or Pārśvacintāmani-yantra described by Dharmaghosa Sūri.[12]

Jayā, Ajitā, Aparājitā, Jambhā, Mohā and Vijayā are also invoked in the yantra according to the Vṛddhasampradāya on the Upasargaharastotra, verse 2,[13] and also in the Cintāmani Cakra on the same verse[14]

Jayā, Vijayā, Jayantā, Aparājitā and Anāhitā are famous in the Vardhamāna-Vidyā[15] Elsewhere the present writer has suggested that Anāhitā probably signifies some form of *Anaitis* or Anihatā.[16] Jayā Vijayā and Ajitā are included in the list of mahādevīs in the famous *Rsimandalastotra.*[17]

Vijayā and Jambhinī are also referred to as Vidyās in the *Paumacariyam*[18]

In the Digambara tradition, the *Bhairava-Padmāvatī-Kalpa* calls Jayā, Vijayā, Ajitā and Aparājitā as Dig-devīs (goddesses of quarters) while Jambhā, Mohā, Stambhā and Stambhinī are said to be Vidig-devīs (goddesses of intermediate points).[19] The text prescribes their worship for Vaśya-rites.

According to the *Pratisthāsāroddhāra* of *Āśādhara, Jayā, Vijayā,* Aparājitā, Jambhā, Mohā, Stambhā and Stambhinī are to be worshipped in the bahirmandalapūjā[20] They are invoked for obtaining Śānti (peace) and bliss[21] But the author does not give their symbols

Nemicandra in his *Pratiṣṭhātilaka* calls them Sādhu-devīs[22] They are said to protect the Jaina Faith and give victory over rival faiths and enemies

It will be seen that in both the Śvetāmbara and the Digambara traditions, the four goddesses are invoked for Śānti; Vijayā later on came to be worshipped as Śāntidevatā. The various texts on Sūrimantra and the Vardhamānavidyā further show that they were regarded as giving victory But their special inclusion in the Vardhamānavidyā is significant The Vidyā is used with certain changes as mantras by different types

12. *Mantrādhirāja-Cintāmani*, pp 30 ff., 7 ff.
13. *Jaina Stotra-Sandoha*, Śrī Cintāmaṇikalpa, pp 6-7.
14 *Ibid*, p 9
15 Two Vardhamānavidyā-kalpas of Śrī Simhatilakasūri, published in *Sūrimantrakalpasandoha*, pp 1-22
Shah, U. P, *Foreign Elements in Jaina Literature*, IHQ Sept. 1953.
17. *Mahāprabhāvika-Narasmarana*, p 516
18. *Paumacariyam*, 7 141, 144
19 *Bhairava-Padmāvatī-Kalpa*, p 19, verses 1-4; Pp pp 12-13 verses 17-18
20 *Pratiṣṭhā-Sāroddhāra*, pp 79-81.
21. *Ibid.*, p 81, verses 225-26
22 *Pratiṣṭhātilaka*, pp. 179-80, also cf. p 215, verse 8

of Jaina monks, especially the Upādhyāyas and Vācakas. We have no means to ascertain that the worship of these deities was introduced in Jainism by Vardhamāna Mahāvira or his immediate successors. It is, however, quite reasonable to suppose that the Vardhamānavidyā and the Sūrimantra existed in the age of Vajrasvāmī in the first or second century A.D. and both the Jaina Tantric practices should probably date from (at least) a century or two before Christ. Their association with Śri, Sarasvati and Anaitis or Anāhita suggests that they may be ancient goddesses, and probably evolved from them.

With the growth of the later yakṣiṇīs and the popularity of Ambikā, Padmāvatī and Cakreśvarī, their worship seems to have receded into background and practically disappeared.

It is also certain, on account of their associations with the above mentioned goddesses, as also with Nandā and Bhadrā, that they are not exclusively Jaina, and their origins should be traced into some other deities commonly worshipped in ancient times, before the Christian era.

Eight Dik-Kumārīs, living on the Eastern Rucaka mountains coming to perform the birth ceremonies of a Jina, are called Nandā, Nandottarā, Ānandā, Nandivarddhanā, Vijayā, Vaijayantī, Jayantī and Aparājitā.[23] It should be remembered that the lists of fifty-six Dik-Kumārīs include names of such ancient goddesses as Ilā-devī, Pṛthivī, Ekanāsā (corruption of Ekānaṁsā (?), Bhadrā, Śrī, etc. It is, therefore, probable that Nandā, Bhadrā etc., and Jayā, Vijayā etc., shown as attendants of Śrī, the Adhiṣṭhātṛ-devī of the third pāṭha of the Sūrimantra, were ancient goddesses and that they were incorporated in Jainism at a very early date.

That the Jayā, Vijayā, Jayantī and Aparājitā are treated as door-keepers in the Śvetāmbara tradition is significant though only indirectly. Vijayā, Vaijayantī, Jayantā and Aparājitā are four well known door-keepers of the Jagatī of the Jambudvīpa according to Jaina canon like the Jambudvīpaprajñapti.[24] Their female counterparts seem to have been evolved as door-keepers in a Samavasaraṇa. Male deities of those names were installed in a fortified town in centre, according to a well known passage from Kauṭilya's Arthaśāstra,[25] which fact shows that Vijaya, Vaijayanta, Jayanta and Aparājita are old deities.

23. *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita*, I (GOS), p. 106. Lists of Dik-Kumārīs are available in Jaina Canonical Works, in the Vasūdevahiṇḍi, in the Aṅgavijjā, and in Śvetāmbara and Digambara works on Cosmography.
24. *Jambudvīpa-prajñapi*, sū. 7 ff., pp. 45 ff.
25. Banerji, J. N., Development of Hindu Iconography, pp. 94 ff.

A RARE SCULPTURE OF MALLINATH

DR. UMAKANT PREMANAND SHAH, M A, Ph D.

• The *Provincial Museum, Lucknow preserves a unique Jaina sculpture* (size 1'-4" x 1'-7½") of black stone. It is a headless statue (No J 885) of a Tirthankara sitting in the *padmāsana*, dhyāna mudrā, (see plate attached) The central part of the seat probably contained a small representation of the cognizance of the Tirthankara, but the lāñchana is now defaced.

The open palm of the right hand placed in dhyāna mudrā shows a lotus-mark but there is no *Śrī-vatsa* mark on the chest. However, the developed breasts are so prominent that it is natural to regard this as a female figure. The nineteenth Tirthankara Mallinātha was a princess according to Śvetāmbara Jaina traditions represented in the *Nāyādhammakahāo* and other texts like the Trisastiśalākāpurusacarita of Hemacandra The Digambara sect does not advocate belief in the liberation (mukti or nirvāna) of women Hence, according to the Digambaras, Mallinātha was a Prince and not a Princess.

According to Śvetāmbara Jaina tradition, all other Tirhaṅkaras except Mallinātha were males Hence we must identify this sculpture as representing the nineteenth Tirthankara Mallinātha according to the Śvetāmbara traditions.

Almost all the other known sculptures of Mallinātha in Śvetāmbara temples represent the Jina without developed breasts and hence looking like a male Thus this is a unique sculpture faithfully following the Śvetāmbara Jaina traditions

The usual cognizance of Mallinātha is the water-jar. The central part of the seat of the Jina shows a very defaced figure of the water-jar (not clearly visible in the photograph). The identification of the Jina is unmistakable. The sculpture is assignable to early mediaeval period [1]

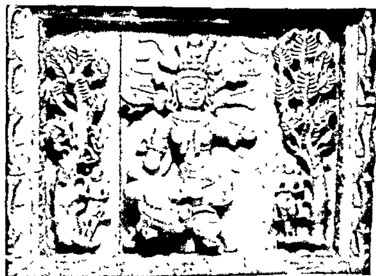
1 I am thankful to the Curator, Provincial Museum, Lucknow for a photograph of this sculpture



भगवान मल्लिनाथनी अप्रतिम शिल्पप्रतिमा
A unique sculpture of Mallināth in the Provincial Museum, Lucknow
लखनौ प्रॉविन्शियल म्युझियमना सौजन्यथी]

अम्बिका देवी, विमल-वसहीमांना रंगमंडपनी एक छतनी कोतरणी, देलवाडा, (बारमी सदी)
Ambika Devi in ceiling corner of the Rangamandapa, Vimala-Vasahi, (Ābu), 12th Century

तसवीर : श्री० आर० भारद्वाज]



सिंहारूढ अम्बिका (?), लूण-वसहीनी एक छतनी कोतरणी, देलवाडा, तेरमी सदी
Ambikā (?) on Lion in the ceiling of Lūna-Vasahī, (Ābu), 13th Century

तसवीर : श्री० जगन मेहता]

ĀCĀRYA HARIBHADRA'S COMPARATIVE STUDIES IN YOGA

Dr. N. M. Tatia, M.A., D. Litt.

Ācārya Haribhadra is a Jaina author of the 8th Century A.D. He is said to have composed fourteen hundred works, some of which are still available. It can be said that he is one of those ancient authors who had unique mastery of all the branches of Indian philosophy and religion and at the same time were masters of clear and lucid style. A student of comparative philosophy is struck with wonder and surprise to find in his works a correct estimate and a fair criticism of the rival systems of thought and a critical search for the unity underlying them. In this paper I have made an attempt to summarize the contents of his works on *yoga* and show the comprehensiveness of his vision and the depth of his insight.

Haribhadra made a very valuable contribution to the comparative study of *yoga*. He composed a number of works on the subject. His *Yogabindu* and *Yogadṛṣṭisamuccaya* are very valuable works. The *Yogaviṁśikā* and the *Ṣoḍaśakas* also deserve notice. Upādhyāya Yaśovijaya revived the studies of Haribhadra. We shall therefore advert to his works as well for the sake of a better understanding of Haribhadra's works. We shall begin with the *Yogaviṁśikā* and the *Ṣoḍaśakas*, and then come to the *Yogabindu* and the *Yogadṛṣṭisamuccaya*. We shall refer, where necessary, to the other works of Haribhadra as well.

All spiritual and religious activities that lead towards final emancipation are considered by Haribhadra as *yoga*. But special importance should be attached, he says in his *Yogaviṁśikā*, to these five kinds of activities:

(1) practice of proper posture (*sthāna*),
(2) correct utterance of sound (*ūrṇa*),
(3) proper understanding of the meaning (*artha*),
(4) concentration of the image (*ālambana*) of a *Tīrthaṅkara* in his full glory and perfection, and
(5) concentration on his abstract attributes (*anālambana*).

Of these five, the first two constitute the external spiritual activity (*karmayoga*) and the rest the inward spiritual urge (*jñānayoga*).[1]

1. *YV*, 1-2; *ṢP*, XIII.4; for *sālambana* and *nirālambana yoga* see *ṢP*, XIV.I.

These activities can be properly practised only by those individuals who have attained to the fifth or a still higher stage of spiritual development (gunasthāna).[2] One reaches the consummation of these activities in the following order. At the outset one develops an interest in these activities, and comes to have a will (*icchā*) for practising them. Then he takes an active part in them, and begins actual practice (*pravṛtti*). Gradually he becomes steadfast in them and achieves stability (*sthairya*). Finally he gains mastery (*siddhi*) over the activities.[3] Each of the five activities is mastered in this order. First of all one is to master the posture (*sthāna*), then correct utterance (*ūrṇa*), then the meaning (*artha*). After that one should practise concentration upon an image (*ālambana*), and finally one should attempt at mastery over the concentration upon the abstract attributes of an emancipated soul. This is a full course of yogic practice One *may practise these spiritual activities either out of fancy (prīti)*, or reverence (*bhakti*), or as an obligatory duty prescribed by scriptures (*āgama or vacana*), *or without any consideration (asaṅga).*[4] *When a spiritual activity is done out of fancy or reverence it leads to worldly and other worldly prosperity (abhyudaya). And when it is done as a duty or without any consideration whatsoever it leads to final emancipation.*[5] Of the five-fold *activities mentioned above, the last two, viz., concentration of the mind* upon the image of a *tīrthankara*, or upon the abstract attributes of him are the most important. We shall therefore deal with them in some *detail*

When one has practised posture (*sthāna*), correct utterance (*ūrṇa*), and the correct understanding of the meaning, one is qualified for concentration (*dhyāna*). The beginner is to practise concentration on an image of a *tīrthaṅkara* in his full glory and splendour. When one has perfected *this* practice and has achieved steadfastness, one begins the practice of concentration on the abstract attributes of a *tīrthankara*. This concentration is known as *anālambana* inasmuch as its object is not a concrete entity perceptible by a sense-organ.[6] The soul at this stage concentrates upon the abstract attributes which are not the objects of sensuous perception By

2 *Vide* author's *Studies in Jaina Philosophy*, pp 268-80 for the conception of fourteen *gunasthānas*.

3. *YV*, 4.

4 YV, 18, *ṢP*, X.I

5. *ṢP*, X 9

6 The word *anālambana* does not mean *'devoid of any ālambana (object)'* but only 'devoid of a concrete *ālambana*'. The prefix *a(n)* here means 'abstract' or 'subtle' (*sūkṣma*) *Cf*. sūkṣmo 'tīndriyaviṣayatvād anālambano nāma *yogaḥ—Yaśovijaya's Ṭīkā on YV*, 19, also cf. *ṢP*, XIV 1

this time the soul has reached the seventh stage of spiritual development (*guṇasthāna*). The concentration is, however, only in its primary stage even in the seventh *guṇasthāna*. The soul develops an irresistible urge for the realization of the transcendental self and reaches the eighth stage of spiritual development on the ladder of annihilation (*kṣapakaśreṇi*).[7] The concentration becomes more steadfast at this stage. The soul has now achieved full detachment from the world, and earnestly proceeds onward to the realization of the truth. It now does not rest until it has reached the consummation. The soul is then in the ninth *guṇasthāna* and is pressing forward to the twelfth on the ladder of annihilation. It has now revealed its full capacity (*sāmarthyayoga*)[8] for spiritual development and is bound to reach the twelfth stage and attain the knowledge of the transcendental self. In this state the soul attains concentration on the abstract attributes. Of course, it has not realized those attributes. But it has an ardent spiritual urge for the realization of them. This is *anālambana yoga.*[9] The soul is detached from the world and is on the verge of realizing the self. It has not yet realized the self, but is only striving for it. And so it is not concentrated on any object whatsoever at this stage. This is the reason why the concentration is without any object.[10] The soul is here compared with an archer, the ladder of annihilation with the bow, the realization of the self with the target and the concentration with the arrow. The *anālambana yoga* lasts until the arrow is shot. The arrow is sure to pierce the target. The soul immediately attains realization of the self as the consummation of the concentration.[11] The soul, as we have stated, concentrates upon the abstract formless (*arūpin*) attributes of the transcendental self in the *anālambana dhyāna*. The distinction therefore between the *sālambana* and the *anālambana yoga* is this that in the former one concentrates upon an object having from (*rūpin*) while in the latter on a formless object

7. For the conception of *kṣapakaśreṇi*, see author's *Studies in Jaina Philosophy*, p. 275.
8. It is a technical term for the meaning whereof *vide infra*, p. 137.
9. Cf. sāmarthyayogato yā tatra didṛkṣe 'ty asaṅgaśaktyāḍhyā
 sā 'nālambana-yogaḥ proktas taddarśanaṁ yāvat.—*ṢP*, XV.8.
10. Cf. tatrāpratiṣṭhito 'yaṁ yataḥ pravṛttaś ca tattvatas tatra
 ....tenā 'nālambano gītaḥ.—*ṢP*, XV.9.
11. Cf. drāg asmāt taddarśanam iṣupāta-jñāta-mātrato jñeyam
 etac ca kevalaṁ taj jñānaṁ yat tat paraṁ jyotiḥ—ṢP, XV. 10.

(*arūpin*).[12] Yaśovijaya, following Haribhadra, says that this *anālambana yoga* resembles the *samprajñāta samādhi* of another (that is, Patañjali's) system.[13] The consummation of this *anālambana* concentration is omniscience which, according to Yaśovijaya, resembles the state of *asamprajñata samādhi* of Patañjali's system. There is no activity of the mind and the sense-organs when omniscience is achieved, and so there is annihilation of all the transformations of the mind (*aśesavṛttinirodha*). And so it is not improper to compare the state of omniscience with the *asamprajñāta samādhi* of the *Sānkhya-Yoga*.[14] There is, however, another higher stage of this *samādhi*. The soul attains that stage in the fourteen *gunasthāna*[15] where, all activities, gross and subtle, are totally stopped. The soul is now devoid of all vibrations caused by its association with matter. It has now annihilated all the residual *karmans* and immediately attains final emancipation. This stage of concentration, says Yaśovijaya, resembles the *dharmamegha* of Patañjali's system, to *amṛtātman* of yet another system, to *bhavaśatru* of a third system, to *śivodaya* of yet another, to *sattvānanda* of yet others, and to *para* of a still another school.[16]

The above study is mainly based on the *Yogavimśikā*. Now we come to the *Sodaśakas*. There are some primary defects of the mind which are to be removed before practising the yogic processes. The minds of the uninitiated (*pṛthagjanacitta*) are vitiated by these defects. Haribhadra enumerates them as eight viz. inertia (*kheda*), anxiety (*udvega*), unsteadiness (*ksepa*), distraction (*utthāna*), lapse of memory (*bhrānti*), attraction for something else (*anyamud*), mental disturbance (*ruk*), and attachment (*āsanga*).[17] The mind of a yogin should always be free from these defects. It should be calm and quiet (*śānta*), noble and great (*udātta*). It should be free from all impurities and intent on the well-being of others (*parārthaniyata*).[18] Such minds are capable of concentration of the highest

12. Cf rupi-dravyaviṣayaṁ dhyanaṁ sālambanam arūpiviṣayam ca nirālambanam iti—Yasovijaya's Tikā on YV, 19
13. eṣa eva samprajñātah samādhis tīrthāntarīyair gīyate—*Ibid* YV, 20
14. Cf. kevalajñāne śeṣavṛttyādi-nirodhāl labdhātma-svabhāvasya mānasa-vijñānavaikalyad asamprajñātatvasiddhiḥ—*Ibid.*
15. ayam cā 'samprajñāta-samādhir dvidhā—sayogikevalibhāvī ayogikevalibhāvī ca. ādyo manovṛttinām vikalpajñanarūpāṇam atyantocchedāt sampadyate, antyaś ca parispandarūpāṇām—*Ibid.*
16. ayam ca dharmamegha iti Pātañjalair giyate, amṛtatme 'tyanyaih, bhavaśatrur ityaparaih, śivodaya ityanyaih, sattvānanda ityekaiḥ, paraś ce 'tyaparaḥ——*Ibid.* See *YB*, 422.
17. *ṢP*, XIV 2-3
18. *ṢP*, XIV 1-2

order, and are known as *pravṛttacakra*[19] (engaged in yogic practices day and night). Gradually by practising the concentration of mind the soul realizes itself. This self-realization is known as 'supreme bliss' (*paramānanda*) and freedom from nescience in the Vedānta; it is known as freedom from the specific qualities (in the *Nyāya-Vaiśeṣika* system); it is the extinguished lamp (*vidhmātadīpa*) of the Buddhists; it is extinction of animality (*paśutvavigama*), end of suffering (*duḥkhānta*), and detachment from the elements (*bhūtavigama*).[20] Haribhadra thus tries to show the unanimity of the conceptions of final self-realization of all the systems of thought. He then asks the enquirers to keep their minds open and investigate the truth with perfect detachment and freedom from prejudices. For this purpose he enumerates eight virtues which are necessary for the pursuit of truth. They are: freedom from prejudice (*adveṣa*), inquisitiveness (*jijñāsā*), love for listening (*śuśrūṣā*), attentive hearing (*śravaṇa*), comprehension (*bodha*), critical evaluation (*mīmāṁsā*), clear conviction (*pariśuddhā pratipatti*), and earnest practice (*pravṛtti*) for self-realization.[21]

Now we come to the *Yogabindu*. The object and purpose of *yoga* is the realization of truth. And as there is no controversy about this object and purpose of *yoga* there should be none regarding the nature of *yoga* as well.[22] The worldly existence is a fact accepted by all. And freedom from it is the *summum bonum* of every spiritual system. The problem before us is only the means to that end. Haribhadra says that the same principle is expressed by different terms in different systems. Thus the selfsame principle of consciousness is known as *puruṣa* in the *Vedānta* as well as the Jaina system, as *kṣetravit* in the Sāṅkhya system, as *jñāna* in the Buddhist school. Similarly the fundamental ground of worldly existence is known as *avidyā* in the Vedānta and the Buddhist system, *prakṛti* in the Sāṅkhya school, and *karman* in the Jaina system. Moreover, the relation between matter and spirit is known as *bhrānti* in the Vedānta and the Buddhist system, *pravṛtti* in the Sāṅkhya school, and *bandha* in the Jaina system.[23] There is thus fundamental unity among all the

19. For the technical meaning of the term see *YDS*, 210.
20. *ṢP*, XVI. 1-4.
21. *ṢP*, XVI. 14.
22. *Cf.* mokṣahetur yato yogo bhidyate na tataḥ kvacit
sādhyābhedāt tathābhāve tū 'ktibhedo na kāraṇam.—*YBi*, 3.
23. *YBi*, 17-18 with Svopajñavṛtti.

apparently conflicting systems of thought. There ought to be no real controversy among them about the fundamental things. Truth is truth. It is our different ways of looking at it that are responsible for the building up of different systems. Haribhadra does not favour cheap and superfluous compromise, but only tries to show the fundamental unity of all thought. Every earnest student of philosophy has his own way of looking at the truth And the result is the origination of different systems. Haribhadra asks us to see unity in difference. For a spiritual aspirant it is necessary to avoid conflict and strive for a comprehensive understanding About the course of self-realization there is absolutely no controversy among the otherwise mutually conflicting systems. Haribhadra lays down these five steps as a complete course of yoga: *adhyātma* or contemplation of truth accompanied by moral conduct, *bhāvanā* or repeated practice in the contemplation accompanied by the steadfastness of the mind, *dhyāna* or concentration of the mind, *samatā* or equanimity, and *vṛttisamkṣaya* or the annihilation of all the influences of *karman*.[24] But one is not capable of this *yoga* until and unless one has worked out the requisite purification of the self. The soul naturally moves towards emancipation. It is because of this inherent capacity that the soul comes face to face with the Gordian knot (*granthi*)[25] of passions and cuts it asunder. The worldly existence of a soul falls into two periods viz. dark (*kṛṣṇa*), and white (*śukla*). The soul in the period preceding the cutting of the knot is known as belonging to the dark period (*kṛṣṇapākṣika*), and it is known as belonging to the white period (*śuklapākṣika*), when it has cut asunder the knot. The length of the white period is very small in comparison with the length of the dark period.[26] Only a soul belonging to the white period and following the moral conduct is capable of the first stage called *adhyātma*.[27] From the viewpoint of the stages of spiritual development, only the souls in the fifth or some higher stage are capable of it. But the problem is why should a soul cross into the white period at all? Or, why should not all the souls do so? Haribhadra says that it is all due to the inherent nature of things.[28] He also refers to

24. YBL 31.
25. For the conception of *granthi*, *vide* author's *Studies in Jaina Philosophy*, p. 270.
26. The length of the white period is only less than even one *pudgalaparāvarta* while the length of the dark period covers an infinite number of such *pudgalaparāvartas*. A *pudgalaparāvarta* is the time required by a soul to absorb as *karman* at least once all the atoms of the universe and release them after they have come to fruition.
27. YBL 72.
28. Cf. YBL 77.

the view of an exponent of the Sāṅkhya system, named Gopendra, who holds that the *puruṣa,* the principle of consciousness, does not even enquire about the path of realization unless and until the *prakṛti* has turned her face from him.[29] It is the nature of the spirit to get disentangled from matter. But this disentanglement is possible only when its conditions are fulfilled. However pious and virtuous and spiritually advanced one may appear to be, one is not capable of *yoga* unless one has cut the knot and attained the requisite purification of the soul. After such state has been achieved the soul is fit for the preliminary preparation (*pūrvasevā*) for *yoga*. This preliminary preparation consists in the worship of the preceptor and the gods, good conduct, austerity, and absence of hatred for the final emancipation.[30] The soul now attains right attitude and becomes a *bodhisattva*.[31] All the characteristics of a *bodhisattva* are present in such soul. Thus the soul henceforth does no more fall to the depth wherein heretofore it had been. A *bodhisattva* does not commit an evil act from the depth of his heart, but if he does so at all he does only physically. There is no more spiritual degeneration.[32] The soul which has cut the knot fulfils this characteristic. It now takes interest exclusively in the well-being of others, acquires wisdom, treads upon the right path, becomes noble, and appreciates merits.[33] It has now attained enlightenment (*bodhi*). But if the conception of a *bodhisattva* is narrowed down and made to include only those rare souls who are destined to redeem the world from sin and suffering, Haribhadra says that the Jaina conception of a *tīrthaṅkara* fulfils that ideal.[34] There are some souls who are naturally inclined towards universal well-being and are destined to be *tīrthaṅkaras* (founders of religion). Such souls are *bodhisattvas* in the true sense of the term.

In this connection, Haribhadra distinguishes three categories of souls destined to be emancipated. The first category comprises such souls who, as soon as they experience the first dawn of enlightenment on the annihilation of the knot, make determination to redeem the world of its suffering by means of the enlightenment and work strenuously in accordance with

29. *Ibid.*, 100-101.
30. pūrvasevā tu tantrajñair gurudevādipūjanam
sadācāras tapo muktyadveṣaś ce ha prakīrtitāḥ—*YBi*, 109.
31. *YBi*, 270.
32. *Cf. Ibid.*, 271.
33. *Cf. Ibid.*, 272.
34. *Ibid.*, 274.

the determination. These souls are destined to become *tīrthaṅkaras*.[35] The second category comprises those souls who are intent upon the well-being of only a limited circle of relatives by means of the enlightenment. These souls become *gaṇadharas* (literally the possessors of the *gaṇa* 'group' of virtues of transcendant intuition, knowledge, and the like), that is, the chief disciples of the *tīrthaṅkaras*.[36] The third category comprises those souls who strive for the well-being of themselves with little care for others These souls are destined to become ordinary kevalins (*mundakevalin*).[37]

Let us revert to the topic of preliminary preparation for *yoga*. After such preparation the soul becomes fit for the first stage of *yoga* called *adhyātma*. The soul now observes the five vows and meditates upon the truth It now cultivates universal friendship, appreciates merits of others, develops sympathy for the suffering, and remains indifferent to the wicked. By these practices the soul overcomes the *karmans*, reveals its spiritual energy, improves its power of self-concentration, and becomes wise.[38] It then becomes fit for the second stage called *bhāvanā*. This stage is the consummation of the first. The soul now maintains steady progress. Its power of concentration increases. It now desists from bad habits and develops good ones.[39] The third stage is *dhyāna*[40] Then we come to the fourth stage of equanimity (*samatā*). Here the soul makes correct estimate of the nature and value of things, and consequently loses attachment for them. The soul is now disillusioned and does not attach any importance to the supernormal powers that it might have acquired by means of the *yoga*[41] Then it reaches the fifth stage called annihilation of the residual karmans (*vṛttisaṃkṣaya*). It now gradually destroys the accumulated *karmans* once for ever. On the annihilation of the obscuring *karmans*, the soul attains omniscience. Then in due time it attains final emancipation[42] This is in brief the plan of the *Yogabindu*.[43]

Next we come to Haribhadra's famous work *Yogadṛṣṭisamuccaya* The

35. *Ibid*, 284-8.
36. *Ibid*, 289.
37. *Ibid*, 290
38. *Ibid*., 358 9.
39. *Ibid*, 360-1.
40. For the conception of *dhyāna*, *vide* author's *Studies in Jaina Philosophy*, pp 281-93
41. Ibid., 364-5.
42. *Ibid*., 366-7
43. Upādhyāva Yaśovijaya has followed this plan in his *Dvātriṃśikās* No. 12 to 18 as contained in the *Dvātriṃśad-dvatriṃśikā* published by Shri Jaina-Dharma Prasāraka Sabhā, Bhāvanagar.

author here distinguishes eight stages of yogic development. The work records quite a novel plan of classification of yogic stages. The most important feature of spiritual development is acquisition of *samyagdṛṣṭi* (love of truth). The soul undergoes gradual purification and along with the purification its *dṛṣṭi* (love of truth) becomes progressively steady and reaches consummation in the realization of the truth. This gradual development of the *dṛṣṭi* has been classified into eight stages, *viz., mitrā, tārā, balā, dīprā, sthirā, kāntā, prabhā, and parā.* Before coming to the description of these *dṛṣṭis* we shall refer in brief to the threefold *yoga* with the description of which the *Yogadṛṣṭisamuccaya* opens.

A qualified yogic practitioner passes through a number of stages before he reaches the consummation of the practice. Sometimes even in spite of his knowledge and will he falters in his practice on account of spiritual inertia (*pramāda*). The faltering practice is called *icchāyoga.*[44] The practice of one who has revealed spiritual energy and does never falter in his yogic practices, strictly follows the scriptural injunctions, and has developed penetrating insight, is called *śāstrayoga.*[45] The practice of one who has fully mastered the scriptural injunctions and has developed the power to transcend them is called *sāmarthyayoga.*[46] This latter *yoga,* again, is of two kinds *viz.* (1) that which is accompanied by the dissociation of all the acquired virtues (*dharmasaṁnyāsa*), and (2) that which effects the stoppage of all activity (*yoga-saṁnyāsa*).[47] The first kind occurs at the time when the soul undergoes the process of *apūrva-karaṇa*[48] for the second time in the ninth stage of spiritual development while the second occurs in the last stage of spiritual development immediately after which the soul attains final emancipation.[49] These, *viz., icchāyoga, śāstrayoga,* and *sāmarthyayoga,* are the three broad divisions of all the possible stages of *yoga.* The eight *dṛṣṭis* which we shall now describe are only the elaboration of these three.[50]

Dṛṣṭi means attitude towards truth. This attitude is wrong and perverse so long as the soul has not cut the knot and attained purification. The

44. *YDS,* 3.
45. *Ibid.,* 4.
46. *Ibid.,* 5.
47. *Ibid.,* 9.
48. For the conception of *apūrvakaraṇa* see author's *Studies in Jaina Philosophy,* pp. 271-2.
49. Ibid., 10.
50. Ibid., 12.

perverse attitude is known as *darśanamoha* or *mithyātva* or *avidyā*. The attitude of the soul which has not cut the knot is known as *oghadṛṣṭi* (literally commonplace attitude). The opposite of this is *yogadṛsti* or the attitude of the spiritually advanced soul. It is also known as *saddṛṣṭi*, that is, right attitude. The *oghadṛṣṭi* is held to be responsible for the origination of the mutually conflicting systems of thought.[51] The eight *dṛṣṭis* that we have enumerated above are *yogadṛṣṭis* and not *oghadṛṣṭis*. Of course, of these eight the first four belong to those who have not cut the Gordian knot of passions. But even then they are not *oghadṛṣṭis* in view of the fact that they are destined to lead to the *yogadṛṣṭi*. It is only those souls who are destined to cut the knot and attain final emancipation that are capable of these *dṛṣṭis* The eight *dṛṣṭis* have respectively been compared to the sparks of straw-fire (*tṛṇāgni*), cowdung fire, wood fire, the light of a lamp, the lustre of a gem, the light of a star, the light of the sun, and the light of the moon[52] The first four *dṛṣṭis* are unsteady and fallible. The last four are steady and infallible.[53] The eight dṛṣṭis respectively correspond to the eight famous stages of *yoga*, *viz.*, vows (*yama*), self-control (*niyama*), posture (*āsana*), regulation of breath (*prāṇāyāma*), withdrawal of the senses (*pratyāhāra*), fixing of the mind (*dhāraṇā*), concentration (*dhyāna*), and *samādhi* (ecstasy) found in the system of Patañjali. They are respectively free from inertia (*kheda*), anxiety (*udvega*), unsteadiness (*kṣepa*), distraction (*utthāna*), lapse of memory (*bhrānti*), attraction for something else (*anyamud*), mental disturbance (*ruk*), and attachment (*āsaṅga*). They are respectively accompanied with freedom from prejudice (*adveṣa*), inquisitiveness (*jijñāsā*), love for listening (*śuśrūṣā*), attentive hearing (*śravaṇa*), comprehension (*bodha*), critical evaluation (*mīmāṁsā*), clear conviction (*pariśuddhā pratipatti*), and earnest practice (*pravṛtti*).[54] This is about the general features of the *dṛṣṭis*. Now let us state in brief the specific characteristics of them one by one.

In the first *dṛṣṭi* called *mitrā* the soul achieves very faint and indistinct enlightenment. It here accumulates the seeds of yoga (*yogabīja*) which eventually fructify into emancipation[55] The soul is now attracted towards

51. *Ibid.*, 14 with Svopajñavṛtti ..... etannibandhano 'yaṁ darśanabheda iti yogacāryāḥ.
52. *Ibid.*, 15.
53 *Ibid.*, 19
54. *Ibid.*, 16 with Svopajñavṛtti. Haribhadra here refers to the concensus of opinions of a number of authors regarding the stages of *yoga*.
55. *Ibid.*, 22.

the founders of religion and worships them with reverence. It now earnestly and sincerely does the service of his preceptors and other sincere ascetics. The soul now develops fear for worldly existence. It now performs great and noble deeds. It develops sympathy for the suffering multitude. The soul is now free from the envy of the meritorious. It now gets good opportunities for spiritual development. The soul is now just in front of the knot (*granthi*) and is undergoing the process of *yathāpravṛttakaraṇa*.[56]

Now we come to the second *dṛṣṭi* known as *tārā*. The enlightenment becomes a bit distinct here, and the soul is capable of some sort of self-restraint as well. It now attains some sort of steadiness in spiritual activity, and becomes inquisitive about truth. It now develops steady love for the discussions in *yoga* and has respect for the *yogins*. The soul is now not so much desperate and does not indulge in evil activities so frequently. It now aspires for spiritual progress and is conscious of its shortcomings. The soul is now earnestly anxious to get rid of the worldly existence.[57]

Next we come to the *dṛṣṭi* called *balā*. Here the enlightenment becomes more distinct. There is now strong desire for hearing the truth. The evil desire automatically disappears at this stage and the soul gains control over posture.[58]

In the fourth *dṛṣṭi* called *dīprā* one gets control over breath and is free from the lapse of *yoga*. One has now heard about the truth but has not developed the power of understanding its subtlety. The individual at this stage regards his religion dearer than his life and is always ready to give up his life in order to save his religion.[59]

Real spiritual progress however has not set in as yet. The truth has not dawned as yet. The soul is only trying to capture the image of the truth instead of the truth itself. The truth has not yet been realized. The above four *dṛṣṭis* thus are not attended with the knowledge of the truth (*avedyasaṁvedyapada*).[60] It is only the next four *dṛṣṭis* that are 'attended with the knowledge of the truth' (*vedyasaṁvedyapada*). The *avedyasaṁ-*

56. Ibid., 22-40. For the conception of *yathāpravṛttakaraṇa*, see author's *Studies in Jaina Philosophy*, pp. 269-271.
57. *Ibid.*, 41-48.
58. *Ibid.*, 49-50.
59. *Ibid.*, 57-8.
60. *Ibid.*, 67.

vedyapada is to be transcended by means of the companionship of the virtuous and the study of the scriptures.[61] One makes various conjectures about truth until one sees it face to face. This leads to a number of speculative systems based on fallacious logic (*kutarka*).[62] Haribhadra, in conformity with our ancient tradition asks us to realize the truth by means of all these three organs, *viz*, the scripture, the logical argument, and the practice of *yoga*. One must utilize the store of knowledge inherited from one's ancestors, one's own logical understanding, and the vision gained by spiritual discipline and culture for the ascertainment of truth[63] The truth is one. It cannot be many. There is only the difference of terminology.[64] The state of final realization is known as *sadāśiva* in one system, as *parabrahman* in another, as *siddhātman* in the third, and as *tathatā* in yet another system.[65] There can be no controversy when the truth has been realized.[66] If it is a fact that those who have revealed the truth have realized it, then there is no reason why there should be controversy among them. The various revelations therefore are to be understood in their relevant contexts They can in no way be considered as false assertions. The enlightened souls have revealed the truth in accordance with the needs of the spiritual aspirants.[67] The selfsame revelation appears as different to different persons.[68] It is necessary to understand a revelation in its proper context. One should cultivate faith in spiritual revelations. This is most necessary for spiritual progress This faith is wanting in all the four *drstis* described above It is only when the soul has properly cultivated this faith that it cuts the knot (*granthi*) and comes to possess the fifth *drsti* known as *sthirā*.

The soul has now cut the knot. The enlightenment has now dawned. It is now infallible (*nitya*). The soul is now capable of subtle thinking and sinless conduct It now looks upon the worldly things as the toys made of sand The world now appears to be a worthless show.[69]

Next we come to the sixth *dṛsti* known as *kāntā* Here the individual

61 *Ibid.*, 85.
62 *Cf Ibid.*, 90-8
63. *Ibid*, 101
64 *Ibid.*, 127.
65. *Ibid.*, 128
66 *Ibid.*, 130.
67 *Ibid*, 132-3.
68. *Ibid.*, 134.
69. *Ibid.*, 152-4

develops personality and attracts others. He is now engrossed in spiritual contemplation and has his mind firmly concentrated on the virtues. The world now loses all attraction for him.[70]

The seventh *dṛṣṭi* is known as *prabhā*. The soul has now developed the capacity for self-concentration and is free from all mental disturbances. It has now achieved peace of mind (*śama*). The soul has now fully developed the power of discrimination.[71] It now practises spiritual discipline without any ulterior motive (*asaṅgānuṣṭhāna*). It is now in the seventh stage of spiritual development and is preparing to rise up to the eighth stage on the ladder of annihilation. The soul is now marching on the great path (*mahāpathaprayāṇa*) which leads to the place from which one does never return (*anāgāmipadāvaha*). Haribhadra remarks that this *dṛṣṭi* is known as *praśāntavāhitā* in the Sāṅkhya system, as *visabhāga-parikṣaya* in the Buddhist school, as *śivavartman* in the Śaiva system, and as *dhruvādhvan* according to the Mahāvratikas.[72]

We now come to the eighth *dṛṣṭi* called *parā*. The soul is now completely free from all attachment to the world. It now achieves ecstasy (*samādhi*), the consummation of *dhyāna*. The activities of the soul in this stage are free from all transgressions of the vows, and as such are pure and perfect. The soul now dissociates itself from all the acquired virtues and has its purpose fulfilled.[73] This occurs in the ninth stage of spiritual development. The soul then gradually attains omiscience on the annihilation of all the obscuring *karmans*. Now the final emancipation is attained by means of the last *yoga* known as *ayoga*.[74]

Haribhadra distinguishes four types of *yogins, viz., gotrayogin, kulayogin, pravṛttacakrayogin*, and *niṣpannayogin*. The *yogins* of the fourth type have already achieved their objective and so do not need any instruction in *yoga*. It is only the *yogins* of the second and the third type that need instruction.[75]

70. *Ibid.*, 160-2.
71. *Ibid.*, 168-9.
72. *Ibid.*, 173-4.
73. *Ibid.*, 179.
74. *Ibid.*, 184.
75. *Ibid.*, 206-7 with Svopajñavṛtti. About the definitions of these types see *ibid.*, 208-210.

ABBREVIATIONS

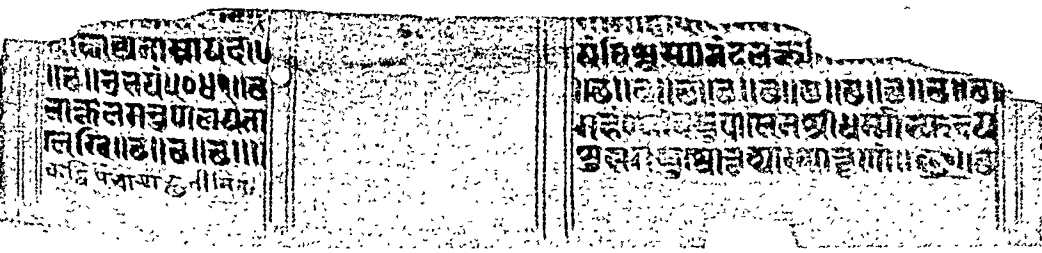
ṢP = *Ṣoḍaśaka-prakaraṇa* of Haribhadra with Yaśobhadra's Ṭīkā. Jamnagar (v. s. 1992).

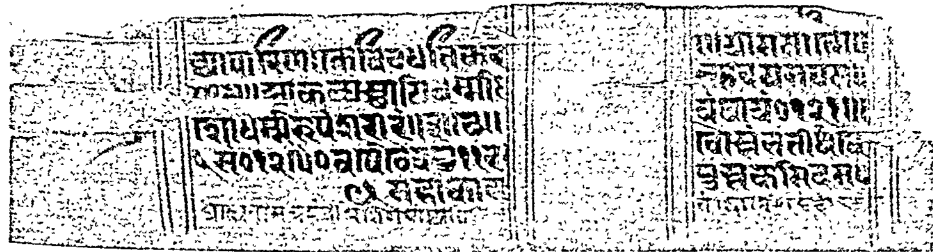
YBi = *Yoga-bindu* of Haribhadra, Jaina Grantha Prakāśaka Sabhā Series No. 25. Ahmedabad, 1940.

YDS = Yoga-dṛṣṭi-samuccaya (ed. Prof. L. Suali, Ahmedabad).

YV = *Yoga-viṁśikā* of Haribhadra with Yaśovijaya's Vyākhyā. Agra, 1922.







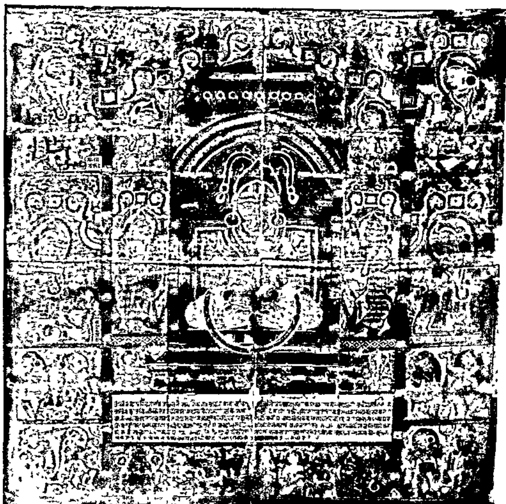
श्रीउदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदय महाकाव्यनी प्रतिमांनुं गुर्जरेश्वर महामात्य वस्तुपालना हस्ताक्षरवाळुं पानुं—आ प्रति खंभातना श्रीशान्तिनाथ ज्ञानभंडारमां छे.

A page of Dharmābhyudaya Mahākāvya written by Vastupāla

संवत १२९४मां लखाएल एक ताडपत्रीय प्रतमां मळेली श्री हेमचंद्राचार्यजी तथा गुर्जरेश्वर कुमारपालनी चित्राकृतिओ

Figures of Ācārya Hemacandra and Kumarapāla on Palm-leaf manuscript of V. S. 1294

मुनिश्री पुण्यविजयजीना संग्रहमांथी]



१५मी सदीमां कापडपर चितरायेल वर्धमान-विद्यापट
Vardhamāna-Vidya-Paṭa on cloth 15th Century

तसवीर : डॉ० उमाकान्त प्रे० शाह]

[श्री अमृतलाल पंडितना संग्रहमांथी

श्री विनयविजयोपाध्यायना हस्ताक्षर, लोकप्रकाश ग्रंथनी प्रथम नकलमांथी

Handwriting of Śrī Vinayavijayopādhyāya—First copy of *Lokprakash*

सूरिसम्राट श्रीविजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजना ज्ञानभंडारमांथी]

लाख उपर दोरेलुं सोनेरी चित्र

A picture drawn in gold on sealing wax

मुनिश्री पुण्यविजयजीना संग्रहमांथी]

न्यायविशारद न्यायाचार्य महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजना हस्ताक्षर (जंबुस्वामीरास)
Handwriting of Mahopadhyaya Śrī Yashovijayaji Mahārāja in *Jambusvāmirās*

DHŪRTĀKHYĀNA IN THE NIS'ĪT'HA-CŪRṆĪ

DR. A. N. UPADHYE, M.A., D. LITT.

When I wrote my essay "The Dhūrtākhyāna : a Critical Study"[1], I knew from a reference that the *Niśītha-cūrṇī* of Jinadāsa-gaṇi Mahattara contained some information about the rogue Elāṣāḍha. Prof. J. C. Jain, Bombay, later on informed me that he had read something like the *Dhūrtākhyāna* in that Cūrṇī to the text of which unluckily I had no access. It is lately that my friends Dr. B. J. Sandesara and Dr. U. P. Shah, Baroda, kindly made available to me the necessary extracts from the N.-cūrṇī, cyclostyled-type-script-ed. by Acārya Śrī Vijayapremasūri (Bombay V. S. 1995), vol. I, pp. 92-95. The following observations are based on these extracts, which are given at the close of this essay in an Appendix.

To begin with there are the following three gāthās of the *Niśīṭha-bhāṣya* (nos. 294-6) which give the requisite clue words of the illustrative tale:

ससएलासाढमूलदेवखंडा य जुण्णउज्जाणे ।
सायंतणे को भत्तं अक्खातं जो ण सद्दहति ॥ २९४ ॥
चोरभया गावीओ पोट्टलए बंधिऊण आणेमि ।
तिलअइरूढकुहाडे वणगय मलणा य तेल्लोदा ॥ २९५ ॥
वणगयपाटणकुंडिय छम्मासा हत्थिलग्गणं पुच्छे ।
रायरयग मो वादे जहिं पेच्छइ ते इमे वत्था ॥ २९६ ॥

After these gāthās, the Cūrṇī gives in Prākrit prose with a couple of metrical quotations in Sanskrit a fully developed story of the Dhūrtas. At the end we have a sentence like this :

सेसं धुत्तक्खाणगाणुसारेण णेयमिति ॥ गतो लोइयो मुसावातो ।

Looking at the clue words in the gāthās, one can say that the Cūrṇī has given all that is obviously hinted in them; but the concluding colophon says that something is remaining and that it should be known from, or completed according to, the *Dhuttakkhāṇaga*.

The story given in the *N.-cūrṇī* may be analysed thus : Many Dhūrtas assembled in the Old Park to the north of Ujjainī in the territory of Avanti. Three of them, males : Śasaka, Elāṣāḍha, Mūladeva, and the fourth, a female, Khaṇḍapāṇā : every one of them had five hundred rogues

1. This is included in the edition of the *Dhūrtākhyāna* by Jinavijaya Muni, Singhji Jain Series No. 19, Bhāratīya Vidyā Bhavan, Bombay. 1944.

as their pupils, of their own sex. Once during the rains, it was pouring down for a week; oppressed by hunger these rogues wondered who would give them food Mūladeva said: 'Let every one narrate his experience or information; one who does not believe it should give a feast to all, but one who confirms it with parallels from the *Bhārata*, the *Rāmāyana* and other scriptures is not to give anything' All of them said, 'Very well.'

Elāṣādha narrated this incident: 'When I went to the forest with cows, I saw some robbers coming. I packed the cows in my blanket, and returned to my village with that luggage to witness the sports of villagers. The robbers rushed in there. The entire village, all men and animals, entered a cucumber. The robbers went away. A goat swallowed that cucumber; a boa gulped that goat; a crane picked up that boa and perched on a Vaṭa tree, with one of its legs dangling down An elephant from the king's military camp was tied to it. The crane started flying, the elephant was pulled up, there was a hue and cry; and consequently skilled archers shot the crane down. Its body was vivisected at king's orders; the boa, the goat, the cucumber were taken one from inside the other. The whole village came out of the cucumber along with myself and my cows. They all went to their respective places and I came here. Now tell me whether this is true.' When they said that this is all true, Elāṣāḍha asked, 'How can a blanket contain all the cows, and a cucumber, the village?' Others added that in the *Bhārata* it is said that the whole universe was under one ocean; there was an Egg in the waters, and the entire universe was contained in that egg, if so, why could not your cows be contained in the blanket, and why could not the village be contained in a cucumber. Secondly, the entire universe was in Viṣṇu's stomach; he was in Devakī's womb; and she lay on her bed; similarly, the cucumber, goat, boa and crane could each be contained in the belly of the next

Saśaka started narrating· 'After ploughing the field, sesamum seeds were sown during winter, and they grew into big trees. When a wild elephant pursued me, I climbed a sesamum tree It shook the tree and rushed round, showering the seeds and crushing them under its feet. There was a stream of oil and lot of mud in which the animal got stuck and died I prepared a bag from its skin and filled it with oil. I ate a load of sesamum cakes and drank pots of oil. Putting that bag on the branch of a tree, I reached home, my son pulled the tree and took the bag This is my experience one who does not accept it should give the feast' Others added thus:

'These ideas are found in scriptures like the *Bhārata* and the *Rāmāyaṇa*. A stream in which the entire army was plunged is described. Secondly, a big sesamum plant is not impossible, for it is said that at Pāṭaliputra a drum was carved out of a māṣa plant.'

Mūladeva then narrated: 'As a youth, yearning for prosperity, I proceeded to the abode of Īśvara for a bath with a gourd-kettle and an umbrella in hand. A wild elephant rushed against me. There being no other alternative I entered the gourd-kettle through the spout. The elephant also followed me, but I could delude and evade it for six months inside. Then I escaped through the spout; the elephant also pursued me, but its tail-end was caught there. I reached the Ganges which I crossed easily, and took the stream of it on my head for six months. Then I saluted Mahāsena, came back here and met you all. Either accept this as true or give a feast to all the rogues.' Others added thus: 'What you say is true and reasonable. Brāhmaṇas, etc., came out from the different parts of Brahmā's body in which the entire population was contained; similarly, the elephant and yourself could be contained in a gourd-kettle. Secondly, Brahmā and Viṣṇu could not reach the terminus of the Liṅga even after many years; still Umā's body could accommodate it; similarly an elephant and yourself could be contained in the kuṇḍikā. Thirdly, when Viṣṇu was reposing in the ocean, Brahmā came out of his navel, but the lotus (stalk) was stuck at it; similarly the tip of the tail could be stuck even when you both came out of the spout. Fourthly, Rāma ordered Sugrīva to get news about Sītā; Hanūmat was entrusted with this mission which he fulfilled by crossing the ocean by his arms; similarly you also could cross the Ganges. Lastly, when Gaṅgā was invited on the earth, Paśupati received her in his matted hair for years together; similarly you could receive the stream of the Ganges for six months.'

In reply to Khaṇḍapāṇā's suggestion, the Dhūrtas said that they would not sacrifice their self-respect for a meal. She smiled and started narrating thus: 'I am the daughter of a king's washerman. Accompanied by my retinue I went to the river with a cart-load of clothes to be washed. All the clothes spread in the sun were blown off by the wind. Being afraid of the king, I became a lizard and entered the garden where I changed myself into a mango tree. I heard one day that washermen were all forgiven; so I became myself once more. The ropes and stripes of the cart were eaten by jackals; so my father got them prepared from a

buffalo's tail. Tell me whether you accept all this as true.' Others said in this manner: 'If it is true that Brahmā and Keśava could not reach the terminus of the Linga, how is it that your statement is not true. Secondly, it is heard in the *Rāmāyana* that Hanūmat had a long tail, which, covered with rags and sprinkled with oil, was lit up and thereby Laṅkā was burnt; similarly ropes could be prepared from a buffalo's tail. Thirdly, we hear in the scripture that King Gandharva became a dwarf, that Kimaśva became a boa at Indra's curse, and that a boa asked with a human voice seven questions to Dharma who answered them and rescued his brother and then became King Ravi on the termination of the curse Similarly, that you became a lizard and then again yourself is quite believable.'

Then Khaṇḍapānā suggested to them to submit to her lest they might be humiliated, but they were proud of their dignity. She smiled and continued. 'With king's permission I went out in search of my slave-servants who had run away; I visited many villages and towns; and here I find that those slave servants are yourselves and those clothes are on your body; if true, give the clothes; if false, give the feast. What is said is significant'.

It is necessary to compare Jinadāsa's Dhūrtākhyāna (JD) with Haribhadra's Dhūrtākhyāna (HD). In JD there are only four Dhūrtas while in HD there are five, the additional name being that of Kaṇḍarīka The order of their enumeration is slightly different, and Mūladeva does not occupy a very prominent position in JD as he does in HD. In JD *Elāṣāḍha, Śaśaka, Mūladeva and Khaṇḍapānā narrate their experiences* one after the other, their experiences being confirmed by all the rogues and not by any one specifically as in HD. What Elāṣāḍha narrates as his experience in JD is put in the mouth of Kaṇḍarīka in HD where Elāṣāḍha confirms it with Purānic stories The patterns of the stories narrated by Śaśaka, Mūladeva and Khaṇḍapānā are the same in both, with the difference that Mūladeva is given the third turn in JD and the narration of Khaṇḍapānā is substantially longer in HD with the result that the whole tale assumes a different form at the close in HD That which is put in the mouth of Elāṣāḍha by HD is absent in JD

What Elāṣāḍha narrates in JD has some additional details in HD It is confirmed by other rogues by only two parallel events from the *Bhārata* etc. in JD, but by six parallel stories in HD The patterns of experiences of Śaśaka and Mūladeva are basically the same in both; but, if JD confirms

them with two and five similar contexts from the śrutis, HD gives ten and eight parallels. Thus it is obvious that HD draws upon a wider range of mythology and gives meticulously more episodes to confirm the obviously incredible details of personal experiences.

Comparing similar contexts one finds that the narration in JD is uniformly simple and direct. Words and phrases from it are bodily found in HD. It is interesting to compare common expressions in JD and HD in similar contexts. A few passages[2] are reproduced below:

JD	HD
(१) उज्जेणी णाम नगरी, तीसे उत्तरपासे जिण्णुज्जाणं णाम उज्जाणं। तत्थ बहवे धुत्ता समागया।...एक्केक्स्स पंच पंच धुत्तसता, धुत्तीणं पंचसयं खंडपाणाए। अह अण्णया पाउसकाले सत्ताहवद्दले भुक्खत्ताणं इमेरिसी कहा संवुत्ता। को अम्हं देज्ज भत्तं ति। मूलदेवो भणति। जं जेणणुभूयं सुयं वा सो तं कहयतु। जो तं ण पत्तियति तेण सव्वधुत्ताणं भत्तं दायव्वं। etc.	(१) ...उज्जेणी णाम णामेणं ॥ २ ॥ तीसे उत्तर पासे...उज्जाणं ॥ ३ ॥ तत्थ...... धुत्ताण सयाणेगा समागया... ॥ ४ ॥ ...इक्किक्स्स य तेसिं धुत्ताणं पंच पंच सया ॥ ७ ॥ धुत्तीणं पंचसया खंडवणाए...॥ ८ ॥...सत्ताहदुद्दिणम्मि ...॥१०॥... सीअवद्दलाभिहया। भुक्खत्ता बिंति तहिं को अम्हं दिज्ज भत्तं ति ॥ ११ ॥ अह भणइ मूलदेवो जं जेण सुअं च समणुभूअं वा। सो तं कहेउ सव्वं... ॥ १२ ॥ जो तं न पत्तिइज्जा...तेण सव्वेसिं। धुत्ताणं ...दायव्वं भत्तयाणं ति ॥ १३ ॥
(२) चोरा कलयलं करेमाणा तत्थेव णिवतिता। सो य गामो सदुपदचउप्पदो एक्कं वालुंकं पविट्ठो...... वडपायवे णिलीणा...सद्दवेहिणो गहियचावा पत्ता... पतंगसेणा इव भूविलाओ सो गामो वालुंकातो निग्गंतुमारद्धो।	(२) कलयलरवं करिंता पडिया चोरा णवरि तत्थ ॥ २-१०॥ तो सो सग्गामवुड्ढो सइत्थिओ जणवओ सपसुवग्गो। अह घोडएहिं सहिओ वालुंकं अइगओ सव्वो ॥ ११ ॥...सा तत्थेव णिलीणा तुंगे वडपायवे विउले ॥ १४ ॥...संपत्ता सद्दवेहिणो जोहा। इसुचावगहियहत्था...॥ १७ ॥...जह सलभाण य सेणा रेप्फविलाओ विणिक्खमइ ॥ २३ ॥
(३) तरुणत्तणे अहं इच्छियसुहाभिलासी धारधरणट्ठताए सामिगिहं पट्ठितो छत्तकमंडलहत्थो पेच्छामि य वणगयं मम वहाए एज्जमाणं, ततो अहं भीतो अत्ताणो असरणो किंचि णिलुक्कणट्ठाणं अपस्समाणो दगच्छड्डुणगालएण कमंडलं अतिगओ म्हि। सो वि गयवरो मम वहाए तेणेव[णालए-]ग अतिगतो। ततो मे सो गयवरो छम्मासं अंतोकुंडीयाए वामोहिओ etc.	(३) तरुणत्तणम्मि अहयं इच्छिअसुहसंपयं अहिलसंतो धाराधरणट्ठाए सामिगिहं पत्थिओ सुइरं ॥ १-१८ ॥ छत्तकमंडलुहत्थो...पिच्छामि अ गयवरं इंतं ॥ १९ ॥ अत्ताणो अ असरणो कत्थ णिलुक्कामि हं ति चिंततो तो सहसा य अइगओ कमंडलुं...॥ २१ ॥...मज्झाणुमग्गलग्गो कमंडलुं अइगओ सिग्घं ॥ २२ ॥... हत्थिं कमंडलुम्मी वामोहेऊण छम्मासं etc.

2. The Prākrit passages reproduced in this paper are exactly as they are in the extracts supplied to me. I am aware, they present some difficulties of interpretation in some places.

The two Sanskrit quotations found in JD are also there in the same context in HD (namely, *tesām* etc HD 4-20, and *tava prasādāt* etc. HD1-87*1). HD adds more dignified descriptions here and there, and additional details are presented in it in smooth gāthās. JD wants just an illustration of Laukika-musāvāda, and whatever is given by the Cūrṇi serves that purpose

HD has its own characteristics It is an independent treatise put in a well thought-out satirical frame: the opening and concluding portions fully bear out this The satirical effect in HD is worked out more logically and in a subtle and effective manner, which is conspicuously absent in JD What HD adds after 5-76 has nothing corresponding to it in JD; and it may not be just an accident that the major portion of it is composed in a heavy style In its concluding portion HD puts together a number of detached episodes, especially from the *Bhārata* and *Rāmāyana*, and asserts that all of them are incredible

From the extract I am inclined to believe that the Cūrni gives all that is hinted in the Bhāsya-gāthās The colophon: *śesam dhuttakkhāna-gānusārena neyam* iti, if it is genuine and belongs to the author of the Cūrnī, would lead us to the conclusion that there was a longer *Dhuttak-khāna* in Prākrit prose from which the major portion is extracted by the Cūrnī

The objective comparison of JD and HD leads me to the conclusion that HD is an elaborated and perfected work based on JD or its predecessor as postulated above The reasons for this may be stated as below:

(1) JD is uniformly shorter in its pattern tales and confirmatory episodes from the Purānas all of which are better worked out with supplementary details in HD
(2) HD incorporates everything in JD and adds more details to it
(3) The simple and narrative details of JD are presented in a more elaborate manner and polished style in HD
(4) The number of characters and of references to Purānic tales increases in HD, which presents them more logically and effectively
(5) What is a simple narrative illustration in JD is enlarged into an effective satire in HD with seeds of religious propaganda which are later on elaborated in the *Dharmaparīkṣā* texts

Thus Haribhadra has built his satirical masterpiece incorporating or

using both words and ideas from an earlier *Dhuttakkhāṇa* preserved in the Cūrṇī. By his literary genius, logical acumen and wide learning he has shaped the simple stuff into a dignified literary masterpiece, unique in Indian literature.

The above objective comparison of the two versions in the JD and HD and the conclusion that Haribhadra used for his *Dhūrtākhyāna* the story given in the Cūrṇī does not in any way violate the relative chronology of the two authors, Jinadāsa and Haribhadra. Jinadāsagaṇi Mahattara, the author of *N. Cūrṇi,* has also written a Cūrṇī on the *Nandīsūtra* which was composed by him in Śaka 598 or 677 A. D.[3] and Haribhadra is assigned to a period about 750 A.D.[4]

APPENDIX

[The story from the *N. Cūrṇī* is presented here with minor corrections, adjustments in punctuation etc.]

अवंती । उज्जेणी णाम नगरी, तीसे उत्तरपासे जिण्णुज्जाणं णाम उज्जाणं। तत्थ बहवे धुत्ता समागय ससगो, एलासाढो, मूलदेवो, खंडपाणा य इत्थिया। एक्केक्कस्स पंच पंच धुत्तसता, धुत्तीणं पंचसयं खंडपाणाए। अह अण्णया पाउसकाले सत्ताहवद्दले भुक्खत्ताणं इमेरिसी कहा संवुत्ता । 'को अम्हं देज भत्तं' ति। मूलदेवो भणति 'जं जेणणुभूयं सुयं वा सो तं कहयतु, जो तं ण पत्तियति तेण सव्वधुत्ताणं भत्तं दायव्वं । जो पुण भारह-रामायणसुतीसमुत्थाहिं उवणयउववत्तीहिं पत्तीहिति सो मा किंचि दलयतु' । एवं मूलदेवेण भणिते सव्वेहिं वि भणियं 'साहु साहु' त्ति। ततो मूलदेवेण भणियं 'को पुव्वं कहयति'। एलासाढेण भणियं 'अहं मे कहयामि'।

ततो सो कहिउमारद्धो । "अहं गावीओ गहाय अडविं गओ, पेच्छामि चोरे आगच्छमाणे । तो मे पावरणी-कंबली पत्थरिऊणं तत्थ गावीओ छुभिऊणाहं पोट्टलयं बंधिऊण गाममागतो, पेच्छामि य गाम-मज्झयारे गोद्दहे रममाणे । ताहं गहिय गावो ते पेच्छिउमारद्धो । खणमेत्तेण य चोरा कलयलं करेमाणा तत्थेव णिवतिता । सो य गामो सदुपदचउप्पदो एक्कं वालुंकं पविट्ठो । ते य चोरा पडिगया । तं पि वालुंकं एगाए अजियाए गसियं । सा वि अइआ चरमाणा अयगलेण गसिया । सो वि अयगलो एक्काए ढंकाए गहितो । सा उड्डिउं वडपायवे णिलीणा । तीसे य एगो पाओ वलंबति । तस्स य वडपायवस्स अहे खंधावारो ट्ठिओ । तंमि य ढंकापाए गयवरो आगलितो । सा उड्डिउं पयत्ता । आगासिउ पाओ, गयवरो कड्ढिउमारद्धो । डोवेहिं कलयलो कओ । तत्थ सद्दवेहिणो गहियचावा पत्ता । तेहिं सा जमगसमगं सरेहिं पूरिता मता । रण्णा तीए पोट्टं फाडावियं । अयगरो दिट्ठो, सो वि फाडाविओ । अजिया दिट्ठा, सा वि फाडाविआ । वालुंकं दिट्ठं रमणिज्जं । एत्थंतरे ते गोद्दहा उपरता । पतंगसेणा इव भूविलाओ सो गामो वालुंकातो निग्गंतु-

3. Shri Jinavijaya: The Date of Haribhadrasūri, A Paper read at the First Oriental Conference, Poona 1919, p. 144; H. Jacobi: *Samarāiccakahā*, Calcutta 1926, Intro. p. iii.
4. A portion of this essay was presented to the Prākrit and Jainism Section of the XVII Session of the All-India Oriental Conference, Ahmedabad.

मारद्धो। अहं पि गहिय गाओ णिग्गतो। सव्वो सो जणो सहाणाणि गतो। अहं पि अवउज्झिय गाओ इह-मागतो। तं भणइ ष्ठ्ठं सच्चं।" सेसगा भणंति 'सच्चं सच्चं'। एलासाढो भणति 'कहं गावीओ कंवलीए मायाओ, गामो वा वालुंके'। सेसगा भणंति 'भारहसुतीए सुव्वति जहा पुव्वं आसी एगण्णवं जगं सव्वं, तम्मि य जले अंडं आसी। तम्मि य अंडगे ससेलवणकाणणं जगं सव्वं जति मायं तो [P.93] तुह कंवलीए गावो वालुंके वा गामो ण माहिति। जं भणसि जहा ढेंकूदरे अयगरो तस्स य अतिआ तीए वालुंके एत्थ वि भणति उत्तरं। ससुरासुरं सनारकं ससेलवणकाणणं जगं सव्वं जइ विण्हुस्सुदरे मातं, सो वि य देवती उदरे मातो, सा वि य सयणिज्जे माता, जइ एयं सच्चं तो तुह वयणं कहं असच्चं भविस्सति।'

ततो ससगो कहिउमारद्धो। "अम्हे बहुंवि पुत्ता, कयाइं च करिसगाति। अहं सरयकाले खेत्तं अहि-गतो। तम्मि य छेत्ते तिलो वुत्तो। सो य एरिसो जातो जो परं कुहाडेहिं छेत्तव्वो। तं समंता परिभमामि, पेच्छामि य आरण्ण गयवर। तेणम्हि उच्छित्तो, पलातो, पेच्छामि य अइप्पमाणं तिलरुक्खं, तम्मि विलग्गो पत्तो य गयवरो। सो मं अपावंतो कुलालचक्कं व त तिलरुक्खं परिभमति, चालेति तत्थ तिलरुक्खं। तेण य चालिते जलहरो विव तिलो तिलवुट्टिं मुचति। तेण य भमंतेण चक्कतिला विव ते तिला पिलिता। तओ तेल्लोदा णाम णदी वूढा। सो य गयो तत्थेव तिलखलणीए खुत्तो मओ य। मया वि से चम्म गहियं दतिनो कतो, तेल्लरसभरितो। अहं पि खुधितो खलभारं भक्खयामि, दस तेल्लघडा तिसितो पियामि। तं च तेल्लपडिपुण्ण दइयं घेत्तु गामं पट्ठिओ। गामबहिया रुक्खसालाए णिक्खिविउ तं दइयं गिहमतिगतो। पुत्तो य मे दइयस्स पेसिओ। सो तं जादे ण पावइ ताहे रुक्खं पाडेउं गेण्हेत्था। अहं पि गिहाओ दओहि परिभमंतो इहमागओ। एयं पुण मे अणुभूतं। जो ण पत्तियति सो देउ भत्तं।" सेसगा भणति 'अत्थि एसो य भावो भारहरामायणे सुतीसु णज्जति।

तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदविन्दुभिः।
प्रावर्तत नदी घोरा हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥ १ ॥

ज भणसि कहं एमहंतो तिलरुक्खो भवति। एत्थ भण्णति—पाडलिपुत्ते किल मासपादवे भेरी णिम्मविया, तो किह तिलरुक्खो एमहंतो ण होज्जाहि।'

ततो मूलदेवो कहिउमारद्धो। सो भणति "तरुणत्तणे अहं इच्छियसुहाभिलासी धाराधरणट्ठताए सामिगिहं पट्ठितो छत्तकमंडलहत्थो, पेच्छामि य वणगयं मम वहाए एज्जमाणं। ततो अहं भीतो अत्ताणो असरणो किंचि णिलुक्कणट्ठाणं अपस्समाणो दगच्छड्डणणालएणं कमंडलं अतिगओ म्हि। सो वि गयवरो मम वहाए तेणेवंतं अतिगतो। ततो मे सो गयवरो छम्मासं अंतोकुंडीयाए वामोहिओ। तओ हं छम्मासंते कुंडियगीवाए णिग्गतो। सो वि य गयवरो तेणवंतेण णिग्गतो, णवरं वालग्गं ते कुडियगीवाते लग्गो। अहमवि पुरतो पेच्छामि अणोरपारं गंगं। सा मे गोपयमिव तिण्णा। गतो म्हि सामिगिहं। तत्थ मे तण्हाछुहासमे अगणेमाणेण छम्मासा धारिया धारा। ततो पणमिऊण महासेग पयाओ संपत्तो उज्जेणिं, तुब्भे च इह मिलिओ इति। तं जइ एयं सच्चं तो मे हेऊहिं पत्तिआवेह। अहमण्णह अलियं ति धुत्ताणं देह तो भत्तं।" तेहिं भणियं 'सच्चं'। मूलदेवो भणइ 'कह सच्च'। ते भणति 'सुणेह। जह पुव्वं बंभाणस्स मुहातो विप्पा णिग्गया, बाहूओ खत्तिया, ऊरूसु वइस्सा, पदेसु सुद्सुदा। जइ इत्तिओ जणरओ तस्सुदरे माओ तो तुमं हत्थी य कुंडियाए ण माहिह। अण्णं च किल बभाणो विण्हू य उड्ढाहं धावंता गता दिव्ववाससहस्सं तहा वि लिंगस्संतो ण पत्तो। तं जइ एमहंतं लिंग उमाए सरीरे मात तो तुहं हत्थी य कुंडियाए ण माहिह। जं भणसि वालग्गे हत्थी कहं लग्गो, तं सुणसु। विण्हू जगस्स कत्ता [P. 94] एगण्णवे तप्पति तवं जलसयणगतो, तस्स य णाभीओ बभा पउमगब्भणिभो णिग्गतो णवर पंकयणाभीए लग्गो, एव जइ तुमं हत्थी य विणिग्गतो हत्थी

वालग्गे लग्गो को दोसो । जं भणसि गंगा कहं उत्तिण्णो, रामेण किल सीताए पव्वतिहेउं सुग्गीवो आणत्तो, तेणावि हणुमंतो, सो बाहाहिं समुद्दं तरिउं लंकापुरिं पत्तो, दिट्ठा सीता, पडिणियत्तो । सीयाभत्तुणा पुच्छितो कहं समुद्दो तिण्णो भणाति ।

तव प्रसादात् तव च प्रसादाद् भर्तुश्च ते देवि तव प्रसादात् ।
साधूनते येन पितुः प्रसादात्तीर्णो मया गोष्पदवत्समुद्रः ॥

जइ तेण तिरिएण समुद्दो बाहाहिं तिण्णो तुमं कहं गंगं ण तरिस्ससि । जं भणसि कहं छम्मासे धारा धरिता, एत्थ वि सुणसु । लोगहितत्था सुरगणेहिं गंगा अब्भत्थिता 'अवतराहि मणुयलोगं' । तीए भणियं 'को मे धरेहिति णिवडिंतीं' । पसुवतिणा भणियं 'अहं ते एगजडाए धारयामि' । तेण सा दिव्वं वाससहस्सं धरिता । जइ तेण सा धरिता तुमं कहं छम्मासं ण धरिस्ससि ।'

अह एत्तो खंडपाणा कहितुमारद्धा । सा य भण्णइ । 'ओलंवितं ति अम्हेहिं जइ अंजलिं करिथ सीसे ओसप्पेह जति न ममं तो भत्तं देमि सव्वेसिं ।' तो ते भणंति 'धुत्ती, अम्हे सव्वं जगं तुलेमाणा किह एवं दीणवयणं तुब्भ सगासे भणिहामो ।' ततो ईसिं हसेऊण खंडपाणा कहयति "अहगं रायरजकस्स धूया । अहं अण्णया सह पित्रा वत्थाण महासगडं भरेऊण पुरिससहस्सेण समं णदिं सलिलपुण्णं पत्ता । धोयाणि वत्थाइं, तो आयवदिण्णाणि उव्वायाणि । आगतो महावातो । तेण ताणि सव्वाणि वत्थणि अवहरिताणि । ततो हं रायभया गोहारूवं काऊण रयणीए णगरुज्जाणं गता । तत्थ हं चूयलया जाता । अण्णया य सुणेमि जहा रयगा उम्मिट्टंतु अभयो सिं । पडहसद्दं सोऊण पुण णवसरीरा जाया । तस्स य सगडस्स णाडग वरत्ता य जंबुएहिं छागेहिं भक्खिताओ । तओ मे पिउणा णाडगवरत्ताओ अण्णिस्समाणेण महिसपुच्छा लद्धा, तत्थ णाडगवरत्ता वलिता । तं भणह किमेत्थ सच्चं ।" ते भणंति । 'बंभकेसवा अंतं न गता लिंगस्स जति तं सच्चं, तुह वयणं कहं असच्चं भविस्सइ'त्ति । रामायणे वि सुणिज्जति जह हणुमंतस्स पुच्छं महंतं आसी, तं च किल अणेगेहिं वत्थसहस्सेहिं वेढिऊण तेल्लघडसहस्सेहिं सिंचिऊण पलीवियं, तेण किल लंकापुरी दड्ढा । एवं जति महिसस्स वि महंतपुच्छेण णाडगवरत्ताओ जायाओ को दोसो । अण्णं च इमं सुई सुव्वति जहा । गंधारो राया रण्णे कुडवत्तणं पत्तो, अवरो वि राया किम्मस्सो णाम महाबलपरक्कमो, तेण य सक्को देवराया समरे णिज्जिओ, ततो तेण देवरायेण सावसत्तो रण्णे अयगलो जातो, अण्णया य पंडुसुआ रज्जयभट्ठा रण्णे ट्ठिता, अण्णया य एगागि णीग्गतो भीमो, तेण य अयगरेण गसितो, धमसुतो य अयगरस्स मूलं पत्तो, ततो सो अयगरो माणुसीए वायाए तं धम्मसुतं सत्त पुच्छातो पुच्छति, तेण य कहितातो सत्त पुच्छातो, ततो भीमं णिग्गिलइ, तस्स सावस्स अंतो जातो, जातो पुण रविराया । जइ एयं सच्चं, तो तुमं पि सब्भूतं गोहाभूय सभावं गंतूण पुणण्णवा जाता ।' तो खंडपाणा भणाति 'एवं गते वि मज्झ पणामं करेह, जइ कहंचि जिप्पह, तो काणा वि कव्वडिया तुब्भं मुल्लं ण भवति ।' ते भणंति 'को म्हे सत्तो णिज्जिऊण' । तो सा हसिऊण भणाति 'तेसिं वातहरियाण वत्थाण गवेसणाय णिग्गया रायाणं पुच्छिऊणं, अण्णं च मम दासचेडा णट्ठा, ते य अण्णिस्सामि, ततो हं गामणगराणि अडमाणी इहं पत्ता, तं ते दासचेडा तुब्भे, ताणि वत्थाणिमाणि जाणि तुब्भ परिहियाणि, जइ सच्चं तो देह वत्था, अह अलियं तो देह भत्तं ।' असुणत्थं भणियमिणं ।

सेसं धुत्तक्खाणगाणुसारेण णेयमिति ॥ गतो लोइयो मुसावातो ।

THE PLACE OF JAINISM IN INDIAN THOUGHT[1]

DR FELIX VALYI

The study of Jainism has been neglected for a long time. It was considered to be an insignificant offshoot of Hinduism. In France only Guerinot dedicated his life to the analysis of the original sources of Jaina Philosophy The Indologists of France were absorbed by the study of orthodox Brahmanism with a few exceptions, such as the great Burnouf, whose "Introduction to the History of Buddhism" is a classic, and Emile Senart, who made a deep study of Aśoka's Inscriptions, while Sylvain Levi specialized in the Sanskrit sources of Buddhist Philosophy. Guerinot's monograph on Jainism is an outstanding work, a monument of erudition and philosophical appreciation

In Germany, an important group of Indologists with Herman Jacobi at their head took up a scientific investigation of the Jaina Tradition, but in France the Sorbonne and the College de France neglected Jainism as a field of study, although Sylvain Levi repeatedly warned his disciples that the unexplored field of Jaina Studies deserves the attention of Indian scholars.

Undoubtedly the originality of Mahāvīra's philosophy which dominates the Jaina community appears of the highest importance from the point of view of Indian Culture The fact that a small minority of Jainas, not exceeding one and a half million, is submerged among the hundreds of millions of Hindus, should not close our eyes to the significance of Jaina Philosophy for the origins of Indian Thought.

Mahāvīra, the 24th Tīrthankara, is now recognized as one of the greatest thinkers of Ancient India, the equal of the Buddha in virtue of his profundity and his character. The contemporaneity of the two greatest sages of Ancient India is accepted as a historic fact : the two lived in the same 6th Century before Christ, in the same province of Magadha, preaching in the same towns and villages, at Rājagṛha and Vaiśālī They must have met and exchanged ideas according to all psychological probabilities, although we do not possess textual evidence concerning their personal relations

1 The French Original of this article was broadcast to Europe by the All India Radio from New Delhi on June 16th, 1955, as part of a series on Indian Thought and its influence on the European Mind Reproduced by permission of the All India Radio

The objective analysis of Mahāvīra's and Buddha's Thought shows the many common points which characterize Jainism and Buddhism. *Ahiṁsā* and *Nirvāṇa* are concepts which belong to both systems. If we go deeply into the origins of these concepts, we are bound to accept the Jaina Tradition as the source of these specific aspects of Indian Thought. Jainism with its pre-historic background and its 24 Tīrthaṅkaras preceded Buddhism by several centuries, although we cannot accept Jaina mythology which obscured the history of the community. Nevertheless the historicity not only of Mahāvīra, but of Pārśva, the 23rd Tīrthaṅkara, who lived 250 years before Mahāvīra, in the 8th century before Christ, the very century which gave birth to the first authentic Upaniṣads, is now beyond doubt. Even the name of Neminātha, the 22nd Tīrthaṅkara, was found on a copper-plate, which authorizes the historians of Ancient India to accept the probability of the existence of pre-historic Tīrthaṅkaras, however fantastic the chronology attributed by Jaina mythology seems to the scientific mind.

The historic existence of two Jaina Orders at the time of the Buddha has been verified; both had preceded Buddhism as monastic institutions. The Order founded by Mahāvīra was a simple organizational reform reorganizing the Order of Pārśva. The Jaina communities were long divided and still quarrel about the authenticity of their sects.

Both Mahāvīra and Buddha were princes of the kṣatriya tribes, in revolt against the privileges of the Brahmin priesthood. Jainism represents the first social revolution in Indian history, opening the gates of knowledge to the ordinary people, accepting in the *Saṅgha* whoever was willing to submit to the severe discipline of the Order. The Buddha himself must have experimented with the Jaina discipline of self-mortification during the years of meditation under the Bodhi Tree, before proclaiming the Middle Path as the way to Enlightenment between self-torture and pleasure-seeking.

The essential difference between Jainism and Buddhism is just this extreme severity which Mahāvīra has imposed upon the monks of his order, who must renounce all pleasures and live a life of total abstention from every point of view. They were forbidden to eat even tomatoes, onions, potatoes as containing germs of living creatures, and the respect for All Life, for all that grows and lives on earth and in the air, became an orthodox dogma. The most severe form of *Ahiṁsā* is the principle which unites all the four sects of Jainism in their horror of war. Their

division into "Digambaras" and "Śvetāmbaras", into multi-pūjā sects and the two sects which reject all image-worship, Stānakavāsīs and Terāpanthis, should not hide their essential allegiance to the principle of non-violence as the common ground of all Jainas

Mahatma Gandhi's mother was a Jaina, his guru at Porbandar, in his native city, was an eminent Jaina sage, and his heart was since childhood impressed by the Jaina tradition of *Ahiṁsā* which became the guiding star of all his life. The historians of contemporary India should not forget this decisive influence in Gandhiji's career which determined the destiny of the nation

Mediaeval Hinduism has proclaimed both Jainism and Buddhism "heresies" opposed to the Vedic culture. The Brahmin priesthood saw a danger to their privileges in the fact that both Jainism and Buddhism gave access to the lower castes to higher knowledge, and wanted to monopolize the wisdom of ancient India for themselves as a source of prestige and income Recent research has dissipated the false pretenses of mediaeval orthodoxy as the sole custodians of Indian Wisdom. The reactionary paṇḍits are fighting a losing battle against the enlightened opinion of critical scholarship which now recognizes that the original spirit of Ancient India is to be found in the teachings of Mahāvīra and Buddha, who might differ in the way *Ahiṁsā* should be applied in daily life, but fully agree in rejecting the monopoly of Orthodox Brahmanism, as misinterpreted by the mediaeval commentators Philosophical Brahmanism is an integral part of a common heritage of all the great sages of the Upaniṣadic Age, in which both Jainism and Buddhism share, accepting the ideal of universality and rejecting the excesses of ritualism. Both insist on the necessity for the individual to develop his mind through his own spiritual effort and to ascend to a higher level without any intermediary between himself and the Divine Powers

The discipline of body and mind prescribed by Ancient Indian Thought constitutes the most original contribution of India to human psychology. Its basis is Yoga and Jainism is pure Yoga in its attempt to liberate the spirit from all earthly forces There is Jaina Yoga, as there is Buddhist Yoga and Hindu Yoga, with this difference: Mediaeval Orthodoxy corrupted the original spirit of Yoga which became a tool of fakes, thousands of fakes who abuse religion for personal aggrandizement

Both Mahāvīra and Buddha must be understood as Masters of Yoga, who laid the foundations of Indian Psychology—showing the way towards spiritual perfection, raising human nature to a higher level and demonstrating the possibility of attaining Enlightenment which means cosmic consciousness, self-identification with all life, with the Universe in the service of the highest ideal ever attained in history : Selflessness.

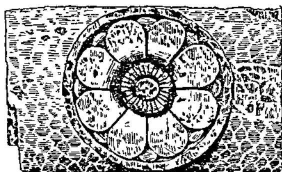
The Jaina System of philosophy has developed a theory of Karma of immense interest : according to Jainism, the soul is originally pure, but it becomes contaminated by material particles through contact with the world. The task of the Jaina saint is to liberate his soul from all these particles through absolute renunciation and to recover the purity of his soul. Purity and perfection are the ideals which India borrowed from the Jaina tradition. Only the methods vary, but the ideal is the same.

Modern psychology refuses to assent to this contempt of all matter. Human nature is considered to-day as one single entity, divided into body and mind, but trying to integrate the two aspects of man into a harmonious whole. Like the Christian doctrine, Hindu thought separated body and mind as two incompatible entities and looked upon the soul as a slave of physiology to be liberated by religious training. The modern view of mankind does not accept this radical division of the material and the spiritual. Nevertheless the ideal of spiritual freedom, freedom from all the contingencies of the industrial civilization which have enslaved the Western world, makes the study of Indian thought very instructive for modern man eager to disentagle his inner life from the shackles of materialism. Ancient India has proved the potentiality of such perfect spiritual freedom, even if we concede that only exceptional individuals of immense will-power have ever attained the highest form of Liberation of the spirit.

The Jainas themselves recognize that the 24th Tīrthaṁkara was the last in this cycle of earthly existence and that it is impossible today to attain the highest spiritual level. The Jaina saints with all their rigorous discipline are still in bondage to physiology, although they demonstrate every day the possibility of reducing such bondage to the absolute minimum. Mahāvīra is essentially interesting from the psychological point of view as the incarnation of Will Power, Spiritual Will in its purest form.

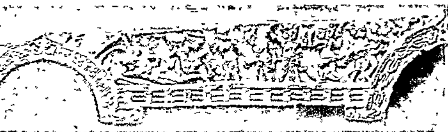
Ahiṁsā is a principle of universal love, for the single purpose of transforming human nature from the animal plane into a spiritual sphere such

as all historic religions tried to promote Jainism served as a ferment in the history of India, fertilizing the noblest elements in Indian character. Although the Jaina communities have degenerated and share in the moral decay of mankind, Mahāvīra's personality shines high above the vulgarity of our age and deserves to be recognized as one of the greatest sages of all history.





नर्तिका : सित्तन्नवासल गुफाना जिनप्रासादनी दीवालपरनुं विश्वविख्यात रंगीन चित्र : जैनाश्रित कळानो एक नमूनो
Painted figure of a dancing girl on pillar of Sittannavasal temple (Pudukota), c. 7th Century



उदयगिरिनी गणेशगुफानी केवाळनो नमूनो
Part of a frieze from Ganesagufā, Udayagiri



खंडगिरि उपरनी जैन-गुफा
Ja na Gufa Khaṇḍagiri



उदयगिरिनी रानिगुफानी केवाळनो नमूनो

A HISTORICAL OUTLINE OF THE LANGUAGES OF WESTERN INDIA

PROF. K. B. VYAS, M.A., F.R.A.S.

I

There are several languages spoken in Western India, of which Gujarātī, Western Rājasthānī, Māḷavī, Cutchī, Sindhī and Koṅkaṇī are the principal ones. Of these Cutchī and Sindhī are allied and so are Gujarātī, Rājasthānī and Māḷavī. Koṅkaṇī, however, stands apart. It has no affinity with its northern neighbours. In this brief historical outline of the languages of Western India, we shall restrict ourselves mainly to Gujarātī which is admittedly the most outstanding and the richest of these languages.

The area in which Gujarātī is spoken may be roughly outlined thus :— In the north, Gujarātī is spoken as far as Cutch, where it is the court-language and the language of culture. From there it extends to the north up to Mithi, 30 miles to the North of the desert of Cutch. From here it extends to the East to Deesā, Pālaṇpur, and Mount Ābu. Beyond Mount Ābu, the speech is Gujarātī or its dialectal form mixed with Mārwāḍī. From this northernmost point, the boundary of Gujarātī descends south-eastward including within itself Mahikānṭhā, Iḍar, Dohad and Luṇāwāḍā, Chhoṭā Udepur and Rājpiplā. To the east and south of the Panchmahāls, Chhotā Udepur and Rājpiplā, Gujarātī slowly merges into the Bhillī dialects. From Rājpiplā the boundary sharply descends southward covering the entire Surat District and a major portion of the Dāngs where it touches the area of Khāndeśī. From here further south upto Umbergāon and Ḍahāṇu, Gujarātī is spoken as the principal speech. Beyond this to the south the Koṅkaṇī language is spoken which is claimed to be a dialect of Marāṭhī.

These are then the limits of the area of the Gujarātī speech—from Mount Ābu in the north to the Dāngs and Umbergāon in the south, and from Dvārkā in the west to Dohad in the east. Roughly it includes the whole of Saurāṣṭra and almost the entire northern division of the Bombay State which is popularly known as Gujarāt.

The number of persons speaking Gujarātī in Gujarāt and Saurāṣṭra alone comes to over 1,33,00,000. To these must be added 35,00,000 speaking

Gujarātī in the border-lands of Gujarāt and in Cutch. Gujarātī is also the speech of a large and influential section of the population in Bombay. The Gujarātī-speaking population is not negligible in Calcutta, Karachi, Madras, Nagpur, Hyderabad and other important commercial and industrial centres of India. Gujarātī colonies are also to be found in Burma, South Africa, East Africa, Indonesia, and several other parts of the world, where they speak Gujarātī and follow Gujarātī traditions and culture

II

Gujarātī is thus a very important language indeed both culturally and politically on the western coast-line of India. It is one of the few languages of the world which has a continuous history with full documentary evidence for every stage of its evolution, from the time of its inception right up to the present age From about 1200 A D, the date of the first Gujarātī work discovered so far, till the time of the advent of the English when printing was introduced, we find countless works belonging to various subjects composed in Gujarātī. They have been preserved in the various Jaina Jñāna-Bhaṇḍāras or manuscript-libraries attached to Jaina temples and Upāśrayas. Several important cities of Gujarāt are celebrated for their rich manuscript-libraries dating from very early times In Pātan alone, there are Bhandāras which house no less than 40,000 old manuscripts of different ages, some of which are very rare on account of their antiquity, wealth of illustrations and historical data Cambay is known for its collection of palm-leaf manuscripts The other cities in Gujarāt too have such manuscript-libraries, but the rarest manuscript-collection is found to have been preserved in the Badā Bhandāra of Jesalmer situated deep in the heart of Rājasthān Only a part of this great store of ancient literature, both religious and secular, has come to light so far Numerous works of great antiquity and literary merit are still awaiting publication

The fact that Gujarāt was the great commercial centre of India from early times and enjoyed comparative peace and political security for long periods, contributed to the development of the Gujarātī language and literature in no small measure. In this process of development, as we shall presently see, Gujarātī came in contact with several foreign languages and cultures like the Persian, Arabic, Portuguese and English, and was influenced by them to a certain degree.

III

It would be very interesting to trace the history of the language of Gujarāt from the earliest times. We must, however, remember that in earlier times the boundaries of Gujarāt were not the same as they are today. Northern Gujarāt and Southern Rājasthān along with a part of Māḷvā then formed the territory known as the Gurjara deśa. Southern Gujarāt was then known as Lāṭa and remained for a long time under the influence of the south.

Situated as the gateway of India, maritime Gujarāt witnessed from early times several immigrations—of Greeks, Bactrians, Śakas, Kṣatrapas, Gurjaras, Hūṇas, Arabs, Turks and Mughals, many of whom made it their home.

In the earliest times known to history the language spoken in Gujarāt and Saurāṣṭra was a dialect the conventionalized form of which is known as Vedic Sanskrit. But of this speech we have no written evidence before the Aśokan Inscriptions.

Then—i.e. from 1000 B.C. to 600 B.C.—three or four dialects existed: Udīcyā or the northern, Madhyadeśīyā or the midland, Prācyā or the eastern, and the Pratīcyā or the western. The northern dialect was the nearest to the Vedic and was standardized by Pāṇini in the present-day classical Sanskrit. From the early eastern speech developed the Prakrit dialect spoken by Buddha and Mahāvīra, which was popularly known as the Māgadhī Prākrit. A close examination of the inscriptions of Aśoka (250 B.C.) reveals, besides the eastern Māgadhī, at least two other distinct dialects—the northern, allied to Paiśācī, and the midland or western, allied to Śaurasenī. The western dialect as recorded in the rock-edicts of Girnār contains several linguistic traits (such as the preservation of 'r' in consonant-clusters) which characterized Gujarātī speech from very early times.

These spoken Prakrit speeches fossilized in course of time and resulted in a classical standardized form of common Prakrit which became the medium of literature and was treated by grammarians as the principal Prākrit. This form of Prākrit became later known as Mahārāṣṭrī Prākrit or the language of a large portion of the country (Mahārāṣṭra). The popular speeches of the north, midland and east came to be considered as the dialects of this speech and were termed as Paiśācī, Śaurasenī and Māgadhī. The language Avantijā or Āvantī which Bharata mentions in

his *Nāṭyaśāstra* must be the speech then current in Saurāstra, Ānarta, Lāta and Maru (i e. the present-day Gujarāt and Rājasthān). This speech may have been identical with or closely allied to the Sauraseni of the Prākrit grammarians.

IV

From these early Prākrit speeches developed the Apabhramśa, the language current in a considerable portion of northern India, from the 5th to the 10th century A.D Some philologists lean to the view that there existed several regional Apabhramśas from which New Indo-Āryan speeches or Modern Indian Languages gradually evolved On the other hand, other authorities believe that there was only one Apabhraṁsa current in Western India with slight dialectal variations

From the evidence of early grammarians and rhetoricians, Apabhraṁśa has been connected *with the Ābhiras It was that speech that developed* into Apabhramśa Their abode extended from the Indus delta to Cutch and Saurāṣṭra They adopted the general Prākrit language, vigorously infusing into it the characteristics of their own speech, resulting in a powerful speech known as Apabhramśa. Three varieties of Apabhraṁśa are mentioned, but Hemacandra, the greatest and the most celebrated grammarian of the Middle Indo-Aryan languages, treats Apabhramśā as one homogeneous speech, and cites instances from the current folk-literature of the period This Apabhramśa is basically the Apabhramśa of Gujarāt (the Gurjara Apabhraṁśa), though there are traces of dialectal variations in this material Some call this Apabhramśa Śaurasena, while others term it as Nāgara

Apabhramśa too became, in course of time, a standard stylized speech in which considerable literature was composed For instance, works like *Pauṁcacariya, Kumarapālacarita, Bhavisayatta-Kahā, Vilāsavaī-Kahā* are all composed in Apabhramśa But linguistically, the specimens from folk-literature cited by Hemacandra in '*Siddha Hemacandra*', his Prākrit Grammar, reflect the speech more faithfully than the stylized form used in literary works These verses of Hemacandra are remarkable also from another point of view Some of them reveal a striking freshness of imagination and a rare poetic charm Several of these verses are erotic; a few are didactic, while a large number of them are heroic

The following erotic verses have a rare poetic charm about them :

ढोल्ला सामला धण चंपावण्णी ।
णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी ॥
(Ḍhollā sāmalā dhaṇa campāvaṇṇī/
Ṇāi suvaṇṇareha kasavaṭṭai diṇṇī//)

"The husband is dark in complexion, while the wife is fair as a *campaka* flower: (she appears) like a streak of gold on the black touchstone."

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥
(Vāyasu uḍḍāvantiae piu diṭṭhau sahasatti/
Addhā valayā mahihi gaya addhā phuṭṭa taḍatti//)

"While frightening away the crows the lady suddenly saw her husband coming home; half of her bracelets slipped down (while waving away the crow before she sighted her husband), while the remaining cracked with a noise (as a result of the joy which filled her when she saw her husband)."

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिया कुड्ड करीसु ।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगे पइसीसु ॥
(Jai keṁvai pāvīsu piu akiyā kuḍḍa karīsu/
Pāṇiu navai sarāvi jivaṁ savvaṅge paisīsu//)

"If ever I meet my husband again, I shall do a wonderful thing never done before: I shall enter into all his limbs even as water permeates a new earthen vessel."

The heroic verses cited below from Hemacandra's Apabhraṁśa fully reveal the glory that was early Gujarāt:

संगरसएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ।
अइमत्तहं चत्तंकुसहं गयकुंभइं दारन्तु ॥
(Saṅgarasaehiṁ ju vaṇṇiai dekkhu aṁhārā kantu/
Aimattahaṁ cattaṁkusahaṁ gayakuṁbhaiṁ dārantu//)

"Behold my husband: whose prowess requires mention of hundreds of battles; who breaks the temples of elephants excessively maddened and beyond all control."

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेजन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥
(Bhallā huā ju māriā bahiṇi mahārā kantu/
Lajjejjantu vayaṁsiahu jai bhaggā gharu entu//)

"It is well, O Sister, that my husband is killed in battle; for, if he had fled the battlefield and returned home I would have died of shame among my women-friends"

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण ॥
(Jai bhaggā pārakkaḍā to sahi majjhu piena/
Aha bhaggā amhaham tanā to tem māriaḍena//)

"If enemies are fleeing (from the battlefield), it must be, O friend, because of my husband's valour, but if our men are running away, then it must be that he has been killed in the battle."

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु ।
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउं कन्तस्सु ॥
(Pāi villaggi antraḍī siru lhasium khandhassu/
To vi kaṭārai hatthaḍau bali kijjaum kantassu//)

'The entrails hang down and entangle the feet; the head, severed from the trunk, is drooping sidewards; yet the hand is firmly on the dagger —I bow to this husband of mine."

The heroism of these verses captures our imagination and wins our heart.

V

From Apabhramśa slowly evolves the New Indo-Āryan Languages This is not surprising because Apabhramśa was always so near and akin to the rising regional languages than to the Prākrit which was nearer to Sanskrit For instance, the following Apabhramśa verse easily turns into old Gujarātī with only slight phonological changes :

सिरि जर-खडी लोअडी गलि मणियडा न वीस ।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठ-बईस ॥
(Siri jara-khandi loadi gali maniyadā na vīsa/
To vi goṭṭhadā karāviā muddhāe uṭṭha-baīsa//)
(Apabhramśa)

सिरि जीर्णखडी लोबडी गलि मणियडा न वीस ।
तोइ गोठडा कराविया मुग्धाए ऊठबईस ॥
(Siri jīrnakhandī lobadi gali maniyada na vīsa/
Toi gothadā karāviyā mugdhāe ūṭhabaīsa//)
(Old Gujarātī version)

"Though she has only a tattered *lobaḍī* (woollen cloth) on her head, and hardly twenty glass-beads round her neck—still the beautiful maiden agitated the young men of the hamlet."

It is not easy always to demarcate the point where Apabhraṁśa ends and old Gujarātī begins. There are, however, some characteristics such as the simplification of conjunct consonants, substitution of post-positions for inflections, and most of all the use of the auxiliary verb *achai-chai,* the precursor of the modern Gujarātī *che,* which indicate the termination of Apabhraṁśa and the evolution of Gujarātī.

VI

The earliest literary work in old Gujarātī that has come to light so far is the *Bharateśvara Bāhubalī Rāsa* of Śālibhadra Sūri, composed in V.S. 1241 (1185 A.D.). The following quotation will reveal how the new speech has just left the Apabhraṁśa stage and started on its career towards modern Gujarātī.

रिसह जिणेसर पय पणमेवी, सरसति सामिणि मनि समरेवी,
नमवि निरंतर गुरुचलणा ॥
भरह नरिंदह तणुं चरित्तो, जं जुगी वसहांवलय वदीतो,
बार वरस बिहुं बंधवहं ॥
हुं हिव पभणिसु रासह छंदिहिं, तं जनमनहर मनआणंदिहिं,
भाविहिं भवीयण संभलेउ ॥

(Risaha Jiṇesara paya paṇamevī, sarasati sāmiṇi mani
samarevī, namavi norantara gurucalaṇā//
Bharaha narindaha taṇuṁ caritto, jaṁ jugi vasahāṁvalaya
vadīto, bāra varasa bihuṁ bandhavahaṁ//
Huṁ hiva pabhaṇisu rāsaha chandihiṁ, taṁ jaṇamanahara
manaāṇandihiṁ, bhāvihiṁ bhavīyaṇa saṁbhaleu//)

"Having bowed to the feet of Ṛṣabha Jineśvara, having remembered Goddess Sarasvatī, and saluting always the feet of the *guru;*

"The life history of King Bharata, famous in this world from times of yore, (the war between) the two brothers which lasted for twelve years;

"(This) I shall sing in the form of a *rāsā* in verse, so fascinating to the minds of people; may the religious-minded hear it with delight!"

In the century which followed, Gujarātī was developed further and became the vehicle of over a dozen works in poetry. The following verse

in the *Revantagirirāsu* of Vijayasenasūri which describes Saurāṣṭra, will indicate the extent to which the language has evolved.

गामागरपुरवणगहण सरिसरवरि सुपएसु ।
देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठदेसु ॥
जिणु तहिं मंडलमंडणउ मरगयमउडमहतु ।
निम्मलसामलसिहरभरे रेहइ गिरि रेवतु ॥

(Gāmāgarapuravanagahana sarisaravari supaesu/
Devabhūmi disi pacchimaha manaharu soraṭhadesu//
Jinu tahim mandalamandanau maragayamaudamahantu/
Nimmalasāmalasiharabhare rehai giri Revantu//

"Attractive with its towns and villages, imposing because of its forests, and charming on account of its rivers and lakes, is the beautiful Soraṭha deśa, the abode of gods, situated in the western direction

"There stands out the charming Revanta mountain, the ornament of the world its dark summits forming a majestic emerald green crown."

With the dawn of the next century (14th century) Gujarātī emerges into the limelight as a fully developed mature language with immense possibilities Several works are composed in this period, some of which reveal a rare poetic beauty. Of these works the anonymous *Vasanta Vilāsa*, the *Thūlibhadda Phāgu* of Jinapadmasūri, the *Neminātha Phāgu* of Maladhārī Rājaśekharasūri, are most outstanding The following description of spring found in *Vasanta Vilāsa* is singularly beautiful both in its style and in its conception

कामुकजनमनजीवनु ती वनु नगर सुरंग ।
राजु करइ अवभंगिहि रंगिहि राउ अनगु ॥
अलिजन वसइ अनंत रे वसंतु तिहां परधान ।
तरुअर वासनिकेतन केतन किसलसतान ॥

(Kālā bhūñcha tediyā bhoī, gāde linga cadâvyaum/
Rāju karai avabhangimhi rangihim rāu anangu//
Alijana vasaim ananta re vasantu tihām paradhāna/
Taruara vāsaniketana ketana kiśalasantāna//)

"That forest, the life of the hearts of lovers, is (like) a charming city, (there) rules in full splendour the King Anaṅga (the God of Love).

"Innumerable bees dwell there; spring is there the minister; the trees are the dwelling places, and the mass of tender sprouts the banners"

Another remarkable work composed towards the close of this century is the *Ranamalla Chanda* of Śrīdhara Vyāsa, written in a style which is

the parent of the *Dingala* or Cāraṇī poetry.

चडि चंचलि चाउद्दिशि चंपि थिरथिर थाणदार अरि कंपिइ ।
कमधजकरि धरि लोह लहक्किइ बिबहरि बूंब बूंब बहक्किइ ॥
निशि खंभनयर उध्रकिइ धुंधलि धुंस पडिइ धुलक्किइ ।
प्रहि पोकार पडिइ पट्टणतलि रे रणमल्ल धाडि तव संभलि ॥

(Caḍi cañcali cāuddiśi caṁpi thirathira thāṅadāra
ari kaṁpii/
Kamadhajakari dhari loha lahakkii bibahari
būṁba būṁba bahakkii//
Niśi khaṁbhanayara udhrakii dhundhali dhuṁsa
padii dhulakkii//
Prahi pokāra paḍii Paṭṭaṇatali re Raṇamalla dhāḍi
tava saṁbhali//)

"When he mounts his horse and invades the four quarters, the generals of the enemies tremble with fear. As soon as the sword flashes in the hand of Kamadhajja (Rāṭhoḍa) Raṇamalla, wails resound in the harems of the enemies.

"At night Cambay trembles; in the early morning Dholkā is struck with terror; in the morning Pāṭaṇ wakes up with screams—when, O Raṇamalla, people hear of your attacks."

The 15th century is remarkable for its wealth of old Gujarātī literature. Among the works of this century the pre-eminent in literary merit is the *Kāhnaḍade Prabandha* of Padmanābha, which is a rare saga of Rajput heroism that has ever come down in the Indian Languages. The verses given below from that great mediaeval epic will testify to its great poetic beauty.

काला भूंछ तेडीया भोई, गाडे लिंग चडाव्यउं ।
आगलि घणी जोतरी त्रीयल, ढीली भणी चलाव्यउं ॥
आगइ रुद्र घणइ कोपानलि, दैत्य सवे तइं बाल्या ।
तइं पृथ्वी मांहि पुण्य वरताव्यां, देवलोकि भय टाल्या ॥
तइं बालिउ काम त्रिपुर विध्वंसिउ, पवनवेगि जिम तूल ।
पद्मनाभ पूछइ सोमईया केथूं करयउं त्रिशूल ॥

(Kālā bhūñcha teḍīyā bhoī, gāḍe liṅga caḍāvyauṁ/
Agali ghaṇī jotarī trīyala, Ḍhīlī bhaṇi calāvyauṁ//
Agai Rudra ghaṇai kopānali, daitya save taiṁ bālyā/
Taiṁ Pṛthvī māṁhi puṇya varatāvyāṁ, devaloki bhaya
ṭālyā/

Taiṁ bāhu Kāma Tripura vidhvaṁsiu, pavanavegi jima tūla/
Padmanābha pūchai Somaīyā Kethūṁ Karayaum triśūla//)

"Dark Bhois were called for; and the pieces of Śiva's linga were hauled up in the cart Several pairs of bullocks were made to draw it; it was thus removed to Delhi

"O Rudra, in the times of yore you consumed the demons in the fire of your wrath; you spread *punya* in the world and removed the terror which oppressed the gods.

"You burnt down Kāma and destroyed Tripura just as wind blows away cotton Padmanābha (the poet) asks you, O Somanātha, where have you laid up your *triśula* now ?"

The other outstanding poets of this period are Narsiṁha, the poet-saint, and Mirāmbāi the immortal poetess of Rājasthān, whose poetry is the cherished heritage of India; Bhālana, the celebrated scholar who set *Kādambarī* to verse; and the great Jaina writers Lāvanyasamaya and Mānikyasundara Sūri. Of the latter writers Mānikyasundara Sūri is celebrated for his remarkable prose classic *Pṛthvīcandracaritra,* which is an ornament of the Old Gujarātī prose It stands unique in the entire Old Gujarātī literature on account of its dignified and mellifluous prose-style and the remarkable beauty of its composition Numerous specimens of Old Gujarātī prose have come to light, but of the ornate literary prose used by scholars of the mediaeval times, *Pṛthvīcandracaritra* is almost the solitary example

VII

From the 16th century A D Gujarātī assumes almost its present linguistic form This period is remarkable for its wealth of literature—the well-known *Ākhyānas* of Premānanda, reflecting the contemporary Gujarātī life, the poetical romances of Śāmala, reminding us of the *Kathāsaritsāgara* and the *Arabian Nights*, and the great philosophical poems of Akho, and the delicately melodious and almost etherial lyrics of Dayārām.

From the middle of the 19th century Gujarātī language and literature undergo a fateful change on account of the influence of the English language and literature The prose now became, under the influence of English, more cultivated and complex in nature, capable of expressing involved thoughts The prose style could now vary from the declamatory and the narrative to the reflective In content, the literature, which was so far restricted only to religion and allied topics, now embraced every

topic on earth. In respect of form, lyrics, ballads, sonnets and elegies in poetry, and essay, fiction, short story, drama, autobiography, and travel literature now came into existence as a direct consequence of contact with western literature. The still newer forms of literature like the short story, one-act plays and radio-plays have recently come into greater vogue and achieved success.

Such is modern Gujarātī language and literature.

VIII

Besides its standard form in which literature is composed Gujarātī has several interesting dialects which are only spoken forms of speech, though almost universally current among the masses of Gujarāt. They are the Kāṭhīāwāḍī, Paṭṭanī or north Gujarātī, Carotarī or middle Gujarātī, and Suratī or south Gujarātī.

The Bhils on the eastern border speak their own dialect—the Bhillī, which bears a close affinity to Gujarātī. To the north beyond Mount Ābu is spoken a language which has traces of Gujarātī within its predominantly Rājasthānī corpus. To the south-east in the Dāṅga area the speech is an intermixture of Gujarātī and Marāṭhī—predominantly Gujarātī on the western side, and leaning more to Marāṭhī on the eastern side.

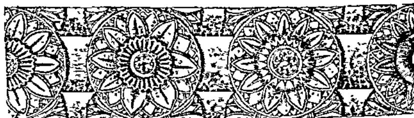
There are also racial dialects of Gujarātī which are spoken by particular communities. For example, Kāṭhis and Āhirs of Saurāṣṭra speak an archaic dialect nearer to Apabhraṁśa than to modern Gujarātī. The Khārvās of the coast-line of Saurāṣṭra have their special dialect known as Khārvī. Parsīs speak Parsī-Gujarātī, while Vohrās of north Gujarāt, Memoṇs of Saurāṣṭra, and Bāraiyās and Dhārāḷās of middle Gujarāt speak Gujarātī with their characteristic dialectal traits. Some of these dialects are given a place in modern Gujarātī creative literature—particularly in the short-story and fiction—in order to impart local colour to the work.

Gujarātī in its long history stretching over a thousand years as outlined above came in contact with several external influences and assimilated some of them. Thus it is that Arabic words like *umdā*,* *insāf*, *javāb*, *kharca*, *taiyār*, *makān*, *vatan*, *śarbat;* and the Persian words like *gulāb*, *gumāsto*, *cālāk*, *jakham*, *dago*, *dastāvej*, *darji*, *fudino*, *bakhṣīs*, *bāju*, *majūr*, *hajār*, etc.; and the Turki words like *kalgī*, *kābu*, *cakmak*, *camco*, *jājam*,

* These and other loan-words are reproduced in their characteristically Gujarātī form.

top, *begum*, *mughal*; and the Portuguese words like *āfūs*, *ananās*, *ingrej*, *ijaner*, *kāju*, *tamākū*, *baṭāṭā*, *mej*, *mosambi*, have found a place in Gujarātī and have been almost completely naturalized. More recently Gujarātī borrowed several loan-words from English such as *office*, *appeal*, *court*, *doctor*, *pencil*, *boot*, *master*, *station*, *hotel*, etc, and gave them a completely indigenous Gujarātī form. This process of borrowing continues even to-day as Gujarātī does not hesitate in borrowing several words from Indian or foreign languages if they are found to express sense in a particularly effective manner in reference to corresponding words of indigenous origin. Herein lies its strength, because this process increases the potentiality of the language. Gujarātī has also improved by being relieved from a surfeit of Sanskrit words which marred its innate beauty and made it heavy and pedantic as in the writings of some of the scholars of the latter part of the last century. This purification owes its origin to Gandhiji Gandhiji insisted on using the simple and forceful speech of the masses living in the country-side as the standard form of language to be used in all literary compositions. Gandhiji demonstrated in his world-famous 'Autobiography' the inherent strength of this simple speech which could be adapted to the highest literary purposes. A whole school of writers followed his foot-steps and wielded the folk-speech with considerable power and charm even in serious literary works of philosophy, economics, politics and social sciences

This is the Gujarātī of to-day, full of strength and promise, awaiting a future even more glorious than its hoary past.



JAINISM : A WAY OF LIFE

SHRI B. P. WADIA

If one is always humble, steady, free from curiosity and deceit; if he abuses nought; if he holds not to his wrath; if he listens to friendly advice; if he is not proud of his learning; if he finds no fault with any or ought; if he is patient with friends; if he speaks well even of a bad friend when he is absent; if he abstains from quarrels; if he is polite, gracious, calm and endeavours to gain enlightenment—then he is named "the well-behaved".

—*Uttarādhyayana Sūtra*

The two wars have made the world very different. Those of us who lived and laboured before 1914 and after 1918 saw a great change in human outlook. With the end of the second war a different kind of world emerged in which the human individual has been deprived of his initiative to a very great extent. Karl Capek's visionary robot of the twenties is now strutting on the world stage. Men are not able to call their souls their own; they are made to think along lines drawn for them; they are invited to feel and use emotions for the glory of their State; the citizen in many countries exists for the benefit of his own government and his personal life is greatly narrowed and restricted. Hitler, who is reported to have committed suicide after his defeat, seems to have emerged a victor. Hitlerism is to the fore in the countries which won the war. Russia's roots in totalitarian soil have gained strength. The concept of the Welfare State is founded upon the idea that what is good for or bad for the citizen is to be decided by the State. What does he know about his own welfare !

The dignity of the human individual has fallen. Alas, man himself has contributed substantially to the loss of his liberty; he has allowed himself to be cajoled and pushed into the almost slavish position which now is his. He has done this for the most part not self-consciously. The starting point is traceable to his false attitude to his religion. Loss of knowledge of religion and its true principles has brought in blind belief, superstition and irreligious living. Instead of becoming a way of life man's religion has become largely ritualistic observances, gesticulations and mummery. His spiritual and secular life are two different compartments. He is exploited by the politician today because he has allowed himself to be exploited

by his priest for numerous yesterdays

A better world will not be built until a sufficient number of men and women turn away from the outer religion of rites and ceremonies to the inner religion of life. Not church-going but living by the precepts of the Sermon on the Mount constitutes true Christianity And what is true of Christianity is equally true of every religion, including Jainism.

Time is precious, we cannot afford to neglect or to postpone the refashioning of our religious life. By "we" the human individual is meant Popes or purohits or sadhus are not to be depended upon for religious reformation They have their own vested interests. Priests are the opponents of the Prophets and the human individual needs Mahāvīra and the Tīrthankaras, and their peers of other religious schools. Men and women have to recognize that true religion is the Way of Life What they feel and think, what they say and do must be according to the precepts of the Elder Brothers, the Christs, the Buddhas, the Tīrthankaras Along this line alone must true religious renovation take place.

Is Jainism capable of imparting instruction in the science and art of living the life ? We answer—Yes, emphatically—Yes Of all the existing formal religious creeds Buddhism and Jainism contain the very best elements to enable men and women most promptly to become religious in the true sense of that word. It must be remembered, however, that both of these have a holy and hoary lineage

The duty of the Jainas is to uphold the pure teachings of Mahāvīra and His illustrious predecessors The world of today is in dire need of the moral precepts of those mighty philanthropists The Jainas can do this, if a few Jainas, both men and women, combine to study together their own religious lore with a view to the personal application of the grand precepts, and then to promulgate by the spoken and written word what they have learnt, understood and practised The old sayings and propositions have to be shown to be practical and profitable. The high standard of Jaina living must be shown to be superior to a standard of living depending on gadgets and the consuming of rich food and questionable drinks The Jaina standard of high living would consist in simple living founded upon noble thinking

Let us turn and point to some of the teachings of Jainism which are applicable even under modern conditions and which carry within themselves the seeds of betterment not only for the individual practitioner but

for the masses also. This war-torn world, governed by men of ambition and greed, will be saved in spite of itself by men of peace who carry in their hearts the instruction of the sages.

Ahiṁsā Paramo Dharmaḥ

Non-Violence is the Highest Religion.

The central teaching of Jainism may be quoted in the words of *Puruṣārtha Siddhyupāya*: "*Ahiṁsā* is the non-appearance of attachment and other passions. Their appearance is *Hiṁsā*—violence."

This is called "the summary of the Jaina scripture."

In our personal life, as in collective life everywhere, violence, open or disguised, is at work. War will never be banished and Peace will never be ushered in while violence courses in men's brains. Jainism makes a unique contribution not in proclaiming a Religion with Non-Violence as its centre, but in fully elaborating the technique of becoming non-violent. This is what the world needs today. There is a genuine appreciation of Gandhiji's Satyāgraha; but to understand and live it, some wise practical instruction is necessary. Similarly the creed of Ahiṁsā held up by Jainism is known to the world at large. But the world needs men and women who have practised *Ahiṁsā*, who live by it daily in all the affairs of life. Jainism has precepts which the world will more readily and enthusiastically accept when these are demonstrated by a few men and women who live the precepts without becoming monks or nuns.

The world of today does not need orders of monks and nuns; people are not willing to abandon the ties of home for those of heaven; they want to rise in their minds and hearts heavenward and live in the world to permeate it with the immortal influence. Therefore it is necessary for Jaina men and women to transform their homes into *Havalis* where the Power and the Learning and the Compassion of Mahāvīra and His illustrious predecessors can shine.

Next to the central doctrine of Ahiṁsā Jainism facilitates a life of self-exertion because it rejects logically the pernicious belief in an anthropomorphic personal God. Believers in an extra-cosmic personal God naturally fall into the sin of dependance on such a God, pray to Him, try to propitiate Him and seek favours from Him, thus debasing their moral propensities and their willpower. No blind believer in a personal God can say as the *Ratna-Karaṇḍa-Śrāvakācāra* asserts :—"A dog becomes a Deva by virtue. A Deva becomes a dog by vice. From Dharma a living

being attains prosperity and even such grandeur as beggars description."

If Jainism rejects the false doctrine of the personal God, it holds aloft the mighty and majestic truth of men becoming Perfect and Immortal God-Men, Tirthankaras—those who have crossed over the ford Not god and gods and godlings teach and help mortals, but Jinas, those who have conquered their mortality by destroying ignorance and passion. What Tirthankaras have done, men can do today.

My Jaina brothers, you need to activate your inherent faith that Mahâvira and the other 23 Jinas are alive and are able to help us. A more penetrating consideration into the subject of Tirthankaras as Living Men who now and here love and labour for humanity will enlighten your faith and enable you to help yourselves and humanity in a rich way.

The Jaina community is well known for its wealth; it lacks not the spirit of charity It has used its millions of rupees for alleviating suffering and misery; it has also not overlooked the spreading of the wealth of the Jaina-Dharma by publishing its texts and tomes; but something more fundamental and vital needs to be done. We need living of the Dharma not by monks but by lay men, not only in secluded monasteries but in homes, in shops and marts To the financial gifts and the spreading of books which aid the human mind, should be added the active and vital power which emanates from pious men and women who study the lofty philosophy of the Jinas and practise its tenets. What does the *Uttarâdhyayana Sūtra* say? "Self is the one invincible foe, together with the four cardinal passions, (viz anger, pride, deceit, and greed) making five, and with the five senses making ten."

Pride is the seed from which sprout numerous vices. It is the first-born of Egotism The *Sūtrakrtānga Sūtra* refers to sins committed by the proud; pride of caste, of family, of beauty, of intelligence, of success, of power, even pride of knowledge and, note, pride even of piety are condemned

Who does not know that man has a dual nature—the lower is proud and selfish; its way of life is violent; the higher is non-violent—embodied *Ahimsâ* We have to fight, defeat and overcome the lower and the soldier who will wage war and vanquish the enemy is our own higher nature which is of the substance of the Holy Jinas, the Enlightened Tirthankaras They have developed the powers of that substance; we have still to do so

"Though a man should conquer thousands and thousands of valiant

foes, greater will be his victory if he conquers nobody but himself.

"Fight with your self; why fight with external foes? He who conquers himself through himself, will obtain happiness."—*Uttarādhyayana Sūtra*

Now the *Ācārańga Sūtra* has a very strange but encouraging teaching: "He who conquers one passion conquers many. And he who conquers many, conquers one."

It is a strange law which all true mystics have pointed to: one moral weakness overcome and transmuted pushes out numerous cognate vices. Equally strange but true is the second clause. When numerous weaknesses are overcome our main, fundamental, moral and sin-creating weakness not only weakens but disappears.

Each man, each woman has in the lower, violence-fraught nature a foundational vice—pride, or lust, or vanity, or anger, or greed, or ambition, etc. For a whole incarnation the one besetting weakness works havoc. In the higher nature is wisdom with its dual aspect—knowledge and intuition (*Jñāna* and *Darśana* according to Jaina psycho-philosophy). It is by this Wisdom-Nature that the foibles, the frailties and the falsehoods of the carnal being are vanquished.

Now, in waging this greatest of all wars there comes a temptation: because we do not like to fight our own vices, the force of violence (*Himsā*) inherent in our lower nature finds ways and means to gain expression and outlet and so we become violent to others. Violence in deeds and words, in emotions and thoughts. Myriad are the expressions of violence. In many ways we use violence: there is violence at home and at places of business as well as in recreation; there is civic violence; there is social and political violence; there is violence against classes and castes and creeds. National and international violence means wars. All widespread expressions of violence spring from the seed of violence in the lower man. And because we have within our carnal mind the seed of *Himsā*—Violence, we attract to ourselves many types of violence from others—relatives and friends, employers and employees, and also from organized groups who use violence.

The Jaina foundational teaching is *Ahimsā*, and so it advocates very clearly the doctrine of "Resist not evil;" or, better-phrased, "Resist without resisting." Others may be and are violent; true Jainas are prohibited from retaliation. So, the *Daśa-Vaikālika Niryūktī* instructs definitely: "Subdue anger by forgiveness; conquer vanity by humbleness; overcome

fraud with honesty; vanquish greed through contentment."

The most prolific source of violence precipitating retaliation and generating hatred is speech. Words are living messengers and should be used thoughtfully. Angry speech, falsehood, bragging and the like are bad, but more dangerous, because more subtle and unrecognizable in their evil influence, are the words of persons who use religious lore for selfish ends

"Though many leave the house, some of them arrive but at a middling position between house-holder and monk; they merely talk of the path to perfection The force of sinners is talking."—*Sūtrakṛtāṅga Sūtra*

And again says the *Uttarādhyayana Sūtra*: "Clever talking will not work salvation, how could philosophical disputation do it? Fools, though sinking lower and lower through their sins, believe themselves to be wise men"

So the greatest of all wars is with our selfish deeds, our false speech, our lustful feelings, our proud thoughts. And the warrior *within, the* Pure Kṣatriya, is our own spiritual soul—the possessor of knowledge and of intuitive perception. In this idea we gain an explanation as to why Mahâvīra and the other Tīrthankaras were of Kṣatriya caste. The victorious Warrior attains to Brāhmanahood and so the *Acārāṅga Sūtra* says that "the Noble Ones preach the Law impartially."

Now, our ordinary human nature likes to postpone the commencement of the Inner Life When this inclination arises we must repeat the *Sūtrakrtānga Sūtra*:—

'Know that the present time is the best opportunity to mend

"The strength to start the Holy War against our lower and violent self is within.

"Freedom from bonds is in your innermost heart"

—*Acārānga Sūtra*

He who does not undertake this Holy Mission is not a Jaina, though he be born of Jaina parents and observe Jaina rules of eating and drinking and such outer manifestations

"The virtuous heroes of faith have chosen the great road, the right and certain path to perfection"—*Sutrakrtānga Sūtra*

To entrench ourselves in right practice and develop right faith we must acquire the knowledge of true doctrine and, further, develop and feel devotion to those who know the Truth of *Ahımsā*

Another excuse brought forward by men and women is this: "We have

our obligations, our dharma to parents and children, to earn our livelihood, etc." The Jaina teachers answer: Make karma and dharma avenues to practise daily and hourly *Ahiṁsā*.

"Not desirous of fine things, he should wander about, exerting himself; not careless in his conduct, he should bear whatever pains he has to suffer.

"If beaten, he should not be angry; if abused, he should not fly into a passion; with a placid mind he should bear everything and not make a great noise.

"He should not enjoy pleasures though they offer themselves; for thus he is said to reach discernment. He should always practise what is right to do in the presence of the enlightened ones."—*Sūtrakṛtāṅga Sūtra*

It is fully recognized that to practise all this is most difficult. Our old habits, our educational and social upbringing etc., put many obstacles in our way but Jainism teaches that we could and should "practise the very difficult Law according to the faith." (*Uttarādhyayana Sūtra*)

And how clearcut and strong is the *Puruṣārtha Siddhyupāya* :—

"Right belief is conviction in one's own self. Knowledge is a knowledge of one's own self. Conduct is absorption in one's own self. How can there be bondage by these?

Sometimes people think that only when a Jaina man or woman gives up the world and becomes a monk or a nun can the Inner Life be lived. That is not the teaching. The householder, who earns his livelihood, and the housewife, who is the queen of the home, can and should attain to heavenly heights. Anyway, that ought to be a new dispensation, a new way of living the higher life.

This volume is published to honour the memory of a saintly teacher and reformer. The work of Shri Mahāvīra Jaina Vidyālaya owes a great debt to the Ācāryaji. As a devout follower of the great Masters of Jainism, he set an example which all of us should follow—by practising *Ahiṁsā*. Non-violence, with the Tīrthaṅkaric *Vīrya*, the dauntless energy that fights its way to the supernal Truth.

